

लेश्या कोश

द्वितीय खण्ड

Cyclopaedia of Lesya

बदलती लेश्या

बदलते भाव

स्व० मोहनलाल बांठिया
श्रीचन्द्र चोरड़िया

बदलती लेश्या – बदलते भाव

छः बन्धु किसी उपवन में घूमने गये तथा एक फल से लदे भरे-पूरे अवनत शाखा वाले जामुन वृक्ष को देखा । सबके मन में फलाहार करने की इच्छा जागृत हुई । सभी बन्धुओं के मन में लेश्या जनित अपने-अपने परिणामों के कारण भिन्न-भिन्न विचार जागृत हुए और उन्होंने फल खाने के लिए अलग-अलग प्रस्ताव रखे, उनसे उनकी लेश्या का अनुमान किया जा सकता है ।

प्रथम बन्धु का प्रस्ताव था कि कौन पेड़ पर चढ़कर तोड़ने की तकलीफ करे तथा चढ़ने में गिरने की आशंका भी है । अतः सम्पूर्ण पेड़ को ही काट कर गिरा दो और आराम से फल खाओ ।

द्वितीय बन्धु का प्रस्ताव आया कि समूचे पेड़ को काटकर नष्ट करने से क्या लाभ ? बड़ी-बड़ी शाखायें काट डालो । फल सहज ही हाथ लग जायेंगे तथा पेड़ भी बच जायेगा ।

तीसरा बन्धु बोला कि बड़ी डालें काटकर क्या लाभ होगा ? छोटी शाखाओं में ही फल बहुतायत से लगे हैं उनको तोड़ लिया जाय ! आसानी से काम भी बन जायेगा और पेड़ को भी विशेष नुकसान न होगा ।

चतुर्थ बन्धु ने सुझाव दिया कि शाखाओं को तोड़ना ठीक नहीं । फल के गुच्छे ही तोड़ लिये जायें । फल तो गुच्छों में ही हैं और हमें फल ही खाने हैं । गुच्छे तोड़ना ही उचित रहेगा ।

पंचम बन्धु ने धीमे से कहा कि गुच्छे तोड़ने की भी आवश्यकता नहीं है । गुच्छे में तो कच्चे-पक्के सभी तरह के फल होंगे । हमें तो पक्के मीठे फल खाने हैं । पेड़ को झकझोर दो, परिपक्व रसीले फल नीचे गिर पड़ेंगे । हम मजे से खा लेंगे ।

छठे बन्धु ने ऋजुता भरी बोली में सबको समझाया क्यों बिचारे पेड़ को काटते हो, बाढ़ते हो, तोड़ते हो, झकझोरते हो ! देखो ! जमीन पर आगे से ही अनेक पक्के-पकाये फल स्वयं निपतित होकर पड़े हैं । उठाओ और खाओ । व्यर्थ में वृक्ष को कोई क्षति क्यों पहुँचाते हो ।

जैसे उक्त पुरुषों की छः तरह की विचारधारणाएं हुई, इसी तरह लेश्याओं में भी अलग-अलग परिणामों की धारा होती है । प्रारम्भ की तीन - कृष्ण, नील, कापोत लेश्याएं, अशुभ हैं और पिछली तीन - तेजो, पद्म, शुक्ल, शुभ लेश्याएं होती हैं ।

(आवरण साभार : जैन भारती)

लेश्या कोश (द्वितीय खण्ड) CYCLOPAEDIA OF LESYA

जैन दशमलव वर्गीकरण संख्या ०४०४

सम्पादक :

स्व० मोहनलाल बांठिया, जैन तत्त्ववेत्ता
श्रीचन्द चोरड़िया, न्यायतीर्थ (द्वय)
अणुव्रत साहित्य सेवी, पुरस्कार

प्रकाशक :

जैन दर्शन समिति
१६-सी, डोवर लेन, कलकत्ता-७०० ०२९
सन् २००१ (संवत् २०५८)

जैन आगम विषय कोश, ग्रन्थ माला, नवम पुष्प
लेश्या कोश (द्वितीय खण्ड)
जैन दशमलव वर्गीकरण संख्या ०४०४

प्रथम आवृत्ति—१००

मूल्य :

भारत में रु० १५०/-

विदेश में Sh १००/-

मुद्रक :

राज प्रोसेस प्रिन्टर्स

८, ब्रजदुलाल स्ट्रीट,

कलकत्ता-७०० ००६

दूरभाष : २३३-१५२२

समर्पण

जिनमें अनेकान्त दृष्टि और यथार्थवाद पूर्ण विकसित थे, जो सत्य को संघीय क्षितिज के पार भी देखते थे— जिन्होंने अपने प्रत्यक्ष बोध के आधार पर सत्य का प्रतिपादन किया। (अज्ञानी क्या करेगा, जबकि उसे श्रेय और पाप का ज्ञान भी नहीं होता। इसलिए पहले सत्य को जानो और बाद में उसे जीवन में उतारो। वही सत्य है, जो जिन आप्त और वीतराग ने कहा है। आप्त के उपदेश को आगम सिद्धान्त माना है। जो हेतुवाद के पक्ष में हेतु का प्रयोग करता है, आगम के पक्ष में अगमिक है, वही स्व-सिद्धान्त का जानकार है। जो इससे विपरीत चलता है, वह सिद्धान्त का विराधक है। आगम को प्रमाण मानने वालों के अनुसार जो सर्वज्ञ ने कहा है वह, तथा जो सर्वज्ञ कथित है और युक्ति द्वारा समर्थित है वह सत्य है। सत्य ही लोक में सारभूत है। धर्म-दर्शन का उत्स आप्तवाणी आगम है) जनता की भाषा में जनता को उपदेश दिया तथा साधु-साध्वी-श्रावक-श्राविका रूप चार तीर्थ की स्थापना की—उन वर्धमान तीर्थकर को प्रस्तुत लेश्या कोश द्वितीय खण्ड समर्पित करता हूँ।

—श्रीचन्द चोरड़िया, कलकत्ता

संकलन-सम्पादन में प्रयुक्त ग्रन्थों की संकेत-सूची

अणुत्त०—अणुत्तरोववाइयदसाओ	जीवा०—जीवाजीवाभिगमे
अणुओ०—अणुओगदारसुत्तं	जीवा० टीका—जीवा०
अणुओ० टीका—अणुओगदाराइ'	जैसिदी०—जैन सिद्धांत दीपिका
अंगु०—अंगुत्तरनिकाय	भीणी चरवा
अंत०—अंतगडदसाओ	ठाण०—ठाणांग
आभामंडल	ठाण० टीका—ठाणांग टीका
अभिधा०—अभिधान राजेन्द्र कोश	तत्त्व०—तत्त्वार्थ सूत्र
आया० टीका	तत्त्ववा०—तत्त्वार्थवार्तिक
आया०—आयारो	तत्त्वराज०—तत्त्वार्थ राजवार्तिक
आप्ते०—आप्ते अंग्रेजी छात्र कोश	तत्त्वश्लो०—तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक-
आव०—आवस्सयं सुत्तं	लंकार
आव० चूर्णी—आवस्सयं सुत्तं चूर्णी	तत्त्व सर्व०—तत्त्वार्थ सर्वार्थसिद्धि
आव० नि०—आवस्वक नियुक्ति	तत्त्वसिद्ध०—तत्त्वार्थ सिद्धसेन टीका
आव० हारी० टीका—आव० हारी-	दसवे०—दसवेआलियं
भद्रीया टीका	दसासु०—दसासुयक्खंधो
उत्त० नि०—उत्तरउभयर्ण नियुक्ति	ध्याश०—ध्यान शतक
उत्त०—उत्तरउभयर्ण	नंदी०—नंदीसुत्तं
उवा०—उवासगदसाओ	नाया०—नायाधम्मकहाओ
ओव०—ओववाइयसुत्तं	निरि०—निरियावलियाओ
ओव० टीका—ओववाइसुत्तं टीका	निसी०—निसीहसुत्तं
कप्पव०—कप्पवंडसियाओ	पण्ण०—पण्णवणासुत्तं
कप्पसु०—कप्पसुत्तं	पण्ण० टीका—पण्णवणासुत्तं टीका
कप्पि०—कप्पिया	पण्हा०—पण्हावागराणं
कर्म०—कर्मग्रन्थ	पण्हा० टीका—पण्हा० टीका
कर्मप्रकृति	पाइअ०—पाइअसट्टमहण्णवो
गोक०—गोम्मटसार कर्मकाण्ड	पायो०—पातञ्जलयोग
गोजी०—गोम्मटसार जीवकाण्ड	पंचका०—पंचास्तिकाय
चंद०—चंदपण्णत्ती	पुजू०—पुष्फचूलियाओ
जंबु०—जंबुदीवपण्णत्ती	पंच० (दि०)—पंचसंग्रह (दिगम्बर)
जिनवल्लभीय घडशीति	पंच० (श्वे०)—पंच संग्रह श्वेताम्बर

पुष्पि—पुष्पियाओ
 प्रवसा०—प्रवचनसारोद्धार
 प्रशम०—प्रशमरतिप्रकरण
 ब्रह्०—ब्रह्मकल्पसुत्तं
 ब्रह्० भाष्य—ब्रह्मकल्पसुत्तं भाष्य
 बृहद्द्रव्य०—बृहद्द्रव्य संग्रह
 भग०—भगवई
 भग० टीका—टीका
 भगमा०—भगवती आराधना
 महा०—महाभारत
 मूला०—मूलाचार
 योगश०—योगशतक
 योगशा०—योगशास्त्र
 योगसमु०—योगसमुच्चय
 योगसा०—योगसार
 राय०—रायपसेणइयं
 लोकप्र०—लोकप्रकाश
 वव०—ववहारो

वणिह०—वणिहदसाओ
 विवा—विवाग सूयं
 विशेषा०—विशेषावश्यक भाष्य
 विशेषणवती
 षट्०—षट्संडागम
 शांतसुधारस
 सम०—समवाओ
 सम० टीका—समवाओ टीका
 सूय०—सूयगडो
 सूर०—सूरपण्णत्ती
 सूर० टीका—सूरपण्णत्ती टीका
 त्रिशलाका—त्रिषष्टिशलाका
 पुरुष चरित्रम्
 ज्ञान०—ज्ञानसार
 ज्ञाना०—ज्ञानार्णव

जैन वाङ्मय का दशमलव वर्गीकरण मूल विभागों की रूपरेखा

ज० द० व० सं०	यू० डी० सी० संख्या
०—जैन दार्शनिक पृष्ठभूमि	+
०१—लोकालोक	५२३*१
०२—द्रव्य—उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य	+
०३—जीव	१२८ तुलना ५७७
०४—जीव-परिणाम	+
०५—अजीव-अरूपी	११४
०६—अजीव-रूपी—पुद्गल	११७ तुलना ५२६
०७—पुद्गल-परिणाम	+
०८—समय—व्यवहार-समय	११५ तुलना ५२६
०९—विशिष्ट सिद्धान्त	+
१—जैन दर्शन	१
११—आत्मवाद	१२
१२—कर्मवाद—आलव-बंध-पाप-पुण्य	+
१३—क्रियावाद—संदर-निर्जरा-मोक्ष	+
१४—जनेतरवाद	१४
१५—मनोविज्ञान	१५
१६—न्याय-प्रमाण	१६
१७—आचार-महिता	१७
१८—स्याद्वाद-नयवाद-अनेकान्तादि	+
१९—द्विविध दार्शनिक सिद्धान्त	+
२—धर्म	२
२१—जैन धर्म की प्रकृति	२१
२२—जैन धर्म के ग्रन्थ	२२
२३—आध्यात्मिक मतवाद	२३
२४—धार्मिक जीवन	२४
२५—साधु-साध्वी-यति-भट्टारक-क्षुल्लकादि	२५
२६—चतुर्विध संघ	२६
२७—जैन का साम्प्रदायिक इतिहास	२७
२८—सम्प्रदाय	२८

ज० द० व० सं०	यू० डी० सी० संख्या
२६—जैनेतर धर्म : तुलनात्मक धर्म	२६
३—समाज विज्ञान	३
३१—सामाजिक संस्थान	+
३२—राजनीति	३२
३३—अर्थ शास्त्र	३३
३४—नियम-विधि-कानून-न्याय	३४
३५—शासन	३५
३६—सामाजिक उन्नयन	३६
३७—शिक्षा	३७
३८—व्यापार-व्यवसाय-यातायात	३८
३९—रीति-रिवाज—लोक-कथा	३९
४—भाषा विज्ञान—भाषा	४
४१—साधारण तथ्य	४१
४२—प्राकृत भाषा	४९१'३
४३—संस्कृत भाषा	४९१'२
४४—अपभ्रंश भाषा	४९१'३
४५—दक्षिणी भाषाएँ	४९४'८
४६—हिन्दी	४९१'४३
४७—गुजराती-राजस्थानी	४९१'४
४८—महाराष्ट्री	४९१'४६
४९—अन्य देशी—विदेशी भाषाएँ	४९१
५—विज्ञान	५
५१—गणित	५१
५२—खगोल	५२
५३—भौतिकी-यांत्रिकी	५३
५४—रसायन	५४
५५—भूगर्भ विज्ञान	५५
५६—पुराजीव विज्ञान	५६
५७—जीव विज्ञान	५७
५८—वनस्पति विज्ञान	५८
६—प्रयुक्त विज्ञान	६
६१—चिकित्सा	६१

ज० द० व० सं०	यू० डी० सी० संख्या
६२—यांत्रिक शिल्प	६२
६३—कृषि-विज्ञान	६३
६४—गृह विज्ञान	६४
६५— +	+
६६—रसायन शिल्प	६६
६७—हस्त शिल्प वा अन्यथा	६७
६८—विशिष्ट शिल्प	६८
६९—वास्तु शिल्प	६९
७—कला मनोरंजन-क्रीड़ा	७
७१—नगरादि निर्माण कला	७१
७२—स्थापत्य कला	७२
७३—मूर्तिकला	७३
७४—रेखांकन	७४
७५—चित्रकारी	७५
७६—उत्कीर्णन	७६
७७—प्रतिलिपि—लेखन-कला	७७
७८—संगीत	७८
७९—मनोरंजन के साधन	७९
८—साहित्य	८
८१—छंद-अलंकार-रस	८१
८२—प्राकृत साहित्य	+
८३—संस्कृत जैन साहित्य	+
८४—अपभ्रंश जैन साहित्य	+
८५—दक्षिणी भाषा में जैन साहित्य	+
८६—हिन्दी भाषा में जैन साहित्य	+
८७—गुजराती-राजस्थानी भाषा में जैन साहित्य	+
८८—महाराष्ट्री भाषा में जैन साहित्य	+
८९—अन्य भाषाओं में जैन साहित्य	+
९—भूगोल-जीवनी-इतिहास	९
९१—भूगोल	९१
९२—जीवनी	९२
९३—इतिहास	९३
९४—मध्य भारत का जैन इतिहास	+
९५—दक्षिण भारत का जैन इतिहास	+
९६—उत्तर तथा पूर्व भारत का जैन इतिहास	+
९७—गुजरात-राजस्थान का जैन इतिहास	+
९८—महाराष्ट्र का जैन इतिहास	+
९९—अन्य क्षेत्र व वैदेशिक जैन इतिहास	+

आशीर्वचन

अर्हम्

कोश निर्माण की प्रक्रिया लम्बे समय से चल रही है। मोहनलालजी वांठिया ने इस कार्य का प्रारम्भ किया और श्रीचन्द्र चोरड़िया उसमें सहायक रहा। मोहनलालजी अब नहीं रहे फिर भी श्रीचन्द्र उस कार्य को अग्रसर कर रहा है।

लेश्या जैन दर्शन का विशिष्ट शब्द है। कोशकार ने उसकी व्युत्पत्ति में अनेक धातुओं से उसका सम्बन्ध जोड़ने का प्रयत्न किया है। आचार्य तुलसी के वाचना प्रमुखत्व में हमने जो आगम सम्पादन किया और कर रहे हैं, उसका उपयोग करना शायद कोशकार को अभीष्ट नहीं रहा। प्राचीन व्याख्याओं के साथ शोधपूर्ण आधुनिक व्याख्याओं का समावेश किया जाए तो अधिक प्रामाणिक अर्थ खोजा जा सकता है। यदि इसमें नन्दी और उसकी चूर्णि का उपयोग किया जाता तो लेश्या शब्द की यथार्थ जानकारी हो जाती।

प्रस्तुत ग्रन्थ लेश्या कोश का दूसरा खण्ड है। यह सामान्य पाठक के लिए बहुत उपयोगी नहीं है, किन्तु शोध करने वालों के लिए बहुत उपयोगी है। पुनरावृत्ति पर विचार किया जाए तो इसका कलेवर छोटा हो सकता है, अध्येता के लिए सुविधा हो सकती है। जो बहुत वर्षों से जिस रूप में चल रहा है उसी रूप में अटकना नहीं है। इस विषय में नये चिन्तन और नये दृष्टिकोण का विकास होना जरूरी है। इससे उपयोगिता और बढ़ जायेगी।

श्रीङ्गूरगढ़

८ मई २००१

—आचार्य महाप्रज्ञ

० जैन दार्शनिक

पृष्ठभूमि →

०० सामान्य विवेचन

०१ लोकालोक

०२ द्रव्य

०३ जीव

०४ जीव-परिणाम

०५ अजीव-अरूपी

०६ अजीव-रूपी पुद्गल

०७ पुद्गल-परिणाम

०८ समय, व्यवहार-
समय

०९ विशिष्ट सिद्धान्त

०० सामान्य विवेचन

०१ गति

०२ इन्द्रिय

०३ कषाय

०४ लेश्या →

०५ योग

०६ उपयोग

०७ ज्ञान-अज्ञान

०८ दर्शन

०९ चारित्र्य

१० वेद

११ शरीर

१२ अवगाहना

१३ पर्याप्ति

१४ प्राण

१५ आहार

१६ योनि

१७ गर्भ

१८ जन्म-उत्पत्ति-उत्पाद

१९ स्थिति

२० मरण-च्यवन-उद्धर्तन

२१ वीर्य

२२ लब्धि

२३ करण

२४ भाव

२५ अध्यवसाय

२६ परिणाम

२७ ध्यान

२८ संज्ञा

आदि

० शब्द-विवेचन

*१ } द्रव्यलेश्या

*२ } (प्रायोगिक)

*३ द्रव्यलेश्या

(विस्रसा)

*४ भावलेश्या

*५ लेश्या और जीव →

*६ }

*७ }

*८ }

संज्ञी जीव

*९ विविध

उपविभाजन का उदाहरण

*५१	लेश्या की अपेक्षा जीव के भेद	*५८*१	रत्नप्रभापृथ्वी के नारकी में उत्पन्न होने योग्य जीवों में
*५२	लेश्या की अपेक्षा जीव की वर्गणा	*५८*२	शर्कराप्रभा०
		*५८*३	बालूकाप्रभा०
		*५८*४	पंकप्रभा०
*५३	विभिन्न जीवों में कितनी लेश्या	*५८*५	धूमप्रभा०
		*५८*६	तमप्रभा०
		*५८*७	तमतमाप्रभा०
*५४	विभिन्न जीव और लेश्या-स्थिति	*५८*८	असुरकुमार०
		*५८*९	नागकुमार यावत् स्तनितकुमार०
*५५	लेश्या और गर्भ-उत्पत्ति	*५८*१०	पृथ्वीकायिक०
*५६	जीव और लेश्या-समपद	*५८*१०*१	स्वयोनि से
		*५८*१०*२	अष्कायिक योनि से
		*५८*१०*३	अग्निकायिक योनि से
*५७	लेश्या और जीव का उत्पत्ति-मरण	*५८*१०*४	वायुकायिक योनि से
		*५८*१०*५	वनस्पतिकायिक योनि से
*५८	किसी एक योनि से स्व/पर योनि में उत्पन्न होने योग्य जीवों में कितनी लेश्या→	*५८*१०*६	द्वीन्द्रिय से
		*५८*१०*७	त्रीन्द्रिय से
		*५८*१०*८	चतुरिन्द्रिय से
		*५८*१०*९	असंज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंच योनि से
*५९	जीव समूहों में कितनी लेश्या	*५८*१०*१०	संख्यात वर्ष की आयुवाले संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंच योनि से
		*५८*१०*११	असंज्ञी मनुष्य से
		*५८*१०*१२	संज्ञी मनुष्य से
		*५८*१०*१३	असुरकुमार देवों से
		*५८*१०*१४	नागकुमार यावत् स्तनित-कुमार देवों से
		*५८*१०*१५	वानव्यंतर देवों से
		*५८*१०*१६	ज्योतिषी देवों से
		*५८*१०*१७	सौधर्म देवों से
		*५८*१०*१८	ईशान देवों से, आदि

'०४ जीव परिणाम का वर्गीकरण

०४०० सामान्य विवेचन

०४०१ गति

०४०२ इन्द्रिय

०४०३ कषाय

०४०४ लेश्या

०४०५ योग

०४०६ उपयोग

०४०७ ज्ञान

०४०८ दर्शन

०४०९ चारित्र्य

०४१० वेद

०४११ शरीर

०४१२ अवगाहना

०४१३ पर्याप्त

०४१४ प्राण

०४१५ आहार

०४१६ योनि

०४१७ गर्भ

०४१८ जन्म-उत्पत्ति-उत्पाद

०४१९ स्थिति

०४२० मरण-च्यवन-उद्वर्तन

०४२१ वीर्य

०४२२ लब्धि

०४२३ करण

०४२४ भाव

०४२५ अध्यवसाय

०४२६ परिणाम

०४२७ ध्यान

०४२८ संज्ञा

०४२९ मिथ्यात्व

०४३० सम्यक्त्व

०४३१ वेदना

०४३२ सुख

०४३३ दुःख

०४३४ अधिकरण

०४३५ प्रमाद

०४३६ ऋद्धि

०४३७ अगुहलघु

०४३८ प्रतिघातित्व

०४३९ पर्याय

०४४० रूपत्व-अरूपत्व

०४४१ उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य

०४४२ अस्तित्व-नित्य-अवस्थितत्व

०४४३ शाश्वतत्व

०४४४ परिस्पन्दन

०४४५ संसारसंस्थान काल

०४४६ संसारस्थत्व-असिद्धत्व

०४४७ भव्यत्वाभाव्यत्व

०४४८ परित्वापरित्व

०४४९ प्रथमाप्रथम

०४५० चरमाचरम

०४५१ पाक्षिक

०४५२ आराधना-विराधना



दो शब्द

विषय कोश परिकल्पना बड़ी महत्वपूर्ण है। यदि सब विषयों पर कोश नहीं भी तैयार हो सकें तो बीस-तीस प्रधान विषय पर भी कोश के प्रकाशन से जैन दर्शन के अध्येताओं को बहुत बड़ी ही सुविधा रहेगी। इस सम्बन्ध में मेरा सुझाव है कि श्रीचन्द्र चोरड़िया पणवणना सूत्र से ३६ पदों में विवेचित विषयों के कोश तो अवश्य सम्पादन कर दें।

यद्यपि इस कोश की परिकल्पना काफी विस्तृत है। किन्तु इन संकलनों से विषय को समझने व ग्रहण करने में मेरे विचार से कोई विशेष कठिनाई नहीं होगी। पाठकों को श्वेताम्बर-दिगम्बर दोनों दृष्टिकोण उपलब्ध हो सकें अतः चोरड़ियाजी से मेरा विनम्र निवेदन है कि दोनों परम्पराओं से संकलन कर विषय का प्रतिपादन आधुनिक दशमलव प्रणाली से कोश को सर्वोच्च स्थान दें।

सम्पादकों ने सम्पूर्ण जैन वाङ्मय को सार्वभौमिक दशमलव वर्गीकरण पद्धति के अनुसार सौ वर्गों में विभाजित किया है।

इस वर्गीकरण के अध्ययन से यह अनुभव होता है कि यह दूरस्पर्शी है तथा जैन दर्शन व धर्म में ऐसा कोई विरला ही विषय होगा जो इस वर्गीकरण से अधूरा रह जाय या इसके अन्तर्गत नहीं आ सके।

पर्याय की अपेक्षा जीव अनंत परिणामी है फिर भी आगमों में जीव के लेश्यादि दस ही परिणामों का उल्लेख है। योग, ध्यान, अध्यवसाय आदि के साथ लेश्या के तुलनात्मक विवेचन दिये गये हैं।

अस्तु प्रस्तुत कोश एक पठनीय-मननीय ग्रन्थ हुआ है। लेश्याओं को समझने के लिए इसमें यथेष्ट सामग्री है तथा शोधकर्त्ताओं के लिए यह एक अमूल्य कोश होगा। वर्गीकरण की शैली विषय को सहज गम्य बना देती है।

लेश्या शाश्वत भाव है। जैसे-लोक-अलोक-लोकान्त-अलोकान्त-दृष्टि, ज्ञान कर्म आदि शाश्वत भाव है, वैसे ही लेश्या भी शाश्वत भाव है।

लोक भूतकाल में था व भविष्य में रहेगा व वर्तमान में है, लेश्या आगे भी है, पीछे भी है—दोनों अनानुपूर्वी है। इसमें आगे पीछे का क्रम नहीं है।

इसी प्रकार अन्य सभी शाश्वत भावों के साथ लेश्या का आगे-पीछे का क्रम नहीं है । सब शाश्वत भाव अनादि काल से है, अन्त काल तक रहेंगे ।

लेश्या और योग का अधिनाभावी सम्बन्ध है । जहाँ लेश्या है; वहाँ योग है; जहाँ योग है, वहाँ लेश्या है । फिर भी दोनों भिन्न-भिन्न तत्त्व है । भावतः लेश्या परिणाम तथा योग परिणाम जीव परिणामों में अलग-अलग बतलाये गये हैं ।

लेश्या आत्मा-आत्मप्रदेशों में ही परिणमन करती है, अन्यत्र नहीं करती है । इससे पता चलता है कि संसारी आत्मा का लेश्या के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है व वह अनादि काल से चला आ रहा है ।

कृष्ण लेश्या, नील लेश्या, कापोत लेश्या, तेजो लेश्या, पद्म लेश्या, व शुक्ल लेश्या में 'वदृमान' वर्तता हुआ जीव और जीवात्मा एक है, अभिन्न है, दो नहीं है । जब जीवात्मा (पर्यायात्मा) लेश्या परिणामों में वर्तता है तब वह जीव यानि द्रव्यात्मा से भिन्न नहीं है, एक है, अर्थात् वही जीव है, वही जीवात्मा है ।

अस्तु जैन दर्शन समिति स्व० मोहनलालजी वांठिया एवं श्रीचन्द चोरड़िया द्वारा निर्णयित विषयों पर कोश प्रकाशन का कार्य कर रही है । इनके द्वारा लेश्या आदि कई कोश प्रकाशित हो चुके हैं ।

इस प्रकार जैन दर्शन समिति के द्वारा उनके विषय पर कोश संकलन का कार्य हुआ है । कोशों के सम्बन्ध में देश-विदेश के उच्च कोटि के विद्वानों ने युक्त कंठ से सराहना की है ।

मैं उन सभी महानुभावों के प्रति अपना आभार व्यक्त करता हूँ जिन्होंने हमें इस ग्रन्थ के प्रकाशन में सहयोग दिया है ।

मेरे साथी समिति के मन्त्री श्री सुशील कुमार जैन व श्री नवरतनमलजी सुराना का व श्री बनेचन्दजी मालू का इसे ग्रन्थ के प्रकाशन में अभूतपूर्व सहयोग रहा है ।

इस संस्था का पावन उद्देश्य जैन दर्शन व भारतीय दर्शन को उजागर करना है जिससे मानव ज्ञान रश्मियों से अपने अज्ञान अन्धकार को मिटा सके ।

कलकत्ता

७ मई २००१

गुलाबमल भण्डारी, अध्यक्ष
जैन दर्शन समिति

FOREWARD

It gives me immense pleasure to introduce to the world of orientalists this valuable reference book, entitled *Lesya-kosa*, compiled by Mr. Mohan Lal Banthia and his assistant Mr. Srichand Choraria who is a student at our Institute. It is a specimen volume of a larger project prepared by Mr. Banthia to compile a series of such volumes on various subjects of Jainism, enlisted in a comprehensive and exhaustive catalogue that is under preparation by him. The compilers do not claim that the volume is an exhaustive and complete reference book on the subject as contained in the literature that is extant and available in print and manuscripts, accepted by the Digambara and the Svetambara sects of Jainism. In fact, Mr. Banthia has proposed to publish another volume on the subject, containing the references to the subject embodied in the Digambara literature. The *Lesya-kosa* will inspire the scholars of Jainism for a critical study of the subject, leading to a clear formulation and evaluation of the doctrine and its bearing on the metaphysical speculations of ancient India.

The concept of *lesya* is a vital part of the Jaina doctrine of *karman*. Every activity of the soul is accompanied by a corresponding change in the material organism, subtle or gross. The *lesya* of a soul has also such double aspect—one affecting the soul and the other its physical attachment. The former is called *bhava-lesya*, and the latter is known as *dravya-lesya*. A detailed account of the mental and moral changes in the soul¹ and also an elaborate description of the material properties of various *lesyas*² are recorded in the Jaina scripture and its commentaries.

In the Ajivika, the Buddhist and the Brahmanical thought also, ideas similar to the Jaina concept of *lesya* are found recorded. The *lesya qua* matter is the 'colour-matter' accompanying the various gross and subtle physical attachments of the soul.³ This is the *dravya-lesya*. The corresponding state of the soul of which the

1. Pp. 251-3 (of the text).
2. Pp. 20ff
3. P. 10 (line 5) ; also p. 13 (line 11).

dravya-lesya is the outward expression is bhava-lesya.⁴ The dravya-lesya, being composed of matter, has all the material properties viz. colour, taste, smell and touch. But its nomenclature as krsna (black), nila (dark blue), kapota (gray, black-red⁵), tejas (fiery, red⁶), padma (lotus-coloured, yellow⁷) and sukla (white), is framed after its colour which appears to be its salient feature. The use of colour-names to indicate spiritual development was popular among the Ajivikas and the lesya concept of the Jainas seems to have had a similar origin. The Buddhists appear to have given a spiritual interpretation to the Ajivika theory of six abhijatis and the Brahmanical thinkers linked the colours to the various states of sattva, rajas and tamas.⁸

Although it is difficult to determine the chronology of these ideas in these religions, there should be no doubt that the concept of lesya was an integral part of Jaina metaphysics in its most ancient version. The later Jaina thinkers made attempts at knitting up the doctrine of karman, placing the concept of lesya at its proper place in the texture.

As regards the etymology of the word lesya (Prakrit, lessa, lesa), I would like to suggest its derivation from √slis 'to burn'⁹, with its meaning extended to the sense—'shining in some colour'. This connotation and others allied to it appear to explain satisfactorily the senses of scriptural phrases containing the word lessa, collected on pages 4 and 5 of the lesya-kosa. Dr. Jacobi's derivation of the term from klesa¹⁰ does not appear plausible, as the kasaya (the Jaina equivalent of klesa) has no necessary connection with the lesya, and the various usages of the word (lesya) found in the Jaina scripture do not imply such connotation.

4. P. 9 (lines 21ff).

5. P. 45 (line 13).

6. P. 45 (line 13).

7. P. 45 (line 14).

8. Pp. 254-7; also Glasenapp : The Doctrine of Karman in Jaina Philosophy, p. 47, fn 2; Pandit Sukhlalji : Jain Cultural Research Society (Varanasi) Patrika No. 15, pp. 25-6.

9. Srisu-slisu-prusu-plusu dahe—Paniniya-Dhatupatha, 701-4.

10. Glasenapp : op. cit., p. 47, fn 1.

Three alternative theories have been proposed by commentators to explain the nature of *lesya*. In the first theory, it is regarded as a product of passions (*kasaya-nisyanda*), and consequently as arising on account of the rise of the *kasaya-mohaniya karman*. In the second, it is considered as the transformation due to activity (*yoga-parinama*), and as such originating from the rise of *karman*s which produce three kinds of activity (physical, vocal and mental). In the third alternative, the *lesya* is conceived as a product of the eight categories of *karman* (*jnanavaraniya*, etc.), and as such accounted as arising on account of the rise of the eight categories of *karman*. In all these theories, the *lesya* is accepted as a state of the soul, accompanying the realization (*audayika-bhava*) of the effect of *karman*.¹¹

Of these theories, the second theory appears plausible. The *lesya*, in this theory, is a transformation (*parinati*) of the *sarira-namakarmān* (body-making *karman*),¹² effected by the activity of the soul through its various gross and subtle bodies—the physical organism (*kaya*), speech-organ (*vak*), or the mind organ (*manas*) functioning as the instrument of such activity.¹³ The material aggregates involved in the activity constitute the *lesya*. The material particles attracted and transformed into various *karmic* categories (*jnanavaraniya*, etc.) do not make up the *lesya*. There is presence of *lesya* even in the absence of the categories of *ghati-karman* in the *sayogi-kevalin* stage of spiritual development, which proves that such categories do not constitute *lesya*. Similarly, the categories of *aghati-karman* also do not form the *lesya* as there is absence of *lesya* even in the presence of such categories in the *ayogi-kevalin* stage of spiritual development.¹⁴ The *lesya-matter* involved in the activity aggravates the *kasayas* if they are there.¹⁵ It is also responsible for the *anubhaga* (intensity) of *karmic* bondage.¹⁶

11. For the refutation of the theory propounding *lesya* as *karma-nisyanda*, vide pp. 11-2.
12. P. 10 (line 10).
13. P. 10 (lines 13-21).
14. P. 11 (lines 3-8).
15. P. 11 (lines 8-9).
16. P. 11 (lines 15-7); also the *Tika* on *Karmagrantha*, IV, 1.

Lesya is also conceived by the commentators as having the aspect of viscosity.¹⁷

The compilers of the Lesya-kosa have taken great pains to make the work as systematic and exhaustive as possible. Assistance of a trained scholar and proof-reader could, however, be requisitioned for better editing and correct printing. The scholars of Indian philosophy, particularly those working in the field of Jainism, will derive good help from such reference books. Although primarily a veteran business man, Mr. Bantia has shown keen understanding of ontological problems in systematically arranging the references and clinching crucial issues as is evident from the occasional remarks in his notes. Scholars will take off their hats to him in appreciation of his Herculean labour in defiance of the extremely precarious health that he has been enjoying for the last several years. We wish success to him in his larger scheme which is bound to be of great benefit to scholars devoted to the study of Jainism, and assue him of our full co-operation in the execution of the project.

NATHMAL TATIA

Director,

Research Institute of Prakrit
Jainology & Ahimsa, Vaishali

July 3, 1966.

17. P. 12 (line 11) ; p. 13 (line 13)

प्रकाशकीय

जैन दर्शन समिति अपने स्थापना काल से ही कोश निर्माण के महत्वपूर्ण कार्य को सम्पादित करने में संलग्न है। स्व० मोहनलालजी बांठिया संस्था के प्राण थे। वे स्वयं एक तत्त्ववेत्ता श्रावक थे। उन्होंने अनुभव किया कि जैन दर्शन पर शोध करने वाले विद्यार्थियों को एक विषय पर समग्र रूप से सामग्री उपलब्ध नहीं होती इस वजह से नये छात्र शोध करने में हिचकिचाते हैं। स्व० बांठिया ने चिन्तन करके जैन दर्शन के महत्वपूर्ण विषयों के कोश निर्माण की परिकल्पना की। स्व० बांठियाजी के कार्य में श्री श्रीचन्द चोरड़िया प्रारम्भ से ही सहयोगी रहे। श्री चोरड़ियाजी प्राकृत-भाषा पर अधिकार रखते हैं। न्यायतीर्थ द्वय है, इस वजह से वे श्वेताम्बर व दिगम्बर दोनों सम्प्रदाय की अवधारणा व मान्यताओं को अच्छी तरह परख सकते हैं।

जैन दर्शन समिति ने इससे पूर्व योग कोश, क्रियां कोश, पुद्गल कोश, वर्धमान जीवन कोश, मिथ्यात्वी का अध्यात्मिक विकास आदि महत्वपूर्ण ग्रन्थ प्रकाशित किये हैं। वर्तमान में लेश्या कोश प्रकाशित कर रही है। लेश्या जैन दर्शन का परिभाषिक शब्द है। भाव परिवर्तन का आधार है लेश्या। लेश्या प्रशस्त कैसे बने यह साधना का आधार बन सकता है। लेश्या पर जितना कार्य जैन दर्शन के विद्वानों ने किया है वह शोध के क्षेत्र में एक महत्वपूर्ण देन है। आज के वैज्ञानिक युग में रंग चिकित्सा का विकास हो रहा है। मनोविज्ञान ने कलर थेरेपी पर बहुत कार्य किया है। लेश्या के सिद्धान्त को समझकर वैज्ञानिक दृष्टि से चिन्तन करना भी आवश्यक है।

जैन दर्शन अपने आप में गहन है फिर कोश का कार्य तो अति दुष्कर हो जाता है। साधारण पाठकों के लिये बहुत ज्यादा रुचिकर नहीं हो सकता किन्तु जो शोध करना चाहते हैं उनके लिये अमूल्य कृति साबित हो सकती है।

लेश्या कोश पर पूज्य आचार्य श्री महाप्रज्ञ ने अपना आशीर्वाचन प्रदान किया है तथा कार्य को और अच्छे ढंग से सम्पादित किया जा सकता है उसका दिशा दर्शन भी प्रदान किया है। जैन दर्शन समिति आचार्य श्री महाप्रज्ञजी के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करती है। आचार्य महाप्रज्ञ आगम सम्पादन का दुरुह कार्य वर्षों से कर रहे हैं। उनका यह कार्य जैन शासन व सम्पूर्ण मानवता के लिये अमूल्य निधि है। अनेक वर्षों पूर्व पूज्य गुरुदेव श्री तुलसी ने कोश-निर्माण के कार्य को आगम सम्पादन के पूरक कार्य के रूप में स्वीकार किया था।

अध्यक्ष श्री गुलाबमलजी भण्डारी के नेतृत्व में जैन दर्शन समिति के सभी सदस्य सक्रियता के साथ कोश-प्रकाशन के कार्य में जुटे हुये हैं ।

जय तुलसी फाउन्डेशन के मुख्य न्यासी श्री बनेचन्दजी मालू ने भी जब समिति द्वारा पूर्व प्रकाशित ग्रन्थों का अवलोकन किया तो प्रभावित हुये एवं लक्ष्मी कोश के प्रकाशन में उन्होंने गहरी अभिरुचि ली एवं आपका सहयोग भी हमें मिलता रहा । आपके सहयोग के लिये समिति परिवार विशेष आभार व्यक्त करता है ।

अस्तु, इसके पूर्व प्रकाशित पुद्गल कोश में सहायक दाताओं के नाम इस प्रकार है—

१—श्री भगवतीलाल सिसोदिया ट्रस्ट, जोधपुर	१७१००)
२—श्री गजराज नगराज अशोककुमार बाफना, रायपुर	५०००)
३—श्री गुलाबचंद चोरड़िया, कलकत्ता	५०००)
४—श्री श्रीचन्द छाजेड़, टमकोर	५०००)
५—श्री पदमचंद सुशीलकुमार चौपड़ा	३१००)
६—श्री रणजीतसिंह बच्छावत, कलकत्ता	२६००)
७—श्री नवरतमल सुराना	२५००)
८—श्री रतनलाल दुगड़, कलकत्ता	२५००)
९—श्री ताराचंद चोरड़िया, कलकत्ता	२०००)
१०—श्री अशोककुमार चोरड़िया, हवड़ा	११००)
११—श्री चंदप्रकाश वांठिया, कलकत्ता	१०००)
१२—श्री केशरीचंद दुगड़, कलकत्ता	१०००)
१३—श्री विजयकुमार चोरड़िया, खगडा	१०००)
१४—श्री रतनचंद छाजेड़, फतेहपुर	१०००)
१५—श्री बच्छराज गीड़िया कलकत्ता,	१०००)
१६—श्री लक्ष्मीपत लोढा, हवड़ा	१०००)
१७—श्री पदमचंद नाहटा, कलकत्ता	५००)
१८—श्री जंवरीमल बैद, कलकत्ता	५००)
१९—श्री बाबूलाल गंग, कलकत्ता	५००)
२०—श्री विमलकुमार जैन, कलकत्ता	५००)
२१—श्री सोहनलाल सुभेरमल भन्साली, टमकोर	५००)
२२—श्री चांदमल रूपचंद भन्साली, सीलीगुड़ी	५००)
२३—श्री सूर्य प्रकाश भन्साली	२५०)
२४—श्री संजयकुमार दुगड़	२५०)

जैन दर्शन समिति के अध्यक्ष श्री गुलाबमलजी भण्डारी के प्रति भी मैं आभार व्यक्त करता हूँ जिनके सतत मार्ग दर्शन से ही प्रकाशन कार्य शीघ्र सम्पन्न हो सका। समिति के वरिष्ठ सदस्य श्री नवरतनमल सुराना, श्री पन्नालाल पुगलिया, धर्मचंद राखेचा, हीरालाल सुराना आदि का सहयोग बराबर रहा है—मेरे कार्य में मेरे अनन्य सहयोगी जैन दर्शन समिति के उपमन्त्री श्री सुशीलजी बाफणा के सहयोग से मैं शब्दों को अभिव्यक्त नहीं कर सकता।

“जैन दर्शन समिति के कर्मठ कार्यकर्ता तथा अखिल भारतीय तेरापंथ युवक परिषद के अध्यक्ष श्री पन्नालाल पुगलिया ने कोश के सम्बन्ध में इस प्रकार सुझाव दिया है—

जैन आगमों में कोशों का वर्णन मिलता है। जिनके आधार पर जैन दर्शन की गहराई को आंका जा सकता है। योग कोश, पुद्गल कोश, वर्धमान जीवन कोश, लेश्या कोश, आदि ऐसे कोश हैं जिनके अध्ययन एवं मनन से तत्वों की सूक्ष्म विवेचना सम्भव है। हालांकि ये कोश जन साधारण के पठन के लिये निरस से ही लगते हैं क्योंकि आम साठक इसकी गहराई को समझ नहीं पाता है। पर जैन दर्शन एवं तत्व मीमांसा के शोधार्थी प्रबुद्धजनों के लिये ये कोश बहुत उपयोगी है।

जैन दर्शन समिति को समय-समय पर इन कोशों का प्रकाशन करती रही है। आगमों के आधार पर इन कोशों के सम्पादन में स्व० मोहनलालजी बांठिया एवं श्री श्रीचन्दजी चोरड़िया न्यायतीर्थ द्वय ने काफी श्रम किया है। पुद्गल कोश का नया प्रकाशन देखने को मिला। कोश की गहराई तक तो मैं नहीं पहुँच पाया और ना ही विवेचना को उतना समझ पाया जितनी आवश्यकता है। पर श्री श्रीचन्दजी चोरड़िया के अथक श्रम, निस्पृह लगन का साक्षात्कार अवश्य हुआ।

जैन विश्वभारती लाडनूँ राजस्थान में युग प्रधान आचार्य श्री महाप्रज्ञजी के निर्देशन में आगम सम्पादन का कार्य चल रहा है। मेरा श्री चोरड़ियाजी से अनुरोध है कि वे आगम सम्पादन के इन कार्यों में भी सहभागी बन कर अपनी ऊर्जा एवं चेतना का सम्यक् नियोजन, समुचित व्यवस्थापन करें। इस दुरुह संकलन एवं सम्पादन के लिये आभार एवं मंगल कामनाएं।”

राज प्रोसेस प्रिन्टर्स तथा उनके कर्मचारी का हमें पूरा सहयोग मिला तदर्थ धन्यवाद।

सुशील कुमार जैन, मन्त्री
जैन दर्शन समिति

प्रस्तावना

जैन दर्शन सूक्ष्म और गहन है तथा मूल सिद्धांत ग्रन्थों में लेश्यादि का क्रमवद्ध विवेचन नहीं होने के कारण इसके अध्ययन में तथा इसे समझने में कठिनाई होती है। अनेक विषयों के विवेचन अपूर्ण अधूरे हैं। अतः अनेक स्थल इस कारण से भी समझ में नहीं आते हैं। अर्थबोध की इस दुर्गमता के कारण जैन-अजैन दोनों प्रकार के विद्वान जैन दर्शन के अध्ययन में सकुचाते हैं। क्रमवद्ध तथा विषयानुक्रम विवेचन का अभाव जैन दर्शन के अध्ययन में सबसे बड़ी बाधा उपस्थित करता है — ऐसा हमारा अनुभव है।

एक अमेरिकन छात्र लेश्या विषय पर शोध कर रहे थे। उन्होंने पत्र द्वारा जताया था कि हमने आपके द्वारा भेजी गई विश्वविद्यालय में 'लेश्या कोश' पुस्तक मिली फिर भी हम आपके पास लेश्या सम्बन्धी विशेष जानकारी के लिए कलकत्ता आ रहे हैं इससे हमको आपके द्वारा काफी सामग्री मिलेगी।

इसी तरह एक विदेशी प्राध्यापक जैन दर्शन के लेश्या विषय पर शोध करने आये थे। उनके सामने बड़ी समस्या थी। उन्हें भी ऐसी कोई पुस्तक नहीं मिली जिसमें लेश्या पर क्रमवद्ध और विस्तृत विवेचन हो। उनको भी अनेक आगम व सिद्धांत ग्रन्थों को टटोलना पड़ा। यद्यपि पणवणा तथा उत्तरजम्बयण में लेश्या पर अलग अध्ययन है।

जब हमने 'पुद्गल' का अध्ययन प्रारम्भ किया तो हमारे सामने भी यही समस्या आयी। आगम और सिद्धांत ग्रन्थों से पाठों का संकलन करके इस समस्या का हमने काफी अंशों में समाधान किया। इस प्रकार जब-जब हमने जैन दर्शन के अन्यान्य विषयों का अध्ययन प्रारम्भ किया तब-तब हमें सभी आगम तथा अनेक सिद्धांत ग्रन्थों को सम्पूर्ण पढ़कर पाठ संकलन करने पड़े। इसी तरह जिस विषय का भी अध्ययन किया हमें सभी ग्रन्थों का आद्योपांत अवलोकन करना पड़ा। इससे हमें अनुमान हुआ कि विद्वद् वर्ग जैन दर्शन के गम्भीर अध्ययन में क्यों सकुचाते हैं।

सर्व प्रथम हमने विशिष्ट पारिभाषिक, दार्शनिक तथा आध्यात्मिक विषयों की सूची बनाई। विषय संख्या १००० से भी अधिक हो गई। इन विषयों के सुष्ठु वर्गीकरण के लिए हमने आधुनिक सावर्भौमिक दशमलव वर्गीकरण का अध्ययन किया। तत्पश्चात् बहुत कुछ इस पद्धति का अनुसरण करते हुए

हमने सम्पूर्ण जैन वाङ्मय को १०० वर्गों में विभक्त करके मूल विषयों के वर्गीकरण की एक रूपरेखा (देखो पृ० १४) तैयार की। मूल विषयों में से भी अनेक उपविषयों की सूची भी हमने तैयार की। उनमें से जीव परिणाम की (विषयांकन ०४) उपविषय सूची में दी गई है विद्वद् वर्ग से निवेदन है कि वे इन विषय सूचियों का गहरा अध्ययन करें। तथा इनमें परिवर्तन, परिवर्द्धन व संशोधन सम्बन्धी अथवा अपने अन्य बहुमूल्य सुभाषण भेजकर हमें अनुग्रहित करें।

अस्तु लेश्या जैन दर्शन का रहस्यमय विषय है तथा जिसकी व्याख्या कोई भी प्राचीन आचार्य भलीभाँति असंदिग्ध रूप में नहीं कर सके हैं। इसलिए हमने सम्पादन के लिए 'लेश्या' विषय को ग्रहण किया। इसका प्रथम खण्ड पहले प्रकाशित हो चुका है। दूसरा खण्ड आपके सामने है। 'लेश्या कोश' विषयक तीसरा खण्ड यथा—समय प्रकाशित करने की योजना है।

सम्पादन में हमने निम्नलिखित तीन बातों को आधार माना है।

१—पाठों का मिलान

२—विषय के उपविषयों का वर्गीकरण तथा

३—हिन्दी अनुवाद।

जहाँ लेश्या सम्बन्धी पाठ स्वतन्त्र रूप में मिल गया है वहाँ हमने उसे उसी रूप में ले लिया है लेकिन जहाँ लेश्या के पाठ अन्य विषयों के साथ सम्मिश्रित है वहाँ हमने निम्नलिखित दो पद्धतियाँ अपनाई है।

(१) पहली पद्धति में हमने सम्मिलित पाठों से लेश्या सम्बन्धी पाठ अलग निकाल लिया है तथा जिस सन्दर्भ में वह पाठ आया है उस सन्दर्भ को प्रारम्भ में कोष्ठक में देते हुए उसके बाद लेश्या सम्बन्धी पाठ दे दिया है यथा—भग० श ११। उ १ का पाठ। इसमें उत्पल वनस्पति के सम्बन्ध में विभिन्न विषयों को लेकर पाठ है। हमने यहाँ लेश्या सम्बन्धी पाठ ग्रहण किया है तथा उत्पल सम्बन्धी पाठ को पाठ के प्रारम्भ में कोष्ठक में दे दिया है—

(उत्पले णं एगपत्तए) ते णं भंते ! जीवा किं कण्हलेस्सा, नीललेसा काउलेस्सा तेउलेसा ? गोयमा ! कण्हलेस्से वा जाव तेउलेसे वा कण्हलेस्सा जाव नीललेस्सा वा काउलेस्सा वा तेउलेस्सा वा अहवा

कणहलेस्से य नीललेस्से य एवं एण्टुयासंजोगतियया संजोग चउक्कसं-
जोगेणं असीइ भंगा भवंति-विषयांकन '५३'१५'६ । पृ० ६६

(२) दूसरी पद्धति में हमने सम्मिश्रित विषयों के पाठों में से पाठ लेश्या से सम्बन्धित नहीं है उसको बाद देते हुए लेश्या सम्बन्धी पाठ ग्रहण किया है तथा बाद दिये हुए अंशों को तीन क्रस (× × ×) चिह्नों द्वारा निर्देशित किया है, यथा—भग० श २४ । उ १ । सु ७, १२—

पञ्जत्ता (त्त) असन्निपंचेदियतिरिक्खजोणिणं णं भंते ! जे
भविण् रयणप्पभाए पुढवीए नेरइएसु उववञ्जित्तए × × × तेसिणं
भंते । जीवाणं कइ लेस्साओ पन्नत्ताओ ? गोयमा ! तिन्नि लेस्साओ
पन्नत्ताओ, तं जहा—कणहलेस्सा, नीललेस्सा, काउलेस्सा—विषयांकन
'५८'१'१ । गमक १ पृ० १०० । इस उदाहरण में हमने प्रश्न ७ से प्रारम्भिक
पाठ लेकर अवशेष पाठ को बाद दे दिया है तथा उसे क्रस चिह्नों द्वारा निर्देशित
कर दिया गया है । प्रश्न ८, ९, १० तथा ११ को भी हमने बाद देकर प्रश्न
१२ जो लेश्या सम्बन्धी है ग्रहण कर लिया है । कई जगहों पर इन पद्धतियों के
अपनाने में असुविधा होने के कारण हमने पूरा का पूरा पाठ ही दे दिया है ।

मूल पाठों में संक्षेपीकरण होने के कारण अर्थ को प्रकट करने के लिए हमने
कई स्थलों पर स्वनिर्मित पूरक पाठ कोष्ठक में दिये हैं—यथा—कडजुम्म-
कडजुम्मसन्निपंचिदिया णं भंते × × × (कइ लेसाओ पन्नत्ताओ) ?
कणहलेस्सा जाव सुक्कलेस्सा । × × × एव सोलससु वि जुम्भेसु
भाणियठवं—विषयांकन '८६'६ । पृ० २२० । यहाँ कइ लेसाओ पन्नत्ताओ
पाठ जो कोष्ठक में है सूत्र संक्षेपीकरण में बाद पड़ गया था उसे हमने अर्थ की
स्पष्टता के लिए पूरक रूप में दे दिया है ।

वर्गीकृत उपविषयों में हमने मूल पाठों को अलग-अलग विभाजित करके भी
दिया है यथा—'एवं सक्करप्पभाए वि' विषयांकन '५३'३ । पृ० ६३ । कहीं-
कहीं समूचे पाठ को एक वर्गीकृत उपविषय में देकर उस पाठ में निर्दिष्ट अन्य
वर्गीकृत उपविषयों में अन्य मूल पाठ को बार-बार उद्धृत न करके केवल इंगित कर
दिया है । यथा—'५८'३१'१ में '५८'३०'१ के पाठ को इंगित कर दिया
गया है ।

यथा सम्भव वर्गीकरण की सब भूमिकाओं में एकरूपता रखी जायेगी ।

सब मूल वर्ग या उपवर्ग संकलित पाठों के आधार पर बनाये जायेंगे। यथा-सम्भव वर्गीकरण की सब भूमिकाओं में एकरूपता रखी जायेगी।

लेश्या का विषयांकन हमने ०४०४ किया है। इसका आधार यह है कि सम्पूर्ण जैन वाङ्मय को १०० भागों में विभाजित किया गया है (देखें मूल वर्गीकरण सूची पृ० ६) इसके अनुसार जीव-परिणाम का विषयांकन ०४ है। जीव परिणाम भी सौ भागों में विभक्त किया गया है (देखें जीव परिणाम वर्गीकरण सूची पृ० १२) इसके अनुसार लेश्या का विषयांकन ०४ होता है। अतः लेश्या का विषयांकन हमने ०४०४ किया है। लेश्या के अंतर्गत आने वाले विषयों के आगे दशमलव का चिह्न है, जैसे '५८ तथा '५८ के उपवर्ग के आगे फिर दशमलव का चिह्न है। जैसे '५८'२ तथा '५८'२ के विषय का उप-विभाजन होने से इसके बाद आने वाली संख्या के आगे भी दशमलव विन्दु रहेगा (देखें चार्ट पृ० १०, १२)।

सामान्यतः अनुवाद हमने शाब्दिक अर्थ रूप में किया है। लेकिन जहाँ विषय की गम्भीरता या जटीलता देखी है। वहाँ अर्थ को स्पष्ट करने के लिए विवेचनात्मक अर्थ भी किया है। विवेचनात्मक अर्थ करने के लिए हमने सभी प्रकार की टीकाओं तथा अन्य सिद्धांत ग्रन्थों का उपयोग किया है।

पाठक वर्ग से सभी प्रकार के सुभाव अभिनन्दनीय है चाहे वे सम्पादन, वर्गीकरण, अनुवाद या अन्य किसी प्रकार के हो। आशा है इस विषय में विद्वद् वर्ग का पूरा सहयोग प्राप्त होगा।

देवों के महाप्रभाव और उद्योत भाव को दिखाने के लिए—द्युति, प्रभा, ज्योति, छाया, अचि और लेश्या शब्द का प्रयोग किया गया है। यह प्रयोग वर्णात्मक छाया का चोतक है। दिव्य तेज के बाद दिव्य लेश्या शब्द का प्रयोग कुछ विशेष महत्वपूर्ण एवं दार्शनिक प्रतीत होता है।^१ नंदी सूत्र में श्री संघ को सूर्य की उपमा से उपमित किया गया है। देव वाचक ने कहा है—

“परतिस्थिय - गहपहनासगस्स, तवतेय - दित्तलेसस्स ।

नाणुज्जोयस्स जए, भइं दमसंघ-सुरस्स ॥

—नंदी० गा १०

१. दिव्वाए पभाए दिव्वाए छायाए दिव्वाए अच्चीए दिव्वेणं तेणं दिव्वाए
लेसाए दस दिसाओ...पण्ण० पव १ । सू १०७

अर्थात् परतीर्थ—एकांतवादी, दुर्नय का आश्रय लेने वाले परवादी रूप ग्रहों की आभा को निस्तेज करने वाले, तप रूप तेज से सदैव देदीप्यमान सम्यग् ज्ञान से उजागर, उपशम प्रधान संघ रूप सूर्य का कल्याण हो । यहाँ लेश्या का अर्थ दीप्ति तेज विशेष है ।

जैसे सूर्योदय होते ही अन्य सभी ग्रह प्रभाहीन हो जाते हैं वैसे ही श्रीसंघ रूपी सूर्य के सामने अन्य दर्शनकार, जो एकांतवाद को लेकर चलते हैं, प्रभाहीन-निस्तेज हो जाते हैं ।

अस्तु लेश्या जैन दर्शन का एक पारिभाषिक शब्द है । इसकी व्याख्या शरीर और आत्मा के सांयोगिक भाव से की जाती है । आजीविक सम्प्रदाय जो कि गोशालक से पहले विद्यमान था, उसमें अभिजाति के नाम से लेश्या की पर्याप्त व्याख्या है । इसी की छाया बौद्ध ग्रन्थों में है । भावविशुद्धि के आरोह व अवरोह क्रम में सभी परम्पराएं इसे तुला स्वरूप मानती है ।

तप-संयम की भावना से जिसका अंतःकरण सुदासित है, वह भावितात्मा अनगर छद्मस्थ (अवधि ज्ञान आदिरहित) होने से ज्ञानावरणीय आदि कर्म के योग्य अथवा कर्मसम्बन्धी कृष्णादि लेश्या को नहीं जान-देख सकता । क्योंकि कर्म द्रव्य व लेश्या द्रव्य अति सूक्ष्म होते हैं । वे छद्मस्थ के लिए अगोचर हैं । परन्तु कर्म और लेश्या युक्त शरीरधारी जीव को जानता-देखता है । क्योंकि शरीर चक्षुरिन्द्रिय ग्राह्य होता है और आत्मा का शरीर के साथ कथंचित् अभेद होने व स्वसंविदित होने के कारण जानता-देखता है ।

चन्द्र आदि विमानों के पुद्गल पृथ्वीकायिक होने से अचेतन है और कर्म लेश्यावाले हैं । किन्तु उनसे निकले हुए प्रकाश के पुद्गल, कर्म लेश्यावाले नहीं होते हैं, तथापि उनसे निकले हुए होने के कारण प्रकाश के पुद्गल उपचार से कर्म लेश्यावाले कहे जाते हैं । आगम में कहा है—

क्यरे ण भंते ! सरूवी सकम्मलेस्सा पोग्गला ओभासेंति जाव पभासेंति ? गोयमा ! जाओ इमाओ चंदिम-सुरियाणं देवाणं विमाणेहितो लेस्साओ वहिया अभिणिससडाओ ताओ ओभासेंति पभासेंति एवं एणं गोयमा ! ते सरूवि सकम्मलेस्सा पोग्गला ओभासेंति उज्जोवेति तवेति पभासेंति ।

—भग० श १४ । उ ६ । सू १२५

अर्थात् चंद्र और सूर्य के विमानों से निकले हुए प्रकाश पुद्गल प्रकाशित होते हैं, यावत् प्रभासित होते हैं। इस प्रकार ये सभी सरूपी कर्म योग्य लेश्या वाले पुद्गल प्रकाशित होते हैं यावत् प्रभासित होते हैं।

प्रशस्त अध्यवसाय स्थान या भावशुद्धि-लेश्या की विशुद्धि से अवधिज्ञान वृद्धि को प्राप्त होता है। जिसको नंदी सूत्र में वर्द्धमान अवधिज्ञान कहा है। इसके विपरीत भाव की अविशुद्धि से, अध्यवसाय स्थान अप्रशस्त होने से अवधिज्ञान हीयमान हो जाता है।

लेश्या की विशुद्धि से जीव अप्रतिपाती अवधिज्ञान प्राप्त कर लेता है। आगम में केवली को सर्वज्ञ-सर्वदर्शी भी लब्धि की अपेक्षा कहा गया है, न कि उपयोग की अपेक्षा। अतः एकान्तर-उपयोग पक्ष निर्दोष है। कहा है—

“जुगवं दो नत्थि उवओगा।”

अर्थात् दो उपयोग एक साथ नहीं होते। यह नियम केवल व्यद्मस्थों के लिए नहीं है। अतः केवली में भी एक साथ, एक समय में एक ही उपयोग पाया जा सकता है। केवल ज्ञानी प्रवचन करते हैं वह उनका श्रुतज्ञान नहीं; अपितु भाषा पर्याप्ति नाम कर्म के उदय से करते हैं। उनका वह प्रवचन वाग्-योग-द्रव्य श्रुत कहलाता है, क्योंकि सुनने वालों के लिए वह द्रव्यश्रुत, भावश्रुत का कारण बन जाता है।

श्रुतज्ञान मतिपूर्वक होता है किन्तु श्रुतपूर्विका मति नहीं होती, यद्यपि लब्धि रूप से दोनों सहचर है, उपयोग रूप से प्रथम मति और फिर श्रुत का व्यापार होता है। कहा है—

विषयासक्त चित्तो हि यतिर्मोक्षं न विदंति।

अर्थात् जिसका चित्त साधु-वेश धारण करने के पश्चात् भी विषयासक्त रहता है, ऐसी आत्मा मोक्ष की प्राप्ति नहीं कर सकती है। यह एक आर्त्त-रौद्र ध्यान का भेद है। इन अशुभ ध्यान में कृष्णादि तीन अप्रशस्त लेश्या होती है।

शोक (खेद-खिन्नता) मानसिक दुःख रूप है। यह आर्त्तध्यान का एक भेद है। शोक करने वालों में कृष्ण-नील कापोत लेश्या होती है। कहा है—

जे णं जीवा माणसं वेदणं वेदंति, तेसिणं जीवाणं सोगे।

—भग० श १६। उ २। सू २६

अर्थात् जो जीव मानसिक वेदना वेदते हैं, उन जीवों के शोक होता है। शोक रूप आर्त्तध्यान संज्ञी जीवों के होता है। नारकी, देव, संज्ञी तिर्यच-संज्ञी मनुष्यों के शोक होता है। मनोयोग वाले जीवों को जरा और शोक दोनों होते हैं। असंज्ञी जीवों के जरा होती है परन्तु शोक नहीं।

भगवद् श १७। उ १२ में कहा है—

“एगिंदियाणं भंते ! सब्बे समाहारा० ? एवं जहा पढमसए वित्तिउडेसए पुढविक्काइयाणं वत्तव्वया भणिया सा चेव एगिंदियाणं इह भाणियव्वा जाव समाउया, समोवचन्नाग।

—भग० श १७। उ १२। सू ८२। पृ० ७५२

देखो लेश्या कोश पृ० ३४०। क्रमसंख्या ६

पृथ्वीकायिक जीवों का आहार, कर्म, वर्ण व लेश्या नारकी के समान समझना चाहिए।

चूंकि सभी नारकी समान लेश्यावाले नहीं हैं, क्योंकि नारकी दो प्रकार के होते हैं, यथा पूर्वोपपन्नक तथा पश्चादुपपन्नक। इनमें जो पूर्वोपपन्नक है वे विष्णु लेश्यावाले और इनमें जो पश्चादुपपन्नक है वे अविष्णु लेश्यावाले हैं। इसलिए ऐसा कहा जाता है कि सभी नारकी समान लेश्यावाले नहीं हैं।

एकेन्द्रिय जीव भी नारकी की तरह समान लेश्या वाले नहीं हैं।

जीवों के अनुगत आहारोपचित, शरीरोपचित और कलेवरोपचित पुद्गल होते हैं। तथा पुद्गलों के आश्रित ही जीवों और पुद्गलों की गति-पर्याय कही गई है। अलोक में जीव नहीं है और पुद्गल भी नहीं है अतः महर्द्धिक देव यावत् महासुख वाला देव, लोकान्त में रह कर अलोक में हाथ यावत् उर को संकोचने व पसारने में समर्थ नहीं है। अतः अलोक में लेश्या नहीं है, लोक में ही लेश्या का विवेचन करना चाहिए। तीनों लोक में जीव है अतः लेश्या परिणाम भी तीनों लोक में है। अलोक में अलेशी—मनुष्य-सिद्ध भी नहीं है।

तेजोलेश्या (तेजो लब्धि) के निक्षिप्त करने से कम से कम तीन क्रिया, मध्यम ४ क्रिया व उरकृष्ट ५ क्रिया लगती है। इसी प्रकार आहारकलब्धि-वैक्रिय-लब्धि के फोड़ने से जघन्य ३ क्रिया, मध्यम चार क्रिया, उरकृष्ट पांच क्रिया लगती है।

३ क्रिया (कायिकी, आधिकारणिकी व प्राद्वैपिकी)

४ क्रिया (३ + पारितापनिकी एवं ४)

५ क्रिया (४ + १ प्राणातिपातिकी)

आगम साहित्य में तेजोलब्धि के स्थान पर तेजोलेइया का भी प्रयोग हुआ है। अध्ययन से मालूम होता है कि तेजोलेइया-तेजोलब्धि पर्यायवाची शब्द है। स्थानांग सूत्र में दस कारणों से श्रमण-माहण की अत्याशावना करने वाले, को तेज से (तेजो लेइया से) भस्म कर सकता है। कभी-कभी तेजो लेइया से फेंकने वाला भी भस्म हो जाता है। कोई व्यक्ति तथा रूप-तेजोलब्धि (तेजो लेइया) सम्पन्न श्रमण-माहण की अत्याशातना करता हुआ उस पर तेज फेंकता है। वह तेज (तेजो लेइया) उसमें घूस नहीं सकती उसके ऊपर-नीचे, नीचे-ऊपर आता जाता है, बांए-दांए प्रदक्षिणा करता है। वैसा कर आकाश में चला जाता है, वहाँ से लौटकर उस श्रमण-माहण के प्रबल तेज से प्रतिहृत होकर वापस उसी के पास चला जाता है। जो उसे फेंकता है उसके शरीर में प्रवेश कर उसको तेजोलब्धि (तेजो लेइया) के साथ भस्म कर देता है। जिस प्रकार मंखलीपुत्र गोशालक ने भगवान महावीर पर तेज का प्रयोग किया था (वीतरागता के प्रभाव से भगवान भस्मसात् नहीं हुए। वह तेज लौटा और उसने गोशालक को ही जला डाला।^१ अर्थात् श्रमण-माहण की आत्याशातना करता हुआ उस पर तेज (तेजो लेइया) फेंकता है। तेज उससे प्रविष्ट नहीं होता। प्रदक्षिणाकर पुनः फेंकने वाले के पास चला जाता है। उस तेज के फेंकने वाला की भस्म होता है।

स्थानांग सूत्र में दस ऐसे प्रकार बताये गये हैं, जिनके द्वारा तेजो लेइया का प्रयोग किया जाता है।^२

१—श्रमण माहण की अत्याशातना करने वाले पर श्रमण कुपित हो तेज फेंक उसे परितप्त करते हुए भस्म करता है।

२—कोई व्यक्ति तेजोलब्धि (तेजो लेइया) सम्पन्न श्रमण माहण की अत्याशातना करता है। उसके अत्याशातना करने पर कोई देव कुपित हो कर तेज फेंक परितप्त करते हुए उसे भस्म करता है।

१. भगवती श १५। सू १११ से ११४

२. ठाण० स्था १०। सूत्र १५६

३—कोई श्रमण माहण की अत्याशातना करने पर श्रमण और देव कुपित हो तेजो लेश्या फँक उसे परितप्त करते हुए उसे भस्म करते हैं ।

४—कोई व्यक्ति तथा रूप तेजोलब्धि सम्पन्न श्रमण-माहण की अत्याशातना करता है । तब वह अत्याशातना से कुपित होकर उस पर तेज फँकता है । तब उसके शरीर में स्फोट (फोड़े) उत्पन्न होते हैं । वे फूटते हैं और फूटकर उस तेज से भस्म कर देते हैं ।

५—श्रमण-माहण की अत्याशातना करने वाले पर देव कुपित हो तेज फँकता है । उससे स्फोट होते हैं । उनके फूटने पर तेज से भस्म होता है ।

६—श्रमण-माहण की अत्याशातना करने वाले पर श्रमण-माहण और देव कुपित हो तेज फँकते हैं । उससे स्फोट होते हैं । उसके फूटने पर तेज से भस्म होता है ।

७—कोई व्यक्ति तथा रूप तेजोलब्धि सम्पन्न श्रमण-माहण की अत्याशातना करता है । तब वह अत्याशातना से कुपित होकर, उस तेज को फँकता है, तब उसके शरीर में स्फोट उत्पन्न होते हैं । वे फूटते हैं । उनमें पूल (फुंसिया) निकलती है । वे फूलती है और फूटकर उसे तेज से भस्म कर देती है ।

८—श्रमण-माहण की अत्याशातना करने वाले पर देव कुपित हो तेज फँकता है । उससे स्फोट उत्पन्न हो फूटते हैं । फिर उसमें फुंसियां निकलती है । उसके फूटने पर वह तेज से भस्म होता है ।

९—श्रमण-माहण की अत्याशातना करने पर श्रमण व देव कुपित हो तेज फँकते हैं । उससे स्फोट उत्पन्न हो फूटते हैं फिर उसमें से फुंसियां निकलती है । उसके फूटने पर वह तेज से भस्म होता है ।

१०—श्रमण माहण की अत्याशातना करता हुआ उस पर तेज (तेजो लेश्या) फँकता है । तेज उसमें प्रविष्ट नहीं होता । प्रदक्षिणा कर पुनः फँकने वाले के पास चला जाता है । उस तेज से फँकने वाला ही भस्म होता है ।

बहुत से साधकों को यह शक्ति प्राप्त नहीं होती । और जिन्हें यह तेजो लेश्या प्राप्ति होती है उनमें भी परस्पर बहुत तरतमता रहती है । किसी साधु को भस्म करने की शक्ति प्राप्त है और किसको नहीं ।

आपने जिस साधु को सामान्य समझा, बहुत सम्भव है, वह सामान्य हो, विशिष्ट लब्धि सम्पन्न हो । इस स्थिति में यदि आपने उसकी अवज्ञा/आशातना

कर दी तो उत्तेजना की स्थिति में आपको उसकी तेजोलब्धि का शिकार होना पड़ता है ।

तेजो लेश्या का प्रयोग कर अनेक व्यक्ति को भस्मसात कर सकता है ।

मूल विभाग १० है, यथा—

०—जैन दार्शनिक पृष्ठभूमि	५—विज्ञान
१—जैन दर्शन	६—प्रयुक्त विज्ञान
२—धर्म	७—कला-मनोरंजनक्रीड़ा
३—समाज विज्ञान	८—साहित्य
४—भाषा विज्ञान	९—भूगोल-जीवनी इतिहास

प्रत्येक के नौ-नौ विभाग है । उनमें ० जैन दार्शनिक पृष्ठभूमि में ०० सामान्य विवेचन ०१ लोकालोक, ०२ द्रव्य, ०३ जीव, ०४ जीव परिणाम, आदि की रूप रेखा दी है तथा उनमें जीव परिणाम के विभाग भी दिये गये हैं (देखे पृष्ठ १०-११) '५८'१० में पृथ्वीकायिक जीवों में उत्पन्न होने योग्य जीवों में कितनी लेश्या होती है इसका विवेचन है । आगे विवेचन इस प्रकार है—

- '५८'११ अपृकायिक०
- '५८'१२ अभिकायिक०
- '५८'१३ वायुकायिक०
- '५८'१४ वनस्पतिकायिक०
- '५८'१५ द्वीन्द्रिय०
- '५८'१६ त्रीन्द्रिय०
- '५८'१७ चतुरिन्द्रिय०
- '५८'१८ पंचेन्द्रिय त्रियं च योनिः
- '५८'१९ मनुष्य योनिः
- '५८'२० वानद्वयंतर देव
- '५८'२१ ज्योतिषी देव
- '५८'२२ सौधर्म देव
- '५८'२३ ईशान देव आदि ।

लेश्या और क्रिया

औदारिक आदि शरीरों को बनाते हुए जीव (बांधते हुए) (एक वचन व बहुवचन की अपेक्षा) कदाचित् तीन क्रिया (कायिकी, आधिकारिकी और

प्राद्वैधिकी) कदाचित् चार क्रिया तथा कदाचित् पांच क्रिया वाले भी होते हैं ।

इसी प्रकार वैक्रिय शरीर को बनाते हुए (बांधते हुए) (एक वचन व बहु-वचन की अपेक्षा) कदाचित् तीन क्रिया, कदाचित् चार क्रिया तथा कदाचित् पांच क्रिया वाले भी होते हैं ।

इसी प्रकार आहारक शरीर, तैजस व कार्मण शरीर के विषय में जानना चाहिए ।

इसी प्रकार श्रोत्रेन्द्रिय यावत् स्पर्शेन्द्रिय तक कहना चाहिए ।

इसी प्रकार मनोयोग वचनयोग और काययोग के विषय में, जिसके जो हो, उस विषय में कहना चाहिए ।^१ कहा है—

कइविहे णं भंते ! जोए पण्णत्ते ? गोयमा ! तिविहे जोए पण्णत्ते,
सं जहा—मणजोए, वइजोए, कायजोए ।

जीवे णं भंते ! ओरालियसरीरं निव्वत्तेमाणे कतिकिरिए ।
गोयमा ! सिए तिकिरिए, सिय चउकिए, सिय पंचकिए, एवं
पुढविकाइए वि । एवं जाव मणुस्से ।

जीवाणं भंते ! ओरालियसरीरं निव्वत्तेमाणा कतिकिरिया ।
गोयमा ! तिकिरिया वि, चउकिरिया वि, पंचकिरियावि । एवं
पुढविकाइया, एवं जाव मणुस्सा । × × × एवं मणजोगं, वइजोगं,
कायजोगं, जस्स जं अरिथ तं भाणियव्वं । एवं एगत्तपहुत्तेणं छव्वीसं
दंडगा ।

—भग० श १७ । उ २ । सू १३ से १५

योग के तीन प्रकार हैं—यथा—मनोयोग, वचनयोग और काययोग ।

मन, वचन और काययोग (एक वचन-बहुवचन की अपेक्षा) को बनाते हुए जीव के कदाचित् तीन क्रिया (कायिकी, आधिकारिणिकी और प्राद्वैधिकी) लगती है । जब दूसरे-दूसरे जीवों को परित्यापादि उत्पन्न करता है तब पारि-तरापनिकी सहित चार क्रिया लगती है । और जब जीव की हिंसा करता है तब प्राणातिपातिकी सहित पांच क्रियाएं लगती है ।

अस्तु योग की तरह कृष्ण लेश्या, नील लेश्या व कपोत लेश्या में जीव वर्तता हुआ कदाचित् पांच क्रिया कदाचित् चार क्रिया व कदाचित् तीन क्रिया वाला होता है ।

नोट—तीन क्रिया कायिकी, आधिकारणिकी, और प्राद्वेषिकी । चार क्रिया पारितापनिकी सहित चार क्रिया लगती है । और जब अप्रशस्त लेश्या में जीव की हिंसा करता है तब प्राणातिपातिकी सहित पांच क्रियाएं लगती है ।

तेजो लेश्या पद्म लेश्या में जीव के मायाप्रत्ययिकी क्रिया अदृश्य लगती है । शुक्ल लेशी जीव के माया प्रत्ययिकी क्रिया की भजना है । दसवें गुणस्थान तक मायाप्रत्ययिकी क्रिया लगती है । जबकि शुक्ल लेश्या ग्यारहवें, बारहवें, तेरहवें गुणस्थान में भी होती है । अस्तु वीतरागी शुक्ल लेशी जीव के माया प्रत्ययिकी क्रिया नहीं लगती है । परन्तु ऐर्यापथिकी क्रिया लगती है । चौदहवें गुणस्थान में अलेशी होने से क्रिया नहीं लगती है । यद्यपि प्रथम सिद्ध के एजनादि क्रिया लगती है परन्तु अलेशी चौदहवें गुणस्थान में एजनादि क्रिया का भी अभाव है ।

पुद्गल की गति के नियम

११८—अलोक में पुद्गल और जीव की गति का निषेध—

देवे णं भंते ! महिङ्गिए जाव महेसक्खे लोगंते ठिच्चा पभू अलोगंसि हत्थं वा पायं वा बाहं वा ऊरुं वा आउं टावेत्तए वा पसारेत्तए वा ।

नो इणद्धे समद्धे ।

११९—से केणद्धे णं भंते ! एवं बुच्चइ—देवे णं महिङ्गिए जाव महेसक्खे लोगंते ठिच्चा नो पभू अलोगंसि हत्थं वा पायं वा बाहं वा ऊरुं वा आउं टावेत्तए वा पसारेत्तए वा ?

गोयमा ! जीवाणं आहारोवचिया पोग्गला, बोदिचिया पोग्गला, कलेवरचिया पोग्गला । पोग्गलामेव पप्प जीवाण य अजीवाण य गतिपरियाए आहिज्जइ । देवे महिङ्गिए जाव महेसक्खे लोगंते ठिच्चा नो पभू अलोगंसि हत्थं वा पायं वा बाहं वा ऊरुं वा आउं टावेत्तए वा पसारेत्तए वा ।

—भग० श १६ । उ ८ । सू ११८-११९

महद्विक यावत् महासुख वाला देव लोकान्त में रहकर अलोक में अपने हाथ यावत् उसको संकोचने और पसारने में समर्थ नहीं है। क्योंकि जीवों के अनुगत आहारोपचित, शरीरोपचित और कलेवरोपचित पुद्गल होते हैं। तथा पुद्गलों के आश्रित ही जीवों की और पुद्गलों की गति पर्याय कही गई है। अलोक में जीव व पुद्गल नहीं है अतः देव यावत् पसारने में समर्थ नहीं है।

दिवेचन—जीवों के साथ रहे हुए पुद्गल, आहार रूप में, शरीर रूप में, कलेवर रूप में तथा श्वासोच्छ्वास रूप में उपचित होते हैं। अर्थात् पुद्गल सदा जीवानुगामी स्वभाव वाले भी होते हैं।

जिस क्षेत्र में पुद्गल होते हैं वही पुद्गलों की गति होती है। इसी प्रकार पुद्गल के आश्रित जीवों और पुद्गलों का गति धर्म होता है। तात्पर्य यह है कि जिस क्षेत्र में पुद्गल होते हैं उसी क्षेत्र में जीवों की व पुद्गलों की गति होती है अलोक में धर्मास्तिकाय भी नहीं है अतः वहाँ जीव व पुद्गलों भी नहीं है और जीव और पुद्गलों की गति नहीं होती है।

कहा जाता है कि तेजोलेश्या (सूर्य का आतप-किरण) का विकास न होने के कारण आदमी में चंचलता बढ़ती है अतः वह अधिक नशा करता है, मानसिक बीमारियाँ बढ़ती हैं, तनाव बढ़ता है। सूर्य का आतप स्वस्थता का बहुत बड़ा हेतु है। जहाँ सूर्य का प्रकाश, सूर्य की रश्मियाँ, सूर्य का आतप न मिले, वहाँ रहना अच्छा नहीं होता। आतापना तैजस शक्ति के विकास का एक साधन है। तैजस शक्ति के विकास का बहुत बड़ा साधन है भवन का सेवन। जिससे तैजस शक्ति का विकास करना है वहाँ व्यक्ति को सूर्य स्वर का, सूर्य नाड़ी का प्रयोग विवेक पूर्वक करना चाहिए। सूर्य की तैजस शक्ति तेजोलेश्या के साथ बहुत गहरा सम्बन्ध है। तेजोलब्धि-तेजोलेश्या के विकास के साधनों में एक साधन आतापना, सूर्य का आतप लेना। प्रस्तुतः आतापना तेजोलेश्या के विकास का एक साधन है।

आचार्य हेमचन्द्र ने भगवान महावीर की स्तुति में कहा है—प्रभो ! आपका ज्ञान अनंत है, यह आपका ज्ञानातिशय है। आप अतीतदोष हैं, यह आपका अपायातिशय है। भगवान का सिद्धान्त अवाध्य था। यह उनका वचनातिशय था। आयातरो का प्रसिद्ध मुक्त है—खणं जाणहि पंडिए—जो क्षण को जानता है वह सदा मंगल का अनुभव करता है। प्रेक्षाध्यान का एक प्रमुख सूत्र है—संपक्खिए अप्पगमप्पणं अर्थात् आत्मा को आत्मा के द्वारा देखो। प्रेक्षाध्यान से अप्रशस्त लेश्या पर अंकुश लगाया जा सकता है। मन को दुर्बल बनाने के पाँच

कारण है—चिन्ता, शोक, भय, क्रोध व संवेदनशीलता । संस्कृत साहित्य में चिन्ता को चिन्ता के सदृश माना गया है । एक बार के क्रोध से नौ घंटों की जीवनी शक्ति समाप्त हो जाती है । ममकार आत्मा का स्वभाव नहीं, विभाव है । जीवन में सफलता का एक मंत्र है एकाग्रता । महावीर का एक वाक्य है— 'अप्पणा सच्चमेसेज्जा' स्वयं सत्य की खोज करो । सारी समस्याओं की जड़ है—भावात्मक असंतुलन भी है । प्रशस्त लेश्या व प्रेक्षाध्यान से भावात्मक असंतुलन मिटाया जा सकता है ।

तेजो लेश्या की उत्पत्ति व उसका प्रयोग

नख सहित वन्द की हुई मुट्टी में जितने उड़द के बाकुले आवें उतने मात्र से और एक विकटाशय (चुल्लू) भर पानी से निरन्तर छट्ट-छट्ट की तपस्या करने के साथ दोनों हाथ ऊंचे रखकर यावत् आतापना लेने वाले पुरुष को छः मास के अन्त में संक्षिप्त-विपुल-तेजोलेश्या प्राप्त होती है ।

नोट—तेजोलेश्या अप्रयोगकाल में संक्षिप्त होती है और प्रयोगकाल में विपुल होती है । इसलिए संक्षिप्त-विपुल-तेजोलेश्या—ऐसा कहा जाता है ।

एक बार छद्मस्थ अवस्था में भगवान महावीर गोशालक के साथ कूर्मग्राम नगर में आये । उस समय कूर्मग्राम के बाहर वैश्यायन नामक बालतपस्वी निरन्तर छट्ट-छट्ट तप करता था और दोनों हाथ ऊंचे रखकर सूर्य के सम्मुख खड़ा हो, आतापना ले रहा था । सूर्य की गर्मी से तपी हुई जुँए उसके सिर से नीचे गिर रही थी और वह तपस्वी सर्वप्राण, भूत, जीव और सत्त्व की दया के लिए, पड़ी हुई उन जुँओं को उठाकर पुनः शिर पर रख रहा था ।

उस समय गोशालक ने वैश्यायन बालतपस्वी को तीन बार कहा कि तुम तत्त्वज्ञ हो या जुओं के शय्यातर हो फलस्वरूप अन्त में वैश्यायन बालतपस्वी कुपित हुआ यावत् क्रोध से धमधमायमान होकर आतापना भूमि से नीचे उतरा, फिर तेजस समुद्घात करके सात-आठ चरण पीछे हटा और गोशालक के वध के लिए अपने शरीर में से तेजोलेश्या बाहर निकाली ।

इसे देखकर भगवान महावीर ने गोशालक पर अनुकम्पा करके वैश्यायन बालतपस्वी की तेजोलेश्या का प्रतिसंहरण करने के लिए, शीतल तेजोलेश्या बाहर निकाली । भगवान महावीर की उस शीतल तेजोलेश्या से अपनी उष्ण तेजोलेश्या का प्रतिघात हुआ और गोशालक के शरीर को किंचित् भी पीड़ा अथवा अवयव का छेद नहीं हुआ जानकर, वैश्यायन बाल-तपस्वी ने अपनी उष्ण-

तेजोलेश्या को पीछे खींचा और भगवान महावीर के प्रति इस प्रकार बोला—
हे भगवन् । मैंने जाना—हे भगवन् । मैंने जाना ।^१

भगवान महावीर से गोशालक पृथक् होकर, उसने संक्षिप्त-द्विपुल तेजोलेश्या
द्यः मास में प्राप्त की ।^२

गोशालक ने तेजोलेश्या के द्वारा भगवान महावीर के दो शिष्य—क्रमशः
सर्वानुभूति अनगार तथा सुनअत्र मुनि को जलाकर भस्म कर दिया ।

इसके बाद तैजस समुद्धात करके सात-आठ चरण पीछे हटा और श्रमण
भगवान महावीर का वध करने के लिए अपने शरीर में से तेजोलेश्या निकाली ।
श्रमण भगवान महावीर स्वामी का वध करने के लिए मंखलीपुत्र गोशालक द्वारा
अपने शरीर में से बाहर निकाली हुई तपोजन्य तेजोलेश्या, भगवान को क्षति
पहुँचाने में समर्थ नहीं हुई । परन्तु वह गमनागमन करने लगी, फिर उसने
प्रदक्षिणा की और आकाश से ऊँची उछली, फिर आकाश से नीचे गिरती हुई वह
तेजोलेश्या गोशालक के शरीर में प्रविष्ट हो गई और उससे जलाने लगी ।

फलस्वरूप वह अपनी ही तेजोलेश्या से पराभव को प्राप्त हुआ ।

मंखलीपुत्र गोशालक ने भगवान का वध करने के लिए अपने शरीर में से जो
तेजोलेश्या निकाली थी वह अंग, बंग आदि सोलह देशों को भस्म करने में समर्थ
थी । परन्तु भगवान अनंत शक्ति सम्पन्न होने से भस्म करने में वह असमर्थ थी ।^३

फलस्वरूप गोशालक स्वयं अपनी ही तेजोलेश्या से पराभव को प्राप्त होकर
सात रात्रि के अन्त में पित्तज्वर से पीड़ित होकर मरण को प्राप्त हो गया ।

अस्तु विशिष्ट तपस्या करने से बालतपस्वी, अनगार तपस्वी आदि को तेजो-
लेश्या रूप तेजोलब्धि प्राप्त होती है । देवों में भी तेजोलेश्या लब्धि होती है ।
यह तेजोलेश्या प्रायोगिक द्रव्य लेश्या के तेजोलेश्या के भेद से भिन्न प्रतीत होती
है । यह तेजोलेश्या दो प्रकार की होती है—(१) शीतोष्ण तेजोलेश्या तथा
(२) शीतल तेजोलेश्या । शीतोष्ण तेजोलेश्या ज्वाला—दाह पैदा करती है, भस्म
करती है । आजकल के अणुबम की तरह इसमें अंग, बंग आदि १६ जनपदों को
घात, वध तथा भस्म करने की शक्ति होती है । शीतल तेजोलेश्या में शीतोष्ण

१. भग० श १५ । सू ७०, ६४, ६५

२. भग० श १५ । सू ७६

३. भग० श १५ । सू १०५, १०७, ११२

तेजोलेश्या में उत्पन्न ज्वाला—दाह को प्रशान्त करने की शक्ति होती है । निक्षेप की हुई तेजोलेश्या का प्रत्याहार भी किया जा सकता है ।

तेजोलेश्या जब अपने से लब्धि में अधिक बलशाली पुरुष रूप निक्षेप की जाती है तब वह वापस आकर निक्षेप करने वाले के भी ज्वाला-दाह उत्पन्न कर सकती है ।

यह तेजोलेश्या जब निक्षेप की जाती है तब तैजस शरीर का समुद्घात करना होता है तथा इस तेजोलेश्या के निर्गमनकाल में तैजस शरीर नामकर्म का परिशात (क्षय) होता है । निक्षिप्त की हुई तेजोलेश्या के पुद्गल अचित्त होते हैं (देखें '२५, '६६'५, '६६'२८, '६६'२९) ।

कल्पातीत देव (नौ भ्रूवेयक व ५ अनुत्तरौपातिक देव) के तैजस समुद्घात नहीं होता है अतः वे तेजोलेश्या-तेजोलब्धि होते हुए भी उसका प्रयोग नहीं करते हैं ।

और एक प्रकार की तेजो लेश्या का वर्णन मिलता है । उसे टीकाकार सुखासीकाम अर्थात् आत्मिक सुख कहते हैं । देव पुण्य शाली होते हैं तथा अनुपम सुख का अनुभव करते हैं फिर भी पाप से निवृत्त आर्य अनगार को प्रव्रज्या ग्रहण करने में जो आत्मिक सुख का अनुभव होता है—वह देवों के सुख का अतिक्रमण करता है अर्थात् उनके सुख से श्रेष्ठ होता है तथा—पाप से निवृत्त पांच मास की दीक्षा की पर्यायवाला आर्य श्रमण निर्ग्रन्थ चन्द्र और सूर्य देवों के सुख से भी उत्तम सुख का अनुभव करता है । (देखे '२५'५)

विषयांकन '६६'१२ तथा '६६'१३ में क्रमशः वैमानिक देवों तथा नारकियों के शरीर का वर्ण तथा उनकी लेश्याओं का वर्णन है जिसका चार्ट भी दिया गया है । इसको देखने से पता चलता है कि रत्न प्रभापृथ्वी के नारकी के शरीर का वर्ण काला अथवा कालावभास तथा परम कृष्ण होता है लेकिन लेश्या कापोत वर्ण वाली ही होती है । इस विषय में और भी अनुसंधान करने की आवश्यकता है ।

लेश्या और लब्धि

सामर्थ्य विशेष को लब्धि कहते हैं । प्रवचन सारोद्धार में आचार्य नेमिचन्द्र ने अट्ठावीस लब्धियों का उल्लेख किया है । हमने यहाँ तेजोलेश्या लब्धि और शीतलेश्या लब्धि को ग्रहण किया है ।

आमोसहि विष्पोसहि खेलोसहि जहलओसही चेव ।
सव्वोसहि संभिन्ने ओही रिउ विउलमइलद्धी ॥१॥

चारण आसीवीस केवलिय गणहारिणो य पुव्वधरा ।
अरहंत चक्कवट्टी बलदेवा य ॥२॥

खीर बहुसप्पिआसव कोट्टयवुद्धी पयाणुसारी य ।
तह बीयवुद्धि तेयग आहारग सीयलेम्सा य ॥३॥

वेउवियदेहलद्धी अक्खीणमहाणसी पुलाया य ।
परिणामतववसेण एमाइ हुंति लद्धीओ ॥४॥

—प्रवसा० द्वार ७२

अर्थात् (१) आमर्षोषधिलब्धि, (२) विप्रौषधिलब्धि, (३) खेलौषधि, (४) जललोषधिलब्धि, (५) सर्वोषधिलब्धि, (६) संभिन्न श्रोतोलब्धि, (७) चारणलब्धि, (८) ऋजुमतिलब्धि, (९) विपुलमतिलब्धि, (१०) आशीविषलब्धि, (११) केवलीलब्धि, (१२) अवधिलब्धि, (१३) गणधरलब्धि, (१४) पूर्वधरलब्धि, (१५) अर्हत्लब्धि, (१६) चक्रवर्तिलब्धि, (१७) बलदेवलब्धि, (१८) वासुदेवलब्धि, (१९) क्षीरमधु सर्पिराश्रवलब्धि, (२०) कोष्टकलब्धि, (२१) पदानुसारीलब्धि, (२२) बीजलब्धि, (२३) तेजोलेख्यालब्धि, (२४) शीतल तेजोलेख्यालब्धि, (२५) आहारकलब्धि, (२६) बंकुदिकलब्धि, (२७) अक्षीण महानसलब्धि और (२८) पुलाकलब्धि ।

ये सभी लब्धियां भावशुद्धि व तपः साधना से ही प्राप्त होती है ।

तत्र तेजो लेख्यालब्धिः क्रोधाधिक्यात् प्रतिपन्थिनं प्रति मुखेनानैकयोजनप्रमाणक्षेत्राधिश्चित्त वस्तुदहन दक्षतीव्रतरतेजो निसर्जनशक्तिः ।

—प्रवसा० पन्ना ४३२

अर्थात् तेजोलेख्या लब्धि का धारक व्यक्ति अपने प्रतिद्वन्दी के प्रति क्रोध के वशीभूत होकर अपने मुख से इतना अग्नि सदृश तेज का निस्सारण करता है जिससे अनेक योजन दूरस्थ वस्तु को जलाया जा सकता है ।

भगवती सूत्र में तेजोलेख्या लब्धि की प्राप्ति का उपाय भी बतलाया गया है । गोशालक ने श्रमण भगवान महावीर से पूछा—तेजोलेख्या लब्धि की प्राप्ति कैसे

होती है। भगवान ने प्रत्युत्तर देते हुए कहा—जो व्यक्ति छः मास तक निरन्तर बेल-बेल (दो दिन का तप) की तपस्या करता है। पारणे में मुट्टी भर कुल्पाष तक चुलू भर गर्म जल के साथ खाता है और आतापन भूमि में सूर्याभिमुख होकर ऊर्ध्वबाहु बनकर आतापन लेता है उसे छः मास के भीतर यह लब्धि प्राप्त हो सकती है।

‘कहणं भंते ! संखित्तविउलतेयलेस्से भवति ? तएणं अहं गोयमा ! गोसालं संखलिपुत्तं एवं वयासी—जेणं गोसाला एगाए सणहाए कुम्मासपिंडियाए एणेण य वियडासएणं छट्ठं-छट्ठेणं अणिक्वित्तेणं तवोकम्मेणं उट्ठं बाहाओ पगिज्झिय-पगिज्झिय सूराभिमुहे आया-वणभूमीए आयावेमाणे विहरइ। से णं अंतो छण्हं मासाणं संखित्तविउलतेयलेस्से भवइ ।

—भग० श १५ । सू ६६, ७०

शीत तेजोलेश्या-लब्धि—यह तेजोलेश्या की प्रतिपक्षी लब्धि है। इसमें तेजोलेश्या को प्रतिहत करने की शक्ति निहित है। इसका प्रयोग करणा से ओतप्रोत होकर व्यक्ति तेजोलेश्या से उपहृत मनुष्य के प्रति करता है। भगवान महावीर ने वैश्याघन बाल-तपस्वी द्वारा छोड़ी हुई तेजोलेश्या लब्धि को शीत तेजोलेश्या लब्धि से ही निरस्त किया था।

शीत लेश्यालब्धिस्त्वगण्यकारूप्यवशादनुमाह्य प्रतितेजोलेश्या प्रशमनप्रत्यलशीतलतेजोविशेषविमोचन सामर्थ्यम् ।

—प्रदसा० पत्र ४३२

तेजुलेश्या के छोड़ने से जघन्य तीन, मध्यम चार व उत्कृष्ट पांच क्रियाएं लगती हैं। परितापना के प्रकार बतलाते हुए भगवान ने कहा—‘लेसेइ-वाण मार्गवर्ती’ जीवों को संश्रस्त करता है, अर्थात् वाण के प्रकार से वे जीव अत्यन्त सिक्नुड़ जाते हैं। टीकाकार^१ ने कहा है—‘‘श्लेषयति आत्मनि श्लिष्टान्करोति’’ जीव के प्रदेश शरीर में संकोच पाकर घन (पिंड) बन जाते हैं। इस सन्ताप-कारक स्थिति में वाण के जीवों को मार्ग में जाते समय चार क्रियाएं लगती हैं। यदि प्राणातिपात हो जाय तो पांच क्रिया । कहा है—

१. भग० टीका

ततेणं से उसूं उग्हं वेहासं उच्चिहिए समाणे जाइं तत्थ पाणाइं
अभिहणइ वत्तेति लेस्सेत्ति ।

—भग० श २ । ५ । उ ६

अस्तु यही क्रम तेजुलेश्या का है । उसमें भी तीन, चार और पांच क्रियाओं का विधान है । उसके अष्टस्पर्शी पुद्गल द्रव्य मार्गवर्ती जीवों को उद्वेग न करें, सहज है, अतः तेजु के साथ प्रयुक्त लेश्या का अर्थ लेसेइ, करना भी न्याय संगत लगता है । स्कन्धक भुनि के लिए अवहिलेश्या, एक विशेषण आया है । जिसकी लेश्या मनोवृत्ति संयम से बाहर नहीं है ।^१ यह भावलेश्या के अर्थ में है । प्रथम आचारांग में श्रद्धा का प्रकर्ष भाव बतलाते हुए मनोयोग के लिए लेश्या का प्रयोग किया गया है । शिष्य गुरु की दृष्टि का अनुगमन करे, उनकी लेश्या में विचरे अर्थात् उनके भावों (विचारों) का अनुगमन करे ।^२ प्रज्ञापना, जीवाभिगम, उत्तराध्ययन, जम्बूद्वीप प्रकृति आदि आगम ग्रन्थों में लेश्या शब्द वर्ण, प्रभा और रंग के अर्थ में भी प्रयुक्त हुआ है । जिस स्थान में शुभ रंगों की प्रधानता है वहाँ के निवासियों में भी स्थित प्रशस्त द्रव्य लेश्यायें ग्रहण की है । जीवाभिगम में देवों के विमानों के वर्णों का वर्णन है । वहाँ बतलाया गया है—अनुत्तर विमान परम शुक्ल वर्ण के हैं और अनुत्तर विमानवासी देवों में एक शुक्ल (परम-शुक्ल) लेश्या होती है । इस शास्त्र वाक्य में ऐसा लगता है कि उनकी स्थित द्रव्यलेश्या का हेतु पारिपाश्चिक शुक्ल पर्यावरण है ।

आभामंडल का सम्बन्ध तेजस लेश्या के साथ भी है । इसको लब्धि के रूप में भी प्राप्त किया जाता है । तेजसलब्धि से सम्पन्न व्यक्ति अपनी शक्ति का प्रयोग करता है उसे सहन करना हो जाता है । वैश्यायन बाल तपस्वी ने क्रुद्ध गोशालक पर उष्ण तेजो लेश्या को छोड़ा उससे पहले ही भगवान् महावीर ने शीतल तेजो लेश्या के प्रयोग से गोशालक को बचा लिया ।

अस्तु भगवान ने वैश्यायन द्वारा तेजो लेश्या के प्रयोग का प्रसंग उसे सुना दिया । सहज भाव से भगवान ने कहा—छः मास तक बेले-बेले की तपस्या करना, पारण में एक मुट्ठी उड़द खाना और दो चुलू भर पानी पीना तथा दोनों बाहों को ऊपर उठाकर सूरज का ताप सहन करना । इस प्रक्रिया से संक्षिप्त-विपुल तेजो लेश्या प्राप्त होती है ।

१. अवहिल्लेसे-भग० श २ । उ १ । सू ५५

२. आचारांग अ० ५

संक्षिप्त-विपुल तेजो लेश्या के अधिकारी

तिहिं ठाणेहिं समणे णिग्गंथे संखित्तविउलतेउल्लेस्से भवति,
तं जहा—आयावणताए, खंतिखमाए, अपाणगेणं तवोकम्मणेणं ।

—ठाण० स्था ३ । सू ३८६

तीन स्थानों से श्रमण निर्गन्थ संक्षिप्त की हुई विपुल तेजो लेश्या वाले होते हैं ।

१—आतापना लेने से, २—क्रोधविजयी होने के कारण समर्थ होते हुए भी क्षमा करने से ३—जल रहित तपस्या करने से ।

जैन दर्शन के अनुसार लेश्याओं के परमाणु हमें प्रभावित करते हैं । भरत के बाद उनके आठ उत्तराधिकारियों ने आदर्श महल में प्रशस्त लेश्या आदि से केवल्य ज्ञान प्राप्त किया । इसके बाद स्थिति बदल गयी । भावों की पवित्रता अथवा आभामंडल की पवित्रता भी व्यक्ति को बहुत प्रभावित करती है । परोक्ष ज्ञान में संशय, विपर्ययव अनव्यवसाय—ये तीनों होते हैं । प्रत्यक्ष ज्ञान में ये तीनों नहीं होते । धर्म सबसे बड़ा मंगल है ।

जंबूद्वीप में सूर्य की क्रिया संभवतः अवभास-उद्योत, ताप-प्रकाश रूप होती है और यह क्रिया सूर्य की लेश्या के द्वारा ही जंबूद्वीप में होती है अलेशी जीव सिद्ध भी होते हैं व चतुर्दशधे गुणस्थान वाले भी ।

जैन शासन के लिए श्रमण संघ शब्द का प्रयोग होता है । इसे तीर्थ भी कहा जाता है । जीव अजीव आदि पदार्थों का यथार्थ प्ररूपण करने वाला प्रवचन तीर्थ है । प्रवचन तीर्थकर द्वारा प्रतीत होता है भगवान महावीर जाति और सम्प्रदाय से अतीत थे ।

लोक की व्याधि व दुर्भिक्ष आदि से पीड़ित देखकर उत्तम संयम के धारक जिस महर्षि के दया का भाव उत्पन्न हुआ है, उसके मूल शरीर को न छोड़कर जो धवल वर्णवाला बारह योजन आयत तथा सूक्ष्मगुल के संख्यातर्धे भाग मात्र मूल विस्तार से व नौ योजन प्रमाण अग्रविस्तार से सहित पुरुष दाहिने कन्धे से निकलकर दक्षिण की ओर प्रदक्षिणा पूर्वक उस व्याधि व दुर्भिक्ष को नष्ट कर देता है और वापस अपने स्थान में प्रविष्ट हो जाता है उसे शुभ तेज समुद्घात (शीतल तेजो लेश्या) कहते हैं ।^१

१. बृहद्० टीका गा १८ । २३

यदि व्यक्ति अपने मन को स्वस्थ, शान्त एवं संतुलन रखना चाहता है, अपनी भावनाओं को अनुशासित रखना चाहता है तो उसके लिए लेश्या या रंग का ध्यान का प्रयोग बहुत महत्वपूर्ण है ।

यह लेश्या का विज्ञान, रंग का विज्ञान भीतरी वातावरण को वातानुकूलित बनाने का महत्वपूर्ण विज्ञान है । हम इसका मूल्यांकन और प्रयोग करे, इससे रंगों का संतुलन होगा और जीवन के लिए बरदान सिद्ध होगा ।

प्रज्ञापना, जीवाभिगम, उत्तराध्ययन, जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति आदि आगम ग्रन्थों में लेश्या शब्द वर्ण, प्रभा और रंग के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है । जिस स्थान में शुभ रंगों के पुद्गलों की प्रधानता है वहाँ के निवासियों में भी स्थित प्रशस्त द्रव्य लेश्यार्थे, ग्रहण की है । जीवाभिगम में देवों के विमानों का वर्णन है । वहाँ बतलाया गया है—अनुत्तर विमान परम शुक्ल वर्ण के हैं और अनुत्तर विमानवासी देवों में एक शुक्ल (परम शुक्ल लेश्या) होती है । इस आगम वाक्य से ऐसा लगता है कि उनकी स्थित द्रव्य लेश्या का हेतु पारिपाश्विक शुद्ध पर्यायावरण है ।

सीता ने एक बार इस सत्य को प्रकट करते हुए श्रीराम से कहा था—“सोत कोऊ की तरह जलती रहती है । यह भीतर ही भीतर जलने की वृत्ति उपाधि है । इसे भाव-धारा या लेश्या भी कहा जा सकता है ।”

गोशालक ने क्रूर कर्म किये परन्तु गोशालक की भाव-धारा (लेश्या) बदली । अंतिम समय में अपने आपको धिकारा । भाव विशुद्धि ने (शुक्ल लेश्या) उसको बारहवें स्वर्ग में पहुँचा दिया ।

अस्तु—प्राचीन आचार्यों ने 'लेश्या' क्या है, इस पर बहुत ऊहापोह किया है, लेकिन वे कोई निश्चित परिभाषा नहीं बना सके । सबसे सरल परिभाषा है—लिप्यते-शिलप्यते आत्मा कर्मणा सहानयेति लेश्या, आत्मा जिसके सहयोग से कर्मों से लिप्त होती है वह लेश्या है । (देखें '०६' ख)

एक दूसरी परिभाषा जो प्राचीन आचार्यों में बहुलता से प्रचलित थी—
वह है—

कृष्णादिद्रव्यसाचिव्यात्, परिणामो य आत्मनः ।
स्फटिकस्येव तत्रायं लेश्या शब्दः प्रयुज्यते ॥

अर्थात् कृष्णादि छः प्रकार के पुद्गल द्रव्यों के सहयोग से स्फटिक के परिणमन की तरह होने वाला आत्म-परिणाम लक्ष्या है ।

जीवन में बदलाव का पहला चरण है—श्रवण । उसकी अगला चरण है मनन । जो कुछ सुना उस पर मनन बहुत जरूरी है । मनुष्य के पास विकसित भाव तन्त्र है अतः वह श्रेष्ठ प्राणी बन गया ।

वर्धमान अवधि ज्ञान के समय प्रशस्त लक्ष्या के साथ शुभ अध्यवसाय व शुभ परिणाम होते हैं ।

उदायी और भूतानंद—ये दोनों श्रेणिक राजा के पुत्र कोणिक राजा के प्रधान हस्ति थे । ये दोनों हस्ति कापोत लक्ष्या में काल को प्राप्त कर रतनप्रभा नारकी में एक सागरोपम की उत्कृष्ट स्थितिवाले नरकावास में नारकी रूप में उत्पन्न हुए । फिर वहाँ से कापोत लक्ष्या में मरण को प्राप्त कर महाविदेह क्षेत्र में मनुष्य रूप में उत्पन्न होंगे । वहाँ सर्व दुःखों का अंत करेंगे ।^१

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, जीव, काल, क्षायिक भाव और औपशमिक भाव आदि अपौद्गलिक हैं । औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तेजस, ध्वनि, (भाषा), मन, उच्छ्वास, निःश्वास, कार्मण शरीर, कर्म, छाया, अधकार, अनन्तीवर्गणा, आतप, मिश्रस्कंध, अचित्तमहास्कन्ध, वेदक समकित, क्षायोपशम समकित और उद्योत—ये पौद्गलिक है ।^२

अवगाढ—कृष्ण लक्ष्या आदि छः लक्ष्याओं में से प्रत्येक लक्ष्या असंख्यात-असंख्यात आकाश प्रदेशों में रही हुई है ।

वर्गणा—कृष्ण लक्ष्या योग्य द्रव्य परमाणुओं की अनंत वर्गणाएँ हैं । इसी तरह शेष लक्ष्याओं के योग्य द्रव्य परमाणुओं की भी अनंत-अनंत वर्गणाएँ हैं ।

शरीर, मन और भाव तीनों को रंग प्रभावित करते हैं । मनुष्यों पर बाहरी पदार्थों का जो प्रभाव होता है, उसमें सबसे ज्यादा प्रभावित करने वाला रंग है । रंगों के आधार पर लक्ष्या में परिवर्तन किया जा सकता है । भगवान् महावीर ने कहा—कृष्ण लक्ष्या केवल नील लक्ष्या में ही परिणत नहीं होती किन्तु वह कापोत लक्ष्या, तेजो लक्ष्या, पद्म लक्ष्या, और शुक्ल लक्ष्या के रूप में भी परिणत हो जाती है । थोड़े अच्छे पुद्गलों का योग मिला कृष्ण लक्ष्या के

१. भग० श १७ । उ २ । सू १ से ४

२. प्रकरण रत्नावली, विचार पंचाशिका पृ० ६६, ६७

पुद्गल नील लेश्या में बदल गये । पीत लेश्या के पुद्गलों का योग मिला, कृष्ण लेश्या के पुद्गल पद्म लेश्या में बदल गये । तेजो लेश्या के पुद्गलों का योग मिला, कृष्ण लेश्या तेजो लेश्या के रूप में परिणत हो गयी । शुक्ल लेश्या का योग मिला, कृष्ण लेश्या शुक्ल लेश्या में बदल गयी ।

यह लेश्या परिवर्तन का सिद्धान्त महत्वपूर्ण है । वैदिक मान्यतानुसार जो लाल, नीला और सफेद—इन तीन वर्णों का संध्या के समय जो ध्यान करता है, वह शरीर और मन-दोनों दृष्टियों से शुद्ध रहता है ।

नमस्कार महामन्त्र का ध्यान पाँच वर्णों के साथ किया जाता है । नमस्कार महामन्त्र के जप के साथ रंगों का प्रयोग करे । इससे रंग और लेश्या का संतुलन सचेता, शारीरिक, मानसिक और भावात्मक संतुलन सचेता ।

शुभ और अशुभ के भेद से लेश्या के दो भेद होते हैं । प्रशस्त और अप्रशस्त के भेद से लेश्या के दो भेद, धर्म और अधर्म के भेद से लेश्या के दो भेद तथा भाव और द्रव्य के भेद से लेश्या के दो भेद होते हैं । लेश्या की अनंत पर्यायें हैं । भीष्मी चरचा में श्रीमज्जयाचार्य ने कहा है—

द्रव्य लेश्या छऊँ अठ फरशी है, भाव लेश्या है जीव ॥२॥

द्रव्य लेश्या छऊँ षट् द्रव्य मांहि, पुद्गल कहिये ताहि ॥३॥

नव तत्त्व मांहि अजीव पदारथ, पुण्य पाप बंध नांहि ॥४॥

—ढाल १ । गा २, ३, ४

कृष्णादि छऊँ द्रव्य लेश्या अष्टस्पर्शी है तथा भाव लेश्या जीव है । कृष्णादि छऊँ लेश्या—षट् द्रव्यों की अपेक्षा पुद्गल है तथा नव तत्त्व में अजीव पदार्थ है परन्तु पुण्य, पाप, बंध नहीं है । लोक प्रकाश में कहा है—

‘कषायोद्दीपकत्वेऽपि लेश्यानां न तदात्मता’ ।

—लोक प्रकाश । श्लो २६१

अर्थात् लेश्या के द्रव्य कषाय को यद्यपि उद्दीप्त करते हैं तथा कषाय के साथ लेश्या एकात्मक नहीं है । अर्थात् लेश्या कषाय का गुण या लक्षण नहीं है । कषाय से भिन्न पदार्थ है । लेश्या कर्मों का निष्यंद नहीं है । क्योंकि ऐसा होने से अयोगी केवली भी सलेशी कहे जायेंगे ।^१ लेश्या कर्म की स्थिति की

१. लोक प्रकाश । श्लो २६२ से २०४

हेतु है, ऐसा कोई नहीं मानता है । कर्म की स्थिति का हेतु तो कषाय को ही बताया गया है । लेश्या कषाय की उत्तेजक या सहायक है अतः अनुभाग बंध की उपचार से हेतु कही गयी है ।^२ सब लेश्याओं में प्रत्येक की अनंत वर्णना कही गयी है तथा सबके अनंत प्रदेश कहे गये हैं । सब लेश्या असंख्यात क्षेत्र प्रदेश में अवगाहन करती है तथा लेश्या के अध्यक्षाय के असंख्यात कहे गये हैं । यह स्थान क्षेप्र उपमा से लोकाकाश के असंख्यात प्रदेश जितने हैं^३ तथा काल तुलना से असंख्यात काल चक्र में जितने समय होते हैं उतने कहे गये हैं । कृष्ण, नील और कापोत—ये तीनों अधर्म लेश्यायें हैं, इन से जीव दुर्गति में जाता है । तेजो, पद्म और शुक्ल—ये तीन धर्म लेश्यायें हैं—इन से जीव सुगति में उत्पन्न होते हैं ।^४ सभी लेश्याओं की प्रथम समय की परिणति में तथा सभी लेश्याओं की अंतिम समय की परिणति में किसी भी जीव की परभव में उत्पत्ति नहीं होती है ।^५ लेश्या की परिणति के बाद अन्तर्मुहूर्त बीतने पर अंतर्मुहूर्त शेष रहने पर जीव परलोक में जाता है ।^६ प्रज्ञापना में श्यामाचार्य ने कहा है—

“जल्लेस्साइं द्वावाइं आदि अंति तल्लेसे परिणामे भवति” ।

अर्थात् जिस लेश्या के योग्य कर्म द्रव्य जीव ग्रहण करता है उसके निमित्त से उसी लेश्या रूप उसके परिणाम हो जाते हैं । जब योग होता है तब लेश्या होती है, योग के अभाव में लेश्या नहीं होती है । अतः लेश्या के साथ योग का अन्वय और व्यतिरेक सम्बन्ध होने के कारण लेश्या का कारण योग है—यह निश्चित हो जाता है ।^७ लेश्या योग का निमित्त भूत कर्म द्रव्य रूप नहीं है, क्योंकि यदि है तो या घाती कर्म द्रव्य है या अघाती कर्म द्रव्य रूप है । लेकिन घाती कर्म रूप तो नहीं है क्योंकि सयोगी केवली के घाती कर्म के अभाव में भी लेश्या होती है । और अघाती कर्म द्रव्य रूप भी नहीं है क्योंकि अघाती कर्म के होते हुए भी अयोगी केवली के लेश्या नहीं होती है ।^८

२. लोक प्रकाश । श्लो २६६ से २६७
३. लोक प्रकाश । श्लो ३६०, ३६१, ३६२
उत्तराध्ययन अ ३४ । ३३ पर नेमीचंद्राचार्य टीका
४. उत्तराध्ययन अ ३४ । गा ५६, ५७
५. उत्तराध्ययन अ ३४ । गा ५८, ५९
६. उत्तराध्ययन अ ३४ । गा ६०
७. प्रज्ञापना लेश्या पद १७ । १ की टीका
८. प्रज्ञापना लेश्या पद १७ । १ की टीका

योग के अन्तर्गत द्रव्य जहाँ तक कषाय है वहाँ तक कषाय के उदय को बढ़ाते हैं। योग्यन्तर्गत द्रव्यों में कषाय के उदय को बढ़ाने का सामर्थ्य है। जैसे पित्त के प्रकोप से क्रोध की वृद्धि होती है।^९

(योग के अन्तर्गत द्रव्य रूप) लेश्या से स्थिति पाक विशेष होता है—ऐसा शास्त्र में कहा गया है सो वह पूरा उतरता है। क्योंकि स्थिति पाक विशेष अर्थात् अनुभाग, उसका निमित्त कषायोदय के अन्तर्गत कृष्णादि लेश्या के परिणाम है। और वास्तव में उसके अन्तर्गत होने से कषायोदय रूप ही हैं। केवल योगान्तर्गत द्रव्यों की सहकारिता के कारण तथा उन द्रव्यों की विचित्रता के कारण, कृष्णादि भेदों से भिन्नता आती है तथा प्रत्येक लेश्या के तारतम्य भेद से विचित्र परिणाम होते हैं।

कषायोदय के अन्तर्गत कृष्णादि लेश्या के परिणाम भी कषाय रूप है। लेकिन लेश्या स्थिति बंध का कारण नहीं है, पर कषाय रूप है। लेश्या तो कषायोदय के अंतर्गत अनुभाग का कारण होता है। स्थिति पाक विशेष—लेश्या विशेष से होता है। प्रज्ञापना में कहा है—

“एवं जहेव वन्नेण भणिया तहेव लेसासु विसुद्धलेसतरागा अधि-
सुद्धलेसतरागा य भाणियव्वा।” यह पद इस प्रकार घटेगा।

हे भगवन् ! क्या सब नारकी समान लेश्या वाले होते हैं ?

हे गौतम ! ऐसा सम्भव नहीं है। क्योंकि सब नारकी समान लेश्या वाले नहीं हैं। नारकी दो तरह के होते हैं—(१) पूर्वोत्पन्नक और (२) पश्चादुत्पन्नक।

१—पूर्व उत्पन्न नारकी विशुद्ध लेश्या वाले हैं क्योंकि पूर्वोत्पन्नक नारकी ने बहुत से अप्रशस्त द्रव्य लेश्या को अनुभव कर-कर के क्षीण कर दिया है इसलिये वह विशुद्ध लेश्या वाला है। यह तुलना समान स्थिति वाले नारकियों की समझना चाहिए। प्रज्ञापना के टीकाकार आचार्य मलयगिरि ने कहा है—

“कर्मनिःश्यन्दो लेश्या”।

—प्रज्ञापना १७। १ टीका

६. प्रज्ञापना लेश्या पद १७। १ की टीका

अर्थात् कोई कहते हैं कि लेश्या कर्म निष्पन्द रूप है । लेकिन जहाँ तक कषाय का उदय होता है वहाँ तक कर्म का निष्पन्द होता है अतः लेश्या कर्म के निष्पन्द रूप है तो कर्म की स्थिति का कारण भी है । यह संगत नहीं है क्योंकि लेश्या अनुभाग बंध का कारण है, स्थिति बंध का कारण नहीं है ।

प्रज्ञापना लेश्या पद टीका १७ । १ में कहा है—

“पूर्व में उत्पन्न (देव) अविशुद्ध लेश्या वाले होते हैं तथा पीछे उत्पन्न देव विशुद्ध लेश्या वाले होते हैं ।” इस वाक्य का तात्पर्य यह है कि यहाँ देवता तथा नारकी के उस प्रकार के भव स्वभाव के कारण लेश्या के परिणाम उत्पत्ति के समय से लेकर भव के क्षयपर्यंत निरन्तर होते हैं । प्रज्ञापना लेश्या पद १७ । १ टीका में उद्धरण—वृहत्संग्रहणी टीका में कहा है—

अंत मुहुत्तमि गए अंतमुहुत्तमि सेसए चेव ।
लेस्साहिं परिणयाहिं जीवा वरुचंति परलोयं ॥

अर्थात् परिणत हुई सर्व लेश्याओं के प्रथम समय में परभव में किसी जीव की उत्पत्ति नहीं होती है—उसी प्रकार अन्तिम समय में भी नहीं होती है । आगामी भाव की लेश्या का अंतमूर्हूर्त बीतने के बाद तथा चालू भव की लेश्या का अंतमूर्हूर्त बाकी रहने पर जीव परलोक जाता है । केवल तिर्यंच और मनुष्य आगामी भाव की लेश्या के अंतमूर्हूर्त बीतने के बाद तथा देव और नारकी स्वभाव की लेश्या के अंतमूर्हूर्त बाकी रहने पर परलोक जाता है । प्रज्ञापना के लेश्या पद १७ । १ की टीका में उद्धरण है—

अंतोमुहुत्तमद्धा लेसाण ठिई जहिं जहिं जा उ ।
तिरियं नराणं वा वज्जिजा केवलं लेसं ॥

अर्थात् तिर्यंच और मनुष्यों में जिसके जो-जो लेश्या होती है उसकी शुक्ल-लेश्या को बाद देकर जघन्य तथा उत्कृष्ट रूप से अंतमूर्हूर्त की स्थिति होती है । तिर्यञ्च की अपेक्षा शुक्ल लेश्या की स्थिति भी अंतमूर्हूर्त की होती है । परन्तु मनुष्यों की अपेक्षा शुक्ल लेश्या की स्थिति जघन्य अन्तमूर्हूर्त, उत्कृष्ट नव वर्ष न्यून एक पूर्व कोटि की होती है । देव और नारकी के उस प्रकार के भव के कारण लेश्या के परिणाम उत्पत्ति के समय से लेकर भव के क्षयपर्यंत निरन्तर होते हैं ।

पद्म लेश्या तथा शुक्ल लेश्या केवल गर्भज तिर्यञ्च पञ्चेन्द्रिय, गर्भज मनुष्य (अकर्म भूमिज नहीं, कर्म भूमिज) तथा वैमानिक देव के ही होती है । तेजो लेश्या—नारकी, अग्नि, वायु तथा विकलेन्द्रियों के संभव नहीं है । वृहद् संग्रहणी में कहा है—

भवनपति और व्यन्तर देवताओं में प्रथम चार लेश्यायें होती हैं, ज्योतिष्क, सौधर्म तथा ईशान में केवल तेजो लेश्या होती है । सानत्कुमार, माहेन्द्र तथा ब्रह्मलोक इन कल्पों में पद्म लेश्या होती है, इसके ऊपर के देवों में शुक्ल लेश्या होती है, बादर पृथ्वीकाय, अप्काय और प्रत्येक वनस्पति काय में प्रथम चार लेश्या होती है । गर्भज तिर्यञ्च तथा गर्भज मनुष्य में छुओं लेश्या होती है । अवशेष जीवों में प्रथम तीन लेश्या होती है ।

अस्तु सैद्धान्तिक बोलों के प्रामाण्य का बोध और आगमों के संदर्भ स्थलों की खोज—ये दोनों ही काम श्रम के साथ एकाग्रता सापेक्ष है ।

लेश्या शाश्वत भाव भी है । जैसे लोक-अलोक लोकान्त-अलोकान्त-दृष्टि, कर्म ज्ञान आदि शाश्वत भाव है वैसे लेश्या भी शाश्वत भाव है । लोक आगे भी है । पीछे भी है । दोनों अनानुपूर्वी है । इनमें आगे-पीछे का क्रम नहीं है । इसी प्रकार अन्य सभी शाश्वत भावों के साथ लेश्या का आगे-पीछे का क्रम नहीं है । सब शाश्वत भाव अनादि काल से है, अतंत काल तक रहेगा ।

सिद्ध जीव अलेशी होते हैं तथा चतुर्दशवें गुणस्थान के जीव को छोड़ कर अवशेष संसारी जीव सब सलेशी है । सलेशी जीव अनादि है । अतः कहा जा सकता है कि लेश्या और जीव का सम्बन्ध अनादि काल से है । (देखे '६४)

द्रव्य लेश्या—छुओं अणुस्पर्शी है । भाव लेश्या जीव है ।^१ द्रव्य लेश्या छुओं पुद्गल है, अजीव पदार्थ है, पुण्य, पाप, बंध नहीं है । प्रथम तीन भाव लेश्या जीव, आस्रव है । जोग आस्रव है, अवशेष चार आस्रव नहीं है । अशुभ योग में अशुभ लेश्या होती है । तीनों योग—सलेशी है । जहाँ सलेशी है वहाँ सयोगी है । जहाँ योग है—वहाँ लेश्या भी है । शुभ भाव लेश्या जीव, आश्रव, निर्जरा है, पुण्य का बंधन होता है इसलिए आस्रव—जोग आस्रव कहा गया है । कर्म भी कटते हैं अतः निर्जरा भी कहा गया है । उत्तरा-ध्ययन अ ३४ में शुभ-अशुभ दोनों लेश्या को—कर्म लेश्या कहा है । शुभ लेश्या

को धर्म लेश्या कहा है ।^२ द्रव्य लेश्या पारिणामिक भाव है । भाव लेश्या— प्रथम तीन पारिणामिक तथा औदयिक भाव है । अशुभ लेश्या मोहकर्म का उदय निष्पन्न है क्योंकि अशुभ लेश्या से पाप कर्म बंधता है और मोहनीय कर्म के सिवाय और किसी कर्म से पाप कर्म नहीं बंधता है ।

शुभ लेश्या-औदयिक, औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक तथा पारिणामिक भाव है । श्रीमज्जयाचार्य ने भीणी चरचा में औपशमिक भाव को बाद देकर चार भाव का कथन किया है । तेरहवें गुणस्थान की शुक्ल-लेश्या शुभ लेश्या कर्म-निर्जरा की अपेक्षा क्षायिक भाव है तथा बारहवें गुणस्थान तक की शुभ लेश्या-कर्म निर्जरा की अपेक्षा क्षायोपशमिक भाव है ।^३ श्रीमज्जयाचार्य ने तेरहवें गुणस्थान की शुक्ल लेश्या में तीन भावों का कथन किया है—यथा—१—औदयिक भाव २—क्षायिक भाव तथा ३—पारिणामिक भाव । शुभ लेश्या नाम कर्म का उदय निष्पन्न भाव है क्योंकि पुण्य कर्म का बंधन होता है । शुभ लेश्या-अंतराय कर्म का क्षायोपशमिक, क्षायिक है, क्योंकि वीर्यलब्धि की प्राप्ति होती है । इसी वीर्यलब्धि से कर्म निर्जरा होती है, वीर्यलब्धि से कर्म का क्षय होता है ।

तेरहवें गुणस्थान में द्रव्य शुक्ल लेश्या है परन्तु भाव लेश्या न होने के कारण कथंचिद् लेश्या सम्बन्धी बंध नहीं होता ।^४

उत्तराध्ययन के चौतीसवें अध्ययन में लेश्या का विशद विवेचन उपलब्ध है । वहाँ लेश्या के नाम, वर्ण, गंध, रस, स्पर्श, परिणाम, लक्षण, स्थान, स्थिति, गति आदि का निरूपण किया गया है ।

लेश्या की एक परिभाषा है—कर्मनिर्भर । लेश्या कर्म का भरना है, कर्म का प्रवाह है । चित्ततन्त्र और लेश्या तन्त्र हमारे क्रिया तन्त्र को प्रभाषित करते हैं । क्रिया तन्त्र के तीन अंग हैं—मन, वचन और शरीर । ज्ञान तन्त्र चित्त तन्त्र तक समाप्त हो जाता है । भाव तन्त्र लेश्या तन्त्र तक समाप्त हो जाता है । अस्तु अध्यवसाय और चित्त ने मन को जो काम सौंपा, उसका वह निर्वाह करता है ।

आगम में कहा—

“अणेगचित्ते खलु अयं पुरिसे ।”

२. उत्तरा० अ ३४ । गा ५
३. भीणीचरचा
४. भग० श २६ बंधी शतक

अर्थात् यह पुरुष अनेक चित्तवाला है। उसका चित्त एक नहीं है, अनेक है, व्यक्तित्व को जानने के तीन साधन हैं—इन्द्रियां, मन और चित्त या बुद्धि। हमारे आसपास या किसी के भी आसपास रंग और लेश्या के परमाणु हैं, और न जाने परमाणुओं के कितने जाल बिछे हुए हैं। द्रव्य लेश्या के परमाणुओं के सहयोग के बिना किसी भी व्यक्ति की भाव लेश्या कार्य कर नहीं हो सकती है। द्रव्य लेश्या के परमाणु समूचे आकाश में फैले हुए हैं, भरे पड़े हैं। जैसे भाव लेश्या का प्रयोग किया द्रव्य लेश्या के परमाणु भीतर आते हैं, द्रव्य लेश्या के रूप से परिणित होते हैं फिर उनकी आकृतियां समूचे आकाश में फैल जाती है। अध्यवसाय का सम्बन्ध सूक्ष्म और अति सूक्ष्म शरीर से है। यह वनस्पति आदि में भी है। अध्यवसाय के स्पन्दन स्थूल शरीर (चित्त तन्त्र और मस्तिष्क) के साथ सम्बन्ध स्थापित करते हैं।

साधना के जितने मार्ग हैं, उनमें सबसे ज्यादा कठिन है, शुभ योग में रहना, संकल्प में रहना, विशुद्ध भाव-धारा—लेश्या में रहना। साधना की एक भूमिका है—यथालंदक। हथेली का पानी सुखे इतने समय के लिए भी यदि वे प्रमाद करते हैं तो एक बेले का प्रायश्चित आता है। उसकी साधना करने वाले निरन्तर अप्रमाद अवस्था का अनुभव करते हैं। प्रायः वे प्रशस्त लेश्या में रहते हैं।

गणधर विद्या एक शक्तिशाली विद्या है। गणधर विद्या जिससे प्राप्त हो जाय अथवा अन्तर्मुहूर्त में जो चौदह पूर्वों के ज्ञान को ग्रहण कर और उसकी पुनरावृत्ति कर ले, वह गणधर बन सकता है। गणधर विद्या के कारण अन्तर्मुहूर्त में पूर्वों का ज्ञान ग्रहण करने की क्षमता का जागरण होता है।

राजवार्तिक में अकलंकदेव ने कहा है कि जिसका दीर्घ स्वप्न में भी स्वल्पित न हो, वह घोर ब्रह्मचारी है। जिसका मन स्वप्न में भी अणुमात्र विचलित न हो; उसे घोर ब्रह्मचर्य की लब्धि प्राप्त होती है। शुभ लेश्या व शुभ संकल्पों से इस भूमिका तक पहुँचा जा सकता है।

तन्वार्थ सूत्र में उमास्वाति ने कहा है—

स्थितिप्रभावसुखद्यूतिलेश्याविशुद्धीन्द्रियावधिविषयतोऽधिका।

—तत्त्व० अ ४। सू २१

अर्थात् स्थिति, प्रभाव, सुख, द्युति, लेश्या-विशुद्धि, इन्द्रिय-विषय और अवधि विषय की अपेक्षा ऊपर के देव अधिक हैं।

नोट—गति, शरीर, परिग्रह और अभिमान की अपेक्षा ऊपर-ऊपर के देव हीन है ।

कर्म के तीन मुख्य रूप हैं—१—आवरक—यथार्थ पर आवरण डाल देना । कुछ कर्म सिर्फ आवरक होते हैं । २—अंतराय कर्म प्रतिबंधक कर्म है । ३—मोह कर्म विकारक है । चेतना को विकारक बनाते हैं । शक्ति जागरण के अनेक मार्गों में एक मार्ग है—शुभ भाव में रहना । जागरूकता के साथ संकल्पक करे कि मेरा मन शुद्ध हो रहा है, भाव शुद्ध हो रहा है तथा लक्ष्या शुद्ध हो रही है । अप्रमत्त योग की साधना करने वाले साधुओं की प्रति क्षण लक्ष्या विशुद्ध रहती है । परिणाम धारा विशुद्ध रहती है । वे केवलज्ञान तक की स्थिति तक पहुँच सकते हैं । अप्रशस्त लक्ष्या को न आने दे ।

अस्तु लक्ष्या जैन दर्शन का पारिभाषिक शब्द है । इसकी व्याख्या शरीर और आत्मा के संयोगिक भाव से की जाती है । आगमों में कहीं-कहीं कान्ति, तेज, प्रतिच्छाया और संकोच के अर्थ में लक्ष्या शब्द प्रयुक्त हुआ है । प्राचीन साहित्य में प्रायः लक्ष्या शब्द का प्रयोग नहीं मिलता है परन्तु तत्कालीन साहित्य इसके अर्थात्मा के बहुत निकट था । आजीवक सम्प्रदाय जो कि गोशालक (महावीर) से पहले विद्यमान था, उसमें अभिजाति के नाम से पर्याप्त व्याख्या है । इसी की छाया बौद्ध ग्रन्थों में है । भाव विशुद्धि के आरोह व अवरोह क्रम में सभी परम्पराएँ इसे तुला स्वरूप मानती है । लक्ष्या सामाजिक, वैज्ञानिक, यौगिक और चिकित्सक सत्त्यों का प्रभावित रूप है । आकृति विज्ञान की दृष्टि से वर्ण और रंग दोनों प्रत्येक जीव कोषों में व्याप्त रहते हैं । रंग उनका दृश्य रूप है और वर्ण उनकी आभ्यान्तर छवि कान्ति है । इन्हीं शरीर प्रविष्ट रंगों के अनुरूप भाव कल्पना होती है ।^१

लक्ष्या की शुद्धि अध्यवसाय से होती है और अध्यवसाय की शुद्धि कषाय के क्षयोपशम-उपशम आदि से होती है । लक्ष्या हमारा भाव है । यदि अध्यवसाय शुद्ध न हो तो वह कभी शुद्ध नहीं हो सकती । चैतन्य की शुद्ध धाराएँ शुद्ध अध्यवसाय का निर्माण करती है । उसमें कषाय की मंदता की आवश्यकता है । शुद्ध अध्यवसाय शुद्ध भावों का निर्माण करते हैं और शुद्ध भाव विचारों को शुद्ध बनाते हैं, मन-वचन और काया को शुद्ध करते हैं ।

लक्ष्या का व्यापक अर्थ है—पुद्गल द्रव्य के संयोग से होने वाले जीव के परिणाम, जीव की (विचार) शक्ति से प्रभावित करने वाले सूक्ष्म पुद्गल द्रव्य

१. आकृति विज्ञान पृ० १०७

(लेश्या के पुद्गल अष्टस्पर्शी होते हैं) फिर काययोग के पुद्गलों से सूक्ष्म हैं । और संस्थान के हेतु भूत वर्ण और कान्ति आहारकलब्धि, वैक्रियलब्धि आदि लब्धियां हैं, उनमें एक लब्धि तंजस है । इसके लिए लेश्या शब्द का प्रयोग किया गया है तेजोलेश्या स्वयं में अजीव है । अर्थात् लब्धि योग्य पुद्गल विशेष है । सिद्धान्तिक ग्रन्थों के अध्ययन से यह जाना जाता है कि तेजुलब्धि के साथ लेश्या शब्द का प्रयोग सहेतुक प्रतीत होता है । क्योंकि कहीं-कहीं शब्द में अर्थ का अतिदेश होता है ।

भाव धारा (लेश्या) के आधार पर हम आभामंडल को बदल सकते हैं । इससे भावधारा भी बदल जाती है । लेश्या ध्यान चमकते हुए रंगों का ध्यान बहुत ही महत्त्वपूर्ण है । हमारी भावधारा जैसी होती है, उसी के अनुरूप मानसिक चिन्तन तथा शारीरिक मुद्रायें और इंगित तथा अंग संचालन होता है । आधुनिक युग—अर्थात् इस वैज्ञानिक युग में लेश्या ध्यान की बहुत उपयोगिता है । आत्मनियंत्रण व आत्मशोधन की लेश्या ध्यान में बहुत सहकारी है ।

जीव का चतुर्थ लक्षण है लेश्या । जिसमें लेश्या होती है वह जीव होता है । अर्थात् जिसमें लेश्या होती है, ओरा होती है वह जीव है । जीव की ओरा अनिश्चित होती है, बदलती रहती है । कभी उसकी ओरा अच्छी होती है, और कभी बुरी होती है । कभी उसके रंग अच्छे होते हैं, कभी बुरे हो जाते हैं । और यह इसलिए होता है कि उसको बदलने वाला लेश्यातंत्र, भावतंत्र भीतर विद्यमान है । प्राणी की ओरा का नियामक तत्त्व है लेश्या ।

हमें भावतंत्र का शोधन करना है । मूल करणीय है भाव का शोधन । भाव का शोधन होने से कृष्णादि अशुभ लेश्या नहीं होती है । जब तक ध्यान के द्वारा चेतन का सारा जागरण नहीं होगा, तबतक भावतंत्र की मूर्च्छा को तोड़ना सम्भव नहीं होगा ।

प्रशस्त लेश्या का सिद्धान्त जागरण की प्रेरणा है । जो आन्तरिक शक्ति का उत्पादक है, वह है लेश्यातंत्र, भावतंत्र । भावतंत्र को जाग्रत रखने का एक मात्र उपाय है सतत् जागरूकता, अप्रमाद । विचार का काम है टकराना । जो भावतंत्र में चला जाता है, उसके मस्तिष्क में ये प्रश्न नहीं टकराते । भावशुद्धि की साधना करने वाले व्यक्ति का व्यवहार टूटता नहीं, किन्तु वह वास्तविक बन जाता है ।

लेश्याओं का वर्गीकरण इस प्रकार है—

- | | |
|---------------|---------------|
| १—कृष्णलेश्या | ४—तेजोलेश्या |
| २—नीललेश्या | ५—पद्मलेश्या |
| ३—कापोतलेश्या | ६—शुक्ललेश्या |

बौद्ध साहित्य में भी रंगों के आधार पर छः अभिजातियां निर्धारित हैं। वे इस प्रकार हैं।^१

- | | |
|----------------|-------------------|
| १—कृष्णाभिजाति | ४—हरिद्राभिजाति |
| २—नीलाभिजाति | ५—शुक्लाभिजाति |
| ३—लोहिताभिजाति | ६—परमशुक्लाभिजाति |

लेश्याओं का वर्गीकरण छः अभिजातियों की अपेक्षा महाभारत के वर्गीकरण के अधिक निकट है। सनत्कुमार के शब्दों में प्राणियों के छः वर्ग हैं—

- | | |
|---------|-----------|
| १—कृष्ण | ४—रक्त |
| २—धूम्र | ५—हारिद्र |
| ३—नील | ६—शुक्ल |

इनमें कृष्ण-नील और धूम्र वर्ण का सुख मध्यम है, रक्त वर्ण अधिक सहनीय है। हारिद्र वर्ण सुख का है और शुक्ल वर्ण सुखप्रद है।^२

लेश्या के रंगों तथा महाभारत के वर्ण-निरूपण में बहुत साम्य है। रंगों के प्रभाव की व्याख्या सब दर्शन साहित्य में प्राप्त है। पर वस्तु स्थिति यह है कि लेश्या का जितना सूक्ष्म व तलस्पर्शी निरूपण जैन वाङ्मय में मिलता है, उतना विशद व गम्भीर विवेचन अन्यत्र कहीं पर भी उपलब्ध नहीं होता।

‘अर्वाहिलेश्या’ जिसकी लेश्या मनोवृत्ति संयम से बाहर नहीं है। यह भाव लेश्या तेजो-पद्म-शुक्ल के अर्थ में है। आचार्यों में श्रद्धा का प्रकर्ष भाव बतलाते हुए मनोयोग के लिए लेश्या का प्रयोग किया गया है। शिष्य गुरु की दृष्टि का अनुगमन करें, उनकी लेश्या में विचरें अर्थात् उनके भावों का अनुगमन करें।^३

१. दीर्घनिकाय १, २। पृ० १६, २०
२. महाभारत, शांतिपर्व २८, ३३
३. आचार्यो अ० ५

आत्मा की परिणति द्विविध है—शुद्ध और अशुद्ध । बाह्य निमित्त आत्मा पर प्रभाव डालते हैं । निमित्त बनने वाले पुद्गल वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श युक्त होते हैं । मानसिक विचारों की अशुद्धि और शुद्धि के आधार पर प्ररूपण मिलता है । कृष्ण, नील और कापोत—ये तीन रंग अशुद्ध माने गये हैं अर्थात् अशुभ लक्ष्या है ^१ तेजस्, पद्म और शुक्ल ये तीन शुद्ध अर्थात् शुभ लक्ष्याएं हैं ।^२ अशुद्धि और शुद्धि के आधार पर छः लक्ष्याओं का वर्गीकृत रूप इस प्रकार है—

१—कृष्ण-अशुद्धतम

४—तेजस्-शुभ

२—नील-अशुद्धतर

५—पद्म-शुभतर

३—कापोत-अशुद्ध

६—शुक्ल-शुभतम

लक्ष्यत्व जीवोदय निष्पन्न भाव है ? अतः कर्म और कर्मों के उदय से जीव के आत्म प्रदेशों से कृष्णादि द्रव्यों का सान्निध्य होता है तथा तज्जन्य जीव के छः भाव लक्ष्यायें होती हैं । अतः लक्ष्या को उदय निष्पन्न भाव कहा गया है । नियुक्तिकार ने भी कहते हैं—

“भावे उदयो भणिओ, छण्हं लेसाण जीवेसु ।”

अर्थात् जीवों में—उदय भाव से छः लक्ष्यायें होती हैं । नियुक्तिकार के अनुसार विशुद्ध भाव लक्ष्या-कषायों के उपशम तथा क्षय से भी है क्योंकि अच्छी और बुरी दोनों प्रकार की लक्ष्याओं में अध्यवसाय प्रशस्त-अप्रशस्त दोनों होते हैं । (देखें '६६-१६) इसके विपरीत जब परिणाम अशुभ होते हैं, अध्यवसाय अप्रशस्त होते हैं तब लक्ष्या अविशुद्ध-संकिलष्ट होनी चाहिए । जब गर्भस्थ जीव नरक गति के योग्य कर्मों का बंधन करता है तब उसका चित्त, उसका मन, उसकी लक्ष्या तथा उसका अध्यवसाय तदुपयुक्त होता है ।

गति के पांच भेद होते हैं—१ प्रयोग गति २ तत्त गति ३ बंधन छेदन गति ४ उपपात गति और ५ विहायो गति । उनमें विहायो गति के सत्रह भेद हैं उनमें ग्यारहवीं लक्ष्या गति और बारहवीं लक्ष्यानुपात गति है ।

१—लक्ष्यागति—कृष्ण लक्ष्या नील लक्ष्या के द्रव्य को प्राप्त कर नील लक्ष्या रूप में यानी नील लक्ष्या के वर्ण गंध, रस रूप में परिणत होती है । इसी तरह नील लक्ष्या कापोत लक्ष्या रूप में, कापोत लक्ष्या तेजो लक्ष्या रूप में, तेजो लक्ष्या पद्म लक्ष्या रूप में और पद्म लक्ष्या शुक्ल लक्ष्या रूप में परिणत होती है, इसे लक्ष्या गति कहते हैं ।

लेश्यानुपात गति—जीव जिस लेश्या में काल करता है उसी लेश्या में उत्पन्न होता है उसे लेश्यानुपात गति कहते हैं। उसी प्रकार जब गर्भस्थ जीव देव गति के योग्य कर्मों का बंधन करता है, तब उसका चित्त, उसका मन, उसकी लेश्या तथा उसका अध्यवसाय तदुपयुक्त होता है। इससे भी प्रतीत होता है कि इन तीनों का मन व चित्त के परिणामों का, लेश्या और अध्यवसाय का सम्मिलित रूप से कर्म बंधन में पूरा योगदान है (देखें '६६'६)। इसी प्रकार कर्म की निर्जरा में भी इन तीनों का पूरा योगदान होता है।

जिस प्रकार वस्त्र आदि रंगने वाले पदार्थों में वर्ण गुण की प्रधानता रहती है उसी प्रकार अपने सानिध्य मात्र से आत्म परिणामों से प्रभावित करने वाले द्रव्यलेश्या के पुद्गलों में वर्ण गुण की प्रमुखता होती है। जिस प्रकार स्फटिक-मणि पिरोए हुए सूत्र के वर्ण को प्रतिभासित करता है। उसी प्रकार द्रव्यलेश्या अपने वर्ण के अनुसार आत्मपरिणामों को प्रभावित करती है।

प्राचीन आचार्यों की यह धारणा रही है कि देहवर्ण ही द्रव्यलेश्या है। विशेष करके नारकी और देवताओं की द्रव्यलेश्या—उनके शरीर का वर्ण रूप ही है। दिगम्बर जैन आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धात चक्रवर्ती ने लेश्या की परिभाषा शरीर के वर्ण के आधार पर ही करते हैं—

‘वण्णोदयसंपादितसरीरवण्णो दु दब्बदो लेस्सा’

रंग अर्थात् वर्ण नामकर्म के उदय से जो शरीर का वर्ण (रंग) होता है उसको द्रव्यलेश्या कहते हैं।

विचारधारा की शुद्धि एवं अशुद्धि में अनंतगुण तरतम भाव रहता है। पुद्गलजनित इस तरतम भाव को संक्षेप में छः भागों में बांटा गया है। इन छः विभागों को लेश्या कहते हैं। इनमें पहली तीन अधर्म लेश्याएं हैं व अन्तिम तीन धर्म लेश्याएं हैं। लेश्याओं के नाम द्रव्यलेश्याओं के वर्ण, रंग आधार के पर रखे गये हैं।

१—कृष्ण लेश्या

काजल के समान कृष्ण और नीम के समान अनंतगुण कटु पुद्गलों के सम्बन्ध से आत्मा में जो परिणाम होता है, वह कृष्णलेश्या है।

२—नील लेश्या

नीलम के समान नील और सौंठ से अनंतगुण तीक्ष्ण पुद्गलों के सम्बन्ध से आत्मा में जो परिणाम होता है वह नीललेश्या है।

३—कापोत लेश्या

कबूतर के गले के समान वर्ण वाले और कच्चे आम से अनंतगुण कषैले पुद्गलों के सम्बन्ध से आत्मा में जो परिणाम होता है, वह कापोतलेश्या है ।

४—तेजो लेश्या

हिंगुल के समान रक्त वर्ण वाले और पके रस के आम से अनंतगुण मधुर पुद्गलों के संयोग से आत्मा में जो परिणाम होता है, वह तेजो लेश्या है ।

५—पद्म लेश्या

हल्दी के सामान पीले वर्ण वाले तथा मधु से अनंत गुण मिष्ट पुद्गलों के संयोग से आत्मा का जो परिणाम होता है वह पद्म लेश्या है ।

६—शुक्ल लेश्या

शंख के समान श्वेत वर्ण वाले और मिसरी से अनंत गुण मीठे पुद्गलों के सम्बन्ध से आत्मा का जो परिणाम होता है, वह शुक्ल लेश्या है ।

इन लेश्याओं के लक्षण इस प्रकार हैं—

१—मानसिक, वाचिक एवं कायिक क्रियाओं में असंयम रखना, बिना सोचे-समझे काम करना, क्रूर व्यवहार करना आदि कृष्ण लेश्या के परिणाम हैं ।

२—कपट करना, निर्लज्ज होना, स्वाद-लोलूप होना, पौगलिक सुखों की खोज करना आदि नील लेश्या के परिणाम हैं ।

३—कार्य करने एवं बोलने में वक्रता रखना, दूसरों को कष्ट करने वाली भाषा बोलना आदि कापोत लेश्या के परिणाम हैं ।

४—ममत्व से दूर रहना, धर्म पर रुचि रखना आदि तेजोलेश्या के परिणाम हैं ।

५—क्रोध न करना, मितभाषी होना, इन्द्रिय-विजय करना आदि पद्मलेश्या के परिणाम हैं ।

६—रागद्वेष रहित होना, आत्मलीन होना आदि शुक्ललेश्या के परिणाम हैं ।

इन छः लेश्याओं में प्रथम तीन अधर्म लेश्याएं हैं और अन्तिम तीन धर्म लेश्याएं हैं । उदाहरण के द्वारा उनके तारतम्य भाव को समझाया गया है ।

छः व्यक्ति जामुन के बाग में फल खाने गये । वहाँ पहुँचते ही पहला व्यक्ति बोला—देखो अब जामुन बृक्ष आ गया, इसे काट गिराना ही अच्छा है ताकि नीचे बैठे-बैठे अच्छे फल खा सके । ऐसा मुनकर दूसरे व्यक्ति ने कहा, इससे क्या लाभ । केवल बड़ी शाखाओं के काटने से ही काम चल जायेगा । तीसरे ने कहा—यह तो उचित नहीं है । छोटी-छोटी शाखाओं से भी तो हमारा काम निकल जायेगा । चौथे ने कहा—केवल फल के गुच्छों को ही तोड़ना ही काफी है । पाँचवें ने कहा—हमें गुच्छे से क्या प्रयोजन ? सिर्फ फल ही तोड़ कर लेना अच्छा है ? अन्त में छठे मनुष्य ने कहा—ये सब विचार व्यर्थ है, हमें जितनी आवश्यकता है उतने फल तो नीचे गिरे हुए हैं ही । फिर व्यर्थ में इतने फल तोड़ने से क्या लाभ ?

इस दृष्टान्त से लेश्याओं का स्पष्ट रूप समझ में आ जाता है । पहले व्यक्ति के परिणाम कृष्णलेश्या के हैं और क्रमशः छठे व्यक्ति के परिणाम शुक्ललेश्या के हैं । यह दृष्टान्त केवल परिणामों की तरतमता दिखाने के लिए है ।

प्रथम तीन लेश्या का क्षेत्र सर्वलोक है, तेजो-पद्म-शुक्ल लेश्या का क्षेत्र लोक के अंशुयातवें भाग है । यद्यपि केवली समुद्घात की अपेक्षा शुक्ललेश्या का क्षेत्र सर्वलोक व्यापी है ।

लेश्या यंत्र

लेश्या-वर्ण	रस	गंध व स्पर्श
काजल के समान	नीम से अनंतगुण	मृत सर्प की गंध से
काला कृष्णलेश्या	कटु	अनन्तगुण अनिष्ट गंध
नीलम के समान	त्रिकुट से अनंतगुण	गाय की जीभ से अनंत-
नीला नीललेश्या	तीखा	गुण कर्कश-तीन अप्रशस्त
कबूतर के गले समान	पक्के आम से अनंतगुण	लेश्या
रंग कापोतलेश्या	कसौला	
हिंगुल (सिन्दुर) के	पक्के आम के रस	सुरभि कुसुम की
समान रक्त तेजोलेश्या	से अनंतगुण खट्टमीठा	गंध से अनंतगुण
हल्दी के समान	मधुर से अनंतगुण	इष्ट गंध
पीला पद्मलेश्या	मिष्ट	नवनीत (मक्खन)
शंख के समान सफेद	भिसरी से अनंतगुण	से अनंतगुण सुकुमार
शुक्ललेश्या	मिष्ट	तीन प्रशस्त लेश्या

प्रज्ञापना सूत्र में कहा है—

कति णं भंते ! लेस्साओ पणत्ताओ ? गोयमा ! छल्लेसाओ पणत्ताओ, तं जहा—कण्हेस्सा, नीललेस्सा, काउलेस्सा, तेउलेस्सा, पण्हेस्सा, सुक्कलेस्सा ।

—पण्ण० पद १७ । सू ३६

अर्थात् लेश्या के छः प्रकार हैं—कृष्णलेश्या, नीललेश्या, कापोतलेश्या, तेजो-लेश्या, पद्मलेश्या, शुक्ललेश्या ।

समान जाति वाले पुद्गल स्कंध को वर्गणा कहते हैं उनके अनेक भेद हैं— यथा—मनोवर्गणा, भाषावर्गणा, शरीरवर्गणा, औदारिकवर्गणा, वैक्रियवर्गणा, आहारकवर्गणा, तेजसवर्गणा, कार्मणवर्गणा व श्वासोच्छ्वासवर्गणा ।

लेश्या भी वर्गणा है । तेजस शरीर के अन्तर्गत इस लेश्यावर्गणा का समावेश है ।

लेश्या-शब्द मीमांसा—

लेश्या हमारी चेतना की एक रश्मि है । लेश्या का अर्थ किया गया है— ज्योति-रश्मि । नंदी की चूर्णि में कहा है—रस्सी से बना लस्सी और उससे बन गया लेस्सा-लेश्या । रस्सी रज्जु का भी एक नाम है । वक्रता, नृशंसता व क्रूरता—ये मन से नहीं, भाव से आती है ।

कृष्णलेश्या का एक परिणाम बतलाया गया है—नृशंसता । इसी प्रकार जो व्यक्ति पांच आस्रवों में प्रवृत्त है, तीव्र आरम्भ में संलग्न है, षट्काय में अविरत है, क्षुद्र व अजितेन्द्रिय है, बिना विचारे काम करने वाला है, वह कृष्ण-लेश्या में परिणत होता है । प्रमत्तता, आसक्ति, रस-लोलुपता, मुग्धता आदि से युक्त जो प्रवृत्ति है, वह मन का काम नहीं है, यह भावना के स्तर पर घटित होने वाली क्रिया है ।

दर्पण और लेश्या—

लेश्या आभामण्डल हमारा एक दर्पण है, जिसमें व्यक्ति अपने आपको देख सकता है, अपने विचारों और भावनाओं को देख सकता है, अपने आचार व व्यवहार को देख सकता है ।

नई सम्भावनाएं—

लेश्या का सिद्धांत हमारे सामने एक ऐसा दर्पण है, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति अपना चेहरा देख सकता है । आचार, विचार व व्यवहार—सबका प्रतिबिम्ब लेश्या के दर्पण में देखा जा सकता है ।

लेश्या का यह सिद्धांत भगवान महावीर की दार्शनिक जगत् को एक बहुत बड़ी देन है । लेश्या का सिद्धांत वैज्ञानिक जगत् में प्रतिष्ठित होता जा रहा है ।

सूर्य की प्रभा शुभ है, सूर्य की छाया शुभ है, सूर्य की लेश्या शुभ है ।^१

प्रशस्त लेश्या-स्थान जब अविशुद्धि को प्राप्त होते हैं, तब वे संकिलश्यमान कहलाते हैं और अप्रशस्त लेश्या-स्थान जब विशुद्धि को प्राप्त होते हैं, तब वे विशुद्धमान कहलाते हैं । अतः प्रशस्त व अप्रशस्त लेश्याओं की प्राप्ति में यथा योग्य संकिलश्यमानता व विशुद्धमानता समझनी चाहिए ।

अभीचिकुमार श्रमणोपासक था । उदायन राजा का पुत्र था । श्रमणोपासक होने पर भी उदायन राजर्षि के वैर के अनुबंध से युक्त था । उदायन राजा ने अभीचिकुमार को छोड़ कर भाणेज केशीकुमार को राज्य स्थापित करके श्रमण-भगवान के समीप प्रव्रज्या ग्रहण की । अभीचिकुमार श्रमणोपासक होते हुए भी वैर के अनुबंध से अप्रशस्त लेश्या में कालकर-मिथ्यात्व को प्राप्त कर असुरकुमार देवों में उत्पन्न हुआ ।

परितापना के प्रकार बतलाते हुए भगवती सूत्र में कहा—लेसेइ—बाण मार्ग-वर्ती जीवों को संत्रस्त करता है अर्थात् बाण के प्रहार से वे जीव अत्यन्त सिकुड़ जाते हैं । टीकाकार ने कहा है—श्लेषयति आत्मनि श्लिष्टान्, करोति जीव के प्रदेश शरीर में संकोच पाकर घन (पिंड) बन जाते हैं । इस सन्तापकारक स्थिति में उसे चार क्रियाएँ लगती हैं । यदि प्राणातिपात हो जाय तो पांच । ठीक यही क्रम तेजो लेश्या का है । उसमें भी तीन, चार व पांच क्रियाओं का विधान है ।^२ अतः तेजु के साथ प्रयुक्त लेश्या शब्द का अर्थ 'लेसेइ' करना न्याय संगत लगता है ।

दशवकालिक सूत्र में घर्मारोधना के संदर्भ में कहा है—

जरा जाव न पीलेइ, वाही जाव न वडुई ।

जाविदिया न हायंति, ताव धम्मं समायरे ॥

अर्थात् जब तक वृद्धावस्था विवश नहीं करती है, व्याधियों का आक्रमण नहीं होता है और इन्द्रियों की शक्ति क्षीण नहीं हो जाती है तब तक धर्म की साधना अधिक संभव है ।

१. भग० श १४ । उ ६ । सू १३३ से १३५

२. भग० श २ । उ ५

संग्रहविमुखता, स्वार्थ का सीमाकरण, साधन शुद्धि का विवेक, प्रमाणिकता, नैतिकता—ये विसर्जन से फलित होने चाहिए । विसर्जन के इस महान् तत्व का विकास होने पर अपरिग्रह व्रत की वास्तविकता समझ में आयेगी ।

मनुष्यलोक के बाहर की सारी अग्नि नियमतः अचित्त होती है । सारी अग्नि सचित्त नहीं होती । विद्युत् अचित्त भी है, सचित्त भी ।

तेजो लेश्या—लब्धि के विकास के साधन अनेक है उनमें एक साधना है—आतापना, सूर्य का आतप लेना । सूर्य का आतप हमारे तेजस शरीर को शक्तिशाली बना देता है । आतप में धूप स्नान करना, वस्त्रों को हटाकर सूर्य की किरणों के साथ सीधा सम्पर्क करना, आतप लेना—यह आतापना की विधि है ।

अर्थात् तिर्यंचायु, मनुष्यायु, देवायु को शुभ अथवा पुण्य प्रकृति मानी गई है । इन प्रकृतियों का बंध लेश्या की विशुद्धि आदि से होता है । यहाँ यह स्पष्ट कर देना उचित है कि तिर्यंचादि तीन आयु की उलटी रीति है । अर्थात् संक्लेशमान लेश्या से तीन आयु की स्थिति जघन्य होती है । और विशुद्धमान लेश्या से उत्कृष्ट स्थिति होती है ।

साधु का एक नाम है—तपोधन । ध्यान, मौन, उपवास आदि तपस्या के अनेक प्रकार हैं । स्वाध्याय तप के समय तेजो, पद्म, शुक्ल ये तीन शुभ लेश्या होती है । आहार-शरीर-इन्द्रिय प्राप्ति के पूर्ण तक एक ही लेश्या रहती है—मरण के समय जो लेश्या होती है वही लेश्या प्रथम की तीन पर्याप्तियों की पूर्णता तक रहती है । उत्तराध्ययन सूत्र में दुःख के अनेक प्रकारों का उल्लेख है । जन्म और मृत्यु दुःख है, बुढ़ापा और बीमारी भी दुःख है । प्राकृतिक प्रकोप भी दुःख है । ध्यान के बिना धर्म की बात छिलके की तरह है । ध्यान के बिना धर्म कटेसिर शरीर की तरह है । अहिंसा से भी ज्यादा महत्वपूर्ण है अपरिग्रह ।

लीवर के स्राव का अपना समय निश्चित है । जिस समय लीवर रस छोड़ता है, व्यक्ति भोजन नहीं करता । जब भोजन करता है उस समय पाचक रस का स्राव नहीं होता । फलतः वह भोजन सड़ांध पैदा करता है । और अनेक बीमारियाँ शरीर को घेर लेती हैं ।

जयसिंह सूरि ने संयोगजा नामक एक सातवीं लेश्या मानी हैं । यह शरीर छाया रूप है । कई आचार्य काय योग की सप्तता के कारण लेश्या के सात

भेद मानते हैं। जीव शरीर सात है तब उनकी छाया भी सप्तवर्णात्मिका होगी। कहा है—

षट् सप्तमी संयोगजा इयं च शरीरच्छायात्मिका परिगृह्यते अन्ये-
त्वौदारिकौदारिकमिश्रमित्यादिभेदतः सप्तविधत्वेन जीवशरीरस्य
तच्छायामेव कृष्णादिवर्णरूपा नोकर्मणि सप्तविधां जीवद्रव्यलेश्यां
मन्यन्ते तथा—

—उक्त० अ ३४। टीका। जयसिंहसूरि पृ० ६५०

अर्थात् संयोगजा नामक एक सातवीं लेश्या होती है (द्रव्य कर्म लेश्या के कृष्णादि ६ भेद हैं) यह शरीर छाया रूप है।

कहीं द्रव्य लेश्या के अनुरूप भाव परिणति होती है और कहीं द्रव्य लेश्या के अनुरूप परिणति होती है। मृत्यु पर्यन्त देव-नारकी में एक रूप में जो लेश्या साथ रहती है—वह भी द्रव्य लेश्या है। नारकी में स्थित द्रव्य लेश्या प्रथम तीन तथा देवों में छः लेश्या है। प्रज्ञापना में ज्योतिसी देवों के वर्णन में ताराओं के लिए कहा गया है—ताराओं में पांच वर्ण होते हैं और वे स्थित लेश्याचारी होते हैं।^१

दस आश्चर्य हैं उनमें एक आश्चर्य (अच्छेरा) उपसर्ग-तीर्थङ्करों को उपसर्ग होना। केवल ज्ञान उत्पन्न होने के बाद तीर्थङ्करों को कोई उपसर्ग नहीं होते। किन्तु भगवान महावीर केवल ज्ञान प्राप्ति के बाद अपनी तेजो लब्धि से गोशालक को बहुत पीड़ित किया—यह एक आश्चर्य है। कहा है—

(उवसगो) तीर्थकरा हि अनुत्तरपुण्यसम्भारतया नोपसर्गभाजन-
मपि तु सकलनरामरतिरश्चां सत्कारिस्थानमेवेत्यनन्तकालभाव्यमर्थो
लोकेऽद्भूत इति।

—ठाण० स्था १। सू १६०। टीका

द्रव्यलेश्या क्या है ?

१—द्रव्यलेश्या अजीव पदार्थ है।

२—यह अनंतप्रदेशी अष्टस्पर्शी पुद्गल है। (देखें '१४ व '१५)

१. पंच वर्णओ तारयाओ ठियलेशाचारिणो—पण्ण० पद २

- ३—इसकी अनंतवर्गणा होती है । ('१७)
 ४—इसके द्रव्याधिक स्थान असंख्यात है । ('२१)
 ५—इसके प्रदेशाधिक स्थान अनन्त हैं । ('२६)
 ६—छः लक्ष्या में (निश्चयनय से) पांच ही वर्ण होते हैं । ('२७)
 ७—यह असंख्यात प्रदेश अवगाह करती है । ('१६)
 ८—यह परस्पर में परिणामी भी है, अपरिणामी भी है । ('१६ व '२०)
 ९—यह आत्मा के सिवाय अन्यत्र परिणत नहीं होती है । ('२०'७)
 १०—यह अजीवोदय निष्पन्न भाव हैं । ('५१'१४)
 ११—यह गुरुलघु है । ('१८)
 १२—यह भावितात्मा अणुकार के द्वारा अगोचर-अज्ञेय है । ('५१'१३)
 १३—यह जीवप्राही है । ('५१'१०)
 १४—प्रथम की तीन द्रव्यलक्ष्या दुर्गंधि वाली है तथा पश्चात् तीन द्रव्यलक्ष्या सुगन्ध वाली है । (पृ० १५)
 १५—प्रथम की तीन द्रव्यलक्ष्या अमनोज्ञ रस वाली है । (पृ० १६)
 १६—प्रथम की तीन द्रव्यलक्ष्या शीतरूक्ष स्पर्श वाली है तथा पश्चात् की तीन द्रव्यलक्ष्या ऊष्णस्निग्ध स्पर्श वाली है । (पृ० १६)
 १७—यह कर्मपुद्गल से स्थूल है ।
 १८—यह द्रव्य कषाय से स्थूल है ।
 १९—यह द्रव्य मन के पुद्गलों से स्थूल है ।
 २०—यह द्रव्य भाषा के पुद्गलों से स्थूल है ।
 २१—यह औदारिक शरीर पुद्गलों से सूक्ष्म है ।
 २२—यह शब्द पुद्गलों से सूक्ष्म है ।

नोट—कहीं-कहीं शब्द को चतुःस्पर्शी तथा कहीं-कहीं अष्टस्पर्शी माना है ।

- २३—यह तेजस शरीर पुद्गलों से सूक्ष्म होनी चाहिए ।
 २४—यह वैक्रिय शरीर पुद्गलों से सूक्ष्म होनी चाहिए ।
 २५—यह इन्द्रियों द्वारा अग्राह्य है ।
 २६—यह योगात्मा के साथ समकालीन है ।
 २७—यह बिना योग के ग्रहण नहीं हो सकती है ।
 २८—यह नो कर्म पुद्गल है, कर्म पुद्गल नहीं है ।
 २९—यह पुण्य नहीं है, पाप नहीं है, बंध नहीं है ।
 ३०—यह आत्मप्रयोग से परिणत है, अतः प्रायोगिक पुद्गल है ।
 ३१—यह कषाय के अंतर्गत पुद्गल नहीं है ; क्योंकि अकषायी के भी लक्ष्या होती है लेकिन सकषायी जीव के कषाय से सम्भवतः अनुरंजित होती है ।

३२—यह पारिणामिक भाव है ।

३३—इसका संस्थान अज्ञात है ।

३४—देश बंध तथा सर्व बंध का लक्ष्या सम्बन्धी पाठ नहीं है ।

जीव के प्रयोग में आने वाले पुद्गलों स्कंधों की आठ वर्गणाएँ हैं—

१—औदारिकवर्गणा

५—कार्मणवर्गणा

२—वैक्रियवर्गणा

६—मनोवर्गणा

३—आहारकवर्गणा

७—वचनवर्गणा

४—तेजसवर्गणा

८—इवासोच्छ्वासवर्गणा

इन आठ वर्गणाओं में से तेजसवर्गणा के साथ द्रव्यलक्ष्या का सम्बन्ध है ।

भावलक्ष्या क्या है ?

१—भावलक्ष्या जीव परिणाम है । (देखें विषयांकन '४१)

२—भावलक्ष्या अरूपी है । यह अवर्णी, अगंधी, अरसी तथा अस्पर्शी है ।

('४२)

३—भावलक्ष्या अगुरुलघु है । ('४३)

४—विशुद्धता-अविशुद्धता के तारतम्य की अपेक्षा से इसके असंख्यात स्थान है ।

('४४)

५—यह जीवोदय निष्पन्न भाव है । ('४६'१)

६—आचार्यों के कथनानुसार भाव लक्ष्या क्षय-क्षयोपशम, उपशम भाव भी है ।

('४६'२)

७—प्रथम की तीन लक्ष्याएँ अधर्म लक्ष्याएँ कही गयी हैं तथा पीछे की तीन धर्म लक्ष्याएँ कही गई हैं । (पृ० १६)

८—प्रथम की तीन भावलक्ष्या संक्लिष्ट है तथा पश्चात् की तीन भावलक्ष्या असंक्लिष्ट है । (पृ० १७)

९—प्रथम की तीन भावलक्ष्या अप्रशस्त है तथा पश्चात् की तीन भावलक्ष्या प्रशस्त है । (पृ० १८)

१०—प्रथम की तीन भावलक्ष्या दुर्गति की हेतु कही गई है तथा पश्चात् की तीन भावलक्ष्या सुगति की हेतु कही गई है ।

११—परिणाम की अपेक्षा प्रथम की तीन भावलक्ष्या अविशुद्ध है तथा पश्चात् की तीन भावलक्ष्या विशुद्ध है । (पृ० १७)

१२—नव पदार्थ में भावलक्ष्या-जीव आस्रव तथा निर्जरा है ।

१३—आस्रव-योग आस्रव है ।

- १४—निर्जरा में बारह ही प्रकार की निर्जरा होनी चाहिए ।
 १५—शुभयोग के समय में शुभलेश्या होनी चाहिए—विशुद्धमान लेश्या होनी चाहिए ।
 १६—अशुभयोग के समय में अशुभलेश्या होनी चाहिए—संक्लिष्टमान लेश्या होनी चाहिए ।
 १७—जो जीव सयोगी है वह नियतः सलेशी है तथा जो जीव सलेशी है वह नियतः सयोगी है ।

जब योग वीर्यान्तराय कर्म का क्षय, क्षयोपशम से तथा शरीर नामकर्म के उदय से होता है तब लेश्या में भी वीर्यान्तराय कर्म का क्षय, क्षयोपशम व शरीर नामकर्म का उदय होना चाहिए । शुभलेश्या से पुण्य का आस्रव व अशुभलेश्या में पाप का आस्रव होता है । चूंकि लेश्या का ग्रहण योग आस्रव में होता है ।

मिथ्यात्वी के अशुभलेश्या होते हुए भी अध्ययनसाय प्रशस्त-अप्रशस्त दोनों प्रकार के हो सकते हैं । चूंकि लेश्या से अध्ययनसाय सूक्ष्म होते हैं ।

लेश प्रकाश में कहा है—“अन्वय तथा व्यतिरेक से लेश्या के सयोगत्व की अपेक्षा (लेश्या) के द्रव्यों से योग के अन्तर्गत समझना चाहिए ।” कहा है—

द्रव्याण्येतानि योगान्तर्गतानीति विचिन्त्यताम् ।
 सयोगत्वेन लेश्यानामन्वयव्यतिरेकतः ॥

—लोकप्रकाश श्लो २८५

जिससे आत्मा कर्म के साथ लिप्त होती है वह लेश्या है । (लिप्यते आत्मा कर्मणा सह अनथा (सा लेश्या)—प्रज्ञापना लेश्या पद टीका) ।

अस्तु लेश्या योग के अन्तर्गत द्रव्य रूप है । योग द्रव्य कषाय उदय का कारण भी है । लेश्या से स्थिति पाक विशेष होता है । कषायोदय के अन्तर्गत कृष्णादिलेश्या के परिणाम है । किसी आचार्य की यह मान्यता रही है—लेश्या कषाय उदय रूप भी है । जिसके द्वारा जीव अपने को पुण्य-पाप से लिप्त करें उसको लेश्या कहते हैं ।^१ कहा है—

१. लिपत्यात्मीकरोति एतया निजापुण्यपापंच ।
 जीव इति भवति लेश्या लेश्या गुणज्ञायकाश्न्याता ॥

—गोजी० गा ४८८ संस्कृत छाया

योगप्रवृत्तिलेश्या कषायोदयानुरञ्जिता भवति ।

—गोजी० गा ४८८ संस्कृत छाया

अर्थात् कषायोदय से अनुरंजित योग की प्रवृत्ति को लेश्या कहते हैं । सनत-कुमार चक्रवृत्ति के शरीर का सौंदर्य अद्भुत था । अहंकार के कारण उनके शरीर में सोलह रोग उत्पन्न हो गये ।

जंनागमों का उद्भव ही जगत के जीवों के लिए हुआ है ।^१

सर्वजगज्जीवरक्षयणदयहाए, भगवया पाचयणं कहियं—प्रश्न-व्याकरण ।

निगोद जैन सिद्धान्त का पारिभाषिक शब्द है । जिसका अर्थ है अनंत जीवों का आधार अथवा आश्रय जैसे सामान्यतया निगोद सूक्ष्म और साधारण वनस्पति रूप है, तथापि इसकी अलग भी पहचान है । अतः इसके दो प्रकार कहे गये हैं—निगोद और निगोद जीव । निगोद अनंत जीवों का आधारभूत शरीर है और निगोद जीव एक ही औदारिक शरीर में रहे हुए भिन्न-भिन्न तैजस् कार्मण शरीर वाले अनंत जीवात्मक है । आगम में कहा है—यह सदा लोक सूक्ष्म निगोदों से अंजनचूर्ण से परिपूर्ण समुद्रग की तरह ठसाठस भरा हुआ है । निगोदों से परिपूर्ण इस लोक में असंख्येय निगोद वृत्ताकार और बृहत्प्रमाण होने से 'गोलक' कहे जाते हैं । ऐसे असंख्येय गोलें हैं और एक-एक गोलें में असंख्येय निगोद हैं और एक-एक निगोद में अनंत जीव हैं । निगोद असंख्यात है व निगोद जीव अनंत है । अंगुलासंख्येय भाग अवगाहना वाले निगोद सारे लोक में व्याप्त हैं । वे असंख्येय लोकाकाश प्रदेश प्रमाण हैं । प्रति निगोद में अनंत जीव है । इन जीवों में कृष्णादि तीन अप्रशस्त लेश्या होती है ।

देवों और नारकों की जो भव स्थिति है, वही उनकी काय स्थिति (संविदृणा) है । कहा है—

प्रथमं पूर्वं तस्य सर्वप्रवचनात् पूर्वक्रियमाणत्वात्—समवायांग वृत्ति ।

सर्वश्रुतात् पूर्वं क्रियते इति पूर्वाणि, उत्पादपूर्वादीनि चतुर्दश—स्थानांग वृत्ति ।

१. बृहत्कल्प भाष्य गा १३२

जैनागमों का प्राचीनतम वर्गीकरण पूर्व और अंग के रूप में समवायांग सूत्र में मिलता है। यहाँ पूर्वों की संख्या चौदह तथा अंगों की संख्या बारह बताई गई है।

कृत्रिम नपुंसक सिद्ध हो सकते हैं, जन्मजाति नपुंसक सिद्ध नहीं होते हैं।

आहार—शरीर और इन्द्रिय—ये तीन पर्याप्तियाँ प्रत्येक जीव पूर्ण करता है। इनको पूर्ण करके ही जीव अगले भव की आयु का बंध कर सकता है।

पर्याप्त जीव दो प्रकार के हैं—१. लब्धि पर्याप्त और २. करण पर्याप्त। जिस जीव ने स्वयोग्य पर्याप्तियों को अभी पूर्ण नहीं किया किन्तु आगे अवश्य पूरी करेगा वह लब्धि की अपेक्षा से लब्धि पर्याप्तक कहा जाता है। जिस जीव ने स्वयोग्य पर्याप्तियाँ पूरी करली है वह करण पर्याप्त है।

अपर्याप्त जीव भी दो प्रकार के हैं—१ लब्धि अपर्याप्त और २ करण अपर्याप्त। जिस जीव ने स्वयोग्य पर्याप्तियाँ पूरी नहीं की और आगे करेगा भी नहीं अर्थात् अपर्याप्त अवस्था में ही मरेगा वह लब्धि अपर्याप्त है जिसने स्वयोग्य पर्याप्तियों को पूरी नहीं किया किन्तु आगे पूरा करेगा वह करण से अपर्याप्त है।

विशिष्ट तप से प्राप्त लब्धि विशेष से किसी-किसी पुरुष को तेजोलेश्या निकालने की लब्धि प्राप्त हो जाती है उसका हेतु भी तेजस शरीर है।

लेश्या—जिसके कारण आत्मा कर्मों के साथ चिपकती है वह लेश्या है। कृष्णादि द्रव्यों के सान्निध्य से आत्मा में होने वाले शुभाशुभ परिणाम लेश्या है आचार्य तुलसी ने कहा है—

कृष्णादिद्रव्यसाचिव्यात् परिणामो य आत्मनः ।

स्फटिकस्यैव तत्रायं, लेश्याशब्दः प्रवर्तते ॥

—जंदोपि० प्रकाश ४

अर्थात् कृष्णादि द्रव्यों के सान्निध्य से आत्मा में होने वाले शुभाशुभ परिणाम लेश्या है। जैसे-स्फटिक रत्न में अपना कोई काला, पीला, नीला आदि रंग नहीं होता है, वह स्वच्छ होता है। परन्तु उसके सान्निध्य में जैसे रंग की वस्तु हो जाती है, वह उसी रंग का हो जाता है। वैसे ही कृष्णादि द्रव्यों के सान्निध्य से आत्मा में जो शुभाशुभ परिणाम होते हैं, वह लेश्या है।

शास्त्रकारों ने लेश्या के छः भेद बताये हैं—कृष्णलेश्या; नीललेश्या, कापोत-लेश्या, तेजोलेश्या, पद्मलेश्या और शुक्ललेश्या ।

प्रमाणनयतन्वलोक में कहा है—

आप्तवचनादाविभूर्तमर्थसंवेदनमागमः ।

अर्थात् आप्त-वचन होने से आगम है । जिन्होंने रागद्वेष को जीत लिया है, वह जिन, तीर्थंकर, सर्वज्ञ भगवान् आप्त है और उनका उपदेश एवं वाणी ही जैनागम है । अर्हन्त अर्थ रूप से उपदेश देते हैं और गणधर निपुणता पूर्वक उसको सूत्र के रूप में गूँथते हैं । इस प्रकार धर्मशासन के हितार्थ सूत्र प्रवर्तित होते हैं । कहा है—

अथ भासइ अरहा सुत्तं गंथंति गणहरा निउणं ।

सासणस्स हियट्ठाए तओ सुत्तं पवत्तइ ॥

—विशेभा० गा ११२६

आचार्य संघदास गणि का अभिमत है कि जो बात तीर्थंकर कह सकते हैं, उसको श्रुत केवली भी उसी रूप में कह सकते हैं । दोनों में इतना ही अन्तर है कि केवल ज्ञानी सम्पूर्ण तत्व को प्रत्यक्ष रूप में जानते हैं तो श्रुत केवली श्रुत के द्वारा परोक्ष रूप से जानते हैं ।^१

पूर्वों की रचना के विषय में विद्वानों के विचित्र मत हैं, आचार्य अभयदेवसूरि आदि के अभिमतानुसार द्वावशांती के पहले पूर्व साहित्य रचा गया था । इसीसे उसका नाम पूर्व रखा गया है ।^२ कुछ चिन्तकों का मत है कि पूर्व भगवान् पार्श्वनाथ की परम्परा की श्रुत राशि है । कहा है—

किसी के मन में कृष्ण लेशी या अप्रशस्त लेशी बनने की भावना है तो उसे अपने भावों को विकृत करना होगा इसी प्रकार प्रशस्त लेशी बनने के लिए भावों की उज्वलता पर ध्यान देना होगा । भावों के पीछे रंग बदलते हैं । कभी-कभी उलटा भी हो जाता है । रंगों के पीछे भावों का बदलाव होता है । इस बदलाव में रंग निमित्त कारण के रूप में काम करते हैं । मूल तत्त्व भाव है । इसलिए भावों की विभुद्धि को केन्द्र में रखना आवश्यक है ।

१. बृहत्कल्पभाष्य गा १३८

२. नंदी चूर्णि

जो व्यक्ति परदोषदर्शी होता है वह अपनी भाव धारा (लक्ष्या) को कभी पवित्र नहीं बना सकता । परदोष दर्शन की वृत्ति छूटे, आत्म दर्शन की वृत्ति विकसित हो और दूसरों के गुण देखने की मनोवृत्ति जागृत हो तो व्यक्ति का स्थान भाव विशुद्धि-लक्ष्या-विशुद्धि की दिशा में हो जाता है ।

सज्जन व्यक्तियों का स्मरण भी शुभ लक्ष्या की प्रवृत्ति का हेतु है ।

लक्ष्या—

हमारे कार्य विचारों के अनुरूप और विचार चारित्र्य को विकृत बनाने वाले पुद्गलों के प्रभाव और अप्रभाव के अनुरूप बनते हैं । कर्म पुद्गल हमारे कार्यों और विचारों को भीतर से प्रभावित करते हैं, तब बाहरी पुद्गल उनके सहयोगी बनते हैं । ये विविध रंग वाले होते हैं । कृष्ण, नील और कापोत—इन तीन रंगों वाले पुद्गल विचारों की अशुद्धि के निमित्त बनते हैं । तेजस्, पद्म और श्वेत—ये तीन पुद्गल विचारों की शुद्धि में सहयोग देते हैं । पहले वर्ग के रंग विचारों की अशुद्धि के कारण बनते हैं, यह प्रधान बात नहीं है किन्तु चारित्र्य-मोह-प्रभावित विचारों के सहयोगी जो बनते हैं, वे कृष्ण, नील और कापोत रंग के ही पुद्गल होते हैं—प्रधान बात यह है यही बात दूसरे वर्ग के रंगों के लिए है । अर्थात् विचारों की शुद्धि में कारण बनते हैं ।

भीषी चरचा में श्री मज्जयाचार्य ने एक स्थल पर कहा है—

मन, वचन काया रा जोग त्रिहुं सह लेस्या कही जिनराय ।

—भीषी चरचा ढाल १ । गा ८

अर्थात् मन, वचन तथा काय—ये तीनों योग सलेशी कहे हैं । जहाँ योग है वहाँ लक्ष्या है । अयोगी होने पर वह अलेशी हो जाता है । 'आश्रव' संस्कृत भाषा का शब्द है । प्राकृत भाषा में इसका रूप बनता है—आसव ।

आचार्य मलयगिरि ने लक्ष्या को योगनिमित्तज बतलाया है, यह कथन द्रव्य योग और द्रव्य लक्ष्या की दृष्टि से घटित होता है । क्योंकि द्रव्य लक्ष्या की वर्गणा का सम्बन्ध तेजस शरीर की वर्गणा के साथ है । अतः द्रव्य लक्ष्या और तेजस शरीर की वर्गणा का एक अपेक्षा से अन्वय-व्यतिरेकी सम्बन्ध माना जा सकता है । किन्तु भाव लक्ष्या और योग में अन्वय-व्यतिरेकी सम्बन्ध नहीं है ।

भाव योग के साथ भाव लक्ष्या का अन्वय-व्यतिरेकी सम्बन्ध घटित नहीं होता । केवली के काय योग और वचन योग दोनों भावात्मक होते हैं (भाव

योग) तथा द्रव्य मनो योग होता है, भावात्मक मनोयोग नहीं होता है । केवली के शुक्ल लक्ष्या होती है वह भी द्रव्य लक्ष्या है । भाव लक्ष्या उनके नहीं हो सकती है ।

असंज्ञी जीवों में लक्ष्या होती है, पर मनोयोग नहीं होता । इससे भी यह बात स्पष्ट होती है कि लक्ष्या और मनोयोग एक नहीं है । लक्ष्या आन्तरिक अध्यवसाय है । वह कर्म शरीर से परिस्पन्दित और तैजस शरीर से अनुप्राणित होकर चित्त के साथ काम करता है । लक्ष्या हमारी भाव धारा है जो मानसिक चिन्तन या विचार को प्रभावित करती है । मनका सम्बन्ध केवल औदारिक शरीर या स्थूल शरीर के साथ है । लक्ष्या का सम्बन्ध कर्म शरीर, तैजस शरीर और औदारिक शरीर तीनों के साथ है ।

कपिल मुनि को गृहस्थाश्रम में प्रशस्त लक्ष्या, शुभ अध्यवसाय व शुभ परिणाम से जाति-स्मरण ज्ञान उत्पन्न हुआ । तत्पश्चात् दीक्षा ग्रहण की । दीक्षा के छः मास बाद ध्यानान्तरिका में प्रशस्त लक्ष्यादि से केवल ज्ञान व केवल दर्शन समुत्पन्न हुआ ।

धर्म ध्यान के समय मिथ्यात्वी के तथा सम्यक्त्वी के पीत, पद्म व शुक्ल—ये तीन लक्ष्याएं क्रमशः विशुद्ध होती है । परिणामों के आधार पर वे तीव्र या मन्द होती है ।^१ कहा है—

नभिरुण असुर सुर गरुड भुयंग परिवंदिए गय किलेसे अरिहं
सिद्धायरिय उवउभायसव्वसाहूणं ।

—चंद्र० गा २

अर्थात् अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु इन्हें—असुर, सुर, गरुड, नागकुमार तथा व्यंतर्गदेव नमस्कार करते हैं ।

श्रावक प्रतिक्रमण की चतुर्विंशति की 'इच्छामि पडिक्कमिउ' की पाटी में कहा है—

इच्छामि पडिक्कमिउं × × × वत्तिया लेसिया संघाइया × × × ।

—आव० अ ४

१. ध्याश० गा ६६

अर्थात् प्रतिक्रमण की इच्छा करता हूँ । (जीव विशेष को) घूल से ढका हो, रगड़न (श्लेषित) किया हो ।

—श्लेष युक्त

महावीर और बुद्ध दोनों तथागत थे । तथागत वह है जो तथाता को उपलब्ध है । तथ्य की स्वीकृति का नाम तथाता है ।

प्राचीन समय में युगलिये जोड़े से उत्पन्न हुआ करते थे । जब तक वे युवावस्था को प्राप्त नहीं होते थे तब तक उनमें बहन-भाई का सम्बन्ध रहता था । जब युवावस्था होती तब उनमें स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध हो जाता था । जिस समय ऋषभदेव स्वामी तथा सुमंगला युवावस्था में प्रवेश कर रहे थे, अचानक एक युगलिये की मृत्यु हो गई तब उसकी बहन का ऋषभदेव स्वामी के साथ विवाह हुआ । जो युगलिया मरा था वह उस स्त्री का पति होकर नहीं मरा था अतः भगवान का विधवा विवाह नहीं हुआ था । जो लोग ऋषभदेव स्वामी पर विधवा विवाह का झूठा लाभन लगाकर अपनी पाप वृत्ति को लोगों में प्रचलित करते हुए भगवान को विधवा विवाह से प्रमाण स्वरूप जगत में प्रगट करते हैं यह उनकी बड़ी भारी मूल है । दूसरे के यहाँ से लड़की लाना उसी वक्त से चला है ।

—जैन रत्न भास्कर पृ० २२

चूँकि उस समय युगलिया घर्म टूट चुका था क्योंकि पहले ही पहले एक दिन ताड़ के वृक्ष के नीचे बैठे हुए बहन-भाई युगलिये के जोड़े में ताड़ वृक्ष के फल टूटने से भाई की मृत्यु हो गई अतः वह कन्या इधर उधर भटकने लगी । कई युगलिये उसको लेकर नाभि कुलकर राजा के पास गये । नाभि राजा ने पूर्ण वृतान्त जानकर कहा यह ऋषभ की धर्मपत्नी होवे । फिर उन्होंने उसको अपने पास रख लिया । उसे स्त्री का नाम सुनन्दा था ।

युवावस्था में प्रवेश करने पर, अपने भोगोपभोग कर्मों को अवधिज्ञान से जानकर, सौधर्मन्द्र की प्रेरणा से बड़ी धूम-धाम से सुमंगला व सुनन्दा के साथ भगवान पाणिग्रहण किया और तभी से लोक में विवाह की रीति प्रचलित हुई ।

विवाह के पश्चात् भगवान ने कुछ वर्ष-कम ६ लाख वर्ष तक सुमंगला व सुनन्दा से सुखी पभोग किया । सुमंगला ने भरत-ब्राह्मी को एक साथ जन्म दिया और ४९ युग पुत्रों को जन्मा । सुनन्दा ने बाहुबली व सुन्दरी के जोड़े को उत्पन्न किया ।

फलतः कृष्ण, नील, कापोत लेश्यायें भी दुःखों के धक्के देने लग जाती है ।

हरिभद्र सूरि ने कहा है—

तल्लेश्य—तत्स्थशुभपरिणाम विशेष इति भावना ।

—अणुओ० हारिभद्रीय टीका पृ० १६

अर्थात् प्रशस्त लेश्या—शुभ परिणाम विशेष को भावना कहते हैं । आस के वचन को आगम कहते हैं । मरुदेवी माता हाथी के पीठ पर चढ़ी हुई थी । प्रशस्त अध्यवसाय-विशुद्धमान लेश्या में—शुभ परिणाम में सम्यक्त्व की प्राप्ति हुई । क्षपक श्रेणी की प्राप्ति कर प्रशस्त लेश्या में केवल ज्ञान-केवल दर्शन को प्राप्त किया । कहा है—

पढमाइचउ छलेसा ।

—पंच संग्रह (दि०) अधि २ । गा १८७ पूर्वार्ध

अर्थात् प्रथम गुणस्थान से चौथे गुणस्थान तक छओं लेश्याएं होती है ।

श्रेणिक राजा के तरकायु का बंध होने के बाद प्रशस्त लेश्या-शुभ परिणाम आदि से अनंतानुबंधीय चतुष्क तथा मिथ्यात्व-मिश्र-सम्यक्त्व मोहनीय की प्रकृति का क्षयकर क्षायिक सम्यक्त्व को प्राप्त किया ।

कालान्तर में पानी बरसने के कारण रूप पुद्गल परिणाम को उदक गर्भ कहते हैं । मार्गशीर्ष और पौष मास से लेकर वैशाख तक के महिनों में दिखाई देने वाला सन्ध्या का रंग व मेघ का उत्पाद आदि 'उदक-गर्भ' के निशान है ।^१ कहा है—

पौषे समार्गशीर्षे सन्ध्या रागोऽम्बुदा सपरिवेष ।

नात्यर्थ मार्गशिरे शीत पौषेऽतिहिमपातः ॥

अर्थात् मार्गशीर्ष (अगहन) और पौष महिने में सन्ध्या का रंग हो और कुण्डाला युक्त में होना और इस महिने में ठण्ड न पड़े और पौष महिने में बर्फ बहुत पड़े, ये सब उदक गर्भ के निशान है ।

१. भग० श २ । उ ५ । सू ८१

प्राणियों की हत्या से रौद्र ध्यान में परायण होकर महाकृष्ण लेश्या में मरण को प्राप्त होकर सुभूमव ब्रह्मचक्रवर्ती तमतमा प्रभा नरक में गए ।

जब मिथ्यात्वी शुभ लेश्यादि से तीव्र कषाय रहित हो जाता है तब उनमें आत्मोन्मुखता का भाव जागृत होता है ।

लेश्या और अध्यवसाय का घनिष्ठ सम्बन्ध मालूम होता है । क्योंकि मिथ्यात्वी के जाति स्मरण, विभंग ज्ञान की प्राप्ति के समय में अध्यवसायों के शुभतर होने के साथ लेश्या परिणाम भी विशुद्धतर होते हैं । इसी प्रकार अध्यवसायों के अशुभतर होने से लेश्या की अविशुद्धि घटित होती है । ऐसा मालूम देना है कि मिथ्यात्वी के भी छत्रों लेश्याओं में प्रशस्त-अप्रशस्त दोनों प्रकार के अध्यवसाय होते हैं ।

सुकलपाक्षिक जीव भवि ही होते हैं परन्तु कृष्णपाक्षिक अभवि ही नहीं । भवि जीव सुकलपाक्षिक व कृष्णपाक्षिक दोनों होते हैं । लेश्या कृष्णपाक्षिक में भी छत्रों हो सकती है । सुकलपाक्षिक में भी छत्रों ।

कहीं-कहीं तिर्यंच का आयुष्य भी शुभ प्रकृति पुष्य प्रकृति के अन्तर्गत माना है । आचार्य अभितगति ने कहा है ।

तिर्यङ्गूनरसुरायुं षि संति सन्त्यकर्मसु ॥२३६॥

×

×

×

तिर्यङ्गमर्त्याभरायूं षि तत्प्रायोग्य विशुद्धितः ।

—पांच सं० (दिग्) परिच्छेद ४

स्वाध्याय-बारह प्रकार के तपों में एक तप है । यह आर्यन्तर तप है । स्वाध्याय के पांच प्रकार में से एक अनुप्रेक्षा (भावना) भी है । जब अनुप्रेक्षा भावना में परिवर्तन होता रहता है तब तक वह स्वाध्याय तप है भावना का एक निष्ठ होना ध्यान कहलाता है । ध्यान भी एक तप है । स्वाध्याय निसरणी की तरह है । निसरणी के द्वारा ऊपर की वस्तु तक पहुँच सकते हैं । उसी प्रकार स्वाध्याय ध्यान के लिए आलम्बन है । अनित्य आदि बारह भावनायें है । स्वाध्याय रूप भावनायें तीन प्रशस्त लेश्या का प्रवर्तन होता है—

१—अनित्य भावना के द्वारा भरत चक्रवर्ती ने केवल्य ज्ञान प्राप्त किया ।

२—अशरण भावना के द्वारा अनाथी मुनि ने संयम ग्रहण किया ।

- ३—संसार भावना के द्वारा शालिभद्र ने संयम ग्रहण किया ।
- ४—एकत्व भावना के द्वारा नमिरारज्घि ने संयम ग्रहण किया ।
- ५—अन्यत्व भावना के मृषा पुत्र ने संयम ग्रहण किया ।
- ६—अशुचि भावना से सनतकुमार चक्रवर्ती ने संयम ग्रहण किया ।
- ७—आस्रव भावना से इलायमी पुत्र ने अपना कल्याण किया ।
- ८—संबव भावना से हरिकेशी ने जीवन सुधारा ।
- ९—निर्जरा भावना से अर्जुल माली ने अपना कार्य सिद्ध किया ।
- १०—लोक भावना से शिवरारज्घि ने अपना जीवन कल्याण किया ।
- ११—त्रोधिदुर्लभ भावना से ऋषभदेव के अठानवें पुत्रों ने कल्याण किया ।
- १२—धर्म भावना से धर्मघोष आचार्य के शिष्य धर्मलुचि अणगार सर्वार्थ सिद्ध में उत्पन्न हुए ।

णो इन्द्रियगोष्ठम् अमुत्तभावा ।

अमुत्तभावा वि य द्दोइ णिच्चो ॥

—उत्त० अ १४ । गा १६ पूर्वार्ध

जीव व आत्मा निराकार है—अरूपी है अतः इन्द्रियों द्वारा इसका बोध नहीं हो सकता है, न इसमें रंग है, न गन्ध है, न स्वाद है और न स्पर्श है और निराकार होने से ही इसका (जीव का) अविनाशी होना निश्चित है ।

णाणं च दसणं चैव, चरित्तं च तवो तथा ।

वीरियं उवओगो य, एवं जीवस्स लक्खणं ॥

—उत्त० अ २८ । गा ११

ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, वीर्य और उपयोग—ये जीव के विशिष्ट लक्षण हैं ।

धम्मो मंगलमुक्किद्धं ।

—दशव० अ १ । गा १ पूर्वार्ध

धर्म सर्व प्रकार के मांगलिक कार्यों में श्रेष्ठ है ।

मांगलिक कार्य—(१) शुद्ध मांगलिक, (२) अमांगलिक, (३) चमत्कार मांगलिक, (४) क्षय मांगलिक व (५) सदा मांगलिक ।

धर्म के तीन भेद या रूप कहे गये हैं—अहिंसा, संयम तथा तप ।

अहिंसा संजमो तवो ।

—दशवे० अ १ । गा १ पूर्वार्ध

साधु—पांच लक्षण वाले को साधु कहते हैं । साधु के पांच लक्षण कहे गये हैं—

१—भ्रमर के समान आहार वृत्ति । वृक्ष के फूल के रस को भ्रमर मर्यादा सहित ग्रहण करता है, इतना ही रस ग्रहण करता है, जितना ग्रहण करने से पुष्प का क्षय न हो । भ्रमर रसपान करता हुआ फूल को किसी प्रकार का कष्ट नहीं देता और इस प्रकार निर्दोष भाव से अपनी आत्मा, शरीर (भाव) को वृत्त करता है ।

जहा तुमस्स पुप्फेसु, भमरो आवियइ रसं ।

न य पुप्फं किलामेइ, सो थ पीणेइ अत्पपयं ॥

—दशवे० अ १ । गा २

२—तत्त्व का ज्ञान—सूत्र-शास्त्र की जानकारी (खमा बुद्धा)

३—भाई, पुत्र आदि कुलादि के प्रतिबन्ध से रहित-निवृत्ति (अणिस्सिया)

४—नाना गृहस्थों से, एक से ही नहीं, आहार ग्रहण (नाणापिडरया)

५—इन्द्रिय-दमन—(दंता)

त्यागी—भोग की वस्तुओं के नहीं होने से (वत्थं गंधमंलकार इत्थिओ सयणा णि य), नहीं मिलने से (अच्छंदा) जो उनका (स्त्री) (पर्यकादिक) उपभोग नहीं कर सकता-भाव—लेकिन इच्छा करता है (जे न भुंजति) उसको त्यागी नहीं कहते हैं । लेकिन जो प्रिय और इष्टकारी भोग की वस्तु के होते हुए भी, मिलने पर भी स्वाधीन भाव से उसका त्याग करते हैं उनको त्यागी कहते हैं ।

प्रवचन सारोद्धार में कहा है—

इं दिय ५, बल ३, ऊसासा १ उ १ पाण चउ छक्क सत्त अट्टे व ।

इगि विगल असन्नी सन्नी नव दस पाणा य बोद्ध्वा ॥

—प्रवसा० गा १०६६

पांच इन्द्रिय बलप्राण ५, मनो-वचन-कायबल प्राण ३, श्वासोच्छ्वास और आयुष्य—ये दस प्राण हैं। एकेन्द्रिय में चार प्राण, विकलेन्द्रिय में छः, सात, आठ, असंज्ञी में ६ व संज्ञी में १० प्राण होते हैं।

नौ प्राण के धारक सलेशी ही होते हैं लेकिन आयुष्य प्राण के धारक अलेशी भी होते हैं। आगम में क्रमवद्ध दस प्राणों की व्याख्या नहीं मिलती है।

लेश्या ध्यान भावधारा को बदलने की प्रक्रिया है। भावधारा व्यक्ति की आत्मा को शुभाशुभ में प्रेरित करती है। अशुभ भाव से अशुभ क्रिया होती है और शुभ भाव से शुभ क्रिया। प्रत्येक शुभाशुभ भाव का अपना रंग होता है। जैसे भाव उत्पन्न होते हैं वैसे ही रंग का निर्माण होता है। इन रंगों से हमारी आत्मा प्रभावित होती है तथा तथानुरूप क्रिया करने लगती है। लेश्या ध्यान में रंगों का अवलम्बन लेकर आन्तरिक रंगों में बदलाव लाया जाता है। आगम साहित्य में तीन अशुभ लेश्याएं मानी गई हैं—कृष्ण, नील और कापोत। तेज, पद्म और शुक्ल—ये तीन शुभ लेश्याएं मानी गई हैं। प्रशस्त-शुभ लेश्याओं से व्यक्ति की चित्तधारा धर्म की ओर अभिमुख होती है। लेश्या ध्यान में कलर रंग के माध्यम से चित्त की शुभधारा में प्रस्थापित किया जाता है।

श्रमविध्वंसन की हुंडी में श्री मज्जयाचार्य ने पंच आस्रवद्वार को कृष्ण लेश्या का लक्षण कहा है।^१

भारतीय संस्कृति, जीवन दर्शन और साधना के विकास में भगवान महावीर तथा भगवान बुद्ध का अनन्य योगदान रहा है। श्रमण-परम्परा, जिसका आधार बोध के साथ शम, सम एवं श्रम रहा है, के दोनों देवीप्यमान प्रकाश-स्तम्भ थे।

संस्कृत में 'पश्य' एक स्वतन्त्र धातु नहीं है। 'दृश्' धातु को 'पश्य' आदेश होता है। प्राकृत और पालि, जो प्राकृत का ही एक रूप है, जो दृश् व 'पश्य' दोनों धातुएं विद्यमान हैं।

ज्ञानार्णव का दूसरा नाम योगार्णव है। इसमें योगीश्वरों के आचरण करने योग्य, जानने योग्य सम्पूर्ण जैन सिद्धान्त का रहस्य भरा हुआ है।

'करकंकन को आरसी क्या' अर्थात् पाठक स्वयं इसका अध्ययन करके लाभ लेंगे।

१. आस्रवाधिकार बोल नं० २

हमने लेश्या कोश एक पठनीय और मननीय कोश बनाने की भरपूर चेष्टा की है ।

जब ऋषभदेव के द्वारा पुत्रों की बटवारा किया गया उस समय नमि-विनमि दो पुत्र नहीं थे । उनके दीक्षित होने के बाद वे पीछे पड़ गये । तपस्या की । धरणेन्द्र का आवागमन हुआ । उसने भगवान की जीभ में प्रवेश कर बोला कि तुम दोनों की बैताद्वय पर्यंत की उत्तर-दक्षिण दिशा का राज्य सौंपता हूँ । वे वास्तव में समझे कि ऋषभदेव का आदेश हो गया । वे जाकर बस गये ।

रोग की उत्पत्ति के नौ कारण हैं, यथा—आराम तलब (२) अहितकर आसन पर बैठना (३) निद्रा (४) अति जागरण (५) मूत्र के वेग को रोकना (६) उच्चार (प्रश्रवण) को रोकना (७) पंथगमन (८) भोजन की प्रतिकूलता (९) अति भोग विलास करना ।

मूत्र के वेग को रोकने से आँख की रोसनी कमजोर पड़ती है । मल की बाधा को रोकने से मृत्यु को बुलावा देना है ।

भय कोई मूल समस्या नहीं है । मूल समस्या है कषाय, मूल समस्या है राग द्वेष, मूल समस्या है क्रोध, मान, माया और लोभ । भय, रति, अरति, शोक, जुगुप्सा ये मूल समस्याएँ नहीं हैं । ये नौ कषाय हैं, कषाय की उपजीवी समस्याएँ हैं, दूसरे के सहारे पनपने वाली समस्याएँ हैं । राग और लोभ की उपजीवी समस्या है भय ।

प्रमाद और साधना में जन्मजात वैर है । नेवला और साँप जन्मजात वैरी हैं । नेवला सतत जागरूक रहता है और उसी जागरूकता के कारण विजयी बनता है । साँप बार-बार डंक मारता है और नेवला हर बार जंगल में जाता है, जड़ी का सेवन कर विष को दूर कर पुनः तरोताजा होकर लौट आता है । आखिर साँप लड़ते-लड़ते थक कर परास्त हो जाता है । नेवला विजयी बन जाता है । अतः जीवन के लिए भी ज्ञान और आचार दोनों का योग जरूरी है ।

केवली समुद्धात के आठों समय में केवल काय योग होता है परन्तु लेश्या एक शुक्ल होती है । मन व वचन योग के अभाव में भी शुक्ल लेश्या हो सकती जीव परिणाम के दस भेदों में एक भेद है—लेश्या परिणाम ।

दण्डक और लेश्या—किसके कितनी लेश्या

नारकी में—प्रथम तीन लेश्या ।

रत्नप्रभा नारकी में—कापोत लेश्या ।

शर्कराप्रभा नारकी में—कापोत लेश्या ।

बालूकाप्रभा नारकी में—कापोत-नील लेश्या ।

पंकप्रभा नारकी में—नील लेश्या ।

धूमप्रभा नारकी में—नील-कृष्ण लेश्या ।

तमप्रभा नारकी में—कृष्ण लेश्या ।

महातमप्रभा नारकी में—कृष्ण लेश्या ।

तियंच में—छओं लेश्या ।

एकेन्द्रिय में—प्रथम चार लेश्या ।

पृथ्वीकाय में—प्रथम चार लेश्या ।

अपकाय में—प्रथम चार लेश्या ।

वनस्पतिकाय में—प्रथम चार लेश्या ।

तेजकाय में—प्रथम तीन लेश्या ।

वायुकाय में—प्रथम तीन लेश्या ।

वेद्न्द्रिय में—प्रथम तीन लेश्या ।

तेद्न्द्रिय में—प्रथम तीन लेश्या ।

चतुरिन्द्रिय में—प्रथम तीन लेश्या ।

पंचेन्द्रिय तियंच में—छओं लेश्या ।

समुच्छ्रित पंचेन्द्रिय तियंच में—प्रथम तीन लेश्या ।

गर्भज पंचेन्द्रिय तियंच में—छओं लेश्या ।

गर्भः पंचः स्त्री में—छओं लेश्या ।

मनुष्य में—छओं लेश्या ।

मनुष्य पुरुष में—छओं लेश्या ।

मनुष्य स्त्री में—छओं लेश्या ।

समुच्छ्रित मनुष्य में—प्रथम तीन लेश्या ।

गर्भज मनुष्य में—छओं लेश्या ।

कर्मभूमिज पुरुष में—छओं लेश्या ।

कर्मभूमिज स्त्री में—छओं लेश्या ।

भरत-ऐरावत क्षेत्र पुरुष में—छओं लेश्या ।

भरत-ऐरावत क्षेत्र स्त्री में—छओं लेश्या ।

पूर्व-पश्चिम महाविवेह के पुः में—छओं लेश्या ।

- पूर्व-पश्चिम महाविवेह की स्त्री में—छाओं लक्ष्या ।
 अर्कमभूमिज पुः स्त्री में—प्रथम चार लक्ष्या ।
 अंतर्द्वीपज पुः स्त्री में—प्रथम चार लक्ष्या ।
 देवों में—छाओं लक्ष्या ।
 देवी में—प्रथम चार लक्ष्या ।
 भवनवासी देव में—प्रथम चार लक्ष्या ।
 भवनवासी देवी में—प्रथम चार लक्ष्या ।
 व्यंतर देव में—प्रथम चार लक्ष्या ।
 व्यंतर देवी में—प्रथम चार लक्ष्या ।
 ज्योतिषी देव में—तेजु लक्ष्या ।
 ज्योतिषी देव में—तेजु लक्ष्या ।
 वैमानिक देव में—शेष तीन लक्ष्या ।
 वैमानिक देवी में—तेजु लक्ष्या ।
 सौधर्म-ऐशान देव तथा देवी में—तेजु लक्ष्या ।
 सानत्कुमार देव में—पद्म लक्ष्या ।
 माहेन्द्र देव में—पद्म लक्ष्या ।
 ब्रह्मलोक देव में—पद्म लक्ष्या ।
 लान्तक से स्वार्थ-सिद्ध देवों में—शुक्ल लक्ष्या ।
 केवली में—शुक्ल लक्ष्या ।
 संयोगी केवली में—शुक्ल लक्ष्या ।
 अयोगी केवली में—अलेशी—लेख्यारहित ।
 तीर्थकर में—शुक्ल लक्ष्या ।
 अयोगी तीर्थकर में—अलेशी—लेख्यारहित ।
 पुलाक साधु में—शेष तीन लक्ष्या ।
 बकुश साधु में—छाओं लक्ष्या ।
 प्रतिसेवना कुशील में—छाओं लक्ष्या ।

नोट—बकुश व प्रतिसेवना कुशील में तीन लक्ष्या का भी उल्लेख है ।

कषाय कुशील में ^१	तीन प्रशस्त लक्ष्या (तत्त्वार्थ भाष्य)
निर्ग्रन्थ में	शुक्ललक्ष्या
स्नातक में	शुक्ललक्ष्या
सामायिक चारित्र में	छः लक्ष्या
छेदोपस्थापनीय चारित्र में	छः लक्ष्या

१. छः लक्ष्या होती है—भग० श २५ । उ ६

परिहारविशुद्ध चारित्र में	तीन प्रशस्तलेश्या
सूक्ष्मसंपराय चारित्र में	शुक्ललेश्या
यथाव्याप्त चारित्र में	शुक्ललेश्या व अलेशी
प्रथम गुणस्थान में	छः लेश्या
द्वितीय गुणस्थान में	छः लेश्या
तृतीय गुणस्थान में	छः लेश्या
चतुर्थ गुणस्थान में	छः लेश्या
पंचम गुणस्थान में	छः लेश्या
षष्ठम गुणस्थान में	छः लेश्या
सप्तम गुणस्थान में	तीन प्रशस्तलेश्या
अष्टम गुणस्थान में	शुक्ललेश्या
नवम गुणस्थान में	शुक्ललेश्या
दशम गुणस्थान में	शुक्ललेश्या
ग्यारहवां गुणस्थान में	शुक्ललेश्या
बारहवां गुणस्थान में	शुक्ललेश्या
तेरहवां गुणस्थान में	शुक्ललेश्या
चौदहवां गुणस्थान में	अलेशी—लेश्यारहित

श्री मञ्जयाचार्य ने कहा है—

- १—कषाय कुशील नियण्ठा में छः लेश्या कही ।
- २—सामाधिक चारित्र, छेदोस्थापनीय चारित्र में छः लेश्या पावे ।
- ३—च्यार ज्ञान वाला साधु में पिण कृष्णलेश्या कही छे ।
- ४—कृष्ण, नील अने कापोतलेश्या में च्यार ज्ञान की भजना कही ।
- ५—कृष्णादि तीन लेश्या प्रमादी साधु में हुवें ।
- ६—तेजो-पद्मलेश्या सरागी में हुवें ।
- ७—संयती में पिण कृष्णलेश्या हुवें ।

अलेशी, सलेशी, कृष्णलेशी यावत् शुक्ललेशी जीवों में कौन किससे
अल्पबहुत्व, तुल्य या विशेषाधिक है—

- १—सबसे कम जीव शुक्ललेश्या वाले होते हैं ।
- २—इससे पद्मलेश्या वाले जीव संख्यातगुणा है ।
- ३—इनसे तेजुलेश्या वाले जीव असंख्यातगुणा है ।

१. भ्रम विष्वंसन की हंडी, लेश्याऽधिकार

- ४—इनसे लेइयारहित जीव अनन्तगुणा हैं ।
- ५—इनसे कापोतलेइया वाले जीव अनन्तगुणा हैं ।
- ६—इनसे नीललेइया वाले जीव विशेषाधिक है ।
- ७—इनसे कृष्णलेइया वाले जीव विशेषाधिक है ।
- ८—इनसे सलेशी जीव विशेषाधिक है ।

नारकी जीवों में—

- १—सबसे कम कृष्णलेइया वाले होते हैं ।
- २—इनसे नीललेइया वाले असंख्यातगुणा हैं ।
- ३—इनसे कापोतलेइया वाले असंख्यातगुणा हैं ।

तिर्यञ्चयोनिक जीवों में—

- १—सबसे कम जीव शुक्ललेइया वाले होते हैं ।
- २—इनसे पद्मलेइया वाले जीव संख्यातगुणा हैं ।
- ३—इनसे तेजुलेइया वाले जीव संख्यातगुणा हैं ।
- ४—इनसे कापोतलेइया वाले जीव अनन्तगुणा हैं ।
- ५—इनसे नीललेइया वाले जीव विशेषाधिक हैं ।
- ६—इनसे कृष्णलेइया वाले जीव विशेषाधिक हैं ।

एकेन्द्रिय जीवों में—

- १—सबसे कम तेजुलेइया वाले जीव होते हैं ।
- २—इनसे कापोतलेइया वाले जीव अनन्तगुणा हैं ।
- ३—इनसे नीललेइया वाले जीव विशेषाधिक हैं ।
- ४—इनसे कृष्णलेइया वाले जीव विशेषाधिक हैं ।

पृथ्वीकायिक जीवों में—

- १—सबसे कम तेजुलेइया वाले जीव होते हैं ।
- २—इनसे कापोतलेइया वाले जीव असंख्यातगुणा हैं ।
- ३—इनसे नीललेइया वाले जीव विशेषाधिक हैं ।
- ४—इनसे कृष्णलेइया वाले जीव विशेषाधिक हैं ।

अष्कायिक जीवों में—

पृथ्वीकायिक जीवों की तरह जानना चाहिए ।

अग्निकायिक जीवों में—

१—सबसे न्यून कापोतलेशी अग्निकायिक जीव, उनसे नीललेशी विशेषाधिक, तथा उनसे कृष्णलेशी विशेषाधिक है ।

वायुकायिक जीवों में—

वायुकायिक जीवों की अल्पबहुत्व अग्निकायिक जीवों की तरह जानना चाहिए ।

वनस्पतिकायिक जीवों में—

सलेशी वनस्पति जीवों में अल्पबहुत्व अधिक सलेशी एकेन्द्रिय जीवों की तरह जानना चाहिए ।

द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रिय जीवों में—

सलेशी द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय तथा चतुरिन्द्रिय जीवों के अपने-अपने अल्पबहुत्व अग्निकायिक जीवों की तरह जानना चाहिए ।

पंचेन्द्रिय तिर्यञ्चयोनिज जीवों में—

सबसे कम शुक्ललेशी जीव है, उनसे पद्मलेशी जीव संख्यातगुणे, उनसे तेजो-लेशी जीव संख्यातगुणे, उनसे कापोतलेशी जीव असंख्यातगुणे, उनसे नीललेश्या वाले जीव विशेषाधिक, उनसे कृष्णलेश्या वाले जीव विशेषाधिक है ।

मनुष्यों में—

पंचेन्द्रिय तिर्यञ्चयोनिज की तरह अल्पबहुत्व जानना चाहिए ।

देवों में—

शुक्ललेशी देव सबसे कम, उनसे पद्मलेशी असंख्यातगुणे, उनसे कापोतलेशी असंख्यातगुणे, उनसे नीललेशी विशेषाधिक, उनसे कृष्णलेशी विशेषाधिक, उनसे तेजोलेशी देव संख्यातगुणे होते हैं ।

अलेशी से सलेशी जीव अनंतगुणे होते हैं । अलेशी में चौदहवें गुणस्थान वाले व सिद्धों का समावेश है । फिर भी अलेशी अनंत हैं ।

चूंकि लेश्या के द्रव्य और भाव दो प्रकार हैं । यहाँ द्रव्यलेश्या व भावलेश्या का सामान्यतः दिग्दर्शन कराया जाता है ।

चार्ट नं० १—द्रव्यलेश्या सामान्य से

नाम	लेश्या
१—अन्य नाम	कर्मलेश्या, सकर्मलेश्या
२—विशेषण	द्रव्य, कर्म
३—षट् द्रव्यों में	पुद्गल द्रव्य
४—नव तत्त्वों में	अजीव है, पुण्य, पाप-बंध नहीं है
५—वर्गणा	अनन्त, नोकर्म वर्गणा
६—प्रदेश	अनन्त
७—स्थान	असंख्यात
८—क्षेत्र-अवगाह	असंख्यात क्षेत्र प्रदेश में
९—क्षेत्र-पर्याय	अनन्त
१०—परिणाम-शक्ति	तीन, नव, सत्ताइस, इक्कासी, २४३ आदि
११—वर्ण	पांच वर्ण
१२—गन्ध	दो गन्ध-सुगन्ध-दुर्गन्ध
१३—रस	पांच रस
१४—स्पर्श	अष्ट स्पर्श
१५—मुख्य भेद	छः भेद-वर्ण विशिष्टता से छः भेद
१६—संस्थान	विभिन्न प्रकार का संस्थान
१७—रूप	रूपी—वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श होता है
१८—भाव	पारिणाभिक भाव
१९—गुरुलघु या अगुरुलघु	गुरुलघु

चार्ट नं० २—भावलेश्या सामान्य से

नाम	लेश्या
१—अन्यनाम	कर्मलेश्या
२—विशेषण	कर्म, भाव
३—षट् द्रव्यों में	जीव द्रव्य
४—नव तत्त्व में	जीव, आंश्व (योग आश्रव) तथा निर्जरा
५—स्थान	असंख्यात अध्यवसाय के साथ
६—मुख्य भेद	छः भेद-कृष्ण यावत् शुक्ल
७—अष्ट आत्मा में	योग आत्मा
८—रूप	अरूपी (भग० श १२ । उ ५)
९—गुरुलघु या अगुरुलघु	अगुरुलघु

उत्तराध्ययन के टीकाकार धान्तिसूरि ने कहा है—

कर्मद्रव्यलेश्या इति सामान्यऽभिधानेऽपि शरीरनामकर्मद्रव्याण्येव कर्मद्रव्यलेश्या । कार्मणशरीरवत् पृथगेवकर्माष्टकात् कर्मवर्गणा निष्पन्नानि कर्मलेश्या द्रव्यानीति तत्त्वं पुनः ।

—उत्त० अ ३४ । टीका । पृ० ६५०

अर्थात् द्रव्यलेश्या कर्मवर्गणा से बनती है । यह कर्म रूप है परन्तु आठ कर्मों से भिन्न यदि कर्म वर्गणा निष्पन्न न मानी जाय तो यह कर्मस्थिति का विधायक नहीं बन सकती । कर्मलेश्या का सीधा सम्बन्ध शरीर नामकर्म से है । क्योंकि यह शरीर नामकर्म की परिणति है ।

चार्ट नं० ३—लेश्या—दलगत भाव से

	प्रथम तीन लेश्या	पीछे की तीन लेश्या
विशेषण	अधर्म लेश्या अप्रशस्त लेश्या संक्लिष्ट लेश्या अविशुद्ध लेश्या दुर्गतिगामी कर्म लेश्या	धर्म लेश्या प्रशस्त लेश्या असंक्लिष्ट लेश्या विशुद्ध लेश्या सुगतिगामी कर्म लेश्या
स्पर्श	शीत-रूक्ष	स्निग्ध-उष्ण
गन्ध	दुर्गन्ध	सुगन्ध

चार्ट नं० ४—कृष्ण लेश्या

नाम	कृष्ण
वर्ण	काला
रस	कटु
गन्ध	दुर्गन्ध
स्पर्श	शीत-रूक्ष
स्थिति	जघन्य-अन्तर्मुहूर्त, उत्कृष्ट तृतीस सागरोपम अन्तर्मुहूर्त अधिक

चार्ट नं० ५—नील लेश्या

नाम	नील
वर्ण	नीला

रस	तीक्ष्ण
गन्ध	दुर्गन्ध
स्पर्श	शीत-रूक्ष
स्थिति	ज० अन्तमुर्हूर्त, उत्कृष्ट पत्थोपम के असंख्यातवें भाग अधिक १० सागरोपम

चार्ट नं० ६—कापोत लेश्या

नाम	कापोत
वर्ण	काला-लाल रंग मिश्रित
रस	खट्टा
गन्ध	दुर्गन्ध
स्पर्श	शीत-रूक्ष
स्थिति	ज० अन्तमुर्हूर्त, उत्कृष्ट पत्थोपम के असंख्यातवें भाग अधिक तीन सागरोपम

चार्ट नं० ७—तेजो लेश्या

नाम	तेजो, तेजस्
वर्ण	लाल
रस	खट्टमीठा
गन्ध	सुगन्ध
स्पर्श	उष्ण-स्निग्ध
स्थिति	ज० अन्तमुर्हूर्त, उत्कृष्ट पत्थोपम के असंख्यातवें भाग अधिक दो सागरोपम

चार्ट नं० ८—पद्मलेश्या

नाम	पद्म
वर्ण	पीला
रस	फ्रीका मीठा
गन्ध	सुगन्ध
स्पर्श	उष्ण-स्निग्ध
स्थिति	ज० अन्तमुर्हूर्त, उत्कृष्ट अन्तमुर्हूर्त अधिक दस सागरोपम

चार्ट नं० ९—शुक्ल लेश्या

नाम	शुक्ल
वर्ण	सफेद

रस	मधुर
गन्ध	सुगन्ध
स्पर्श	उष्ण-स्निग्ध
स्थिति	ज० अन्तर्मुहूर्त, उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त अधिक ३३ सागरोपम

द्रव्य लेश्या पौद्गलिक है अतः अजीवोदय निश्चय होती है—पयोग परिणामए वण्णे, गंधे, रसे, फासे, सेत्तं अजीवोदय निष्फन्ते (देखें ०५१*१४)

कृष्णादि द्रव्य लेश्या चक्षुमाह्य नहीं है । सर्व बंध है, देश बंध नहीं है, प्रायोगिक पुद्गल है । द्रव्यमन, द्रव्य बचन योग, कार्मण काय योग तथा द्रव्य कषाय चतुस्पर्शी है परन्तु कृष्ण आदि द्रव्य लेश्या, औदारिक आदि प्रथम चार शरीर, अष्ट स्पर्शी है । ये सब प्रायोगिक पुद्गल है । लोक प्रकाश में कहा है—

कषायोद्दीपकत्वेऽपि लेश्यानां न तदात्मता ॥२६१॥

अर्थात् यद्यपि लेश्या के द्रव्य कषाय को उद्दीप्त करते हैं तथापि कषाय के साथ लेश्या का एकात्मक नहीं है । अर्थात् लेश्या कषाय का गुण या लक्षण नहीं है । कषाय से भिन्न पदार्थ है ।

लेश्या कर्मों का निष्पन्न नहीं है क्योंकि ऐसा होने पर अयोगी केवली भी सलेशी कहे जायेंगे ।^१ लेश्या कर्म की स्थिति की हेतु है, ऐसा कोई नहीं मानता है । कर्म की स्थिति का हेतु तो कषाय को ही बताया गया है । लेश्या कषाय की उत्तेजक या सहायक है अतः अनुभाग बन्ध की उपचार से हेतु कही गयी है ।^२

अस्तु प्राचीन आचार्यों ने लेश्या के विवेचन में निम्नलिखित परिभाषाओं पर विचार किया है—

- १—लेश्या योग परिणाम है—योगपरिणामो लेश्या ।
- २—लेश्या कर्मनिष्पन्न रूप हैं—कर्म निष्पन्नो लेश्या ।
- ३—लेश्या कषायोदय से अनुरंजित योग प्रवृत्ति है ।—कषायोदयरंजिता योगप्रवृत्तिलेश्या ।

१. लोक प्रकाश, श्लोक २६२, २६३, २६४
२. लोक प्रकाश, श्लोक २६६, २६७

४—जिस प्रकार अष्ट कर्मों के उदय से संसारस्थत्व तथा असिद्धत्व होता है। उसी प्रकार अष्ट कर्मों के उदय से जीव लेश्यत्व को प्राप्त होता है।

भाव लेश्या जीवोदय निष्पन्न भाव है। अतः कर्मों के उदय से जीव भाव लेश्याएं होती हैं।

हरिभद्रगूरि तथा मलयगिरि की यह मान्यता रही है कि लेश्या द्रव्य योग वर्गणा के अन्तर्गन्त है क्योंकि योग के होने पर लेश्या होती है, योग के अभाव में नहीं। न्याय की भाषा में लेश्या और योग में परस्पर अन्वय और व्यतिरेक भाव है। परन्तु व्यक्तिगत भाव से किसी भी योग का लेश्या के साथ अन्वय-व्यतिरेक नहीं है। अन्तरालगति (अर्थात् एक भव से दूसरे भाव में जाने के बीच के काल को अन्तराल गति कहते हैं) में केवल कर्मण काय योग होता है और योग नहीं होते हैं। छत्रों लेश्याओं में किसी एक योग का सद्भाव अवश्य रहता है।^१ कहा है—

उच्चते इह योगे सति लेश्या भवति । यौगाभावे च न भवति,
ततो योगेन सहान्वयव्यतिरेकदर्शनात् योगनिमित्ता लेश्येति-
निश्चीयते ।

उड़ती हुई या चलती हुई भक्षिका-मच्छर में सिर्फ एक औदारिक काय योग होता है—लेश्या का सद्भाव है। कषायोदय में अनुरंजित योग प्रवृत्ति ही (लेश्या) स्थिति पाक में सहायक बनती है। लेश्या की प्रवृत्ति में किसी न किसी प्रकार का काय योग अवश्य होता है। उपाध्याय श्री विनय विजयजी ने इस पक्ष का समर्थन किया है 'योग परिणामो लेश्या'।

भारतीय दर्शन के महान् चिन्तनकार युगप्रधान आचार्य श्री महाप्रज्ञ ने कहा है—

“लेश्या की शुद्धि हुए बिना जातिस्मृति ज्ञान नहीं हो सकता। लेश्या की शुद्धि हुए बिना अवधिज्ञान नहीं हो सकता। लेश्या की शुद्धि हुए बिना मनःपर्यव ज्ञान नहीं हो सकता और लेश्या की शुद्धि हुए बिना केवल ज्ञान नहीं हो सकता। जो भी अन्तर्ज्ञान उत्पन्न होता है, वह लेश्या की विशुद्धि में ही होता है। लेश्या की शुद्धि के बिना आनन्द का अनुभव नहीं हो सकता। ध्यान आदि के द्वारा जो हम पराक्रम करते हैं कि भावों का संशोधन हो, लेश्या

१. प्रज्ञापना पद १७। टीका पृ० ३३०

की शुद्धि हो। जब लेश्या का रूपान्तरण होता है, तपस्या के द्वारा, ध्यान के द्वारा, चैतन्य केन्द्रों को जागृत करने के द्वारा या चैतन्य केन्द्रों को निर्मल बनाने के द्वारा, तब आन्तरिक शक्तियाँ जागती हैं और वे रसायनों को बदलती हैं और उन आवरणों को दूर करती हैं जो ज्ञान को आवृत्त किये हुए हैं। उसकी घनी-भूत मूर्च्छा को तोड़ती है जो आनन्द को विकृत बनाये हुए हैं।^१

तेजोलेश्या, पद्मलेश्या और शुक्ललेश्या—ये तीन लेश्याएं गर्म और चिकनी हैं। जब इनके स्पर्दन जागते हैं तब व्यक्ति के भाव निर्मल बनते हैं। अभय, मैत्री, शांति, जितेन्द्रियता, क्षमा आदि पवित्र भावों का निर्माण होता है। जब भाव पवित्र होते हैं, निर्मल होते हैं तब विचार भी निर्मल होते हैं × × ×। जिस लेश्या का भाव होता है, वैसे ही विचार बन जाता है। भाव अंतरंग तंत्र है और विचार कर्म तंत्र है।^२

अस्तु औदारिक, औदारिकमिश्र आदि की अपेक्षा लेश्या के सात भेद हैं। या कृष्णादि छः तथा संयोगज सात भेद होते हैं। अजीव नोकर्म द्रव्यलेश्या के दस भेद हैं—यथा—चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र तथा तारा लेश्या, आभरण, छाया, दर्पण, मणि तथा कांकणी लेश्या।^३

ग्राम-घातक का दृष्टान्त

१—कृष्णलेश्या—किसी ग्राम में घन-अनाज आदि में आसक्त होकर ऐसे छः चोरों के स्वामी एकत्रित हुए। उनमें से प्रथम ग्रामघातक ने कहा कि—दो पैर वाले अथवा चार पैर वाले प्राणी, पुरुष, स्त्री, बालक, घर के आदि जो दिखाई दे उन सबको मार गिराओ। इस प्रकार कृष्ण लेश्या का परिणाम समझना चाहिए।

२—नीललेश्या—तब दूसरे पुरुष ने कहा कि मनुष्यों को ही मारना चाहिए, पशुओं को मारने से क्या लाभ है? इस प्रकार का परिणाम नील लेश्या का होता है।

३—कापोत लेश्या—तीसरे ग्रामघातक ने कहा कि पुरुषों को मारना चाहिए, स्त्रियों को मारने से क्या लाभ? इस प्रकार का कापोत लेश्या का परिणाम होता है।

१. आभामंडल-लेश्या। एक विधि है—रसायन परिवर्तन पृ० १६७

२. आभामंडल-लेश्या। एक विधि है—चिकित्सा की पृ० १५३

३. लेश्या कोश पृ० ७५

४—तेजो लेश्या—तब चतुर्थ ग्राम-घातक ने कहा कि शस्त्रयुक्त पुरुष को ही मारना चाहिए, निःशस्त्र को मारने का क्या प्रयोजन है। इस प्रकार तेजोलेश्या का परिणाम जानना चाहिए।

५—पद्मलेश्या—पांचवें ग्राम-घातक ने कहा कि शस्त्र वाला भी जो युद्ध करता है उसको मारना चाहिए दूसरे निरपराधी को मारने से क्या लाभ ? इस प्रकार का परिणाम पद्मलेश्या का समझना चाहिए।

६—शुक्ल लेश्या—छठे पुरुष ने कहा कि अरे ! यह तो योग्यजनक नहीं है क्योंकि प्रथम तो हम चोरी करते हैं फिर बिचारे लोगों को मारना। अतः धन से ही चोरी करना है फिर मनुष्य के प्राणों को क्यों हरण किया जाय। इस प्रकार का परिणाम शुक्ललेश्या का होता है।

जैन तत्त्व प्रवेश में आचार्य मिथु ने कहा—

फोरबी लब्धि अनुकम्पा आणी,
गोशाला ने वीर बचायो।
छः लेश्या छद्मस्थज हुंता,
मोह कर्म वश रागज आयो ॥

—अनुकम्पा ढाल १। गा ८। पृ० २

अर्थात् गोशाला के प्रति अनुकम्पा आने से भगवान महावीर ने शीतल तेजो लब्धि (लेश्या) का प्रयोग किया। क्योंकि उस समय भगवान छद्मस्थ थे—छः लेश्या थी। अस्तु मोह के कारण यह सावध कार्य किया।^१

एक आचार्य के शिष्य को कुल, दो आचार्य के शिष्य को गण, अनेक आचार्य के शिष्य को संघ कहा, साधार्मिक सर्वसाधु जानना चाहिए।

छठों लेश्याओं में से किसी भी लेश्या को आये हुए केवल एक समय हुआ हो तो उस समय कोई भी जीव भृत्यु को प्राप्त नहीं होता। भृत्यु के समय पर आगामी जन्म के लिए जब इस आत्मा का लेश्याओं में परिवर्तन होता है उस समय किसी भी लेश्या के प्रथम व अन्तिम समय में किसी भी जीव की उत्पत्ति नहीं होती।

१. 'भगवान शीतल तेजू लब्धि करी गोशाले ने बचायो तिहा अणु-कम्पणडाए' पाठ कइयो।

—भ्रमविध्वंसन की हुंडी अधि० ३। ४४

बासठिया के थोकड़े में लेश्या सम्बन्धित विवेचन भी है । इकवीस द्वार के १०२ बोल है । लेश्या का विवेचन इस प्रकार मिलता है ।

जीव के भेद	गुणस्थान	योग	उपयोग	भाव	आत्मा
सलेशी में १४	१३	प्रथम १५	१२	५	८
कृष्णलेशी में १४	६	प्रथम १५	१०	केवलज्ञान ५	८
			केवलदर्शन बाद		
नीललेशी में १४	६	प्रथम १५	५	५	८
कापोतलेशी में १४	६	प्रथम १५	५	५	८
तेजूलेशी में ३ (३, १३, १४वां)	७	प्रथम १५	५	५	८
पद्मलेशी में २ (१३, १४वां)	७	प्रथम १५	५	५	८
शुक्ललेशी में २ (१३, १४वां)	१३	प्रथम १५	१२	५	८
अलेशी में १ (चौदहवां)	१	चौदहवां नहीं	२	केवलज्ञान ३	६
			केवलदर्शन (उदय, योग धायिक कषाय तथा पारिणामिक) बाद		

सलेशी, कृष्णलेशी यावत् शुक्ललेशी में लब्धि ५, वीर्य ३ (पंडित, बाल-पंडित, बाल), दृष्टि ३, भवि-अभवि दोनों है, कृष्णपाक्षिक, शुक्लपाक्षिक दोनों है । दंडक—सलेशी में २४, कृष्णलेशी, नीललेशी, कापोतलेशी में २२ दंडक (ज्योतिषी वैमानिक बाद), तेजूलेशी में दंडक १८ (तीन धिकलेन्द्रिय नारकी, अभिकाय-वायुकाय बाद) तथा पद्मलेशी व शुक्ललेशीमें ३ दंडक २०वां, २१वां, २४वां, तिर्यच पंचेन्द्रिय, तिर्यच मनुष्य तथा वैमानिक देव ।

श्री मज्जयाचार्य ने भ्रमविष्वंसनम् के लेश्याधिकार में छद्मस्थ तीर्थङ्कर में कषाय कुशील नियण्ठा कहा है तथा कषाय कुशील नियंठा (निश्रन्ध) में छद्म लेश्या कही है । आवश्यक सूत्र अध्ययन ४ में छद्म लेश्या के लक्षणों का भी विवेचन है ।

लेश्या और जीव भेदों की अपेक्षा गति-आगति

गति का अर्थ है—जाना तथा आगति का अर्थ किस गति से आया है ।

जीव के ५६३ भेदों की तालिका इस प्रकार है—१४ भेद-सात नारकी के पर्याप्त-अपर्याप्त ।

४८ तिर्यञ्च के

- ४—सूक्ष्म-बादर पृथ्वीकाय के पर्याप्त-अपर्याप्त ।
- ४—सूक्ष्म-बादर अप्काय के पर्याप्त-अपर्याप्त ।
- ४—सूक्ष्म-बादर अग्निकाय के पर्याप्त-अपर्याप्त ।
- ४—सूक्ष्म-बादर वायुकाय के पर्याप्त-अपर्याप्त ।
- ६—सूक्ष्म-बादर-प्रत्येक साधारण के पर्याप्त-अपर्याप्त ।
- ६—द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय के पर्याप्त-अपर्याप्त ।

२०—जलचर, स्थलचर, उरपर, भुजपर, खेचर—ये पाँच प्रकार के तिर्यञ्च पंचेन्द्रिय के संज्ञी-असंज्ञी दो-दो भेद है—उनके पर्याप्त-अपर्याप्त ।

३०३—मनुष्य के

२०२ संज्ञी मनुष्य—१५ कर्मभूमिज, ३० अकर्मभूमिज तथा ५६ अंतर्द्वीपज—
ये १०१ के पर्याप्त-अपर्याप्त ।

१०१ असंज्ञीमनुष्य जो संज्ञीमनुष्य के मल-मूत्रादि १४ चौदह स्थानक में उत्पन्न होते हैं अपर्याप्त अवस्था में ही मरते हैं । पर्याप्त अवस्था नहीं आती है ।

१६८—देवों के

- १—१० भवनपति, १५ परमाधामी, १६ वाणव्यन्तर,
- १० तिर्यक्जृम्भक, १० ज्योतिषी, ३ किल्बिषी,
- ६ लौकान्तिक, १२ सौधर्मादि देव तथा ६ ग्रंथेयक,
- ५ अनुत्तरौपातिक देव ।

मोट—५६३ भेद

आगति

कृष्णलेशी जीव
कृष्णलेशी में उत्पन्न
हो तो

३१६—१५ कर्मभूमिज
मनुष्य के
पर्याप्त-अपर्याप्त
४८ तिर्यञ्च के
१०१ असंज्ञी मनुष्य
एवं १७६ लड़ी का,

		५१ जाति के देव, ८६ प्रकार के १ युगलिये तथा ३ नारकी (पांचवीं, छट्टी-सातवीं) के पर्याप्त । एवं (१७६ + १४० = ३१६)
गति	५१ जाति के देव, ८६	
४५६	युगलिये, ३ नारकी (पांचवीं, छट्टी, सातवीं) के पर्याप्त अपर्याप्त	
	२८० तथा १७६ लड़ीका एवं ४५६	
नीललेशी जीव	आगति	
नीललेशी में उत्पन्न हो तो	३१६	१७६ लड़ीका, ५१ प्रकार के देव, ८६ युगलिये, ३ नारकी (तीसरी, चौथी, पांचवीं) के पर्याप्त
	गति	ऊपरवत्, नारकी तीसरी, चौथी, पांचवीं
	४५६	
कापोतलेशी जीव	गति	ऊपरवत् परन्तु नारकी पहली, दूसरी व तीसरी
कापोतलेशी में उत्पन्न हो तो	३१६	
	गति	ऊपरवत् परन्तु नारकी पहली से तीसरी तक
	४५६	
	आगति	गति
तेजोलेशी जीव	१६०—६४ गति के देव	३४३-१०१ संज्ञी
तेजोलेशी में उत्पन्न हो तो	८६ युगलिये के पर्याप्त और १५ कर्म भुभिज मनुष्य, ५ संज्ञी तिर्यंच पंचेन्द्रिय के पर्याप्त-अपर्याप्त एवं १६०	मनुष्य, ५ संज्ञी तिर्यंच पंचेन्द्रिय ६४ गति के २ देव के पर्याप्त अपर्याप्त व पृथ्वी-अप् वनस्पतिकाय के अपर्याप्त एवं ३४३
१. ५१ जाति के देव, १० भवनपति, १५ परमाधामी, १६ वाणव्यंतर १० तिर्यक् जृम्भक एवं ५१		
८६ युगलिये—३० अकर्मभूमिज व ५६ अंतर्द्वीपज, एवं ८६		
२. ६४ जाति के देव, १० भवनपति, १५ परमाधामी, १६ वाणव्यंतर, १० तिर्यक् जृम्भक, १० ज्योतिषी, सौधर्म-ईशान देव, १ किल्विषी, एवं ६४ जाति के देव		

पद्मलेशी जीव
पद्मलेशी में
उत्पन्न हो तो

५३-१५ कर्मभूमिज
मनुष्य, ५ संज्ञी तिर्यच
पंचेन्द्रिय के पर्याप्त-अपर्याप्त
६ लौकान्तिक, दूसरा
किल्बिषी सानतकुमार,
माहेन्द्र ब्रह्मदेव के पर्याप्त ३
एवं ५३

६६-१५ कर्मभूमिज
मनुष्य, ५ संज्ञी
तिर्यच पंचेन्द्रिय
६ लौकान्तिक दूसरा
किल्बिषी व सनतकुमार
से ब्रह्मदेव के पर्याप्त-
अपर्याप्त एवं ६६

शुक्ललेशी जीव
शुक्ललेश्या में
उत्पन्न हो तो

६२-१५ कर्मभूमिज मनुष्य,
५ संज्ञी तिर्यच पंचेन्द्रिय
के पर्याप्त-अपर्याप्त
२१ देव (छट्टे से सर्वार्थ
सिद्ध तक व तीसरा
किल्बिषी के पर्याप्त
एवं ६२

८४-१५ कर्मभूमिज
मनुष्य, ५ संज्ञी तिर्यच
पंचेन्द्रिय, तीसरा
किल्बिषी व छट्टे से
सर्वार्थसिद्ध देव तक के
पर्याप्त-अपर्याप्त
एवं ८४

अस्तु चैतसिक विचार के अनुरूप पौद्गलिक विचार होते हैं अथवा पौद्गलिक विचार के अनुरूप चैतसिक विचार होते हैं । यह एक जटिल प्रश्न है । इसके समाधान के लिए लेश्या की उत्पत्ति पर ध्यान देना आवश्यक हो जाता है । आचार्य अभयदेव ने कहा है—

शैलेशी करणे योगनिरोधाद् नो एजते ।

—ठाण० स्था ३ । उ ३ । सू १६० । टीका

अर्थात् योग का निरोध होने के कारण शैलेशीकरण की अवस्था में (चौदहवें गुणस्थान में) एजनादि क्रिया नहीं होती है ।

पचीस बोल की चरचा में लेश्या के विषय में इस प्रकार उल्लेख है—

१—एक लेश्या किसमें
२—दो लेश्या किसमें
३—तीन लेश्या किसमें
४—चार लेश्या किसमें
५—पांच लेश्या किसमें
६—छः लेश्या किसमें

तेरहवें गुणस्थान में
तीसरी नारकी में (कापोत नील)
अभिकाय में (कृष्ण-नील कापोत)
पृथ्वीकाय में (पद्म-शुक्ल बाद)
सन्यासी की गति देव में प्रथम पांच लेश्या
सर्व जीवों में

यद्यपि देवायु और देवगति नाम कर्म के उदय से सभी धर्मानिक देव हैं परन्तु उनमें लेश्यादि बहुत-सी बातों में हीनाधिकता पाई जाती है।^१ उनमें एक लेश्या-विशुद्धि है। यह विवेचन द्रव्यलेश्या की अपेक्षा है।

स्थानांग सूत्र में दस प्रकार की संज्ञाओं का उल्लेख मिलना है।

१—आहार	६—मान
२—भय	७—माया
३—मैथुन	८—लोभ
४—परिग्रह	९—लोक
५—क्रोध	१०—ओष

आसक्ति विशेष को संज्ञा कहते हैं। आसक्ति में किसी न किसी प्रकार की लेश्या होती है। आगम में कहा है—

अप्या दंतो सुही होइ अरिसं लोए परत्थय ।

अर्थात् आत्म-विजेता ही इस लोक और परलोक में सुखी होता है।

भगवान महावीर ने जातिवाद को सर्वथा अतात्त्विक बताया है। उत्तरा-ध्यायन में कहा है—

‘कम्मुणा होइ बम्भणो, कम्मुणा होइ खत्तिओ ।
वइओ कम्मुणा होइ, सुइओ हवइ कम्मुणा’ ॥

अर्थात् मनुष्य कर्म से ब्राह्मण, कर्म से क्षत्रिय होता है। वंश्य और क्षुद्र भी कर्म से होता है। यौगलिक काल में सगे भाई व बहिन की शादी होती थी। यह कुल धर्म था। दस प्रकार के कर्मों में कुल धर्म पांचवा धर्म है। कुल धर्म का तात्पर्य है—कुल की व्यवस्थाओं, परम्पराओं तथा विधि-निषेधों का पालन। धर्म की निम्नलिखित व्याख्यायें की जाती हैं—

- १—आत्मशुद्धि का साधन आत्म धर्म है।
- २—समाज, नगर, राष्ट्र आदि की व्यवस्था लोकाचार धर्म।
- ३—गति सहायक द्रव्य-धर्म।
- ४—स्वभाव धर्म है।

मद, विषय, कषाय, निद्रा-विकथा ये अशुभयोग आश्रव के भेदों में हैं। इनमें अप्रशस्त लेश्याएं होती हैं। ये अशुभ योग रूप आश्रव छूटने गुणस्थान तक हैं। आचार्य हेमचन्द्र ने भगवान महावीर की स्तुति में कहा है—

प्रतिक्षणोत्पाद-विनाशयोगि, स्थिरैकमध्यक्षमपीक्षमाणः ।
जिन ! त्वादाज्ञानवन्यते यः स वातकीनाथः पिशाचरीना ॥

अर्थात्—हे जिन ! हर दस्तु प्रत्येक समय में उत्पाद, विनाश और स्थिर स्वभाव वाली है। इसको प्रत्यक्ष देखते हुए भी जो अज्ञानी आपकी आज्ञा का उल्लंघन करते हैं, वे लोग वात रोग से पीड़ित हैं या फिर भूतों से घिरे हुए हैं।

जैन दर्शन सामंजस्यवादी दर्शन है। यह सभी विचारधाराओं में सामंजस्य स्थापित कर चलता है। वह किसी भी विचार को एकान्ततः स्वीकार या अस्वीकार नहीं करता।

बृहत्कल्प भाष्य में श्रुत-स्वाध्याय को सबसे बड़ा तप कहा है।

नच अत्थि नचि होही सज्जाय समं तवोक्ममं ।

—गाथा ११६६

पांच अप्रशस्त भावना है, यथा—(१) कांदर्पी भावना (२) देवकित्विषी भावना (३) आभियौगिकी भावना (४) आसुरी भावना व (५) संमोही भावना ।

इन अप्रशस्त भावनाओं में प्रायः अप्रशस्त लेश्या होती है, अतः इन भावनाओं को छोड़कर प्रशस्त लेश्या के द्वारा प्रशस्त भावना का अवलम्बन लें।

छेदन का सामान्य अर्थ है—टुकड़े करना तथा भेद का सामान्य अर्थ है—विदारण करना। कर्मों की स्थिति का घात करना यानी उदीरण के द्वारा कर्मों की स्थिति का अल्पीकरण करना है छेदन की तरह भेदन की परिभाषा यह है कर्मों का रसघात।

जिस व्यक्ति के मन में यह प्रश्न उठता है कि मैं भवसिद्धि (भव्य) हूँ या नहीं वह निसंदेह भवसिद्धि है। जिसके मन में कभी यह प्रश्न पैदा नहीं होता वह अभवसिद्धि है। आध्यात्म जाति, वर्ण, वर्ग, लिंग, भाषा आदि से सर्वथा अतीततत्त्व है। बिना किसी भेद भाव के वह समूची मानव जाति के लिए श्रेयपथ प्रशस्त करता है।

प्राणी जिस लेश्या तथा अध्यवसाय में देह विसर्जन करता है वह उसी लेश्या में अगले जन्म में पैदा होता है। इसी बात को हम कहते हैं 'अन्तमति सो गति'। लेकिन कृत शुभ-अशुभ कर्मों का फल उसे किसी न किसी दिन भोगना ही पड़ेगा। बिना भोगे कर्मों से छूटकारा नहीं मिल सकता। भगवान महावीर ने कहा—

बंध-पमोक्खो तुज्झ अज्झत्थेव ।

बंधन-मुक्ति तुम्हारे अन्दर ही है ।

मुनि दंडण जो श्री कृष्ण के पुत्र थे। बत्तीस रानियों का त्यागकर नेमीनाथ तीर्थङ्कर के पास दीक्षा ग्रहण की। अभिग्रह ग्रहण किया—फलस्वरूप प्रशस्त लेश्या, शुभ अध्यवसाय, शुभ परिणाम से केवल ज्ञान-केवल दर्शन उत्पन्न हुआ। बृहत्कल्प भाष्य में निम्नलिखित प्रशस्त भावनाओं का उल्लेख मिलता है।

- | | |
|----------------|------------------|
| १—श्रुत भावना | ४—एकत्व भावना और |
| २—तप भावना | ५—तत्त्व भावना । |
| ३—सत्त्व भावना | |

प्रज्ञापना में श्रुत ज्ञानी को केवल ज्ञानी के समान कहा है। केवल ज्ञान से जाने हुए पदार्थों की प्ररूपणा श्रुतज्ञान के आधार से होती है। केवल ज्ञानी और श्रुत ज्ञानी की प्ररूपणा में कोई अन्तर नहीं है तथा जो पदार्थ श्रुत ज्ञान के अविषय है, उनकी प्ररूपणा न तो किसी केवलज्ञानी ने की है, न कोई कर सकता है।

प्रशस्त भावनायें कर्मों को काटने के लिए कैंची, मोक्ष महल पर आरोहण करने के लिए सीढ़ी, शुभस्थान के स्थानों का अनुगमन करने वाली व भव समुद्र के दुःखों को हरण करने वाली है। उत्तराध्ययन सूत्र में कहा है—

चत्तारि परमंगारिण, दुल्लहाणीह जंतुणो ।

माणुसत्तं सुई, सद्धा, संजमम्भि य वीरियं ॥

—उत्त० अ ३ । गा १

अर्थात् इस संसार में प्राणी के लिए मनुष्यजन्म, धर्मशास्त्र का श्रवण, धर्म पर श्रद्धा और संयम में पराक्रम—आत्मशक्ति लगाना—इन चार प्रधान अंगों की प्राप्ति होना दुर्लभ है।

कहीं-कहीं अशुभ योग रूप प्रमाद के छः प्रकारों का उल्लेख मिलता है ।^१

(१) मद्य प्रमाद, (२) निद्रा प्रमाद, (३) विषय प्रमाद, (४) कषाय प्रमाद, (५) द्यूतप्रमाद और (६) प्रतिलेखना प्रमाद ।

तीर्थङ्करों^२ के जन्मादि कल्याण के समय नारकी जीवों को भी उस समय सुख की अनुभूति होती है । नारकी में उस समय प्रकाश होता है, यथा—

१—सातवीं नारकी में—तारा के समान प्रकाश होता है ।

२—छट्टी नारकी में—नक्षत्र के समान प्रकाश होता है ।

३—पाँचवीं नारकी में—ग्रह के समान प्रकाश होता है ।

४—चौथी नारकी में—बादल से आच्छादित चंद्र के समान प्रकाश होता है ।

५—तीसरी नारकी में—चन्द्र के समान प्रकाश होता है ।

६—दूसरी नारकी में—बादल से आच्छादित सूर्य के समान प्रकाश होता है ।

७—पहली नारकी में—सूर्य के समान प्रकाश होता है ।

छः स्थान^३ जीवों के लिए सुलभ नहीं है । अर्थात् दुर्लभ है, यथा—(१) मनुष्यभव, (२) आर्य क्षेत्र में जन्म, (३) सुकुल में उत्पन्न होना, (४) केवली प्रज्ञप्त धर्म का सुनना, (५) सुने हुए पर धर्म श्रद्धा और (६) श्रद्धित, प्रतीत तथा रोचित धर्म पर सम्यक् कायस्पर्श-आचरण ।

योगान्तर्गत द्रव्यों में कषाय के उदय को बढ़ाने का सामर्थ्य है, जैसे पित्त के प्रकोप से क्रोध की वृद्धि होती है ।

प्रदेशी राजा की तपस्या के पारणे में पत्नी सुरिकंता ने विष मिश्रित भोजन दिया । फलस्वरूप आलोचना कर तेजोलेश्या में मरण को प्राप्त होकर सौधर्म देवलोक में देव हुआ । कहा है—

हत्थिस्स य कुंथुस्स य समे चेव जीवे । से णूणं भंते ! हत्थिओ कुंथू
अप्पकम्मतराए चेव अप्पकिरियतराए चेव अप्पासवतराए चेव
अप्पाहारतराए चेव अप्पनीहारतराए चेव अप्पुस्सासतराए चेव

१. ठाण० स्था ६ । सू ४४

२. नेरिया पिण पामे मद सोद, पुञ्ज कल्याण सुर करत विनोद
चौबीसी ढाल २२वीं

३. ठाण० स्था ६ । सू १३

अप्पनीसासतराए चेव अप्पिड्डितराए चेव अप्पमहतराए चेव अप्पज्जु-
इयतराए चेव ? कुंथुओ हत्थी महाकम्मतराए चेव महाकिरियतराए
चेव महासवतराए चेव महाहारतराए चेव महानीहारतराए चेव
महाउस्सासतराए चेव महानीसासतराए चेव महाड्डितराए चेव
महामहतराए चेव महाज्जुइतराए चेव ।

हंता पएसी । हत्थीओ कुंथु अप्पकम्मतराए चेव कुंथुओ वा
हत्थि महाकम्मतराए चेव । हत्थीओ कुंथु अप्पकिरियतराए चेव
कुंथुओ वा हत्थी महाकिरियतराए चेव, हत्थीओ कुंथु अप्पसवतराए
चेव, कुंथुओ वा हत्थी महासवतराए चेव, एवं आहार-नीहार-उस्सास
नीसास-इड्डि-महज्जुइएहिं हत्थीओ कुंथु अप्पतराए चेव कुंथुओ वा
हत्थी महातराए चेव । × × ×

—राय० सू ७७२

अर्थात् हस्ति और कुंथु (त्रीन्द्रिय जीव) की आत्मा एक समान है । हस्ति
से कुंथु अल्प कर्मवाला तथा कुंथु से हस्ति महाकर्मवाला होता है । हस्ति
से कुंथु अल्प क्रियावाला तथा कुंथु से हस्ति महाक्रियावाला होता है । इसी
प्रकार आहार-नीहार (मूत्र-विष्टा का उत्सर्ग) उत्सास, निःश्वास ऋद्धि,
ज्योति की अपेक्षा हस्ति से कुंथु अल्पतर है तथा कुंथु से हस्ति महतर है ।

नोट—अप्रत्याख्यान की अपेक्षा—अविरति की अपेक्षा हाथी-कुंथु के समान
क्रिया है । शुभ ध्यान मानसिक और भावात्मक पक्ष पर गहरा प्रकाश डालता
है । उस समय प्रशस्त लेश्या होती है ।

जीव विज्ञान बौद्धिक ज्ञान की उपेक्षा नहीं करता पर उसके साथ-साथ
अधितंत्र के समुचित नियोजन के प्रयोगों को शिक्षा के साथ जोड़ता है ।

परमाणु के चार गुणों में से रंग चिह्न को सबसे अधिक प्रभावित करता है ।
भावधारा के (या लेश्या) के आधार पर आभामंडल बदलता है और लेश्या
ध्यान के द्वारा आभामंडल को बदलने से भावधारा भी बदल जाती है ।

सूर्य की क्रिया अवभास उद्योत, ताप और प्रकाश रूप होती है और यह
क्रिया सूर्य की लेश्या के द्वारा जंबुद्वीप में भी होती है ।

रायपसेणीयं में कहा है—

एयस्स वाउकायस्स सरूविस्स सकम्मस्स सरागस्स समोहस्स
सवेयस्स सलेसस्स ससरीरस्स रूवं पाससि ।

—राय० सू ७७१

वायु काय सरूपी है, सकर्म, सराग, समोह-सवेद-सलेशी, सरीरी होते हुए भी छद्मस्थ नहीं देख सकता है । यहाँ विशिष्ट अवधिज्ञान रहित को छद्मस्थ कहा गया है । छद्मस्थ निम्नलिखित दस स्थान को नहीं जानता है ।

१—धर्मास्तिकाय, २—अधर्मास्तिकाय, ३—आकाशास्तिकाय, ४—शरीर रहित जीव, ५—परमाणु पुद्गल, ६—शब्द, ७—गंध, ८—वायु, ९—यह जिन होगा या नहीं तथा १०—यह सर्व दुःखो का अन्त करता या नहीं ।^१

इन सब को केवली जानते हैं, देखते हैं ।

देवताओं का आभामंडल मृत्यु के छः मास पूर्व क्षीण होने लग जाता है । उन्हें सूचना मिल जाती है कि छः मास बाद उन्हें देव-जन्म को छोड़ कर अन्यत्र जाना होगा । दूसरा जन्म लेना होगा । देव वर्तमान आयुष्य के छः मास शेष रहने पर परभव के आयुष्य का बंधन करते हैं । इसी प्रकार नारकी व तिर्यञ्च पंचेन्द्रिय व मनुष्य शृंगलिये आयुष्य का बंधन करते हैं ।

राजगृह में पुणिया श्रावक रहता था । भगवान महावीर का प्रमुख श्रावक था । उसकी पत्नी का नाम समता था । सामयिक की आराधना अद्भूत थी । भगवान महावीर ने उसके सामायिक की प्रशंसा की । शुभलक्ष्या आदि में कालकर दोनों वैमानिक देवों में उत्पन्न हुए ।

आचार्य पद्मआगरजी ने अपने विचार इस प्रकार दिये हैं—

“श्रीमान् विद्वान् मोहनलालजी बांठिया के द्वारा सम्पादित जैन धर्म व कर्म-विज्ञान से सम्बन्धित साहित्य को पढ़ने का अवसर मिला है । उनके द्वारा किया गया आगमिक संकलन खूब उपयोगी एवं प्रशंसनीय है । ऐसे साहित्य का प्रकाशन भगवान महावीर के तन्त्र प्रचार के लिए खूब उपयोगी सिद्ध होगा ।”

गांधी नगर, गुजरात ता० १-८-२००१

१. राय० सू ७७१

जम्बू स्वामी ने ५२७ व्यक्तियों के साथ दीक्षा ग्रहण की जिसमें ११ साधुओं ने प्रशस्त लेश्यादिसे केवल ज्ञान प्राप्त किया ।

कुण्डरीक और पुण्डरीक दो भाई थे । कुण्डरीक ने दीक्षा ली । एक हजार वर्ष करीब संयम का पालन किया । सरस आहार का लपंटी बना । वापस गृहस्थाश्रम स्वीकार किया—सात दिन सरस आहार का सेवन कर महाकृष्ण लेश्या में काल कर सातवीं नरक में उत्पन्न हुआ । उस समय उनके अप्रशस्त लेश्या, अप्रशस्त अव्यवसाय तथा अशुभ परिणाम थे ।

जैन विश्वभारती-लाडणूँ से प्रकाशित आगम में दो भिन्न-भिन्न पाठ देखने में आये हैं । नीचे फूडनोट नम्बर नहीं है । संशोधन की दृष्टि से यह पाठ नीचे दिया जा रहा है ।

१—पुरिससीहे णं वासुदेवे दस वाससयसहस्साइं सव्वाउयं पालइत्ता छट्ठीए तमाए पुढवीए णेरइयत्ताए उववण्णे ।

—ठाण० स्था १० । सू ७८

२—पुरिससीहे णं वासुदेवे दस वाससयसहस्साइं सव्वाउयं पालहत्ता पंचमाए पुढवीए नरएसु नेरइयत्ताए उववण्णे ।

—सम० पट्टणगसयाओ । सू ८५

डॉ० प्रो० राजाराम जैन ने मिथ्यात्वी के आध्यात्मिक विकास की चर्चा इस प्रकार की है—

मैंने प्रारम्भ में उपन्यास समझ कर आद्योपान्त पुस्तक पढ़ी । बहुत आह्लाद हुआ । अपूर्व ग्रन्थ है । लेख को धन्यवाद ज्ञापित करता हूँ ।

उपसंहार

यद्यपि लेश्या के द्रव्य कषाय को उद्दीप्त करते हैं तथा कषाय के साथ लेश्या का एकात्मक नहीं है । अर्थात् लेश्या कषाय का गुण या लक्षण नहीं है । कषाय से भिन्न पदार्थ है । लेश्या कर्मों का निष्पन्न नहीं है क्योंकि ऐसा होने से अयोगी केवली भी सलेशी कहे जायेंगे । लेश्या कर्म की स्थिति की हेतु कही गयी है—ऐसा कोई नहीं मानता है । कर्म की स्थिति की हेतु तो कषाय को ही बताया गया है । लेश्या कषाय की उत्तेजक या सहायक है अतः अनुभाग बंध की उपचार से हेतु कही गयी है ।

सब लेश्याओं में प्रत्येक की अनंतवर्गणा कही गयी है तथा सबके अनंत प्रदेश कहे गये हैं। सब लेश्या असंख्यात क्षेत्र-प्रदेश में अवगाहन करती है तथा लेश्या के अध्यवसाय के असंख्यात स्थान कहे गये हैं। यह स्थान क्षेत्र उपमा से असंख्यात लोकाकाश के असंख्यप्रदेश जितने हैं। तथा काल तुलना से असंख्यकाल चक्र में जितने समय होते हैं उतने कहे गये हैं।

जिस लेश्या के योग्य कर्म द्रव्य जीव ग्रहण करता है उसके निमित्त से उसी लेश्या रूप उसके परिणाम हो जाते हैं। जब योग होता है तब लेश्या होती है, योग के अभाव में लेश्या नहीं होती है। अतः लेश्या के साथ योग का अन्वय और व्यतिरेक सम्बन्ध होने के कारण लेश्या का कारण योग है, यह निश्चित हो जाता है। लेश्या योग का निमित्त भूत कर्म द्रव्य रूप नहीं है। क्योंकि यदि है तो या घाती कर्म द्रव्य रूप है या अघाती कर्म द्रव्य रूप है। लेकिन घाती-घाती कर्म द्रव्य रूप तो नहीं है क्योंकि सयोगी केवली के घाती कर्म द्रव्य के अभाव में भी लेश्या होती है। और अघाती कर्म द्रव्य रूप भी नहीं है क्योंकि अघाती कर्म के होते हुए अयोगी केवली के लेश्या नहीं होती है।

योग के अन्तर्गत द्रव्य जहाँ तक कषाय है, वहाँ तक कषाय के उदय को बढ़ाते हैं। योगान्तर्गत द्रव्यों में कषाय के उदय को बढ़ाने की सामर्थ्यता है, जैसे पित्त के प्रकोप से क्रोध की वृद्धि होती है।

(योग के अन्तर्गत द्रव्य रूप) लेश्या से स्थितिपाक विशेष होता है—ऐसा शास्त्र में कहा जाता है—सो वह पूरा उतरता है। क्योंकि स्थितिपाक विशेष अर्थात् अनुभाग उसका निमित्त कषायोदय के अन्तर्गत कृष्णादि लेश्या के परिणाम है। और वास्तव में उसके अन्तर्गत होने से कषायोदय रूप ही हैं। केवल योगान्तर्गत द्रव्यों के सहकारिता के कारण तथा उन द्रव्यों की विचित्रता के कारण, कृष्णादि भेदों में भिन्नता आती है तथा प्रत्येक लेश्या के तारतम्य भेद से विचित्र परिणाम होते हैं। कषायोदय के अन्तर्गत कृष्णादि लेश्या के परिणाम भी कषाय रूप है। लेकिन लेश्या स्थिति बंध का कारण नहीं है पर कषाय है। लेश्या तो कषायोदय के अन्तर्गत अनुभाग का कारण होता है। स्थितिपाक विशेष लेश्या विशेष से होता है।

“कर्म निःष्यन्दो लेश्या” कोई कहते हैं कि लेश्या कर्म निःष्यन्द रूप है। लेकिन जहाँ तक कषाय का उदय होता है वहाँ तक कर्म का निःष्यन्द होता है। अतः लेश्या कर्म के निःष्यन्द रूप है तो कर्म की स्थिति का भी कारण है—

यह ठीक नहीं है। क्योंकि लेश्या अनुभाग बंध का कारण है स्थिति बंध का कारण नहीं है।

पूर्व में उत्पन्न (देव) को अविशुद्धलेश्या वाला कहना चाहिए तथा पीछे उत्पन्न को विशुद्धलेश्या वाला कहना चाहिए। इस वाक्य का तात्पर्य यह है कि यहाँ देवता तथा नारकी के उस प्रकार के भव स्वभाव के कारण लेश्या के परिणाम उत्पत्ति के समय से लेकर भव के क्षय पर्यन्त निरन्तर ऐसे हैं।^१

परिणत हुई सर्वलेश्याओं के प्रथम समय में परभव में किसी जीव की उत्पत्ति नहीं होती है उसी प्रकार अन्तिम समय में भी नहीं होती है। आगामी भव की लेश्या का अन्तर्मुहूर्त बीतने के बाद तथा चालू भव की लेश्या का अन्तर्मुहूर्त बाकी रहने पर जीव परलोक जाता है। केवल तिर्यच और मनुष्य आगामी भव की लेश्या का अन्तर्मुहूर्त बीतने के बाद तथा नारकी व देव स्वभाव की लेश्या के अन्तर्मुहूर्त बाकी रहने पर परलोक में जाता है।

प्रज्ञापना के लेश्या पद १७। १ की टीका में उद्धरण।

अन्तोमुद्दुत्तामद्धा लेसाण ठिई जहिं जहिं जा उ।
तिरियं नराणं वा वज्जित्ता केवलं लेसं॥

अर्थात् मनुष्य और तिर्यच में जिसके जो जो लेश्या होती है उसकी शुक्ल लेश्या को बाद देकर अन्तर्मुहूर्त की स्थिति होती है। शुक्ल लेश्या की जघन्य अन्तर्मुहूर्त तथा उत्कृष्ट नव वर्ष कम पूर्व कोटि की स्थिति है।

पद्म लेश्या तथा शुक्ल लेश्या केवल संज्ञी तिर्यच पंचेन्द्रिय, संज्ञी मनुष्य तथा वैमानिक देव के ही होती है, देवी के नहीं। तेजो लेश्या नारकी, अग्निकाय, वायु काय तथा विकलेन्द्रिय जीवों के संभव नहीं है।

द्रव्य लेश्या—औदारिक काय योग से सूक्ष्म है। नोकर्म वर्गणा है, प्रायोगिक पुद्गल है। योग के अन्तर्गत पुद्गल द्रव्य है। कर्म पुद्गल नहीं है, कर्म का निर्व्यंद रूप भी नहीं है।

नरक और लेश्या—तन्वार्थ भाष्य में कहा है—

“अशुभतर लेश्याः। कापोत लेश्या रत्नप्रभायाम्, ततस्तीव्रतर संकलेशाध्यवसाना कापोत शर्कराप्रभायाम्” तत्स्तीव्रतर संकलेशा-

१. पण्ण० प १७। उ १। मलय टीका

ध्यवसाना कापोत नीला बालुकाप्रभायाम् । ततस्तीव्रतर संक्लेशा-
ध्यवसाना नीला पंकप्रभायाम्, ततस्तीव्रतर संक्लेशाध्यवसाना नील-
कृष्णा धूमप्रभायाम् । ततस्तीव्रतर संक्लेशाध्यवसाना कृष्णैव महातमः
प्रभायाम् । ततस्तीव्रतर संक्लेशाध्यवसाना कृष्णैव महातमः
प्रभाभमिति ।

—तत्त्वभाष्य अ० ४ । सू २, ३

उत्तरोत्तर नारकी में अशुभ लेश्या होती है । रत्नप्रभा में एक कापोत
लेश्या, उससे तीव्रतर संक्लेशमान अध्यवसानवाली कापोत लेश्या शर्करा प्रभा में
होती है । उससे तीव्रतर संक्लेशमान अध्यवसानवाली कापोत-नील लेश्या
बालुका प्रभा में होती है । इसी क्रम में अवशेष नारकी का जान लेना
चाहिए ।

देव और लेश्या—

देवाश्चतुर्निकायाः । तृतीयः पीतलेश्याः ।

—तत्त्व० अ० ४ । सू १, २

अर्थात् देव चार निकायवाले हैं—निकाय शब्द का अर्थ है—समुदाय ।
देवों के ऐसे प्रमुख समुदाय चार हैं—यथा—भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क व
वैमानिक ।

पीतान्त लेश्या ।

—तत्त्वार्थ अ० ४ । सू ७

अर्थात् प्रथम दो निकाय (भवनवासी व व्यन्तर) के कृष्ण, नील, कापोत
और पीतलेश्या लेश्या (द्रव्य) होती है । भावलेश्या छहों हो सकती है ।

पीतपद्मशुक्ललेश्या द्वित्रिशेषेषु ।

—तत्त्वार्थ अ० ४ । सू ३ तथा भाष्य

अर्थात् सौधर्म, ऐशान कल्पों में पीत (तेजो लेश्या) लेश्या होती है ।
सानत्कुमार, माहेन्द्र और ब्रह्मलोक में पद्म लेश्या होती है । लान्तक से सर्वार्थ
सिद्ध पर्यन्त वैमानिकों में एक शुक्ललेश्या होती है । विशुद्ध, विशुद्धतर,
विशुद्धतम लेश्या के विषय में फलित कर लेना चाहिए ! भाव लेश्या छहों ही
होती है ।

साधु और लेश्या—

पुलाकस्योत्तरास्तिस्रो	लेश्या	भवन्ति ।
बकुशप्रतिसेवनाकुशीलयोः	सर्वी	षडपि ।
कषायकुशीलस्य परिहार	विशुद्धेस्तिस्र	उत्तराः ।
सूक्ष्मसंपरायस्य निर्ग्रन्थस्नातकयोश्च शुक्लैव	केवला	भवन्ति ।
अयोगः	शैलेशी	प्रतिपन्नोऽलेश्यो भवन्ति ।

—तत्त्व० अ ६ । सू ४६ भाष्य

अर्थात् पुलाक में तीन शुभ लेश्याएं होती हैं। बकुश और प्रतिसेवना कुशील में छहों लेश्याएं होती हैं। परिहार विशुद्ध चारित्र तथा कषायकुशील में तीन विशुद्ध लेश्या होती हैं।

सूक्ष्म संपरायचारित्र तथा निर्ग्रन्थ व स्नातक में एक शुक्ललेश्या होती है। अयोगी-शैलेशी में कोई लेश्या नहीं होती है।

अस्तु आचार्य विनोवाभावे के शब्दों में—“जैन धर्म चिंतन में अनाक्रमक, आचरण में साहित्य व प्रचार-प्रसार में संयमित है।” काका कालेलकर का मानना था—“जैन धर्म में विश्व धर्म बनने की क्षमता है।

प्रेक्षा शब्द रचना की दृष्टि से ‘प्र’ उपसर्ग और ईक्ष धातु के संयोग से बना है। इसका तात्पर्य है—गहराई से देखना। प्रेक्षा के प्रयोग व्यक्ति की चित्त-शुद्धि एवं व्यक्तित्व के सर्वाङ्गीण विकास के लिए अत्यन्त उपयोगी है।

मानसिक स्तर पर प्रेक्षा में मस्तिष्क की एकाग्रता बढ़ती है। मन की शक्ति का विकास होता है। भावविशुद्धि होने से लेश्या-विशुद्धि होती है। चेतना में पवित्र भावना के अंकुर फूटते हैं। भय, घृणा, क्रोध, ईर्ष्या, मोह और यौन-विकृति आदि बुराईयां मूल रूप से समाप्त हो जाती हैं।

प्रेक्षाध्यान में कायोत्सर्ग, श्वासप्रेक्षा, शरीर प्रेक्षादि विविध प्रयोग हैं। शिक्षा का उद्देश्य होना चाहिए विधेयात्मक भावधारा एवं व्यक्तित्व का विकास तथा निषेधात्मक भावधारा एवं व्यक्तित्व से मुक्ति। जो भावधारा (लेश्या-विशुद्धि) आचरण या व्यवहार को नियंत्रित करते हैं। श्रेष्ठ है।

जीवन विज्ञान का उद्देश्य है—भावपरिष्कार और व्यवहार परिवर्तन के माध्यम से व्यक्तित्व का सर्वाङ्गीण विकास करना। वैज्ञानिक आधारों पर स्वास

प्रश्वास से लेकर सम्पूर्ण जीवन जीने की कला का प्रशिक्षण ही जीवन विज्ञान है। जीवन विज्ञान का मुख्य प्रयोग है—प्रेक्षाध्यान, जो स्वयं से स्वयं में देखने की प्रक्रिया है। प्रेक्षाध्यान में दीर्घश्वास प्रेक्षा, समवृत्ति श्वास, प्रेक्षा, शरीर प्रेक्षा, लेश्याध्यान (रंगप्रेक्षा) कायोत्सर्ग, अनुप्रेक्षा आदि के प्रयोग कराये जाते हैं। भावधारारों को उत्पन्न करने वाली अन्तःत्वावी ग्रन्थियों और हाथमोथेलिमस जैसे केन्द्रों पर रंग के साथ ध्यान करना बहुत ही प्रभावकारी सिद्ध हुआ है। विज्ञान ने आज यह सिद्ध कर दिया है कि रंगों की हमारी भावधारा पर गहरा प्रभाव पड़ता है।

भगवान् महावीर के प्रमुख १० श्रावक थे—यथा—१—आनन्द, २—कामदेव, ३—चुलणी पिता, ४—सुरादेव, ५—चुल्लशतक, ६—कुण्डकौलिक, ७—सहाल-पुत्र, ८—महाशतक, ९—नन्दिनी पिता और १०—लेइया पिता।

ये दसों श्रावक संथारा-संलेखना कर तेजोलेइया में मरण प्राप्त कर सौधर्म देवलोक में देव रूप में उत्पन्न हुए। सब एकावतारी हैं।

यद्यपि गणधर गौतम को संक्षिप्त विपुल तेजोलेइया प्राप्त थी—लेकिन उन्होंने इस लब्धि का प्रयोग नहीं किया।

समणस्स भगवओ महावीरस्स जेट्ठे अंतेवासी इं दभूई नामं अणगारे गोयमसगोत्ते णं सत्तुस्सेहे × × × संखित्तविडलतेयतेस्से छट्टं छट्टेणं अणिक्खित्तेणं तवो कम्ममेणं संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेभाणे विहरइ।
—उवा० अ १। सू ६६

अर्थात् भगवान् महावीर के ज्येष्ठ अंतेवासी इन्द्रभूति जिनका देह परिमाण सात हस्त का था। संक्षिप्तविपुल लेइया भी थी।

भगवान् महावीर का आठवाँ श्रावक महाशतक था। अनशन में अवधि ज्ञान उत्पन्न हुआ।

तएणं तस्स महासतगस्स समणोवासगस्स सुभेणं अङ्गवसाणणं सुभेणं परिणामेणं लेस्साहिं विसुङ्गमाणीहिं, तदावरणिज्जाणं कम्मणं खओवसमेणं ओहिणाणे समुप्पण्णे × × ×।

—उवा० अ ८। सू ३७

अर्थात् श्रमणोपासक महाशतक को शुभ अध्यवसाय, शुभ परिणाम व लक्ष्या विशिष्टि व तदावरणीय कर्म के क्षयोपशम से अवधि ज्ञान हुआ ।

महाशतक के रेवती प्रमुख तेरह पत्नियां थीं । महाशतक श्रावक की पत्नी रेवती असमाधि अवस्था में व कापोत लक्ष्या में मरण प्राप्त कर रत्नप्रभा नारकी में उत्पन्न हुई ।

प्रदेशी राजा श्वेताम्बिका नगरी का वासी था । उसकी पत्नी का नाम सूरिकन्ता था । प्रदेशी राजा बड़ा निष्ठुर था । केशीकुमार मुनि के सम्पर्क से श्रमणोपासक बना ।

शोधार्थ-फरवरी १९८७ में वर्धमान जीवन कोश, द्वितीय खण्ड की समीक्षा इस प्रकार की है—

“जैन आगम विषय कोश ग्रन्थमाला के चतुर्थ पुष्प रूप में प्रकाशित वर्धमान-जीवन-कोश के इस द्वितीय खण्ड में भगवान महावीर के ३३ पूर्व भवों का विवरण है । इसके अतिरिक्त, भगवान के पाँचों कल्याणकों, नाम-उपनामों, स्तवनों, समवसरण, दिव्य ध्वनि, संघ तथा इन्द्रभूति आदि ११ गणधरों का परिचय संकलित है । ये तथ्य श्वेताम्बर एवं दिगम्बर, उभय सम्प्रदाय के प्राचीन प्रामाणिक शास्त्रों के ससंदर्भ उद्धृत किये गये हैं । इससे उक्त विषयों का तुलनात्मक अध्ययन भी सुगम हो जाता है । विषय-विभाजन एवं संकलन अन्तर्राष्ट्रीय दशमलव पद्धति पर किया गया है । इस कोश का प्रथम खण्ड १९८० में प्रकाशित हुआ, जिसमें भगवान वर्धमान का गर्भावतरण से लेकर निर्वाण पर्यन्त का जीवनवृत्त संकलित था । अतः इस द्वितीय खण्डगत अनेक विषय प्रथम खण्ड के संकलित विषयों के परिपूरक भी हो गये हैं । ऐसे श्रमसाध्य एवं समय सापेक्ष सन्दर्भ ग्रन्थ के निर्माण एवं सुचारु सम्पादन के लिए समर्पित विद्वान सम्पादक अभिनन्दनीय है । प्रकाशन जैन दर्शन समिति भी धन्यवाद की पात्र है । विशेषाध्ययन के इच्छुक तथा शोधकर्त्ताओं के लिए अतीव उपयोगी प्रकाशन है । प्रारम्भ में प्रकाशकीय वक्तव्य, सम्पादकीय प्रस्तावना, डा० ज्योति प्रसाद जैन का अंग्रेजी प्राक्कशन (सानुवाद) दशमलव पद्धति-का परिचय, विषयानुक्रमणिका है और अन्त में संकेत सूची तथा प्रयुक्त ग्रन्थों की सूची आदि है ।”

लक्ष्या और क्रिया का भी अविनाभाव सम्बन्ध है । सलेशी जीव सक्रिय होता है । क्रिया कोश में इस प्रकार विवेचन है—

KRIYA (Actions of Soul—Corporeal, verbal and mental) is an important factor in Karmic theory of Jainism and mostly relates to

day-to-day life of Souls. It reflects deep psychological understanding of Jain Preceptors. There are two aspects of KRIYA. There are certain KRIYAS which cause bond with Karmic matter, (KARAMBANDH NIBANDHBHUTA) and there are other KRIYAS which release a soul from Karmic bondage, though in the last stages of the total liberation from Karmic bondage, a soul becomes wholly inactive, in all aspects and is called "AKRIYA" (Actionless).

This Cyclopaedia consists of Original Prakrita Texts (with detailed references) relating to Kriya and Sanskrita Commentaries, where necessary, and Hindi translation. It also contains original texts regarding various philosophies propounded by Preceptors, contemporaries of Lord Mahaveer, on the basis of Kriya and Akriya. Lord Mahaveer was known as Kriyavadi and Lord Buddha as Akriyavadi.

This book will be very useful to all scholars of Indology, particularly Jainism.

अस्तु कोश संकलन कार्य सर्वथा असांप्रदायिक और अत्यन्त महत्वपूर्ण है तथा सम्यग् ज्ञान के प्रसार का उत्तम साधन है ।

भोगे रोग भयं, अर्थात् भोग में रोग का भय रहता है । अबंभचरियं घोर पमयं, अर्थात् अब्रह्मचर्यं भयंकर है, प्रमाद है ।

षट्खंडागम के टीकाकार आचार्य वीरसेन ने कहा है—

सुकलेस्सिणसु मिच्छादिद्विप्पहुडिजाव संजदासंजदेहि केवडियं
खेत्तं पोसिदं, लोगस्स असंखेज्जदिभागो ।

—षट्० खंड १ । भाग ४ । सू १६२ । पु ४ । पृ० २६६

अर्थात् सुकलेशी मिथ्यादृष्टि जीवों ने भूतकाल की अपेक्षा लोक के असंख्यातवें भाग का स्पर्शन किया है ।

अतः उपर्युक्त प्रमाणों से यह सिद्ध हो जाता है कि मिथ्यात्वी के छहों भाव लेश्यायें होती हैं ।

१. प्रकरण रत्नावली, विचार पंचाशिका पृ० ६६-६७

दिगम्बर ग्रन्थों से लेश्या सम्बन्धी पाठ संकलन अधिकांशतः हमने कर लिया है। इसमें श्वेताम्बर पाठों से समानता, भिन्नता, विविधता तथा विशेषता देखी है। तथा कितनी ही बातें जो श्वेताम्बर ग्रन्थों में हैं, दिगम्बर ग्रन्थों में नहीं भी हैं। हमारे विचार में दिगम्बर लेश्या कोश खंड ३ को भी प्रकाशित करना आवश्यक है। लेकिन इसको प्रकाशित करने का निर्णय हम लेश्या कोश खंड २ पर विद्वानों की प्रतिक्रियाओं को जानकर ही करेंगे। इसमें पाठों का वर्गीकरण इस पुस्तक की पद्धति के अनुसार ही होगा लेकिन दिगम्बरीय भिन्नता, विविधता तथा विशेषता को वर्गीकरण में यथोपयुक्त स्थान दिया जायेगा। वर्गीकरण के अनुसार पाठों को सजाना हम यथा संभव कर रहे हैं।

मेरे अनन्य बचोवृद्ध श्री मोहनलालजी बांठिया का २३ सितम्बर १९७६ को स्वर्गवास हो जाने के बाद मैं अकेला पड़ गया हूँ। फिर भी गणाधिपति तुलसी, आचार्य महाप्रज्ञ की कृपाभाव से कार्य सम्यग् प्रकार चल रहा है।

लेश्या की संरचना में नाम कर्म के उदय और अंतराय कर्म के क्षय एवं क्षयोपशम करने का योग होता है। उसके अशुभ होने में मोह कर्म का निमित्त बनता है। जिस समय मोहकर्म का उपशम, क्षय, क्षयोपशम या अनुदय होता है, उस अवस्था में लेश्या शुभ बन जाती है। भाव शुक्ल लेश्या का अवतरण चार भावों में होता है, औपशमिक भावों में नहीं होता है। यह प्रतिपादन अंतराय कर्म की दृष्टि से है।

सभी प्रशस्त भाव लेश्याओं का औपशमिक भावों को छोड़कर शेष चार भावों में अवतरण किया गया है। लेश्या की संरचना में केवल दो कर्मों का नाम व अंतराय कर्म का सम्बन्ध है। मोह कर्म का उदय और अनुदय उसके शुभ व अशुभ बनने में निमित्त बनता है।

जो मनुष्य कापोत-नील लेश्या में मरण को प्राप्त होकर नारकी में उत्पन्न होता है वह उसके बाद के मनुष्य भव में केवली हो सकता है लेकिन कृष्ण लेश्या में जो मरण को प्राप्त होता है वह केवली नहीं हो सकता है पर साधु हो सकता है।

लेसा शब्द का प्रयोग—कंति, जुड़ आदि में भी प्रयोग हुआ है। 'लेसेज्ज' का अर्थ श्लिषंचू आलिंगने भी होता है। आवश्यक हारिभद्रीया टीका में कहा है—

१. भीषीचरचा

श्लेषयन्त्यात्मानमष्टविधेन कर्मणा इति लेश्याः ।

—आवहाटी० १ । सू १३

जो आत्मा को अष्टविधकर्म से श्लिष्ट करती है, वह लेश्या है । आत्म-परिणाय विशेष है ।

यद्यपि कृष्ण लेश्या सामान्य रूप से एक है । तथापि उसके अबान्तर भेद अनेक हैं—कोई कृष्ण लेश्या अपेक्षाकृत विशुद्ध होती है, कोई अविशुद्ध । एक कृष्ण लेश्या से नरक गति मिलती है, एक से भवनपति देवों में उत्पत्ति होती है अतः कृष्ण लेश्या के तरतमता से भेद अनेक है अतः उनका आहारादि समान नहीं होता है । यही बात सभी लेश्याओं वाले जीवों के सम्बन्ध में जान लेना चाहिए ।

चन्द्रप्रद्योत उज्जयनी का राजा था । उस समय शतानीक का पुत्र उद्दायन था । शतानीक की मृत्यु के बाद उद्दायन ने कौशाम्बी नगरी का राज्य संभाला । उसकी माता मृगावती ने भगवान महावीर से दीक्षा ग्रहण की । हेमचन्द्राचार्य ने देवचन्द्रसूरि के पास दीक्षा ग्रहण की—वि० सं ११५४ माससुदी १४ दिन सोमवार उम्र ६ वर्ष । दीक्षा के समय उनका नाम मुनि सोमचन्द्र रखा ।

लेश्या विचार भारतीय दर्शनों में कब से आया ? इसे काल की अवधि में बांधना कठिन है । क्योंकि भगवान पार्वनाथ की शासन परम्परा में लेश्या का सिद्धान्तिक रूप क्या था ? इसका इतिहास में संप्राप्त नहीं है । परन्तु आजीवक सम्प्रदाय जो कि गोशालक (महावीर) से पहले विद्यमान था । उसमें अभिजाति के नाम से पर्याप्त व्याख्या है । इसी की छाया बौद्ध ग्रन्थों में है । वहाँ वर्गीकरण प्रणाली एवं विभाजन पद्धति थी इसे कहा गया है । भाव विशुद्धि में आरोह व अवरोह क्रम में सभी परम्पराएँ इसे तुला स्वरूप मानती है । अतः वर्तमान 'प्रयोगवाद (शास्त्र) के साथ हम कहाँ तक चल सकते हैं ।'

१—एक लेश्या—बीतराग में—शुक्ललेश्या ।

२—दो लेश्या—तीसरी नरक में—नील-कापोत ।

पांचवी नरक में—कृष्ण-नील ।

३—तीन लेश्या—विकलेन्द्रिय में—कृष्ण, नील और कापोत ।

४—चार लेश्या—असुरकुमार देवों में—पृथ्वीकाय-अपकाय, वनस्पतिकाय में—वाणव्यंतर देवों में—कृष्ण-नील-कापोत और तेजु ।

५—पांच लेश्या—संज्ञी के अलङ्घक में (पृथ्वीकाय-अपूकाय, वनस्पतिकाय एवं केवली) ।

६—छः लेश्या—देव-मानव आदि में ।

जबकि एक वर्ष की छोटी सी अवधि में इस संसार के सम्पूर्ण भौतिक सुखों से अधिक सुखों की अनुभूति किसी पदार्थ के परिभोग में नहीं होती है किन्तु एक वर्ष का दीक्षित साधु अनुत्तरौपातिक देवों की तेजोलेश्या को अतिक्रमण कर देता है । उस सुख का सम्बन्ध है लेश्या की विशुद्धि से-भावधारा की पवित्रता में ।

लेश्या सिद्धान्तिक उज्ज्वल पक्ष है । यह जितना व्यापक सत्य है, उतना ही यह है—लेश्या सामाजिक, वैज्ञानिक, यौगिक और चिकित्सक सत्यों का प्रभावित रूप है ।

समाज शास्त्र का एक सिद्धान्त लेश्या तत्त्व का पूरा प्रतिनिधित्व करता है ।

अशुभलेश्या के स्पन्दनों से व्यक्ति के मन में हिंसा, झूठ, चोरी, ईर्ष्या, शोक, श्रृणा और भय के भाव जागृत होते हैं ।

शुभलेश्या के स्पन्दनों से अभय, मैत्री, शान्ति, जितेन्द्रियता, क्षमा आदि पवित्र भावों का विकास होता है ।

छहों लेश्याओं के छह रंग हैं—काला, नीला, कापोती, लाल, पीला और सफेद । इन रंगों से प्रभावित भावधारा शुभ और अशुभ रूप में परिणत होती है । भाव और विचार—ये दो अलग-अलग तत्त्व हैं । भाव अंतरंग तत्त्व है । उसके निर्माण में अर्थितंत्र का सहयोग रहता है । विचार का सम्बन्ध विचार से है । इसका निर्माण नाड़ी तंत्र से होता है ।

भाव धारा शुभ और अशुभ दो प्रकार की होती है । इसके निर्माण में रंगों का बहुत बड़ा हाथ रहता है । लाल, पीला, और सफेद रंग भाव-विशुद्धि का उपाय है । विशुद्ध भाव धारा से शारीरिक व मानसिक बीमारी दूर होती है, एवं मूर्च्छा टूटती है ।

अव्यवहार राशि में अनंत पुद्गल परावर्त तक भ्रमण कर भवितव्यता के योग से व्यवहार राशि में आ सकता है । वहाँ भी चिरकाल तक परिभ्रमण किया । प्रज्ञापना पद १८ में काय स्थिति का प्रकरण सांख्यावहारिक राशि की अपेक्षा से है । संज्ञी मनुष्य विजय आदि चार अनुत्तर विमान में उत्कृष्ट दो बार देव रूप में उदरक्ष हो सकता है परन्तु सर्वार्थ सिद्धि में एक ही बार देव बनता है ।

औदारिक शरीर बादर स्थूल पुद्गलों से बना हुआ है। औदारिक शरीर से उत्तरोत्तर सूक्ष्म-सूक्ष्म पुद्गलों स्कन्धों से रचित दूसरे-दूसरे शरीर है। औदारिक शरीर-उदार प्रधान है। शरीर की उदारता के विषय में आवश्यक सूत्र में कहा है—

जिनेश्वर देव के रूप से गणधर का रूप अनंतगुण हीन होता है, गणधर के रूप से आहारक शरीर अनंतगुण हीन, उससे अनंतगुण हीन अनुत्तर विमानवासी देवों का रूप है, उससे ग्रैवेयकवासी, अच्युत, आनत, सहस्रार, शुक्र, लांतक, ब्रह्म, माहेन्द्र, सनत्कुमार, ईशान, सौधर्म, भवनपति, ज्योतिषी और व्यन्तर देवों का अनुक्रमतः अनंतगुण हीन है, उससे चक्रवर्ती, वासुदेव, बलदेव, मांडलिकराजाओं का रूप अनंतगुण हीन है। उसके बाद अन्य राजाओं व सर्व मनुष्यों का रूप है। स्थानगत होता है। वे छः स्थान इस प्रकार हैं।

(१) अनंत भागहीन, (२) असंख्यात भागहीन, (३) संख्यात भागहीन, (४) संख्यातगुणहीन, (५) असंख्यातगुणहीन व, (६) अनंतगुणहीन।

अस्तु औदारिक शरीर से वैक्रिय शरीर सूक्ष्म पुद्गलों से बना हुआ है, उससे आहारक शरीर सूक्ष्म पुद्गलों से बना हुआ है, उससे तंजस और तंजस से सूक्ष्म पुद्गलों का कार्मण शरीर बना हुआ है।

खाये हुए आहार का परिपाक तथा श्राप देना अथवा अनुग्रह करना—तंजस शरीर का प्रयोजन है तथा एक भव से दूसरे भव में गति करता कार्मण शरीर का प्रयोजन है।^१ आहारक शरीर चौदह पूर्वधर को हो सकता है। आहारक शरीर का अन्तर काल जघन्य एक समय, उल्कृत छः मास का कहा है। निगोद जीव अनंत होते हुए भी औदारिक शरीर असंख्यात है परन्तु तंजस-कार्मण शरीर अनंत है।

शरीर में दो पैर, दो हाथ, नितम्ब, पीठ, उर, सिर—ये आठ अंग हैं। शेष उपांग होते हैं। आयु का बंध मिश्र गुणस्थान और मिश्र काययोगों को छोड़कर अप्रमत्त गुणस्थान पर्यन्त ही होता है।

सहस्रार—आठवें देवलोक तक शतार चतुष्क (तिर्यंचगति, तिर्यंचगत्यानुपूर्वी, तिर्यंचायु, उद्योत) का बन्ध होता है, उसके ऊपर नहीं होता।

भावधारा (या लेश्या) के आधार पर आभामंडल बदलता है और लेश्या-स्थान के द्वारा आभामंडल को बदलने से भावधारा भी बदल जाती है। इस

१. प्रकरण रत्नावली पृ० ६१

दृष्टि से लेश्याध्यान या चमकते हुए रंगों का ध्यान बहुत ही महत्वपूर्ण है। क्रोध की मुद्रा में रहने वाले व्यक्ति में क्रोध के अवतरण की सम्भावना बढ़ जाती है। क्षमा की मुद्रा में रहने वाले व्यक्ति के लिए क्षमा की चेतना में जाना सहज हो जाता है। इस भूमिका में लेश्या ध्यान की उपयोगिता बहुत बढ़ जाती है।

लेश्या के स्थान—विशुद्धि और अविशुद्धि के प्रकर्ष (अधिकता) और अपकर्ष की अपेक्षा लेश्या के जो भेद होते हैं वे ही लेश्या के स्थान है। भाव-लेश्या की अपेक्षा लेश्या के असंख्यात स्थान होते हैं। असंख्यात का स्पष्टीकरण काल और क्षेत्र की अपेक्षा इस प्रकार है—काल की अपेक्षा असंख्यात उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी के समय परिमाण है और क्षेत्र की अपेक्षा असंख्यात लोकाकाश के प्रदेश परिमाण है। अशुभलेश्या के स्थान संवलेष रूप होते हैं और शुभलेश्याओं के स्थान विशुद्ध होते हैं।

इन भावलेश्याओं के स्थानों के कारणभूत कृष्णादि द्रव्यों के समूह भी स्थान कहे जाते हैं। वे स्थान भी प्रत्येक लेश्या के असंख्यात-असंख्यात हैं। जघन्य-उत्कृष्ट के भेद से स्थान दो तरह के हैं।

कर्मों के प्रदेश और अनुभाग का एक बार बढ़ना, चय कहलाता है और बारम्बार बढ़ना उपचय कहलाता है। अज्ञान, संशय, मिथ्याज्ञान, राग, द्वेष, मतिभ्रम, धर्म में अनादर, अशुभयोग—इन आठ प्रकार के प्रमाद और योग के निमित्त से जीव कांक्षा मोहनीयकर्म बांधता है।

आचार्य सिद्धसेन विधाकर केवलज्ञान व केवलदर्शन को एक साथ मानते हैं और जिनभद्रगणि केवलज्ञान व केवलदर्शन को एक साथ नहीं मानते किन्तु भिन्न-भिन्न समय में मानते हैं।

भगवती सूत्र के १९वें शतक के तीसरे उद्देशक में कहा है कि पृथ्वीकायिक जीवों के साधारण शरीर नहीं होता है, प्रत्येक आहारी, प्रत्येक परिणामी है अतः वे अलग-अलग शरीर बांधते हैं, फिर आहार करते हैं, परिणामाते हैं और अपना शरीर बांधते हैं। उन पृथ्वीकायिक जीवों में चार लेश्याएँ होती हैं यथा—कृष्ण, नील, कापोत और तेजोलेश्या। कहा है—

उक्तं च पञ्चाश्रवाद्विरमणं पंचेन्द्रियनिग्रहः चतुष्ककषाय जयः ।
दण्डत्रय-विरतिश्चेति संयमः सप्तदशभेदः ।

—ठाण० स्था ३। उ ३। सू १६०। टीका

सतरह प्रकार का संयम कहा है—हिसादि पांचाश्रव से विरति, पंचेन्द्रिय निग्रह, चार कषायजय व मन-वचन-काय दण्डविरति एवं १७ प्रकार का संयम ।

लेश्या के दो भेद हैं—द्रव्यलेश्या और भावलेश्या । पौद्गलिक (Physical) लेश्या और आत्मिकलेश्या । वह निरन्तर बदलती रहती है । लेश्या प्राणी का ओरा (आभामण्डल) का नियामक तत्त्व है । ओरा कभी काला, कभी लाल, कभी पीला, कभी नीला और कभी सफेद रंग उभर आता है । भावों के अनुरूप रंग बदलते रहते हैं । हमारी वृत्तियां भाव या आवर्त—इन सबको उत्पन्न करने वाकला सशक्त तन्त्र हैं—लेश्या तन्त्र ।

प्रश्न व्याकरण सूत्र में ब्रह्मचर्य को बत्तीस उपमा से उपमित किया है जिसमें एक उपमा लेश्या की भी है । कहा है—

तं बभं भगवंतं—गहगण-नक्षत्रतारागणं वा जहा उडुपती
× × × लेश्यासु य परमसुक्कलेम्सा × × × एवमणेगा गुणा अहीणा
भवंति एककंमि बभंचेरे ।

—पृष्ठा० अ ६ । सू २

जैसे ग्रह-नक्षत्र-तारा आदि में चन्द्रमा श्रेष्ठ है, लेश्या में परमशुक्कलेश्या श्रेष्ठ है । उसी प्रकार सब व्रतों में ब्रह्मचर्य श्रेष्ठ है ।

भावधारा (लेश्या) के आधार पर आभामण्डल बदलता है और लेश्या ध्यान के द्वारा आभामण्डल को बदलने से भावधारा भी बदल जाती है । हमारी भावधारा जैसी होती है उसी के अनुरूप मानसिक चिन्तन तथा शारीरिक मुद्राएं होती हैं । कषाय की मंदता में लेश्या, अध्यवसाय शुद्ध होते हैं ।

अन्वय तथा व्यतिरेक से लेश्या के सयोगत्व की अपेक्षा (लेश्या) के द्रव्यों को योग के अन्तर्गत समझना चाहिए । जिससे आत्मा कर्म के साथ लिप्त होती है वह लेश्या है । अस्तु लेश्या योग के अन्तर्गत द्रव्य रूप हैं । योग द्रव्य कषाय उदय का कारण है लेश्या से स्थितिपाक विशेष होता है कषायोदय के अन्तर्गत कृष्णादि लेश्या के परिणाम हैं । असल में कृष्णादि अशुभलेश्या कषाय उदय रूप ही है । कृष्णादि द्रव्यों के निमित्त से, मुख्यता से स्कटिक की तरह आत्मा के जो परिणाम होते हैं उसमें इस लेश्या की प्रवृत्ति होती है । जिसके द्वारा जीव अपने को पाप-पुण्य में लिप्त करें उसको लेश्या कहते हैं ।^१

१. गोजी० गा ४८८ । संस्कृत छाया

रंगों का शारीरिक, भावनात्मक, मानसिक और आध्यात्मिक प्रभाव पड़ता है। रंग केवल प्रकाश का ही एक विभागीय हिस्सा है। भावनात्मक स्थितियों में हरे रंग से अधिक लाभदायक होता है। विशुद्धि चक्र को सक्रिय करता है। रंगों के सम्यक् ज्ञान और सम्यक् प्रयोग से जीवन को शाश्वत जैसा बनाया जा सकता है।

यद्यपि स्थावर जीवों में मन व वाणी विकसित नहीं होती, किन्तु उनमें प्रति-क्षण कर्मबन्ध होता रहता है। कषायतन्त्र की चिकित्सा लेश्या तन्त्र को समझकर की जा सकती है। जब तक भाव का परिवर्तन नहीं होता, लेश्या का परिवर्तन नहीं होता। भावतन्त्र निरंतर सक्रिय रहता है, उसके निरंतर हिंसा का बंध हो रहा है। जबतक लेश्या का परिवर्तन नहीं होता, तबतक भावतन्त्र पर उसका कोई प्रभाव नहीं होता।

अध्यवसाय आत्मा एक सूक्ष्म परिणाम है जो प्रशस्त-अप्रशस्त दोनों प्रकार होता है। कहा है—

सूक्ष्मेषु आत्मनः परिणामविशेषेषु (अध्यवसायः) ।

—अभिधान० भाग १। पृ० २३८

अर्थात् अध्यवसाय आत्मा का सूक्ष्म परिणाम है। पण० में कहा है—

नेरइया णं भंते ! केवइया अज्झवसाणा पन्नत्ता ? गोयमा ! असंखेज्जा अज्झवसाणा पन्नत्ता । ते णं भंते किं पसत्था, अप्पसत्था ? गोयमा ! पसत्थावि अप्पसत्थावि । एवं जाव वेमाणिया ।

—प्रज्ञा० पद ३४ । सू २०४७-४८

नारकी यावत् वैमानिक सभी दण्डकों के जीवों में प्रशस्त-अप्रशस्त दोनों प्रकार के अध्यवसाय होते हैं।

देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण जो पट्टावली के क्रम में देवर्द्धिगणी का नाम सत्ताईसवां आता है। ये भगवान महावीर के गर्भ संहरण करने वाले हरिणगवेषी देव थे। देव वाचक भी उनका नाम था। उनका स्वर्गवास वीर नि० १००० (वि० सं० ५३०) में हुआ। दुर्बलिका पुण्यमित्र नौ पूर्वा के ज्ञाता थे। इनका जन्म वि० नि० ५५० में व दीक्षा ५६७ में हुई। आर्यरक्षित को साढ़े नौ पूर्वा का ज्ञान था। ७५ वर्ष की आयु में वि० नि० ५६७ में स्वर्गवासी हुए।

नंदीसेन मुनि—जो श्रेणिक राजा के पुत्र थे। अपने पूर्व जन्म में मनुष्य के भव में सुपात्र दान मुनि को देने से प्रशस्त लेश्या, शुभअध्यवसाय से देवगति का आयुष्य बांधा।

भगवान महावीर के अनेक अतिशयोक्तियों में देवकृत ये आठ प्रातिहार्य अतिशय माने जाते हैं। केवलज्ञान की प्राप्ति के समय प्रशस्त लेश्या के साथ ध्यान नहीं होता है। ध्यान्तरिका में केवल ज्ञान उत्पन्न हुआ। केवली के मनोयोग, वचन-योग के समय योग निरोधात्मक ध्यान नहीं होता है परन्तु प्रशस्त लेश्या अदृश्य-मेव होती है।

खमावणयाएणं मणयलहायण भावं जणयइ ।

—उत्त० अ २६

क्षमा करने से व्यक्ति को मन की प्रसन्नता प्राप्त होती है। क्षमा सरसता की अधिष्ठात्री है।

योग के दो रूप बनते हैं—द्रव्य योग और भाव योग। द्रव्य योग पौद्गलिक परिणति और भाव योग आत्मपरिणति है। योग की तरह लेश्या के भी दो रूप बनते हैं—द्रव्य लेश्या और भाव लेश्या। द्रव्य लेश्या पौद्गलिक परिणति है और भाव लेश्या आत्मपरिणति। इस अर्थ में योग और लेश्या में समानता की प्रतीति होती है। किन्तु ये दोनों एक नहीं हो सकते।

जहाँ लेश्या है, वहाँ योग है और जहाँ योग है, वहाँ लेश्या है। यह इनका सहावस्थान है। इनमें साहचर्य का सम्बन्ध है। किन्तु इनका स्वरूप एक नहीं है। काययोग का सम्बन्ध है—शरीर की क्रिया से है। वचनयोग का सम्बन्ध वाणी से है। और मन का सम्बन्ध चिन्तन से है। लेश्या का सम्बन्ध भावधारा से है। चिन्तन और भावधारा दोनों भिन्न हैं। चिन्तन मन की क्रिया है और भाव चित्त की क्रिया है। जैसा भाव होता है, वैसा विचार बनता है। भाव विचार का जनक है। किन्तु भाव और विचार दोनों एक नहीं हैं। भाव या चित्त चेतन है, मन या विचार अचेतन है। भाव चेतना का स्पन्दन है, वह स्थायी तन्व है। मन उत्पन्न होता है और विलीन होता है। वह फिर उत्पन्न होता है और विलीन होता है इसलिए अस्थायी तन्व है। इस दृष्टि में मनो-योग और लेश्या एक नहीं है।

औदयिक भाव से कर्म नहीं कटते हैं, क्षायिक तथा क्षायोपशमिक भाव से पुण्य कर्म नहीं बंधता है। धर्म लेश्या से कर्म कटते हैं। औदयिक भाव में कृष्णादि छः लेश्याओं का समावेश होता है।

अनेक वचन अपेक्षा की दृष्टि से कहे गये हैं । उन्हें निर्मल न्याय से हृदय में धारण करो । उन्हें देखकर भ्रम में मत फसो । नय वचन निर्दोष व उदार होते हैं ।

औपपातिक सूत्र (१८८) में कहा गया है साधिक आठ वर्ष की आयुवाला सिद्ध हो जाता है । नौवां वर्ष सुरु हो गया, इस दृष्टि से नौ वर्ष कहना भी नयवचनानुसार निर्दोष है ।^१ चूंकि साधिक आठ वर्ष आयु कहा गया, उसमें गर्भगत नव मास मिलाने पर नौ वर्ष हो जाते हैं । उस अवस्था में दीक्षा देने पर कोई दोष दिखाई नहीं देता । इस निर्मल न्याय को तुम देखो—भगवती के टीकाकार ने संवृत्त अतगार जो यथार्थ स्वप्न देखता है, उसे विशिष्ट चरणधर कहा गया है । आवश्यक सूत्र में कहा है कि निद्रावस्था में अयथार्थ स्वप्न देखने पर मुनि को प्रायश्चित्त लेना पड़ता है । अत्यन्त विशुद्ध परिणाम की अपेक्षा कषाय कुशील को अप्रतिसेवी कहा है ।^२

कषाय कुशील निवृत्त में छः लेश्याएँ, पाँच शरीर और छः समुद्घात बतलाये गये हैं । प्रश्न व्याकरण सूत्र में सत्य व दत्तको संवर कहा गया है ।

जिस कर्म के उदय से व्यक्ति हिंसा, असत्यादि असत् आचरण करता है वह पाप है, अथवा जो कर्म पुद्गल आकर चिपकते हैं वह पाप है । पाप कर्म के बंधन में कृष्णादि शुभ लेश्या भी निमित्त बनती है ।

प्रतिक्रमण का अर्थ—प्रति का अर्थ है वापस व क्रमण का अर्थ है चलना । वापिस चलना, लौट जाना ।

उपसर्ग—भगवान महावीर के समवसरण में गोशालक ने तेजो लेश्या से सर्वानुभूति एवं मुनक्षत्र मुनि को जला दिया । उसी तेजो लेश्या का भगवान पर प्रयोग किया । यह प्रथम आश्चर्य है । भगवान महावीर के परिजनों का आयुष्य इस प्रकार है ।

१—पूर्व पिता—ऋषभदत्त ब्राह्मणः	१०० वर्ष
२—पूर्व माता—देवानंदा ब्राह्मणी	१०५ वर्ष
३—पिता सिद्धार्थ	८७ वर्ष
४—माता त्रिशला	८५ वर्ष
५—चाचा सुपाश्व	६० वर्ष

१. भीष्मी चरचा ढाल १३ । गा ७५, ७६

२. भगवती श २५ । उ ७

- | | |
|--------------------------|---------|
| ६—नन्दी वर्धन | ८८ वर्ष |
| ७—सुदर्शना (बहन) | ६५ वर्ष |
| ८—यशस्वती (दोहित्री) | ६० वर्ष |
| ९—प्रियदर्शना (पुत्री) | ६५ वर्ष |
- १०—यशोदा—भगवान ने पत्नी को छोड़कर दीक्षा ली। जिनकी अवस्था १०० के आसपास थी।

दीक्षा के समय भगवान महावीर के प्रशस्त लेश्या थी, शुभ अध्यवसाय थे। दीक्षा के बाद छट्टा गुणस्थाय भी आया। उनमें छठों लेश्या रही। गोशालक को बचाने के लिए शीतल तेजो लेश्या का भी प्रयोग किया।

मनुष्य जिन परिस्थितियों में—जिस वातावरण में रहता है, उनका उस पर असर होता है—यह सर्व सम्मत है।

इसका दार्शनिक तथ्य यह है कि मनुष्य जब सोचता है, तब उसे बहुत से पुद्गल स्कन्धों को ग्रहण करना पड़ता है। क्योंकि पौद्गलिक सहायता के बिना विचारों का परिवर्तन नहीं हो सकता। अच्छे पुद्गल अच्छे विचारों के सहायक होते हैं और बुरे पुद्गल बुरे विचारों के। यह एक सामान्य नियम है। किसी क्षेत्र में ऐसे अनिष्ट पुद्गल होते हैं कि वे शुद्ध विचारों को एकाएक बदल डालते हैं। जैन परिभाषा में आत्मीय विचारों को भाव लेश्या और उनके सहायक पुद्गलों को द्रव्य लेश्या कहते हैं। जैसा कि कहा है—

लेश्या का निक्षेप—नो आगम द्रव्य लेश्या के अन्तर्गत तद्व्यतिरिक्त नो आगम द्रव्य लेश्या के स्वरूप निर्दोष है। तदनुसार चक्षुरिन्द्रिय के द्वारा ग्रहण करने योग्य पुद्गल स्कन्धों के वर्ण का नाम तद्व्यतिरिक्त द्रव्य लेश्या है वह कृष्ण, नीलादि के भेद से छः प्रकार की है। वह कितने होती है, इसे बताया गया है।

नो आगम भाव लेश्या के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि कर्मागमन का कारण भूत जो मिथ्यात्व, असंयम और कषाय से अनुरंजित योग की प्रवृत्ति होती है उसका नाम नो आगम भाव लेश्या है। अभिप्राय यह है कि मिथ्यात्व, असंयम और कषाय के आश्रय से जो संस्कार उत्पन्न होता है उसे नो आगम भाव लेश्या जानना चाहिए। यहाँ नैगम नय की अपेक्षा नो आगम द्रव्य लेश्या और नो आगम भाव लेश्या ये दो प्रसंग प्राप्त हैं।

षट्खंडागम की मान्यता के अनुसार कहा है कि जीव के द्वारा अप्रतिगृहीत पुद्गल स्कन्धों में कृष्ण, नील आदि वर्ण होते हैं, यही द्रव्य लेश्या है जो कृष्णादि के भेद से छः प्रकार की है। उनके ये छः भेद द्रव्याधिक की विवक्षा से निर्दिष्ट है, पर्यायाधिकनय की विवक्षा से वह असंख्यात लोक प्रमाण भेदों वाली है। यथा—जिस शरीर में प्रमुखता से कृष्ण वर्ण पाया जाता है, उसे कृष्ण लेश्या वाला (द्रव्य कृष्ण वाला) कहा जाता है।^१

भावलेश्या-मिथ्यात्व, असंयम, कषाय व योग के आश्रय से जीव के जो संस्कार उत्पन्न होता है उसे भाव लेश्या कहते हैं। उसमें तीव्र संस्कार को कापोत लेश्या, तीव्रतर संस्कार को नीललेश्या, तीव्रतम संस्कार को कृष्ण लेश्या मन्द संस्कार को तेजो लेश्या या पीत लेश्या, मंदतर संस्कार को पद्मलेश्या और मंदतम संस्कार को शुक्ललेश्या कहा जाता है।^२

उपाध्याय श्री विनय विजयजी ने इसी पक्ष को ग्राह्य ठहराया है।^३

निक्षेप पद्धति शब्द के मौलिक एवं प्रसृत अर्थ के निकट पहुँचने का अत्यन्त उपयोगी साधन है। निर्युक्तिकार ने लेश्या शब्द के निक्षेप करते हुए लिखा है—

१—लेश्यानाममनुभागबन्ध हेतुतया स्थितिबन्ध हेतुत्वायोगान् अन्यञ्च कर्म निस्पन्दः किं कर्मकल्कउत कर्मसार—न तावत् कर्मकल्कः, तस्यासारः तयोत्कृष्टानुभागबन्ध हेतुत्वानुपपत्तिः प्रसतेः कल्को हि असारो भवति असारश्च कथमुत्कृष्टानुभागः बन्ध हेतुः। अथचोत्कृष्टानुभाग बन्ध हेतवोऽपि लेश्या भवन्ति, अथ कर्मसार इति पक्षस्तर्हि कस्य कर्मणः सारः इति वाच्यम्। यथायोग भ्रष्टानामपीति चेत् भ्रष्टानामपि कर्मणां शास्त्रे विपाका वर्ण्यन्ते न च कस्यापि लेश्या रूपो विपाक उपदर्शितः—

—प्रज्ञा० पद १७। पृ० ३३१

तत्त्वतः स्थितिबंध का कारण कषाय नहीं, लेश्या है। जहाँ कषाय होती है वहाँ गाढ़ बंध होता है। स्थितिबंध का पाक कषाय से होता है। कर्म प्रवाह को लेश्या मानना यौक्तिक नहीं लगता।

१. षट्० पु १६

२. षट्० पु १६

३. न लेश्या स्थिति हेतवः किन्तु कषायाः, लेश्यास्तु कषायोदयान्तर्गताः अनुभाग हेतवः, अतएव च स्थिति पाकविशेषस्तस्य भवति लेश्या विशेषेण।

कर्मों के दो रूप बनते हैं—कर्मसार और कर्मकल्क (असार) । यदि कर्मों के असार भाव को निष्पन्द माने तो तर्क होता है कि असार (मुक्त) कर्म प्रकृति लेश्या के उत्कृष्ट अनुभाग बंध में कारण कैसे बनेगी । कर्मों के सारभाव को निष्पंद कहें तो किस कर्म के सारभाव को ? यदि आठों ही कर्मों को मानने तो आगमों में जहाँ कर्मों के विपाक बताये गये हैं वहाँ किसी भी कर्म का लेश्या का रूप विपाक नहीं बताया गया है । अतः यह योग परिणाम लेश्या को ही यथार्थ जानना चाहिए ।^१

योगशास्त्र में आचार्य हेमचन्द्र ने कहा है—

“पूर्वमप्राप्तधर्माऽपि परमानन्दनन्दिता ।

योगप्रभावतः प्राप्ता मरुदेवी परंपदम् ॥”

—प्रकाश १ । सु ११

टीका—मरुदेवा हि स्वामिनी आसंसारं त्रसत्वमात्रमपि नानु-
भूतवती किं पुनर्मानुषत्वं तथापि योगबलसमृद्धेन शुक्लध्यानाग्निना
चिरसंचितानि कर्मन्धनानि भस्मसात्कृतवती ।

यदाह—जह एग मरुदेवा अचंचंत थावरा सिद्धा × × × ननु-
जन्मान्तरेऽपि अकृतक्रूरकर्माणां मरुदेवदीना योगबलेन युक्तः
कर्मक्षया ।^२

अर्थात् पहले किसी भी जन्म में धर्म सम्पत्ति प्राप्त न करने पर भी योग के प्रभाव से (प्रशस्तलेश्यादि) मुक्ति (प्रसन्न) मरुदेवी माता ने परमपद मोक्ष प्राप्त किया है । मरुदेवी माता ने पूर्व किसी भी जन्म में सद्धर्म प्राप्त नहीं किया था और न त्रसयोनि प्राप्त की थी और न मनुष्यत्व का अनुभव किया था । केवल मरुदेवी के भव में योगबल से मिथ्यात्व से सम्यक्त्व को प्राप्त कर, फिर समृद्ध शुक्लध्यानरूपी महानल को दीर्घकाल संचित कर्मरूपी इंधन को जलाकर भस्म कर दिया था ।

तन्वतः प्रयस्त लेश्या—प्रशस्त अध्यवसाय, शुभयोग में मरुदेवी माता ने मिथ्यात्व से सम्यक्त्व को प्राप्त किया । प्रशस्त लेश्यादि के द्वारा अप्रमत्त भाव में

१. उक्त० अ ३४ । टीका-शान्तिमूर्ति

२. पट्ट० १, १ । पु २ । पृ० ४२३ से ४२५

विचरण करती हुई अन्तर्मुहूर्त मात्र में केवल ज्ञान (भगवान् ऋषभदेव के सम्भरण में) प्राप्त किया । हस्ति के ऊपर बेठी हुई सिद्ध भी हो गई ।

समस्त अंग सहित अर्थ का विस्तार या संक्षेप से जिसका वर्णन होता है उस शास्त्र को स्तव कहते हैं । एक अंग सहित अर्थ का जिससे विस्तार या संक्षेप में कथन होता है उस शास्त्र को स्तुति कहते हैं ।

तीर्थंकर नाम कर्म का बंध होने के बाद वह जीव उस भव में कृष्ण और नील लेश्या में मरण को प्राप्त नहीं होता है । कापोत लेश्या में मरण को प्राप्त कर तीसरी नरक तक जा सकता है । तेजो अथवा पद्म अथवा शुक्ल लेश्या में मरण को प्राप्त हो कर वैमानिक देवों में उत्पन्न होता है । निवृत्ति अर्थात् अपूर्व करण गुणस्थान के प्रथम भाग में श्रेणी चढ़ते समय शुक्ललेशी जीव का मरण नहीं होता ।

सातवीं पृथ्वी के नारकी को औपशमिक सम्यक्त्व की प्राप्ति के समय विशुद्ध लेश्या होती है—उस समय शुभ अध्यवसाय, शुभ परिणाम भी होते हैं । नारकी के शरीर में हड्डी, शिरा (नश) और स्नायु नहीं होती । जो पुद्गल अनिष्ट, अकान्त, अप्रिय, अशुभ, अमनोज्ञ और अमनोहर है, वे पुद्गल नारकियों के शरीर संघात रूप में परिणत होते हैं ।

प्राचीन आचार्यों ने लेश्या की अनेक परिभाषाएँ की हैं । उनमें तीन परिभाषाएँ प्रमुख हैं—

- १—योग परिणाम लेश्या है ।
- २—कषायोदय से अनुरंजित योग-परिणाम लेश्या है ।
- ३—कर्म निव्यन्द लेश्या है ।

ये परिभाषाएँ प्रसिद्ध हैं, किन्तु चिन्तनीय हैं । क्योंकि भाव योग के साथ भाव लेश्या का अन्वय-व्यतिरेकी सम्बन्ध घटित नहीं होता । केदली के काय-योग और वचन योग ये दोनों भावात्मक होते हैं (भावयोग) होते हैं तथा मनोयोग द्रव्ययोग होता है । केदली के शुक्ल लेश्या होती है, वह भी द्रव्य लेश्या है । भावलेश्या उनके नहीं हो सकती । यदि उनके भाव लेश्या हो तो फिर सिद्धों के भी लेश्या का अस्तित्व मानना पड़ेगा ।

आचार्य मलयगिरि ने लेश्या को योग निमित्तज बतलाया है, यह कथन द्रव्य योग और द्रव्य लेश्या की दृष्टि से है । क्योंकि द्रव्य लेश्या की वर्णना का संबंध तैजस शरीर की वर्णना के साथ है । इसलिए द्रव्य लेश्या का और तैजस शरीर

की वर्गणा का अन्वय व्यतिरेकी सम्बन्ध माना जा सकता है। किन्तु भाव लेश्या और योग में अन्वय-व्यतिरेकी सम्बन्ध नहीं है। यह एक रहस्य है।

जीव और पुद्गल दोनों गतिशील है। पर वे निरपेक्ष रूप में गति नहीं कर पाते। इनकी गति क्रिया में सहायक तत्व है धर्मास्तिकाय।

अस्तु मिथ्यात्वी का प्रथम गुणस्थान है। प्रथम गुणस्थान में कृष्णादि छहों लेश्याएँ होती हैं। सर्वार्थ सिद्धि में आचार्य पूज्य पाद ने कहा है—

“लेश्यानुवादेन कृष्ण-नील-कापोतलेश्यानां मिथ्यादृष्ट्याद्य-संयतसम्यग्दृष्ट्यान्तानां सामान्योक्तं क्षेत्रम्। तेजः पद्मलेश्यानां मिथ्यादृष्ट्याद्य प्रमत्तान्तानां लोकस्यासंख्येयभागः। शुक्ललेश्यानां मिथ्यादृष्ट्यादिक्षीणकषायान्तानां लोकस्यसंख्येयभागः।”

—तत्त्व० १। सू ८

अर्थात् मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में कृष्ण, नील और कापोत लेश्या—क्षेत्र की अपेक्षा सामान्योक्त क्षेत्र अर्थात् सर्व लोक में है। तेजो-पद्मलेश्या मिथ्यादृष्टि से अप्रमत्त संयत तक होती है—क्षेत्र की अपेक्षा लोक के असंख्यतावें भाग में है। शुक्ल लेश्या मिथ्यादृष्टि से क्षीण-कषाय पर्यंत होती है जो क्षेत्र की अपेक्षा लोक के असंख्यातवें भाग में है।

अव्यवहार राशि की कायस्थिति दो प्रकार की है—(१) अनादिसांत व (२) अनादिअनंत। जो अव्यवहार राशि से कदापि व्यवहार राशि प्राप्त नहीं करेंगे वे अनादिअनंत हैं जो अव्यवहार राशि से व्यवहार राशि को प्राप्त होने वे अनादिसांत हैं।

आणविक आभा द्रव्यलेश्या है और परिणामस्वरूप लेश्या भावलेश्या है। लेश्या में वर्ण, गंध, रस और स्पर्श होते हैं, उनमें बदलाव होता रहता है। लेश्या में परिवर्तन से व्यक्ति के विचारों और व्यवहारों में भी परिवर्तन होता है। यही कारण है कि मृत्यु के समय होने वाली लेश्या के आधार पर व्यक्ति के भावी जीवन की श्रेष्ठता या अश्रेष्ठता का बोध किया जा सकता है।

द्रव्य काययोग के अन्तर्गत कार्मण काययोग भी है जो चतुःस्पर्शी है। अतः काययोग चतुःस्पर्शी और अष्टस्पर्शी दोनों होना चाहिए। भगवती में द्रव्य काययोग के आठ स्पर्शी कहा गया है। यहाँ कार्मण काययोग की विद्वक्षा नहीं की गई है।

नारकी जीवों के छः संहनन में से कोई संहनन नहीं है । अन्य (मजबूत) पुद्गल स्कंध की तरह उन शरीर को बांध रखा है ।^१ जो पुद्गल अनिष्ट और अमनोज्ञ होते हैं उनके वे पुद्गल आहार रूप में परिणत होते हैं । वे अनंतप्रदेशी स्कंध पुद्गल है । कृष्णवर्ण के पुद्गलों का आहार करते हैं ।

तंदुलमत्स्य—जलचर तिर्यंच पंचेन्द्रिय का एक भेद है । अनंत जीवों के साधारण शरीर को निगोद कहते हैं । एक आकाश प्रदेश में अनंत जीवों के असंख्यात-असंख्यात आत्मप्रदेश होते हैं परन्तु एक आकाश प्रदेश पर एक जीव के समूचे प्रदेश नहीं है । एक जीव आकाश के असंख्यात प्रदेश को अवगाहित कर रहता है । निगोद की अवगाहना एक समान होती है ।^२

प्रज्ञापना में काय स्थिति का विवेचन सांव्यावाहारिक राशि की अपेक्षा है ।^३ असंख्यात निगोद का एक गोला होता है । सूक्ष्म निगोद के समूह से उत्पन्न-गोले होते हैं तथा बादर निगोद अवगाहित की अपेक्षा गोले होते हैं । निगोद के गोले असंख्यात है—एक-एक गोले में असंख्यात निगोद है व एक निगोद में अनंत जीव है । निगोद अर्थात् शरीर (औदारिक शरीर) । एक समान अवगाहना वाली असंख्याती निगोद का एक गोला बनता है अर्थात् एक सरस्वी अवगाहना वाली असंख्याती निगोद के समूह को गोला कहा जाता है । वे प्रत्येक जीव की, निगोद की व गोले की अवगाहना एक समान कही है ।^४

शुभयोग से पुण्य तथा निर्जरा दोनों होते हैं । इन दोनों में पूर्व पुण्य का बंध होता है, फिर निर्जरा होती है । आवश्यक वृत्ति में कहा है कि अभव्य जीव अनेक बार अकाम निर्जरा करता हुआ श्रन्धी देश तक आ जाता है अर्थात् यथाप्रवृत्तिकरण को प्राप्त कर लेता है ।

शरीर, मन और भाव तीनों को रंग प्रभावित करते हैं । मनुष्यों पर बाहरी पदार्थों का जो प्रभाव होता है, उससे सबसे ज्यादा प्रभावित करने वाला है रंग । हम नमस्कार महामंत्र के जप के साथ रंगों का प्रयोग करें । इससे लेश्या और रंग का संतुलन सधेगा । शारीरिक, मानसिक और भावात्मक संतुलन सधेगा । यदि व्यक्ति अपने मन को स्वस्थ, शान्त एवं संतुलित रखना

१. जीवाभिगम संग्रहणी

२. निगोद षट्त्रिंशिका गा १६

३. प्रज्ञापना पद १८

४. प्रकरण रत्नावली पृ० ४३, ४४

चाहता है, अपनी भावनाओं को अनुशासित रखना चाहता है तो उसके लिए लेश्या या रंग का ध्यान का प्रयोग बहुत महत्वपूर्ण है। यह लेश्या का विज्ञान, रंग का विज्ञान भीतरी वातावरण को वातानुकूलित बनाने का महत्वपूर्ण विज्ञान है। हम इसका मूल्यांकन और प्रयोग करें। इससे रंगों का संतुलन होगा फलस्वरूप प्रशस्त लेश्या का वातावरण बनेगा।

यद्यपि आगमवाणी के अनुसार पद्मलेशी जीव से तेजोलेशी जीव संख्यातगुणे है। कई आचार्य पद्म लेशी जीव से तेजो लेशी जीव असंख्यातगुणे कहते हैं।

ध्यान और कर्म

ध्यानानलसमालीढमप्यनादिसमुद्भवम् ।

सद्यः प्रक्षीयते कर्म शुद्धयत्यङ्गी सुवर्णवत् ॥४८॥

—ज्ञाना० निर्जरा भावना पृ० ४८

यद्यपि कर्म अनादि काल से जीव के साथ लगे हुए हैं, तथापि वे ध्यान रूपी अग्नि से स्पर्श होने पर तत्काल ही क्षय हो जाते हैं। जैसे अग्नि के ताप से सुवर्ण शुद्ध होता है, उसी प्रकार यह प्राणी भी तप से कर्म नष्ट हो कर शुद्ध हो जाता है।

शरीर, मन और चित्त—तीनों लेश्या से प्रभावित होते हैं। यों भी माना जा सकता है कि लेश्या के निर्माण में इन तीनों का योग रहता है। शरीर और मन पौद्गलिक है। चित्त अपौद्गलिक है। फिर भी इनका आपस में गहरा सम्बन्ध है।

हमारी वृत्तियों, भाव या आदतों। इन सबको उत्पन्न करने वाला सशक्त तंत्र है—लेश्या तंत्र। जब तक लेश्या तंत्र शुद्ध नहीं होता, तब तक आदतों में परिवर्तन नहीं हो सकता। लेश्या तंत्र को शुद्ध करना आवश्यक है।

लेश्या, योग, भाव आदि जैन आगमों के पारिभाषिक शब्द है। आगम साहित्य या जैन सिद्धान्त में लेश्या के विषय में यत्र-तत्र इसकी चर्चा है। भगवती, उत्तराष्टयन, पञ्चवणा आदि आगमों में लेश्या का सांगोपांग विवेचन है। लेश्या जीव की प्रवृत्ति है इसे पाँच भावों के साथ सम्बद्ध होना ही पड़ेगा।

महास्कन्ध द्रव्य वर्गणा का द्रव्य सबसे स्तोक है, क्योंकि वह एक है। द्रव्यार्थता के अपेक्षा एक श्रेणि परमाणु वर्गणा और नाना श्रेणि महास्कन्ध वर्गणा दोनों ही तुल्य होकर सबसे स्तोक है। क्योंकि ये एक संख्या प्रमाण है।

अस्तु जो वृत्तियां अशुभ हैं, अप्रशस्त हैं, वे भीतर ही भीतर विकृति को जन्म देती हैं और मनुष्य को गलितियों के चौराहे पर लाकर खड़ा कर देती हैं। अतः अप्रशस्त लेश्याओं के रहस्य को अच्छी तरह जाने। प्रशस्त लेश्या का सुफल है।

कल्याण मन्दिर स्तोत्र के बनाने वाले आचार्य का समय इतिहासकारों ने वि० सं० ५०० के करीब माना है।

इस स्तोत्र के रचयिता श्री सिद्धसेन दिवाकर उपनाम कुमुदचंद्राचार्य थे। एकदा वृद्धवादीजी से गोवालियों के सम्मुख शास्त्रार्थ से पराजित होने पर इन्होंने वृद्धवादीजी से दीक्षा ली। अपनी कवित्व शक्ति की योग्यता से ये उज्जयिनी के राजा विक्रमादित्य के यहाँ राज गुरु पद से विभूषित किये गये।

राजा विक्रमादित्य को जैन धर्म में प्रविष्ट कराने के लिए राजा के साथ मन्दिर में जाकर 'कल्याण मन्दिर' स्तोत्र की ४८ गाथाएँ रचना करके शिवपिंडि में से पार्श्वनाथ स्वामी की प्रतिमा प्रगट की। इस महिमा को देखकर राजा पूर्ण रूपेण जैन धर्म का अनुयायी हो गया।

इसकी ४ गाथायें भंडार कर दी गई हैं जो कि उपलब्ध नहीं होती और जो उपलब्ध होती हैं वे नूतन हैं। जैसे मनुष्य के शरीर में सिर और वृक्ष के उसकी जड़ मुख्य है वैसे ही समस्त साधु धर्मों का मूलध्यान है। प्रशस्त लेश्याओं से ध्यान को सम्यग् प्रकार साधा जा सकता है।

अस्तु नारकी और देव स्थित द्रव्य लेशी, मनुष्य तथा तिर्यच अनवस्थित लेश्या वाले होते हैं। भाव परावर्त की अपेक्षा देव नारकी में छः लेश्या का उल्लेख प्राचीन ग्रन्थों में मिलता है। यहाँ देव-नारकी के उस प्रकार के भव स्वभाव के कारण लेश्या के परिणाम उत्पत्ति के समय से लेकर भव के क्षयपर्यन्त निरन्तर रहते हैं।

गोशाला नी अणुकम्पाकरी, भगवन्त शीतल लेश्या म्हेलीतामकै ।
भगवती पनरमा शतक में टीका में कह्यो सराम प्रणामकै ॥३१॥

—३०६ बोल की हुंडी, ढाल ३

अर्थात् भगवान महावीर ने छद्मस्थावास्था में गोशाला को बचाने के लिए शीतल तेजो लेश्या का प्रयोग किया—अनुकम्पा के लिए। उस समय भगवान सरामी थे।

३०६ बोल की हुंडी की जोड़ की चौथी ढाल से कहा है—

उत्तराध्ययन अध्ययन तीसमें रे आस्रयरूपीया नाला सोयरे ।
बलि उत्तराध्ययन चौतीसमें रे, कृष्ण लेश्या रा लक्षण आस्रव
जोयरे ॥२६॥

भाव लेश्या केतो कहै जीव छैरे, तो त्यारां लक्षण किम हुवै
अजीव रे ॥३०॥

नोट—भक्तामर स्तोत्र की उत्पत्ति—उज्जयिनी नगरी में भोज नाम के राजा राज्य करते थे । उनकी सभा में मयूर तथा बाण नाम के दो विद्वान पंडित थे । उनमें से मयूर ने सूर्य देव को प्रसन्न करके स्वकुष्ठ रोग को मिटाया, तथा बाण ने चंडी देवी को प्रसन्न कर अपने कटे हुए हाथों को जुड़वाया । ये देखकर राजा ने आश्चर्यान्वित हो कर वैदिक धर्म की प्रशंसा करने लगे । मंत्री ने भी मानसुंगाचार्य से मिलने की प्रार्थना की । प्रार्थना स्वीकार करके राजा ने आचार्य को बुलाकर अपना मंतन्य प्रगट किया । राजा का मंतन्य सुन करके आचार्य महाराज ने धैर्यपूर्वक उत्तर दिया कि हमारा प्रत्येक कार्य आत्मधर्म के लिये है, चमत्कार के लिये नहीं । ये सुनकर राजा ने क्रोधावेश में आचार्य को गले से पंर तक ४८ सांकलों से जकड़कर अंधेरी कोठरी में बन्द कर दिया ।

कोठरी के अन्दर बैठे हुए आचार्य महाराज ने 'भक्तामर स्तोत्र' रूप ऋषभदेव की स्तुति की रचना की और चक्रेश्वरी देवी ने स्वयं प्रकट होकर बंधन तोड़ दिये ।

इस स्तोत्र की ४ गाथाएं भंडार कर दी गई हैं । जो कि उपलब्ध नहीं होती और जो उपलब्ध होती हैं वे नूतन हैं ।

—जन रत्न सार पृ० ६६८, ६९

भक्तामर स्तोत्र के बनाने वाले आचार्यों का दिक्रमीय सम्बत् ६३१ के करीब है ।

पडिलेहणा के २५ बोल में कृष्णलेश्या, नीललेश्या, कापोतलेश्या, परिहरें है ।^१ 'णमोऽधुणं सूत्र' को शक्रस्तव कहा जाता है । कारण जब तीर्थङ्कर भगवान माता के गर्भ में आते हैं तब इसी पाठ से पहले देवलोक के इन्द्र (शक्रेन्द्र), उनकी स्तुति करते हैं ।

१. जन रत्नसार पृ० ३

उवसर्गहर त्रोट श्री भद्रवाहु स्वामी जो चतुर्दश पूर्वधर थे । संघ के मंगल व शांति के लिए बनाया ।

मन पुर है । और चित्त अन्तःपुर । कर्म और संस्कार चित्त में रहते हैं ।

‘जं धिर मज्झवसाणं तं भाणं ।’

स्थिर अध्यवसाय अर्थात् मानसिक एकाग्रता ही ध्यान है । मानसिक एकाग्रता ही प्रज्ञा के द्वार खोलती है । प्रज्ञा का मूल्य स्मृति, मति व बुद्धि तीनों से ज्यादा है । प्रज्ञा ज्ञान की प्रखर ऊर्जा है । मनोशुद्धि या चित्तशुद्धि की साधना प्रशस्त लक्ष्याओं के द्वारा जल्द होती है । चित्त का निर्मलीकरण, जीवन मूल्यों के विशुद्धिकरण का अनुष्ठान है । चित्तशुद्धि, ध्यान की पूर्व भूमिका है । भावों की शुद्धि पहला चरण है और ध्यान दूसरा चरण । चित्त का शांत होना जीवन का संस्कार है ।

उपशम श्रेणी में स्थित मुनि यदि काल कर जाय तो अहमिन्द्र देव होता है । कहा है—

सुअकेवली आहारग, उज्जुमइ उवसंतगाधि उपमाया ।

हिंदति भवमणंतं, तयणंतरमेव चउगइया ॥

—प्रकरण रत्नावली पृ० ६६

अर्थात् श्रुतकेवली—चौदह पूर्वी, आहारक शरीर की लब्धिवाले, ऋजुमति मनःपर्यवज्ञानी, तथा ग्यारहवें गुणस्थान में उपशांत मोह वाले भी प्रमाद के योग से उस भव में चार गति वाले होकर अनंतभव भ्रमण करते हैं ।

धर्मनाथ तीर्थङ्कर ने प्रवचन में गणधर के प्रश्न करने पर कहा कि यह जो मेरे पास चूहा बैठा है यह मोक्ष जायेगा । यह पूर्वभव में साधु था । चूहा-चूही के परस्पर आमोद-प्रमोद करते देखकर निदान किया—चूहे योनि में उत्पन्न हुआ । जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हुआ । संथारा ग्रहण कर देवलोक में गया, फिर मोक्षगामी होगा ।

प्रतीत होता है कि परिणाम, अध्यवसाय व लक्ष्या में बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है । जहाँ परिणाम शुभ होते हैं, अध्यवसाय प्रशस्त होते हैं वहाँ लक्ष्या विशुद्ध-मान होती है । कर्मों की निर्जरा के समय (तेरहवें गुणस्थान तक) में परिणामों का शुभ होना अध्यवसायों का प्रशस्त होना तथा लक्ष्या का विशुद्धमान होना

आवश्यक है (देखें '६६'२) । जब वैराग्य भाव प्रकट होता है तब इन तीनों में क्रमशः शुभता, प्रशस्तता तथा विशुद्धता होती है (देखें '६६'२३) यहाँ परिणाम शब्द में जीव के मूल भूत दस परिणामों में से किसी परिणाम की ओर इन्गित किया गया है यह विवेचनीय है । कुछ आचार्यों की यह मान्यता रही है यहाँ परिणाम में योग अथवा लेश्या समझना चाहिए । लेश्या और अद्यवसाय का कंसा सम्बन्ध है यह भी विचारणीय विषय है ।

संतघातक और तीर्थङ्कर के अशातक गोशालक के लिए सातवीं नरक का द्वार खुल चुका था । पर अन्तर्मुहूर्त पहले उसकी लेश्या बदल गई । उसने आत्म-निन्दा की । अपने दुष्कृत के लिए अनुताप किया । और भगवान महावीर का गुणानुवाद किया । लेश्या की विशुद्धि से वह मृत्यु प्राप्त कर बारहवें स्वर्ग में उत्पन्न हुआ । आत्मग्लानि में उसकी लेश्या प्रशस्त हो गई और उसने देवगति के आयुष्य का बंध कर लिया ।

कहा है—

समिति-एकीभावे उत्-प्राबल्ये, एकीभावेन प्राबल्येन घातः
समुद्घातः ।

—जीवा० पृ० ४४

अर्थात् वेदना आदि के साथ एक रूप होकर वेदनीयादि कर्म दलिकों का प्रबलता के साथ घात करना समुद्घात कहलाता है । सात समुद्घात में पाँचवाँ समुद्घात तेजस समुद्घात है । तेजस शरीर नाम कर्म को लेकर यह होता है । तेजो लेश्या लब्धिवाला यह समुद्घात कर सकता है । इसमें तेजस शरीर नाम कर्म की बहुत निर्जरा होती है ।

कर्मोदय प्रत्ययिक जो भाव उदय विपाक से उत्पन्न होते हैं उन्हें जीव भाव बंध कहा गया है । कर्मोदय के आश्रय से उत्पन्न होने वाले निम्नलिखित सब भावों को औदयिक समझना चाहिए । उनमें कृष्णादि छः लेश्याओं का भी उल्लेख है ।

(१) देव, (२) मनुष्य, (३) तिर्यञ्च, (४) नारक, (५) स्त्रीवेद, (६) पुरुषवेद, (७) नपुंसकवेद, (८) क्रोध, (९) मान, (१०) माया, (११) लोभ, (१२) राग, (१३) द्वेष, (१४) मोह, (१५) कृष्णलेश्या, (१६) नीललेश्या, (१७) कापोतलेश्या, (१८) तेजोलेश्या, (१९) पद्मलेश्या, (२०) शुक्ललेश्या, (२१) असंयत, (२२) अविरत, (२३) अज्ञान और (२४) मिथ्यादृष्टि ।^१

१. षट्खंडागम पु १४ पृ० ११

तत्त्वार्थसूत्र में इन औदयिक भावों का निर्देश इस प्रकार है—गति ४, कषाय ४, लिंग (वेद) ३, मिथ्या दर्शन १, अज्ञान १, असंयत १, असिद्धत्व १, और लेश्या ६ । ये सब २१ हैं ।^१

तत्त्वार्थ की अपेक्षा यदि षट्खंडागम में (१२) राग, (१३) द्वेष, (१४) मोह और (२२) अविरत ये चार भाव अधिक हैं तो तत्त्वार्थ सूत्र में षट्खंडागम की अपेक्षा 'असिद्धत्व' अधिक है ।

षट्खंडागम और जीव समास दोनों ग्रन्थों में ज्ञातव्य के रूप में निर्दिष्ट उन चौदह मार्गणाओं का उल्लेख समान शब्दों में इस प्रकार किया गया है—

गइ इंदिए काए जोगे वेदे कसाए णाणे संजमे दंसणे लेस्सा भविय सम्मत्त सण्णि आहारए वेदि ।

—षट्० खं० १, १, ४ । पु० १

गइ इंदिए य काए जोगे वेए कसाय नाणे य ।
संजय दंसण लेस्सा भव सम्मे सन्नि आहारे ॥

—जीव समास गा ६

विशेषता इतनी है कि षट्खंडागम में जहाँ इनका उल्लेख गद्यात्मक सूत्र में किया गया है, वहाँ जीव समास में वह गाथा के रूप में हुआ है ।

गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, लेश्या, संयम, दर्शन, ज्ञान, भवि, सम्यक्त्व, आहार, संजी—ये चौदह मार्गणा हैं ।

जैसे अग्नि में प्रतप्त लोहे का गोला सादा, लाल अग्निमय हो जाता है वैसे ही निगोद रूप एक शरीर में अनन्त जीवों का परिणमन जान लेना चाहिए । एक, दो, तीन, संख्यात, असंख्यात निगोद जीवों का शरीर दृष्टिगोचर हो नहीं होता अनंत निगोद के शरीर ही दृष्टिगोचर हो सकते हैं । सुई की नोक के बराबर निगोदकाय में असंख्यात गोले होते हैं, एक-एक गोले में असंख्यात निगोद होते हैं और एक-एक निगोद में अनंत-अनंत जीव होते हैं ।

कर्म के दो भेद हैं—द्रव्यकर्म और भावकर्म । द्रव्यकर्म के मूल भेद आठ हैं । ये सब पुद्गल के परिणाम रूप हैं । क्योंकि जीव की परतन्त्रता में निमित्त होते

१. तत्त्वार्थ० अ २ । सू ६

हैं। और भावकर्म चैतन्य के परिणामरूप क्रोधादि भाव है। कर्मकाण्ड में कहा है—

पुग्गलपिण्डो दठ्वं तस्सत्तो भावकम्मं तु ॥६॥

अर्थात् पुद्गल के पिण्ड को द्रव्यकर्म कहते हैं और उसमें जो शक्ति है उसे भावकर्म कहते हैं। उक्त गायथा को जीवतत्वप्रदीपिका की टीका में लिखा है—

पिण्डगतशक्तिः कार्ये कारणोपचारात् शक्तिर्जनिताज्ञानादिर्वा भावकर्म भवति ।

उस पुद्गल पिण्ड में रहने वाली फल देने की शक्ति भावकर्म है। अथवा कार्य में कारण के उपचार से उस शक्ति से उत्पन्न अज्ञानादि भी भावकर्म है।

लेश्या जैनदर्शन का महत्वपूर्ण दिषय है। जहाँ लेश्या है वहाँ किसी न किसी प्रकार की क्रिया आवश्यक है। जहाँ लेश्या परिणाम नहीं है वहाँ किसी भी प्रकार की क्रिया सम्भव नहीं है। सलेशी जीव सक्रिय होते हैं, अक्रिय नहीं होते हैं। अलेशी जीव अक्रिय होते हैं, सक्रिय नहीं होते हैं। सलेशी नारकी सक्रिय होते हैं, अक्रिय नहीं होते हैं। सलेशी नारकी की तरह दण्डक के सभी सलेशी जीव सक्रिय होते हैं, अक्रिय नहीं होते हैं। (देखो भग० श ४१ । उ १ । सू १२, १७, १६)

उपयोग जीव का मौलिक गुण है तथा उसका लक्षण है और सभी सलेशी व अलेशी जीवों में पाया जाता है। कहा है—

“अलेश्यस्य केवलिनः कृत्स्नयोर्ज्ञेयः—दृश्ययोः केवलं ज्ञानम्, दर्शनं च उपयुञ्जानस्य अपरिस्पन्दोऽप्रतिरोधां जीवपरिणामविशेष-स्तवकरणम् ।”

—भग० श १ । उ ३ । सू १३० । टीका

अर्थात् अलेशी सर्वज्ञ का केवलज्ञानोपयोग तथा केवलदर्शनोपयोग सर्वथा अपरिस्पन्दात्मक अकरणवीर्य वाला अर्थात् सब प्रकार की क्रिया से रहित होता है। सलेशी अप्रमत्तसंयत के भी माया प्रत्ययिकी क्रिया होती है। तेजोलेश्या (तेजोलब्धि) वाले जीव मिथ्यादृष्टि भी हो सकते हैं तथा सम्मदृष्टि भी।

लेश्या और आभामंडल

द्रव्यलेश्या आन्तरिक प्रकाश रश्मियां है। प्रत्येक व्यक्ति के भीतर एक विद्युत शरीर (तेजस शरीर) की उपस्थिति मानी गई है। वह व्यक्ति के चारों ओर सूक्ष्म प्रकाश की तरंगों को विकिरित करता है। वैज्ञानिक उसे आभामंडल कहते हैं। अध्यात्म की भाषा में उन आंतरिक प्रकाश रश्मियों को द्रव्यलेश्या कहते हैं। रंगों का ध्यान लेश्या ध्यान है। इससे आंतरिक प्रकाश की रश्मियों में परिवर्तन होता है।

प्रकाश, वस्तु व आँख—इन तीनों के संयोग से उत्पन्न स्थिति रंग है। रंग व्यक्ति के अंतर्मन की, अवचेतन को, मस्तिष्क को और समूचे व्यक्तित्व को प्रभावित करते हैं। विभिन्न रंगों के गुणधर्म के अनुसार इनका प्रभाव भिन्न-भिन्न रहता है।

रंग की विद्युत चुम्बकीय ऊर्जा हमारी ग्रन्थि-तन्त्र का नियमन करती है। मानसिक संतुलन के लिए अपेक्षित है—व्यक्ति विधायक चिन्तन का विकास करे। बैंगनी रंग में ध्यान की शक्ति का विकास होता है।

रंगों का ध्यान लेश्या ध्यान है। इससे आन्तरिक प्रकाश की रश्मियों में परिवर्तन होता है। आभामंडल के रंग बदलते हैं। उससे अवांछित भावों में परिवर्तन कर वांछित भाव धारा को पैदा किया जा सकता है। व्यक्तित्व में रूपान्तरण घटित किया जा सकता है।

अहंकार और ममकार का विसर्जन कठिन है परन्तु लेश्या ध्यान से इसको काफी अंशों में छुटकारा पाया जा सकता है। आत्म स्वभाव से ज्ञान स्वरूप है। केवली के वचन योग होता है।

अर्थात् यदि कृष्ण लेश्या नील लेश्या में परिणत नहीं होती तो सातवीं नारकी में नैरयिकों को सम्यक्त्व की प्राप्ति किस प्रकार होती। क्योंकि सम्यक्त्व जिनके तेजो लेश्यादि शुभ लेश्या का परिणाम होता है उनके ही हो सकती है। और सातवीं नारकी में कृष्ण लेश्या होती है तथा भाव परावृत्ति से देव और नारकी के भी छह लेश्या होती है।—यह वाक्य कैसे घटित होगा। क्योंकि अन्य लेश्या द्रव्य के संयोग को तद् रूप परिणमन संभव नहीं है तो भाव की परावृत्ति भी नहीं हो सकती है।

उत्तर में कहा गया है कि मात्र आकार भाव से प्रतिबिम्ब भाव से कृष्ण लेश्या नील लेश्या होती है लेकिन वास्तविक रूप में तो ही है, नील लेश्या नहीं

हुई क्योंकि कृष्ण लेश्या अपने स्वरूप को नहीं छोड़ती । जिस प्रकार आरीसा में किसी का प्रतिबिम्ब पड़ने से वह उस रूप नहीं हो जाता है, लेकिन आरीसा ही रहता है । प्रतिबिम्ब व वस्तु का प्रतिबिम्ब छाया जरूर उसमें दिखाई देती है ।

ऐसे स्थल में जहाँ कृष्ण लेश्या अपने स्वरूप में रहकर 'अवस्वप्कते उत्स्वप्कते' नील लेश्या के आकार भाव को धारण करने से या उसके प्रतिबिम्ब भाव मात्र अथवा स्पष्ट रूप परिणति होकर नील आदि लेश्या के रूप में नहीं होती है यह विवरण हम लोगों की गति कल्पना से नहीं है—क्योंकि प्रज्ञापना सूत्र में लेश्या पद में इस प्रकार प्रतिपादन किया है—उस सूत्र विस्तार के भय से यहाँ विश्लेषण नहीं किया जाता है ।

इस प्रमाण से सातवीं पृथ्वी में भी जिस समय कृष्ण लेश्या, तेजो लेश्या आदि द्रव्यों को प्राप्त कर तदाकार मात्र अथवा उस प्रतिबिम्ब मात्र वाला होता है । उस समय कृष्ण लेश्या के द्रव्य का योग होने पर भी साक्षात् तेजो लेश्यादि द्रव्यों को ही मानो संपर्क नहीं होता है । अस्तु शुभ परिणाम नारकी को होता है । लाल जसुर के कूल के संपर्क होने से स्फटिक को जैसे ललाश आता है वैसे ही लेश्या का तदाकार परिणमन होता है ।

इस प्रकार तेजो लेश्या आदि के परिणाम होने से सातवीं नरक के नारकी को सम्यक्स्व की प्राप्ति में विरोध नहीं होता है । और इस न्याय से तेजो लेश्या आदि होने पर भी सातवीं नारकी में मूल कृष्ण लेश्या है । ऐसा कहने वालों को सुत्रों का व्याघात नहीं होता है क्योंकि यह कृष्ण लेश्या नित्य रहने वाली है । और तेजो लेश्यादि आकार मात्र है । प्रतिबिम्ब रूप में कभी-कभी रहने वाली है और वह तेजो लेश्या आदि की उत्पन्न हो तो भी दीर्घ काल रहने वाली नहीं है । और यदि रहती है तो भी उस लेश्याओं में कृष्ण लेश्या के द्रव्य बिल्कूल स्वयं के स्वरूप नहीं छोड़ सकते हैं । इस प्रकार इस अधिकृत सूत्र में सातवीं नारकी में कृष्ण लेश्या भी कही है । इस प्रकार सर्व स्थल में विचार करना चाहिए ।

देवों के महा प्रभाव और उद्योत भाव को दिखलाने के लिए—द्युति, प्रभा, ज्योति, छाया, अर्चि और लेश्या शब्द का प्रयोग किया गया है । यह प्रयोग वर्णात्मक छाया का द्योतक है । कहा है—

“दिव्वाए पभाए दिव्वाए छायाए दिव्वाए अर्च्चीए दिव्वेणं तेणं दिव्वाए लेसाए दस दिसाओ ।”

—प्रज्ञा० प २

अस्तु दिव्य तेज के बाद दिव्य लेश्या का प्रयोग कुछ विशेष महत्त्वपूर्ण एवं दार्शनिक प्रतीत होता है ।

सभी अवसर्पिणियों में ह्रंडासर्पिणी अधम (निकृष्ट) है । उसमें उत्पन्न तीर्थङ्करों का शिष्य परिवार युग के प्रभाव से दीर्घ संख्या से हटकर हीनता को प्राप्त हुआ है । मिथ्यादृष्टि जीव स्वस्थान-स्वस्थान, वेदना समुदघात, कषाय-समुदघात, मारणान्तिक समुदघात और उपपाद—इन पांच अवस्थाओं के साथ समस्त लोक में रहते हैं ।^१ इन पांचों अवस्थाओं में कृष्णादि छत्रों लेश्याओं का सद्भाज है । कतिपय आचार्यों की यह मान्यता है कि देव नियम से मूल शरीर में प्रविष्ट होकर ही मरण को प्राप्त होते हैं । दर्शन मोहनीय कर्म की क्षपणा चारों ही गतियों में संभव है । कारण यह है कि उन गतियों में उत्पत्ति के कारण भूत लेश्या रूप परिणामों के होने में वहाँ किसी प्रकार का विरोध नहीं है । उपशान्त कषाय का प्रतिघात दो प्रकार से होता है—भवक्षय के निमित्त से और उपशान्त कषाय के समाप्त होने से । उपशान्त काल के क्षय से गिरता हुआ वह उपशान्त कषाय बीतराम लोभ में ही गिरता है क्योंकि सूक्ष्म साम्प्रदायिक गुणस्थानों को छोड़कर अन्य किसी गुणस्थान में जाना सम्भव नहीं है ।

‘बृहद्द्रव्य संग्रह’ की ब्रह्मदेव विरचित टीका में तेजस समुदघात (तेजोलेश्या) के विषय में कहा है कि “अपने मन के लिए अनिष्ट कर किसी कारण को देख कर जिस संयमी महामुनि को क्रोध उत्पन्न हुआ है उसके मूल शरीर को न छोड़ कर जो सिन्दुर के समान वर्ण वाला, बारह योजन दीर्घ, सूच्यंगुल के संख्यातर्ध्वं भाग प्रमाण मूल विस्तार से व नौ योजन प्रमाण अर्ध विस्तार से सहित काहल के समान आकृति वाला पुरुष बायें कन्धे से निकलकर बायीं ओर प्रदक्षिणा पूर्वक हृदय में स्थित विरुद्ध वस्तु को जलाकर उस संयमी के साथ द्वीपायन मुनि के समान स्वयं भी भस्मसात् हो जाता है, उसे अशुभ तेजस समुदघात (उष्ण तेजो लेश्या) कहा जाता है ।”

द्रव्य देश्या प्रायोगिक तथा द्रव्य लेश्या विस्रसा के पुद्गलों में परस्पर में क्या समानता अथवा भिन्नता है । इस सम्बन्ध में लेश्या कोश के तृतीय खण्ड में विस्तृत विवेचन करने का विचार है । (देखें '३)

१. षट्० प्र० ४ । पृ० २६-३१ । टीका धबला

२. बृहद्० टीका गा १८ । पृ० २२, २३

विशिष्ट तपस्या करने से बालतपस्वी, अनगार तपस्वी आदि को तेजो लेश्या रूप तेजोलब्धि की प्राप्ति होती है। देवताओं में भी तेजो लेश्या लब्धि होती है। यह तेजो लेश्या प्रायोगिक द्रव्य लेश्या के तेजो लेश्या भेद से भिन्न प्रतीत होती है। यह तेजो लेश्या दो प्रकार की होती है—(१) शीतोष्ण तेजो लेश्या तथा (२) शीतल तेजो लेश्या। शीतोष्ण तेजो लेश्या ज्वाला दाह पैदा करती है, भस्म करती है। आज कल के अणुबम की तरह इसमें अंग, बंग इत्यादि १६ जनपदों का घात, वध, उच्छेद तथा भस्म करने की शक्ति होती है।

शीतल तेजो लेश्या में ऊष्ण तेजो लेश्या से उत्पन्न ज्वाला दाह को प्रशान्त करने की शक्ति होती है। वैश्यायण बालतपस्वी ने गोशालक को भस्म करने के लिए शीतोष्ण तेजो लेश्या निक्षिप्त की थी। भगवान महावीर ने शीतल तेजो लेश्या छोड़ कर उसका प्रतिघात किया था। निक्षेप की हुई तेजो लेश्या का प्रत्याहार भी किया जा सकता है।

तेजो लेश्या जब अपने से लब्धि में अधिक बलशाली पुरुष पर निक्षेप की जाती है तब वह वापस आकर निक्षेप करने वाले के भी ज्वाला-दाह उत्पन्न कर सकती है तथा उसको भस्म भी कर सकती है।

यह तेजो लेश्या जब निक्षेप की जाती है तब तंजस शरीर का समुद्घात करना होता है तथा इस तेजो लेश्या के निर्गमन काल में तंजस शरीर नाम कर्म का परिशात (क्षय) होता है। निक्षिप्त की हुई तेजो लेश्या के पुद्गल अचित्त होते हैं (देखे '२५, '६६'४, '६६'१४, '६६'१५)

कृष्णलेश्या से परिणत जीव निर्दय, कलहप्रिय, वैरभाव की वासना से सहित, चौर, असत्यभाषी, मधु-मांस-मद्य में आसक्त, जिनोपदिष्ट तत्व के उपदेश को न सुनने वाला और असदाचरण में अडिग रहता है।

कृष्णादि छत्रो लेश्याओं में से प्रत्येक अनन्तभाववृद्धि आदि छह वृद्धियों के क्रम से छह स्थानों में पतित है।

कृष्णलेश्या वाला जीव संक्लेश को प्राप्त होता हुआ अन्य किसी लेश्या में परिणत नहीं होता, किन्तु स्वस्थान में ही अनन्तभागवृद्धि आदि छह वृद्धियों से वृद्धिगत होकर स्थानसंक्रमण करता हुआ स्थित रहता है। अन्य लेश्या में परिणत वह इसलिए नहीं होता, क्योंकि उससे निकृष्टतर अन्य कोई लेश्या नहीं है। वही यदि विशुद्धि को प्राप्त होता है तो अनन्तभाग हानि आदि छह हानियों से

संकलेश की हानि को प्राप्त हुआ स्वस्थान (कृष्णलेश्या) में स्थान संक्रमण करता है । वही अनन्तगुणा संकलेशहानि से परस्थानस्वरूप नीललेश्या में भी परिणत होता है । इस प्रकार कृष्णलेश्या में संकलेश की वृद्धि में एक ही विकल्प है, किन्तु विशुद्धि की वृद्धि में दो विकल्प है—स्वस्थान में स्थित रहता है और परस्थानरूप नीललेश्या में भी परिणत होता है ।

नीललेश्या वाला संकलेश की छह स्थान पतित वृद्धि के द्वारा स्वस्थान में परिणत होता है और अनन्तगुणा संकलेशवृद्धि के द्वारा कृष्णलेश्या में भी परिणत होता है । इस कारण यहाँ दो विकल्प है ।

यदि वह विशुद्धि को प्राप्त होता है तो वह पूर्वोक्तक्रम से स्वस्थान में स्थित रहकर हानि को प्राप्त होता है तथा अनन्तगुणी विशुद्धि के द्वारा वृद्धिगत होकर कापोतलेश्या में भी परिणत होता है । इस प्रकार इसमें भी दो विकल्प है ।

परिणमन का यही क्रम अन्य लेश्याओं में भी है । विशेष इतना है कि गुक्लेश्या में संकलेश की अपेक्षा दो विकल्प है, किन्तु विशुद्धि की अपेक्षा उसमें एक ही विकल्प है, क्योंकि यह सर्वोत्कृष्ट विशुद्ध लेश्या है ।^१

सर्वसंवरस्वरूप चारित्र्य के स्वामी को शैलेश और उसकी अवस्था को शैलेशी कहा गया है । प्रकारान्तर से शैलेश का अर्थ मेरु करके उसके समान स्थिरता को शैलेशी कहा जाता है ।^२

पद्मनन्दि, कुन्दकुन्दाचार्य, वक्रग्रीवाचार्य, एलाचार्य व गृद्ध पिच्छाचार्य—इन पांच नामों से कुन्दकुन्दाचार्य प्रसिद्ध थे ।

समयसार में कहा है—

जह णवि सक्कमणज्जो अणञ्जभासं विणा उ गाहेउं ।

तह व्यवहारेण विणा परमत्थुवएसणमसक्कं ॥

अर्थात् जिस प्रकार अनार्य को—म्लेच्छ को—म्लेच्छ भाषा के बिना अर्थ ग्रहण करना शक्य नहीं है, उसी प्रकार व्यवहार के बिना परमार्थ का उपदेश अशक्य है । अतः व्यवहार का उपदेश है ।

शाश्वत और अशाश्वत दृष्टि से चार भंग होते हैं—

१—आदि रहित—अंत रहित—अभव्य की अपेक्षा ।

१. षट्० पु १६ । पृ० ४८३

२. ध्यानशतक गा ७६ हरिवृत्ति में उद्धृत

२—आदि सहित—अंत सहित—प्रतिपाती सम्यग्दृष्टि की अपेक्षा ।

३—आदि रहित—अंत सहित—मोक्षगामी भव्यता अपेक्षा ।

४—आदि सहित—अंत रहित—यह भंग शून्य होता है ।

यद्यपि एक सिद्ध की अपेक्षा—आदि सहित अंत रहित भंग बनता है ।

मुनि गुण वर्णन के प्रसंग में निरूपित निर्जरा के बारह भेदों में आर्त्त और रौद्र ध्यान का भी निरूपण किया गया है । वास्तव में मुनि के गुण रूप में धर्म और शुक्ल ध्यान होते हैं, फिर भी ध्यान शब्द के आधार पर समुच्चयदृष्टि से आर्त्त और रौद्र ध्यान का भी निरूपण किया गया है । इसी प्रकार औदयिक भाव के तैंतीस बोलों में शुभ लेश्या आदि बोलों का प्रतिपादन किया गया है । वे धर्म लेश्यादि क्षायिक-क्षयोपशमिक भाव में हैं । उक्त दृष्टि से दोनों का एक साथ प्रतिपादित है ।^१

अभ्याख्यान एक पाप है । सीता ने अपने पूर्व भव में वेगवती ने सुदर्शन मुनि पर कलंक लगाया कि यह व्यभिचारी है फलस्वरूप जिह्वा मौन हो गई थी ।

उत्तराख्यान ३४ । १ में छत्रों लेश्याओं को कर्मलेश्या कहा गया है, इस दृष्टि से शुभलेश्या कर्मलेश्या भी है ।

अस्तु हमारी पूरी कल्पना का चित्रण परिस्फुटित होकर विद्वानों के समक्ष सम्यग् प्रकार आ सकेगा तब हमारी योजना पूरी तरह सफल मानी जायेगी ।

दशबैकालिक के रचयिता चतुर्दश पूर्वधर शयम्भवसूरि थे । अपने पुत्र 'मनक' की आयु को अल्प (छः मास मात्र) जानकर उनके निमित्त यह ग्रन्थ विकाल (विगत पौषधी) में रचा गया है । कहा है—

छ मासेहि अहि (ही) अं अज्जयणमिणं तु अज्जमणगेणं ।

छम्मासा परिआओ अह कालगओ समाहीए ॥

—दशबै० नि गा ३७०

अतः इसका नाम दशबैकालिक प्रसिद्ध हुआ । उसकी टीका में हरिभद्रसूरि ने शयम्भवसूरि को चतुर्दशपूर्वविद् कहा है ।

१. भीष्मिचरचा ढाल १३ । गा ४४, ४५

गृहपिच्छान्नाथार्थ अपर नाम उमास्वाति के द्वारा विरचित तत्त्वार्थ सूत्र एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है, जो दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही सम्प्रदायों में प्रतिष्ठित है ।

जवास्फटिक न्याय अर्थात् जवापुष्प लाल रंग का होता है उसको स्फटिक में पिरोने से लाल रंग का दिखाई देता है । सांख्यदर्शन के कर्मफल भोग पर यह दृष्टान्त दिया जाता है ।

गर्भस्थ मनुष्य और तिर्यच में लड़कों लेश्या होती है । शुक्लध्यान अलेशी को भी होता है । आर्त्त-रौद्र-धर्मध्यान अलेशी को नहीं होता, सलेशी को होता है ।

सूर्य के विमान से सौ योजन ऊपर शनेश्चर ग्रह का विमान है और वहीं तक ज्योतिषी चक्र की सीमा है, अतः इससे ऊपर सूर्य का तापक्षेत्र नहीं है । जम्बू-द्वीप के पश्चिम महाविदेह से जयंतद्वार की ओर लवण समुद्र के समीप की समभूमि से ८०० योजन ऊँचा सूर्य का विमान है । कहा है—

एयंसि णं एमहालयंसि लोगंसि नत्थि केइ परमाणुपोग्गलमेत्ते वि
पाएसे जत्थ णं अयं जीवेणं जाए वा न माए वा वि ।

—विया० स १२ । उ उ ७ । सू ३ । १-२

अर्थात् इस लोक में ऐसा कोई प्रदेश नहीं है, जहाँ अनेक बार जीव उत्पन्न हुआ और मरा नहीं ।

एक रज्जूलोक का प्रमाण—कोई देव एक हजार भार वाले लोहे के गोले को अपनी समग्र शक्तिपूर्वक आकाश से फेंके और वह लोह गोलक ६ माह, ६ दिन, ६ घड़ी, ६ पल में जितना क्षेत्र लांघ जाए उतना क्षेत्र एक रज्जूलोक कहलाता है ।

समुच्चय जीव में लः लेश्याएँ होती है । मनुष्य में, मनुष्य स्त्री में, कर्मभूमिज मनुष्य और कर्मभूमिज मनुष्य स्त्री में लः-लः लेश्याएँ पाती है । भरत-ऐरभरत क्षेत्र के मनुष्य में, भरत-ऐरभरत क्षेत्र की मनुष्य स्त्री में तथा पूर्व-पश्चिम महाविदेह के मनुष्य में और पूर्व-पश्चिम महाविदेह की मनुष्य स्त्री में लः-लः लेश्याएँ पाती है । अकर्मभूमिज मनुष्य और अकर्मभूमिज मनुष्य स्त्री में तथा छप्पन अंतर्द्वीपज मनुष्य और छप्पन अंतर्द्वीपज मनुष्य स्त्री में चार-चार लेश्याएँ होती है । हेमवय, हैरण्यवत, हरिवर्ष, रम्यक वर्ष, देवकुरु, उत्तरकुरु के मनुष्य और

मनुष्य स्त्री में चार-चार लेश्याएं होती है। पूर्वघातकी खंड, पश्चिमघातकी खंड और पुष्करार्धद्वीप के क्षेत्रों के मनुष्य और मनुष्य स्त्री में ऊपर लिखे अनुसार चार-चार लेश्याएं कहनी चाहिए। ये $१६ + ३८ + ३८ = ९२$ आलापक हुए।

कृष्णलेश्या वाला मनुष्य कृष्णलेश्या वाले गर्भ को उत्पन्न करता है। इसी तरह कृष्णलेश्या वाला, नीललेश्या, कापोतलेश्या, तेजोलेश्या, पद्मलेश्या और शुक्ललेश्या वाले गर्भ को उत्पन्न करता है। इसी तरह नीललेश्या, कापोतलेश्या, तेजोलेश्या, पद्मलेश्या और शुक्ललेश्या वाले मनुष्य में भी छुओं लेश्या वाले गर्भ को उत्पन्न करते हैं। ये $६ \times ६ = ३६$ आलापक हुए। मनुष्य की तरह मनुष्य स्त्री के ३६ आलापक हुए।

नाम कर्म की पुद्गल विपाकी ६२ प्रकृतियां है क्योंकि पुद्गल में ही इनका विपाक होता है—

पांच शरीर, पांच बंधन, पांच संघात, छः संस्थान, तीन आंगोपांग, छः संहनन, पांच वर्ण, दो गंध, पांच रस, आठ स्पर्श, निर्माण, आतप, उद्योत, स्थिर, अस्थिर, शुभ-अशुभ, प्रत्येक, साधारण, अगुरुलघु नाम, उपघात व अपघात नाम एवं ६२ पुद्गल विपाकी प्रकृतियां है।

पुद्गल विपाकी प्रकृतियों का नो आगम भाव कर्म नहीं होता है क्योंकि उनका उदय होते हुए जीव विपाकी प्रकृतियों की सहायता के बिना साक्षात् सुखादि नहीं होते हैं। शरीर के दो पैर, दो हाथ, नितम्ब, पीठ उर, शिर—ये आठ अंग है। शेष उपांग होते हैं। मिश्र गुण स्थान को प्राप्त हुआ जीव 'न सम्मभिच्छो कुणई कालं' समभिध्यादृष्टि में भवान्तर में गमन नहीं करता है।

१—तेजो लेश्या लब्धि—क्रोध की अधिकता से शत्रु की ओर मोटा में अनेक योजन प्रमाण क्षेत्र में स्थित वस्तुओं को भ्रम करने में समर्थ ऐसी तीव्रतर अग्नि निकालने की शक्ति—वह तेजो लेश्या लब्धि है।

शीत लेश्या लब्धि—अति करुणा हीन न होकर जिस पर उपकार करने का होता है उस ओर तेजो लेश्या को बुझाने के लिए समर्थ ऐसी शीतल तेज विशेष झोड़ने की शक्ति को शीत लेश्या लब्धि कहते हैं।

प्रेक्षाध्यान साधना में ध्यान का एक प्रकार है—लेश्या ध्यान। इसमें रंगों पर ध्यान कराया जाता है। रंगों के ज्वन में सुविधा की दृष्टि से नमस्कार महामंत्र का आलम्बन लिया जाता है। पांच चैतन्य केन्द्रों पर पांच रंगों के

साथ पांच पदों का ध्यान सध जाए तो साधक काफी गहराई में उतर सकता है। जीवाभिगम सूत्र में कहा है—

नेरइया सत्तविहा पन्नत्ता, तं जहा—रयणप्पभापुढविनेरइया जाव
अहेसत्तमपुढविनेरइया × × × तिविहा दिट्ठी × × × ।

—जीवा० प्रत्ति० १ । सू ३२

अर्थात् रत्नप्रभा नारकी यावत् सातवीं नारकी में तीनों दृष्टि होती है, यथा—सम्पद्दृष्टि, मिथ्यादृष्टि और सम्पद् मिथ्यादृष्टि ।

जो मनुष्य या संज्ञी तिर्यंच कृष्ण लेश्या में मरण को प्राप्त होकर नारकी में उत्पन्न होते हैं, वे फिर नारकी से मरण को प्राप्त कर मनुष्य या तिर्यंच पंचेन्द्रियादि में उत्पन्न हो जाते हैं परन्तु उस मनुष्य भव में अंतःक्रिया नहीं कर सकते हैं ।

जंबूद्वीप की जगती के ऊपर और पद्मवरवेदिका के अन्दर भाग में एक बड़ा वन खण्ड है। यहाँ पद्मवरवेदिका का व्यवधान होने से तथाविध वायु का आघात न होने से शब्द नहीं होता है। यहाँ बहुत से वानव्यन्तर देवी व देव स्थित होते हैं, लेटते हैं खड़े रहते हैं, बँठते हैं, करबट बदलते हैं, रमण करते हैं, इच्छानुसार क्रियाएँ करते हैं, क्रीड़ा करते हैं, रति क्रीड़ा करते हैं और अपने पूर्व भव में किये गये पुराने अच्छे धर्माचरणों (प्रशस्त लेश्यादि शुभ अनुष्ठान) का सुपराक्रम तप आदि का व शुभ पुण्यों का किये हुए शुभ कर्मों का कल्याणकारी फल विपाक अनुभव करते हुए विचरण करते हैं।^१ अर्थात् पूर्व भव में प्रशस्त लेश्या, शुभ अध्यवसाय, शुभ परिणाम से बहुत सारे कर्मों की निर्जरा की थी ।

देवों में भाषा व मनः पर्याप्ति—एक साथ पूर्ण होने के कारण उनके एकत्व की विवक्षा की गई है। प्रत्येक चन्द्र, सूर्य के परिवार में २८ नक्षत्र, ८८ ग्रह ६६६७५ क्रोड़ाकोड़ी तारागण हैं ।

जघन्य लेश्या स्थान के परिणाम के कारण जघन्य और उत्कृष्ट लेश्या के परिणाम के कारण उत्कृष्ट होते हैं। ये जघन्य-उत्कृष्ट स्थान परिणाम और गुणों के भेद से असंख्यात होते हैं। जैसे स्फटिक मणि जघन्य रक्त अलवतक

१. जीवाभिगम प्रत्ति० ३

जंबूद्वीप प्रज्ञप्ति

(आलता का रंग) से जघन्य रक्त होती है और एक, दो, तीन यावत् असंख्यात गुण अधिक रक्त अलक्तक से एक, दो, तीन यावत् असंख्यात गुण अधिक लेश्या द्रव्यों के योग से लेश्या के असंख्यात परिणाम होते हैं । इसी तरह उत्कृष्ट स्थान भी असंख्यात है । परिणामों के चढ़ने उतरने के साथ ही लेश्याओं के स्थान बदलते रहते हैं ।

परिणाम की अपेक्षा—वैडूर्यमणि का दृष्टान्त है । यह अधिकार तिर्यच और मनुष्य की अपेक्षा है क्योंकि उनमें द्रव्य लेश्या व भाव लेश्या बदलती रहती है । अस्तु नारकी और देवता की अपेक्षा लेश्या का परिणाम इस प्रकार है—

कृष्ण लेश्या, नील लेश्या को पाकर नील लेश्या के रूप में एवं नील लेश्या के वर्ण-गंध-रस और स्पर्श रूप में बार-बार परिणत नहीं होती । वहाँ कृष्ण लेश्या में नील लेश्या का आकार मात्र अर्थात् छाया रहती है, प्रतिबिम्ब रहता है किन्तु कृष्ण लेश्या अपना स्वरूप छोड़ कर नील लेश्या रूप में परिणत नहीं होती । जब योग का पूर्ण निरोध हो जाता है तब लेश्या का परिणमन भी सर्वथा रुक जाता है । अतः तब जीव अयोगी-अलेशी हो जाता है ।

योग और लेश्या में भिन्नता प्रदर्शित करने वाला एक और पाठ है । वह है वेदनीय कर्म का बंधन । सयोगी जीव के प्रथम दो भंग से अर्थात् (१) बांधा है, बांधता है, बांधेगा, (२) बांधा है, बांधता है, बांधेगा नहीं से वेदनीय कर्म का बंधन करता है । लेकिन सलेशी जीव के प्रथम, द्वितीय और चतुर्थ भंग—(४) बांधा है, न बांधता है, न बांधेगा से वेदनीय कर्म का बंधन होता है (देखे '६६' १६) सलेशी के (शुक्ल सलेशी) चतुर्थ भंग से वेदनीय कर्म का बंधन विषय पर पुनः गहरे चिन्तन की आवश्यकता है । हो सकता है कि तेरहवें गुणस्थान में भाव लेश्या नहीं है, भाव लेश्या से कर्म का बंधन होता है, द्रव्य लेश्या से नहीं । इन सब प्रश्न पर गहरा चिन्तन करना आवश्यक लगता है । फिर भी मूल पाठ में यह बात है तथा टीकाकार ने भी इसका कोई विवेक पूर्वक एक विश्लेषण नहीं दे सके हैं । टीकाकार ने घंटालाला न्याय की दुहाई देकर अवशेष बहुश्रुत गम्य करके छोड़ दिया है ।

अशुभ परिणाम व अप्रसस्त अध्यवसाय सावद्य है । अश्रुत्वा केवली को साधना का बना-बनाया मार्ग उपलब्ध नहीं होता । उनके चित्त में अनायास ही एक लहर उठती है । वे तपस्या प्रारम्भ करते हैं । निरन्तर दो-दो दिन की तपस्या से उनके भाव-विशुद्ध बनते हैं और लेश्या विशुद्ध होती है । इस विशुद्धि

का परिणाम होता है विभंग ज्ञान की प्राप्ति । इसके द्वारा वे कुछ अज्ञात बात जानने-समझने में समर्थ हो जाते हैं । ज्ञान से चिन्तन बदलता है और ग्रन्थि के बाद सम्यक्त्व उपलब्ध हो जाता है । सम्यक्त्व प्राप्ति के साथ ही विभंग अज्ञान अवधिज्ञान में बदल जाता है । उसके बाद क्षणिक श्रेणी पर आरोहण होता है । मोह कर्म क्षीण होता है । मोह कर्म का क्षय होते ही ज्ञानावरणीय, दर्शनावणीय एवं अन्तराय कर्म टूटते हैं और केवल ज्ञान प्रकट हो जाता है । अस्तु लक्ष्या का विशुद्धि से क्रम आगे बढ़ता है और सर्वज्ञता में उसकी सम्पन्नता हो जाती है ।

अस्तुलक्ष्या हमारा भाव है । यदि अध्यवसाय शुद्ध न हो तो वह कभी शुद्ध नहीं हो सकती । लक्ष्या की शुद्धि अध्यवसाय से होती है और अध्यवसाय की शुद्धि कषाय की मंदता से होती है । शुद्ध धाराएं, शुद्ध अध्यवसाय का निर्माण करती है । शुद्ध अध्यवसाय शुद्ध भाव का निर्माण करते हैं और शुद्ध भाव विचारों को शुद्ध बनाते हैं—मन, वचन और काय को शुद्ध बनाते हैं । शुद्ध होने का कारण है कषाय की मंदता और अशुद्ध होने का कारण है कषाय की तीव्रता ।

मन, वचन व काय—ये तीनों योग है—तीनों क्रिया तंत्र के योग है । इनका काम है, कार्य करता है । जो कार्य करेगा वह चंचल होगा ।

जैन दर्शन में आत्मनियंत्रण को लक्ष्या शुद्धि के, अध्यवसाय शुद्धि के तीन बाहरी सूत्र बतलाये । यथा—उपवास, कायोत्सर्ग व प्रतिसंलीनता । ये लक्ष्या को शुद्ध करते हैं, अध्यवसाय को पवित्र बनाते हैं ।

मनुष्यों में सबसे थोड़े अन्तर्द्वीपों के मनुष्य-पुरुष है । सबसे अधिक महाविदेह क्षेत्र के मनुष्य-पुरुष है ।

यद्यपि कृष्णपाक्षिक जीवों में कृष्णादि छुओं लक्ष्याएं मिलती है । शुक्ललक्ष्या में मरण प्राप्त होकर कृष्णपाक्षिक जीव नववर्षे श्रौच्यक में उत्पन्न हो सकते है परन्तु अनुत्तरौपातिक देवों में कभी शुक्ललक्ष्या कृष्णपाक्षिक जीव उत्पन्न न होंगे । शुक्लपाक्षिक जीव में छुओं लक्ष्याएं होती है । शुक्ललक्ष्या में मरण को प्राप्त होकर अनुत्तरौपातिक देवों में उत्पन्न हो सकता है ।

जिन जीवों का कुछ कम अर्धपुद्गल परावर्तन संसार शेष रहा है वे शुक्लपाक्षिक है । इससे अधिक दीर्घ संसारवाले कृष्णपाक्षिक है ।^१

१. जेसिमवड्डो पुग्गलपरियट्टो सेसओ य संसारो ।
ते सुक्कपक्खिया खलु अहिए पुण कण्हपक्खीआ ॥

आचार्यों ने कहा है कि कृष्णपाक्षिक प्रचुरता से दक्षिण दिशा में पैदा होते हैं और दीर्घ संसारी प्रायः बहुत पापकर्म के उदय से होते हैं। बहुत पाप का उदय वाले जीव प्रायः क्रूरकर्मा होते हैं और क्रूरकर्मा जीव प्रायः तथा स्वभाव से भवसिद्धिक होते हुए भी दक्षिण दिशा में उत्पन्न होते हैं।^१ देवों में दक्षिण दिशा में कृष्णपाक्षिक प्रचुर है। पुरुषवेद को अग्नि-ज्वाला समान कहा है अर्थात् (वन की अग्नि-ज्वाला के समान है) वह प्रारम्भ में तीव्रकामाग्नि वाला होता है व शीघ्र शांत भी हो जाता है।

(१) कृष्णलेश्या, (२) नीललेश्या, (३) कापोतलेश्या, (४) तेजोलेश्या, (५) पक्षलेश्या और (६) शुक्ललेश्या। ये छः लेश्याएँ हैं।

लेश्या शब्द के साथ लगे विशेषणों से ही सुस्पष्ट है कि उनमें उन-उन वर्णों की प्रधानता है। वर्णों के इस वैचित्र्य के अनुरूप ही हमारे तैजस् शरीर में निरन्तर परिवर्तन होता रहता है। आधुनिक अभियांत्रिकी इतनी विकसित हो गई है कि आभामंडल के फोटो लेकर उसने इस अतीन्द्रिय विषय का सर्व-साधारण के लिए सुबोध बना दिया है। हमारा भाव जगत् परिशुद्ध होता है तो लेश्या के वर्ण प्रशस्त होते हैं और अशुद्ध होने पर उनका वर्ण अप्रशस्त हो जाता है।

लेश्या के आधार पर व्यक्तित्व का निर्धारण होता है। कौन व्यक्ति कैसा है। जैन दर्शन लेश्या की भाषा में इसकी मनोवैज्ञानिक व्याख्या करता है। कृष्णलेश्या वाला व्यक्तित्व अनैतिकता की चरम स्थिति पर खड़ा होता है। इसमें क्रूरता, असंयमिता, तीव्र, भौतिक एषणा, हिंसा, संग्रहवृत्ति, वासना होती है। स्वार्थ चेतना में डूबा सिर्फ अपना मुख दूँडता है।

नीललेश्या वाला व्यक्तित्व ईर्ष्यालु, कदाग्रही, मायावी, निर्लज्ज, लोभी, द्वेषी, रसलोलुप, अज्ञानी, अतपस्वी असहिष्णु होता है। ऐसा बहिर्मुखी व्यक्तित्व कृष्णलेशी व्यक्तित्व से कुछ अच्छा होता है पर नैतिक नहीं।

कापोतलेश्या वाला व्यक्तित्व दुहरा जीवन जीता है। स्वयं के दोषों को छुपाता है। गलत सोच रखता है। कर्म और भाषा में मायावीपन रहता है। वह चोर, हंसोड़, कटु संभाषण, ईर्ष्या जैसे अवगुणों से संयुक्त होता है। इस भूमिका पर व्यक्ति अक्छा होने की सोचता है पर अक्छा बन नहीं पाता।

१. पायमिह क्रूरकम्मा भवसिद्धिया वि दाहिणिल्लेसु ।
नेरइय-तिरिय मणुया, सुराइठाणेसुगच्छन्ति ॥

तेजसलेश्या वाला व्यक्तित्व विनम्र, मायारहित, अकुतुहली, निपुण, संयमी, समाधिस्थ जैसे भावों में जीने लगता है। वह धर्म से प्रेम करता है। दृढमयी व पापभीरु होता है।

पद्म लेश्या वाले व्यक्तित्व में क्रोध, मान, माया, लोभ अत्यल्प होते हैं वह उपशान्त, जितेन्द्रिय, अल्प भाषी, प्रशान्त चित्त होकर आत्म विकास की ओर मुड़ता है।

शुक्ल लेश्या वाले व्यक्तित्व आर्न-रौद्रध्यान से मुक्त रहता है। आत्मदयी, समितियों से समित, गुप्तियों से गुप्त होता है। इस भूमिका पर उसका आचरण धर्म और शुक्लध्यान से जुड़ता है। वह वीतरागता की ओर आगे बढ़ता है। यह विकास की अन्तिम सोपान है।

लेश्या स्वयं को देखने का दर्पण है। साधना की प्रायोगिक भूमिका अशुभ-लेश्या के भाव को बदलकर शुभ से जोड़ती है। यदि आस्था, संकलन और नैरन्तर्य हो तो व्यक्तित्व बदलाव निश्चित रूप से होता है।

लेश्या बदलती है तब भाव भी बदलते हैं। पूरा व्यक्तित्व बदलता है। जरूरत सिर्फ अपने भीतर बदलने के प्रति गहरे विश्वास जगाने की है।

तेजो लेशी पृथ्वी कायिक जीव, अप्कायिक जीव, वनस्पतिकायिक जीव अपना पर भव का आयुष्य नहीं बनते हैं। उनके अपर्याप्त अवस्था में देवों के उत्पन्न होने के कारण तेजो लेश्या होती है। पर्याप्त अवस्था में तेजो लेश्या नहीं होती है।

लेश्या जैन दर्शन का एक पारिभाषिक शब्द है। इसकी व्याख्या शरीर और आत्मा के सांयोगिक भाव से की जाती है। आगमों में कहीं-कहीं कान्ति, तेज, प्रतिच्छाया और संकोच के अर्थ में भी लेश्या शब्द प्रयुक्त हुआ है। प्राचीन साहित्य में लेश्या शब्द का प्रायः प्रयोग नहीं मिलता। परन्तु तत्कालीन साहित्य इसकी अर्थात्मा के बहुत निकट था। यह वर्तमान अध्ययन से प्रमाणित हो चुका है।

लेश्या का व्यापक अर्थ है—पुद्गल द्रव्य के संयोग से होने वाले जीव के परिणाम, जीव की (विचार) शक्ति को प्रभावित करने वाले सूक्ष्म पुद्गल द्रव्य और संस्थान के हेतु भूत वर्ण और कान्ति। भगवती सूत्र में जीव और अजीव दोनों की आत्म-परिणति के लिए लेश्या शब्द का व्यवहार किया गया है। वैक्रिय, आहारक आदि अनेक लब्धियाँ हैं। उनमें एक लब्धि तेजस् है। इसके लिए लेश्या शब्द का प्रयोग किया गया है।

तेजु लेश्या स्वयं में अजीव है । अर्थात् लब्धि योग्य पुद्गल विशेष है । तेजु लब्धि के साथ लेश्या शब्द का प्रयोग सहेतुक प्रतीत होता है ।

मनुष्य और तिर्यंच में द्रव्य लेश्या और भाव लेश्या दोनों बदलती है । नारकी और देवता में द्रव्य लेश्या व भाव लेश्या नहीं बदलती किन्तु अवस्थित रहती है, फिर भी दूसरी लेश्या के द्रव्य के सम्पर्क होने पर उनकी लेश्याएं तदाकार बन जाती है और इस प्रकार छहों लेश्याएं घटित होती है । अतः सातवीं नारकी में सम्यक्त्व प्राप्त होने में कोई बाधा नहीं है ।

अस्तु बौद्ध साहित्य में भी रंगों के आधार पर छः अभिजातियां निर्धारित है । वे इस प्रकार है ।^१

१—कृष्णाभिजाति	४—हरिद्राभिजाति
२—नीलाभिजाति	५—शुक्लाभिजाति
३—लोहिताभिजाति	६—परमशुक्लाभिजाति

लेश्याओं का वर्गीकरण छः अभिजातियों की अपेक्षा महाभारत के वर्गीकरण के अधिक निकट है । सनत्कुमार के शब्दों में प्राणियों के छः वर्ग है—

१—कृष्ण	४—रक्त
२—धूम्र	५—हारिद्र
३—नील	६—शुक्ल

इनमें कृष्ण, नील और धूम्र वर्ण का सुख मध्यम है, सम वर्ण अधिक सहनीय है, हारिद्र वर्ण सुखकर है और शुक्ल वर्ण सुखप्रद है ।^२

लेश्या के रंगों तथा महाभारत के वर्ण निरूपण में बहुत साम्य है । रंगों के प्रभाव की व्याख्या समग्र दर्शन साहित्य में प्राप्त है । पर वस्तु स्थिति यह है कि लेश्या का जितना सूक्ष्म व तल-स्पर्शी निरूपण जैन वाङ्मय में मिलता है, उतना विशद व गम्भीर विवेचन अन्यत्र कहीं भी उपलब्ध नहीं होता ।

मानसिक परिणामों की तरतमता के आधार पर प्रत्येक लेश्या के अनेक परिणामन होते रहते हैं ।

चैतन्य-केन्द्र प्रेक्षा के साथ रंगों के ध्यान को लेश्या ध्यान कहते हैं । रंग चित्त को बहुत प्रभावित करता है । इस दृष्टि से लेश्या ध्यान या चमकते हुए

१. दीर्घ तिकाय १, २ । पृ० १६, २०

२. महाभारत, शान्ति पूर्व २८, ३३

रंगों का ध्यान बहुत ही महत्व पूर्ण है। व्यक्तित्व को रूपान्तरित करने की सबसे अधिक शक्तिशाली किन्तु सरल प्रक्रिया है—लेख्या ध्यान। यदि कोई व्यक्ति दृढनिश्चय के साथ लेख्या ध्यान का प्रयोग करता है तो स्वभाव अपने आप बदल जाता है।

श्वास प्रेक्षा, शरीर प्रेक्षा, समवृत्ति श्वास प्रेक्षा, चैतन्य केन्द्र प्रेक्षा, लेख्या ध्यान, कायोत्सर्ग—ये सारी प्रक्रियाएँ हैं, रूपान्तरण की। लेख्या ध्यान के द्वारा रूपान्तरण के बाद दमन समाप्त हो जाता है, क्योंकि रूपान्तरित व्यक्ति के लिए दमन की जरूरत नहीं होती। जब तक शोधन नहीं होता, रूपान्तरण नहीं होगा।

व्यक्तित्व का रूपान्तरण लेख्या की चेतना के स्तर पर हो सकता है। जब भाव बदल जाता है, तब भाव के पीछे चलने वाला विचार अपने आप बदल जाता है। जब विचार बदल जाता है तब विचार के पीछे चलने वाला व्यवहार अपने आप बदल जाता है।

रंग हमारे शरीर को बहुत प्रभावित करते हैं। रंग का साक्षात्कार करने के लिये पित्त की स्थिरता या एकाग्रता अनिवार्य है। भावना के प्रयोग में व्यक्ति स्वतः सूचन द्वारा अपनी चेतना का और वातावरण को बदलता है, अपने आपको परिवर्तित कर सकता है। दूसरे रंगों का देखना भी संकल्प शक्ति और वर्ण शक्ति का परिणाम है। लेख्या-ध्यान की विधि में एक अति महत्व की बात है—विभिन्न रंगों में होने वाले विभिन्न परिणामों और परिवर्तन का अनुभव करना चाहिए।

लेख्याध्यान-साधना की अनेक प्रकार की निष्पत्तियाँ हैं वे निष्पत्तियाँ आन्तरिक भी हैं और बाह्य भी। ध्यान की आन्तरिक निष्पत्ति है—आभा-मण्डल का परिष्कार। जिसका आभामंडल निर्मल हो गया, लेख्याएँ विशुद्ध हो गईं, तो समझा जा सकता है कि व्यक्ति ध्यान करता है।

लेख्या के परिवर्तन के द्वारा ही धर्मसिद्ध हो सकता है। कृष्ण, नील और कापोत—ये तीन लेख्याएँ बदल जाती हैं और तंजसू, पद्म और शुक्ल—ये तीन धर्म लेख्याएँ अवतरित होती हैं।

कृष्णलेख्या में आवृत्ति ज्यादा, तरंगे छोटी। उत्तरोत्तर लेख्या में तरंग की लम्बाई बढ़ती जाती है, आवृत्ति कम हो जाती है—यथा—शुक्ललेख्या में पहुँचते ही आवृत्ति कम हो जाती है, केवल तरंग की लम्बाई मात्र रह जाती

है। एक ही तरंग बन जाती है। इस लक्ष्या में व्यक्तित्व का पूरा रूपान्तरण हो जाता है। जैसे आभामंडल निर्मल होता है, वैसे-वैसे व्यक्ति का चरित्र शुद्ध होता चला जाता है। चरित्र परिवर्तन का मूल आधार है—लक्ष्या का परिवर्तन और आभामंडल का परिवर्तन।

अस्तु जैन श्वेताम्बर महासभा के पुस्तकाध्यक्षों तथा जैन भवन के पुस्तकाध्यक्षों के हम बड़े आभारी हैं जिन्होंने हमारे संपादन के कार्य में प्रयुक्त अधिकांश पुस्तकें हमें देकर पूर्ण सहयोग दिया।

गणाधिपति गुरुदेव श्री तुलसी तथा आचार्य महाप्रज्ञ तथा महाश्रमणी साध्वी प्रमुखा श्री कनकप्रभाजी की महान् दृष्टि हमारे पर रही है जिसे हम भूल नहीं सकते। युगप्रधान आचार्य श्री महाप्रज्ञ ने प्रस्तुत कोश पर अपने व्यस्त समय में आशीर्वाद लिखा हम उनके प्रति कृतज्ञ हैं।

जैन विश्वभारती के निदेशक श्री नथमलजी टांटिया का हमें बराबर सहयोग रहा है। उनकी इच्छा थी कि इस कोश से सम्बन्धित कार्य को तीव्रगति से किया जाय। हम उनके प्रति कृतज्ञ हैं। कलकत्ता युनिवर्सिटी के भाषा-विज्ञान के प्राध्यापक डा० सत्यरंजन बनर्जी का समय-समय पर मार्ग दर्शन मिलता रहा उनके प्रति हम शुभकामना करते हैं।

हम जैन समिति के सभापति श्री गुलाबमलजी भंडारी, मन्त्री श्री सुशील कुमार जैन, उपमन्त्री श्री सुशीलकुमार बाफणा, श्री धर्मचंद राखेचा, श्री पन्नालाल पुगलिया, श्री हीरालाल मुराना, वरिष्ठ सदस्य श्री नवरतनमल मुराना, श्री सुमती चंदजी गोठी, श्री गुलाबमलजी चोरडिया, श्री पद्मचंद रायजादा, श्री पद्मचंद नाहटा आदि सभी वन्धुओं को धन्यवाद देते हैं जिन्होंने हमारे विषय कोश की परिकल्पना में किसी न किसी रूप में सहयोग प्रदान किया। जैन विश्वभारती के कुलपति श्री श्रीचन्दजी रामपुरिया का हमारे कार्य में सहयोग रहा है—तदर्थ उनके प्रति श्रद्धावनत बनते हैं।

राज प्रोसेस प्रिन्टर्स के मालिक तथा उनके कर्मचारी भी धन्यवाद के पात्र हैं जिन्होंने इस पुस्तक का सुन्दर मुद्रण किया है।

कलकत्ता

भाद्र शुक्ल त्रयोदशी, २०५८

श्रीचन्द चोरडिया, न्यायतीर्थ (इय)

दिनांक ३१ अगस्त २००१

विषय सूची

विषय	पृष्ठ
— समर्पण	3
— संकलन—सम्पादन में प्रयुक्त ग्रन्थों की संकेत-सूची	4
— जैन वाङ्मय का दशमलव वर्गीकरण	6
— आशीर्वाचन	7
— मूल वर्गों के उपविभाजन का उदाहरण	10-11
— '०४ जीव परिणाम का वर्गीकरण	12
— दो शब्द	13
— Foreword	15
— प्रकाशकीय	19
— प्रस्तावना	22
'०० शब्द-विवेचन	१
'०१ व्युत्पत्ति	
'०१'१ प्राकृत शब्द 'लेस्सा' की व्युत्पत्ति	
'२ पाली में लेश्या शब्द की व्युत्पत्ति	
'३ संस्कृत 'लेश्या' शब्द की व्युत्पत्ति	२
'०२ लेश्या शब्द के पर्यायवाची शब्द	३
'०२'१ कम्मलेस्सा	
'०२'२ सकम्मलेस्सा	
'०३ लेश्या शब्द के अर्थ	
'०४ सविशेषण-ससमास-सप्रत्यय लेश्या शब्दों की सूची	४
'०४ सविशेषण-ससमास-सप्रत्यय लेश्या शब्दों की परिभाषा	८
'०५ परिभाषा के उपयोगी पाठ	४३
'०५'१ द्रव्यलेश्या की परिभाषा के उपयोगी पाठ	
'२ भावलेश्या की परिभाषा के उपयोगी पाठ	४७
'०६ प्राचीन आचार्यों द्वारा की गई लेश्या की परिभाषा	५०
'०६'१ अभयदेवसूरि	
'२ मलयगिरि	५३
'३ उमास्वाति या उमास्वामी	५६
'४ पूज्यपादाचार्य	५७

विषय	पृष्ठ
•५ अकलंक देव	५७
•६ विद्यानन्दि	५८
•७ सिद्धसेन गणि	
•८ विनयविजयगणि	५९
•९ हेमचन्द्र सूरि द्वारा उद्धृत	
•१० नेमिचन्द्राचार्य	६०
•११ वीरसेनाचार्य	
•१२ ब्रह्मदेव	६५
•१३ कुन्दकुन्दाचार्य	
•१४ अमृतचन्द्राचार्य	
•१५ अज्ञाताचार्य आह	६६
•०७ लेश्या के भेद	
•०८ लेश्या पर विवेचन-गाथा	७२
•०९ लेश्या का निक्षेप और नय की अपेक्षा विवेचन	७४
•०९•१ निक्षेप की अपेक्षा लेश्या पर विवेचन	
•०९•२ नय की अपेक्षा लेश्या पर विवेचन	७७
१०/३० द्रव्यलेश्या (प्रायोगिक)	७८
•११ द्रव्यलेश्या के वर्ण	
•१२ द्रव्यलेश्या की गन्ध	८५
•१३ द्रव्य लेश्या के रस	८७
•१४ द्रव्य लेश्या के स्पर्श	९१
•१५ द्रव्य लेश्या के प्रवेश	९२
•१६ द्रव्य लेश्या और प्रदेशावगाह—क्षेत्रावगाह	
•१७ द्रव्य लेश्या की वर्गणा	९३
•१८ द्रव्य लेश्या और गुरुलघुत्व	९४
•१९ द्रव्य लेश्याओं की परस्पर परिणमन-मति	
•२० लेश्याओं का परस्पर में अपरिणमन	९८
•२१ द्रव्य लेश्या और स्थान	१०१
•२२ द्रव्य लेश्या की स्थिति	१०३
•२३ द्रव्य लेश्या और भाव	१०५
•२४ लेश्या और अन्तरकाल	
•२५ तपोलब्धि से प्राप्त तेजोलेश्या	१०६

विषय	पृष्ठ
•२६ द्रव्य लेश्या और दुर्गति-सुगति	११०
•२७ लेश्या के छ भेद और पंच (पुद्गल) वर्ण	१११
•२८ द्रव्य लेश्या और जीव के उत्पत्ति-मरण के नियम	११२
•२९ लेश्या-स्थानों का अल्प-बहुत्व	११४
•०३ द्रव्यलेश्या (विस्रसा अजीव-नोक्कर्म)	११७
•४ भावलेश्या	१२०
•४१ भावलेश्या—जीवपरिणाम	
•४१'१ लेश्या परिणाम के भेद	१२१
•२ लेश्या परिणाम की विविधता	
•४२ भावलेश्या अवर्णी-अर्गधी-अरसी-अस्पर्शी	
•४३ भावलेश्या और अगुरुलघुत्व	१२२
•४४ लेश्या-स्थान	
•४५ भावलेश्या की स्थिति	१२३
•४६ भावलेश्या और भाव	१२४
•४७ भावलेश्या के लक्षण	१२६
•४७'१ कृष्णलेश्या के लक्षण	
•२ नीललेश्या के लक्षण	
•३ कापोतलेश्या के लक्षण	
•४ तेजोलेश्या के लक्षण	१२७
•५ पद्मलेश्या के लक्षण	
•६ शुक्ललेश्या के लक्षण	
•४८ भावलेश्या के भेद	१२८
•१ लेश्या परिणाम के भेद	
•४९ विभिन्न जीवों में लेश्या परिणाम	
•१ भाव परावृत्ति से देव-नारकी में लेश्या	१३०
•५ लेश्या और जीव	१३०
•५१ लेश्या की अपेक्षा जीव के भेद	
•१ जीवों के दो भेद	
•२ जीवों के सात भेद	१३१
•५२ लेश्या की अपेक्षा जीव की वर्गणा	
•५३ विभिन्न जीवों में कितनी लेश्या	१३३
•०१ नारकियों में	

विषय	पृष्ठ
*०२ रत्नप्रभा नारकी में	१३३
*०३ शर्कराप्रभा नारकी में	१३४
*०४ बालुकाप्रभा नारकी में	
*०५ पंकप्रभा नारकी में	
*०६ धूम्रप्रभा नारकी में	
*०७ तमप्रभा नारकी में	१३५
*०८ तमतमाप्रभा नारकी में	
*०९ तिर्यञ्च में	
*१० एकेन्द्रिय में	१३६
*११ पृथ्वीकाय में	
*११*१ सूक्ष्म पृथ्वीकाय में	१३७
*२ बादर पृथ्वीकाय में	
*३ स्निग्ध तथा खर पृथ्वीकाय में	
*११*४ अपर्याप्त बादर पृथ्वीकाय में	१३८
*५ पर्याप्त बादर पृथ्वीकाय में	
*१२ अप्काय में	
*१ सूक्ष्म अप्काय में	१३९
*२ बादर अप्काय में	
*३ अपर्याप्त बादर अप्काय में	
*४ पर्याप्त बादर अप्काय में	
*१३ तेउकाय में	
*१ सूक्ष्म तेउकाय में	१४०
*२ बादर तेउकाय में	
*१४ वायुकाय में	
*१ सूक्ष्म वायुकाय में	
*२ बादर वायुकाय में	
*१५ वनस्पतिकाय में	
*१ सूक्ष्म वनस्पतिकाय में	१४१
*२ बादर वनस्पतिकाय में	
*३ अपर्याप्त बादर वनस्पतिकाय में	
*४ पर्याप्त बादर वनस्पतिकाय में	
*५ प्रत्येक शरीर-बादर वनस्पतिकाय में	

विषय	पृष्ठ
*६ अपर्याप्त प्रत्येक बादर वनस्पतिकाय में	१४१
*७ पर्याप्त प्रत्येक बादर वनस्पतिकाय में	
*८ साधारण शरीर बादर वनस्पतिकाय में	१४२
*९ उत्पल आदि दस प्रत्येक बादर वनस्पतिकाय में	
*१० शालि, व्रीहि आदि वनस्पतिकाय में	१४३
*१५*११ कलाई आदि वनस्पतिकाय में	१४५
*१२ अलसी आदि वनस्पतिकाय में	
*१३ वांस आदि वनस्पतिकाय में	
*१४ इक्षु आदि वनस्पतिकाय में	१४६
*१५ सेडिय आदि नृण विशेष वनस्पतिकाय में	
*१६ अन्नरूह आदि वनस्पतिकाय में	
*१७ तुलसी आदि वनस्पतिकाय में	१४७
*१८ ताल-तमाल आदि वनस्पतिकाय में	
*१५*१९ लीमडा आम्र आदि वनस्पतिकाय में	१४७
*२० अमस्तिक आदि वनस्पतिकाय में	१४८
*२१ बेंगन आदि वनस्पतिकाय में	
*२२ सिरियक आदि वनस्पतिकाय में	१४९
*२३ पूसफलिका आदि वनस्पतिकाय में	
*२४ आलुक आदि साधारण वनस्पतिकाय में	१५०
*२५ लोही आदि वनस्पतिकाय में	
*२६ आय आदि वनस्पतिकाय में	
*२७ पाठा आदि वनस्पतिकाय में	१५१
*२८ माषपर्णी आदि वनस्पतिकाय में	
*१६ द्वीन्द्रिय में	१५२
*१७ त्रीन्द्रिय में	
*१८ चतुरिन्द्रिय में	
*१९ तिर्यञ्च पंचेन्द्रिय में	
*१९*१ तिर्यञ्च पंचेन्द्रिय के विभिन्न भेदों में	१५३
*२ संमुच्छिन्न तिर्यञ्च पंचेन्द्रिय में	१५४
*३ जलचर संमुच्छिन्न तिर्यञ्च पंचेन्द्रिय में	
*४ स्थलचर संमुच्छिन्न तिर्यञ्च पंचेन्द्रिय में	
*५ खेचर संमुच्छिन्न तिर्यञ्च पंचेन्द्रिय में	१५५

विषय	पृष्ठ
*६ गर्भज तिर्यक् पंचेन्द्रिय में	१५५
*७ गर्भज तिर्यक् पंचेन्द्रिय (स्त्री) में	
*८ जलचर गर्भज तिर्यक् पंचेन्द्रिय में	
*९ स्थलचर गर्भज तिर्यक् पंचेन्द्रिय में	
*१० खेचर (नभचर) गर्भज तिर्यक् पंचेन्द्रिय में	१५६
*२० मनुष्य में	
*१ संमुच्छिन्न मनुष्य में	१५७
*२ गर्भज मनुष्य में	
*३ गर्भज मनुष्यणी में	१५८
*४ कर्मभूमिज मनुष्य तथा मनुष्यणी में	
*५ कर्मभूमिज मनुष्य और मनुष्यणी के विभिन्न भेदों में	
*६ अकर्मभूमिज मनुष्य तथा मनुष्यणी में	१५९
*७ अकर्मभूमिज मनुष्य और मनुष्यणी के विभिन्न भेदों में	
*८ अन्तर्द्वीपज मनुष्य और मनुष्यणी में	१६०
*२१ औधिक देव में	
*१ औधिक देवी में	१६१
*२२ भवनपति देव में	
*१ भवनपति देवी में	१६२
*२२*३ भवनपति देव के विभिन्न भेदों में	
*२३ वाणव्यंतर देव में	१६३
*१ वाणव्यंतर देवी में	
*२४ ज्योतिषी देव में	१६४
*१ ज्योतिषी देवी में	
*२५ वैमानिक देव में	
*१ वैमानिक देवी में	
*२ वैमानिक देव के विभिन्न भेदों में	१६५
*२६ औधिक पंचेन्द्रिय में	
*२७ गुणस्थान के अनुसार जीवों में	१६६
*२८ संवतियों में	१६७
*२९ विशिष्ट जीवों में	१७०
*५४ विभिन्न जीव और लेख्या स्थिति	१७१
*१ नारकी की लेख्या स्थिति	

विषय	पृष्ठ
*२ तिर्यच की लक्ष्या स्थिति	१७२
*३ मनुष्य की लक्ष्या की स्थिति	
*४ देव की लक्ष्या स्थिति	
*५५ लक्ष्या की गर्भ-उत्पत्ति	१७४
*५६ जीव और लक्ष्या समपद	१७५
*५७ लक्ष्या और जीव का उत्पत्ति-मरण	१७७
*१ लक्ष्या-परिणति तथा जीव का उत्पत्ति-मरण	
*२ मरण काल में लक्ष्या-ग्रहण और उत्पत्ति के समय की लक्ष्या	
*३ मरण की लक्ष्या से अतिक्रान्त करने पर	१७८
*५८ किसी एक योनि से स्व/पर योनि में उत्पन्न होने योग्य जीवों में कितनी लक्ष्या	१७९
*१ रत्नप्रभा पृथ्वी के नारकी में उत्पन्न होने योग्य जीवों में	१७९
*२ शर्कराप्रभापृथ्वी के नारकी में उत्पन्न होने योग्य जीवों में	१८५
*३ बालुकाप्रभापृथ्वी के नारकी में उत्पन्न होने योग्य जीवों में	१८६
*५८*४ पंकप्रभापृथ्वी के नारकी में उत्पन्न होने योग्य जीवों में	१८७
*५ धूमप्रभापृथ्वी के नारकी में उत्पन्न होने योग्य जीवों में	१८८
*६ तमप्रभापृथ्वी के नारकी में उत्पन्न होने योग्य जीवों में	
*७ तमतमाप्रभापृथ्वी के नारकी में उत्पन्न होने योग्य जीवों में	१८९
*८ असुरकुमार देवों में उत्पन्न होने योग्य अन्य गति के जीवों में	१९०
*९ नागकुमार यावत् स्तनितकुमार देवों में उत्पन्न होने योग्य जीवों में	१९३
*१० पृथ्वीकायिक जीवों में उत्पन्न होने योग्य जीवों में	१९५
*११ अपकायिक जीवों में उत्पन्न होने योग्य जीवों में	२०१
*१२ अग्निकायिक जीवों में उत्पन्न होने योग्य जीवों में	
*१३ वायुकायिक जीवों में उत्पन्न होने योग्य जीवों में	२०२
*१४ वनस्पतिकायिक जीवों में उत्पन्न होने योग्य जीवों में	
*१५ द्वीन्द्रिय जीवों में उत्पन्न होने योग्य जीवों में	
*१६ त्रीन्द्रिय जीवों में उत्पन्न होने योग्य जीवों में	२०३
*१७ चतुरिन्द्रिय जीवों में उत्पन्न होने योग्य जीवों में	
*१८ पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च योनि में उत्पन्न होने योग्य जीवों में	
*१९ मनुष्य योनि में उत्पन्न होने योग्य जीवों में	२१३
*२० दानव्यंतर देवों में उत्पन्न होने योग्य जीवों में	२२२

विषय

पृष्ठ

• २१ ज्योतिषी देवों में उत्पन्न होने योग्य जीवों में	२२३
• २२ सौधर्म देवों में उत्पन्न होने योग्य जीवों में	२२५
• २३ ईशान देवों में उत्पन्न होने योग्य जीवों में	२२७
• २४ सनत्कुमार देवों में उत्पन्न होने योग्य जीवों में	२२८
• २५ माहेन्द्र देवों में उत्पन्न होने योग्य जीवों में	२२९
• २६ ब्रह्मलोक देवों में उत्पन्न होने योग्य जीवों में	
• २७ लांतक देवों में उत्पन्न होने योग्य जीवों में	२३०
• २८ महाशुक्र देवों में उत्पन्न होने योग्य जीवों में	
• २९ सहलार देवों में उत्पन्न होने योग्य जीवों में	२३१
• ३० आनत देवों में उत्पन्न होने योग्य जीवों में	
• ३१ प्राणत देवों में उत्पन्न होने योग्य जीवों में	२३२
• ३२ आरण देवों में उत्पन्न होने योग्य जीवों में	
• ३३ अच्युत देवों में उत्पन्न होने योग्य जीवों में	
• ३४ श्रैवेयक देवों में उत्पन्न होने योग्य जीवों में	
• ५८ ३५ विजय, वंजयंत, जयंत तथा अपराजित देवों में उत्पन्न होने योग्य जीवों में	२३३
• ३६ सर्वार्थसिद्ध देवों में उत्पन्न होने योग्य जीवों में	
• ५९ जीव-समुहों में कितनी लेश्या	२३४
• ५९ • १ विभिन्न जीव-समुहों में कितनी लेश्या	
• २ दंडकों में कितनी लेश्या	२३६
• ६ से • ८ सलेशी जीव	२३७
• ६१ सलेशी जीव और समपद	
• ६१ • १ सलेशी जीव-दण्डक और समपद	
• २ कृष्णलेशी जीव-दण्डक और समपद	२३८
• ३ नीललेशी जीव-दण्डक और समपद	२३९
• ४ कापोतलेशी जीव-दण्डक और समपद	
• ५ तेजोलेशी जीव-दण्डक और समपद	२४०
• ६ पद्मलेशी जीव-दण्डक और समपद	
• ७ शुक्ललेशी जीव-दण्डक और समपद	२४१
• ६२ लेश्या तथा प्रथम-अप्रथम	
• ६३ सलेशी जीव तथा चरम-अचरम	२४२
• ६४ सलेशी जीव की सलेशीत्व की अपेक्षा स्थिति	

विषय

पृष्ठ

६४*१ सलेशी जीव की स्थिति	२४२
*२ कृष्णलेशी जीव की स्थिति	
*३ नीललेशी जीव की स्थिति	२४३
*४ कापोतलेशी जीव की स्थिति	
*५ तेजोलेशी जीव की स्थिति	
*६ पद्मलेशी जीव की स्थिति	२४४
*७ शुक्ललेशी जीव की स्थिति	
*८ अलेशी जीव की स्थिति	
६५ सलेशी जीव का लेश्या की अपेक्षा अंतरकाल	२४५
*१ कृष्णलेशी जीव का	
*२ नीललेशी जीव का	
*३ कापोतलेशी जीव का	
*४ तेजोलेशी जीव का	
*५ पद्मलेशी जीव का	२४६
*६ शुक्ललेशी जीव का	
*७ अलेशी जीव का	
६६ सलेशी जीव काल की अपेक्षा सप्रदेशी-अप्रदेशी	
६७ सलेशी जीव के लेश्या की अपेक्षा उत्पत्ति-मरण के नियम	२४८
*१ लेश्या की अपेक्षा जीव-दण्डक में उत्पत्ति-मरण के नियम	
*२ एक लेश्या से परिणमन करके दूसरी लेश्या में उत्पत्ति	२५३
२*१ नारकी में उत्पत्ति	
२*२ देवों में उत्पत्ति	२५४
६८ समय व संह्या की अपेक्षा सलेशी जीव की उत्पत्ति, मरण और अवस्थिति	२५५
*१ नरक पृथिवियों में	
*२ देवावासों में	२५८
६९ सलेशी जीव और ज्ञान	२६२
*१ सलेशी जीव में कितने ज्ञान-अज्ञान	
*२ लेश्या-विशुद्धि से विविध ज्ञान-समुत्पत्ति	२६३
*३ सलेशी का सलेशी को जानना व देखना	२६५
*४ सलेशी जीव और ज्ञान तुलना	२६६
४*१ सलेशी नारकी की ज्ञान तुलना	२६६

विषय

पृष्ठ

*७० सलेशी जीव और अनन्तर भव में मोक्ष प्राप्ति	२७१
*१ कापोतलेशी जीव की अनन्तर भव में मोक्ष प्राप्ति	
*२ कृष्णलेशी जीव की अनन्तर भव में मोक्ष प्राप्ति	२७२
*३ नीललेशी जीव की अनन्तर भव में मोक्ष प्राप्ति	२७३
*७१ लेश्या का विष्णुद्विकरण और तदावरणीय कर्म के क्षयोपशम आदि से ज्ञानोत्पत्ति	
*७२ सलेशी जीव और आरम्भ-परारम्भ-उभयारम्भ-अनारम्भ	२८४
*७३ सलेशी जीव और कषाय	२८६
*१ सलेशी नारकी में कषायोपयोग के विकल्प	
*२ सलेशी पृथ्वीकायिक में कषायोपयोग के विकल्प	२८७
*३ सलेशी अप्कायिक में कषायोपयोग के विकल्प	२८८
*४ सलेशी अग्निकायिक में कषायोपयोग के विकल्प	
*५ सलेशी वायुकायिक में कषायोपयोग के विकल्प	
*६ सलेशी वनस्पतिकायिक में कषायोपयोग के विकल्प	२८९
*७ सलेशी द्वीन्द्रिय में कषायोपयोग के विकल्प	
*८ सलेशी त्रीन्द्रिय में कषायोपयोग के विकल्प	
*९ सलेशी चतुरिन्द्रिय में कषायोपयोग के विकल्प	
*१० सलेशी तिर्यञ्च पञ्चेन्द्रिय में कषायोपयोग के विकल्प	
*११ सलेशी मनुष्य में कषायोपयोग के विकल्प	२९०
*१२ सलेशी भवनपति देव में कषायोपयोग के विकल्प	
*१३ सलेशी वानव्यंतर देव में कषायोपयोग के विकल्प	२९१
*१४ सलेशी ज्योतिषी देव में कषायोपयोग के विकल्प	
*१५ सलेशी वैमानिक देव में कषायोपयोग के विकल्प	
*७४ सलेशी जीव और त्रिदिघ बंध	
*७५ सलेशी जीव और कर्म बंधन	२९२
*१ सलेशी औघिक जीव-दण्डक और कर्म-बंधन	
*२ सलेशी अनंतरोपपन्न जीव तौर कर्म का बन्धन	२९७
*३ सलेशी परंपरोपपन्न जीव और कर्म-बंधन	२९८
*४ सलेशी अनंतरावगाढ जीव और कर्म-बंधन	२९९
*५ सलेशी परंपरावगाढ जीव और कर्म-बंधन	
*६ सलेशी अनंतराहारक जीव और कर्म-बंधन	
*७ सलेशी परंपराहारक जीव और कर्म-बंधन	

विषय

पृष्ठ

*८ सलेशी अनंतरपर्याप्त जीव और कर्म-बन्धन	३००
*९ सलेशी परंपरपर्याप्त जीव और कर्म-बन्धन	३००
*१० सलेशी चरम जीव और कर्म-बन्धन	
*११ सलेशी अचरम जीव और कर्म-बन्धन	३०१
*७६ सलेशी जीव और कर्म का करना	३०३
*७७ सलेशी जीव और कर्म का समर्जन-समाचरण	
*७८ सलेशी जीव और कर्म का प्रारम्भ व अन्त	३१०
*७९ सलेशी जीव और कर्मप्रकृति का सत्ता-बन्धन-वेदन	३१२
*१ सलेशी एकेन्द्रिय और कर्मप्रकृति का सत्ता-बंधन-वेदन	
*२ सलेशी भवसिद्धिक एकेन्द्रिय और कर्म प्रकृति का सत्ता-बंधन-वेदन	३१५
*३ सलेशी अभवसिद्धिक एकेन्द्रिय और कर्मप्रकृति का सत्ता-बंधन-वेदन	३१६
*४ सलेशी जीव और उत्तर कर्म प्रकृति का सत्ता-बन्धन-वेदन	
*८० सलेशी जीव और अल्पकर्मतर-बहुकर्मतर	३२२
*८१ सलेशी जीव और अल्पऋद्धि-महाऋद्धि	३२४
*८२ सलेशी जीव और बोधि	३२६
*८३ सलेशी जीव और समवसरण	३२७
*१ सलेशी जीव और मतवाद (दर्शन)	
*२ सलेशी जीव के मतवाद (दर्शन) की अपेक्षा आयु का बंध	३२८
*३ सलेशी जीव और मतवाद की अपेक्षा से भवसिद्धिकता-अभवसिद्धिकता	३३२
*४ सलेशी अनंतरोपपन्न यावत् अचरम जीव तथा मतवाद की अपेक्षा से वक्तव्यत्ता	३३३
*८४ सलेशी जीव और समाहारादि विचार	३३५
*८४ सलेशी जीव और आहारकत्व-अनाहारकत्व	३४७
*८५ सलेशी जीव के भेद	३४८
*१ दो भेद	
*२ द्वयः भेद	
*८६ सलेशी क्षुद्रयुग्म जीव	३४९
*१ सलेशी क्षुद्रयुग्म नारकी का उपपात	३५०
*२ सलेशी क्षुद्रयुग्म नारकी का उद्धर्तन	३५४

विषय

पृष्ठ

*८७ सलेशी महायुग्म जीव	३५४
*१ सलेशी महायुग्म एकेन्द्रिय जीव	३५६
*२ सलेशी महायुग्म द्वीन्द्रिय जीव	३५६
*३ सलेशी लहायुग्म त्रीन्द्रिय जीव	३६०
*४ सलेशी महायुग्म चतुरिन्द्रिय जीव	३६१
*५ सलेशी महायुग्म असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीव	
*६ सलेशी महायुग्म संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव	
*८८ सलेशी राशियुग्म जीव	३६७
*८९ सलेशी जीव और योग	३७४
*९० सलेशी जीव का आठ पदों से विवेचन	३७६
*१ सलेशी एकेन्द्रिय जीव का आठ पदों से विवेचन	
*९१ सलेशी जीव और अल्पबहुत्व	३८२
*१ औघिक सलेशी जीवों में अल्पबहुत्व	
*२ नारकी जीवों में	
*३ तिर्यञ्चयोनि के जीवों में	३८३
*४ एकेन्द्रिय जीवों में	
*५ पृथ्वीकायिक जीवों में	
*६ अप्कायिक जीवों में	३८४
*७ अग्निकायिक जीवों में	
*८ वायुकायिक जीवों में	
*९ वनस्पतिकायिक जीवों में	
*१० द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय तथा चतुरिन्द्रिय जीवों में	
*११ पंचेन्द्रिय तिर्यञ्चयोनिक जीवों में	३८५
*१२ समूच्छिम पंचेन्द्रिय तिर्यञ्चयोनिक जीवों में	
*१३ गर्भज पंचेन्द्रिय तिर्यञ्चयोनिक जीवों में	
*१४ (गर्भज) पंचेन्द्रिय तिर्यञ्चयोनिक स्त्री जीवों में	
*१५ समूच्छिम तथा गर्भज पंचेन्द्रिय तिर्यञ्चयोनिक जीवों में	३८६
*१६ समूच्छिम पंचेन्द्रिय तिर्यञ्चयोनिक तथा (गर्भज) पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च स्त्री जीवों में	
*१७ गर्भज पंचेन्द्रिय तिर्यञ्चयोनिकों तथा तिर्यञ्च स्त्रियों में	३८७
*१८ समूच्छिम पंचेन्द्रिय तिर्यञ्चयोनिकों, गर्भज पंचेन्द्रिय तिर्यञ्चयोनिकों तथा तिर्यञ्च स्त्रियों में	

विषय

पृष्ठ

*१६	पंचेन्द्रिय तिर्यञ्चयोनिकों तथा तिर्यञ्च स्त्रियों में	३८८
*२०	तिर्यञ्चयोनिकों तथा पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च स्त्रियों में	३८६
*२१	मनुष्य का अल्पबहुत्व	३९०
*२२	देवताओं में	३९०
*२३	देवियों में	३९१
*२४	देवता और देवियों में	
*२५	भवनवासी देवताओं में	
*२६	भवनवासी देवियों में	३९२
*२७	भवनवासी देवता तथा देवियों में	
*२८	भवनवासी देवों के भेदों में	३९३
*२९	वानव्यंतर देवों में	३९४
*१	वानव्यंतर देवों में	
*२	वानव्यंतर देवियों में	
*३	वानव्यंतर देव और देवियों में	
*३०	ज्योतिषी देव और देवियों में	
*३१	वैमानिक देवों में	३९५
*३२	वैमानिक देव और देवियों में	
*३३	भवनवासी, वानव्यंतर, ज्योतिषी तथा वैमानिक देवों में	
*३४	भवनवासी, वानव्यंतर, ज्योतिषी तथा वैमानिक देवियों में	३९६
*३५	चारों प्रकार के देव और देवियों में	
*६०	लेश्या और त्रिविध विषय	३९७
*६१	लेश्याकरण	
*६२	लेश्यानिवृत्ति	३९८
*६३	लेश्या और प्रतिक्रमण	३९९
*६४	लेश्या शाश्वत भाव है	
*६५	लेश्या और ध्यान	४००
*६५*१	लेश्या और प्रशस्त ध्यान	
*२	रौद्रध्यान	४०३
*३	आर्तध्यान	४०५
*४	ध्यान और लेश्या	४०७
*५	लेश्या और धर्म ध्यान	४०८
*६	लेश्या और शुक्ल ध्यान	

विषय

पृष्ठ

*७ व्याख्या-उपसंहार रौद्र ध्यान	४१२
*८ आर्त्तध्यान	
*९ वर्मध्यान	४१३
*१० शुक्लध्यान	
*१६ लेश्या और मरण	४१४
*१७ लेश्या परिणामों को समझाने के लिये दृष्टान्त	४१६
*१ जम्बू खादक दृष्टान्त	
*२ ग्रामघातक दृष्टान्त	४१८
*१८ जनेतर ग्रन्थों में लेश्या के समस्तुल्य वर्णन	४१९
*१ महाभारत में	
*२ अंगुत्तरनिकाय में	४२१
*१८*२*१ पूरणकाश्यप द्वारा प्रतिपादित	
*१८*२*२ बगवान् बुद्ध द्वारा प्रतिपादित छः अभिजातियाँ	४२३
*३ पातञ्जल योगदर्शन में	
*१९ लेश्या सम्बन्धी फुटकर पाठ	४२४
*१ लेश्या और भाव	४२४
*१० लेश्या और सावद्य-निरवद्य	४३१
*११ द्रव्य लेश्या-अजीव-परिणाम भाव है	४३२
*२ भिक्षु और लेश्या	४३४
*३ देवता और उसकी दिव्य लेश्या	४३५
*४ नारकी और लेश्या परिणाम	
*५ निक्षिप्त तेजोलेश्या के पुद्गल अचित्त होते हैं	४३६
*२ तेजोलेश्या और देवों का च्यवन	
*६ परिहारविशुद्ध चारित्र्यी और लेश्या	
*७ लेश्याबंध	४३७
*८ नारकी और देवता की द्रव्य-लेश्या	४३८
*९ चन्द्र-सूर्य-ग्रह-तक्षत्र-तारा की लेश्याएँ	४४२
*१० गर्भ में मरनेवाले जीव की गति में लेश्या का योग	४४४
*१ नरकगति में	
*२ देवगति में	
*११ लेश्या में विचरण करता हुआ जीव और जीवात्मा	४४५
*१२ (सलेशी) रूपी जीव का अरूपत्व में तथा (अलेशी) अरूपी जीव का रूपत्व में विकुर्बण	४४६

विषय	पृष्ठ
*१३ वैमानिक देवों के विमानों का वर्ण, शरीरों का वर्ण तथा लेश्या	४४७
*१४ नारकियों के नरकावासों का वर्ण, शरीरों का वर्ण तथा उनकी लेश्या	४५०
*६६*१५ लेश्या-साधक-बाधक	४५१
*६६*१६ लेश्या और आसव-निर्जरा	४५२
*६६*१७ लेश्या और करण	४५३
*६६*१८ लेश्या और योग	
*६६*१९ लेश्या और तन्त्र	४५५
*६६*२० लेश्या और स्पर्श	४५७
*६६*२१ लेश्या और जीव	४५७
*६६*२२ लेश्या और ज्ञान	४६३
*१ लेश्या और विभंग ज्ञान	
*६६*२३ लेश्या और गुणस्थान	४६४
*६६*२४ लेश्या और ब्रह्मचर्य	४६६
*१ बतीस उपमा से उपमित ब्रह्मचर्य	
*६६*२५ सिद्धान्त ग्रन्थों में लेश्या सम्बन्धित पाठ	४६७
*१ नरक और लेश्या	
*२ जीव समूहों में लेश्या	
*३ देवों में लेश्या	
*४ साधु और लेश्या	४६९
*६६*२६ पर्यायवाची शब्द	४७०
*६६*२७ लेश्या और सम्यक्त्व	४७३
*६६*२८ देवता और तेजोलेश्या-लब्धि	४७५
*६६*२९ तैजससमुद्घात और तेजोलेश्या-लब्धि	४७७
*६६*३० लेश्या और कषाय	
*६६*३१ लेश्या और योग	४७८
*६६*३२ लेश्या और कर्म	४८०
*६६*३३ लेश्या और अध्यवसाय	४८१
*६६*३४ किस और कितनी लेश्या में कौन से जीव	४८२
*१ एक लेश्या वाले जीव	
*२ दो लेश्या वाले जीव	४८३

विषय

पृष्ठ

•३	तीन लेश्या वाले जीव	४८३
•४	चार लेश्या वाले जीव	
•५	पांच लेश्या वाले जीव	
•६	छः लेश्या वाले जीव	४८४
•७	अलेशी जीव—(१) अयोगी मनुष्य, (२) सिद्ध	
•६६•३५	भुलावण (प्रति सन्दर्भ) के पाठ	४८४
•६६•३६	सिद्धान्त ग्रन्थों से लेश्या सम्बन्धी पाठ	४८६
•१	देवेन्द्रसूरि विचरित कर्म ग्रन्थों	
•६६•३७	अभिनिष्क्रमण के समय भगवान् महावीर की लेश्या की विशुद्धि	४८७
•६६•३८	वेदनीय कर्म का बन्धन तथा लेश्या	४८८
	अध्ययन, गाथा, सूत्र आदि की संकेत सूची	४८९
	संकलन-सम्पादन-अनुसंधान में प्रयुक्त ग्रन्थों की सूची	४९०
	लेश्या कोश, प्रथम खण्ड पर सम्मति	४९५
	Some Opinions on Kriya Kosa	५१३
	योग कोश पर प्राप्त समीक्षा	५१४
	लेश्या कोश, क्रिया कोश, योग कोश	५१९
	वर्धमान जीवन कोश, प्रथम खण्ड पर समीक्षा	५२०
	वर्धमान जीवन कोश द्वितीय खण्ड पर समीक्षा	५४५
	वर्धमान जीवन कोश तृतीय खण्ड पर समीक्षा	५५०
	मिथ्यात्वा का आध्यात्मिक विकास पर समीक्षा	५५२
	पुद्गल कोश पर समीक्षा	५६९
	मोहनलाल बांठिया स्मृति ग्रन्थ पर समीक्षा	५७३
	समुच्चय कोश मीमांसा	



०० शब्द-विवेचन

०१ व्युत्पत्ति

०१.१ प्राकृत शब्द 'लेस्सा' की व्युत्पत्ति

रूप = लेसा, लेस्सा ।

लिंग = स्त्रीलिंग ।

धातु—लिस् (स्वप्) सोना, शयन करना ।

लिस् (शिल्ष्) आलिंगन करना, चिपकना ।

लिस्स (देखो लिस्) (शिल्ष्) लिस्संति ।

पाइअ०

इसमें लेस्सा पारिभाषिक शब्द के मूल धातु का संकेत नहीं है । शिल्ष् भाव लिया जाय तो 'लिस्' धातु से लिसा तथा ल की इ का विकार से ए युवर्णस्य गुणः (हेम० ८।४।२३७) लेसा शब्द बनता है तथा अधो म-न-याम् (हेम० ८।२।७८) इस सूत्र से य का लुक् तथा स का द्वित्व, बहुलम् (हेम० ८।१।२)—स का वैकल्पिक द्वित्व—लेस्सा । इस प्रकार लेसा तथा लेस्सा दोनों रूप बनते हैं । टीकाकारों ने 'लिश्यते—शिल्ष्यते कर्मणा सह आत्मा अनयेति लेश्या' ऐसा अर्थ ग्रहण किया है । अतः लिस्स को ही 'लेस्सा' का मूल धातु रूप मानना चाहिये ।

यदि संस्कृत शब्द लेश्या का प्राकृत रूप 'लेस्सा' बना ऐसा माना जाय तो लेश्या शब्द के 'श' का दंती 'स' में विकार, य का लोप तथा स का द्वित्व ; इस प्रकार 'लेस्सा' शब्द बन सकता है, यथा—वेश्या से वेस्सा ।

यदि लेश्या का पारिभाषिक अर्थ से भिन्न अर्थ तेज, ज्योति, आदि लिया जाय तो 'लस' धातु से लेस्सा शब्द की व्युत्पत्ति उपयुक्त होगी । 'लस' का पाइअ० में चमकना अर्थ भी दिया गया है अतः तेज, ज्योति अर्थ वाला लेस्सा शब्द इससे (लस धातु से) व्युत्पन्न किया जा सकता है ।

०१.२ पाली में लेश्या शब्द

पाली कोषों में लेसा या लेस्सा शब्द नहीं मिलता है । लेस शब्द मिलता है ।

लेश—(१) कण ।

(२) नकली, बहाना, चालाकी ।

दूसरे अर्थ में Vin : III : 169 में 'लेश' के दस भेद बताये गये हैं, यथा—

जाति, नाम, गोत्र, लिङ्ग, आपत्ति, पत्र, चीवर, उपाध्याय, आचार्य, सेनासन ।

(देखो पाली अंग्रेजी कोश—सम्पादक रिसडैभिडस्—यकार खण्ड—पन्ना ४४—प्रकाशक पाली टेक्स्ट सोसाइटी) ।

(देखो कन्साइज पाली अंग्रेजी कोश—बुद्धदत्त महाधेरा—प्रकाशक—यु० चन्द्रदास डी सिल्भा सन् १९४६—कोलम्बो) ।

लेश शब्द का अर्थ लेश्या शब्द से नहीं मिलता है ।

'०१'३ संस्कृत 'लेश्या' शब्द की व्युत्पत्ति

लिश् धातु में यत् + टाप् प्रत्यय से लेव्या शब्द की व्युत्पत्ति बनती है ।

(क) लिश् धातु से दो रूप बनते हैं—(१) लिशति, (२) लिश्यति ।

लिशति = जाना, सरकना ।

लिश्यति = छोटा होना, कमना ।

लेश्या शब्द का ज्योति अर्थ भी मिलता है लेकिन यह दोनों धातु के अर्थों से मेल नहीं खाता ।

—देखो आप्ते संस्कृत अंग्रेजी छात्र कोश पृ० ४८३

(ख) लिश् = फाड़ना, तोड़ना ; विलिशा = टूटा हुआ ।

देखो संस्कृत अंग्रेजी कोश—सम्पादक, आर्थर अन्थोनी मैकडोनल्ड, प्रकाशक—ओक्सफोर्ड विश्वविद्यालय, सन् १९२४ । इस कोश में लेश्या शब्द नहीं है ।

(ग) लिश् (रिश् का पिछला रूप) लिश्यते = छोटा होना, कमना ।

लिशति = जाना, सरकना ।

लेश = कण ।

देखो संस्कृत-अंग्रेजी कोष—सर मोनियर मोनियर विलियम—प्रकाशक मोतीलाल बनारसीदास सन् १९६३ ।

इस कोष में भी लेख्या शब्द नहीं है ।

लेश=स्पर्श । घृतस्य गन्धो—लेशो (स्पर्शः) अस्मिन्नस्तीति घृतगन्धि
भोजनम्—सिद्धान्तकौमुदी—बहुव्रीहि समास ।

०२ लेख्या शब्द के पर्यायवाची शब्द

०२ १ कम्मलेस्सा

(क) द्दण्हंषि कम्मलेसाणं ।

—उत्त० अ० ३४ । गा १ । तृतीय चरण । पृ० १०४५

(ख) अणगारेणं भंते ! भावियत्पा । अप्पणो कम्मलेस्सं ण जाणइ
ण पासइ ।

—भग० श० १४ । उ ६ । प्र १ । पृ० ७०६

०२ २ सकम्मलेस्सा

(क) तं (भावियत्पा अणगारं) पुण जीवं सरूविं सकम्मलेस्सं
जाणइ, पासइ ।

—भग० श० १४ । उ ६ । प्र १ । पृ० ७०६

(ख) कयरे णं भंते ! सरूवी सकम्मलेस्सा पोग्गला ओभासंति
जाव पभासेंति ? गोयमा ! जाओ इमाओ ! चंदिम-
सूरियाणं देवाणं विमाणेहितो लेस्साओ × × × जाव
पभासेंति ।

—भग० श० १४ । उ ६ । प्र ३ । पृ० ७०६

०३ लेख्या शब्द के अर्थ

१. आत्मा का परिणाम विशेष —पाइअ०

२. आत्म-परिणाम निमित्तभूत कृष्णादि द्रव्य विशेष —पाइअ०

३. अध्यवसाय —अभिधा० भाग ६ । पृ० ६७४

—आया० श्रु १ । अ ६ । उ ५ । सू ५ । पृ० २२

४. अन्तःकरण वृत्ति

—अभिधा० भाग० ६ । पृ० ६७४ । आया १ । ८ । ५

(आचारंग का पाठ खोजने पर उपरोक्त सन्दर्भ में नहीं मिला)

५. तेज

—पाइअ० ६०५

६. दीप्ति

—पाइअ० ६०५ । विवा० (चोकसी-मोदी) शब्दकोष पृ० ११०

७. उद्योति

—आप्ते कोष० पृ० ४८३

८. प्रकाश-उजियाला

—संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ पृ० ६६७

९. किरण

—पाइअ०

१०. मण्डल-बिम्ब

—पाइअ०

११. देह-सौन्दर्य

—पाइअ०

१२. ज्वाला

—पाइअ० द्वि० सं०

१३. सुख

—भग० श० १४ । उ ६ । प्र १२ । पृ० ७०७

१४. वर्ण

भग० श० १४ । उ ६ । प्र १०-११ । पृ० ७०७

१५. लिम्पन करना

—षट्० खं० १ । सू ४ । पु १ । पृ० ४१६

०४ सविशेषण-ससमास-सप्रत्यय लेख्या शब्दों की सूची

०४-१ अण्णोण्णसमोगाढाहिं लेसाहिं

०४-२ अत्तपसन्नलेस्से

०४-३ अप्पडिलेसा

०४-४ अप्पसत्थाणं लेसाणं

०४-५ अबहिल्लेसा

०४-६ अलेस्सा

०४-७ अविमुद्धलेस्सतराम

- ०४०८ असमाहडाए लेस्साए
 ०४०९ असुभलेस्सपरिणामा
 ०४१० अहम्मलेस्सा
 ०४११ अंधकायलेस्सा
 ०४१२ कायलेस्सिया
 ०४१३ किट्टिलेसं
 ०४१४ चरिमलेस्संतरगया
 ०४१५ चंदलेसं
 ०४१६ चंदलेसादी
 ०४१७ चित्तंतरलेसागा
 ०४१८ छिण्णलेस्साओ
 ०४१९ ठियलेस्सा
 ०४२० णट्टलेस्सा
 ०४२१ णंदलेसं
 ०४२२ दव्वलेस्सं
 ०४२३ दिव्वाए लेसाए
 ०४२४ धम्मलेस्सा
 ०४२५ पईवलेस्साओ
 ०४२६ पम्हलेसं
 ०४२७ परमकिण्हलेस्ससहिंयं
 ०४२८ परमसुक्कलेस्सा
 ०४२९ पसत्थलेस्सा
 ०४३० पाओग्गलेस्साहिं
 ०४३१ पुप्फलेसं
 ०४३२ फलिहवण्णलेस्सा
 ०४३३ वंभलेसं
 ०४३४ भावलेसं
 ०४३५ मंदलेसा

- ०४३६ मंदायवलेसा
 ०४३७ रुइल्लेसं
 ०४३८ लेस्सकम्मे
 ०४३९ लेस्सद्धादो
 ०४४० लेस्संतरसंकंतिमंतरेण
 ०४४१ लेस्साअद्धासंकमे
 ०४४२ लेस्साअद्धासमोदारो
 ०४४३ लेस्साअंतरविहाणे
 ०४४४ लेस्साकालविहाणे
 ०४४५ लेस्सागइसमोदारो
 ०४४६ लेस्सागई
 ०४४७ लेस्साट्टाणपरूवणा
 ०४४८ लेस्साट्टाणप्पावहुए
 ०४४९ लेस्साट्टाणसंकमे
 ०४५० लेस्साणयपरूवणा
 ०४५१ लेस्साणिक्खेवे
 ०४५२ लेस्साणियोगहारं
 ०४५३ लेस्साणिरूवणा
 ०४५४ लेस्साणुवायगई
 ०४५५ लेस्सातिव्व-मंददाए
 ०४५६ लेस्सापच्चयविहाणे
 ०४५७ लेस्सापाडिग्घाएणं
 ०४५८ लेस्सापदविहाणे
 ०४५९ लेस्सापरावत्ति
 ०४६० लेस्सापरिणामे
 ०४६१ लेस्साभिताव
 ०४६२ लेस्सावण्णचउरंसे
 ०४६३ लेस्सावण्णसमोदारो

- ०४६४ लेस्सासंकमणणिन्वत्ती
 ०४६५ लेस्सासंकमे
 ०४६६ लेस्सासरीरसमोदारो
 ०४६७ लेस्सासामित्तविहाणे
 ०४६८ लोगलेसं
 ०४६९ वडरलेसं
 ०४७० वज्जलेसं
 ०४७१ वायलेसं
 ०४७२ विसुद्धलेस्सतराग
 ०४७३ विसुद्धलेसा
 ०४७४ वीरलेसं
 ०४७५ समलेस्सा
 ०४७६ सलेस्स
 ०४७७ संखित्तविउलतेऊलेस्सं
 ०४७८ संबद्धलेसागा
 ०४७९ सीयोसिणतेयलेस्सा
 ०४८० सीयलियतेयलेसं
 ०४८१ सीथलेस्सा
 ०४८२ मुज्जलेसं
 ०४८३ सुविसुद्धलेसे
 ०४८४ सुसमाहितलेसे
 ०४८५ सुहलेस्सा
 ०४८६ सुहलेसो
 ०४८७ सूरलेसं
 ०४८८ सूरलेसादी
 ०४८९ सूरियसुद्धलेसे
 ०४९० सोमलेसा



०४ सविशेषण-ससमास-सप्रत्यय लेश्या शब्दों की परिभाषा

०४'१ अण्णोणसमोगाढाहिं लेसाहिं (अन्योन्यसमवगाढ लेश्या)
—जीवा० प्र ३ । उ २ । सू १७६

टीका—त इत्थं भूताश्चन्द्रादित्याः परस्परमवगाढाभिर्लेश्याभिः, तथाहि—चन्द्रमसां सूर्याणां च प्रत्येकं लेश्या योजनशतसहस्रप्रमाण-विस्तारा, चन्द्रसूर्याणां च सूचीपङ्क्त्या व्यवस्थितानां परस्पर-मन्तरं पञ्चाशद् योजनसहस्राणि, ततश्चन्द्रप्रभासम्मिश्राः सूर्यप्रभाः सूर्यप्रभासम्मिश्राश्च चन्द्रप्रभाः इतीत्थं परस्परमवगाढाभिर्लेश्याभिः ।

सूर्य की प्रभा से सम्मिश्रित चन्द्रमा की प्रभा को तथा चन्द्रमा की प्रभा से सम्मिश्रित सूर्य की प्रभा को अन्योन्यसमवगाढ लेश्या कहा जाता है ।

चन्द्रमा और सूर्य की लेश्याओं का विस्तार एक लाख योजन कहा जाता है । जब चन्द्रमा और सूर्य सूचीपङ्क्ति से अर्थात् एक सीध में व्यवस्थित होते हैं, तब उनका अन्तर पचास हजार योजन कहा जाता है । उस अवस्था में चन्द्रमा की प्रभा से सूर्य की प्रभा मिश्रित होती है तथा सूर्य की प्रभा से चन्द्रमा की प्रभा मिश्रित होती है ।

०४'२ अत्तपसन्नलेस्से (आत्मप्रसन्नलेश्य)

—उत्त० अ १२ । गा ४६

मूल—धम्मे हरए बम्भे सन्तितित्थे अणाविले अत्तपसन्नलेस्से ।
जहिं सिणाओ विमलो विसुद्धो, सुसिद्धभूओ पजहामि दोसं ॥
आत्मा को आनन्द की अनुभूति करानेवाली लेश्या सहित ।

०४'३ अप्पडिलेसा (अप्रतिलेश्य)

—ओव० सू २५

मूल—ते णं काले णं ते णं समए णं समणस्स भगवओ महावीरस्स
अंतेवासी बद्द्वे थेरा भगवंतो—× × × अप्पडिलेसा × × × ।

अप्रतिलेश्य—जिस लेश्या का प्रतिरूप नहीं हो ऐसी परम विभुद्ध परिणाम वाली लेश्या से युक्त ।

भगवान् महावीर के अन्तेवासी स्थविरों को अप्रतिलेश्य विशेषण दिया गया है, क्योंकि उनकी विद्युद्ध लेश्या के स्थान उत्कृष्ट होते थे ।

'०४'४ अप्पसत्थाणं लेसाणं (अप्रशस्त लेश्या)

—उत्त० अ ३४ । गा १६, १८

जह् गोमडस्स गंधो, सुणगमडस्स व जहा अहिमडस्स ।
एत्तो वि अणंतगुणो, लेसाणं अप्पसत्थाणं ॥
जह् करगयस्स फासो, गोजिब्भाए य सागपत्ताणं ।
एत्तो वि अणंतगुणो, लेसाणं अप्पसत्थाणं ॥

अप्रशस्त लेश्या अर्थात् अशुभ लेश्या । कृष्ण, नील और कापोत—इन तीन लेश्याओं को अप्रशस्त लेश्या कहा गया है । इन तीनों द्रव्यलेश्याओं की दुर्गन्धि क्रमशः गाय, कुत्ता तथा सर्प के मृत शरीर की दुर्गन्धि से अनन्तगुणी होती है तथा इनकी स्पर्श-कर्कशता क्रमशः करवत, गाय की जीभ और शाक-पत्तों से भी अनन्तगुणी होती है ।

'०४'५ अबहिल्लेसा (अबहिल्लेश्य)

—ओव० सू २५

—आया० श्रु १ । अ ६ । उ ५ । सू १०६ । टीका

मूल—(ओव)—ते णं काले णं ते णं समये णं समणस्स भगवओ
महावीरस्स अंतेवासी बह्वे थेरा भगवंतो—× × × अबहिल्लेस्सा
× × × ।

संयम से बाहर ले जानेवाली—च्युत करनेवाली लेश्या या अध्यवसाय जिसके हों वह बहिल्लेश्य तथा जिसके नहीं हों वह अबहिल्लेश्य ।

टीका (आया)—संयमाद् बहिर्निर्गता लेश्या अध्यवसायो यस्य
स बहिल्लेश्यः यो न तथा स अबहिल्लेश्यः ।

अबहिल्लेश्य—तेज, पद्म और शुक्ल लेश्या से भिन्न लेश्या में परिणमन नहीं करने वाला ।

भगवान् महावीर के अन्तेवासी स्थविरों को अबहिल्लेश्य विशेषण दिया गया है, क्योंकि वे तेज, पद्म और शुक्ल को छोड़कर अन्य लेश्याओं में परिणमन नहीं करते थे ।

'०४'६ अलेस्सा (अलेश्य)

—पण० प १८ । सू १३४२

टीका—अलेश्यः अयोगिकेवली सिद्धश्च ।

अलेश्य अर्थात् लेश्या-रहित ।

अयोगिकेवली और सिद्ध जीव लेश्या-रहित होते हैं ।

'०४'७ अविशुद्धलेस्सतराग (अविशुद्धलेश्यतरक)

—भग० श १ । उ २ । प्र ७६

मूल—गोयमा ! नेरइथा दुविहा पन्नत्ता, तं जहा—पुव्वोव-
वण्णगा य, पच्छोववण्णगा य, × × × तत्थ णं जे ते पच्छोववण्णगा
ते णं अविशुद्धलेस्सतरागा × × × ।

टीका—'पुव्वोववण्णगा य, पच्छोववण्णगा य' त्ति पूर्वोत्पन्नाः,
प्रथमतरमुत्पन्नाः, तदन्ये तु पश्चादुत्पन्नाः, × × × पश्चादुत्पन्नानां
च नारकाणामायुष्कादीनामल्पतराणां वेदितत्वाद् महाकर्मत्वम् ।

जो नारकी पश्चादुत्पन्नक है, उनकी नरकामु तथा अन्य कर्मों का वेदन
अपेक्षाकृत कम हुआ रहता है तथा वेदन योग्य बचे हुए कर्म भी अधिक होते हैं,
अतः पूर्वोत्पन्नक नारकी की अपेक्षा उनकी लेश्या अविशुद्ध होती है अतः उनको
इस अपेक्षा से अविशुद्धलेश्यतरक कहा जाता है ।

'०४'८ असमाहडाए लेस्साए (असमाहृत लेश्या)

—आया० श्रु २ । अ १ । उ ३ । सू ३६

मूल—असणं वा ४ एसणिज्जे सिया, अणेसणिज्जे सिया—
वित्तिगिच्छसमावण्णेणं अप्पाणेणं असमाहडाए लेस्साए ।

शीलांक टीका—आहारजातं एषणीयमप्येवं शंकेत तद्यथा
विचिकित्सा जुगुप्सा वा अनेषणीया शंका तथा समापन्नका गृहीत
आत्मा यस्य स तथा तेन शंकासमापन्नेन आत्मना 'असमाहडाए'
अशुद्धया लेश्यया उद्गमादिदोषदुष्टमिदमित्येवं चित्तविलुप्त्या
अशुद्धलेश्यान्तःकरणरूपोपजायते ।

गोचरी में गये हुए भिक्षु को ग्रहण किये जानेवाले आहार के सम्बन्ध में— यह एषणीय है या अनेषणीय है—इस प्रकार की विचिकित्सा, जुगुप्सा या शंका उत्पन्न हो तथा उस शंका से सहित आहार ग्रहण करने में जिसकी आत्मा प्रवृत्त हुई हो—इस प्रकार की शंका-समापन्न आत्मा को असमाहृतलेश्य—अशुद्ध लेश्या-वाला कहा जाता है, क्योंकि उद्गमादि दोष से दुष्ट चित्तभ्रान्ति से उसका अन्तःकरण अशुद्ध लेश्या को प्राप्त हो जाता है ।

०४६ असुभलेस्सपरिणामा (असुभलेश्यापरिणामक)

—पणहा०

मूल— × × × सक, जवण, सबर, × × × पावमइणो × × × जीवोवग्घायजीवी सण्णी थ असण्णणो य पज्जत्ता असुभलेस्सपरिणामा ए ए अण्णे य एवमाई करेति पाणाइवायकरणं × × × ।

अशुभ लेश्याओं में परिणमन करने वाले अशुभलेश्यापरिणामी । कृष्ण, नील, कापोत अशुभ लेश्याएँ हैं ।

शक, यवन, शबर आदि पापमति जीवोपघात से आजीविका चलाने वाले मनुष्य संज्ञी, असंज्ञी, पर्याप्त अनेक प्रकार के जीवों की हिंसा करते हैं वे अशुभलेश्यापरिणामी होते हैं ।

०४१० अहम्मलेस्सा (अधर्मलेश्या)

—उत्त० अ ३४ । गा ५६

किण्हा नीला काऊ, तिन्नि वि एयाओ अहम्मलेस्साओ ।
एयाहि तिहि वि जीवो, दुग्गइ उववज्जई ॥

जिन लेश्याओं से जीव दुर्गति को प्राप्त करे वे अधर्मलेश्या कहलाती हैं ।

कृष्ण, नील और कापोत—ये तीनों अधर्मलेश्याएँ हैं, क्योंकि ये दुर्गति में ले जानेवाली हैं ।

०४११ अंधकायलेस्सा (अंधकाकलेश्य)

—पट्० खं ४ । सू १० । पु ११ । पृ० १६

टीका—कायलेस्सिया णाम तद्विओ वादवलओ । × × × एत्थं
अंधकायलेस्सा ण घेत्तव्वा, तत्थ अंधत्तवण्णाणुवलंभादो ।

अन्धकाकलेश्य—अन्ध—प्रगाढ काले वर्ण वाला । तृतीय वातवलय का नाम
काकलेशी है । लेकिन इसको अन्धकाकलेशी संज्ञा नहीं देनी चाहिए, क्योंकि
इसके वर्ण में अन्धत्व—प्रगाढ़ कालेपन का अभाव होता है ।

०४१२ कायलेस्सिया (काकलेशीय)

—षट्० खं० ४ । सू १० । पु ११ । पृ० १६

टीका—कायलेस्सिया णाम तद्विओ वादवलओ । कथं तस्स एसा
सण्णा ? कागवण्णत्तादो सो कागलेस्सिओ णाम ।

काकलेशी—जिसका काक के वर्ण के समान वर्ण हो । तृतीय वातवलय
का नाम काकलेशी है, क्योंकि उसका वर्ण काक के समान कृष्ण होता है ।

०४१३ किट्टिलेसं (कृष्टिलेश्य)

—सम० सम ४ । सू १५

मूल—सणंकुमारमाहिंदेसु कप्पेसु अत्थेगइयाणं देवाणं चत्तारि
सागरोवमाइं ठिई पण्णता । जे किट्टिं सुकिट्टिं × × × किट्टिवण्णं
किट्टिलेसं × × × किट्टुत्तरवड्ढेसगं विमाणं देवत्ताए उववण्णा, तेसि
णं देवाणं उक्कोसेणं चत्तारि सागरोवमाइं ठिई पण्णत्ता ।

कृष्टिलेश्य सनत्कुमार-माहेन्द्र कल्प विमानवासी देवों के एक विमान विशेष
का नाम है, जहाँ उरपन्न होने वाले देवों का आयुष्य उत्कृष्ट चार सागरोपम
का होता है ।

०४१४ चरिमलेसंतरगया (चरमलेश्यान्तर्गत)

—सूर० प्रा० ५ सू २४

मूल—जे णं पोग्गला सूरियस्स लेसं फुसंति ते णं पोग्गला सूरियस्स
लेसं पडिहणंति, अदिट्ठावि णं पोग्गला सूरियस्स लेस्सं पडिहणंति,
चरिमलेसंतरगयावि णं पोग्गला सूरियस्स लेस्सं पडिहणंति ।

टीका—चरमलेश्यान्तर्गताः—चरमलेश्याविशेषसंस्पर्शिनः पुद्गलास्तेऽपि सूर्यलेश्यां प्रतिघ्नन्ति, तैरपि चरमलेश्यासंस्पर्शितया चरमलेश्यायाः प्रतिहन्यमानत्वात् ।

चरमलेश्यान्तर्गत—एक विशेष प्रकार के पुद्गल । ये पुद्गल चरमलेश्या (ज्योतिर्विशेष) के अन्तःप्रविष्ट—संस्पर्शित होकर रहते हैं । ये पुद्गल सूर्य की लेश्या—किरण को प्रतिहत करने में समर्थ होते हैं ।

०४१५ चंदलेसं (चन्द्रलेश्य)

—सम० सम ३ । सू २०-२१

मूल—सणकुमार-माहिंदेशु कपेसु अत्येगइयाणं देवाणं × × × जे देवा × × × चंदं × × × चंदलेसं × × × चंदुत्तरवडैसगं विमाणं देवत्ताए उववण्णा, तेसि णं देवाणं उक्कोसेणं तिण्णि सागरोवमाइ ठिई पण्णत्ता ।

चन्द्रलेश्य—सनत्कुमार-माहेन्द्र कल्प के एक विमान विशेष का नाम

सनत्कुमार-माहेन्द्र कल्प में कई देवता चन्द्र आदि ११ विमानों में उत्पन्न होते हैं । इन ११ विमानों में चन्द्रलेश्य नाम का भी एक विमान है ।

०४१६ चंदलेसादी (चन्द्रलेश्या)

—सूर० प्रा १६ । सू ८७

मूल—× × × ता चंदलेसादी य दोसिणादी य दोसिणाई य चंदलेसादी य के अट्ठे किलक्खणे ? ता एगट्ठे एगलक्खणे ।

टीका—‘चंदलेसाइ’ इत्यादि × × × चन्द्रलेश्या इति ज्योत्स्ना इत्यनयोः पदयोरानुपूर्व्या अनानुपूर्व्या वा व्यवस्थितयोरेक एव—अभिन्न एवार्थः, य एव एकस्य पदस्य वाच्योऽर्थः स एव द्वितीयस्यापि पदस्येति भावः ।

चन्द्रलेश्या—चन्द्रमा की ज्योत्स्ना को चन्द्रलेश्या कहते हैं या चन्द्रमा की लेश्या को चन्द्रज्योत्स्ना कहते हैं । चन्द्रलेश्या और चन्द्रज्योत्स्ना दोनों शब्द एकार्थवाची हैं ।

'०४'१७ चिचन्तरलेसागा (चित्रान्तरलेश्याक)

—जीवा० प्रति ३ । उ २ । सू १७७ । गा २६

टीका—'चित्रान्तरलेश्याकाः' चित्रमन्तरं लेश्या च प्रकाशरूपा येषां ते तथा, तत्र चित्रमन्तरं चन्द्राणां सूर्यान्तरित्वात् सूर्याणां चन्द्रान्तरित्वात् चित्रा लेश्या चन्द्रमसां शीतरश्मित्वात् सूर्याणा-मुष्णरश्मित्वात् ।

चित्रान्तरलेश्याक—यह मानुषोत्तर पर्वत से बाहर अवस्थित चन्द्रमाओं और सूर्यों का एक विशेषण है, क्योंकि इनकी लेश्या प्रकाश रूप और चित्रान्तर होती है । चन्द्रमाओं का प्रकाश सूर्य के प्रकाश से मिलने से तथा सूर्यों का प्रकाश चन्द्रमा के प्रकाश से मिलने से जो चित्रता—विचित्रता उत्पन्न होती है वह चित्रान्तर । चित्रान्तरलेश्या की उत्पत्ति चन्द्रमा की शीतरश्मि तथा सूर्य की उष्णरश्मि के मिलन से होती है । इस मिलन से उत्पन्न लेश्या—प्रकाश-विशेष को चित्रान्तरलेश्या कहा गया है ।

'०४'१८ छिण्णलेस्साओ (छिन्नलेश्या)

—सुर० । प्रा ६ । सू ३०

मूल—ता जाओ इमाओ चंदिमसूरियाणं विमाणेहिंतो लेसाओ बहिया (उच्छ्रुटा) अभिणिसद्दाओ पतावेति, एतासि णं लेसाणं अंतरेसु अण्णतरीओ छिण्णलेस्साओ संमुच्छंति, तए णं ताओ छिण्णलेस्साओ संमुच्छियाओ समाणीओ तदणंतराइं बाहिराइं पोग्गलाइं संतावेति ।

टीका—या इमाः प्रत्यक्षत उपलभ्यमानाश्चन्द्रसूर्याणां देवानां सत्केभ्यो विमानेभ्यो लेश्या उच्छ्रुटाः ; एतदेव व्याचष्टे—अभिनिः-सृतास्ताः प्रतापयन्ति—बाह्यं यथोचितमाकाशवर्ति प्रकाश्यं प्रकाशयन्ति, एतासां चेत्थं विमानेभ्यो निःसृतानां लेश्यानामन्तरेषु—अपान्तरालेष्वन्यतराश्छिन्नलेश्याः संमुच्छंति, ततस्ता मूलच्छिन्ना लेश्याः सम्मुच्छिताः सत्यस्तदनन्तरान् बाह्यान् पुद्गलान् संतापयन्ति ।

छिन्नलेश्या—चन्द्र-सूर्यो के विमानों से निकली हुई लेश्याओं के अन्तराल में स्थित छिन्न होनेवाली लेश्या । मानुषोत्तर पर्वत से बाहर स्थित इन चन्द्र-सूर्यो से निकली हुई प्रत्यक्ष दृश्यमान लेश्याएँ उत्तम होती हैं अर्थात् बाहर आकाश में स्थित प्रकाशयोग्य वस्तुओं को प्रकाशित करती हैं । इन विमानों से निकली हुई इन लेश्याओं के अन्तराल में अन्य एक प्रकार की 'छिन्नलेश्या' होती है और मूल लेश्याओं से छिन्न—अलग हुई यह लेश्या समूच्छिन्न होकर आस-पास के बाह्य पुद्गलों को तप्त—गरम कर देती है ।

०४१६ ठिथलेस्सा (स्थितलेश्या)

—पणहा० श्रु १ । द्वा ५

मूल—× × × णाणासंठायसंठियाओ या तारगाओ ठिथलेस्सा चारिणो य अविस्साममंडलगई × × × ।

स्थितलेश्या—जो ज्योति सदा समान रहती है ।

विभिन्न आकार वाले तारागण जो अविश्राम गति से मंडलाकर चलते रहते हैं तथा जिनकी लेश्या—ज्योति स्थित अर्थात् घटती बढ़ती नहीं है उनकी लेश्या को स्थितलेश्या कहा गया है ।

०४२० णट्टलेस्सा (नष्टलेश्य)

—षट्० खं १ । पु २ । पृ० ४७३

टीका—तेसिं (तिरिक्खाणं) चेव अपज्जत्ताणं भण्णमाणे अत्थि × × × भावेण किण्ण-णील-काउलेस्साओ । किं कारणं ? जेण तेउ-पम्मलेस्सिया वि देवा तिरिक्खेसुप्पज्जमाणा णियमेण णट्टलेस्सा भवंति त्ति ।

नष्टलेश्य—जिनके पूर्व भव की लेश्या नष्ट हो गई है ।

तिर्यञ्च अपर्याप्त जीवों में कृष्ण, नील तथा कापोत भावलेश्याएँ होती हैं, क्योंकि तेजोलेशी तथा पद्मलेशी देव भी यदि तिर्यञ्चों में उत्पन्न होते हैं तो उनकी तेजो तथा पद्म लेश्या नियमतः नष्ट हो जाती है ।

०४२१ णंदलेसं (नन्दलेश्य)

—सय० सम १५ । सू १२-१३

मूल—महाशुक्र कल्पे अत्येगइयाणं देवाणं × × × जे देवा णंदं
णंदलेसं × × × णंदुत्तरवडेंसगं विमाणं देवत्ताए उववण्णा, तेसि णं
देवाणं उक्कोसेणं पण्णरस सागरोवमाइं ठिई पण्णत्ता ।

नन्दलेश्य—महाशुक्र कल्प के एक विमान विशेष का नाम ।

महाशुक्र कल्प में कई देवता नन्द आदि १२ विमानों में उत्पन्न होते हैं ।
इन १२ विमानों में नन्दलेश्य नाम का भी एक विमान है ।

'०४'२२ द्रव्वलेस्सं (द्रव्यलेश्या)

—भग० श १२ । उ ५ । प्र १६

—गोजी० गा ४६३

मूल (भग०)—कण्हलेस्साणं भन्ते ! कइ वण्णा (जाव कइ फासा)
पन्नत्ता ? गोयमा ! द्रव्वलेस्सं पडुच्च पंच वण्णा जाव अट्ठ फासा
पन्नत्ता, × × × एवं जाव सुक्कलेस्सा ।

मूल (गोजी०)—वण्णोदयेण जणिदो सरीरवण्णो दु द्रव्वदो लेस्सा ।
सा सोढा किण्हादी अणेयभेया सभेयेण ॥

(स्वे०) द्रव्यलेश्या—अष्टस्पर्शी पुद्गल विशेष ।

कृष्णादि द्रव्यलेश्याएँ पौद्गलिक होती हैं, अतः इनमें पाँच वर्ण, पाँच रस,
दो गन्ध तथा आठ स्पर्श पाये जाते हैं । द्रव्यलेश्या कृष्णादि छः प्रकार की
होती है ।

(दिग०) द्रव्यलेश्या—शरीर का वर्ण विशेष ।

वर्ण नामकर्म के उदय से होनेवाले शरीर के वर्ण को द्रव्यलेश्या कहते हैं ।
द्रव्यलेश्या कृष्णादि भेद से छः प्रकार की होती है किन्तु कृष्णादि द्रव्यलेश्याएँ
निज में अनेक प्रकार की होती हैं ।

'०४'२३ दिव्वाए लेसाए (दिव्य लेश्या)

—पण्ण० प २ । सू १७८

मूल—कहि णं भंते ! असुरकुमाराणं देवाणं पज्जत्ताऽपज्जत्ताणं
ठाणा पणत्ता ? कहि णं भंते ! असुरकुमारा देवा × × × दिव्वाए
लेसाए × × × उज्जीवेमाणा पभासेमाणा × × × ।

टीका—दिव्यया लेश्या—देहवर्णसुन्दरतया दश दिशो उच्यो-
तयन्तः-प्रकाशयन्तः ।

दिव्य लेश्या—शरीर का वह वर्ण और सुन्दरता, जिससे दसों दिशाएँ
उद्योतित और प्रकाशित होती हों ।

असुरकुमार आदि देवों के शरीर के विशेषण रूप में दिव्य लेश्या का प्रयोग
किया गया है । उनके शरीर का वर्ण और सौन्दर्य इतना दिव्य होता है कि
उससे दसों दिशाएँ उद्योतित और प्रकाशित होती हैं ।

‘०४’२४ धम्मलेस्सा (धर्मलेश्या)

—उत्त० अ ३४ । गा ५७

तेऊ पम्हा सुक्का, तिन्नि वि एयाओ धम्मलेस्साओ ।
एयाहि तिहि वि जीवो, सुग्गाइ उववज्जई ॥

जिन लेश्याओं से जीव सुगति को प्राप्त करे उनको धर्मलेश्या कहते हैं । तेजो,
पद्म और शुक्ल—ये तीन धर्मलेश्याएँ हैं ।

‘०४’२५ पईवलेस्साओ (प्रदीपलेश्या)

—भग० श १३ । उ ४ । प्र ४४

मूल—× × × कूडागारसालाए बहुमज्जदेसभाए जहण्णेणं एक्को
वा दो वा तिण्णि वा उक्कोसेणं पईवसहस्सं पलीवेज्जा, से णूणं गोयमा !
ताओ पईवलेस्साओ अण्णमण्णसंघद्धाओ अण्णमण्णपुट्ठाओ जाव
अण्णमण्णघडत्ताए चिट्ठंति ? हंता चिट्ठंति ।

प्रदीपलेश्या—दीपक की ज्योति ।

किसी घर के बहुमध्य भाग में जघन्य एक, दो या तीन ; उत्कृष्ट से सहस्रों
दीप प्रज्वलित कर दिये जायें तो उन दीपकों की ज्योति अन्योन्य रूप—परस्पर
में मिलकर रहती है ।

०४२६ पम्हलेसं (पक्षमलेश्य)

—सम० सम ६ । सू १६-१७

मूल—बंभलोए कप्पे अत्थेगइयाणं देवाणं × × × जे देवा पम्हं
× × × पम्हलेसं × × × पम्हुत्तरावड्ढेसगं × × × विमाणं देवत्ताए
उववण्णा, तेसिणं देवाणं उक्कोसेणं नव सागरोवमाइं ठिई पण्णत्ता ।

टीका—पक्षमादीनि द्वादश × × × विमाननामानि ।

पक्षमलेश्य—ब्रह्मलोक कल्प के एक विमान विशेष का नाम ।

ब्रह्मलोक कल्प में कई देवता पक्षम आदि १२ विमानों में उत्पन्न होते हैं ।
इन पक्षम आदि १२ विमानों में पक्षमलेश्य नाम का भी एक विमान है ।

०७२७ परमकिण्हलेस्ससहियं (परमकृष्णलेश्यासहित)

—पण्हा० श्रु १ । अ २ । पृ० ४२

मूल—× × × अलियवयणं × × × णियजनणिसैवियं णिस्संसं
अपच्चयकारगं परमसाहुगरहणिज्जं परपीलाकारगं परमकिण्हलेस्स-
सहियं × × × ।

परमकृष्णलेश्यासहित—कृष्णलेश्या के उत्कृष्ट स्थानों में परिणमन करने वाला
जीव ।

अलीकवचन—मिथ्या भाषण करने को परमकृष्णलेश्यासहित कहा गया है ।

०४२८ परमसुकलेस्सा (परमशुक्ललेश्या)

—पण्हा० श्रु २

—भग० श २५ । उ ६ । प्र ६२

—जीवा० प्रति ३ । उ १ । सू २१५

मूल—(पण्हा०)—× × × गहगणणक्खत्तारगाणं वा जहा
उडुवई, मणिमुत्तसिलप्पवालरत्तरयणागराणं य जहा समुद्धो × × ×
लेस्सासु य परमसुकलेस्सा × × × बंभचेरं चरियव्वं सव्वओ विसुद्धं
× × × ।

मूल (भग०)—सिणाए पुच्छा । × × × कतिसु लेस्सासु होजा ?
गोयमा ! एगाए परमसुकलेस्साए होजा ।

मूल (जीवा०)—× × × अणुत्तरोववाइथाणं एगा परमसुकलेस्सा ।

परमशुक्ललेश्या—उत्कृष्ट शुक्ललेश्या ।

जिस प्रकार नक्षत्र और तारागण में चन्द्रमा श्रेष्ठ है ; मणि मुक्ता, प्रवाल और रत्न के आगर के रूप में समुद्र श्रेष्ठ है इत्यादि ; उसी प्रकार आचरणों में ब्रह्मचर्य सबसे विशुद्ध है । इस उपमा प्रकरण में लेश्याओं में सबसे दिशुद्ध परम-शुक्ललेश्या कही गई है ।

परमशुक्ललेश्या स्नातक निर्घन्थों में और अनुत्तरोपपातिक विमानों के देवों में होती है ।

०४२६ पसत्थलेस्सा (प्रशस्तलेश्या)

—उत्त० अ ३४ । गा १७-१६

जह सुरहिकुसुमगंधो, गंधवासाण पिस्समाणाणं ।
एत्तो वि अणंतगुणो, पसत्थलेस्साण तिण्हं पि ॥
जह बूरस्स व फासो, नवणीयस्स व सिरिसकुसुमाणं ।
एत्तो वि अणंतगुणो, पसत्थलेस्साण तिण्हं पि ॥

प्रशस्त लेश्या अर्थात् शुभ लेश्या । तेजो, पद्म और शुक्ल—इन तीन लेश्याओं को प्रशस्तलेश्या कहा गया है । इन द्रव्यलेश्याओं की सुगन्ध सुगन्धित पुष्प और पीसे जा रहे चन्दनादि की सुगन्ध से अनन्तगुणी होती है तथा इनकी स्पर्श-कोमलता वूर नामक वनस्पति, नवनीत और शिरीष-पुष्प की कोमलता से भी अनन्तगुणी होती है ।

०४३० पाओग्गलेसाहि (प्रायोग्यलेश्या)

—षट्० १ । १ । पु २ । पृ० ५११

टीका—× × × णेरइया असंजदसम्माइट्ठणो पढम-पुढवि-
आदि जाव छट्ठी-पुढवि-पज्जवसाणासु पुढवीसु द्विदा कालं काऊण
माणुस्सेसु चेव अप्पणो पुढवि-पाओग्गलेस्साहि सह उप्पजंति त्ति

क्रिष्ण-नील-काउलेस्साओ लब्धंति । देवा वि असंजद-सम्माइद्विणो
कालं काऊण मणुस्सेसु उत्पज्जमाणा तेउ-पम्म-सुक्कलेस्साहि सह
मणुस्सेसु उववज्जंति × × × ।

प्रायोग्यलेश्या—पूर्व भव क्षेत्र में प्रयोजित लेश्या ।

नारकी असंयतसम्पद्दृष्टि प्रथम पृथ्वी आदि छठी पृथ्वी पर्यन्त में स्थिति-
काल के शेष होने पर काल करके मनुष्य में उत्पन्न होते हैं तो अपनी-अपनी
पृथ्वी के योग्य प्रायोजित लेश्याओं के साथ उत्पन्न होते हैं, अतः उनमें कृष्ण,
नील और कापोत लेश्याएँ होती हैं तथा असंयतसम्पद्दृष्टि देव काल करके
मनुष्य में उत्पन्न होते हैं तो वे अपनी देवगति में प्रयोजित तेजो, पद्म और शुक्ल
लेश्याओं के साथ उत्पन्न होते हैं । यह वर्णन भावलेश्या की अपेक्षा से हैं ।

०४३१ पुष्पलेसं (पुष्पलेश्य)

—सम० सम २० । सू १३-१४

मूल—आरणे कल्पे देवाणं × × × जे देवा सातं विसातं × × ×
पुष्फं × × × पुष्फदेसं × × × पुष्फुत्तरवड्ढेसगं विमाणं देवत्ताए
उववण्णा, तेसि णं देवाणं उक्कोसेणं वीसं सागरोवमाइं ठिई
पण्णत्ता ।

पुष्पलेश्य—आरणकल्प में एक विमान विशेष का नाम ।

आरणकल्प में कई देवता पुष्प आदि २०/२१ विमानों में उत्पन्न होते हैं ।
इन २०/२१ विमानों में पुष्पलेश्य नाम का भी एक विमान है ।

०४३२ फलिहवण्णलेस्सा (स्फटिकवर्णलेश्या)

—षट्० खं० १ । १ । पु २ । पृ० ६०६

टीका—× × × आउकाइओ, दब्बेण काउ-सुक्क-फलिहवण्ण-
लेस्साओ वत्तव्वाओ । तेसि चैव पज्जत्तकाले दब्बेण सुहुमआऊणं
काउलेस्सा वा बादरआऊणं फलिहवण्णलेस्सा × × × ।

अपकाय में द्रव्यतः कापोत-शुक्लस्फटिकवर्णलेश्या होती है । पर्याप्त बादर
अपकाय में द्रव्यतः स्फटिकवर्णलेश्या होती है तथा सूक्ष्म पर्याप्त अपकाय में द्रव्यतः
कापोत लेश्या होती है ।

०४३३ बंभलेसं (ब्रह्मलेश्य)

—सम० सम ११ । सू १२-१३

मूल—लंतए कप्पे अत्थेगइयाणं देवाणं एकारस-सागरोवमाइं
ठिई पणत्ता । जे देवा बंभं × × × बंभलेसं × × × वंभुत्तरवडैसगं
विमाणं देवत्ताए उववण्णा, तेसि णं देवाणं उक्कोसेणं एकारस-सागरो-
वमाइं ठिई पणत्ता ।

टीका—ब्रह्मादीनि द्वादश विमाननामानि ।

ब्रह्मलेश्य—लांतव कल्प में एक विमान विशेष का नाम ।

लान्तव कल्प में कई देवता ब्रह्म आदि १२ विमानों में उत्पन्न होते हैं इन
१२ विमानों में ब्रह्मलेश्य नाम का भी एक विमान है ।

०४३४ भावलेसं (भावलेश्या)

—भग० श १२ । उ ५ । प्र १६

—गोजी० गा ५३५

मूल (भग०)—कण्हलेस्साणं भन्ते ! कइ वण्णा (जाव कइ
फासा) पुच्छा । गोयमा ! × × × भावलेस्सं पडुच्च अवण्णा
(जाव अफासा) पन्नत्ता, एवं जाव सुक्कलेस्सा ।

मूल (गोजी०)—मोहुदयखओवसमोवसमखयजजीवफंदणं भावो ।

भावलेश्या वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्शरहित अपौद्गलिक होती है । भावलेश्या भीव
के अन्तःपरिणाम विशेष को कहते हैं । भावलेश्या कृष्ण यावत् शुक्ल छः प्रकार
की होती है ।

गोमटसार के अनुसार मोहनीय कर्म के उदय, क्षयोपशम, उपशम या क्षय
जनित जीव-प्रदेशों के स्पन्दन—परिणाम को भावलेश्या कहते हैं ।

०४३५ मंदलेसा (मन्दलेश्या)

—सूर० प्रा १६ । सू १०० । गा ३८

गा—सूरंतरिया चंदा चंदंतरिया दिणयरा दित्ता ।

चित्तंतरलेसागा सुह्लेसा मंदलेसा य ॥

टीका—मन्दलेश्याः सूर्याः न तु मनुष्यलोके निदाघसमये इव एकान्तोष्णरश्मय इत्यर्थः ।

मंदलेश्या—सूर्य की वह लेश्या जो मनुष्य लोक के निदाघ समय के सूर्य के आतप के समान एकान्त उष्ण नहीं हो ।

०४३६ मंदायवलेसा (मन्दातपलेश्या)

—सूर० प्रा १६ । सू १००

मूल—× × × ता बहियाणं माणुस्सक्खेत्तस्स जे चंदिमसूरियगह जाव ताराव्वा × × × मंदायवलेसा × × × कूडा इव ठाण्ठिया ते पदेसे सव्वओ समंता ओभासेति उज्जोवेति तवेति पभासेति × × × ।

टीका—‘मन्दातपलेश्याः’ मन्दा अनत्युष्णस्वभावा आतपरूपा लेश्या—रश्मिसंघातो येषां ते तथा ।

मन्दातपलेश्या—आतपरूप लेश्या, जो स्वभाव से अति उष्ण नहीं होती है । तथा रश्मिसंघात से उत्पन्न होती है ।

यह मन्दातपलेश्या मनुष्य क्षेत्र के बाहर स्थित चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र तथा तारागणों के होती है ।

०४३७ रुइल्ललेसं (रुचिरलेश्य)

—सम० सम ६ । सू १६-१७

मूल—वंभलोए कप्पे अत्थेगइयाणं देवाणं × × × जे देवा × × × रुइल्लं × × × रुइल्ललेसं × × × रुइल्लुत्तरवड्डेसगं विमाणं देवत्ताए उववण्णा, तेसि णं देवाणं उक्कोसेणं नव सागरोवमाइं ठिइं पण्णत्ता ।

टीका—× × × रुचिरादीन्येकादश विमाननामानि ।

रुचिरलेश्य—ब्रह्मलोक कल्प में एक विमान विशेष का नाम ।

ब्रह्मलोक कल्प में कई देवता रुचिर आदि ११ विमानों में उत्पन्न होते हैं । इन ११ विमानों में रुचिरलेश्य नाम का भी एक विमान है ।

०४३८ लेस्सकम्म (लेश्याकर्म)

—षट्० खं ४ । सू ४५ । पु ६ । पृ० २३४

टीका—लेस्सकम्मं त्ति अणियोगहारमंतरंगद्धलेस्सापरिणयजीवाणं
बम्भकज्जपरुवणं कुणइ ।

टीका—[लेस्साओ] किण्णादियाओ, तासिं कम्मं मारण-
विदारण-चूरणादि-किरियाविसेसो, तं लेस्सायम्मं वत्तइस्सामो ।

—षट्० पु १६ । पृ० ४६०

षट्खण्डागम में २४ अनुयोगद्वारों में लेश्याकर्म नाम का अनुयोगद्वार है,
जिसमें अन्तरंग द्धः लेश्याओं से परिणत जीवों के बाह्य कार्यों का निरूपण किया
गया है ।

कृष्णादि लेश्याओं से अभीभूत होकर जीव जो मारण, विदारण, चोरी आदि
बाह्य कार्य करता है वह लेश्याकर्म ।

०४३९ लेस्सद्धादो (लेश्याद्धा)

—षट्० खं १ । भा ६ । सू ३०८ । पु ५ । पृ० १४८

मूल—संजदासंजद-पमत्त-अप्पमत्तसंजदाणमंतरं केवचिरंकालादो
होदि, णाणेगजीवं पडुच्च णत्थि अंतरं, णिरंतरं ।

टीका—कुदो ? णाणाजीवपवाहवोच्छेदाभावा । एगजीवस्स
वि, लेस्सद्धादो गुणद्धाए बहुत्तुवदेसा ।

लेश्याद्धा—लेश्याकाल । लेश्या की समय स्थिति ।

तेजो और पद्म लेश्या वाले संयतासंयत, प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयत जीवों
का अन्तर कितने काल का होता है ? नाना जीव और एक जीव की अपेक्षा
अन्तर नहीं है, निरन्तर है, क्योंकि उक्त गुणस्थानवाले नाना जीवों के प्रवाह
का कभी विच्छेद नहीं होता है तथा एक जीव की अपेक्षा भी अन्तर नहीं है,
क्योंकि लेश्या के काल से गुणस्थान का काल बहुत बड़ा है, ऐसा उपदेश पाया
जाता है ।

०४४० लेस्संतरसंकंतिमंतरेण (लेश्यान्तरसंक्रान्तिमन्तरेण)

—षट्० खं १ । सू ३२३-२५ । पु ५ । पृ० १५३

मूल—उवसंतकसायवीदरागच्छदुमस्थानमंतरं केवचिरं कालादो होदि, णाणाजीवं पडुच्च जहण्णेण एगसमयं । उक्कस्सेण वासपुधत्तं एगजीवं पडुच्च णत्थि अंतरं ।

टीका—उवसंतादो उवरि उवसंतकसाएण पडिवज्जमाणगुणट्ठाणाभावा, हेट्ठा ओदिण्णस्स वि लेस्संतरसंकंतिमंतरेण पुणो उवसंतगुणग्गहणाभावा ।

लेश्यान्तरसंक्रान्तिमन्तरेण—अन्य लेश्या में संक्रमण किये बिना ।

(शुक्ललेश्या वाले) उपशान्तकषाय बीतराग छद्मस्थों का अन्तर नाना जीवों की अपेक्षा जघन्य एक समय का होता है, उत्कृष्ट अन्तर वर्ष पृथक्त्व होता है । एक जीव की अपेक्षा अन्तर नहीं होता है, क्योंकि उपशान्तकषाय गुणस्थान से ऊपर उपशान्तकषायी जीव के द्वारा प्रतिपद्यमान गुणस्थान का अभाव है तथा नीचे उतरे हुए जीव के भी अन्य लेश्या में संक्रमण किये बिना पुनः उपशान्तकषाय गुणस्थान का ग्रहण हो नहीं सकता है ।

०४'४१ लेस्साअद्धासंकमे (लेश्या-अद्धासंकम)

—षट्० पु १६ । पृ० ५७२

टीका—लेस्साकम्मे त्ति अणिओगहारे पंचविधियपदाणि । तं जहा—× × × लेस्साअद्धासंकमे ५ ।

लेश्याकर्म अनुयोगद्वार के पंचविधिक पदों में लेश्या-अद्धासंकम पाँचवाँ पद है । जिसमें काल का आश्रय लेकर लेश्यासंक्रमण का विवेचन किया गया है । यथा—तिर्यच और मनुष्य में लेश्या संक्रमण का जघन्य काल अन्तर्मूर्त है ।

०४'४२ लेस्साअद्धासमोदारो (लेश्याद्धासमवतार)

—षट्० पु १६ । पृ० ५७२

टीका—लेस्साकम्मे त्ति अणिओगहारे पंचविधियपदाणि ! तं जहा—× × × लेस्साअद्धासमोदारो ४ × × × ।

लेश्याकर्म अनुयोगद्वार के पंचविधिक पदों में लेश्याद्धासमवतार चौथा पद है । जिसमें काल का आश्रय लेकर लेश्या का विवेचन किया गया है । यथा—देवों में शुक्ललेश्या की उत्कृष्ट स्थिति तैतीस सागरोपम की होती है ।

०४४३ लेस्साअंतरविहाणे (लेश्या-अन्तरविधान)

—षट्० पु १६ । पृ० ५७२

टीका—लेस्सापरिणामे त्ति अणियोगद्वारे दस वित्थरपदाणि ।
तं जहा— $\times \times \times$ लेस्साअंतरविहाणे $६ \times \times \times$ ।

लेश्यापरिणाम अनुयोगद्वार के दस विस्तार पदों में लेश्या-अंतरविधान छठा पद है । सम्भवतः इसमें लेश्याओं के अंतर—अंतरकाल का वर्णन किया गया हो ।

०४४४ लेस्साकालविहाणे (लेश्याकालविधान)

—षट्० पु १६ । पृ० ५७२

टीका—लेस्सापरिणामे त्ति अणियोगद्वारे दस वित्थरपदाणि ।
तं जहा— $\times \times \times$ लेस्साकालविहाणे $५ \times \times \times$ ।

लेश्यापरिणाम अनुयोगद्वार के दस विस्तार पदों में लेश्याकालविधान पाँचवाँ पद है । सम्भवतः इसमें लेश्या की कालस्थिति के नियमों का वर्णन किया गया हो ।

०४४५ लेस्सागइसमोदारो (लेश्यागतिसमवतार)

—षट्० पु १६ । पृ० ५७२

टीका—लेस्सापरिणामे त्ति अणियोगद्वारे दस वित्थरपदाणि ।
तं जहा— $\times \times \times$ लेस्सागइसमोदारो १० ।

लेश्यापरिणाम अनुयोगद्वार के दस विस्तार पदों में लेश्यागतिसमवतार दसवाँ पद है । इसमें लेश्या के अनुसार जीव की जो गति होती है उसका वर्णन किया गया है—ऐसा सम्भव है ।

०४४६ लेस्सागई (लेस्सागति)

—पण्ण० प १६ । सू १११६

मूल—से किं तं लेस्सागई ? जण्णं किण्हलेस्सा नीललेस्सं पप्प तरुवत्ताए तावण्णत्ताए तागंधत्ताए तारसत्ताए ताफासत्ताए भुज्जो भुज्जो परिणमति, एवं नीललेस्सा काउलेस्सं पप्प तरुवत्ताए जाव

ताफासत्ताए परिणमति, एवं काउलेसावि तेउलेस्सं, तेउलेसावि पम्हलेसं, पम्हलेसावि सुक्कलेसं पप्प तारूवत्ताए जाव परिणमति, से तं लेस्सागई ।

टीका—लेश्यागतिर्यत्तिर्यङ्मनुष्याणां कृष्णादिलेश्याद्रव्याणि नीलादिलेश्याद्रव्याणि सम्प्राप्य तद्रूपादितया परिणमति सा लेश्या-गतिरिति ।

लेश्यागति—एक लेश्याद्रव्य का दूसरे लेश्याद्रव्य को प्राप्त कर उसके वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श में पूर्ण रूप से परिणमन करना ।

कृष्णलेश्याद्रव्य नीललेश्या के द्रव्यों को प्राप्त कर नीललेश्या के वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श रूप में पूर्णतया परिणमित हो जाता है, उसी प्रकार नीललेश्याद्रव्य कापोतलेश्या रूप, कापोतलेश्याद्रव्य तेजोलेश्या रूप, तेजोलेश्याद्रव्य पद्मलेश्या रूप तथा पद्मलेश्याद्रव्य शुक्ललेश्या रूप में परिणमित हो जाता है । यह लेश्यागति तिर्यञ्च और मनुष्यों के ही होती है ।

०४४७ लेस्साट्ठाणपरूवणा (लेश्यास्थानप्ररूपणा)

—षट्ठं पु १६ । पृ० ५७२

टीका—लेस्सा त्ति अणियोगद्वारे तत्थ इमाणि अट्ठ पदाणि । तं जहा—× × × लेस्साट्ठाणपरूवणा ७ × × × ।

टीका—लेस्सापारणामे त्ति अणियोगद्वारे दस वित्थरपदाणि । तं जहा—× × × लेस्साट्ठाणपरूवणा ८ × × × ।

लेश्या अनुयोगद्वार के आठ पदों में लेश्यास्थानप्ररूपणा सातवाँ पद है तथा लेश्यापरिणाम अनुयोगद्वार के दस विस्तार पदों में आठवाँ पद है । संभवतः इसमें लेश्या के षट्गुण हादि-वृद्धि रूप स्थानों का वर्णन किया गया हो । (देखो इसी पुस्तक के पृष्ठ ४६३ से ४६७ तक) ।

०४४८ लेस्साट्ठाणप्पावहुए (लेश्यास्थान-अल्पवहुत्व)

—षट्ठं पु १६ । पृ० ५७२

टीका—लेस्साक्कमे त्ति अणियोगद्वारे पंचविधियपदाणि । तं जहा × × × लेस्साट्ठाणप्पावहुए ३ × × × ।

लेश्याकर्म अनुयोगद्वार के पंचविधिक पदों में लेश्यास्थान-अल्पबहुत्व तीसरा पद है । इसमें लेश्या के स्थानों के अल्पबहुत्व का वर्णन है, यथा—लेश्या के छः स्थान-पतित स्थानों का प्रमाण असंख्यातलोक प्रमाण है । कापोतलेश्या के स्थान स्तोक हैं, नीललेश्या के स्थान असंख्यातगुणे हैं इत्यादि ।

०४४६ लेस्साट्टाणसंकमे (लेश्यास्थानसंक्रम)

—षट्० पु १६ । पृ० ५७२

टीका—लेस्साकम्मे त्ति अण्णियोगद्वारे पंचविधियपदाणि । तं जहा— × × × लेस्साट्टाणसंकमे २ × × × ।

लेश्याकर्म अनुयोगद्वार के पंचविधिक पदों में लेश्यासंस्थानसंक्रम दूसरा पद है ।

लेश्या का स्थानसंक्रमण षट्स्थान पद हानि-वृद्धि रूप होता है । यथा—तेजोलेश्या संक्लेश को प्राप्त होती है तब स्वस्थान में षट्स्थानों से पतित होती है और विशुद्धि को प्राप्त होती है तब स्वस्थान में षट्स्थान वृद्धि को प्राप्त होती है ।

०४५० लेस्साणयपरूवणा (लेश्यानयप्ररूपणा)

—षट्० पु १६ । पृ० ५७१

टीका—लेस्सा त्ति अण्णियोगद्वारे तत्थ इमाणि अट्ट पदाणि । तं जहा— × × × लेस्साणयपरूवणा २ × × × ।

लेश्या अनुयोगद्वार के आठ पदों में लेश्यानय प्ररूपणा दूसरा पद है । संभवतः इसमें नय की अपेक्षा लेश्या की प्ररूपणा की गई हो ।

०४५१ लेस्साणिकखेवे (लेश्यानिक्षेप)

—षट्० पु १६ । पृ० ४८४

टीका—एत्थ लेस्सा णिक्खिद्विदव्वा, अण्णहा पयदलेस्साणुव-वत्तीदो । तं जहा—णामलेस्सा ठुवणलेस्सा दव्वलेस्सा भावलेस्सा चेदि लेस्सा चउठ्विहा ।

लेश्यानिक्षेप—लेश्या सम्बन्धी ऐसा विवेचन जिससे प्रकृत लेश्या का बोध हो ।

०४५२ लेस्साणियोगद्वारं (लेश्याअनुयोगद्वार)

—षट्० पु १६ । पृ० ४८४

लेस्साणियोगद्वारं

असुर-सुर-गरवरोरग-मुणिदविदेहि वंदिए चलणे ।

णमियूण अरस्स तदो लेस्सणियोगं परूवेमो ॥

—षट्० पु १६ । पृ० ४८४

मूल—अग्गेणियस्स पुव्वस्स पंचमस्स वत्थुस्स चउत्थो पाहुडो कम्मपयड्डी णाम । तत्थ इमाणि चउवीसअणियोगद्वाराणि णादव्वाणि भवन्ति—कदि-वेयणाए × × × लेस्सा-लेस्सायम्मे लेस्सा-परिणामे × × × अप्पाबहुगं च ।

—षट्० खं० ४ । भा १ । सू । ४५ । पु ६ । पृ० १३४

लेश्याअनुयोगद्वार—जिसमें लेश्याओं के सम्बन्ध में विविध प्ररूपण—निरूपण किया गया हो । यह षट्खण्डावम की १६वीं पुस्तक के १३वें अध्ययन का शीर्षक है ।

अग्रायणी पूर्व की पञ्चम वस्तु के चतुर्थ प्राभृत का नाम 'कर्मप्रकृति' है । इसमें चौबीस अनुयोगद्वार ज्ञातव्य हैं । इन चौबीस अनुयोगद्वारों में एक लेश्या-अनुयोगद्वार भी है । इस अनुयोगद्वार में निक्षेप आदि के द्वारा लेश्याओं का वर्णन किया गया है ।

०४५३ लेस्साणिरूवणा (लेश्यानिरूपणा)

—षट्० पु १६ । पृ० ५७१

लेस्सा त्ति अणियोगद्वारे तत्थ इमाणि अट्ट पदाणि । तं जहा—
× × × लेस्साणिरूवणा ३ × × × ।

लेश्या अनुयोगद्वार के आठ पदों में लेश्यानिरूपणा तीसरा पद है । संभवतः इसमें विभिन्न दृष्टि से लेश्या का निरूपण—निर्धारण किया गया हो ।

०४५४ लेस्साणुवायगई (लेश्यानुपातगति)

—पण्ण० प १६ । सू १११७

मूल—से किं तं लेसाणुवायगई ? जल्लेस्साइं दब्बाइं परियाइत्ता कालं करेइ तल्लेसेसु उववज्जति, तं जहा—किण्हलेसेसु वा जाव सुकलेसेसु वा, से तं लेसाणुवायगई ।

टीका—लेश्याया अनुपातः—अनुसरणं तेन गतिर्लेश्यानुपातगतिः, लेश्याया इत्यत्र वग्नह्वेलायां कर्मणि षष्ठी, यतो वक्ष्यति—‘यानि लेश्याद्रव्याणि पर्यादाय जीवः कालं करोति तल्लेश्येषूपजायते न शेषलेश्येषु’ ततो जीवो लेश्याद्रव्याण्यनुसरति, न तु तानि जीवमनुसरन्ति ।

जब लेश्या के अनुपात—अनुसार जीव की परलोक की गति होती है वह लेश्यानुपातगति ।

मरणकाल के समय जीव जिन लेश्याद्रव्यों को ग्रहण करके मृत्यु को प्राप्त होता है वैसे ही लेश्याद्रव्यों में उसकी परभव में उत्पत्ति होती है । अतः जीव की गति लेश्याद्रव्य के अनुसार होती है, न कि लेश्याद्रव्य जीव का अनुसरण करता है ।

‘०४’५५ लेस्सातिव्व-मंदादाए (लेश्यातीव्र-मंदता)

—षट्० पु १६ । पृ० ५७२

टीका—लेस्सापरिणामे त्ति अणिओगहारे दस वित्थरपदाणि । तं जहा—× × × लेस्सातिव्व-मंदादाए ७ × × × ।

लेश्यापरिणाम अनुयोगद्वार के दस विस्तार पदों में लेश्यातीव्र-मंदता सातवाँ पद है । इसमें भावलेश्या का तीव्रतम-तीव्रतर-तीव्र-मंद-मंदतर-मंदतम संस्कार की अपेक्षा वर्णन किया गया है । देखो इसी पुस्तक का पृष्ठ ४८८-८९ ।

‘०४’५६ लेस्सापच्चयविहाणे (लेश्याप्रत्ययविधान)

—षट्० पु १६ । पृ० ५७२

टीका—लेस्सापरिणामे त्ति अणियोगहारे दस वित्थरपदाणि । तं जहा—× × × लेस्सापच्चयविहाणे २ × × × ।

लेश्यापरिणाम अनुयोगद्वार के दस विस्तार पदों में लेश्याप्रत्ययविधान दूसरा पद है। जिससे लेश्या की प्रतीति—बोध हो ऐसा विधान जिसमें किया गया हो।

०४५७ लेस्सापडिग्घाएणं (लेश्याप्रतिघात)

—भग० श ८ । उ ८ । सू ३३१

मूल—जंबुद्वीवे द्वीवे सूरिया × × × लेस्सापडिग्घाएणं उग्गम-
णमुहुत्तंसि दूरे य मूले य दीसंति, × × × लेस्सापडिग्घाएणं अत्थ-
मणहुत्तंसि दूरे य मूले य दीसंति ।

टीका—समभूतलापेक्षया सर्वत्रोच्चत्वमष्टौ योजनशतानीति कृत्वा । लेस्सापडिग्घाएणं ति । तेजसः प्रतिघातेन दूरतरत्वान्तदेशस्य तदप्रसरणेनेत्यर्थः, लेस्साप्रतिघाते हि सुखदृश्यत्वेन दूरस्थोऽपि स्वरूपेण सूर्य आसन्नप्रतीतिं जनयति ।

लेश्याप्रतिघात—सूर्य की लेश्या का प्रतिघात—सूर्य की किरणों की प्रखरता में कमी होना । इस प्रतिघात से दूरस्थ सूर्य नजदीक प्रतीत होता है ।

यद्यपि समतल पृथ्वी से सूर्य की दूरी सदा आठ सौ योजन की रहती है, परन्तु सूर्य की लेश्या—ज्योति का (अन्य पुद्गलों के द्वारा) प्रतिघात होने से सुखपूर्वक दृश्यमान होने के कारण सूर्योदय और सूर्यास्त के समय सूर्य आसन्न प्रतीत होता है ।

०४५८ लेस्सापदविहाणे (लेश्यापदविधान)

—षट्० पु १६ । पृ० ५७२

टीका—लेस्सापरिणामे त्ति अणियोगद्वारे दस वित्थरपदाणि ।
तं जहा— × × × लेस्सापदविहाणे ३ × × × ।

लेश्यापरिणाम अनुयोगद्वार के दस विस्तार पदों में लेश्यापदविधान तीसरा पद है । सम्भवतः इसमें लेश्या का पद—शब्द रूप से विवेचन किया गया है ।

०४५९ लेस्सापरावत्ति (लेश्यापरावृत्ति—लेश्यापरिवर्तन)

—षट्० खं १ । सू २६७ । पु ४ । पृ० ४६६

टीका—एकौ मिच्छादिद्वी असंजदसम्मादिद्वी वा वड्ढमाण तेउलेस्सओ एगसमओ तेउलेस्साए अत्थि त्ति संजमासंजमं पडिवण्णो । एगसमयं संजमासंजमं तेउलेस्साए सह दिट्ठं । विदियसमए संजदा-संजदो पम्मलेस्सं गदो । एसा लेस्सापरावत्ती ।

लेश्यापरावृत्ति—एक लेश्या से दूसरी लेश्या में परिवर्तन ।

कोई एक मिथ्यादृष्टि या असंयतसम्यग्दृष्टि वर्धमान तेजोलेही जीव तेजो-लेश्या-काल का एक समय अवशेष रहने पर संयतासंयत गुणस्थान को प्राप्त हुआ । उस एक समय की अवधि में संयतासंयत गुणस्थान में तेजोलेश्या के साथ देखा गया । दूसरे समय में वह संयतासंयत जीव पञ्चलेश्या को प्राप्त हुआ । इस प्रकार एक लेश्या से दूसरी लेश्या की प्राप्ति को लेश्यापरावृत्ति कहा जाता है ।

०४ ६० लेस्सापरिणामे (लेश्यापरिणाम)

—षट्० पु १६ । पृ० ४६३

—षट्० खं ४ । सू ४५ । पु ६ पृ० २३४

टीका—लेस्सापरिणामे त्ति अणियोगहारं काओ लेस्साओ केण सरूवेण काए वड्ढीए हाणीए वा परिणमंति त्ति जानावणट्ठमागयं पु १६

टीका—लेस्सापरिणामे त्ति अणियोगहारं जीव-पोग्गलाणं दव्व-भावलेस्साहि परिणमणविहाणं वण्णेदि । पु ६

लेश्यापरिणाम—एक लेश्या का स्वस्थानों में अथवा अन्य लेश्या में परिणमन करना । यह परिणमन षट्स्थान हानि-वृद्धि के द्वारा होता है ।

षट्खण्डागम में वर्णित २४ अनुयोगद्वारों में 'लेश्यापरिणाम' नाम का एक अनुयोगद्वार है, जिसमें जीव और पुद्गलों की द्रव्यलेश्या और भावलेश्या के नियमों का वर्णन किया गया है । लेश्यापरिणाम अनुयोगद्वार का वर्णन षट्-खण्डागम की १६वीं पुस्तक में आया है ।

०४ ६१ लेस्साभिताव (लेश्याभिताप)

—भग० श ८ उ ८ । सू ३३१

मूल—जंबुद्वीवे दीवे सूरिया $\times \times \times$ लेस्साभितावेणं मज्झंतिय-
मुहुत्तंसि मूले य दूरे य दीसंति $\times \times \times$ ।

टीका—मध्यो मध्यमोऽन्तो विभागो गगनस्य दिवसस्य वा ;
मध्यान्तः स यस्य मुहूर्त्स्यास्ति स मध्यान्तिकः स चासौ मुहूर्त्-
श्चेति मध्यान्तिकमुहूर्त्स्तत्र मूले च आसन्ने देशे द्रष्टृस्थानापेक्षया
दूरे च व्यवहिते देशे द्रष्टृप्रतीत्यपेक्षया सूर्यो दृश्येते द्रष्टा हि मध्याह्ने
उदयास्तमदर्शनापेक्षया सन्तं रविं पश्यति योजनशताष्टकेनैव तदा
तस्य व्यवहितत्वान्मन्यते पुनरुदयास्तमयप्रतीत्यपेक्षया दूरव्यवहित-
मिति $\times \times \times$ । लेसाभितावेणं ति । तेजसोऽभितापेन मध्याह्ने
ह्यासन्नतरत्वात्सूर्यस्तेजसा प्रतपति तेजःप्रतापे च दृष्टश्यत्वेन प्रत्या-
सन्नोऽप्यसौ दूरप्रतीतिं जनयति ।

लेश्यासिताप—लेश्या—सूर्य के आतप की प्रखरता ।

टीक मध्याह्न के समय में सूर्य का तेज प्रखर रहता है, अतः द्रष्टा को उस
समय का सूर्य, सूर्योदय और सूर्यास्त की अपेक्षा, समान दूरी पर रहते हुए भी,
दूर दिखाई देता है । यह सूर्य का दूर दिखाई देना लेश्याभिताप के कारण
होता है । यद्यपि सूर्योदय, सूर्यास्त और मध्याह्न—तीनों समय में समतल पृथ्वी
से सूर्य की दूरी आठ सौ योजन की ही रहती है ।

०४'६२ लेस्सावण्णचउरंसे (लेश्यावर्णचतुरंश)

—पट्० पु १६ । पृ० ५७१

टीका—लेस्सा त्ति अणियोगद्वारे तत्थ इमाणि अट्ठ पदाणि ।
तं जहा— $\times \times \times$ लेस्सावण्णचउरंसे ६ $\times \times \times$ ।

लेश्या अनुयोगद्वार के आठ पदों में लेश्यावर्णचतुरंश छठा पद है । सम्भवतः
इसमें लेश्या के वर्ण का चतुष्कोण—चार दृष्टिकोण से वर्णन किया गया हो ।

०४'६३ लेस्सावण्णसमोदारो (लेश्यावर्णसमवतार)

—पट्० पु १६ । पृ० ५७१

टीका—लेस्सा त्ति अणियोगद्वारे तत्थ इमाणि अट्ट पदाणि ।
तं जहा—× × × लेस्सावण्णसमोदारो ५ × × × ।

लेश्या अनुयोगद्वार के आठ पदों में लेश्यावर्णसमवतार पाँचवा पद है । सम्भवतः इस द्वार के पद में लेश्या के वर्णों का समावेश—विवरण किया गया हो ।

‘०४’ ६४ लेस्सासंकमणणिव्वत्ती (लेश्यासंक्रमणनिवृत्ति)

—षट्० पु १६ । पृ० ५७१

टीका—लेस्सा त्ति अणियोगद्वारे तत्थ इमाणि अट्ट पदाणि ।
तं जहा—× × × लेस्सासंकमणणिव्वत्ती ४ × × × ।

लेश्या अनुयोगद्वार के आठ पदों में लेश्यासंक्रमणनिवृत्ति चौथा पद है । सम्भवतः इसमें एक लेश्या का दूसरी लेश्या में संक्रमण की निवृत्ति—परिसमाप्ति का वर्णन किया गया हो ।

‘०४’ ६५ लेस्सासंकमे (लेश्यासंक्रम)

—षट्० पु १६ । पृ० ५७२

टीका—लेस्साकम्मे त्ति अणियोगद्वारे पंचविधियपदाणि । तं
जहा—लेस्सासंकमे १ × × × ।

किण्हलेस्सादो संकिलेसंतो अण्णलेसं ण संकमदि, विसुड्ढंतो
सट्ठाणे छट्ठाणपदाणि ओसरदि, णील्लेस्सं वा संकमदि × × × ।

लेश्यासंक्रम—एक लेश्या से अन्य लेश्या में संक्रमण करना ।

लेश्याकर्म अनुयोगद्वार के पंचविधिक पदों में लेश्यासंक्रम प्रथम पद है । उदाहरणार्थ कृष्णलेश्या में संक्लेश को प्राप्त होता हुआ जीव अन्य लेश्या में संक्रमण नहीं करता है, अपितु उससे विशुद्धि को प्राप्त होकर स्वस्थान में षट्-स्थानपतित होता है अथवा नीललेश्या में संक्रमण करता है ।

‘०४’ ६६ लेस्सासरीरसमोदारो (लेश्याशरीरसमवतार)

—षट्० पु १६ । पृ० ५७१

टीका—लेस्सा त्ति अणियोगद्वारे तत्थ इसाणि अट्ट पदाणि । तं
जहा—× × × लेस्सासरीरसमोदारो चेदि ८ ।

लेश्या अनुयोगद्वार के आठ पदों में लेश्याशरीरसमवतार आठवाँ पद है। इसमें शरीर के आधार पर लेश्याओं का वर्णन दिया गया है। देखो इसी पुस्तक के पृष्ठ ४८५ से ४८७।

०४६७ लेस्सासामित्तविहाणे (लेश्यास्वामित्तविधान)

—षट्० पु १६। पृ० ५७२

टीका—लेस्सापरिणामे त्ति अणियोगद्वारे दस वित्थरपदाणि।
तं जहा— $\times \times \times$ लेस्सासामित्तविहाणे ४ $\times \times \times$ ।

लेश्यापरिणाम अनुयोगद्वार के दस विस्तार पदों में लेश्यास्वामित्त विधान चौथा पद है। इसमें किस लेश्या के कौन जीव स्वामी होते हैं इसका विविध अपेक्षा से वर्णन किया गया है।

०४६८ लोगलेसं (लोकलेश्य)

—सम० सम १३। सू १३-१४

मूल—लंतए कप्पे अत्थेगइयाणं देवाणं $\times \times \times$ जे देवा $\times \times \times$
लोगं $\times \times \times$ लोगलेसं $\times \times \times$ लोगुत्तरवड्डेसगं विमाणं देवत्ताए
उववण्णा, तेसि णं देवाणं उक्कोसेणं तेरस सागरोवमाइं ठिई
पण्णत्ता।

टीका—लोकाभिलापेन चैकादश विमानानीति।

लोकलेश्य—लान्तव कल्प में एक विमान विशेष का नाम।

लान्तव कल्प में कई देवता लोक आदि ११ विमानों में उत्पन्न होते हैं। इन ११ विमानों में लोकलेश्य नाम का भी एक विमान है।

०४६९ वइरलेसं (वइरलेश्या)

—सम० सम १३। सू १३-१४

मूल—लंतए कप्पे अत्थेगइयाणं देवाणं $\times \times \times$ जे देवा $\times \times \times$
वइरं $\times \times \times$ वइरलेसं $\times \times \times$ वइरुत्तरवड्डेसगं $\times \times \times$ विमाणं
देवत्ताए उववण्णा, तेसि णं देवाणं उक्कोसेणं तेरससागरोवमाइं ठिई
पण्णत्ता।

टीका—वहराभिलापेन × × × चैकादश विमानानीति ।

वहरलेश्य—लान्तव कल्प में एक विमान विशेष का नाम ।

लान्तव कल्प में कई देवता वहर आदि ११ विमानों में उत्पन्न होते हैं । इन ११ विमानों में वहरलेश्य नाम का भी एक विमान है ।

०४० वज्जलेसं (वज्जलेश्य)

—सम० सम १३ । सू १३-१४

मूल—लंतए कप्पे अत्थेगइयाणं × × × जे देवा वज्जं × × × वज्जलेसं × × × वज्जुत्तरवड्डेसंगं × × × विमाणं देवत्ताए उववण्णा, तेसि णं देवाणं उक्कोसेणं तेरससागरोवमाइं ठिई पणत्ता ।

टीका—वज्जाभिलापेन द्वादश × × × विमानानीति ।

वज्जलेश्य—लान्तव कल्प में एक विमान विशेष का नाम ।

लान्तव कल्प में कई देवता वज्ज आदि १२ विमानों में उत्पन्न होते हैं । इन विमानों में वज्जलेश्य नाम का भी एक विमान है ।

०४०१ वायलेसं (वातलेश्य)

—सम० सम ५ । सू १८-१९

मूल—सणकुमारमाहिंदेसु कप्पेसु अत्थेगइयाणं देवाणं × × × जे देवा वायं × × × वायलेसं × × × वाउत्तरवड्डेसंगं × × × विमाणं देवत्ताए उववण्णा, तेसि णं देवाणं उक्कोसेणं पंचसागरोवमाइं ठिई पणत्ता ।

टीका—वातं सुवातमित्यादीनि द्वादश × × × विमाननामानि × × × ।

वातलेश्य—सनत्कुमार-माहेन्द्रकल्प में एक विमान विशेष का नाम ।

सनत्कुमार-माहेन्द्र कल्प में कई देवता वात आदि १२ विमानों में उत्पन्न होते हैं । इन १२ विमानों में वातलेश्य नाम का भी एक विमान है ।

०४७२ विसुद्धलेस्सतरागा (विशुद्धलेश्यतरक)

—भग० श १ । उ २ । सू ६७

मूल—गोयमा ! नेरइया दुविहा पन्नत्ता, तं जहा—पुव्वोववण्णगा य, पच्छोववण्णगा य ; तत्थ णं जे ते पुव्वोववण्णगा ते णं विसुद्धलेस्सतरागा ।

टीका—‘पुव्वोववण्णगा × × × य’ त्ति पूर्वोत्पन्नाः प्रथमतर-
मुत्पन्नाः × × × तत्र पूर्वोत्पन्नानामाऽऽयुषस्तदन्यकर्मणां च बहुतर-
वेदनाद् अल्पकर्मत्वम् × × × ।

विशुद्धलेश्यतरक—जिस जीव की लेश्या उसी प्रकार के अन्य जीवों की लेश्या से विशुद्धतर होती है ।

जो नारकी पूर्वोत्पन्नक हैं उनकी नरकायु तथा अन्य कर्मों के बहुलांश का वेदन हो जाने के कारण वेदन योग्य कर्म अल्प रह जाते हैं, अतः इस अपेक्षा से उनकी लेश्या भी विशुद्ध हो जाती है और उनको पश्चादुत्पन्नक नारकी से विशुद्धलेश्यतरक कहा जाता है ।

०४७३ विसुद्धलेसा (विशुद्धलेश्या)

—सम० प्रकी २२६ । ४

एते विसुद्धलेसा, जिणवरभत्तीए पंजलिउडा य ।
तं कालं तं समयं, पडिलाभेई जिणवरिदे ॥

विशुद्धलेश्या—जिनकी लेश्या विशुद्ध हो ।

विशुद्धलेश्या तीर्थङ्करों को प्रथम भिक्षा देनेवाले का विशेषण है । तीर्थङ्करों को प्रथम भिक्षा देने वाले की लेश्या विशुद्ध होती है ।

०४७४ वीरलेसं (वीरलेश्य)

—सम० सम ६ । सू १३-१४

मूल—सणकुमारमाहिंदेसु कप्पेसु अत्थेगइयाणं देवाणं × × × जे
देवा × × × वीरं × × × वीरलेसं × × × वीरुत्तरवडैसगं विमाणं

देवत्ताए उववण्णा, तेसि णं देवाणं उक्कोसेणं छ्सागरोवमाइ' ठिई
पण्णत्ता ।

वीरलेश्य—सनत्कुमार-माहेन्द्र कल्प के एक विमान विशेष का नाम ।

सनत्कुमार-माहेन्द्र कल्प में कई देवता वीर आदि १४ विमानों में उत्पन्न होते हैं । इन १४ विमानों में वीरलेश्य नाम का भी एक विमान है ।

०४ ७५ समलेस्सा (समलेश्या)

—भग० श १ । उ २ । सू ६६-६७

मूल—नेरइयाणं भंते ! सञ्जे समलेस्सा ? गोयमा ! णो इणट्ठे
समट्ठे ।

समलेश्या—सम—तुल्य लेश्या ।

उदाहरणार्थ—नारकियों में सभी नारकी समलेशी—सम तुल्य लेश्या वाले नहीं होते हैं, क्योंकि पूर्वोत्पन्नक नारकी विशुद्धतरलेशी होते हैं और पश्चा-
दुत्पन्नक नारकी अविशुद्धतरलेशी होते हैं ।

०४ ७६ सलेस्स (सलेश्य)

—पण्ण० प १८ । सू १३३५

मूल—सलेस्से णं भंते ! सलेस्से त्ति कालओ केवच्चिरं होइ ?
पुच्छा । गोयमा ! सलेस्से दुविहे पण्णत्ते । तं जहा—अणादीए
वा अपज्जवासिए १, अणादीए वा सपज्जवासिए २ ।

टीका—सह लेश्या यस्य येन वा स सलेश्यः ।

सलेश्य अर्थात् लेश्या से युक्त ।

जो जीव लेश्या सहित होते हैं उन्हें सलेश्य कहा जाता है । तेरहवें गुण-
स्थान तक के जीव सलेश्य होते हैं ।

०४ ७७ संखित्तविउलतेयलेस्सं (संक्षिप्तविपुलतेजोलेश्या)

—भग० श १ उ १ । सू ६

—भग० श १५ । उ १ । सू ७६

मूल—× × × भगवओ महावीरस्स जेह्णे अतेवासी इंदभूर्हे णामं
अणगारे गोयमे गोत्तेणं सत्तुस्सेहे × × × संखित्तविउलतेयलेसे
× × × अप्पाणं भावेमाणे विहरइ ।

टीका—‘संखित्तविउलतेयलेसे’ त्ति संक्षिप्ता शरीरान्तर्लीनत्वेन
ह्रस्वतां गता, विपुला विस्तीर्णा अनेकयोजनप्रमाणक्षेत्राश्रितवस्तुद-
हनसमर्थत्वात्, तेजोलेश्या विशिष्टतपोजन्यलब्धिविशेषप्रभवा तेजो-
ज्वाला यस्य स तथा ।

मूल—जे णं गोसाला एगाए सणहाए कुम्मासपिंडियाए एगेण य
वियडासएणं छट्ठं छट्ठेणं अनिक्खित्तेणं तवोकम्मेणं उद्धं वाहाओ
पगिज्झइ पगिज्झइ जाव विहरति से णं अंतो छण्हं मासाणं संखित्त-
विउलतेयलेसे भवति ।

संक्षिप्तविपुलतेजोलेश्या—विशिष्टतपोजन्य तेजोलेश्या-एकलब्धिविशेष ।

यह शब्द गौतम स्वामी के विशेषणों में प्रयुक्त किया गया है । यह लेश्या
अप्रयोगकाल में शरीरस्थ होने से संक्षिप्त रहती है तथा प्रयोगकाल में विपुल
अर्थात् अनेक योजन प्रमाण क्षेत्र में आश्रित वस्तुओं को दग्ध करने की शक्ति
रखती है ।

यह संक्षिप्तविपुलतेजोलेश्या (लब्धि) नखसहित बन्द की हुई मुट्ठी में जितने
उड़द के बाकले आबें उतने मात्र से और एक बुल्लू भर पानी के पारण से निरन्तर
छट्ट-छट्ट भक्त की तपस्या के साथ दोनों हाथ ऊँचे रखकर यावत् आतापना लेने
से प्राप्त होती है ।

०४७८ संबद्धलेसागा (सम्बद्धलेश्यक)

—सूर० प्रा १६ । सू १०० । कालोदधि । गा २

मूल—वायालीसं चंदा वायालीसं च दिणकरा दित्ता ।

कालोदधिंमि एते चरन्ति संबद्धलेसागा ॥

सम्बद्धलेश्यक—जिनकी लेश्याएँ रश्मियाँ परस्पर में सम्बन्धित हों ।

कालोदधि समुद्र में बयालीस चन्द्र और बयालीस सूर्य विचरण करते हैं, जिनकी लेश्याएँ एक दूसरे से सम्बन्धित—परस्पर में मिश्रित होकर रहती हैं ।

‘०४’७६ सीओसिणतेयलेस्सा (सीय-उष्णतेजोलेश्या)

—भग० श १५ । सू ६८

मूल—तए णं से वेसियायणे बालतवस्सी तुमं दोच्चंपि तच्चंपि एवं बुत्ते समाणे × × × तव वहाए सरीरगंसि तेयलेस्सं निस्सरइ × × × बालतवस्सिस्स सीयोसिणतेयलेस्सा-पडिसाहरणट्टयाए × × × ।

टीका—‘सीओसिणं तेयलेस्सं’ ति स्वकीयामुष्णां तेजोलेश्याम् ।

सीय—उष्णतेजोलेश्या—उष्ण पुद्गलों वाली तेजोलब्धि । यह तप-विशेष से प्राप्त होती है ।

गोशालक के बार-बार व्यंग्य कथन करने पर वैश्यायन बालतपस्वी ने गोशालक को दग्ध करने के लिए उस पर अपनी ऊष्ण तेजोलेश्या का निक्षेप किया था ।

‘०४’८० सीयलियतेयलेस्सं (शीतलतेजोलेश्या)

—भग० श १५ । सू ६८

मूल—× × × तए णं अहं गोसाला ! तव अणुकंपणट्टयाए वेसियायणस्स बालतवस्सिस्ससीओसिणतेयलेस्सापडिसाहरणट्टयाए एत्थ णं अंतरा सीयलियतेयलेस्सं निसिरामि × × × ।

शीतलतेजोलेश्या—शीतल पुद्गलों वाली तेजोलब्धि ।

शीतलतेजोलेश्या में उष्ण तेजोलेश्या के पुद्गलों को प्रशान्त करने की शक्ति रहती है । वैश्यायन बालतपस्वी के द्वारा गोशालक का दग्ध करने के लिए निक्षिप्त उष्णतेजोलेश्या का प्रतिघात करने के लिए गोशालक पर अनुकम्पा करके भगवान महावीर ने शीतलतेजोलेश्या का निक्षेप किया था ।

‘०४’८१ सीयलेस्सा (शीतलेश्या)

—जीवा० प्रति ३ । उ २ । सू १७६

मूल—देखो पाठ 'सुहलेशा' का ।

वह ज्योति जो शीतलता प्रदान करती है उसको शीतलेश्या कहते हैं । टीकाकार ने इसका कोई अर्थ नहीं बतलाया है ।

'०४'८२ सुज्जलेसं (सूर्यलेश्य)

—सम० सम ६ । सू १६-१७

मूल—बंभलोए कप्पे अत्थेगइयाणं देवाणं × × × जे देवा × × × सुज्जं × × × सुज्जलेसं × × × सुज्जुत्तरवड्डेसगं × × × विमाणं देवत्ताए उववण्णा, तेसि णं देवाणं उक्कोसेणं नवसागरोवमाइं ठिई पण्णत्ता ।

टीका—× × × सूर्यादीन्यपि द्वादशैव × × × विमाननामानि ।

सूर्यलेश्य—ब्रह्मलोक कल्प के एक विमान विशेष का नाम ।

ब्रह्मलोक कल्प में कई देवता सूर्य आदि १२ विमानों में उत्पन्न होते हैं । इन १२ विमानों में सूर्यलेश्य नाम का भी एक विमान है ।

'०४'८३ सुविसुद्धलेसे (सुविशुद्धलेश्य)

—सुय० श्रु १ । अ ४ । उ २ । गा २१

मूल—सुविसुद्धलेसे मेहावी, परकिरिअं च वज्जे नाणी ।

मणसा वयसा कायेणं, सव्वफाससहे अणगारे ॥

टीका—सुधु—विशेषेण शुद्धा—स्त्रीसम्पर्कपरिहाररूपतया निष्कलङ्का लेश्या—अन्तःकरणवृत्तिर्यस्य स ।

सुविशुद्धलेश्य—पूर्ण ब्रह्मचर्य के पालन से जिसकी लेश्या—अन्तःकरण वृत्ति निष्कलंक होकर परम विशुद्धि को प्राप्त हो गई हो । सुविशुद्धलेश्य अनगर का एक विशेषण है ।

'०४'८४ सुसमाहितलेसे (सुसमाहितलेश्य)

—आया० श्रु १ । अ ८ । उ ५ । सू ८१

मूल—एवं से अहा-किट्टियमेव धम्मं समहिजाणमाणे, संते विरते सुसमाहितलेसे ।

शीलांक टीका—शोभना समाह्वता गृहीता लेश्या अन्तःकरण-वृत्तयस्तैजसीप्रभृतयो वा येन स समाहितलेश्यः ।

सुसमाहितलेश्य—जिसने शुभ लेश्याओं का ग्रहण किया हो तथा जिसके अन्तः-करण में तेज, पद्म और शुक्ललेश्याओं में से कोई एक लेश्या परिणमन कर रही हो ।

०४८५ सुहलेसा (शुभलेश्या)

—जीवा० प्रति ३ । उ २ । सू १७६

मूल—बहियाणं भंते ! मणुस्सखेत्तस्स जे चंदिमसूरियगहणक्ख-त्ततारारूवा ते णं भंते ! × × × दिव्वाइं भोगभोगाइं भुंजमाणा जाव सुहलेसा × × × ते पदेसे सव्वओ समंता ओभासेति उज्जोवेति तवंति पभासेति ।

टीका—शुभलेश्याः ; एतच्च विशेषणं चन्द्रमसः प्रति, तेन नाति-शीततेजसः किन्तु सुखोत्पादहेतुपरमलेश्याका इत्यर्थः ।

शुभलेश्या चन्द्रमा का विशेषण है । यह न तो अति शीतल होती है और न अति तप्त, अतः सुखानुभूति का कारण होने से इसे परम—उत्तम लेश्या कहा गया है ।

०४८६ सुहलेसो (शुभलेश्य)

—विशेषा० गा २१२२, २४

मूल—तित्थयरनामगोत्तं बद्धं मे वेइयव्वं ति ॥ २१२२ उत्तराद्धं नियमा मणुयगईए इत्थी पुरिसेयरो व सुहलेसो । आसेवियबहुलेहि वीसाए अन्नयरएहि ॥ २१२४

टीका—तीर्थकर इति नामगोत्रं संज्ञा यस्य तत् तीर्थकरनाम-संज्ञकं कर्म पूर्वं मया बद्धं तदिदानीमनेन प्रकारेण वेदितव्यम् ।

× × × तच्च नियमाद् मनुष्यगतावेव प्रारम्भमाश्रित्य सम्यग्दृष्टि-
मनुष्यो बध्नाति, नान्यगतावन्यः । कथंभूतो मनुष्यः ? इत्याह—
स्त्री, पुरुषः, इतरो वा पुरुषनपुंसकवेदको मन्त्रादिकारणैरुपहृतपुरुषवेदः
सन् यो नपुंसकः, न तु क्लिष्टः पण्डकादिरित्यर्थः । कथंभूतः पुनः
मन्यादिः ? इत्याह—सम्यग्दर्शनादियुक्तत्वात् शुभलेश्यः ।

शुभलेश्य—शुभ लेश्या से युक्त ।

जो जीव तीर्थङ्कर तामकर्म बाँधता है वह नियम से मनुष्यगति का होता है
तथा उसके सम्यग्दृष्टि सहित शुभलेश्या रहती है ।

०४८७ सूरलेसं (सूरलेश्य)

—सम० सम ५ । सू १८-१९

(मूल सम०)—सणकुमारमाहिंदेसु कल्पेसु अत्येगइयाणं × × ×
जे देवा × × × सूरलेसं × × × सूरुत्तरवडेंसगं देवत्ताए उववण्णा,
तेसि णं देवाणं उक्कोसेणं पंचसागरोवमाइं ठिई पण्णत्ता ।

सूरलेश्य—सनत्कुमार-माहेन्द्र कल्प के एक विमान विशेष का नाम ।

सनत्कुमार-माहेन्द्र कल्प में कई देवता सूर आदि १२ विमानों में उत्पन्न होते
हैं । इन १२ विमानों में सूरलेश्य नाम का भी एक विमान है ।

०४८८ सूरलेसादी (सूर्यलेश्या)

—सूर० प्रा १६ । सू ८७

मूल—ता सूरलेसादी य आथवेइ य आतवेइ य सूरलेसादी य के
अह्णे किलक्खणे ? ता एगट्ठे एगलक्खणे ।

टीका—आतप इति सूर्यलेश्या इति यदि वा सूर्यलेश्या इति
आतप इति ।

सूर्यलेश्या—सूर्य के आतप को सूर्यलेश्या कहते हैं अथवा सूर्यलेश्या को सूर्य
का आतप कहते हैं । आतप और सूर्यलेश्या दोनों शब्द एकार्शवाची हैं ।

०४८६ सूरियसुद्धलेसे (सूर्यवच्छुद्धलेश्य)

—सूय० श्रु १ । अ ६ । गा १३

मूल—महीए मड्भंमि ठिते णगिदे, पन्नारयते सूरियसुद्धलेसे ।
एवं सिरिए उ स भूरिवन्ने, मणोरमे जोयइ अच्चिमाली ॥

टीका—‘सूर्यवच्छुद्धलेश्यः’—आदित्यसमानतेजाः ।

सूर्यवच्छुद्धलेश्य—यह सुमेरु पर्वत का विशेषण है । इसकी कान्ति की उपमा सूर्य की ज्योति से दी गई है अर्थात् इसकी कान्ति सूर्य की शुद्ध ज्योति के समान है ।

०४६० सोमलेसा (सोमलेश्या)

—ओव० सू २७

मूल—तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स भगवओ महावीरस अन्ते-
वासी बहवे अणगारा भगवंतो × × × चंदो इव सोमलेस्सा × × × ।

टीका—‘चंदो इव सोमलेस्स’ त्ति अनुपतापमनः परिणामाः ।

सोमलेश्या—चन्द्रमा की ज्योति जिस प्रकार अनुपतापकारी होती है उसी प्रकार सोमलेश्या वाले के मन का परिणाम अनुपतापकारी होता है ।

भगवान् महावीर के बहुत से अन्तेवासी—शिष्यों की लेश्या (मनःपरिणाम) चन्द्रमा की ज्योति के समान अनुपतापकारी थी ।

०५ परिभाषा के उपयोगी पाठ

०५१ द्रव्यलेश्या की परिभाषा के उपयोगी पाठ

०५११ वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श ।

कण्हलेसा णं भन्ते ! कइ वण्णा, कइ रसा, कइ गन्धा, कइ फासा
पन्नत्ता ? गोयमा ! दव्वलेस्सं पडुच्च पंचवण्णा, जाव अट्टफासा
पन्नत्ता × × × एवं जाव सुक्कलेस्सा ।

—भग० श १२ । उ ५ । सू ११७ । पृ० ५६६

‘०५’१’२ छः लेश्या और पाँच वर्ण ।

एयाओ णं भंते ! छल्लेस्साओ कइसु वण्णेसु साहिज्जंति ? गोयमा ! पंचसु वण्णेसु साहिज्जंति; तंजहा—कण्हलेस्सा कालएणं वण्णेणं साहिज्जइ; नीललेस्सा नीलवण्णेणं साहिज्जइ; काउलेस्सा काललोहिएणं वण्णेणं साहिज्जइ; तेउलेस्सा लोहिएणं वण्णेणं साहिज्जइ; पम्हलेस्सा हालिइएणं वण्णेणं साहिज्जइ; सुक्कलेस्सा सुक्किल्लएणं वण्णेणं साहिज्जइ ।

—पण्ण० प १७ । उ ४ । सू १२३२ । पृ० २६५

‘०५’१’३ पुद्गल भी वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्शी है अतः द्रव्यलेश्या पुद्गल है ।

पोग्गलत्थिकाएणं भंते ! कइ वण्णे, कइ गन्धे, कइ रसे, कइ फासे पन्नत्ते ? गोयमा ! पंच वण्णे, पंच रसे, दुग्गंघे, अट्ठफासे ।

—भग० श २ । उ १० । सू १२४ । पृ० ११४

‘०५’१’४ द्रव्यलेश्या पुद्गल है अतः पुद्गल के गुण भी द्रव्यलेश्या में हैं ।

(पोग्गलत्थिकाए) रूवी, अजीवे, सासए, अवट्ठिए, लोगदब्बे, से समासओ पंचविहे पन्नत्ते—तंजहा—दब्बओ, खेत्तओ, कालओ, भावओ, गुणओ ।

१—दब्बओ णं पोग्गलत्थिकाए अणंताइं दब्बाइं,

२—खेत्तओ लोयप्पमाणमेत्ते,

३—कालओ न कयाइ, न आसी, जाव णिच्चे,

४—भावओ वण्णमंते, गंध-रस-फासमंते ।

५—गुणओ गहणगुणे ।

—भग० श २ । उ १० । सू १३० । पृ० ११६

‘०५’१’५ द्रव्यलेश्या अनन्त प्रदेशी है ।

कण्हलेस्सा णं भन्ते ! कइ पएसिया पन्नत्ता ? गोयमा ! अणंत-पएसिया पन्नत्ता, एवं जाव सुक्कलेस्सा ।

—पण्ण० प १७ । उ ४ । सू १२४३ । पृ० २६८

०५१६ द्रव्यलेश्या असंख्यात प्रदेशी क्षेत्र-अवगाह करती है ।

कणह्लेस्सा णं भन्ते ! कइ एसोगाढा पन्नत्ता ? गोयमा ! असंखे-
ज्जएसोगाढा पन्नत्ता ; एवं जाव सुक्कलेस्सा !

—पण्ण० प १७ । उ ४ । सू १२४४ । पृ० २६८

०५१७ द्रव्यलेश्या की अनन्त वर्गणा होती है ।

कणह्लेस्साए णं भन्ते ! केवइयाओ वग्गणाओ पन्नत्ताओ ?
गोयमा ! अणंताओ वग्गणाओ पन्नत्ताओ, एवं जाव सुक्कलेस्साए ।

—पण्ण० प १७ । उ ४ । सू १२४५ । पृ० २६८

०५१८ द्रव्यलेश्या के असंख्यात स्थान हैं ।

केवइया णं भन्ते ! कणह्लेस्सा ठाणा पन्नत्ता ? गोयमा ।
असंखेज्जा कणह्लेस्सा ठाणा पन्नत्ता ; एवं जाव सुक्कलेस्सा ।

—पण्ण० प १७ । उ ४ । सू १२४६ । पृ० २६८

०५१९ द्रव्यलेश्या गुरुलघु है ।

कणह्लेस्सा णं भन्ते ! किं गुरुया, जाव अगुरुलहुया ? गोयमा !
णो गुरुया, णो लहुया, गुरुयलहुयावि, अगुरुलहुयावि । से केणट्ठेणं ?
× × × गोयमा ! दव्वलेस्सं पडुच्च ततियपएणं, भावलेस्सं पडुच्च
चउत्थपएणं, एवं जाव सुक्कलेस्सा ।

—भग० श १ । उ ६ । सू ४०८ से ४१० । पृ० ६८६

०५११० द्रव्यलेश्या जीवशाह्य है ।

जल्लेसाइं दव्वाइं परिआइत्ता कालं करेइ (जीव) तल्लेस्सेसु
उववज्जइ ।

—भग० श ३ । उ ४ । सू १८३ । पृ० १६४

०५१११ द्रव्यलेश्या परस्पर परिणामी है ।

से नूणं भन्ते ! कणह्लेस्सा नीललेस्सं पप्प तारुवत्ताए, तावण-
त्ताए, तागंधत्ताए, तारसत्ताए, ताफासत्ताए भुज्जो भुज्जो
परिणमइ ।

—पण्ण० प १७ । उ ५ । सू १२५१ । पृ० ३००

०५११२ द्रव्यलेख्या परस्पर कदाचित् अपरिणामी भी है ।

से नूनं भन्ते ! कण्हेस्सा नीललेस्सं पप्प णो तारूवत्ताए जाव णो ताफासत्ताए भुज्जो भुज्जो परिणमइ ? हंता गोयमा ! कण्हेस्सा नीललेस्सं पप्प णो तारूवत्ताए, णो तावण्णत्ताए, णो तागंधत्ताए, णो तारसत्ताए, णो ताफासत्ताए भुज्जो भुज्जो परिणमइ । से केण्हेणं भन्ते ! एवं वुच्चइ ? गोयमा ! आगारभावमायाए वा से सिया, पलिभागभावमायाए वा से सिया ।

—पण्ण० प १७ । उ ५ । सू १२५२ । पृ० ३००

०५११३ द्रव्यलेख्या (सूक्ष्मत्व के कारण) हृद्मस्थ के अगोचर—अज्ञेय है ।

अणगारे णं भन्ते ! भावियप्पा अप्पणो कम्मलेस्सं न जाणइ, न पासइ, तं पुण जीवं सरूविं सकम्मलेस्सं जाणइ, पासइ ? हंता गोयमा ! अणगारे णं भावियप्पा अप्पणो जाव पासइ ।

—भग० श १४ । उ ६ । सू १२३ । पृ० ६४८-६४९

०५११४ द्रव्यलेख्या अजीवोदयनिष्पन्न भाव है क्योंकि जीव द्वारा ग्रहण होने के बाद द्रव्यलेख्या का प्रायोगिक परिणमन होता है ।

से किं तं अजीवोदयनिष्पन्ने ? अजीवोदयनिष्पन्ने अणेगविहे पन्नत्ते, तंजहा—ओरालियं वा सरीरं, ओरालियसरीरपओगपरिणामियं वा दव्वं, वेउव्वियं वा सरीरं, वेउव्वियसरीरपओगपरिणामियं वा दव्वं, एवं आहारगं सरीरं तेयगं सरीरं, कम्मगसरीरं च भाणियव्वं । पओगपरिणामए वण्णे, गंधे, रसे, फासे, से त्तं अजीवोदयनिष्पन्ने ।

—अणुओ सू १२६ । पृ० ११११

०५११५ तद्ब्यतिरिक्तद्रव्यलेख्या पुद्गलस्कन्धों का चक्षुरिन्द्रिय ग्राह्य वर्ण है ।

दव्वलेस्सा द्दुविहा—आगमदव्वलेस्सा णोआगमदव्वलेस्सा चेदि । आगमदव्वलेस्सा सुगमा । णोआगमदव्वलेस्सा तिविहा जाणुगसरीरभविय [तव्वदिरित्तणोआगमदव्वलेस्साभेएण । जाणुगसरीरभविय] नोआगमदव्वलेस्साओ सुगमाओ । तव्वतिरित्तदव्वलेस्सा पोग्गल-

क्खंधाणं चर्क्खिदियगेऽम्भो वण्णो । सो छ्विहो किण्णलेस्सा णील-
लेस्सा काउलेस्सा तेउलेस्सा पम्मलेस्सा सुक्कलेस्सा चेदि ।

—षट्० पु १६ । पृ० ४८४

'०५'१'१६ द्रव्यलेश्या जीव के द्वारा अप्रतिग्रहीत पुद्गलस्कन्ध है ।

जीवेहि अपडिगहिदपोग्गलक्खंधाणं किण्ण-णील-काउ-तेउ-पम्म-
सुक्कसण्णिदाओ छलेस्साओ हौंति ।

—षट्० पु १६ । पृ० ४८५

'०५'१'१७ द्रव्यलेश्या वर्णनामकर्म के उदयजनित शरीर का वर्ण है ।

वण्णोदयेण जणिदो सररीवण्णो दु दब्बो लेस्सा ।

सा सोढा किन्हादी अणेयभेया सभेयेण ॥

—गोजी० गा ४६

'०५'२ भावलेश्या की परिभाषा के उपयोगी पाठ

'०५'२'१ भावलेश्या जीव परिणाम है ।

जीवे परिणामे णं भन्ते ! कइविहे ? गोयमा ! दसविहे पन्नत्ते,
तं जहा—गइपरिणामे, इंदियपरिणामे, कसायपरिणामे, लेस्सा-
परिणामे, जोगपरिणामे, उवओगपरिणामे, णाणपरिणामे, दंसण-
परिणामे, चरित्तपरिणामे, वेयपरिणामे ।

—पण्ण० प १३ । सू ६२६ । पृ० २२६

—ठाण० स्था० १० ।

'०५'२'२ भावलेश्या अवर्णी, अगंधी, अरसी, अस्पर्शी है ।

(कण्हलेस्सा) भावलैस्सं पडुच्च अवण्णा, अरसा, अगंधा,
अफासा, एवं जाव सुक्कलेस्सा ।

—भग० श १२ । उ ५ । सू ११७ । पृ० ५६६

'०५'२'३ भावलेश्या अवर्णी, अगंधी अरसी, अस्पर्शी तथा जीव परिणाम है
अतः जीव है ।

जीवत्थिकाए णं भन्ते ! कइ वण्णे, कइ गंधे, कइ रसे, कइ फासे ?
गोयमा ! अवण्णे, जाव अरुवी, जीवे, सासए, अवट्टिए, लोग-
दब्बे × × × ।

—भग० श २ । उ १० । सू १२८ । पृ० ११५

०५२४ भावलेख्या अगुरुलघु है ।

कणहलेस्साणं भंते ! किं गुरुया जाव अगुरुलहुया ? णो गुरुया,
णो लहुआ, गुरुलहुआ वि अगुरुलहुया वि । से केणट्ठेणं भंते ! × × ×
गोयमा ! पडुच्च दव्वलेस्सं ततियपएणं, भावलेस्सं पडुच्च चउत्थपएणं,
एवं जाव सुकलेस्सा ।

—भग० श १ । उ ६ । सू ४०८ से ४१० । पृ० ६८

०५२५ भावलेख्या जीवोदय-निष्पन्न भाव है ।

से किं तं जीवोदयनिष्पन्ने ? अणेगविहे पन्नत्ते, तं जहा—णेरइए
× × × पुढविकाइए जाव तसकाइए, कोहकसाई जाव लोहकसाई
× × × कणहलेस्से जाव सुकलेस्से × × × संसारत्थे असिद्धे, से तं
जीवोदयनिष्पन्ने ।

—अणुओ० सू १२६ । पृ० ११११

०५२६ भावलेख्या परस्पर में परिणमन करती है ।

गोयमा ! (कणहलेस्से जाव सुकलेस्से भवित्ता) लेस्सट्ठाणेसु
संकिलिस्समाणेसु २, कणहलेस्सं परिणमइ कणहलेस्सं परिणमइत्ता
कणहलेस्सेसु नेरइएसु उववज्जंति ।

गोयमा ! (कणहलेस्से जाव सुकलेस्से भवित्ता) लेस्सट्ठाणेसु
संकिलिस्समाणेसु वा विसुज्जमाणेसु वा नीललेस्सं परिणमइ नीललेस्सं
परिणमइत्ता नीललेस्सेसु नेरइएसु उववज्जंति ।

—भग० श १३ । उ १ । सू १६ से २१ । पृ० ५६३

०५२७ भावलेख्या सुगति-दुर्गति की हेतु है । अतः कर्म-बन्धन में भी किसी
प्रकार का हेतु है ।

तओ दुग्गइगामियाओ (कणह-नील-काऊलेस्साओ) तओ सुग्गइ-
गामियाओ (तेऊ-पम्ह-सुकलेस्साओ) ।

—पण्ण० प १७ । उ ४ । सू १२४१ । पृ० २६७

०५२०८ भावलेश्या कर्म पुद्गलों के ग्रहण में कारणभूत है ।

भावलेस्सा दृविहा आगम-णोआगमभेएण । आगमभावलेस्सा सुगमा । णोआगमभावलेस्सा मिच्छत्तासंजम-कसायाणुरंजियजोग-पवुत्ती कम्मपोग्गालादाणणिमित्ता, मिच्छत्तासंजम-कसायजणिदसं-सकारो त्ति वुत्तं होदि ।

—३८० पु १६ । पृ० ४८५

०५२०९ लेश्या के द्वारा जीव के कर्मों का लेप

लिप्पइ अप्पीकीरइ एयाए णियय पुण्ण पावं च ।
जीवो त्ति होइ लेसा लेसागुणजाणयक्खाया ॥
जह × गेरुवेण कुड्ढो लिप्पइ लेवेण आमपिट्ठेण ।
तह परिणामो लिप्पइ सुहासुहा य त्ति लेवेण ॥

—पंचदि० अ १ । गा १४२-४३

०५२१० आयुष्य बन्ध के योग्य भावलेश्या के अंश

लेसाणं खलु अंसा छव्वीसा होति तत्थ मड्ढिमया ॥
आउगबंधणजोगा अट्टट्टवगरिसकालभवा ॥

—गोजी० गा ५१७

०५२११ लेश्या भावी गति और आयुष्य के बन्ध का बीज है

खीणे पुव्वणिबद्धे गदिणामे आउसे च ते वि खलु ।
पापुण्णंति य अण्णं गदिमाउस्सं सलेस्सवसा ॥

—पंच० गा ११६ । पृ० १८१-८२

टीका—क्षीयते हि क्रमेणारब्धफलो गतिनामविशेषायुर्विशेषश्च जीवानाम् । एवमपि तेषां गत्यन्तरस्यायुरन्तरस्य च कषायानु-रञ्जिता योगप्रवृत्तिर्लेश्या बीजं ततस्तदुचितमेव गत्यन्तरमायुरन्तरञ्च ते प्राप्नुवन्ति ।

०५२१२ भावलेश्या जीवसंस्कार है

मिच्छत्तासंजम-कसाय-जोगजणिदो जीवसंस्कारो भावलेस्सा णाम ।

—३८० पु १६ । पृ० ४८८

'०५'२'१३ भावलेश्या-विपाक प्रत्ययिक जीवभावबंध है

कम्माणमुदओ उदीरणा वा विवागो णाम, विवागो पच्चओ कारणं जस्स भावस्स सो विवागपच्चइओ जीवभावबंधो णाम ।

—षट्० खं ५ । भा ६ । सू १४ । टीका । पु १४ । पृ० १०

जो सो विवागपच्चइओ जीवभावबंधो णाम तत्थ इमो णिहेसो—
देवे त्ति × × × किण्हलेस्से त्ति वा णीललेस्से त्ति वा काउलेस्से त्ति
वा तेउलेस्से त्ति वा पम्मलेस्से त्ति वा सुक्कलेस्से त्ति वा × × × एव-
मादिया कम्मोदयपच्चइया उदयविवागणिप्पणा भावा सो सव्वो
विवागपच्चइओ जीवभावबंधो णाम ।

—षट्० खं ५ । भा ६ । सू १५ । पु १४ । पृ० १०-११

टीका—× × × । किण्ण - णील - काउ - तेउ-पम्म - सुक्कलेस्साओ
विवागपच्चइयाओ ; अधादिकम्माणं तप्पाओग्गद्वक्कम्मोदएण कसा-
ओदएण च ह्लेस्साणिप्पत्तीदो ।

'०६ प्राचीन आचार्यों द्वारा की गई लेश्या की परिभाषा

'०६'१ अमयदेवसूरि

(क) कृष्णादिद्रव्यसान्निध्यजनितो जीवपरिणामो लेश्या ।

यदाह—कृष्णादिद्रव्यसाचिव्यान् परिणामो य आत्मनः ।

स्फटिकस्येव तत्रायं लेश्याशब्दः प्रयुज्यते ॥

—भग० श १ । उ २ । सू ५३ की टीका

—ठाण० स्था १ । सू ५१ की टीका

(ख) कृष्णादिद्रव्यसाचिव्यजनिताऽऽत्मपरिणामरूपां

भावलेश्याम् ।

—भग० श १ । उ २ । सू ६७ की टीका

(ग) आत्मनि कर्मपुद्गलानाम् लेश्यात् संश्लेषणात् लेश्या,
योगपरिणामश्चैताः, योगनिरोधे लेश्यानामभावात्, योगश्च
शरीरनामपरिणतिविशेषः ।

—भग० श १ । उ २ । सू ६८ की टीका

(घ) 'द्व्वलेखसं पञ्च तइयपणं' ति द्रव्यतः कृष्णलेश्या औदारिक-कादिशरीरवर्णः, औदारिकं च 'गुरुलघु' इति कृत्वाऽनेन तृतीय-विकल्पेन व्यपदेश्या । भावलेश्या तु जीवपरिणतिः, तस्याश्चाऽ-मूर्तत्वात् 'अगुरुलघु' इत्यनेन व्यपदेश्यः ।

—भग० श १ । उ ६ । सू २६० की टीका

(ङ) आत्मनः सम्बन्धिनी कर्मणो योग्यलेश्या कृष्णादिका कर्मणो वा लेश्या 'श्लिष् श्लेषणे' इति वचनान् सम्बन्धः कर्मलेश्या ।

—भग० श १४ । उ ६ । सू १ की टीका

(च) लिश्यते प्राणी कर्मणा यथा सा लेश्या । यदाह—'श्लेष इव वर्णबन्धस्य कर्मबन्धस्थितिबिधाद्यः ।

उपर्युक्त दोनों—ठाण० स्था १ । सू ५१ की टीका

कृष्णादि द्रव्य के सान्निध्य से होने वाले जीव—आत्मा के परिणाम को लेश्या कहते हैं, क्योंकि कहा गया है—जिस प्रकार स्फटिक के पास जिस वर्ण का पदार्थ रहेगा वैसा ही वर्ण उसमें प्रतिबिम्बित होगा उसी प्रकार जैसे कृष्णादि द्रव्य जीव के सान्निध्य में रहेंगे वैसे ही उस आत्मा के परिणाम होने । ऐसे आत्म-परिणामों को भादलेश्या कहते हैं ।

आत्मा के साथ कर्मों का सम्बन्ध कराने योग्य कृष्णादि लेश्याएँ कर्मलेश्या कहलाती हैं ।

आत्मा के साथ पुद्गलों का लेशन—संश्लेषण कराने के कारण द्रव्य को लेश्या कहते हैं और ये लेश्याएँ योग के परिणाम हैं, क्योंकि योगनिरोध होने पर लेश्याओं का अभाव हो जाता है और योग शरीर नामकर्म की परिणति-विशेष है ।

द्रव्यलेश्या को तृतीय पद अर्थात् 'गुरुलघु' कहा गया है, क्योंकि कृष्णादि द्रव्यलेश्याएँ औदारिक आदि शरीर का वर्ण है, औदारिक पुद्गल 'गुरुलघु' होता है, अतः लेश्या को भी तृतीय पद से अभिहित किया गया है ।

भावलेश्या जीव की परिणति विशेष है और जीव के अमूर्त होने से उसकी परिणति—लेश्या भी अमूर्त है, अतः भावलेश्या को 'अगुरुलघु'—चतुर्थ पद से अभिहित किया गया है ।

(छ) इयं (लेश्या) च शरीरनामकर्मपरिणतिरूपा योगपरिणतिरूपत्वात् योगस्य च शरीरनामकर्मपरिणतिविशेषत्वात्, यत उक्तं प्रज्ञापना वृत्तिकृता—

“योगपरिणामो लेश्या, कथं पुनर्योगपरिणामो लेश्या, यस्मात् सयोगिकेवली शुक्ललेश्यापरिणामेन विहृत्यान्तमूर्हूर्त शेषे योगनिरोधं करोति ततोऽयोगित्वमलेश्यत्वं च प्राप्नोति अतोऽवगम्यते ‘योगपरिणामो लेश्ये’ति, स पुनर्योगः शरीरनामकर्मपरिणतिविशेषः, यस्मादुक्तम्—“कर्म हि कर्मणस्य कारणमन्येषां च शरीराणामिति” तस्मादौदारिकादिशरीरयुक्तस्यात्मनो वीर्यपरिणतिविशेषः काययोगः १, तथौदारिकवैक्रियाहारकशरीरव्यापाराहृतवाग्द्रव्यसमूहसाचिव्यात् जीवव्यापारो यः स वागयोगः २, तथौदारिकादिशरीरव्यापाराहृतमनोद्रव्यसमूहसाचिव्यात् जीवव्यापारो यः स मनोयोग इति ३, ततो यथैव कायादिकरणयुक्तस्यात्मनो वीर्यपरिणतियोग उच्यते तथैव लेश्यापीति, अन्ये तु व्याचक्षते—‘कर्मनिष्पन्नो लेश्ये’ति सा च द्रव्याभावभेदान् द्विधा, तत्र द्रव्यलेश्या कृष्णादिद्रव्याण्येव, भावलेश्या तु तज्जन्यो जीवपरिणाम इति ।”

—ठाण० स्या १ । सू ५१ की टीका

यह लेश्या योग की परिणति रूप है और योग शरीर नामकर्म की परिणति विशेष है, अतः लेश्या शरीर नामकर्म की परिणति रूप है ; जैसा कि प्रज्ञापना वृत्तिकार आचार्य हरिभद्र सूरि ने कहा है—

योगपरिणाम ही लेश्या है । योगपरिणाम को लेश्या कहने का कारण यह है कि सयोगिकेवली शुक्ललेश्या के (उत्कृष्ट) परिणाम में विहरण करता हुआ आयुष्य की स्थिति का अन्तमूर्हूर्त शेष रहने पर योगनिरोध करता है, तब वह आयोगित्व और अलेश्यत्व को प्राप्त करता है ; इसलिए जाना जाता है कि ‘योगपरिणाम ही लेश्या है’ । वह योग शरीर नामकर्म की परिणतिविशेष है । क्योंकि कहा गया है—कर्म ही कर्मण शरीर तथा अन्य औदारिकादि शरीरों का कारण है, इसलिए औदारिक शरीर से युक्त आत्मा की वीर्यपरिणति विशेष काययोग है १, औदारिक, वैक्रिया और आहारक शरीर के व्यापार से गृहीत भाषावर्गणा के द्रव्यसमूह के साहाय्य से होने वाला जीव-व्यापार वाग्योग है

२ और औदारिक आदि शरीर के व्यापार से गृहीत मनोवर्गणा के द्रव्यसमूह की सहायता से होने वाला जीवव्यापार मनोयोग है ३ । इसलिए जिस प्रकार कायादि करण से युक्त आत्मा की वीर्यपरिणति का योग कहा जाता है, उसी प्रकार लेश्या भी आत्मा की वीर्यपरिणति रूप है । अन्य आचार्यों का स्पष्ट कथन है कि कर्मों का निष्पन्न—रस रूप से भरण ही लेश्या है । यह लेश्या द्रव्य और भाव के भेद से दो प्रकार की है । उसमें द्रव्यलेश्या तो कृष्णादि द्रव्य ही है और भावलेश्या कृष्णादि लेश्याद्रव्यजनित जीव-परिणाम है ।

०६२ मलयगिरि :

(क) इह योगे सति लेश्या भवति, योगाभावे च न भवति, ततो योगेन सहान्वयव्यतिरेकदर्शनान् योगनिमित्ता लेश्येति निश्चीयते, सर्वत्रापि तन्निमित्तत्वनिश्चयस्थान्वयव्यतिरेकदर्शनमूलत्वात्, योगनिमित्तायामपि विकल्पद्वयमवतरति—

किं योगान्तर्गतद्रव्यरूपा योगनिमित्तकर्मद्रव्यरूपा वा ? तत्र न तावद्योगनिमित्तकर्मद्रव्यरूपा, विकल्पद्वयानतिक्रमात्, तथाहि— योगनिमित्तकर्मद्रव्यरूपा सती घातिकर्मद्रव्यरूपा अघातिकर्मद्रव्यरूपा वा ? न तावद् घातिकर्मद्रव्यरूपा, तेषामभावेऽपि सयोगिकेवल्लिनि लेश्यायाः सद्भावात्, नापि अघातिकर्म (द्रव्य) रूपा, तत्सद्भावेऽपि अयोगिकेवल्लिनि लेश्याया अभावात्, ततः पारिशेष्यात् योगान्तर्गतद्रव्यरूपा प्रत्येया । तानि च योगान्तर्गतानि द्रव्याणि यावत्कषायास्तावत्तेषामप्युदयोपवृंहकाणि भवन्ति, दृष्टं च योगान्तर्गतानां द्रव्याणां कषायोदयोपवृंहणसामर्थ्यम् । यथा पित्तद्रव्यस्य—तथाहि—

पित्तप्रकोपविशेषादुपलक्ष्यते महान् प्रवर्द्धमानः कोपः, अन्यच्च— ब्राह्मण्यपि द्रव्याणि कर्मणामुदयक्षयोपशमादिहेतव उपलभ्यन्ते, यथा ब्राह्मण्यौषधिर्ज्ञानावरणक्षयोपशमस्य, सुरापानं ज्ञानावरणोदयस्य, कथमन्यथा युक्तायुक्तविवेकविकलतोपजायते, दधिभोजनं निद्रारूपदर्शनावरणोदयस्य, तत्किं योगद्रव्याणि न भवन्ति ? तेन यः स्थितिपाकविशेषो लेश्यावशादुपगीयते शास्त्रान्तरे स सम्यगुपपन्नः, यतः

स्थितिपाको नामानुभाग उच्यते, तस्य निमित्तं कषायोदयान्तर्गत-
कृष्णादिलेश्यापरिणामाः, ते च परमार्थतः कषायस्वरूपा एव, तदन्त-
र्गतत्वात् ; केवलं योगान्तर्गतद्रव्यसहकारकारिणभेदवैचित्र्याभ्यां ते
कृष्णादिभेदैभिन्नाः तारतम्यभेदेन विचित्राश्चोपजायन्ते, तेन यद्
भगवता कर्मप्रकृतिकृता शिवशर्माचार्येण शतकारुष्ये ग्रन्थेऽभिहितम्—
'ठिइअणुभागं कसायओ कुणइ' इति तदपि समीचीनमेव, कृष्णादि-
लेश्यापरिणामानामपि कषायोदयान्तर्गतानां कषायरूपत्वात् । तेन
यदुच्यते कैश्चिद्योगपरिणामत्वे लेश्यानाम् "जोगा पयडिपएसं
ठिइअणुभागं कसायओ कुणइ" इति वचनात् प्रकृतिप्रदेशबन्धहेतुत्वमेव
स्यान्न कर्मस्थितिहेतुत्वमिति, तदपि न समीचीनम्, यथोक्तभावार्था-
परिज्ञानात् । अपि च न लेश्याः स्थितिहेतवः ।

किन्तु कषायाः, लेश्यास्तु कषायोदयान्तर्गताः अनुभागहेतवः,
अतएव च—'स्थितिपाकविशेषस्तस्य भवति लेश्याविशेषेण' इत्यत्रानु-
भागप्रतिपच्यर्थं पाकप्रहणम्, एतच्च सुनिश्चितं कर्मप्रकृतिटीकादिषु,
ततः सिद्धान्तपरिज्ञानमपि न सम्यक् तेषामस्ति, यदप्युक्तम्—'कर्म-
निष्यन्दो लेश्या', निष्यन्दरूपत्वे हि यावत् कषायोदयः तावन्निष्य-
न्दस्यापि सद्भावात्, कर्मस्थितिहेतुत्वमपि युज्यते एवेत्यादि, तदप्य-
श्लीलम्, लेश्यानामनुभागबन्धहेतुतया स्थितिबन्धहेतुत्वायोगात् ।
अन्यच्च—कर्मनिष्यन्दः किं कर्मकल्क उत कर्मसारः ? न ताव-
त्कर्मकल्कः तस्यासारतयोत्कृष्टानुभागबन्धहेतुत्वानुपपत्तिप्रसक्तेः,
कल्को हि असारो भवति, असारश्च कथमुत्कृष्टानुभागबन्धुहेतुः ?
अथ चोत्कृष्टानुभागबन्धहेतवोऽपि लेश्या भवन्ति, अथ कर्मसार इति
पक्षस्तर्हि कस्य कर्मणः सार इति वाच्यम् ? यथायोगमष्टानाम-
पीति चेत् अष्टानामपि कर्मणां शास्त्रे विपाका वर्ण्यन्ते, न च
कस्यापि कर्मणो लेश्यारूपो विपाक उपदर्शितः, ततः कथं कर्म-
सारपक्षमङ्गीकुर्महे ? तस्मात् पूर्वोक्त एव पक्षः श्रेयानित्यङ्गीकर्त्तव्यः ।
तस्य हरिभद्रसूरिप्रभृतिभिरपि तत्र (तत्र) प्रदेशे अङ्गीकृतत्वादिति ।

—पण० प १७ । प्रारम्भ में टीका

(ख) उच्यते, लिप्यते—शिल्लप्यते आत्मा कर्मणा सहानयेति लेश्या ।

—पण्ण० प १७ । प्रारम्भ में टीका

योग के सद्भाव में लेश्या रहती है, योगाभाव में लेश्या नहीं रहती है । इस प्रकार योग के साथ अन्वय-व्यतिरेक रहने से लेश्या योगनिमित्तक है—यह निश्चय होता है, क्योंकि सर्वत्र योगनिमित्तता के निश्चय का अन्वय-व्यतिरेक देखा जाता है । योगनिमित्तता के भी दो विकल्प हैं—(१) लेश्या योगान्तर्गत द्रव्य रूप है या (२) योग निमित्त कर्मद्रव्य है ? योगनिमित्त कर्मद्रव्य रूप तो नहीं है, क्योंकि दो विकल्पों का अतिक्रमण नहीं होता है और यदि योगनिमित्त कर्मद्रव्य रूप स्वीकार करते हैं तो वह घातिकर्मद्रव्य रूप है या अघातिकर्मद्रव्य रूप है ? घातिकर्मद्रव्यरूप इसलिए नहीं है क्योंकि उसके (घातिकर्म के) अभाव में भी सयोगिकेवली में लेश्या का सद्भाव रहता है । अघातिकर्मद्रव्य रूप भी नहीं है, क्योंकि उसके (अघातिकर्म के) सद्भाव में भी अयोगिकेवली में लेश्या का अभाव रहता है । अतः अन्ततः लेश्या को योगान्तर्गत द्रव्य रूप मानना चाहिए । उन योगान्तर्गत (लेश्या आदि) द्रव्यों की अवस्थिति में जब तक कषाय रहते हैं तब तक उदय की वृद्धि के वे कारण होते हैं । योगान्तर्गत द्रव्यों में कषायों के उदय में वृद्धि करने का सामर्थ्य देखा जाता है । उदाहरणार्थ पित्तद्रव्य में—

पित्त के प्रकोप से महान् प्रवर्धमान क्रोध-कषाय देखा जाता है । और भी, बाह्यद्रव्य भी कर्मों के उदय और क्षयोपशम के हेतु रूप उपलब्ध होते हैं ; जैसा ब्राह्मी औषधि ज्ञानावरण के क्षयोपशम का हेतु होती है और सुरापान ज्ञानावरणोदय का हेतु होता है, अन्यथा किस प्रकार उनमें बिना कारण के युक्तायुक्त विवेक की विकलता उत्पन्न होती तथा दधिभोजन निद्रारूप दर्शनावरणोदय का हेतु होता है । तब योगान्तर्गत द्रव्यों से कषायों के उदय की वृद्धि क्यों नहीं होगी ? इसलिए लेश्यावश जो स्थितिपाक विशेष शास्त्रान्तर में कहा गया है वह कथन ठीक है । जहाँ स्थितिपाक नाम का अनुभाग कहा गया है उसके निमित्त—कारण कषायोदय के अन्तर्गत कृष्णादि लेश्याओं के परिणाम होते हैं और वे परमार्थतः कषाय स्वरूप ही हैं, क्योंकि ये कषाय के अन्तर्गत हैं । केवल योगान्तर्गत द्रव्यों के सहकारी कारण के भेद और वैचित्र्य से लेश्याओं के कृष्णादि भेद किये जाते हैं और तर-तमता से लेश्याओं में विचित्रता उत्पन्न होती है । अतः कर्मप्रकृतिकार शिवशर्माचार्य ने अपने शतक ग्रन्थ में कहा है—‘ठिइअणु-भागं कसायओ कुणइ’—कर्म की स्थिति और अनुभाग का कषाय कर्ता है—वह भी ठीक है, क्योंकि कृष्णादि लेश्याओं के जो परिणाम कषायोदय के अन्तर्गत

हैं वे भी कषाय रूप हो जाते हैं। यदि यह कहा जाता है कि योगपरिणामों के अन्तर्गत लेश्याएँ हैं तो—‘जोगा पयडिपएसं ठिइअणुभागं कसायओ कुणइ’—इस वचन के आधार पर लेश्या प्रकृति और प्रदेश के बन्ध का हेतु हो जाती है, कर्मस्थिति का हेतु नहीं बनती—यह कथन समीचीन नहीं है, क्योंकि यह यथा उक्त भाव के अपरिज्ञान से कहा गया है।

फिर भी लेश्या स्थिति का हेतु नहीं है, किन्तु स्थिति के हेतु कषाय हैं ; लेश्याएँ कषायोदय के अन्तर्गत अनुभाग (बन्ध) का हेतु हैं। अतएव ‘जो स्थितिपाक विशेष है उसका पाकविशेष लेश्याविशेष से होता है’—इस वाक्य में अनुभाग का बोध कराने के लिए ‘पाक’ शब्द का प्रयोग किया गया है। इसका कर्मप्रकृति की टीका आदि में सुनिश्चित कथन है। इससे ज्ञात होता है कि उनका (लेश्या को कर्म की स्थिति का हेतु कहने वालों का) सिद्धान्त का परिज्ञान सम्यक् नहीं है। यद्यपि कहा गया है—‘कर्मनिष्यन्द—कर्म से निस्सरित—भङ्गी हुई लेश्या है।’ इस लक्षण के अनुसार लेश्या का निष्यन्द रूप लिया जाय तो जब तक कषायोदय है तब तक निष्यन्द का भी सद्भाव होना चाहिए और वह कर्मस्थिति का हेतु भी बनता है—यह भी अमान्य है, क्योंकि लेश्या अनुभाग-बन्ध के हेतु होने से स्थितिबन्ध के हेतु के अयोग्य हो जाती है। और भी—कर्मनिष्यन्द कर्मकल्क—कर्म की गाद है या कर्मसार—कर्म का सार है ? कर्म-कल्क तो नहीं है, क्योंकि उसकी असारता के कारण उत्कृष्ट अनुभागबन्ध के हेतु की उत्पत्ति नहीं होती। कल्क असार होता है और वह असार उत्कृष्ट अनुभागबन्ध का कारण कैसे हो सकता है ? लेकिन लेश्याएँ उत्कृष्ट अनुभाग-बन्ध का हेतु भी होती हैं। अब यदि कर्मसार पक्ष को लिया जाय तो वह किस कर्म का सार है ? यदि यथायोग आठों कर्मों का सार है तो शास्त्र में आठों कर्मों के विपाक का वर्णन मिलता है, परन्तु किसी कर्म का लेश्या रूप विपाक नहीं बताया गया है, अतः किस प्रकार कर्मसार पक्ष को स्वीकार किया जाय ? इस स्थिति में पूर्वोक्त पक्ष अर्थात् ‘लेश्या योगान्तर्गत द्रव्य रूप है’—यही पक्ष श्रेय है, अतः इसी को स्वीकार करना चाहिए। इसको हरिभद्र सूरि प्रभृति आचार्यों ने स्थान-स्थान में स्वीकार किया है।

‘०६’३ उमास्वाति या उमास्वामी :

‘तस्वार्थाधिगम’ में कोई परिभाषा नहीं दी गयी है।

‘स्वोपगमभाष्य’ इसमें भी लेश्या की कोई परिभाषा नहीं है।

०६.४ पूज्यपादाचार्य :

भावलेश्या कषायोदयरञ्जिता योगप्रवृत्तिरिति कृत्वा औदयिकी-
त्युच्यते । सा षड्विधा—कृष्णलेश्या नीललेश्या कापोतलेश्या तेजो-
लेश्या पद्मलेश्या शुक्ललेश्या चेति ।

ननु च उपशान्तकषाये क्षीणकषाये सयोगकेवलिनि च शुक्ल-
लेश्याऽस्तीत्यागमः । तत्र कषायानुरञ्जनाभावादौदयिकत्वं नोप-
पद्यते ? नैष दोषः ; पूर्वभावप्रज्ञापननयापेक्षया याऽसौ योगप्रवृत्तिः
कषायानुरञ्जिता सैवेत्युपचारादौदयिकीत्युच्यते । तदभावादयोग-
केवल्यलेश्य इति निश्चीयते ।

—सर्व० अ २ । सू ६

कषायोदय से रंजित योगप्रवृत्ति भावलेश्या है, अतः भावलेश्या औदयिक है ।
भावलेश्या छः प्रकार की होती है—कृष्णलेश्या, नीललेश्या, कापोतलेश्या, तेजो-
लेश्या, पद्मलेश्या और शुक्ललेश्या ।

उपशान्तकषाय, क्षीणकषाय तथा सयोगिकेवली गुणस्थान में शुक्ललेश्या रहती
है—ऐसा आगमों में कथन है, किन्तु उक्त गुणस्थानों में कषायानुरंजन का अभाव
होने से औदयिकत्व प्राप्त नहीं होता है । यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि
पूर्वभाव प्रज्ञापना नय की अपेक्षा योगप्रवृत्ति को कषाय से अनुरंजित मानकर इन
गुणस्थानों में शुक्ललेश्या को उपचार से औदयिक भाव कहा जाता है । योग-
प्रवृत्ति के अभाव में अयोगिकेवली को निश्चय से अलेश्य माना जाता है ।

०६.५ अकलंक देव :

(क) कषायोदयरंजिता योगप्रवृत्तिल्लेश्या । द्विविधा लेश्या—
द्रव्यलेश्या भावलेश्या चेति । तत्र द्रव्यलेश्या पुद्गलविपाकिकर्मो-
दयापादितेति × × × । भावलेश्या × × × तस्यात्मपरिणामस्याऽ-
शुद्धिप्रकर्षाप्रकर्षापेक्षया कृष्णादिशब्दोपचारः क्रियते ।

—राज० अ २ । सू ६ । पृ० १०६

(ख) कषायश्लेषप्रकर्षाप्रकर्षयुक्ता योगप्रवृत्तिल्लेश्या ।

—राज० अ ६ । सू ७ । पृ० ६०४

कषायोदय से रंजित योगप्रवृत्ति को लेश्या कहते हैं। लेश्या दो प्रकार की होती है—द्रव्यलेश्या और भावलेश्या। द्रव्यलेश्या पुद्गलविषाकी कर्मोदय से निष्पन्न होती है। भावलेश्या आत्मपरिणाम है, अतः उस आत्मपरिणाम की अशुद्धि के प्रकर्ष और अप्रकर्ष की अपेक्षा से कृष्णादि शब्दों का उपयोग किया जाता है।

कषाय-बन्ध के प्रकर्ष-अप्रकर्ष से युक्त योगप्रवृत्ति को लेश्या कहते हैं।

०६६ विद्यानन्दि :

कषायोदयतो

योगप्रवृत्तिरुपदर्शिता ।

लेश्या जीवस्य कृष्णादिः षड्भेदा भावतो नद्यैः ॥

—श्लो० अ २ । सू ६ । श्लो ११ ।

जीव की भावलेश्या कषायोदय सह अवस्थित योगप्रवृत्ति है—ऐसा निष्पाप आचार्यों ने कहा है और वह कृष्णादि भेद से छः प्रकार की होती है।

०६७ सिद्धसेन गणि :

लिश्यन्ते इति लेश्याः, मनोयोगावष्टम्भजनितपरिणामः, आत्मना सह लिश्यते एकीभवतीत्यर्थः । × × × द्विविधा लेश्या द्रव्यभावभेदतः द्रव्यलेश्याः कृष्णादिवर्णमात्रम् ।

भावलेश्यास्तु कृष्णादि वर्णद्रव्यावष्टम्भजनिता परिणामकर्म-बन्धनस्थितेर्विधातारः, श्लेषद्रव्यवद् वर्णकस्य चित्राद्यर्पितस्येति, तत्राविशुद्धोत्पन्नमेव कृष्णवर्णस्तत्सम्बद्धद्रव्यावष्टम्भादविशुद्धपरिणाम उपजायमानः कृष्णलेश्येति व्यपदिश्यते ।

आगमश्चायं—

* 'जल्लेसाइं दब्बाहं आदिअंति तल्लेस्से परिणामे भवति (प्रज्ञा० लेश्यापदे) ।

—सिद्ध० अ २ । सू ६ । टीका

* यह पद प्रज्ञापना लेश्यापद में नहीं मिलता है ।

जो लिङ्ग करे—चिपकावे वह लेश्या है। लेश्या मनोयोग का आधारजनित परिणाम है, अतः यह आत्मा के साथ अन्तरंग रूप से श्लिष्ट होती है अर्थात् एकीभाव होती है।

लेश्या दो प्रकार की होती है—द्रव्यलेश्या और भावलेश्या।

द्रव्यलेश्या कृष्णादि वर्ण मात्र है।

भावलेश्या कृष्णादि वर्णद्रव्यों के आधारजनित आत्मपरिणाम है और वे परिणाम कर्मबन्ध की स्थिति के विधाता हैं। यह भावलेश्या श्लेष—गोद की तरह चिपकाने का काम करती है, जिस प्रकार चित्रादि में वर्ण द्रव्य को चिपकाया जाता है। वहाँ अविशुद्ध उत्पन्न आत्मपरिणाम कृष्णवर्ण होते हैं और उससे सम्बन्धित द्रव्यों के आधार से अविशुद्ध परिणाम उत्पन्न होते हैं और ऐसे अविशुद्ध परिणाम को कृष्णलेश्या कहा जाता है।

०६८ विनयविजयगणी :

इन्होंने 'लेश्या' का विवेचन प्रज्ञापना लेश्यापद की वृत्ति का अनुसरण करके किया है, निज का कोई विशेष विवेचन नहीं किया है। शेष में वृत्ति की भोलावण भी दी है।

०६९ हेमचन्द्र सूत्र द्वारा उद्धृत :

अपरस्त्वाह—ननु कर्मोदयजनितानां नारकत्वादीनां भवत्वहो-
पन्यासो लेश्यास्तु कस्यचित् कर्मण उदये भवन्तीत्यन्ये तन्न प्रसिद्धं
तत्किमितीह तदुपन्यासः ? सत्यं किन्तु योगपरिणामो लेश्याः,
योगस्तु त्रिविधोऽपि कर्मोदयजन्य एव ततो लेश्यानामपि तदुभय-
जन्यत्वं न विहन्यते, अन्ये तु मन्यन्ते—कर्माष्टकोदयात् संसारस्थ-
त्वासिद्धत्ववल्लेश्यावत्त्वमपि भावनीयमित्यलम् ।

—अणुओ० सू २३७ पर हेमचन्द्र सूत्र वृत्ति

अन्य आचार्य का कथन है—जिस प्रकार तरकादि गतियों को कर्मोदयजनित माना जाता है उसी प्रकार लेश्या को भी कर्मोदयजनित मानना चाहिए। लेकिन लेश्या किसी कर्म विशेष के उदय से होती है—ऐसी प्रसिद्धि नहीं है। फिर ऐसा कथन—लेश्याएँ कर्मोदयजनित हैं—क्यों किया जाता है ? प्रश्न ठीक

है, किन्तु योगपरिणाम लेश्या है और तीनों प्रकार के योग (काययोग, वचनयोग, मनोयोग) कर्मोदयजन्य हैं, अतः लेश्याओं को उभयजन्य (योग और कर्मोदय-जन्य) स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए । अन्यो की मान्यता है—जिस प्रकार आठ कर्मों के उदय से संसारस्थत्व और असिद्धत्व होता है उसी प्रकार आठों कर्मों के उदय से लेश्यावत्त्व भी स्वीकार करना चाहिए ।

०६१० नेमिचन्द्राचार्य :

लिपिइ अप्पीकीरइ एदीए णियअपुण्णपुण्णं च ।
जीवोत्ति होदि लेस्सा लेस्सागुणजाणयक्खादा ॥
जोगपउत्ती लेस्सा कसायउदयानुरंजिया होइ ।
ततो दोण्णं कज्जं बंधचउक्कं समुद्धिं ॥

—गोजी० गा ४८८-८९

जिसके द्वारा जीव अपने को पुण्य और पाप से लिप्त करे, अर्थात् पुण्य और पाप के अधीन करे उसको लेश्या कहते हैं । अथवा—कषायोदय से अनुरक्त योगप्रवृत्ति को लेश्या कहते हैं । इसलिए दोनों—योगप्रवृत्ति और कषाय का बन्धचतुष्क रूप कार्य परमागम में कहा गया है ।

०६११ वीरसेनाचार्य :

(१) लिम्पतीति लेश्या । न भूमिलेपिकयाऽतिव्याप्तिदोषः कर्म-भिरात्मानमित्यध्याहारापेक्षित्वात् । अथवात्मप्रवृत्तिसंश्लेषकरी लेश्या । नात्रातिप्रसङ्गदोषः प्रवृत्तिशब्दस्य कर्मपर्यायित्वात् । अथवा कषायानुरञ्जिता कायवाङ्मनोयोगप्रवृत्तिलेश्या । ततो न केवलः कषायो लेश्या, नापि योगः, अपि तु कषायानुविद्धा योगप्रवृत्तिलेश्येति सिद्धम् । ततो न वीतरागाणां योगो लेश्येति न प्रत्यवस्थेयं तन्त्रत्वाद्योगस्य, न कषायस्तन्त्रं विशेषणत्वतस्तस्य प्राधान्याभावात् ।

—षट्० खं० १ । सू ४ । पु १ । पृ० १४९-५० । टीका

जो लिम्पन करती है वह लेश्या है । इस लक्षण में भूमिलेपिका पदार्थों का समाविष्ट होने से अतिव्याप्ति दोष होने की संभावना हो जाती है, लेकिन उक्त

लक्षण में 'कर्मभिरात्मानम्' कर्मों से आत्मा को—इतना अध्याहार करने की अपेक्षा है और ऐसा अध्याहार करने से यह दोष नहीं रहता है, अतः इस अध्याहार के पश्चात् इस लक्षण का अर्थ हो जाता है कि जो कर्मों से आत्मा का लिम्पन करे वह लेश्या है ।

अथवा, जो आत्मा की प्रवृत्ति के साथ सम्बन्ध—सम्बन्ध स्थापित करे वह लेश्या है । इस लक्षण में प्रवृत्ति की विभिन्नता से अतिप्रसंग दोष आ जाता है, लेकिन 'प्रवृत्ति' शब्द को 'कर्म' का पर्यायवाची मान लेने से यह दोष नहीं रहता है । अब इस लक्षण का अर्थ हो जाता है कि जो आत्मा की प्रवृत्ति अर्थात् कर्म के साथ सम्बन्ध स्थापित करे वह लेश्या है ।

अथवा, कषाय से अनुरंजित काययोग, वचनयोग और मनोयोग की प्रवृत्ति को लेश्या कहते हैं । इस प्रकार लेश्या का लक्षण करने पर केवल कषाय या केवल योग को लेश्या नहीं कह सकते हैं, अतः कषायानुविद्ध योगप्रवृत्ति ही लेश्या है—यह बात सिद्ध हो जाती है । इस लक्षण से वीतरागियों के कषाय-रहित योग को लेश्या नहीं कह सकते हैं—ऐसा भी निश्चय नहीं कर लेना चाहिए ; क्योंकि लेश्या में योग की प्रधानता होती है, कषाय की प्रधानता नहीं होती । कषाय इस लक्षण में योग का विशेषण है, अतः कषाय से अनुरंजित (विशेषण) काययोग, वचनयोग और मनोयोग की प्रवृत्ति (विशेष्य) को लेश्या मानना ठीक है जिससे वीतरागियों के केवल योग को लेश्या मानने में आपत्ति नहीं उठ सकती ।

(२) लेश्या इति किमुक्तं भवति ? कर्मस्कन्धैरात्मानं लिम्पतीति लेश्या । कषायानुरञ्जितैव योगप्रवृत्तिर्लेश्येति नात्र परिगृह्यते सयोगि-केवलिनोऽलेश्यत्वापत्तेः । अस्तु चेन्न, 'शुक्ललेश्यः सयोगिकेवली' इति वचनव्याघातान् ।

लेश्या नाम योगः कषायस्तावुभौ वा ? किं चातो नासौ विकल्पौ योगकषायमार्गणयोरेव तस्या अन्तर्भावान् । न तृतीयविकल्पस्त-स्यापि तथाविधत्वात् ।

न प्रथमद्वितीयविकल्पोक्तदोषावनभ्युपगमात् । न तृतीयविकल्पो-क्तदोषो द्वयोरेकास्मिन्नन्तर्भावविरोधात् । न द्वित्वमपि, कर्मलेपैक-कार्यकृत्त्वेनैकत्वमापन्नयोर्योगकषाययोर्लेश्यात्वाभ्युपगमात् । नैक-

त्वात्तयोरन्तर्भवति द्वयात्मकैकस्य जात्यन्तरमापन्नस्य केवलैकैकैक
सहैकत्वसमानत्वयोर्विरोधात् ।

योगकषायकायाद्द्वयतिरिक्तलेश्याकायात्तुपलम्भान्न ताभ्यां पृथ-
ग्लेश्यास्तीति चेन्न, योगकषायाभ्यां प्रत्यनीकत्वाद्यालम्बनाचार्या-
दिबाह्यार्थसन्निधानेनापन्नलेश्याभावाभ्यां संसारवृद्धिकार्यस्य तत्के-
वलकार्याद्द्वयतिरिक्तस्योपलम्भान् ।

संसारवृद्धिहेतुर्लेश्येति प्रतिज्ञायमाने लिम्पतीति लेश्येत्यनेन
विरोधश्चेन्न, लेपाविनाभावित्वेन तद्वृद्धेरपि तद्व्यपदेशाविरोधान् ।
ततस्ताभ्यां पृथग्भूता लेश्येति स्थितम् ।

—षट्० खं० १ । सू १३६ । पु १ । पृ० १८६-८८

लेश्या क्या है ? जो कर्मस्कन्धों से आत्मा को लिम्पन करती है वह लेश्या
है । कषाय से अनुरंजित योगप्रवृत्ति ही लेश्या है—ऐसा यहाँ नहीं ग्रहण
करना चाहिए, क्योंकि ऐसा ग्रहण करने पर सयोगिकेवली को अलेशी मानना
होगा और ऐसा मानने से 'सयोगिकेवली शुक्ललेशी होते हैं'—इस आगम वचन
में व्याघात आता है ।

यदि लेश्या योग है तो इसका अन्तर्भाव योगमार्गणा में हो जाना चाहिए ;
यदि कषाय है तो इसका अन्तर्भाव कषायमार्गणा में हो जाना चाहिए और यदि
योग और कषाय उभय है तो दोनों मार्गणाओं या दोनों में से किसी एक
मार्गणा में इसका अन्तर्भाव हो जाना चाहिए । यदि तीनों विकल्पों में से किसी
भी एक विकल्प को माना जाय तो लेश्या का अन्तर्भाव उस मार्गणा में हो जाता
है और लेश्या की स्वतन्त्र सत्ता सिद्ध नहीं होती है, अतः उसके लिए अलग
मार्गणा मानी नहीं जा सकती ।

उपर्युक्त तीन विकल्पों में से पहले और दूसरे विकल्प में दिये गये दोष तो
प्राप्त ही नहीं होते हैं, क्योंकि लेश्या को केवल योग या केवल कषाय रूप माना
ही नहीं गया है । इसी प्रकार तीसरे विकल्प में दिया गया दोष भी प्राप्त
नहीं होता है, क्योंकि योग और कषाय इन दोनों का किसी एक में अन्तर्भाव
स्वीकार करने में विरोध आता है ।

यदि कहा जाय कि लेश्या को दो रूप मान लिया जाय तो उससे उसका योग और कषाय दोनों मार्गणाओं में अन्तर्भाव हो जायेगा, यह भी कहना ठीक नहीं है ; क्योंकि कर्मलेप रूप एक कार्य को करनेवाले होने की अपेक्षा एक धर्म को प्राप्त हुए योग और कषाय को लेश्या माना गया है । यदि कहा जाय कि एक धर्म को प्राप्त हुए योग और कषाय रूप लेश्या होने से उन दोनों में लेश्या का अन्तर्भाव हो जायेगा, यह भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि दो धर्मों के संयोग से उत्पन्न हुए द्वयात्मक धर्म अर्थात् किसी एक तीसरी अवस्था को प्राप्त किसी एक धर्म का केवल एक के साथ एकत्व अथवा साम्य मान लेने में विरोध आता है ।

चूंकि योग और कषाय के कार्य से भिन्न लेश्या का कार्य प्राप्त नहीं होता है, इसलिए उन दोनों से भिन्न लेश्या नहीं माननी चाहिए—यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि विपरीतता को प्राप्त (मिथ्यात्व, अविरति आदि) आलम्बन रूप (आचार्यादि) आचरणादि करने वाले बाह्य पदार्थों के सम्पर्क से लेश्याभाव को प्राप्त हुए योग और कषाय से (जो केवल योग या केवल कषाय के कार्य से भिन्न है) भी संसार की वृद्धि रूप कार्य की उपलब्धि होती है, अतः उन दोनों से लेश्या भिन्न है—यह बात सिद्ध हो जाती है ।

“यदि संसार की वृद्धि का हेतु लेश्या है—ऐसी प्रतिज्ञा करते हैं तो (जो कर्मों से) लिप्त करती है वह लेश्या है” इस वचन के साथ विरोध होता है”—ऐसा कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि लेश्या का कर्मलेप के साथ अविनाभाव सम्बन्ध है, अतः संसार-वृद्धि के हेतु को लेश्या मानने में कोई विरोध नहीं आता है । अतः योग और कषाय से भिन्न लेश्या है—यह बात सिद्ध हो जाती है ।

(३) कसायाणुभागफह्याणमुदयमागदाणं जहण्णफह्यप्पहुडि जाव उक्कस्सफह्या त्ति ठइदाणं छ्वाभागविहत्ताणं पढमभागो मंदतमो, तदुदएण जादकसाओ सुक्कलेस्सा णाम । त्रिदिभागो मंदतरो, तदुदएण जादकसाओ पम्मलेस्सा णाम । तदियभागो मंदो, तदुदएण जादकसाओ तेउलेस्सा णाम । चउत्थभागो तिब्बो, तदुदएण जादकसाओ काउलेस्सा णाम । पंचमभागो तिब्बयरो, तस्सुदएण जादकसाओ णीललेस्सा णाम । छट्ठो भागो तिब्बतमो, तस्सुदएण जादकसाओ किण्णलेस्सा णाम । जेणेदाओ छप्पि लेहसाओ कसायाणमुदएण होंति तेण ओदइयाओ ।

जदि कसाओदण लेस्साओ उच्चंति तो खीणकसायाणं लेस्सा-
भावो पसज्जदे ? सञ्चमेदं जदि कसाओदयादो चेव लेस्सुप्पत्ती इच्छि-
ज्जदि । किंतु सरीरणामकम्मोदयजणिदजोगो वि लेस्सा त्ति इच्छि-
ज्जदि, कम्मबंधणिमित्तत्तादो । तेण कसाए फिट्ठे वि जोगो अत्थि
त्ति खीणकसायाणं लेस्सत्तं ण विरुज्जभदे । जदि बंधकारणाणं
लेस्सत्तं उच्चदि तो पमादस्स वि लेस्सत्तं किण्ण इच्छिज्जदि ?
ण, तस्स कसाएसु अंतब्भावादो । असंजमस्स किण्ण इच्छिज्जदि ?
ण, तस्स वि लेस्साकम्मे अंतब्भावादो । मिच्छत्तस्स किण्ण
इच्छिज्जदि ? होदु तस्स लेस्साववएसो, विरोहाभावादो । किंतु
कसायाणं चेव एत्थ पहाणत्तं हिंसादिलेस्सायम्मकारणादो, सेसेसु
तदभावादो ।

—षट्० खं० २ । १ । सू ६१ । टीका । पु ७ । पृ० १०४-१०५

उदय में आये हुए कषायानुभाग के स्पर्धकों में जघन्य स्पर्धक से लेकर उत्कृष्ट
स्पर्धक पर्यन्त स्थापित करके उनको छः भागों में विभक्त करने पर प्रथम भाग
मन्दतम कषायानुभाग का होता है और उसके उदय से उत्पन्न कषाय का नाम
'शुक्ललेश्या' है । दूसरा भाग मन्दतर कषायानुभाग का है तथा उसके उदय
से उत्पन्न कषाय का नाम 'पद्मलेश्या' है । तृतीय भाग मन्द कषायानुभाग का
है तथा उसके उदय से उत्पन्न कषाय का नाम 'तेजोलेश्या' है । चतुर्थ भाग
तीव्र कषायानुभाग का है तथा उसके उदय से उत्पन्न कषाय का नाम 'कापोत-
लेश्या' है । पाँचवाँ भाग तीव्रतर कषायानुभाग का है तथा उसके उदय से
उत्पन्न कषाय का नाम 'तिललेश्या' है । छठ्ठा भाग तीव्रतम कषायानुभाग का
है तथा उसके उदय से उत्पन्न कषाय का नाम 'कृष्णलेश्या' है । जिस कारण से
ये छहों लेश्याएँ कषायों के उदय से होती हैं, अतः लेश्याएँ औदयिक हैं ।

यदि कषायों के उदय से लेश्याओं की उत्पत्ति मानी जाती है, तो ब्रारहवें
गुणस्थानवर्ती क्षीणकषायी जीवों में लेश्या के अभाव का प्रसंग आ जाता है ।
यदि केवल कषायोदय को ही लेश्या की उत्पत्ति का कारण तो माना जाता है
तो यह ठीक है किन्तु शरीर नामकर्म के उदय से उत्पन्न योग को भी लेश्या का
कारण माना जाता है । क्योंकि वह भी कर्मबन्ध का निमित्त होता है इसलिए
कषाय के नष्ट हो जाने पर भी क्षीणकषायी जीवों के योग रहता है, अतः उन
जीवों को सलेशी मानने में कोई आपत्ति नहीं आती है ।

यदि बन्ध के कारणों को ही लेश्याभाव माना जाता है तो प्रमाद को भी लेश्याभाव मानना चाहिए। यह ठीक नहीं है क्योंकि प्रमाद का कषायों में अन्तर्भाव हो जाता है।

असंयम को भी लेश्याभाव नहीं माना जा सकता, क्योंकि असंयम का लेश्या-कर्म में अन्तर्भाव हो जाता है।

मिथ्यात्व को लेश्याभाव मानने में कोई विरोध नहीं आता है, क्योंकि यहाँ कषायों की प्रधानता होती है और कषाय हिंसादि लेश्याकर्मों का कारण है तथा अन्य बन्ध-कारणों में उसका अभाव है।

• १२ ब्रह्मदेव :

कषायोदयरञ्जित-योगप्रवृत्ति-विसदृशपरमात्म-द्रव्य-प्रतिपन्थिनी
कृष्णनीलकापोततेजः पद्मशुक्लभेदेन षड्विधा लेश्यामार्गणा ।

—बृद्रसं० गा १३ । पृ० ३३ । टीका

लेश्या कषायोदय से रंजित काय आदि योगों की प्रवृत्ति रूप, विसदृश तथा शुद्ध आत्मतत्त्व से प्रतिपन्थी—विपरीत पथ में ले जानेवाली है और वह कृष्ण, नील, कापोत, तेजो, पद्म और शुक्ल भेद से छः प्रकार की होती है।

• १३ कुन्दकुन्दाचार्य :

स्त्रीणे पुत्रवणिबद्धे गदिणामे आउसे च ते वि खलु ।

पापुण्णंति य अण्णं गदिमाउस्सं सलेस्सवसा ॥

—पंचका० गा ११६

पूर्व में बंधे हुए गतिनामकर्म और आयुष्यकर्म के क्षीण हो जाने पर जीव के जो अन्य गति और आयुष्य की प्राप्ति होती है वह लेश्यानुवर्ती होती है।

• १४ अमृतचन्द्राचार्य

क्षीयते हि क्रमेणारब्धफलो गतिनामविशेषायुर्विशेषश्च जीवा-
नाम् । एवमपि तेषां गत्यन्तरस्यायुरन्तरस्य च कषायानुरञ्जिता
योगप्रवृत्तिर्लेश्या बीजं, ततस्तदुचितमेव । गत्यन्तरमायुरन्तरञ्च ते
प्राप्नुवन्ति । एवं क्षीणाक्षीणाभ्यामपि पुनः पुनर्नवीभूताभ्यां गति-

नामायुःकर्मभ्यामनात्मस्वभावभूताभ्यामपि चिरमनुगम्यमानाः
संसारंत्यात्मानमचेतयमाना जीवा इति ।

—पंचका० गा ११६ । टीका

जीवों के आरब्धफल से क्रमानुक्रम से गतिनामकर्म और आयुष्यकर्म विशेष क्षीण होते हैं । नये कर्म बँधते हैं और पुराने क्षीण होते हैं । उनके इस क्रमवान् गत्यन्तर और आयुष्यान्तर का बीज कषायानुरंजित योगप्रवृत्ति रूप लेश्या हो— यह उचित ही है । जीव लेश्यावश होकर ही तदनुसार गत्यन्तर और आयुष्यान्तर प्राप्त करते हैं । इस प्रकार क्षीण और अक्षीण एवं पुनः-पुनः नवीनता को प्राप्त हुए गतिनामकर्म और आयुष्यकर्म जीव का चिरकाल तक अनुगमन करते हैं । इस अनात्मस्वभावी अनुगमन से संसार में परिभ्रमण करता हुआ आत्मा— जीव इस तथ्य—अनात्मस्वभावी अनुगमन को नहीं समझता है ।

१५ अज्ञाताचार्य आह

(क) श्लेष इव वर्णबन्धस्य कर्मबन्धस्थितिर्विधात्रयः ।

—अभयदेव सूरि द्वारा उद्धृत ।

(ख) कृष्णादिद्रव्यसाचिव्यात्, परिणामो य आत्मनः ।

स्फटिकस्येव तत्रायं, लेश्याशब्दः प्रयुज्यते ॥

—अभयदेव सूरि आदि अनेक विद्वानों द्वारा उद्धृत

(ग) लिश्यते—श्लिष्यते कर्मणा सहाऽऽत्माऽनयेति लेश्या ।

—अनेक विद्वानों द्वारा उद्धृत ।

०७ लेश्या के भेद

०७१ मूलतः—सामान्यतः भेद

(१) कण्ठलेस्साणं भंते ! कइ वण्णा (जाव कइ फासा) पन्नत्ता ?
गोयमा ! दव्वलेस्सं पडुच्च पंच वण्णा जाव अट्टफासा पन्नत्ता, भाव-
लेस्सं पडुच्च अवण्णा (जाव अफासा) पन्नत्ता, एवं जाव सुक्कलेस्सा ।

—भग० श १२ । उ ५ । सू ११७ पृ० ५६६

लेश्या के दो भेद होते हैं—द्रव्य और भाव । द्रव्यलेश्या में पाँच वर्ण, दो गन्ध, पाँच रस, और आठ स्पर्श होते हैं, अतः द्रव्यलेश्या पौद्गलिक है और भाव-लेश्या अवर्णी, अगन्धी, अरसी और अस्पर्शी होती है, अतः वह जीव-परिणाम विशेष है ।

(२) वण्णोदयसंपादितसरीरवण्णो ढु ढव्वदो लेस्सा ।

मोहुदयखओवसमोवसमखयजजीवफंदणं भावो ॥

—गोजी० गा ५३५

वर्ण नामकर्म से निष्पन्न शरीर का वर्ण द्रव्यलेश्या है । मोहकर्म के उदय, क्षयोपशम, उपशम और क्षय जनित जीव का स्पन्दन रूप परिणाम भावलेश्या है ।

०७२ छः भेद

(१) कइ णं भंते ! लेस्साओ पन्नत्ताओ ? गोयमा ! छल्लेस्साओ पन्नत्ताओ, तं जहा—कण्हलेस्सा, नीललेस्सा, काऊलेस्सा, तेऊलेस्सा, पम्हलेस्सा, सुक्कलेस्सा ।

—सम० लेश्या विचार । पृ० ३७५

—सम० ६ । प ३२० (उत्तर केवल)

—भग० श १ । उ २ । सू ६८

—भग० श १६ । उ २ । सू १

—भग० श २५ । उ १ । सू १

—पण्ण० प १७ । उ २ । सू ११५६ । पृ० २७६

(२) कइ णं भंते ! लेस्साओ पन्नत्ताओ ? गोयमा ! छलेस्साओ पन्नत्ताओ, तं जहा—कण्हलेस्सा जाव सुक्कलेस्सा ।

—भग० श १६ । उ १ । सू १

—ठाण० स्था ६ । सू ५०४

—पण्ण० प १७ । उ ४ । सू १२१६ । पृ० २६२

—पण्ण० प १७ । उ ५ । सू १२५० । पृ० ३००

(३) कइ णं भंते ! लेस्सा पन्नत्ता ? गोयमा ! छ लेस्सा पन्नत्ता, तं जहा—कण्हलेस्सा जाव सुक्कलेस्सा ।

—पण्ण० प १७ । उ ६ । सू १२५६ । पृ० ३०१

(४) कृष्णं पि कम्मलेसाणं, अणुभावे सुणेह मे ॥१॥
 कण्हा नीला य काऊ थ, तेऊ पम्हा तहेव य ।
 सुक्कलेसा य छट्ठा य, नामाइं तु जहकमं ॥३॥

—उत्त० अ ३४ । गा १, ३

(५) क्ण्हा णीला काऊ तेऊ पम्मा य सुक्कलेस्सा थ ।
 लेस्साणं णिडेसा छच्चेव हवंति णियमेण ॥

—गोजी० गा ४६२

लेश्या के छः भेद होते हैं—कृष्ण, नील, कापोत, तेजो, पद्म और शुक्ल ।

(६) लेश्या इति × × × षड्विधः कषायोदयः । तद्यथा, तीव्रतमः
 तीव्रतरः तीव्रः मन्दः मन्दतरः मन्दतम इति । एतेभ्यः षड्भ्यः कषायो-
 दयेभ्यः परिपाट्या षड् लेश्या भवन्ति । कृष्णलेश्या नीललेश्या
 कापोतलेश्या पीतलेश्या पद्मलेश्या शुक्ललेश्या चेति ।

—षट्० खं १ । १ । सू १३६ । पु १ । पृ० ३८८

कषायोदय के छः भेद होते हैं—तीव्रतम, तीव्रतर, तीव्र, मन्द, मन्दतर और
 मन्दतम । इसी परिपाटी से लेश्या के भी परिणामों की तीव्रता अथवा मन्दता
 की अपेक्षा छः भेद होते हैं, यथा—कृष्ण, नील, कापोत, पीत (तेजो), पद्म
 और शुक्ल लेश्या ।

‘०७’३ सात भेद

जीवाणमजीवाण य, दुविहा जीवाण होइ नायव्वा ।

भवमभवसिद्धिआणं, दुविहाणवि होइ सत्तविहा ॥

—उत्त० अ ३४ । निर्युक्तिगाथा

टीका—भविष्यतीति भवा—भाविनीत्यर्थः तादृशी सिद्धिर्येषां
 ते भवसिद्धिका—भव्यास्तेषाम् ‘अभवसिद्धिकानां’ तद्विपरीतानां
 द्विविधानामप्युक्तभेदेन प्रक्रमाज्जीवानां भवति ‘सप्तविधा’ सप्त-प्रकारा
 इहापि लेश्येति प्रक्रमः, अत्र च जयसिंहसूरिः कृष्णादयः षट् सप्तमी
 संयोगजा इयं च शरीरच्छायात्मिका परिगृह्यते, अन्ये त्वौदारि-
 कौदारिकमिश्रमित्यादि भेदतः सप्तविधत्वेन जीवशरीरस्य तच्छा-

यामेव कृष्णादिवर्णरूपां नोकर्मणि सप्तविधां जीवद्रव्यलेश्यां मन्यन्ते
× × × ।

जीव दो प्रकार के होते हैं—भवसिद्धिक और अभवसिद्धिक । प्रक्रम-उत्थान और पतन की चेष्टा रूप इनके सात-सात भेद होते हैं । यहाँ पर प्रक्रम को ही लेश्या कहना चाहिए ।

आचार्य जयसिंहसूरि का कथन है कि कृष्णादि द्व्यः तथा संयोगजा को लेकर सात भेद लेश्या के समझने चाहिए तथा वे इनको शरीर की छाया रूप मानते हैं ।

एक लेश्या से तदुपरि या तदधः लेश्या में निरन्तर जाते-आते रहने को 'संयोगजा' कहा जा सकता है । अथवा दो लेश्याओं के संयोग-स्थल को 'संयोगजा' कहा जा सकता है ।

जीव के औदारिक, औदारिकमिश्रादि सात भेदों के आधार पर अन्य आचार्य लेश्या के सात भेद करते हैं और वे जीव के शरीर की छाया अर्थात् कृष्णादि वर्ण रूप नोकर्म जीवद्रव्यलेश्या को सात प्रकार का मानते हैं ।

यहाँ हमारी समझ में इन्द्रधनुष के सप्त वर्णों के आधार पर कृष्णादि वर्ण सात माने गये होंगे । औदारिकादि शरीरों से सप्तवर्णी आभा का निष्क्रमण सम्भवतः इन सात भेदों का आधार हो ।

'०७'४ दस भेद

अजीवनोकर्मद्रव्यलेस्सा, सा दसविहा उ नायव्वा ।

चन्द्राण य सूरान य, गहनद्वस्वत्तारारण ॥५३७॥

आभरणच्छायणा-दंसगाण, मणिकाकिणीणजा लेस्सा ।

अजीवद्वलेसा, नायव्वा दसविहा एसा ॥५३८॥

—उत्त० अ ३४ । निर्मुक्तिगाथा

अजीव नोकर्मद्रव्यलेश्या के दस भेद होते हैं ; यथा—चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र और तारों की लेश्या ; आभरण, छाया, दर्पण, मणि और काकिणी की लेश्या । ये भेद ज्योति की विभिन्नता के आधार पर किये गये हैं ।

'०७'५ दलगत भेद :

(क) द्रव्यलेश्या के—

(१) दुर्गन्धवाली—सुगन्धवाली

कइ णं भंते ! लेस्साओ दुब्भिगंधाओ पन्नत्ताओ ? गोयमा ! तओ लेस्साओ दुब्भिगंधाओ पन्नत्ताओ, तंजहा—कण्हलेस्सा, नील-लेस्सा, काऊलेस्सा । कइ णं भंते ! लेस्साओ सुब्भिगंधाओ पन्नत्ताओ ? गोयमा ! तओ लेस्साओ सुब्भिगंधाओ पन्नत्ताओ, तंजहा—तेऊ-लेस्सा, पम्हलेस्सा, सुक्कलेस्सा ।

—ठाण० स्था ३ । उ ४ । सू २२१ । (उत्तर केवल)

—पण्ण० प १७ । उ ४ । सू १२३६-४० । पृ० २६७

प्रथम तीन लेख्याएँ दुर्गन्धवाली तथा पश्चात् की तीन लेख्याएँ मुग्धवाली हैं ।

(२) मनोज्ञ—अमनोज्ञ

(तओ) अमणुज्जाओ, (तओ) मणुज्जाओ ।

—ठाण० स्था ३ । उ ४ । सू २२०

प्रथम तीन लेख्याएँ (रस की अपेक्षा) अमनोज्ञ तथा पश्चात् की तीन लेख्याएँ मनोज्ञ हैं ।

(३) शीत-रूक्ष—उष्ण-स्निग्ध

(तओ) सीयलुक्खाओ, (तओ) निद्धुण्हाओ ।

—ठाण० स्था ३ । उ ४ । सू २२१

—पण्ण० प १७ । उ ४ । सू १२४१ । पृ० २६७

प्रथम तीन लेख्याएँ (स्पर्श की अपेक्षा) शीत-रूक्ष तथा पश्चात् की तीन लेख्याएँ उष्ण-स्निग्ध हैं ।

(४) विद्युद्ध—अविद्युद्ध

एवं तओ अविद्युद्धाओ, तओ विद्युद्धाओ ।

—ठाण० स्था ३ । उ ४ । सू २२५

—पण्ण० प १७ । उ ४ । सू १२४१ । पृ० २६७

प्रथम तीन लेख्याएँ (वर्ण की अपेक्षा) अविद्युद्ध, पश्चात् की तीन लेख्याएँ विद्युद्ध वर्णवाली हैं ।

(ख) भावलेख्या के—

(१) धर्म—अधर्म

कण्हा नीला काऊ, तिण्णि वि एयाओ अहम्मलेस्साओ ।
तेऊ पम्ह सुक्का, तिण्णि वि एयाओ धम्मलेसाओ ॥

—उत्त० अ ३४ । गा ५६, ५७ पूर्वार्ध

प्रथम तीन अधर्म लेश्याएँ हैं तथा पश्चात् की तीन धर्म लेश्याएँ हैं ।

(२) प्रशस्त—अप्रशस्त

तओ अप्पसत्थाओ, तओ पसत्थाओ ।

—ठाण० स्था ३ । उ ४ । सू २२१

—पण्ण० प १७ । उ ४ । सू १२४१ । पृ० २६७

क्किण्हा णीला काओ लेस्साओ तिण्णि अप्पसत्थाओ ।
पइसइ विरायकरणो संवेगमणुत्तरं पत्तो ॥
तेओ पम्मा सुक्का लेस्साओ तिण्णि विट्ठु पसत्थाओ ।
पड्डिवज्जेइय कमसो संवेगमणुत्तरं पत्तो ॥

—भगवा० आ ७ । गा १६०८-९ । पृ० १७०१-२

प्रथम तीन लेश्याएँ अप्रशस्त तथा पश्चात् की तीन लेश्याएँ प्रशस्त हैं ।
इनमें अप्रशस्त लेश्याएँ त्यागने योग्य और प्रशस्त लेश्याएँ ग्रहण योग्य हैं ।

(३) संक्लिष्ट—असंक्लिष्ट

तओ संक्लिद्धाओ, तओ असंक्लिद्धाओ ।

—ठाण० स्था ३ । उ ४ । सू २२० । (तओ बाद)

—पण्ण० प १७ । उ ४ । सू १२४१ । पृ० २६७

प्रथम तीन लेश्याएँ संक्लिष्ट परिणामवाली तथा पश्चात् की तीन लेश्याएँ
असंक्लिष्ट परिणामवाली हैं ।

(४) दुर्गतिगमी—सुगतिगामी

तओ दुग्गइगामियाओ, तओ सुग्गइगामियाओ ।

—पण्ण प १७ । उ ४ । सू १२४१ । पृ० २६७

एवं (तओ) दुग्गइगामिणीओ, सुग्गइगामिणीओ ।

—ठाण० स्था ३ । उ ४ सू २२१

प्रथम तीन लेश्याएँ दुर्गति में ले जानेवाली हैं तथा पश्चात् की तीन लेश्याएँ सुगति में ले जानेवाली हैं ।

(५) विशुद्ध—अविशुद्ध

एवं तओ अविशुद्धाओ, तओ विशुद्धाओ ।

—ठाण० स्था ३ । उ ४ । सू २२० । (एवं व तओ वाद)

—पण्ण० प १७ । उ ४ । सू १२४१ । पृ० २६७

प्रथम तीन लेश्याएँ (परिणाम की अपेक्षा) अविशुद्ध हैं तथा पश्चात् की तीन लेश्याएँ विशुद्ध हैं ।

(६) शुभ-अशुभ

काऊ णीलं किण्हं परिणमदि किलेसवडिद् अप्पा ।

एवं किलेसहाणीवडिद्दो होदि असुहत्तियं ॥

तेऊ पउमे सुक्के सुहाणमवरादिअंसगे अप्पा ।

सुद्धिस्स थ वडिद्दो हाणीदो अण्णदा होदि ॥

—गोजी० गा ५०१-२

आत्मपरिणामों में संक्लेश की हानि-वृद्धि से प्रथम तीन लेश्याओं को अशुभ कहा गया है और आत्मपरिणामों में विशुद्धि की हानि-वृद्धि से अन्त की तीन लेश्याओं को शुभ कहा गया है ।



ः०८ लेश्या पर विवेचन-गाथा

आगमों में लेश्या पर विवेचन विभिन्न अपेक्षाओं से किया गया है । तीन आगमों में यथा—भगवई, पण्णवणा तथा उत्तरज्झयण में लेश्या पर विशेष विवेचन किया गया है । विवेचन के प्रारम्भ में किन-किन अपेक्षाओं से विवेचन किया गया है इसकी एक गाथा दी गई है । भगवई तथा पण्णवणा में एक समान गाथा है तथा उत्तरज्झयण में भिन्न गाथा है ।

(क) परिणाम-वन्न-रस-गन्ध-सुद्ध-अपसत्थ-संक्लिट्ठुण्हा ।

गइ - परिणाम - पएसो-गाह-वग्गणा-ट्ठाणमप्पवहुं ॥

—भग० श ४ । उ १० । गा १

—पण्ण० प १७ । उ ४ । सू १२१८ । पृ० २६१

(१) परिणाम, (२) वर्ण, (३) रस, (४) गन्ध, (५) शुद्ध, (६) अप्रशस्त, (७) संक्लिष्ट, (८) उष्ण, (९) गति, (१०) परिणाम (संक्रमण), (११) प्रदेश, (१२) अवगाहना, (१३) वर्गणा, (१४) स्थान, (१५) अल्पबहुत्व—इन १५ प्रकार से लेइया का विवेचन किया गया है ।

(ख) नामाईं वर्णरसगन्ध, फासपरिणामलक्षणं ।

ठाणं ठिइं गइं चाउं, लेसाणं तु सुणेह मे ॥

—उत्त० अ ३४ । गा २ । पृ० ३०५

(१) नाम, (२) वर्ण, (३) रस, (४) गन्ध, (५) स्पर्श, (६) परिणाम, (७) लक्षण, (८) स्थान, (९) स्थिति, (१०) गति, (११) आयु—इन ११ अपेक्षाओं से लेइया का वर्णन सुनी ।

दोनों पाठ मिलाकर निम्नलिखित अपेक्षाओं से लेइयाओं का विवेचन बनता है ।

१ द्रव्यलेइया—नाम, वर्ण, रस, गन्ध, स्पर्श, परिणाम, प्रदेश, अवगाहना, अल्पबहुत्व ।

२ भावलेइया—नाम, शुद्धत्व, प्रशस्तत्व, संक्लिष्टत्व, परिणाम, स्थान, गति, लक्षण, अल्पबहुत्व ।

(३) विविध—वर्गणा ।

इनके सिवाय भी अन्य अपेक्षाओं से लेइया का विवेचन मिलता है ।

(देखो विषय सूची)

(ग) णिहेसवण्णपरिणामसंक्रमो कम्मलक्षणगदी य ।

सामी साहणसंखा खेत्तं फासं तदो कालो ॥४६०॥

अंतरभावप्पबहु अहियारा सोलसा हवंति त्ति ।

लेस्साण साहणट्ठं जहाकमं तेहि वोच्छामि ॥४६१॥

—गोजी० गा ४६०-१

निर्देश, वर्ण, परिणाम, संक्रम, कर्म, लक्षण, गति, स्वामी, साधन, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव, अल्पबहुत्व इन सोलह अधिकारों द्वारा लेइया का विवेचन किया गया है ।

०९ लेश्या का निक्षेप और नय की अपेक्षा विवेचन

०९.१ निक्षेप की अपेक्षा लेश्या पर विवेचन

(क) आगम नोआगतो, नोआगमतो य सो त्तिविहो ।

लेसाणं निक्खेवो, चउक्कओ दुविहं होइ नायव्वो ॥५३४॥

जाणगभवियसरीरा, तव्वइरित्ता य सा पुणो दुविहा ।

कम्मा नोकम्मे या, नोकम्मे हुंति दुविहा उ ॥५३५॥

जीवाणमजीवाण य, दुविहा जीवाण होइ नायव्वा ।

भवमभवसिद्धिआणं, दुविहाण वि होइ सत्तविहा ॥५३६॥

अजीवकम्मनोदव्व-लेसा, सा दसविहा उ नायव्वा ।

चन्दाण य सुराण य, गह्गणनक्खत्तारारणं ॥५३७॥

आभरणच्छायणा-दंसगाण, मणिकागिणीणजा लेसा ।

अजीवदव्वलेसा, नायव्वा दसविहा एसा ॥५३८॥

जा दव्वकम्मलेसा, सा नियमा छव्विहा उ नायव्वा ।

किण्हा नीला काऊ, तेऊ पम्हा य सुक्का य ॥५३९॥

दुविहा उ भावलेस्सा, विसुद्धलेस्सा तहेव अविसुद्धा ।

दुविहा विसुद्धलेसा, उवसमखइआ कसायाणं ॥५४०॥

अविसुद्धभावलेसा, सा दुविहा नीयमसो उ नायव्वा ।

पिज्जंमि अ दोसम्मि अ, अहिगारो कम्मलेस्साए ॥५४१॥

नो-कम्मदव्वलेसा, पओगसा वीससा उ नायव्वा ।

भावे उदथो भणिओ, छण्हं लेसाण जीवेसु ॥५४२॥

अज्झयणे निक्खेवो, चउक्कओ दुविहं होइ दव्वम्मि ।

आगम नोआगतो, नोआगमतो यं तं त्तिविहं ॥५४३॥

जाणगभवियसरीरं, तव्वइरितं च पोत्थगाईसु ।

अज्झप्पस्साणयणं नायव्वं भावमज्झयणं ॥५४४॥

—उत्त० अ ३४ । निर्युक्तिगाथा

लेश्या के दो विवेचन—आगम से, नोआगम से ।

नोआगम विवेचन तीन प्रकार का होता है ।

लेश्या शब्द का विवेचन निक्षेपों की अपेक्षा चार प्रकार का है, यथा—नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव ।

लेश्या दो प्रकार की है—ज्ञायक भवियशरीरी तथा तद्व्यतिरिक्त ।

तद्व्यतिरिक्त के दो भेद हैं—कार्मण तथा नोकार्मण ।

नोकार्मण के दो भेद हैं—जीवलेश्या तथा अजीवलेश्या ।

जीवलेश्या के दो भेद हैं—भवसिद्धिक तथा अभवसिद्धिक ।

औदारिक, औदारिकमिश्र आदि की अपेक्षा लेश्या के सात भेद हैं । या कृष्णादि ६ तथा संयोगजा सात भेद हो सकते हैं ।

अजीव नोकार्म द्रव्यलेश्या के दश भेद हैं, यथा—चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र तथा तारा लेश्या ; आभरण, छाया, दर्पण, मणि, कागणी लेश्या ।

द्रव्यकर्मलेश्या के छ भेद हैं, यथा—कृष्ण, नील, कापोत, तेजो, पद्म तथा शुक्ल ।

भाव लेश्या के दो भेद हैं—विशुद्ध तथा अविशुद्ध ।

विशुद्ध लेश्या के दो भेद हैं—उपशमकषाय लेश्या तथा क्षायिककषाय लेश्या ।

अविशुद्ध लेश्या के दो भेद हैं—रागविषय कषाय लेश्या तथा द्वेषविषय कषाय लेश्या ।

नोकार्मद्रव्यलेश्या के दो भेद भी होते हैं—प्रायोगिक तथा ब्रह्मसा ।

भाव की अपेक्षा जीव के उदय भाव में छहों लेश्याएँ होती हैं ।

लेश्या को समझाने के लिए जो चार प्रकार के निक्षेप किये गये हैं उन चारों के दो भेद होते हैं—आगम और नोआगम ।

नोआगम के तीन भेद होते हैं—ज्ञायकशरीर, भव्यशरीर तथा तद्व्यतिरिक्त ।

अध्यात्म के विकास के लिए लेश्या के भाव-अध्ययन को जानना चाहिए ।

(ख) एत्थ लेस्सा णिक्खिविदव्वा, अण्णहा पयदलेस्सावगमाणुव-वत्तीदो । तं जहा—णामलेस्सा द्ढवणलेस्सा दव्वलेस्सा भावलेस्सा चेदि लेस्सा चउव्विहा ।

लेस्सा-सदो णामलेस्सा । सव्भावासव्भावद्दवणाए द्ढव्विदव्व द्ढवणलेस्सा ।

द्व्वलेस्सा दुविहा—आगमद्व्वलेस्सा णोआगमद्व्वलेस्सा चेदि । आगमद्व्वलेस्सा सुगमा । णोआगमद्व्वलेस्सा तिविहा जाणुगसरीर-भविय [तव्वदिरित्तणोआगमद्व्वलेस्साभेएण । जाणुगसरीरभविय] नोआगम द्व्वलेस्साओ सुगमाओ । तव्वदिरित्तद्व्वलेस्सा पोगल-कखंधाणं चक्खिंदियगेज्झो वण्णो । सो छुठ्ठिवहो—किण्णलेस्सा णील-लेस्सा काउलेस्सा तेउलेस्सा पम्मलेस्सा सुक्कलेस्सा चेदि । तत्थ भमरं-गार-कज्जलादीणं किण्णलेस्सा । णिब-कदली-दावपत्तादीणं णील-लेस्सा । द्व्वारखर-कवोदादीणं काउलेस्सा । कुंकुम-जवाकुसुम-कुसुंभा-दीणं तेउलेस्सा । तडवडपउमकुसुमादीणं पम्मलेस्सा । हंस-बलायादीणं सुक्कलेस्सा ।

भावलेस्सा दुविहा—आगम-णोआगमभेएण । आगमभावलेस्सा सुगमा । णोआगम भावलेस्सा मिच्छत्तासंजम-कसायाणुरंजियजोग-पवुत्ती कम्मपोग्गलादाणणिमित्ता, मिच्छत्तासंजम-कसायजणिदसं-सकारो त्ति बुत्तं होदि ।

—षट्० पु १६ । पु० ४८४-५

लेश्या के निक्षेप के बिना प्रकृत लेश्या का अवगम नहीं हो सकता । लेश्या का निक्षेप इस प्रकार है—नामलेश्या, स्थापनालेश्या, द्रव्यलेश्या तथा भाव-लेश्या ।

'लेश्या' यह शब्द नामलेश्या कहा जाता है, सद्भावस्थापना और असद्भाव-स्थापना रूप से जो लेश्या की स्थापना की जाती है वह स्थापनालेश्या है ।

द्रव्यलेश्या दो प्रकार की है—आगमद्रव्यलेश्या और नोआगमद्रव्यलेश्या ।

आगमद्रव्यलेश्या सुगम है ।

नोआगमद्रव्यलेश्या तीन प्रकार की है—ज्ञायकशरीर, भविक और तद्व्यतिरिक्त ।

ज्ञायकशरीर और भविक नोआगमद्रव्यलेश्याएँ सुगम हैं । चक्षुरिन्द्रिय के द्वारा ग्रहण करने योग्य पुद्गलस्पर्शों के वर्ण को तद्व्यतिरिक्त नोआगमद्रव्यलेश्या कहते हैं ।

यह तद्व्यतिरिक्त नोआगमद्रव्यलेश्या लज्जः प्रकार की है—कृष्णलेश्या, नील-लेश्या, कापोतलेश्या, तेजोलेश्या, पद्मलेश्या और शुक्ललेश्या ।

भ्रमर, अंगार और कज्जल आदि से कृष्णलेश्या की ; नीम, कदली और दाव के पत्तों आदि से नीललेश्या की ; छार, खर, और कबूतर आदि से कापोतलेश्या की ; कुंकुम, जावाकुसुम और कुसुंभी कुसुम आदि से तेजोलेश्या की ; तडवडा और पद्मपुष्पादिकों से पद्मलेश्या की तथा हंस और बलाका आदि से शुक्ललेश्या की अनुभूति होती है ।

भावलेश्या दो प्रकार की है—आगमभावलेश्या और नोआगमभावलेश्या ।

आगम भावलेश्या सुगम है ।

कर्म-पुद्गलों के ग्रहण में कारणभूत जो मिथ्यात्व, असंघम और कषाय से अनुरंजित योगप्रवृत्ति होती है उसे नोआगम भावलेश्या कहते हैं अर्थात् मिथ्यात्व, असंघम और कषाय से उत्पन्न संस्कार ही नोआगम भावलेश्या है ।



०.९.२ नय की अपेक्षा लेश्या पर विवेचन

एत्थ णेमणयवत्तव्वएण णोआगमदव्व-भावलेस्साए पयदं । तत्थ ताव दव्वलेस्सावण्णणं कस्सामो—जीवेहि अपडिगहिदपोगल-कस्संधाणं किण्ण-णील-काउ-तेउ पम्मसुकसण्णिदाओ छलेस्साओहोति । अणंतभागवड्ढिद - असंखेज्जभागवड्ढिद - संखेज्जभागवड्ढिद -संखेज्जगुण-वड्ढिद-असंखेज्जगुणवड्ढिद-अणंतगुणवड्ढिदकमेण असंखेज्जलोगमेत्तवण्ण-भेदेण पोग्गलेसु द्विदेसु किमद्वं छच्चेव लेस्साओ न्ति एत्थ णियमो कीरदे ? ण एस दोसो, पज्जवणयत्पणाए लेस्साओ असंखेज्जलोग-मेत्ताओ; दव्वट्ठियणत्पणाए पुण लेस्साओ छच्चेव होति । × × ×

× × × । संपहि भावलेस्सा वुच्चदे । तंजहा—मिच्छत्तासंजम-कसाय-जोगजणिदो जीवसंसकारो भावलेस्सा णाम । तत्थ जो तिच्चो सा काउलेस्सा । जो तिच्चयरो सा णीललेस्सा । जो तिच्चतमो सा किण्णलेस्सा । जो मंदो सा तेउलेस्सा । जो मंदयरो सा पम्मलेस्सा ।

जो मन्दतमो सा सुकलेस्सा । एदाओ छप्पि लेस्साओ अणंतभागवड्ढि-
असंखेज्जभागवड्ढि - संखेज्जभागवड्ढि - संखेज्जगुणवड्ढि असंखेज्जगुण-
वड्ढि अणंतगुणवड्ढिकमेण पादेक्कं छट्ठाणपदिहाओ ।

—षट्० पु १६ । पृ० ४८६, ४८८-९

यहाँ पर नेगम नय के अनुसार नोआगम द्रव्यलेश्या और भावलेश्या का प्रकृत विवेचन किया जा रहा है—

द्रव्यलेश्या की अपेक्षा—जीवों के द्वारा अप्रतिगृहीत पुद्गलस्कन्धों की कृष्ण, नील, कापोत, तेजो, पद्म और शुक्ललेश्या—ये छः संज्ञाएँ होती हैं । अनन्त-भागवृद्धि, असंख्यातभागवृद्धि, संख्यातभागवृद्धि, संख्यातगुणवृद्धि, असंख्यातगुण-वृद्धि और अनन्तगुणवृद्धि के क्रम से असंख्यात लोकप्रमाण वर्णवाले पुद्गल (स्कन्ध) देखे जाते हैं, फिर लेश्याएँ छः ही होती हैं—ऐसा नियम क्यों किया गया है ? यद्यपि पर्यायार्थिक नय की विवक्षा से लेश्याएँ असंख्यात लोकप्रमाण वर्णवाली होती हैं तथापि द्रव्यार्थिक नय की विवक्षा से लेश्याओं के वर्णों की बहुलता होनेपर भी उनके छः ही भेद किये जाते हैं ।

(नेगम नय के अनुसार) भावलेश्या मिथ्यात्व, असंयम, कषाय तथा योग-जनित जीवपरिणाम विशेष है । यहाँ जीव के तीव्र परिणाम का नाम कापोत-लेश्या, तीव्रतर परिणाम का नाम नीललेश्या तथा तीव्रतम परिणाम का नाम कृष्णलेश्या है ; जीव के मन्द परिणाम का नाम तेजोलेश्या, मन्दतर परिणाम का नाम पद्मलेश्या तथा मन्दतम परिणाम का नाम शुक्ललेश्या है । इन छहों लेश्याओं में से प्रत्येक का अनन्तभागवृद्धि, असंख्यातभागवृद्धि, संख्यातभागवृद्धि, संख्यातगुण-वृद्धि, असंख्यातगुणवृद्धि और अनन्तगुणवृद्धि रूप पाद क्रम से छः स्थानों से पतन होता है ।

१०/३० द्रव्यलेश्या (प्रायोगिक)

११ द्रव्यलेश्या के वर्ण

कणह्लेस्साणं भंते कइ वण्णा × × × पन्नत्ता ? गोयमा ! दव्व-
लेस्सं पडुच्च पंच वण्णा × × × एवं जाव सुक्कलेस्सा ।

—भाग० अ १२ । उ ५ । सू ११७ पृ० ५६६

द्रव्यलेश्या के छहों भेद पाँच वर्ण वाले हैं ।

‘११’१ कृष्णलेश्या के वर्ण :

(क) कणहलेस्सा णं भंते ! वन्नेणं केरिसिया पन्नत्ता ? गोयमा !
से जहानामए जीमूए इ वा अंजणे इ वा खंजणे इ वा कज्जले इ वा
गवले इ वा गवलवले इ वा जंबूफले इ वा अदारिट्टपुफे इ वा परपुट्टे
इ वा भमरे इ वा भमरावली इ वा गयकलभे इ वा कण्हकेसरे इ वा
आगासथिग्गले इ वा कण्हासोए इ वा कण्हकणवीरे वा कण्हबंधु-
जीवए इ वा; भवे एयारूवे ? गोयमा ! णो इणट्टे, समट्टे, कण्हलेस्सा
णं इत्तो अणिट्टतरिया चेव अकंततरिया चेव अप्पियतरिया चेव अमणु-
न्नतरिया चेव अमणामतरिया चेव वन्नेणं पन्नत्ता ।

—पण्ण० प १७ । उ ४ । सू १२२६ । पृ० २६३

(ख) जीमूयनिद्धसंकासा; गवलरिट्टगसन्निभा ।

खंजणनयणनिभा; कण्हलेस्सा उ वण्णओ ॥

—उत्त० अ ३४ । गा ४ । पृ० ३०५

(ग) कण्हलेस्सा कालएणं साहिज्जइ ।

—पण्ण० प १७ । उ ४ । सू १२३२ । पृ० २६५

(घ) भमरंगार - कज्जलादीणं कण्णलेस्सा ।

—षट्ठ० पु १६ । पृ० ४८४

धने मेघ, अंजन, खंजन, काजल, बकरे की सींग, बलायाकार सींग, जामुन, अरीठे के फूल, कोयल, भ्रमर, भ्रमर की पंक्ति, गज शावक, काली केसर, मेघाच्छादित घटाटोप आकाश, कृष्ण अशोक, काली कनेर, काला बंधुजीव, आँख की पुतली, आदि के वर्ण की कृष्णता से अधिक अंकंतर, अनिष्टकर, अप्रीतिकर, अमनोज्ञ तथा अनभावने वर्ण वाली कृष्णलेश्या होती है ।

कृष्णलेश्या पंचवर्ण में काले वर्णवाली होती है ।

‘११’२ नील लेश्या के वर्ण :

(क) नीललेस्सा णं भंते ! केरिसिया वन्नेणं पन्नत्ता ? गोयमा !
से जहानामए भिंगए इ वा भिंगपत्ते इ वा चासे इ वा चासपिच्छए

इ वा सुए इ वा सुयपिच्छे इ वा वणराई इ वा उच्चंतए इ वा पारेव-
यगीवा इ वा मोरगीवा इ वा हलहरवसणे इ वा अयसिकुसुमे इ वा
वणकुसुमे इ वा अंजनकेसियाकुसुमे इ वा नीलुपपले इ वा नीलाऽसौए
इ वा नीलकणवीरए इ वा नीलबन्धुजीवे इ वा, भवेथारूवे ?
गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे । एत्तो अणिट्ठतरिया जाव अमणामतरिया
चेव वन्नेणं पन्नत्ता ।

—पण्ण० प १७ । उ ४ । सू १२२७ । पृ० २६३

(ख) नीलाऽसोगसंकासा, चासपिच्छसमप्पभा ।

वेरुलियनिद्धसंकासा, नीललेसा उ वण्णओ ॥

—उत्त० अ ३४ । गा ५ । पृ० ३०५

(ग) नीललेस्सा नीलवन्नेणं साहिज्जइ ।

—षट्ठं पु १६ । पृ० ४८४

भृग, भृग की पंख, चास, चासाच्छि ; शुक्र, शुक्र के पंख, श्यामा, वनराजि
उच्चतक, कवूतर की ग्रीवा, मोरकी की ग्रीवा, बल्लेव के शस्त्र, अलसीपुष्प,
वनफूल, अंजन के शिकर पुष्प, नीलोत्पल, नीलाशोक, नीलकणवीर, नीलबंधुजीव,
स्निग्ध नीलमणि आदि के वर्ण की नीलता से अधिक अनिष्टकर, अकंतर,
अप्रीतिकर, अमनोज्ञ तथा अनभावने नील वर्ण वाली नील लेश्या होती है ।

नील लेश्या पंचवर्ण में नील वर्णवाली होती है ।

'११'३ कापोत लेश्या के वर्ण :

(क) काऊलेस्सा णं धंते ! केरिसिया वन्नेणं पन्नत्ता ? गोयमा !
से जहानामए खइरसारए इ वा कइरसारए इ वा धमाससारे इ वा
तंवे इ वा तंबकरोडे इ वा तंबच्छिवाडियाए इ वा वाइंगणिकुसुमे इ
वा कोइलच्छदकुसुमे इ वा जवासाकुसुमे इ वा कलकुसुमे इ वा
भवेथारूवे ? गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे । काऊलेस्सा णं एत्तो
अणिट्ठतरिया जाव अमणामतरिया चेव वन्नेणं पन्नत्ता ।

—पण्ण० प १७ । उ ४ । सू १२२८ पृ० २६३-६४

(ख) अयसीपुफसंकासा, कोइलच्छदसन्निभा ।
पारेवयगीवनिभा, काउलेसा उ वण्णओ ॥

—उत्त० अ ३४ । गा । ६ । पृ० ३०५

(ग) काउलेस्सा काललोहिणं वन्नेणं साहिज्जइ ।

—पण्ण० प १७ । उ ४ । सू १२३२ पृ० २६५

(घ) क्षार-खर-कवोदादीणं काउलेस्सा ।

—षट्ठं पु १६ । पृ० ४८४

खेरसार, करीरसार, धमासार, ताम्र, ताम्रकरोटक, ताम्र की कटोरी, बेंगनी पुष्प, कोकिलच्छद (तेल कंटक) पुष्प, जवासा कुसुम, अलसी के फूल, कोयल के पंख, कवूतर की ग्रीवा आदि के वर्ण के कापोतीत्व से अधिक अनिष्टकर, अकंतकर, अप्रीतकर, अमनोज्ञ तथा अनभावने कापोत वर्ण वाली कापोत लेश्या होती है ।

कापोत लेश्या पंचवर्ण में काल-लोहित वर्णवाली होती है ।

'११'४ तेजोलेश्या के वर्ण :

(क) तेउलेस्सा णं भंते ! केरिसिया वन्नेणं पन्नत्ता ? गोयमा ! से जहानामए ससरुहिरए इ वा उरब्भरुहिरे इ वा वराहरुहिरे इ वा संवरुहिरे इ वा मणुस्सरुहिरे इ वा इंदगोवे इ वा बालेंदगोवे इ वा बालदिवायरे इ वा संभब्भरागे इ वा गुंजद्वारागे इ वा जाइहिंगुले इ वा पवालंकुरे इ वा लक्खारसे इ वा लोहिअक्खमणी इ वा किमि-रागकंथले इ वा गयतालुए इ वा चिणपिट्ठरासी इ वा पारिजायकुसुमे इ वा जासुमणाकुसुमे इ वा किसुयपुफरासी इ वा रत्तुप्पले इ वा रत्तासोगे इ वा रत्तकणवीरे इ वा रत्तबंधुयजीवे इ वा, भवेयारुवे ? गोयमा ! णो इण्ठे सम्भे । तेउलेस्सा णं एत्तो इट्ठतरिया चेव जाव मणामतरिया चेव वन्नेणं पन्नत्ता ।

—पण्ण० प १७ । उ ४ । सू १२२६ पृ० २६४

(ख) हिंगुलधाउसंकासा तरुणाइच्चसन्निभा ।

सुयतुंडपईवनिभा, तेऊलेसा उ वण्णओ ॥

—उत्त० अ ३४ । गा ७ पृ० ३०५

(ग) तेऊलेस्सा लोहिण्णं वन्नेणं साहिज्जइ ।

—पण्ण० प १७ । उ ४ । सू १२३२ । पृ० २६५

(घ) कुंकुम-जवाकुसुम-कुसंभादीणं तेउलेस्सा ।

—षट्० पु १६ । ०० ४८४

शशक का रुधिर, मेष का रुधिर, बाहर का रुधिर, सांवर का रुधिर, मनुष्य का रुधिर, इन्द्रगोप, नवीन इन्द्रगोप, बालसूर्य या संध्या का रंग, जाति हिंगुल, प्रबालांकुर, लाधारस, लोहिताक्षमणि, किरमिची रंग की कम्बल, गज का तालु, दाल की पिष्ट राशि, पारिजात कुसुम, जपाके सुमन, केसु पुष्पराशि, रक्तोत्पल, रक्ताशोक रक्त कनेर, रक्तबन्धुजीव, तोते की चोंच, दीपशिखा आदि के रक्त वर्ण से अधिक इष्टकर, कंतकर, प्रीतिकर मनोज्ञ तथा मनभावने लाल वर्णवाली तेजो लेश्या होती है ।

पंचवर्ण में तेजोलेश्या रक्त वर्ण की होती है ।

११'५ पद्मलेश्या के वर्ण :

(क) पम्हलेस्सा णं भंते ! केरिसिया वन्नेणं पन्नत्ता ? गोयमा !
 से जहानामए चंपे इ वा चंपयळल्ली इ वा चंपयभेये इ वा हालिद्दा
 इ वा हालिद्गुलिया इ वा हालिद्भेये इ वा हरियाले इ वा हरि-
 यालगुलिया इ वा हरियालभेये इ वा चिउरे इ वा चिउररागे इ वा
 सुवन्नसिप्पी इ वा वरकणगणिहसे इ वा वरपुरिसवसणे इ वा अल्ल-
 इकुसुमे इ वा चंपयकुसुमे इ वा कण्णियारकुसुमे इ वा कुहंड्यकुसुमे इ
 वा सुवण्णजूहिया इ वा सुहिरन्नियाकुसुमे इ वा कोरिंटमल्लदामे इ
 पीतासोगे इ वा पीतकणवीरे इ वा पीतबन्धुजीवए इ वा, भवेयारूवे ?
 गोयमा ! णो इण्णट्ठे सण्णट्ठे । पम्हलेस्सा णं एत्तो इट्ठतरिया जाव
 मणामतरिया चैव वन्नेणं पन्नत्ता ।

—पण्ण० प १७ । उ ४ । सू १२३० । पृ० २६४

(ख) हरियालभेयसंकासा, हलिदाभेयसम्पभा ।
सणासणकुमुमनिभा, पम्हलेसा उ वण्णओ ॥

—उत्त० अ ३४ । गा ८ । पृ० १०४६

(ग) पम्हलेस्सा हालिहएणं वन्नेणं साहिज्जइ ।

—पण्ण० ध १७ । उ ४ । सू १२३२ । पृ० २६५

(घ) तउवड-पउमकुसुमादीणं पम्मलेस्सा ।

—पट्ट० पु १६ । पृ० ४८४

चम्पा, चम्पा की छाल, चम्पा का खण्ड, हल्की, हल्दी की गोली, हल्दी का टुकड़ा, हड़ताल, हड़ताल गुटिका, हड़ताल खण्ड, चिकुर, चिकुरराग, सोने की झीप, श्रेष्ठ सुवर्ण, वासुदेव का वस्त्र, अल्लकी पुष्प, चम्पक पुष्प, कर्णिकार पुष्प, (कनेर का फूल) कुष्माण्ड कुसुम, सुवर्ण जूही, सुहिरिण्यक, कोरंटक की माला, पीला अशोक, पीत कनेर, पीत बन्धुजीव, सन के फूल, असन के फूल आदि के वर्ण की पीतता से अधिक इष्टकर, कंतकर, प्रीतिकर, मनोज्ञ, मनभावने वर्णवाली पद्मलेश्या होती है ।

पद्मलेश्या पंचवर्ण में पीले वर्ण की है ।

११६ शुक्ललेश्या के वर्ण :

(क) सुक्कलेस्साणं भंते ! केरिसिया वन्नेणं पन्नत्ता ? गोयमा !
से जहानामए अंके इ वा संखे इ वा चन्दे इ वा कुंदे इ वा दगे इ वा !
दगरए इ वा दहि इ वा दहिघणे इ वा खीरे इ वा खीरपूरए इ वा
सुक्कच्छिवाडिया इ वा पेहुणभिजिया इ वा धंतधोयरुपपट्टे इ वा
सारदबलाहए इ वा कुमुददले इ वा पौडरीयदले इ वा सालिपिड्ड-
रासी इ वा कुडगपुप्फरासी इ वा सिंदुवारमल्लदामे इ वा सेयासोए
इ वा सेयकणवीरे इ वा सेयबंधुजीवए इ वा, भवेयारूवे ? गोयमा !
णो इणट्टे समट्टे । सुक्कलेसा णं एत्तो इट्ठतरिया चेव जाव मणासत्तरिया
चेव वन्नेणं पन्नत्ता ।

—पण्ण० प १७ । उ ४ । सू १२३१ । पृ० २६५

(ख) संखंकुंदसंकासा, खीरपूरसम्पभा ।

रययहारसंकासा, सुकलेसा उ वण्णओ ॥

—उत्त० अ ३४ । गा ८ । पृ० १०४६

(ग) सुकलेस्सा सुक्किल्लएणं वन्नेणं साहिज्जइ ।

—पण्ण० प १७ । उ ४ । सू १२३२ । पृ० २६५

(घ) हंस-बलायादीणं सुकलेस्सा ।

—षट्० पु १६ । पृ० ४८४

अंकरत्न, शंख, चन्द्र, कुंद-मोगरा, पानी, पानी की बूँद, दही, दहीपिण्ड, क्षीर दूध, खीर, शुष्क फली विशेष, मयूर पिच्छ का मध्यभाग, अग्नित में तपा कर शुद्ध किया हुआ रजतपट्ट, शरतकाल का मेघ, कुमुददल, पृंडरीक दल, शालि-पिष्टराजी, कुटज पुष्प राशी, सिंदुवार पुष्प की माला, श्वेत अशोक, श्वेत केनर श्वेत बन्धुजीव, मुचकन्द के फूल, दूध की धारा, रजतहार आदि के वर्ण की श्वेतता से अधिक इष्टकर, कंतकर, प्रीतिकर, मनीज, मनभावने श्वेतवर्णवाली शुक्ललेश्या होती है ।

पंचवर्ण में शुक्ललेश्या श्वेत शुक्ल वर्णवाली है ।

(ङ) किण्हा भमर-सवण्णा णीला पुण णील-गुलियसंकासा ।

काऊ कओद-वण्णा तेऊ तवणिज्ज-वण्णा हु ॥

पम्हा पउमसवण्णा सुक्का पुणु कासकुसुमसंकासा ।

वण्णंतरं च एदे हवंति परिमिता अणंता वा ॥

—पंच० जीए । श्लो १८३-८४ । पृ० ३८

कृष्णलेश्या का वर्ण भौरों के समान, नीललेश्या का वर्ण नील की गोली के समान, नीलमणि या मयूर कंठ के समान होता है । कापोतलेश्या का वर्ण कपोत (कबूतर) के समान होता है । तेजोलेश्या का वर्ण तपे हुए सोने के समान होता है । पद्मलेश्या का वर्ण पद्म (गुलाबी रंग के कमल) के समान होता है तथा शुक्ललेश्या का वर्ण काँस के फूल के समान श्वेत होता है । इन छहों लेश्याओं के वर्णान्तर या तारतम्य की अपेक्षा मध्यवर्ती वर्णों के भेद इन्द्रियों द्वारा ग्रहण करने की दृष्टि से संख्यात हैं, स्कन्धगत जातियों की अपेक्षा असंख्यात हैं तथा परमाणुगत भेद की अपेक्षा अनन्त हैं ।

छप्पयणीलकवोद सुहेमंबुजसंखसण्णिहा वण्णे ।
संखेज्जासंखेजाणंतवियप्पा य पत्तेयं ॥

—गोजी० गा ४६४

वर्ण की अपेक्षा से भ्रमर के समान कृष्णलेश्या, नीलमणि (नीलम) के समान नीललेश्या, कबूतर के समान कापोतलेश्या, स्वर्ण के समान तेजोलेश्या, कमल के समान पद्मलेश्या तथा शंख के समान शुक्ललेश्या होती है । इन वर्णों में से प्रत्येक का (इन्द्रिय-ज्ञान की अपेक्षा) संख्यात, (स्कंध की अपेक्षा) असंख्यात भेद तथा (परमाणु की अपेक्षा) अनन्त भेद होते हैं ।

× × × तव्वदिरिक्तदव्वलेस्सा पोग्गलक्खंधाणं चक्खिदियगेज्जो
वण्णो । सो छ्विवहो—किण्णलेस्सा णीललेस्सा काउलेस्सा तेउलेस्सा
पम्मलेस्सा सुक्कलेस्सा चेदि । तत्थ भमरंगार-कज्जलादीणं किण्णलेस्सा ।
णिवकदलीदावपत्तादीणं णीललेस्सा । छार-खर-कवोदादीणं काउ-
लेस्सा । कुंकुम-जवाकुसुम कुसुभादीणं तेउलेस्सा । तडवड-पउम-
कुसुमादीणं पम्मलेस्सा । हंस-बलायादीणं सुक्कलेस्सा ।

—षट्० पु १६ । पृ० ४८४

नोआगम द्रव्यलेश्या का तीसरा भेद तद्द्रव्यतिरिक्तद्रव्यलेश्या है । पुद्गल-
स्कन्धों के चक्षुरिन्द्रिय से ग्रहण योग्य वर्ण को तद्द्रव्यतिरिक्तद्रव्यलेश्या कहा जाता
है । वह छः प्रकार की होती हैं—कृष्ण, नील, कापोत, तेजो, पद्म और शुक्ल ।

कृष्णलेश्या भ्रमर, अंगार, कज्जल आदि के सम वर्ण की होती है । नील-
लेश्या नीम, कदली, दाव के पत्ते आदि के सम वर्ण की होती है । कापोतलेश्या
खर, कबूतर आदि के सम वर्ण की होती है । तेजोलेश्या कुंकुम, जपाकुसुम,
कसूम कुसुम आदि के सम वर्ण की होती है । पद्मलेश्या तडवडा, पद्म पुष्पादि के
सम वर्ण की होती है । शुक्ललेश्या हंस, बलाका—दगुला आदि के सम वर्ण
की होती है ।

१२ द्रव्यलेश्या की गन्ध

कण्हलेस्सा णं भंते ! कइ × × × गंधा × × × पन्नत्ता ? गोयमा !
दव्वलेस्सं पडुच्च × × × दुगंधा × × × एवं जाव सुक्कलेस्सा ।

—भग० श १२ । उ ५ । सू १६ । पृ० ६६४

द्रव्यलेश्या के द्यहो भेद दो गन्धवाले हैं ।

१२'१ प्रथम तीन लेश्याएँ दुर्गन्धवाली हैं ।

(क) कइ णं भंते ! लेस्साओ दुब्धिगंधाओ पन्नत्ताओ ? गोयमा !
तओ लेस्साओ दुब्धिगंधाओ पन्नत्ताओ, तं जहा—कण्हलेस्सा, नील-
लेस्सा, काऊलेस्सा ।

—पण्ण० प १७ । उ ४ । सू १२३६ । पृ० २६७

—ठाण० स्था ३ । उ ४ । सू २२१ । पृ० २२० (उत्तर केवल)

(ख) जह गोमडस्स गंधो, सुणगमडस्स व जहा अहिमडस्स ।

एत्तो वि अणंतगुणो, लेसाणं अप्पसत्थाणं ॥

—उत्त० अ ३४ । गा १६ । पृ० १०४२

कृष्ण लेश्या, नील लेश्या, कापोत लेश्या, दुर्गन्धित द्रव्यवाली हैं । मृत गाय, मृत श्वान तथा मृत सर्प की जैसी दुर्गन्ध होती है उससे अनन्तगुणी दुर्गन्ध इन तीन अप्रशस्त लेश्याओं की होती है ।

१२'२ पश्चात् की तीन लेश्याएँ सुगन्धवाली हैं ।

(क) कइ णं भंते ! लेस्साओ सुब्धिगंधाओ पन्नत्ताओ ? गोयमा !
तओ लेस्साओ सुब्धिगंधाओ पन्नत्ताओ, तंजहा—तेऊलेस्सा, पम्ह-
लेस्सा, सुक्कलेस्सा ।

—पण्ण० प १७ । उ ४ । सू १२४० । पृ० २६७

—ठाण० स्था ३ । उ ४ । सू २२१ । पृ० २२० (उत्तर केवल)

(ख) जह सुरभिकुसुमगंधो, गंधवासाण पिस्समाणाणं ।

एत्तो वि अणंतगुणो, पसरथलेसाण तिण्हं पि ॥

—उत्त० अ ३४ । गा १७ । पृ० १०४६

तेजो लेश्या, पद्मलेश्या तथा शुक्ललेश्या सुगन्धित द्रव्यवाली हैं तथा इनकी सुगन्ध सुरभित पुष्पों तथा घिसे हुए सुगन्धित द्रव्यों से अनन्तगुणी है ।



१३ द्रव्यलेश्या के रस :

कणहलेस्साणं भंते कइ × × × रसा × × × पन्नत्ता ? गोयमा !
दन्वलेस्सं पडुच्च × × × पंच रसा × × × एवं जाव सुकलेस्सा ।

—भग० श १२ । उ ५ । सू १६ । पृ० ६६४

द्रव्यलेश्या के छहों भेद पाँचरसवाले हैं ।

१३.१ कृष्णलेश्या के रस

(क) कणहलेस्सा णं भंते ! केरिसिया आसाएणं पन्नत्ता ? गोयमा !
से जहानामए निवे इ वा निवसारे इ वा निवळल्ली इ वा निवफाणिए
इ वा कुइए इ वा कुडगफलए इ वा कुडगळल्ली इ वा कुडगफाणिए इ
वा कडुगतुंबी इ वा कडुगतुंबीफले इ वा खारतउसी इ वा खारत-
उसीफले इ वा देवदाली इ वा देवदालीपुण्फे इ वा मियवालुंकी इ
वा मियवालुंकीफले इ वा घोसाडिए इ वा घोसाडइफले इ वा कणह-
कंदए इ वा वज्जकंदए इ वा, भवेयारूवे ? गोयमा ! णो इणद्धे समट्ठे,
कणहलेस्सा णं एत्तो अणिट्ठतरिया चैव जाव अमणामतरिया चैव
आसाएणं पन्नत्ता ।

—पण्ण० प १७ । उ ४ । सू १२३३ । पृ० २६५

(ख) जह कडुयतुंबगरसो, निवरसो कडुयरोहिणिरसो वा ।

एत्तो वि अणंतगुणो, रसो य किण्हाए नायव्वो ॥

—उत्त० अ ३४ । गा १० । पृ० १०४६

नीम, नीमसार, नीम की छाल, नीम की बवाथ, कुटज फल, कुटज छाल,
कुटज बवाथ, कडुबी तुम्बी, कडुबी तुम्बी का फल, क्षारत्र पुष्पी, उसका फल,
देवदाली, उसका पुष्प, मृगवालुंकी, उसका फल, घोषातकी, उसका फल, कृष्ण-
कंद, वज्जकंद, कटुरोहिणी आदि के स्वाद से अनिष्टकर, अकंतकर अप्रीतिकर,
अमनोज्ञ तथा अनभावने आस्वादवाली कृष्णलेश्या होती है ।

१३.२ नीललेश्या के रस

(क) नीललेस्साए पुच्छा । गोयमा ! से जहानामए भंगी इ वा
भंगीरए इ वा पाढा इ वा चविया इ वा चित्तामूलए इ वा पिप्पली

इ वा पिप्पलीमूलए इ वा पिप्पलीचुण्णे इ वा मिरिए इ वा मिरिय-
चुण्णए इ वा सिगवेरे इ वा सिगवेरचुण्णे इ वा, भवेयारूवे ? गोयमा !
णो इणट्टे समट्टे, नीललेस्सा णं एत्तो जाव अमणामतरिया चेव
आसाएणं पन्नत्ता ।

—पण्ण० प १७ । उ ४ । सू १२३४ । पृ० २६६

(ख) जह तिगडुयस्सय रसो, तिक्खो जह हत्थिपिप्पलीए वा ।

एत्तो वि अणंतगुणो, रसो उ नीलाए नायव्वो ॥

—उत्त० अ ३४ । गा ११ । पृ० १०४६

भंगी-भाग, भंगीरज, पाठा, चविया, चित्रमूल, पीपल, पीपल मूल, पीपल
चूर्ण, मरि, मरिचूर्ण, सोंठ, सोंठचूर्ण, मीर्च, गजपीपल आदि के आस्वाद से अधिक
अनिष्टकर, अकंतकर, अप्रीतिकर, अमनोज्ञ तथा अनभावने आस्वादवाली नील-
लेश्या होती है ।

१६*३ कापोत लेश्या के रस

(क) काऊलेस्साए पुच्छा । गोयमा ! से जहानामए अंबाण वा
अंबाडगाण वा माउलिगाण वा विललाण वा कविट्टाण वा भट्टाण
वा फणसाण वा दाडिमाण वा पारेवताण वा अक्खोडयाण वा
चोराण वा बोराण वा तिदुयाण वा अपक्काणं अपरियागाणं वन्नेणं
अणुववेयाणं गंघेणं अणुववेयाणं फासेणं अणुववेयाणं, भवेयारूवे ?
गोयमा ! णो इणट्टे समट्टे, जाव एत्तो अमणामतरिया चेव काऊ-
लेस्सा आसाएणं पन्नत्ता ।

—पण्ण० प १७ । उ ४ । सू १२३५ । पृ० २६६

(ख) जह तरुणअंवररसो, तुवरकविट्टस्स वावि जारिसओ ।

एत्तो वि अणंतगुणो, रसो उ काऊए नायव्वो ॥

—उत्त० अ ३४ । गा १२ । पृ० १०४६

आम्रातक, दिजोरा, बीलां, कपित्थ, भञ्जा, फणस, दाडिम (अनार),
पारापत, अखोड, चोर, बोर, तिदक (अपक्व), सम्पूर्ण परिपाक को अप्राप्त,
द्विशिष्ट वर्ण, गन्ध तथा स्पर्श रहित कच्चे आम, तूवर, कच्चे कपित्थ के आस्वाद

से अधिक अनिष्टकर, अर्कतकर, अप्रीतिकर, अमनोज्ञ, अनभावने आस्वादवाली कापोतलेश्या होती है ।

‘१३’४ तेजोलेश्या के रस

(क) तेऊलेस्सा णं भंते ! पुच्छा । गोयमा ! से जहानामए अंबाण वा जाव तिंदुयाण वा पक्काणं परियावन्नाणं वन्नेणं उववेयाणं पसत्थेणं जाव फासेणं जाव एत्तो मणामतरिया चेव तेऊलेस्सा आसाएणं पन्नत्ता ।

—पण्ण० प १७ । उ ४ । सू १२३६ । पृ० २६६

(ख) जह परिणयंबगरसो, पक्कविट्ठस्स वा वि जारिसओ ।

एत्तो वि अणंतगुणो, रसो उ तेऊए नायव्वो ॥

—उत्त० अ ३४ । गा १३ । पृ० १०४६

आम आदि यावत् (देखो कापोत लेश्या ‘१३’३) पक्व, अच्छी तरह से परिपक्व, प्रशस्त वर्ण, गंध तथा स्पर्शवाले तथा कबीठ आदि के आस्वाद से अधिक इष्टकर, कंतकर, प्रीतिकर; मनोज्ञ तथा मनभावने आस्वादवाली तेजोलेश्या होती है । अनन्तगुण मधुर आस्वादवाली होती है ।

‘१३’५ पथलेश्या के रस

(क) पम्हलेस्साए पुच्छा । गोयमा ! से जहानामए चंदप्पभा इ वा मणसिला इ वा वरसीधू इ वा वरवारुणी इ वा पत्तासवे इ वा पुप्फासवे इ वा फलासवे इ वा चोयासवे इ वा आसवे इ वा महू इ वा मेरए इ वा कविसाणए इ वा खज्जूरसारए इ वा मुदियासारए इ वा सुपक्कखोय-रसे इ वा अट्ठपिट्ठणिट्ठिया इ वा जंबुफलकालिया इ वा वरप्पसन्ना इ वा [आसला] मंसला पेसला ईसि ओट्टावलंबिणी इसि वोच्छेद-कडुई ईसि तंबच्छ्चकरणी उक्कोसमयपत्ता वन्नेणं उववेया जाव फासेणं, आसायणिज्जा वीसायणिज्जा पीणणिज्जा विहणिज्जा दीव-णिज्जा दप्पणिज्जा मयणिज्जा सव्वेदिंयंगायपल्हायणिज्जा, भवेया-रूवा ? गोयमा ! णो इण्हो सम्हो, पम्हलेस्साणं एत्तो इट्ठतरिया चेव जाव मणामतरिया चेव आसाएणं पन्नत्ता ।

—पण्ण० प १७ । उ ४ । सू १२३७ । पृ० २६६-६७

(ख) वरवारुणीए व रसो, विविहाण व आसवाण जारिसओ ।

महुमेरयस्स व रसो, एत्तो पन्हाए परएणं ॥

उत्त० अ ३४ । गा १४ । पृ० १०४६

चन्द्रप्रभा, मणिशीला, श्रेष्ठसीधु, श्रेष्ठवारुणी, पत्रासव, पुष्पासव, फलासव, चोयासव, आसव, मधु, मेरेय, कापिशायन, खर्जूरसार, द्राक्षासार, सुपक्व इक्षुरस, अष्टप्रकारीय पिष्ट, जम्बूफल कालिका, श्रेष्ठ प्रसन्ना, आसला, मासला, पेशल, इषत् ओष्ठावलंबिनी, इषत् व्यवच्छेद कटुका, इषत् ताम्राशिकरणी, उत्कृष्ट मद्प्रयुक्ता, उत्तम वर्ण, गंध, स्पर्शवाले, आस्वादनीय, विस्वादनिय, पीनेयोग्य, बृंहणीय, पुष्टिकारक, प्रदीप्तिकारक, दर्पणीय, मदनिय, सर्व इन्द्रिय, सर्व मात्र को आनन्दकारी आस्वाद से अधिक इष्टकर, कंतकर, प्रीतिकर, मनोज्ञ तथा मनभावने आस्वाद वाली पद्मलेश्या होती है । मद, आसव, मधु, मेरक आदि से अनन्त गुण मधुर आस्वादन वाली होती है ।



१३'६ शुक्ल लेश्या के रस

(क) सुक्कलेस्साणं भंते ! केरिसिया आसाएणं पन्नत्ता ? गोयमा !
से जहानामए गुले इ वा खंडे इ वा सक्करा इ वा मच्छंडिया इ वा
पप्पडमोदए इ वा भिसकंदए इ वा पुप्फुत्तरा इ वा पउमुत्तरा इ वा
आदंसिया इ वा सिद्धत्थिया इ वा आगासफालितोवमा इ उवमा इ
वा अणोवमा इ वा, भवेयारुवे ? गोयमा ! णो इणद्धे समद्धे, सुक्क-
लेस्सा एत्तो इट्ठतरिया चेव कंततरिया चेव पियतरिया चेव मणा-
मततरिया चेव आसाएणं पन्नत्ता ।

—पण० प १७ । उ ४ । सु १२३८ । पृ० २६७

(ख) खज्जूरमुद्दियरसो, खीररसो खंडसक्कररसो वा ।

एत्तो वि अणंतगुणो, रसो उ सुक्काए नायव्वो ॥

—उत्त० अ ३४ । गा १५ । पृ० १०४६

गुड़, चीनी, शक्कर, मत्स्यंडिका—खांडसारी, पपटमोदक बीसकंद, पुष्पो-
त्तरा, पद्मोत्तरा, आदर्शिका, सिद्धार्थिका, आकाशस्फटिकोपमाके उपम एवं अनुपम

आस्वाद से अधिक इष्टकर, कन्तकर, प्रीतिकर, मनोज्ञ, मनभावने आस्वाद वाली शुक्ललेख्या होती है। खजूर, द्राक्ष; दूध, चीनी, शक्कर से अनन्तगुणी मधुर आस्वादवाली शुक्ललेख्या होती है।



१४ द्रव्य लेख्या के स्पर्श

कण्ठलेस्साणं भन्ते कइ × × × फासा पन्नत्ता ? गोयमा ! द्रव-
लेस्सं पडुक्च × × × अट्टफासा पन्नत्ता एव × × × जाव सुक्कलेस्सा ।

—भग० श १२ । उ ५ । सू १६ । पृ० ६६४

द्रव्यलेख्या के आठों पौद्गलिक स्पर्श होते हैं।

१४*१ प्रथम तीन लेख्या के स्पर्श

(क) जह करगयस्स फासो, गोजिब्भाए व सागपत्ताणं ।

एत्तो वि अणंतगुणो, लेसाणं अप्पसत्थाणं ॥

—उत्त० अ ३४ । गा १८ । पृ० १०४६

करवत; गाय की जीभ शक के पत्ते का जैसा स्पर्श होता है उससे भी अनन्तगुण अधिक रुक्ष स्पर्श प्रथम तीन अप्रशस्त लेख्याओं का होता है।

(ख) (तओ) सीयलुक्खाओ ।

—ठाण० स्था ३ । उ ४ । सू २२१ । पृ० २२०

(ग) × × × तओ सीयलुक्खाओ × × × ।

—पण्ण० प १७ । उ ४ । सू १२४१ । पृ० २६७

प्रथम तीन लेख्याएँ शीत-रुक्ष स्पर्शवाली होती हैं।



१४*२ पश्चात् की तीन लेख्या के स्पर्श

(क) जह वूरस्स व फासो नवणीयस्स व सिरीसकुसुमाणं ।

एत्तो वि अणंतगुणो, पसत्थलेसाण तिण्हं पि ॥

—उत्त० अ ३४ । गा १६ पृ० १०४६

वूर बनस्पति; नवनीत (मक्खन) और सिरिष के फूल का जैसा स्पर्श होता है उससे भी अनन्तगुण कोमल (स्निग्ध) स्पर्श तीन प्रशस्त लेश्याओं का होता है ।

(ख) (तओ) निद्धुण्हाओ ।

—ठाण० स्या ३ । उ ४ । सू २२१ । पृ० २२०

(ग) × × × तओ निद्धुण्हाओ × × × ।

—पण्ण० प १७ । उ ४ । सू १२४१ । पृ० २६७

पश्चात् की तीन लेश्याओं का स्पर्श उष्ण-स्निग्ध होता है ।

[दिगम्बर ग्रन्थों में द्रव्यलेश्या के गन्ध; रस और स्पर्श के सम्बन्ध में कोई पाठ उपलब्ध नहीं हुआ ।]

१५ द्रव्य लेश्या के प्रदेश

कण्हलेस्सा णं भंते ! कइ पएसिया पन्नत्ता ? गोयमा ! अणंत-
पएसिया पन्नत्ता, एवं जाव सुक्कलेस्सा ।

—पण्ण० प १७ । उ ४ । सू १२४३ । पृ० २६८

कृष्ण लेश्या यावत् शुक्ल लेश्या अनन्त प्रदेशी होती है । द्रव्य लेश्या का एक स्कन्ध अनन्त प्रदेशी होता है ।



१६ द्रव्य लेश्या और प्रदेशावगाह—क्षेत्रावगाह

(क) कण्हलेस्सा णं भंते ! कइ पएसोगाढा पन्नत्ता ? गोयमा !
असंखेज्जपएसोगाढा पन्नत्ता, एवं जाव सुक्कलेस्सा ।

—पण्ण० प १७ । उ ४ । सू १२४४ । पृ० २६८

कृष्ण लेश्या यावत् शुक्ल लेश्या असंख्यात प्रदेश क्षेत्रावगाह करती है । यह लेश्या के एक स्कन्ध की अपेक्षा वर्णन मालूम होता है ।

(ख) लेश्या क्षेत्राधिकार—क्षेत्रावगाह

सट्ठाणंसमुग्घादे उववादे सव्वलोय सुहाणं ।

लोयस्सासंखेज्जदिभागं खेत्तं तु तेउत्तिये ॥५४२॥

—गोजी० गाथा ५४२

सुक्कस समुग्धादे असंखलोगा य सव्व लोगो य ।

—गोजी० पृ० १६६ । गाथा अनर्कित

प्रथम तीन लेश्याओं का सामान्य से (सर्व लेश्या द्रव्यों की अपेक्षा) स्वस्थान, समुद्घात तथा उपपाद की अपेक्षा सर्वलोक प्रमाण क्षेत्र अवगाह है तथा तीन पश्चात् की लेश्याओं का लोक के असंख्यात भाग क्षेत्र परिमाण अवगाह है । शुक्ललेश्या का क्षेत्रावगाह समुद्घात की अपेक्षा लोक का असंख्यात भाग (बहु भाग) या सर्वलोक परिमाण है ।

१७ द्रव्य लेश्या की वर्गणा

(क) कणहलेस्साए णं भंते ! केवइयाओ वग्गणाओ पन्नत्ताओ ? गोयमा ! अणंताओ वग्गणाओ एवं जाव सुक्कलेस्साए ।

—पण्ण० प १७ । उ ४ । सू ४६ । पृ० ४४६

कृष्ण यावत् शुक्ल लेश्याओं की प्रत्येक की अनन्त वर्गणा होती है ।

(ख) जीवेहि अपट्ठिगहितपोगलवखंधाणं किण्णणीलकाउतेउपम्मसुक्कसण्णिदाओ छलेस्साओ होंति । अणंतभागवड्ढिअसंखेज्जभागवड्ढि संखेज्जभागवड्ढि संखेज्जगुणवड्ढिअसंखेज्जगुणवड्ढिअणंतगुणवड्ढिअसंखेज्जलोगमेत्तवण्णभेदेण पोगलेसु ट्ठिदेसु किमट्ठं छच्चेव लेस्साओ त्ति एत्थ णियमो कीरदे ? ण एस दोसो, पज्जवणयप्पणाए लेस्साओ असंखेज्जलोगमेत्ताओ, दव्वट्ठियणयप्पणाए पुण लेस्साओ छच्चेव होंति ।

—पट्ठ० पु १६ । पृ० ४५५

जीवों के द्वारा अप्रतिगृहीत पुद्गलस्कन्धों को द्रव्यलेश्या कहते हैं, जो कृष्णादि छः प्रकार की होती है । अनन्त भाग वृद्धि, असंख्यात भाग वृद्धि, संख्यात भाग वृद्धि, संख्यातगुणवृद्धि, असंख्यातगुणवृद्धि और अनन्तभूणवृद्धि के क्रम से असंख्यात लोकप्रमाण वर्ण वाले पुद्गल देखे जाते हैं, अतः इस स्थिति में छः ही लेश्याएँ हैं—ऐसा नियम क्यों किया गया है ? यद्यपि पर्यायाधिक नय की विवक्षा से लेश्याएँ असंख्यात लोक प्रमाण हैं । परन्तु द्रव्याधिक नय की विवक्षा से लेश्याएँ छः ही होती हैं ।

१८ द्रव्य लेख्या और गुरुलघुत्व

कणहलेसा णं भंते ! किं गुरुया, जाव अगुरुयलहुया ? गोयमा ! नो गुरुया नो लहुया, गुरुयलहुया वि, अगुरुयलहुया वि । से केणट्ठेणं ? गोयमा ! दव्वलेस्सं पडुच्च ततियपएणं, भावलेस्सं पडुच्च चउत्थपएणं एवं जाव सुक्कलेस्सा ।

—भग० श १ । उ ६ । सू २८६-६० पृ० ४११

कृष्णलेख्या यावत् शुक्ललेख्या द्रव्यलेख्या की अपेक्षा गुरुलघु है तथा भावलेख्या की अपेक्षा अगुरुलघु है ।

१९ द्रव्य लेख्याओं की परस्पर परिणमन-गति

से किं तं लेस्सागई ? २ जण्णं कण्हलेस्सा नीललेस्सं पप्प तारूवत्ताए तावण्णत्ताए तागंधत्ताए तारसत्ताए ताफासत्ताए भुज्जो भुज्जो परिणमइ, एवं नीललेसा काउलेस्सं पप्प तारूवत्ताए जाव ताफासत्ताए परिणमइ, एवं काउलेस्सा वि तेउलेस्सं, तेउलेस्सा वि पन्हलेस्सं, पन्हलेस्सा वि सुक्कलेस्सं पप्प तारूवत्ताए जाव परिणमइ, से तं लेस्सागई ।

—पण्ण० प १६ । उ ४ । सू १११६ । पृ० २४२

एक लेख्या दूसरी लेख्या के द्रव्यों का संयोग पाकर उस रूप, वर्ण, गन्ध, रस तथा स्पर्श रूप में परिणत होती है वह उसकी लेख्यागति कहलाती है ।

लेख्यागति विहायगति का ११वां भेद है ।

—पण्ण० प १६ । सू १४ । पृ० ४३२-३

१९'१ कृष्णलेख्या का अन्य लेख्याओं में परस्पर परिणमन

(क) से नूणं भंते ! कण्हलेस्सा नीललेस्सं पप्प तारूवत्ताए तावण्णत्ताए तागंधत्ताए तारसत्ताए ताफासत्ताए भुज्जो २ परिणमइ ? हंता गोयमा ! कण्हलेस्सा नीललेस्सं पप्प तारूवत्ताए जाव भुज्जो २ परिणमइ ? से केणट्ठेणं भंते ! एवं बुच्चइ—‘कण्हलेस्सा नीललेस्सं पप्प तारूवत्ताए जाव भुज्जो २ परिणमइ’ ? गोयमा ! से जहानामए

खीरे दूंसि पप्प सुद्धे वा वत्थे रागं पप्प तारूवत्ताए जाव ताफासत्ताए भुज्जो २ परिणमइ, से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं बुच्चइ—‘कण्हलेस्सा नीललेस्सं पप्प तारूवत्ताए जाव भुज्जो २ परिणमइ ।

—पण्ण० प १७ । उ ४ । सू १२२० । पृ० २६२

—भग० श ४ । उ १० । सू १ । पृ० ४६८

(ख) से नूणं भंते ! कण्हलेस्सा नीललेस्सं पप्प तारूवत्ताए तावणत्ताए तागंधत्ताए तारसत्ताए ताफासत्ताए भुज्जो भुज्जो परिणमइ ? इत्तो आट्ठत्तं जहा चउत्थुद्देसए तहा भाणियब्बं जाव वेहलियमणिदिट्ठं तो त्ति ।

—पण्ण० प १७ । उ ५ । सू १२२१ । पृ० ३००

कृष्णलेश्या नीललेश्या के द्रव्यों का संयोग पाकर उसके रूप, उसके वर्ण, उसकी गन्ध, उसके रस, उसके स्पर्श में बार-बार परिणत होती है, यथा दूध दही का संयोग पाकर दही रूप तथा शुद्ध (श्वेत) वस्त्र रंग का संयोग पाकर रंगीन वस्त्र रूप परिणत होता है ।

(ग) से नूणं भंते ! कण्हलेस्सा नीललेस्सं काउलेस्सं तेउलेस्सं पम्हलेस्सं सुक्कलेस्सं पप्प तारूवत्ताए तावणत्ताए तागंधत्ताए तारसत्ताए ताफासत्ताए भुज्जो २ परिणमइ ? हंता गोयमा ! कण्हलेस्सा नीललेस्सं पप्प जाव सुक्कलेस्सं पप्प तारूवत्ताए तावणत्ताए तागंधत्ताए तारसत्ताए ताफासत्ताए भुज्जो २ परिणमइ ? से केणट्ठेणं भंते ! एवं बुच्चइ—‘कण्हलेस्सा नीललेस्सं जाव सुक्कलेस्सं पप्प तारूवत्ताए जाव भुज्जो २ परिणमइ’ ? गोयमा ! से जहानामए वेहलियमणी सिया कण्हसुत्ताए वा नीलसुत्ताए वा लोहियसुत्ताए वा हालिइसुत्ताए वा सुक्किल्लसुत्ताए वा आइए समाणेतारूवत्ताए जाव भुज्जो २ परिणमइ, से तेणट्ठेणं एवं बुच्चइ—‘कण्हलेस्सा नीललेस्सं जाव सुक्कलेस्सं पप्प तारूवत्ताए भुज्जो २ परिणमइ ।

—पण्ण० प १७ । उ ४ । सू १२२२ । पृ० २६२

कृष्णलेश्या नीललेश्या, कापोतलेश्या, तेजोलेश्या, पद्मलेश्या तथा शुक्कलेश्या के द्रव्यों का संयोग पाकर उन-उन लेश्याओं के रूप, वर्ण, गंध, रस और स्पर्श रूप

में बार-बार परिणत होती है, यथा—वैडूर्यमणि में जैसे रंग का सूता पिरोया जाय वह वैसे ही रंग में प्रतिभासित हो जाती है ।

'१६'२ नीललेश्या का अन्य लेश्याओं में परस्पर परिणमन

(क) एवं एणं अभिलावेणं नीललेस्सा काऊलेस्सं पप्प × × × जाव भुज्जो २ परिणमइ ।

—पण्ण० प १७ । उ ४ । सू १२२१ । पृ० २६२

(ख) से नूणं भंते ! नीललेस्सा कण्हलेस्सं जाव सुक्कलेस्सं पप्प तारूवत्ताए जाव भुज्जो २ परिणमइ ? हंता गोयमा ! एवं चेव ।

—पण्ण० प १७ । उ ४ । सू १२२३ । पृ० २६२

नीललेश्या कापोतलेश्या के द्रव्यों का संयोग पाकर उस रूप, वर्ण, गंध, रस, स्पर्श रूप में परिणत होती है ।

नीललेश्या कृष्ण, कापोत, तेजो, पद्म, तथा शुक्ललेश्या के द्रव्यों का संयोग पाकर उनके रूप, वर्ण, गंध, रस और स्पर्श रूप में परिणत होती है ।

'१६'३ कापोतलेश्या का अन्य लेश्याओं का परस्पर परिणमन

(क) एवं एणं अभिलावेणं × × × काऊलेस्सा तेऊलेस्सं पप्प × × × जाव भुज्जो भुज्जो परिणमइ ।

—पण्ण० प १७ । उ ४ । सू १२२१ । पृ० २६२

(ख) काऊलेस्सा कण्हलेस्सं नीललेस्सं तेऊलेस्सं पण्हलेस्सं सुक्कलेस्सं पप्प × × × जाव भुज्जो भुज्जो परिणमइ ? हंता गोयमा ! तं चेव ।

—पण्ण० प १७ । उ ४ । सू १२२४ । पृ० २६३

कापोतलेश्या तेजोलेश्या के द्रव्यों का संयोग पाकर उनके रूप, वर्ण, गंध, रस और स्पर्श रूप में परिणत होती है ।

कापोतलेश्या कृष्ण, नील, तेजो, पद्म और शुक्ललेश्या के द्रव्यों का संयोग पाकर उनके रूप, वर्ण, गंध, रस और स्पर्श रूप में परिणत होती है ।

'१६'४ तेजोलेश्या का अन्य लेश्याओं में परस्पर परिणमन

(क) एवं एणं अभिलावेणं × × × तेऊलेस्सा पम्हलेस्सं पप्प × × × जाव भुज्जो भुज्जो परिणमइ ।

—पण्ण० प १७ । उ ४ । सू १२२१ । पृ० २६२

(ख) एवं तेऊलेस्सा कण्हलेस्सं नीललेस्सं काऊलेस्सं पम्हलेस्सं सुक्कलेस्सं पप्प × × × जाव भुज्जो भुज्जो परिणमइ ।

—पण्ण० प १७ । उ ४ । सू १२२४ । पृ० २६३

तेजोलेश्या पद्मलेश्या के द्रव्यों का संयोग पाकर उसके रूप, वर्ण, गंध, रस और स्पर्श रूप में परिणत होती है ।

तेजोलेश्या कृष्ण, नील, कापोत, पद्म और शुक्ललेश्या के द्रव्यों का संयोग पाकर उसके रूप, वर्ण, गंध, रस और स्पर्श रूप में परिणत होती है ।

'१६'५ पद्मलेश्या का अन्य लेश्याओं में परस्पर परिणमन

(क) एवं एणं अभिलावेणं × × × पम्हलेस्सा सुक्कलेस्सं पप्प जाव भुज्जो भुज्जो परिणमइ ।

—पण्ण० प १७ । उ ४ । सू १२२१ । पृ० २६२

(ख) एवं पम्हलेस्सा कण्हलेस्सं नीललेस्सं काऊलेस्सं तेऊलेस्सं सुक्कलेस्सं पप्प जाव भुज्जो भुज्जो परिणमइ ? हंता गोयमा ! तं चेव ।

—पण्ण० प १७ । उ ४ । सू १२२४ । पृ० २६३

पद्मलेश्या शुक्ललेश्या के द्रव्यों का संयोग पाकर उसके रूप, वर्ण, गंध, रस और स्पर्श रूप में परिणत होती है ।

पद्मलेश्या, कृष्ण, नील, कापोत, तेजो और शुक्ललेश्या के द्रव्यों का संयोग पाकर उनके रूप, वर्ण, गंध, रस और स्पर्श रूप में परिणत होती है ।

'१६'६ शुक्ललेश्या का अन्य लेश्याओं में परस्पर परिणमन

से नूणं भंते ! सुक्कलेस्सा कण्हलेस्सं नीललेस्सं काऊलेस्सं तेऊलेस्सं पम्हलेस्सं पप्प जाव भुज्जो २ परिणमइ ? हंता गोयमा ! तं चेव ।

—पण्ण० प १७ । उ ४ । सू १२२५ । पृ० २६३

शुक्ललेश्या कृष्ण, नील, कापोत, तेजो, पद्मलेश्या के द्रव्यों का संयोग पाकर उनके रूप, वर्ण, गंध, रस और स्पर्श रूप में परिणत होती है ।

•२० लेश्याओं का परस्पर में अपरिणमन

'२०'१ कृष्ण लेश्या कदाचित् अन्य लेश्याओं में परिणत नहीं होती

से नूनं भंते ! कण्हेलेस्सा नीललेस्सं पप्प णो तारूवत्ताए जाव णो ताफासत्ताए भुज्जो २ परिणमइ ? हंता गोयमा ! कण्हेलेस्सा नीललेस्सं पप्प णो तारूवत्ताए, णो तावन्नत्ताए णो तागंधत्ताए, णो तारसत्ताए णो ताफासत्ताए भुज्जो २ परिणमइ । से केणट्ठेणं भंते ! एवं बुच्चइ ? गोयमा ! आगारभावमायाए वा से सिया, पलिभागभावमायाए वा से सिया, कण्हेलेस्सा णं सा, णो खलु नीललेस्सा, तत्थ गया ओसक्कइ उरसक्कइ वा, से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं बुच्चइ—'कण्हेलेस्सा नीललेस्सं पप्प णो तारूवत्ताए जाव भुज्जो २ परिणमइ ।

—पण्ण० प १७ । उ ५ । सू १२५२ पृ० ३००

कृष्ण लेश्या नील लेश्या के द्रव्यों का संयोग पाकर उसके रूप, वर्ण, गंध, रस तथा स्पर्श रूप में कदाचित् नहीं परिणत होती है ऐसा कहा जाता है, क्योंकि उस समय वह केवल आकार भाव मात्र से या प्रतिबिम्ब मात्र से नील लेश्या है । वहां कृष्ण लेश्या नील लेश्या नहीं है । वहां कृष्ण लेश्या स्वस्वरूप में रहती हुई भी द्वाया मात्र से—प्रतिबिम्ब मात्र से नील लेश्या यानि सामान्य विशुद्धि-अविशुद्धि में उत्सर्पण-अवसर्पण करती है । यह अवस्था नारकी और देवों की स्थित लेश्या में होती है ।

'२०'२ नील लेश्या कदाचित् अन्य लेश्याओं में परिणत नहीं होती

से नूनं भंते ! नीललेस्सा काउलेस्सं पप्प णो तारूवत्ताए जाव भुज्जो २ परिणमइ ? हंता गोयमा ! नीललेस्सा काउलेस्सं पप्प णो तारूवत्ताए जाव भुज्जो २ परिणमइ ? सिया से केणट्ठेणं भंते ! एवं बुच्चइ—'नीललेस्सा काउलेसं पप्प णो तारूवत्ताए जाव भुज्जो भुज्जो परिणमइ ? गोयमा ! आगारभावमायाए वा सिया, पलिभागभावमायाए वा नीललेस्सा णं सा, णो खलु सा काउलेस्सा, तत्थ गया

ओसक्कइ वा उस्सक्कइ वा, से एतेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुरुच्चइ—
नीललेस्सा काउलेस्सं पप्प णो तारूवत्ताए जाव भुज्जो २ परिणमइ ।

—पण्ण० प १७ । उ ५ । सू १२५३ । पृ० ३००-१

उसी प्रकार नील लेश्या कापोत लेश्या में परिणत नहीं होती है ऐसा कहा जाता है क्योंकि (नारकी और देवों की स्थित लेश्या में) वह केवल आकार भाव—प्रतिबिम्ब भाव मात्र से कापोतत्व को प्राप्त होती है ।

*२०*३ कापोत लेश्या कदाचित् अन्य लेश्याओं में परिणत कहीं होती

एवं काउलेसा तेउलेसं पप्प ।

—पण्ण० प १७ । उ ५ । सू १२५४ । पृ० ३०१

जैसा कृष्ण-नीललेश्या का कहा उसी प्रकार कापोतलेश्या मात्र आकार भाव से—प्रतिबिम्ब भाव से तेजोत्व को प्राप्त होती है, अतः कापोतलेश्या तेजोलेश्या में परिणत नहीं होती है ऐसा कहा जाता है ।

*२०*४ तेजोलेश्या कदाचित् अन्य लेश्याओं में परिणत नहीं होती

(एवं) तेउलेस्सा पम्हलेस्सं पप्प ।

—पण्ण० प १७ । उ ५ । सू १२५४ पृ० ३०१

जैसा कृष्ण-नील लेश्या का कहा उसी प्रकार तेजोलेश्या मात्र आकार भाव से प्रतिबिम्ब भाव से पद्मत्व को प्राप्त होती है अतः तेजोलेश्या पद्मलेश्या में परिणत नहीं होती है ऐसा कहा जाता है ।

*२०*५ पद्मलेश्या कदाचित् अन्य लेश्याओं में परिणत नहीं होती

(एवं) पम्हलेस्सा सुक्कलेस्सं पप्प ।

—पण्ण० प १७ । उ ५ । सू १२५४ । पृ० ३०१

जैसा कृष्ण-नीललेश्या का कहा उसी प्रकार पद्मलेश्या मात्र आकार भाव से—प्रतिबिम्ब भाव से शुक्लत्व को प्राप्त होती है अतः पद्मलेश्या शुक्ललेश्या में परिणत नहीं होती है ऐसा कहा जाता है ।

*२०*६ शुक्ललेश्या कदाचित् अन्य लेश्याओं में परिणत नहीं होती

से नूणं भंते ! सुक्कलेस्सा पम्हलेस्सं पप्प णो तारूवत्ताए जाव परिणमइ ? हंता गोयमा ! सुक्कलेस्सा तं चेव । से केणट्ठेणं भंते !

एवं बुच्चइ—‘सुकलेस्सा जाव णो परिणमइ ? गोयमा ! आगार-
भावमायाए वा जाव सुकलेस्सा णं सा, णो खलु सा पम्हलेस्सा,
तत्थगया ओसकइ, से तेणह्णेणं गोयमा ! एवं बुच्चइ—‘जाव णो
परिणमइ’ ।

—पण्ण० प १७ । उ ५ । सू १२५५ । पृ० ३०१

शुक्ललेश्या मात्र आकार भाव से—प्रतिबिम्ब भाव से पद्यत्व को प्राप्त होती है ; शुक्ललेश्या पद्मलेश्या के द्रव्यों का संयोग पाकर (यह द्रव्य संयोग अति-सामान्य ही होगा) पद्मलेश्या के रूप, वर्ण; गन्ध; रस और स्पर्श में सामान्यतः अवसर्पण करती है । अतः यह कहा जाता है कि शुक्ललेश्या पद्मलेश्या में परिणत नहीं होती है । टीकाकार मलयगिरि यहाँ इस प्रकार खुलासा करते हैं । प्रश्न उठता है—

यदि कृष्णलेश्या नीललेश्या में परिणत नहीं है तो सातवीं नरक में सम्यक्त्व की प्राप्ति किस प्रकार होती है ? क्योंकि सम्यक्त्व की प्राप्ति जिनके तेजो-लेश्यादि शुभलेश्या का परिणाम होता है उनके ही होती है और सातवीं नरक में कृष्णलेश्या होती है तथा ‘भाव परावत्तीए पुण मुरनेरइयाणं पि छल्लेसा’ अर्थात् भाव की परावृत्ति से देव तथा नारकी के भी छह लेश्याएँ होती हैं; यह वाक्य कैसे घटेगा ? क्योंकि अन्य लेश्या द्रव्य के संयोग से तद्द्रूप परिणमन सम्भव नहीं है तो भाव की परावृत्ति भी नहीं हो सकती है ।

उत्तर में कहा गया है कि मात्र आकार भाव से—प्रतिबिम्ब भाव से कृष्ण-लेश्या नीललेश्या होती है लेकिन वास्तविक रूप में तो कृष्णलेश्या ही है; नील-लेश्या नहीं हुई है; क्योंकि कृष्णलेश्या अपने स्वरूप को छोड़ती नहीं है । जिस प्रकार दर्पण में किसी का प्रतिबिम्ब पड़ने से वह उस रूप नहीं हो जाता है लेकिन दर्पण ही रहता है, प्रतिबिम्बित वस्तु का प्रतिबिम्ब या छाया जरूर उसमें दिखाई देता है ।

ऐसे स्थल में जहाँ कृष्णलेश्या अपने स्वरूप में रहकर !अवत्वकृते—उत्वकृते! नीललेश्या के आकार भाव मात्र को धारण करने से या उसके प्रतिबिम्ब भाव मात्र को धारण करने से उत्सर्पण करती है—नीललेश्या को प्राप्त होती है । कृष्णलेश्या से नीललेश्या विशुद्ध है उससे उनके आकार भाव मात्र या प्रतिबिम्ब भाव मात्र को धारण करती कुछ एक विशुद्ध होती है अतः उत्सर्पण करती है; नील लेश्यत्व को प्राप्त होती है ऐसा कहा है ।

२०.७ लेश्या आत्मा सिवाय अन्यत्र परिणत नहीं होती है

अहं भंते ! पाणाइवाए मुसावाए जाव मिच्छादंसणसल्ले, पाणाइ-
वायवेरमणे जाव मिच्छादंसणसल्लविवेगे, उत्पत्तिया जाव पारि-
णामिया, उग्गहे जाव धारणा, उट्ठाणे-कम्म-बले-वीरिए-पुरिसक्कार-
परक्कमे, नेरइयत्ते असुरकुमारत्ते जाव वेमाणियत्ते, णाणावरणिज्जे
जाव अन्तराइए, कणहलेस्सा जाव सुक्कलेस्सा, सम्मदिट्ठी-मिच्छा-
दिट्ठी - सम्ममिच्छादिट्ठी, चक्खुदंसणे - अचक्खुदंसणे - ओहीदंसणे-
केवलदंसणे, आभिणिबोहियणाणे जाव विभंगणाणे, आहारसन्ना-
भयसन्ना-मैथुनसन्न-परिग्गहसन्ना, ओरालियसरीरे वेउव्वियसरीरे
आहारगसरीरे तेयएसरीरे कम्मएसरीरे, मणजोगे-वइजोगे-कायजोगे,
सागारोवओगे अणागारोवओगे जे यावन्ने तहप्पगारा सव्वे ते
णणत्थ आयाए परिणमंति ? हंता गोयमा ! पाणाइवाए जाव सव्वे
ते णणत्थ आयाए परिणमंति ।

—भग० श २० । उ ३ । सू १ । पृ० ७६२

प्राणातिपातादि १८ पाप, प्राणातिपातादि १८ पापों का विरमण,
ओत्पात्तिकी आदि ४ बुद्धि, अवग्रह यावत् धारणा, उत्थान, कर्म, बल; वीर्य,
पुष्पाकारपराक्रम, नारकादि २४ दण्डक-अवस्था, ज्ञानावरणीय आदि कर्म,
कृष्णादि ब्रह्म लेश्या, तीन दृष्टि, चार दर्शन, पांच ज्ञान, तीन अज्ञान, चार
संज्ञा, पांच शरीर, तीन योग, साकार उपयोग, अनाकार उपयोग इत्यादि अन्य
इसी प्रकार के सर्व आत्मा के सिवाय अन्यत्र परिणत नहीं होते हैं । यह पाठ
द्रव्य और भाव दोनों लेश्याओं में लागू होना चाहिये ।



२१ द्रव्य लेश्या और स्थान

(क) केवइया णं भंते ! कणहलेस्सा ठाणा पन्नत्ता ? गोयमा !
असंखेज्जा कणहलेस्सा ठाणा पन्नत्ता एवं जाव सुक्कलेस्सा ।

—पण्ण० प १७ । उ ४ । सू १२४६ । पृ० २६८

(ख) असंखिज्जाणोसप्पिणीण, उस्सप्पिणीण जे समथा ।

संखाईया लोगा, लेसाण हवन्ति ठाणाइं ॥

—उत्त० अ ३४ । गा ३३ । पृ० १०४७

कृष्णलेश्या यावत् शुक्ललेश्या के असंख्यात स्थान होते हैं । असंख्यात अव-
सर्पिणी तथा उत्सर्पिणी में जितने समय होते हैं अथवा असंख्यात लोकाकाश के
जितने प्रदेश होते हैं उतने लेश्याओं के स्थान होते हैं ।

(ग) लेस्सद्वाणेषु संकिलिस्समाणेषु २ कण्हलेस्सं परिणमइ २ त्ता
कण्हलेस्सेसु नेरइएसु उववज्जन्ति × × × लेस्सद्वाणेषु संकिलिस्स-
माणेषु वा विसुज्झमाणेषु नीललेस्सं परिणमइ २ त्ता नीललेस्सेसु
नेरइएसु उववज्जन्ति ।

—भग० श १३ । उ १ । सू १६ तथा २० का उत्तर । पृ० ६७६

लेश्या स्थान से संकिलिष्ट होते-होते कृष्णलेश्या में परिणमन करके जीव
कृष्णलेशी नारक में उत्पन्न होता है । लेश्या स्थान से संकिलिष्ट होते-होते या
विशुद्ध होते-होते नीललेश्या में परिणमन करके नीललेशी नारक में उत्पन्न
होता है ।

द्रव्यलेश्या की अपेक्षा यदि विवेचन किया जाय तो द्रव्यलेश्या के असंख्यात
स्थान हैं तथा वे स्थान पुद्गल की मनोज्ञता-अमनोज्ञता, दुर्गन्धता-सुगन्धता,
विशुद्धता-अविशुद्धता तथा शीतरक्षता—स्निग्धउष्णता की हीनाधिकता की अपेक्षा
कहे गये हैं ।

भावलेश्या की अपेक्षा यदि विवेचन किया जाय तो एक-एक लेश्या की विशुद्धि-
अविशुद्धि की हीनाधिकता से किये गये भेद रूप स्थान—कालोपमा की अपेक्षा
असंख्यात अवसर्पिणी उत्सर्पिणी के जितने समय होते हैं अथवा क्षेत्रोपमा की
अपेक्षा असंख्यात लोकाकाश के जितने प्रदेश होते हैं उतने भावलेश्या के स्थान
होते हैं ।

भावलेश्या के स्थानों के कारणभूत कृष्णादि लेश्या-द्रव्य हैं । द्रव्यलेश्या के
स्थान के बिना भावलेश्या का स्थान बन नहीं सकता है । जितने द्रव्यलेश्या के
स्थान होते हैं उतने ही भावलेश्या के स्थान होने चाहिये ।

प्रज्ञापना के टीकाकार श्री मलयगिरि ने प्रज्ञापना का विवेचन द्रव्यलेश्या की
अपेक्षा माना है तथा उत्तराख्ययन का विवेचन भावलेश्या की अपेक्षा माना है ।

२२ द्रव्य लेश्या की स्थिति

२२'१ कृष्णलेश्या की स्थिति

मुहुत्तद्धं तु जहन्ना, तेत्तीसं सागरा मुहुत्तऽहिया ।
उक्कोसा होइ ठिई, नायव्वा कण्हलेस्साए ॥

—उत्त० अ ३४ । गा ३४ । पृ० ३१०

कृष्णलेश्या की स्थिति जघन्य अन्तमुहूर्त और उत्कृष्ट एक मुहूर्त अधिक तैतीस सामरोपम की होती है ।

२२'२ नीललेश्या की स्थिति

मुहुत्तद्धं तु जहन्ना, दसउदही पलियमसंखमभागम्भहिया ।
उक्कोसा होइ ठिई, नायव्वा नीललेस्साए ॥

—उत्त० अ ३४ । गा ३५ । पृ० ३१०

नीललेश्या की स्थिति जघन्य अन्तमुहूर्त और उत्कृष्ट पत्योपम के असंख्यातवें भाग अधिक दस सागरोपम की होती है ।

२२'३ कापोतलेश्या की स्थिति

मुहुत्तद्धं तु जहन्ना, तिण्णुदही पलियमसंखभागमम्भहिया ।
उक्कोसा होइ ठिई, नायव्वा काऊलेसाए ॥

—उत्त० अ ३४ । गा ३६ । पृ० १०४७

कापोतलेश्या की स्थिति जघन्य अन्तमुहूर्त तथा उत्कृष्ट पत्योपम के असंख्यातवें भाग अधिक तीन सागरोपम की होती है ।

२२'४ तेजोलेश्या की स्थिति

मुहुत्तद्धं तु जहन्ना, दोण्णुदही पलियमसंखभागमम्भहिया ।
उक्कोसा होइ ठिई, नायव्वा तेऊलेसाए ॥

—उत्त० अ ३४ । गा ३७ । पृ० १०४७

तेजोलेश्या की स्थिति जघन्य अन्तमुहूर्त तथा उत्कृष्ट पत्योपम के असंख्यातवें भाग अधिक दो सागरोपम की होती है ।

*२२*५ पद्मलेश्या की स्थिति

मुहुत्तद्धं तु जहन्ना, दसउदही होइ मुहुत्तमब्भहिया ।
उक्कोसा होइ ठिई, नायव्वा पम्ह्लेसाए ॥

—उत्त० अ ३४ । गा ३८ । पृ० १०४७

पाठान्तर—दस हौति य सागरा मुहुत्तहिया ।

—द्वितीय चरण

पद्मलेश्या की स्थिति जघन्य अन्तमुहूर्त तथा उत्कृष्ट अन्तमुहूर्त अधिक दस सागरोपम की होती है ।



*२२*६ शुक्ललेश्या की स्थिति

मुहुत्तद्धं तु जहन्ना, तेत्तीसं सागरा मुहुत्तहिया ।
उक्कोसा होइ ठिई, नायव्वा सुक्कलेसाए ॥

—उत्त० अ ३४ । गा ३९ । पृ० १०४७

शुक्ललेश्या की स्थिति जघन्य अन्तमुहूर्त तथा उत्कृष्ट अन्तमुहूर्त अधिक तेत्तीस सागरोपम की होती है ।

एसा खलुं लेसाणं, ओहेण ठिई (उ) वण्णिथा होइ ।

—उत्त० अ ३४ । गा ४० पूर्वार्ध । पृ० १०४७

इस प्रकार औविक (सामान्यतः) लेश्या की स्थिति कही है ।

समुच्चय गाथा

कालो छल्लेसाणं णाणाजीवं पडुच्च सव्वद्धा ।
अंतोमुहुत्तभवरं एगं जीवं पडुच्च हवे ॥५५०॥
अवहीणं तेत्तीसं सत्तर सत्तेव हौति दो चेव ।
अट्टारस तेत्तीसा उक्कस्सा हौति आदिरेया ॥५५१॥

—गोजी० गाथा ५५०-५५१

नाना जीवों की अपेक्षा कृष्णादि छहों लेश्याओं का काल सर्वकाल रूप है तथा एक जीव की अपेक्षा छहों लेश्याओं का जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त रूप है। उत्कृष्ट काल कृष्ण लेश्या का तैंतीस सागर, नीललेश्या का सत्रह सागर, कापोत लेश्या का सात सागर, तेजोलेश्या का दो सागर, पद्मलेश्या का अठारह सागर और शुक्ल लेश्या का तैंतीस सागर से कुछ अधिक है।

२३ द्रव्य लेश्या और भाव

आगमों में द्रव्यलेश्या के भाव सम्बन्धी कोई पाठ नहीं है। लेकिन पुद्गल द्रव्य होने के कारण इसका 'पारिणामिक' भाव है।

—अणुओ०

२४ लेश्या और अन्तरकाल

(क) कणह्लेसस्स णं भंते ! अन्तरं कालओ केवचिरं होइ ? जहन्नेणं अन्तोमुहुत्तं, उक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोपमाइं अन्तोमुहुत्तमन्भहियाइं, एवं नीललेसस्सवि, काऊलेसस्सवि ; तेऊलेसस्सणं भंते ! अन्तरकालओ केवचिरं होइ ? जहन्नेणं अन्तोमुहुत्तं, उक्कोसेणं वणस्सइकालो, एवं पम्हलेसस्सवि, सुक्कलेसस्सवि दोणहवि एवमंतरं, अलेसस्स णं भंते ! अन्तरकालओ केवचिरं होइ ? गोयमा ! साइयस्स अपज्जवसियस्स नत्थि अन्तरं ।

—जीवा० प्रति ६। गा २६६। पृ० २५८

कृष्णलेश्या, नीललेश्या, कापोतलेश्या का अन्तरकाल जघन्य अन्तर्मुहूर्त तथा उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त अधिक तैंतीस सागरोपमा है तथा तेजोलेश्या का अन्तरकाल जघन्य अन्यर्मुहूर्त तथा उत्कृष्ट वनस्पति काल है तथा पद्मलेश्या और शुक्ललेश्या का अन्तरकाल तेजोलेश्या के अन्तरकाल के समान होता है। अलेशी सादि अपर्यवसित है तथा अन्तरकाल नहीं है।

यह विवेचन जीव की अपेक्षा है, द्रव्यलेश्या, भावलेश्या दोनों पर लागू हो सकता है।

(ख) अन्तरमरुक्कसं किण्हतियाणं मुहुत्तअन्तं तु।

उवहीणं तेत्तीसं अहियं होदि त्ति णिदिट्ठं ॥५५२॥

तेजतियाणं एवं णवरि य उक्कस्स विरहकालो दु ।

पोग्गलपरियट्ठा हु असंखेज्जा होंति णियमेण ॥५५३॥

—गोजी० गा० ५५२-५३

कृष्णादि तीन प्रथम लेश्या का जघन्य अन्तरकाल अन्तर्मुहूर्त है तथा उत्कृष्ट कुछ अधिक तैतीस सागरोपम है । तेजो आदि तीन शुभलेश्याओं का अन्तरकाल भी इसी प्रकार है परन्तु कुछ विशेषता है । शुभलेश्याओं का उत्कृष्ट अन्तरकाल नियम से असंख्यात पुद्गल परावर्तन है ।

२५ तपोलब्धि से प्राप्त तेजोलेश्या

२५.१ तपोलब्धि से प्राप्त तेजोलेश्या पौद्गलिक है

(क) तिहिं ठाणेहिं समणे निगंथे संखित्तविउल्लतेउल्लेस्से भवइ, तं जहा—आयावणयाए, खंतिखमाए, अपाणमेणं तवोकम्मेणं ।

—ठाण० स्था ३ । उ ३ । सू ३८६ । पृ० ५७६

तीन स्थान—प्रकार से श्रमण निर्ग्रन्थ को संक्षिप्त-विपुल तेजोलेश्या की प्राप्ति होती है, यथा—(१) आतापन (शीत तपपादि सहन) से, (२) क्षांतिक्षमा (क्रोधनिग्रह) से, (३) अपान-केत तपकर्म (छट्ट-छट्ट भक्त तपस्या) से ।

(ख) गौतम गणधर तथा अन्य अणगारों के विशेषणों में स्थान-स्थान पर 'संखित्तविउल्लतेउल्लेस्से' ससमास विशेषण शब्द का व्यवहार हुआ है ।

—भग० श १ । उ १ । प्रश्नोत्थान सू ६ । पृ० ३८४

(हमने यहाँ एक ही संदर्भ दिया है लेकिन अनेक स्थानों में इस ससमास विशेषण शब्द का व्यवहार हुआ है, अर्थ और भाव सब जगह एक ही हैं ।)

(ग) कुद्धस्स अणगारस्स तेयलेस्सा निसट्ठा समाणी दूरं गया, दूरं निपतति ; देसं गया, देसं निपतति ; जहिं जहिं च णं सा निपतति तहिं तहिं णं ते अचित्ता वि पोग्गला ओभासेंति जाव पभासेंति ।

—भग० श ७ । उ १० । सू ११ । पृ० ५३०

क्रुधित अणगार के द्वारा निक्षिप्त तेजोलेश्या दूर या पास जहाँ जहाँ जाकर गिरती है वहाँ वहाँ वे अचित्त पुद्गल द्रव्य अवभास यावत् प्रभास करते हैं ।

इससे यह स्पष्ट होता है कि तपोलब्धि से प्राप्त तेजोलेइया प्रायोगिक द्रव्य-लेइया—पौद्गलिक है । यह छभेदी लेइया की तेजोलेइया से भिन्न है ऐसा प्रतीत होता है ।

*२५*२ यह तेजोलेइया दो प्रकार की होती है, यथा—(१) सीओसिणतेऊलेस्सा, (२) सीयलिय तेऊलेस्सा ।

(१) शीतोष्ण तेजोलेइया, (२) शीतल तेजोलेइया । इनका उदाहरण भगवान महावीर के जीवन में मिलता है ।

तए णं अहं गोयमा ! गोसालस्स मंखलिपुत्तस्स अणुकंपणट्टयाए वेसियायणस्स बालतवस्सिसस्स सीओसिणतेऊलेस्सा (तेय) पडिसा-हरणट्टयाए एत्थ णं अन्तरा अहं सीयलियं तेऊलेस्सं निसिरामि, जाए सा ममं सीयलियाए तेऊलेस्साए वेसियायणस्स बालतवस्सिसस्स सीओसिणा (सा उसिणा) तेऊलेस्सा पडिहया, तए णं से वेसियायणे बालतवस्सी ममं सीयलियाए तेऊलेस्साए सीओसिणं तेऊलेस्सं पडिहयं जाणित्ता गोसालस्स मंखलिपुत्तस्स सरीरगस्स किंचि आबाहं वा वाबाहं वा छविच्छेदं वा अकीरमाणं पासित्ता सीओसिणं तेऊलेस्सं पडिसाहरइ । (सीओसिणं पाठान्तर उसिणं)

—भग० श १५ । सू० ६५ । पृ० ६६७

तब, हे गौतम ! मंखलिपुत्र गोशालक पर अनुकम्पा लाकर वैश्यायन बालतपस्वी की (निक्षिप्त) तेजोलेइया का प्रतिसंहार करने के लिये मैंने शीत तेजो-लेइया बाहर निकाली और मेरी शीत तेजोलेइया ने वैश्यायन बालतपस्वी की उष्ण तेजोलेइया का प्रतिघात किया । तत्पश्चात् वैश्यायन बालतपस्वी ने मेरी शीत तेजोलेइया से अपनी उष्ण तेजोलेइया का प्रतिघात हुआ समझकर तथा मंखलीपुत्र गोशालक के शरीर को थोड़ी या अधिक किसी प्रकार की पीड़ा या उसके अवयव का छविच्छेद न हुआ जानकर अपनी उष्ण तेजोलेइया को वापस खींच लिया ।

यहाँ यह बात नोट करने की है कि उष्ण तेजोलेइया को फेंककर वापस खींचा भी जा सकता है ।

‘२५’३ तपोकर्म से तेजोलेश्या प्राप्ति का उपाय

कहणं भंते ! संखित्तविउलतेउलेस्से भवइ ? तए णं अहं गोयमा ! गोसालं मंखलिपुत्तं एवं वयासी—जेणं गोसाला ! एगाए सणहाए कुम्मासपिडियाए एगेण य वियडासएणं छट्ठं छट्ठेणं अणिक्वत्तेणं तवोकम्मेणं उड्डं बाहाओ पगिज्झिय पगिज्झिय जाव विहरइ । से णं अन्तो छण्हं मासाणं संखित्तविउलतेउलेस्से भवइ, तए णं से गोसाले मंखलिपुत्ते ममं एयमट्ठं सम्मं विणएणं पडिसुणेइ ।

—भग० श १५ । सू० ६ । पृ० ७१५

संक्षिप्त-विपुल तेजोलेश्या किस प्रकार प्राप्त होती है ? नखसहित जली हुई उड़द की दाल के बाकले मुट्टी भर तथा एक चूल्नु भर पानी पीकर जो निरन्तर छट्ट-छट्ट भक्त तप ऊर्ध्व हाथ रखकर करता है, विहरता है उसको छः मास के अन्त में संक्षिप्त-विपुल तेजोलेश्या की प्राप्त होती है ।

संक्षिप्त-विपुल का भाव टीकाकार अभयदेवसूरि ने इस प्रकार वर्णन किया है ।

संक्षिप्त—अप्रयोगकाल में संक्षिप्त ।

विपुल—प्रयोगकाल में विस्तीर्ण ।

‘२५’४ तपोलब्धि जन्य तेजोलेश्या में घात-भस्म करने की शक्ति

जावइए णं अज्जो ! गोसालेणं मंखलिपुत्तेणं ममं बहाए सरीरगंसि तेये निसट्ठे, से णं अलाहि पज्जत्ते सोलसण्हं जणवयाणं, तं जहा—अंगाणं, वंगाणं, मगहाणं, मलयाणं, मालवगाणं, अच्छाणं, वच्छाणं, कोच्छाणं, पाढाणं, लाढाणं, वज्जीणं, मोलीणं, कासीणं, कोसलाणं, अवाहाणं, संभुत्तराणं, चायाए, वहाए, उच्छादणयाए, भासी-करणयाए ।

—भग० श १५ । सू० २२१ । पृ० ६८५

भगवान महावीर ने श्रमण निग्नथों को बुलाकर कहा—हे आर्यों ! मंखलि-पुत्र गोशालक से मुझे वध करने के लिये अपने शरीर से जो तेजोलेश्या निकाली थी वह अंग, वंगादि १६ देशों का घात करने, वध करने, उच्छेद करने तथा भस्म करने में समर्थ थी ।

इसके आगे के कथानक में गोशालक ने अपने शरीर से तेजोलेश्या को निकाल कर, फेंककर सर्वानुभूति तथा मुनक्षत्र अणगारों को भस्म कर दिया था। उसके पाठ इसी उद्देशक में सू० १६ तथा १७ में है।

—भग० श १५। सू० १६, १७। पृ० ७२४

*२५*५ श्रमण निर्ग्रन्थ की तेजोलेश्या तथा देवताओं की तेजोलेश्या

जे इमे भंते ! अज्जत्ताए समणा निग्गंथा विहरंति एए णं कस्स तेऊलेस्सं वीइवयंति ? गोयमा ! मासपरियाए समणे निग्गंथे वाणमंतराणं देवाणं तेऊलेस्सं वीइवयइ, दुमासपरियाए समणे निग्गंथे असुरिदवज्जियाणं भवणवासीणं देवाणं तेऊलेस्सं वीइवयइ, एवं एए णं अभिलावेणं तिमासपरियाए समणे निग्गंथे असुरकुमाराणं देवाणं तेऊलेस्सं वीइवयइ, चउमासपरियाए समणे निग्गंथे गहगण-नक्खत्त-तारारूवाणं जोइसियाणं देवाणं तेऊलेस्सं वीइवयइ, पंचमासपरियाए समणे निग्गंथे चंदिम-सुरियाणं जोइसिदाणं जोइसराईणं तेऊलेस्सं वीइवयइ, छमासपरियाए समणे निग्गंथे सोहम्मीसाणाणं देवाणं तेऊलेस्सं वीइवयइ, सत्तमासपरियाए समणे निग्गंथे सणकुमारमाहिं-दाणं देवाणं तेऊलेस्सं वीइवयइ, अट्टमासपरियाए समणे निग्गंथे बंभलोगलंतगाणं देवाणं तेऊलेस्सं वीइवयइ, नवमासपरियाए समणे निग्गंथे महासुक्कसहस्साराणं देवाणं तेऊलेस्सं वीइवयइ, दसमास-परियाए समणे निग्गंथे आणयपाणयआरणच्चुयाणं देवाणं तेऊलेस्सं वीइवयइ, एक्कारसमासपरियाए समणे निग्गंथे गेवेज्जगाणं देवाणं तेऊलेस्सं वीइवयइ, बारसमासपरियाए समणे निग्गंथे अणुत्तरवे-वइयाणं देवाणं तेऊलेस्सं वीइवयइ, तेण परं सुक्के सुक्काभिजाए भवित्ता-तओ पच्छा सिब्भइ जाव अन्तं करेइ । (तेऊ—पाठांतर तेय)

—भग० श १४। उ ६। सू १२। पृ० ७०७

जो यह श्रमण निर्ग्रन्थ आर्यत्व अर्थात् पापरहितत्व में विहरता है वह यदि एक मास की दीक्षा की पर्यायवाला हो तो वाणव्यन्तर देवों की तेजोलेश्या • को अतिक्रम करता है ; दो मास की पर्यायवाला असुरेन्द्र बाद भवनपति देवताओं

• तेजोलेश्या का यहाँ टोकाकार ने "सुखासिकाम" अर्थ किया है।

की तेजोलेश्या का अनिक्रम करता है ; तीन मास की पर्यायवाला हो तो असुर-कुमार देवों की ; चार मास की पर्यायवाला ग्रहगण, नक्षत्र एवं तारागणरूप ज्योतिष्क देवों की ; पांच मास की पर्यायवाला ज्योतिषकों के इन्द्र, ज्योतिषकों के राजा (चन्द्र-सूर्य) की ; छः मास की पर्यायवाला सौधर्म और ईशानवासी देवों की ; सात मास की पर्यायवाला सनत्कुमार और माहेन्द्र देवों की ; आठ मास की पर्यायवाला ब्रह्मलोक और लांतक देवों की ; नव मास की पर्यायवाला महाशुक्र और सहस्रार देवों की ; दस मास की पर्यायवाला आनत, प्राणत, आरण और अच्युत देवों की ; ग्यारह मास की पर्यायवाला ग्रैयेयक देवों की तथा बारह मास की दीक्षा की पर्यायवाला पापरहित रूप विहरनेवाला श्रमण निर्ग्रन्थ अनुत्तरोपापातिक देवों की तेजोलेश्या को अतिक्रम करता है ।

२६ द्रव्य लेया और दुर्गति-सुगति

(क) कण्हा नीला काऊ, तिन्नि वि एयाओ अहम्मलेसाओ ।

एयाहि तिहि वि जीवो, दुग्गइ उववज्जई बहुसो ॥

तेऊ पम्हा सुक्का, तिन्नि वि एयाओ धम्मलेसाओ ।

एयाहि तिहि वि जीवो, सुग्गइ उववज्जई बहुसो ॥

—उत्त० अ ३४ । गा ५६-५७ । पृ० १०४८

(ख) [तओ लेस्साओ × × × पन्नत्ताओ तं जहा—कण्हलेसा, नीललेस्सा, काऊलेसा, तओ लेस्साओ × × × पन्नत्ताओ तं जहा—तेऊ, पम्हा, सुक्कलेस्सा] एवं (तिन्नि) दुग्गइगामिणीओ (तिन्नि) सुग्गइगामिणीओ ।

—ठाण स्था ३ । उ ४ । सू २२ । पृ० २२०

(ग) तओ दुग्गइगामियाओ (कण्ह, नील, काऊ) तओ सुग्गइगामियाओ (तेऊ, पम्हा, सुक्कलेस्साओ) ।

—पण्ण० प १७ । उ ४ । सू १२४१ । पृ० २६७

कृष्ण, नील तथा कापोत लेश्याएँ दुर्गति में जाने की हेतु हैं तथा तेजो, पद्म और शुक्ल लेश्याएँ सुगति में जाने की हेतु हैं ।

ये पाठ द्रव्य और भाव दोनों में लागू हो सकते हैं। स्थानांग तथा प्रज्ञापना में द्रव्य तथा भाव दोनों के गुणों का मिश्रित विवेचन है। प्रज्ञापना के टीकाकार मलयगिरि का कथन है कि लेश्या अध्यवसायों की हेतु है और संक्लिष्ट-असं-क्लिष्ट अध्यवसायों से जीव दुर्गति-मुगति को प्राप्त होता है। यह विवेचनीय विषय है।

२७ लेश्या के छ भेद और पंच (पुद्गल) वर्ण

(क) एयाओ णं भंते ! छल्लेस्साओ कइसु वन्नेसु साहिज्जंति ? गोयमा ! पंचसु वन्नेसु साहिज्जंति, तं जहा—कण्हलेस्सा कालएणं वन्नेणं साहिज्जइ, नीललेस्सा नीलवन्नेणं साहिज्जइ, काउलेस्सा काललोहिणं वन्नेणं साहिज्जइ, तेउलेस्सा लोहिणं वन्नेणं साहिज्जइ, पम्हलेस्सा हालिइएणं वन्नेणं साहिज्जइ, सुक्कलेस्सा सुक्किल्लएणं वन्नेणं साहिज्जइ ।

—पण्ण० प १७ । उ ४ । सू १२३२ । पृ० २६५

कृष्णलेश्या काले वर्ण की है, नीललेश्या नीले वर्ण की है, कापोतलेश्या कालालोहित वर्ण की है, तेजोलेश्या लोहित वर्ण की है, पद्मलेश्या पीले वर्ण की है, शुक्ललेश्या श्वेत वर्ण की है।

(ख) सरीरेसु सञ्चवण्णपोग्गलेसु संतेसु कथमेदस्स सरीरस्स एसा चेव लेस्सा होदि त्ति णियमो ? ण एस दोसो, उक्कट्टवण्णं पडुच्च तण्णिहेसादो । तं जहा—कालयवण्णुकट्टं जं सरीरं तं किण्णलेस्सियं । णीलवण्णुकट्टं जं तं णीललेस्सियं । लोहियवण्णुकट्टं जं सरीरं तं तेउलेस्सियं । हालिइवण्णुकट्टं पम्मलेस्सियं । सुक्किल्लवण्णुकट्टं सुक्कलेस्सियं । एदेहि वण्णेहि वज्जिय वण्णंतरावण्णं काउलेस्सियं ।

—षट्० पु १६ । पृ० ४८६-८७

यद्यपि जीव-शरीर में अनेक वर्णों के पुद्गल विद्यमान रहते हैं फिर इस शरीर की लेश्या एक ही वर्ण की होती है—ऐसा नियम क्यों किया गया है ? एक वर्ण की उत्कृष्टता की अपेक्षा ऐसा नियम किया गया है। जिस शरीर में काले वर्ण की उत्कृष्टता होती है वह कृष्णलेशी, जिसमें नीले वर्ण की उत्कृष्टता होती

है वह नीललेशी, जिसमें लोहित—लाल वर्ण की उत्कृष्टता होती है वह तेजो-लेशी, जिसमें हरिद्रा—पीत वर्ण की उत्कृष्टता होती है वह पद्मलेशी तथा जिसमें शुक्ल वर्ण की उत्कृष्टता होती है वह शुक्ललेशी है। इन वर्णों को छोड़कर वर्णान्तर को प्राप्त शरीर कापोतलेशी है।

२८ द्रव्य लेइया और जीव के उत्पत्ति-मरण के नियम

'२८'१ द्रव्यलेइया का ग्रहण और जीव के उत्पत्ति-मरण के नियम

(क) से किं तं लेसाणुवायगइ ? लेसाणुवायगइ जल्लेसाइं दव्वाइं परियाइत्ता कालं करेइ तल्लेसेसु उववज्जइ, तं जहा—कण्हलेसेसु वा जाव सुक्कलेसेसु वा, से तं लेसाणुवायगइ ।

—पण्ण० प १६ । उ १ । सू १११७ । पृ० २७२

(ख) जीवे णं भंते ! जे भविण् नेरइएसु उववज्जित्तए से णं भंते ! किं लेस्सेसु उववज्जइ ? गोयमा ! जल्लेसाइं दव्वाइं परियाइत्ता कालं करेइ तल्लेसेसु उववज्जइ, तं जहा—कण्हलेसेसु वा नीललेसेसु वा काउलेसेसु वा ; एवं जस्स जा लेस्सा सा तस्स भाणियव्वा । जाव जीवे णं भंते ! जे भविण् जोइसिएसु उववज्जित्तए ? पुच्छा, गोयमा ! जल्लेसाइं दव्वाइं परियाइत्ता कालं करेइ तल्लेसेसु उववज्जइ, तं जहा—तेउलेस्सेसु । जीवे णं भंते ! जे भविण् वेमाणिएसु उववज्जित्तए से णं भंते ! किं लेस्सेसु उववज्जइ ? गोयमा ! जल्लेसाइं दव्वाइं परियाइत्ता कालं करेइ तल्लेसेसु उववज्जइ ; तं जहा—तेउलेसेसु वा पम्हलेसेसु वा सुक्कलेसेसु वा ।

—भग० श ३ । उ ४ । सू १७, १८, १९ । पृ० ४५६

लेइया अनुपातगति विहायगति का १२वॉ भेद है। (देखो पण्ण० प १६ । सू १४ । पृ० ४३२-३) जिस लेइया के द्रव्यों को ग्रहण करके जीव काल करता है वह उसी लेइया में जाकर उत्पन्न होता है, इसे लेइया की अनुपातगति कहते हैं।

जो जीव जिस लेइया के द्रव्यों को ग्रहण करके काल करता है वह उसी लेइया में जाकर उत्पन्न होता है। भविक नारक कृष्ण, नील या कापोत लेइया ;

भविक ज्योतिषी देव तेजोलेश्या, भविक वैमानिक देव तेजो, पद्म या शुक्ललेश्या के द्रव्यों का ग्रहण करके जिस लेश्या में काल करता है उसी लेश्या में उत्पन्न होता है । या दण्डक में जिस जीव के जो लेश्यायें कहीं गई है उसी प्रकार कहना ।

(ग) जो जाए परिणमित्ता लेस्साए संजुदो कुणइ कालं ।

तल्लेस्सो उववज्जइ तल्लेस्से चेव सो सग्गो ॥१६२२॥

—मूला० आ ७ । गा १६२२ । पृ० १७०८

विजयोदया—जो जाए यो यया लेश्यया परिणतः कालं करोति, स तल्लेश्य एवोपजायते, तल्लेश्यासमन्विते स्वर्गे ।

जो जीव जिस लेश्या में से परिणत होकर मरण को प्राप्त होता है, वह उसी लेश्या में उत्पन्न होता है और उस लेश्या से समन्वित स्वर्ग में जाकर उत्पन्न होता है ।

यहाँ यह स्पष्ट नहीं है कि यह द्रव्यलेश्या का वर्णन है या भावलेश्या का ।

*२८*२ द्रव्यलेश्या का परिणमन और जीव के उत्पत्ति-मरण के नियम

लेसाहिं सव्वाहिं, पढमे समयम्मि परिणयाहिं तु ।

न हु कस्सई उववाओ, परे भवे अत्थि जीवस्स ॥

लेसाहिं सव्वाहिं, चरिमे समयम्मि परिणयाहिं तु ।

न हु कस्सइ उववाओ, परे भवे अत्थि जीवस्स ॥

अंतमुहुत्तम्मि गए, अंतमुहुत्तम्मि सेसए चेव ।

लेसाहिं परिणयाहिं, जीवा गच्छन्ति परलोयं ॥

—उत्त० अ ३४ । गा ५८, ५९, ६० । पृ० १०४८

सभी लेश्याओं की प्रथम समय की परिणति में किसी भी जीव की परभव में उत्पत्ति नहीं होती है तथा सभी लेश्याओं की अन्तिम समय की परिणति में भी किसी जीव की परभव में उत्पत्ति नहीं होती है । लेश्या की परिणति के बाद अन्तर्मुहूर्त बीतने पर और अन्तर्मुहूर्त शेष रहने पर जीव परलोक में जाता है ।



२९ लेश्या-स्थानों का अल्प-बहुत्व

'२९'१ जघन्य स्थानों में द्रव्यार्थ, प्रदेशार्थ तथा द्रव्य-प्रदेशार्थ अल्प-बहुत्व

एसि णं भंते ! कण्हेस्साठाणाणं जाव सुकलेस्साठाणाण य जहन्नगाणं दव्वट्ठयाए पएसट्ठयाए दव्वपएसट्ठयाए कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा ?

गोयमा ! सव्वत्थोवा जहन्नगा काऊलेस्साठाणा दव्वट्ठयाए, जहन्नगा नीललेस्साठाणा दव्वट्ठयाए असंखेज्जगुणा ; जहन्नगा कण्हेस्साठाणा दव्वट्ठयाए असंखेज्जगुणा, जहन्नगा तेऊलेस्साठाणा दव्वट्ठयाए असंखेज्जगुणा, जहन्नगा पम्हलेस्साठाणा दव्वट्ठयाए असंखेज्जगुणा, जहन्नगा सुकलेस्साठाणा दव्वट्ठयाए असंखेज्जगुणा ।

पएसट्ठयाए—सव्वत्थोवा जहन्नगा काऊलेस्साठाणा पएसट्ठयाए, जहन्नगा नीललेस्साठाणा पएसट्ठयाए असंखेज्जगुणा, जहन्नगा कण्हेस्साठाणा पएसट्ठयाए असंखेज्जगुणा, जहन्नगा तेऊलेस्साठाणा पएसट्ठयाए असंखेज्जगुणा, जहन्नगा पम्हलेस्साठाणा पएसट्ठयाए असंखेज्जगुणा, जहन्नगा सुकलेस्साठाणा पएसट्ठयाए असंखेज्जगुणा ।

दव्वट्ठपएसट्ठयाए—सव्वत्थोवा जहन्नगा काऊलेस्साठाणा दव्वट्ठयाए, जहन्नगा नीललेस्साठाणा दव्वट्ठयाए असंखेज्जगुणा, एवं कण्हेस्सा, तेऊलेस्सा, पम्हलेस्सा, जहन्नगा सुकलेस्साठाणा दव्वट्ठयाए असंखेज्जगुणा, जहन्नएहिंतो सुकलेस्साठाणेहिंतो दव्वट्ठयाए जहन्नगा काऊलेस्साठाणा पएसट्ठयाए असंखेज्जगुणा, जहन्नगा नीललेस्साठाणा पएसट्ठयाए असंखेज्जगुणा, एवं जाव सुकलेस्साठाणा ।

—पण्ण० प १७ । उ ४ । सू १२४७ । पृ० २९८

द्रव्यार्थ रूप में—जघन्य कापोतलेश्या स्थान सबसे कम है, जघन्य नीललेश्या स्थान उससे असंख्यातगुण हैं, जघन्य कृष्णलेश्या स्थान उससे असंख्यातगुण है, जघन्य तेजोलेश्या स्थान उससे असंख्यातगुण है, जघन्य पद्मलेश्या स्थान उससे असंख्यातगुण है, जघन्य सुकललेश्या स्थान उससे असंख्यातगुण है ।

इसी प्रकार प्रदेशार्थ रूप में जानना चाहिए ।

द्रव्यार्थ-प्रदेशार्थ रूप में—जघन्य कापोतलेश्या स्थान द्रव्य रूप से सबसे कम है, जघन्य नीललेश्या स्थान द्रव्य रूप से उससे असंख्यातगुण है। इसी प्रकार कृष्णलेश्या, तेजोलेश्या और पद्मलेश्या के विषय में जानना चाहिए। जघन्य शुक्ल-लेश्या स्थान द्रव्य रूप से असंख्यातगुण है। जघन्य द्रव्यार्थ शुक्ललेश्या स्थान से जघन्य कापोतलेश्या प्रदेशार्थ स्थान असंख्यातगुण है, उससे जघन्य नीललेश्या प्रदेशार्थ स्थान असंख्यातगुण है, इसी प्रकार यावत् शुक्ललेश्या तक जानना।

'२६'२ उत्कृष्ट स्थानों में द्रव्यार्थ, प्रदेशार्थ, द्रव्य-प्रदेशार्थ अल्पबहुत्व

एएसि णं भंते ! कण्हलेस्साठाणाणं जाव सुक्कलेस्साठाणाण य उक्कोसगाणं दव्वट्ठयाए एएसट्ठयाए दव्वट्ठपएसट्ठयाए कयरे कयरेहितो अप्पा वा (जाव विसेसाहिया वा) ?

गोयमा ! सब्बत्थोवा उक्कोसगा काउलेस्साठाणा दव्वट्ठयाए, उक्कोसगा नीललेस्साठाणा दव्वट्ठयाए असंखेज्जगुणा, एवं जहेव जहन्नगा तहेव उक्कोसगा वि, नवरं उक्कोसत्ति अभिलावो ।

—पण्ण० प १७ । उ ४ । सू १२४८ । पृ० २६६

जिस प्रकार जघन्य लेश्या स्थानों का कहा उसी प्रकार उत्कृष्ट लेश्या स्थानों का द्रव्यार्थ, प्रदेशार्थ, द्रव्यप्रदेशार्थ तीन प्रकार से कहना।

'२६'३ जघन्य उत्कृष्ट उभय स्थानों में द्रव्यार्थ, प्रदेशार्थ तथा द्रव्यप्रदेशार्थ अल्पबहुत्व

एएसिणं भंते ! कण्हलेस्साठाणाणं जाव सुक्कलेस्साठाणाण य जहन्नउक्कोसगाणं दव्वट्ठयाए एसट्ठयाए दव्वपएसट्ठयाए कयरे कयरेहितो अप्पा वा (जाव विसेसाहिया वा) ?

गोयमा ! सब्बत्थोवा जहन्नगा काउलेस्साठाणा दव्वट्ठयाए, जहन्नगा नीललेस्साठाणा दव्वट्ठयाए असंखेज्जगुणा, एवं कण्हतेऊ-पम्हलेस्साठाणा, जहन्नगा सुक्कलेस्साठाणा दव्वट्ठयाए असंखेज्जगुणा, जहन्नएहितो सुक्कलेस्साठाणेहितो दव्वट्ठयाए उक्कोसा काउलेस्सा-ठाणा दव्वट्ठयाए असंखेज्जगुणा, उक्कोसा नीललेस्साठाणा दव्वट्ठयाए असंखेज्जगुणा, एवं कण्हतेऊपम्हलेस्साठाणा, उक्कोसा संक्कलेस्साठाणा दव्वट्ठयाए असंखेज्जगुणा ।

पएसट्ठयाए—सव्वत्थोवा जहन्नगा काऊलेस्साठाणा पएसट्ठयाए, जहन्नगा नीललेस्साठाणा पएसट्ठयाए असंखेज्जगुणा, एवं जहेव दव्वट्ठयाए तहेव पएसट्ठयाए वि भाणियव्वं, नवरं पएसट्ठयाएत्ति अभिलावविसेसो ।

दव्वपएसट्ठयाए—सव्वत्थोवा जहन्नगा काऊलेस्साठाणा दव्वट्ठयाए, जहन्नगा नीललेस्साठाणा दव्वट्ठयाए असंखेज्जगुणा, एवं कण्हतेऊपम्हलेस्साठाणा, जहन्नगा सुक्कलेस्साठाणा दव्वट्ठयाए असंखेज्जगुणा, जहन्नएहिंतो सुक्कलेस्साठाणेहिंतो दव्वट्ठयाए उक्कोसा-काऊलेस्साठाणा दव्वट्ठयाए असंखेज्जगुणा, उक्कोसा नीललेस्साठाणा दव्वट्ठयाए असंखेज्जगुणा, एवं कण्हतेऊपम्हलेस्साठाणा, उक्कोसगा सुक्कलेस्साठाणा दव्वट्ठयाए असंखेज्जगुणा, उक्कोसएहिंतो सुक्कलेस्साठाणेहिंतो दव्वट्ठयाए जहन्नगा काऊलेस्साठाणा पएसट्ठयाए अणंतगुणा, जहन्नगा नीललेस्साठाणा पएसट्ठयाए असंखेज्जगुणा, एवं कण्हतेऊपम्हलेस्साठाणा, जहन्नगा सुक्कलेस्साठाणा पएसयाए असंखेज्जगुणा, जहन्नएहिंतो सुक्कलेस्साठाणेहिंतो पएसट्ठयाए उक्कोसा काऊलेस्साठाणा पएसट्ठयाए असंखेज्जगुणा, उक्कोसगा नीललेस्साठाणा पएसट्ठयाए असंखेज्जगुणा, एवं कण्हतेऊपम्हलेस्साठाणा, उक्कोसगा सुक्कलेस्साठाणा पएसट्ठयाए असंखेज्जगुणा ।

—पण्ण० प १७ । उ ४ । सु १२४६ । पृ० २६६

सबसे कम जघन्य कापोतलेश्या स्थान द्रव्याधिक, जघन्य नीललेश्या द्रव्याधिक स्थान असंख्यात गुण और इसी प्रकार क्रमशः कृष्ण, तेजो, पद्म तथा शुक्ललेश्या जघन्य द्रव्याधिक स्थान असंख्यात गुण । जघन्य शुक्ललेश्या द्रव्याधिक स्थान से कापोत लेश्या का द्रव्याधिक उत्कृष्ट स्थान असंख्यात गुण, उत्कृष्ट नीललेश्या द्रव्याधिक स्थान और इसी प्रकार क्रमशः कृष्ण, तेजो, पद्म और शुक्ललेश्या उत्कृष्ट द्रव्याधिक स्थान असंख्यात गुण है ।

जैसा द्रव्याधिक स्थान कहा वैसा प्रदेशाधिक स्थान कहना, केवल द्रव्याधिक जगह प्रदेशाधिक कहना ।

द्रव्यार्थ-प्रदेशार्थ—सबसे कम जघन्य कापोतलेश्या के द्रव्यार्थ स्थान, नील-लेश्या जघन्य द्रव्यार्थ स्थान असंख्यात गुण, तथा क्रमशः इसी प्रकार कृष्ण, तेजो, पद्म और शुक्ललेश्या के द्रव्यार्थ जघन्य स्थान असंख्यात गुण । जघन्य शुक्ललेश्या द्रव्यार्थ स्थानों से उत्कृष्ट कापोतलेश्या द्रव्यार्थ स्थान असंख्यात गुण, उत्कृष्ट नीललेश्या द्रव्यार्थ स्थान असंख्यात गुण, और इसी प्रकार क्रमशः कृष्ण, तेजो, पद्म और शुक्ललेश्या उत्कृष्ट द्रव्यार्थ स्थान असंख्यात गुण । शुक्ललेश्या उत्कृष्ट द्रव्यार्थ स्थान से जघन्य कापोतलेश्या प्रदेशार्थ स्थान अनन्तगुण है । जघन्य कापोतलेश्या प्रदेशार्थ स्थान से जघन्य नीललेश्या प्रदेशार्थ स्थान असंख्यात गुण है, तथा इसी प्रकार कृष्ण, तेजो, पद्म और शुक्ललेश्या जघन्य प्रदेशार्थ स्थान असंख्यात गुण हैं ; जघन्य शुक्ललेश्या प्रदेशार्थ स्थान से उत्कृष्ट कापोतलेश्या प्रदेशार्थ स्थान असंख्यात गुण, उससे नीललेश्या उत्कृष्ट प्रदेशार्थ स्थान असंख्यात गुण है और इसी प्रकार कृष्ण, तेजो, पद्म और शुक्ललेश्या उत्कृष्ट प्रदेशार्थ स्थान असंख्यात गुण है ।



०३ द्रव्यलेश्या (विस्रसा अजीव-नोकर्म)

'३१'१ द्रव्यलेश्या नोकर्म के भेद

१ दो भेद

नोकर्मद्वलेसा पओगसा विस्रसा उ नायव्वा ।

—उत्त० अ ३४ । नि० गा ५४२ । पूर्वार्ध

नोकर्म द्रव्यलेश्या के दो भेद—प्रायोगिक तथा विस्रसा ।

'२ अजीव नोकर्म द्रव्यलेश्या के दस भेद

अजीव कम्म नो द्वलेसा; सा दसविहा उ नायव्वा ।

चन्द्राण य सुराण य; गहगणनक्खत्तताराण ॥

आभरणच्छायाणा-दंसगाण, मणि कागिणीण जा लेसा ।

अजीव द्वलेसा, नायव्वा दसविहा एसा ॥

—उत्त० अ ३४ । नि० गा ५३७-३८

अजीव नोकर्म द्रव्यलेश्या के दस भेद, यथा—चन्द्रमा की लेश्या, सूर्य की, ग्रह की, नक्षत्र की, तारागण की लेश्या, आभरण की लेश्या, छाया की लेश्या, दर्पण की लेश्या, मणि की तथा कांकणी की लेश्या ।

यहाँ लेश्या शब्द से उपरोक्त चन्द्रमादि से निसर्गत ज्योति विशेषादि को उपलक्ष किया है, ऐसा मालूम पड़ता है ।

'३१'२ सरूपी सकर्मलेश्या का अवभास, उद्योत, तप्त एवं प्रभास करना

अत्थि णं भंते ! सरूवी सकम्मलेन्सा पोग्गला ओभासेंति, उज्जो-
एन्ति, तवेन्ति, पभासेंति ? हंता अत्थि ?

कयरे णं भंते ! सरूवी सकम्मलेस्सा पोग्गल ओभासेंति, जाव
पभासेंति ? गोयमा ! जाओ इमाओ चन्द्रम-सूरियाणं देवाणं
विमाणेहिंते लेस्साओ वहिया अभिनिस्सडाओ ताओ ओभासेंति
(जाव) पभासेंति, एवं एणं गोयमा ! ते सरूवी सकम्मलेस्सा
पोग्गला ओभासेंति, उज्जोएंति, तवेंति, पभासेंति ।

—भग० अ १४ । उ ६ । सू ६४६ । पृ० १२४-१२५

सरूपी सकर्मलेश्या के पुद्गल अवभास, उद्योत, तप्त तथा प्रभास करते हैं
यथा—चन्द्र तथा सूर्यदेवों के विमानों से बाहर निकली लेश्या अवभासित,
उद्योतित, तप्त, प्रभासित होती है ।

टीकाकार ने कहा कि चन्द्रादि विमान से निकले हुए प्रकाश के पुद्गलों को
उपचार से सकर्मलेश्या कहा गया है । क्योंकि उनके विमान के पुद्गल सचित
पृथ्वीकायिक है और वे पृथ्वीकायिक जीव सकर्मलेशी हैं अतः उनसे निकले
पुद्गलों को उपचार से सकर्मलेश्या पुद्गल कहा गया है । अन्यथा वे अजीव
नोकर्म द्रव्यलेश्या के पुद्गल हैं ।

'३१'३ सूर्य की लेश्या का शुभत्व

किमिदं भंते ! सूरिए (अचिरुगयं बालसूरियं जासुमणाकुसुम-
पुंजप्पकासं लोहितगं) ; किमिदं भंते ! सूरियस्स अट्ठे ? गोयमा !
सुभे सूरिए, सुभे सुरियस्स अट्ठे । किमिदं भंते ! सुरिए ; किमिदं
भंते ! सूरियस्स पभा ? एवं चेव, एवं छाया, एवं लेस्सा ।

—भग० अ १४ । उ ६ । सू ६५० । पृ० १३३ से १३५

उगते हुए बाल सूर्य की लेश्या शुभ होती है । टीकाकार ने यहाँ लेश्या का
अर्थ 'वर्ण' लिया है ।

'३१'४ सूर्य की लेश्या का प्रतिघात अभिताप

(क) लेस्सापडिघाएणं उगमणमुहुत्तंसि दूरे य मूले य दीसन्ति लेस्साभितावेणं मञ्जन्तियमुहुत्तंसि मूले य दूरे य दीसन्ति लेस्सापडिघाएणं अत्थममुहुत्तंसि दूरे य मूले य दीसन्ति, से तेणङ्गेणं गोयमा ! एवं बुच्चई जम्बुदीवे णं दीवे सूरिया उगमणमुहुत्तंसि दूरे या मूले य दीसन्ति जाव अत्थमण जाव दीसन्ति ।

—भाग० अ ८ । उ ८ । सू ३३१ । पृ० ६७०-१७

लेश्या के प्रतिघात से उगता हुआ सूर्य दूर होते हुए भी नजदीक दिखलाई पड़ता है तथा मध्याह्न का सूर्य नजदीक होते हुए भी लेश्या के अभिताप से दूर दिखलाई पड़ता है । तथा लेश्या के प्रतिघात से डूगता हुआ सूर्य दूर होते हुए भी नजदीक दिखलाई पड़ता है ।

लेश्या-प्रतिघात = तेज का प्रतिघात होना अर्थात् कम होना ।

लेश्या-अभिताप = तेज का अभिताप होना अर्थात् तेज का प्रखर होना ।

(ख) ता कस्सि णं सूरियस्स लेस्सापडिहया आहिताइ वएज्जा ?
 × × × ता जे णं पोग्गला सूरियस्स लेस्सं फुसन्ति ते णं पोग्गला सूरियस्स लेस्सं पडिहणंति, अदिट्ठावि णं पोग्गला सूरियस्स लेस्सं पडिहणंति, चरिमलेस्संतरगयावि णं पोग्गला सूरियस्स लेस्सं पडिहणंति × × × आहिताइ वएज्जा ।

—चन्द० सू ५ । पृ० ६६४

—सूरि० सू ५ । वही पाठ

सूर्य की लेश्या का तीन स्थान पर प्रतिघात होता है—

(१) जो पुद्गल सूर्य की लेश्या का स्पर्श करते हैं वे सूर्य की लेश्या का प्रतिघात-विनाश करते हैं । टीकाकार ने मेरुतट भित्ति संस्थित पुद्गलों का उदाहरण दिया है ।

(२) अदृष्ट पुद्गल भी सूर्य की लेश्या का प्रतिघात करते हैं । टीकाकार ने यहाँ भी मेरुतट भित्ति संस्थित सूक्ष्म अदृश्यमान् पुद्गलों का उदाहरण दिया है ।

(३) चरमलेइया अन्तर्गत पुद्गल भी सूर्य की लेइया का प्रतिघात करते हैं। टीकाकार कहते हैं कि मेरु पर्वत के अन्यत्र भी प्राप्त चरमलेइया के विशेष स्पर्शी पुद्गलों से सूर्य की लेइया का प्रतिघात होता है।

३१.५ चन्द्र-सूर्य की लेइया का आवरण

× × × ता जया णं राहू देवे आगच्छमाणे वा गच्छमाणे वा विउञ्चेमाणे वा परियारेमाणे वा चन्द्रस्स वा सूरस्स वा लेस्सं आवरेमाणे चिद्धइ [आवरेत्ता वीइवयइ], तथा णं मणुस्सलोए मणुस्सा वयंति—एवं खलु राहुणा चन्दे वा सूरे वा गहिए × × ×।

—चन्द० सू २० पृ० ७४६

—सूरि० सू २०। वही पाठ

इस प्रकार राहू देव के आते, जाते, विकुर्बना करते, परिचारना करते सूर्य-चन्द्र की लेइया का आवरण होता है। इसी को मनुष्य लोक में चन्द्र-सूर्य ग्रहण कहते हैं।



४ भावलेइया

४१ भावलेइया—जीवपरिणाम

जीवपरिणामे णं भंते ! कइविहे पन्नत्ते ? गोयमा ! दसविहे पन्नत्ते । तं जहा—गइपरिणामे १, इंदियपरिणामे २, कसाय-परिणामे ३, लेस्सापरिणामे ४, जोगपरिणामे ५, उवओगपरिणामे ६, णाणपरिणामे ७, दंसणपरिणामे ८, चरित्तपरिणामे ९, वेय-परिणामे १०।

—पण्ण० प० १३। सू १। पृ० ४०८

—ठाण० स्था १०। सू ७१३। पृ० ३०४ (केवल उत्तर)

जीव परिणाम के दस भेद हैं, यथा—

१—गति परिणाम, २—इन्द्रिय परिणाम, ३—कषाय परिणाम, ४—लेइया परिणाम, ५—योग परिणाम, ६—उपयोग परिणाम, ७—ज्ञान परिणाम, ८—दर्शन परिणाम, ९—चारित्र्य परिणाम तथा १०—वेद परिणाम।

४११ लेख्या परिणाम के भेद

लेस्सापरिणामे णं भंते ! कइविहे पन्नत्ते ? गोयमा ! छव्विहे पन्नत्ते, तं जहा—कण्हलेस्सापरिणामे, नीललेस्सापरिणामे, काऊ-लेस्सापरिणामे, तेऊलेस्सापरिणामे, पम्हलेस्सापरिणामे सुक्कलेस्सा-परिणामे ।

—पण्ण प १३ । सू २ । पृ० ४०६

लेख्या-परिणाम के छ भेद हैं, यथा—

१—कृष्णलेख्या परिणाम, २—नीललेख्या परिणाम, ३—कापोतलेख्या परिणाम, ४—तेजोलेख्या परिणाम, ५—पद्मलेख्या परिणाम तथा ६—शुक्ल-लेख्या परिणाम ।

४१२ लेख्या परिणाम की विविधता

(क) कण्हलेस्सा णं भंते ! कइविहं परिणामं परिणमइ ? गोयमा ! तिविहं वा नवविहं वा सत्तावीसविहं वा एक्कासीइविहं वा वेतेया-लीसतविहं वा बहुयं वा बहुविहं वा परिणामं परिणमइ, एवं जाव सुक्कलेस्सा ।

—पण्ण० प १७ । उ ४ । सू ४८ । पृ० ४४६

(ख) तिविहो व नवविहो वा, सत्तावीसइविहेक्कासीओ वा ।

दुसओ तेयाओ वा, लेसाणं होइ परिणामो वा ॥

—उत्त० अ ३४ । गा २० । पृ० १०४६

कृष्णलेख्या—तीन प्रकार के, नौ प्रकार के, सत्तावीस प्रकार के, इक्कासी प्रकार के, दो सौ तैंतालिस प्रकार के, बहु, बहु प्रकार के परिणाम होते हैं । इसी प्रकार यावत् शुक्ललेख्या के परिणाम समझता ।

४२ भावलेख्या अवर्णी-अगंधी-अरसी-अस्पर्शी

(कण्हलेस्सा) भावलेस्सं पडुच्च अवण्णा, अरसा, अगंधा, अफासा, एवं जाव सुक्कलेस्सा ।

—भग० श १२ । उ ५ । सू १६ । पृ० ६६४

द्वयों भावलेश्या अवर्णी, अरसी, अगंधी, अस्पर्शी है ।

४३ भावलेश्या और अगुरुलघुत्व

प्र०—कणहलेस्सा णं भंते ! किं गरुया, जाव अगुरुयलहुया ?

उ०—गोयमा ! नो गरुया, नो लहुया, गरुयालहुया वि अगुरुयलहुया वि ।

प्र०—से केणट्ठेणं ?

उ०—गोयमा ! दव्वलेस्सं पडुच्च ततियपएणं, भावलेस्सं पडुच्च चउत्थपएणं, एवं जाव—सुककलेस्सा ।

—भग० श १ । उ ६ । सू २८-२६ । पृ० ४११

कृष्णलेश्या यावत् शुक्ललेश्या-भावलेश्या की अपेक्षा अगुरुलघु है ।

४४ लेश्या-स्थान

(क) केवइया णं भंते ! कणहलेस्सा ठाणा पन्नत्ता ? गोयमा ! असंखेज्जा कणहलेस्साठाणा पन्नत्ता, एवं जाव सुककलेस्सा ।

—पण्ण० प १७ । उ ४ । सू ५० । पृ० ४४६

(ख) अस्संखिज्जाणोसपिणीण उस्सपिणीण जे समया वा ।

संखाईया लोगा, लेसाण हवन्ति ठाणाइं ॥

—उत्त० अ ३४ । पा ३३ । पृ० १०४७

कृष्णलेश्या यावत् शुक्ललेश्या के असंख्यात स्थान होते हैं । असंख्यात अवसर्पिणी तथा उत्सर्पिणी में जितने समय होते हैं तथा असंख्यात लोकाकाश के जितने प्रदेश होते हैं उतने लेश्याओं के स्थान होते हैं ।

(ग) लेस्सट्ठाणेसु संकिलिस्समाणेसु २ कणहलेस्सं परिणमइ २ चा कणहलेस्सेसु नेरइएसु उववज्जंति × × × लेस्सट्ठाणेसु संकिलिस्स-

माणेसु वा विसुञ्जमाणेसु नीललेस्सं परिणमइ परिणमइ त्ता नीललेस्सेसु
नेरइएसु उववज्जंति ।

—भग० श १३ । उ १ । सू १६-२० का उत्तर । पृ० ६७६.

लेश्या स्थान से संक्लिष्ट होते-होते कृष्णलेश्या में परिणमन करके कृष्णलेशी नारकी में उत्पन्न होता है । लेश्यास्थान से संक्लिष्ट होते-होते या विशुद्ध होते-होते नीललेश्या में परिणमन करके नीललेशी नारकी में उत्पन्न होता है ।

भावलेश्या की अपेक्षा यदि विवेचन किया जाय तो एक-एक लेश्या की विशुद्धि-अविशुद्धि की हीनाधिकवा से किये गये भेद रूप स्थान-कालोपमा की अपेक्षा असंख्यात अवसर्पिणी-उत्सर्पिणी के जितने समय होते हैं तथा क्षेत्रोपमा की अपेक्षा असंख्यात लोकाकाश के जितने प्रदेश होते हैं उतने भावलेश्या के स्थान होते हैं ।

द्रव्यलेश्या की अपेक्षा यदि विवेचन किया जाय तो द्रव्यलेश्या के असंख्यात स्थान है तथा वे स्थान पुद्गल की मनोज्ञता-अमनोज्ञता, दुर्गन्धता-सुगन्धता, विशुद्धता-अविशुद्धता, शीतरक्षता-स्निग्धउष्णता की हीनाधिकता की अपेक्षा कहे गये हैं ।

भावलेश्या के स्थानों के कारणभूत कृष्णादि लेश्याद्रव्य हैं । द्रव्यलेश्या के स्थान के बिना भावलेश्या का स्थान बन नहीं सकता है । जितने द्रव्यलेश्या के स्थान होते हैं उतने ही भावलेश्या के स्थान होने चाहिए ।

प्रज्ञापना के टीकाकार श्री मलयगिरि ने प्रज्ञापना का विवेचन द्रव्यलेश्या की अपेक्षा माना है तथा उत्तराध्यायन का विवेचन भावलेश्या की अपेक्षा माना है ।



४५ भावलेश्या की स्थिति

मुहुत्तद्धं तु जहन्ना, तेत्तीसा सागरा मुहुत्तऽहिया ।
उक्कोसा होइ ठिई, नायव्वा कण्हलेसाए ॥
मुहुत्तद्धं तु जहन्ना, दस उदही पलियमसंखभागमब्भहिया ।
उक्कोसा होइ ठिई, नायव्वा नीललेसाए ॥
मुहुत्तद्धं तु जहन्ना, तिण्णुदही पलियमसंखभागमब्भहिया ।
उक्कोसा होइ ठिई, नायव्वा काऊलेसाए ॥

मुहुत्तद्धं तु जहन्ना, दोण्णुदही पलियमसंखभागम्भहिया ।
 उक्कोसा होइ ठिई, नायव्वा तेज्जुलेसाए ॥
 मुहुत्तद्धं तु जहन्ना, दस होंति य सागरा मुहुत्तहिया* ।
 उक्कोसा होइ ठिई, नायव्वा पम्हलेसाए ॥
 मुहुत्तद्धं तु जहन्ना, तेत्तीसं सागरा मुहुत्तहिवा ।
 उक्कोसा होइ ठिई, नायव्वा सुक्कलेसाए ॥
 एसा खलु लेसाणं, ओहेण ठिई उ वण्णिथा होइ ।

—उत्त० अ ३४ । गा ३४ से ४० । पृ० १०४७

सामान्यतः भावलेश्या की स्थिति द्रव्यलेश्या के अनुसार ही होनी चाहिये अतः उपरोक्त पाठ द्रव्य और भावलेश्या दोनों में लागू हो सकता है । नारकी और देवता की भावलेश्या में परिणमन हो तो वह केवल आकारभावमात्र, प्रतिबिम्बभावमात्र होना चाहिये क्योंकि वहाँ मूल की द्रव्यलेश्या का अन्य लेश्या में परिणमन केवल आकारभावमात्र, प्रतिबिम्बमात्र होता है । अतः नारकी और देवता में यदि “भाव परावत्तिए पुण सुर नेरियाणं पि छत्तेसा” होती है वह प्रतिबिम्ब भावमात्र होनी चाहिये ।



४६ भावलेश्या और भाव

‘४६’१ जीवोदय निष्पन्न भाव

(क) से किं तं जीवोदयनिष्पन्ने ? अणेगविहे पन्नत्ते, तं जहा—
 नेरइए तिरिक्खजोणिए मणुस्से देवे, पुढविकाइए जाव तसकाइए,
 कोहकसाइ जाव लोभकसाइ, इत्थीवेयए पुरिसवेयए नपुंसगवेयए,
 कण्हेस्से जाव सुक्कलेस्से, मिच्छादिट्ठी सम्मदिट्ठी सम्ममिच्छा-
 दिट्ठी, अद्विरए, असण्णी, अण्णाणी, आहारए, छउमत्थे, सजोगी,
 संसारत्थे, असिद्धे सेतं जीवोदयनिष्पन्ने ।

—अणुओ० सू १२६ । पृ० ११११

—पंचश्वे० भा २ । पृ० ११०

●पाठान्तर—दसउदही होइ मुहुत्तमम्भहिया ।

(ख) भावे उदओ भणिओ, छण्हं लेसाण जीवेसु ।

—उत्त० अ ३४ । नि० गा ५४२ उत्तरार्ध

(ग) भावादो छल्लेस्सा ओदयिया होंति × × × ।

—गोजी० गा ५५४ । पृ० २००

कृष्णलेश्या यावत् शुक्ललेश्या जीवोदय निष्पन्न भाव है ।

‘४६’२ भावलेश्या और पाँच भाव

आगमों में प्राप्त पाठों के अनुसार लेश्या औदयिक भाव में गिनाई गई है । उपशम-क्षय-क्षयोपशम-भावों में लेश्या होने के पाठ उपलब्ध नहीं हैं । उत्तराध्ययन की निर्युक्ति का एक पाठ है ।

(क) दुविहा विशुद्धलेस्सा, उपसमखइआ कसायाणं ।

—उत्त० अ ३४ । नि० गा ५४० उत्तरार्ध

तत्र द्विविधा विशुद्धलेश्या—‘उपसमखइय त्ति सूत्रत्वादुपशम-क्षयजा, केषां पुत्तरुपशमक्षयौ ? यतो जायत इयमित्याह—कषायाणाम्, अयमर्थः कषायोपशमजा कषायक्षयजा च, एकान्त-विशुद्धिचाऽऽश्रित्यैवमभिधानम्, अन्यथा हि क्षायोपशमिक्यपि शुक्ला तेजः पद्मे च विशुद्धलेश्ये सम्भवतः एवेति ।

—उपर्युक्त निर्युक्ति गाथा पर वृत्ति

विशुद्धलेश्या द्विविध—औपशमिक और क्षायिक । यह उपशम और क्षय किसका ? कषायों का । अतः कषाय औपशमिक और कषाय क्षायिक । यह एकांत विशुद्धि की अपेक्षा कहा गया है अन्यथा क्षायोपशमिक भाव में भी तीनों विशुद्धलेश्या सम्भव है ।

गीमटसार जीवकांड में भी एक पाठ है ।

(ख) मोहुदय खओवसमोवसमखयज जीवफंदणं भावो ।

—गोजी० गा० ५३५ उत्तरार्ध

मोहनीय कर्म के उदय, क्षयोपशम, उपशम, क्षय से जो जीव के प्रदेशों की चंचलता होती है उसको भावलेश्या कहते हैं । अर्थात् चारों भावों के निष्पन्न में लेश्या होती है ।

पारिणामिक भाव जीव तथा अजीव सभी द्रव्यों में होता है ।

•४७ भावलेश्या के लक्षण

•४७•१ कृष्णलेश्या के लक्षण

पंचासवप्पवत्तो, तीहिं अगुत्तो छसुं अविरओ य ।
 तिन्वारंभपरिणओ, खुदो साहसिओ नरो ॥
 निद्धन्धसपरिणामो, निस्संसो अजिइंदिओ ।
 एयजोगसमाउत्तो, कण्हलेसं तु परिणमे ॥

—उत्त० अ ३४ । गा २१, २२ । १०४६

पाँचों आश्रवों में प्रवृत्त, तीन गुणियों से अगुप्त, छः काय की हिंसा से अविरत, तीव्र आरम्भ में परिणत, क्षुद्र, साहसिक, निर्दयी, नृशंस, अजितेन्द्रिय पुरुष कृष्णलेश्या के परिणाम वाला होता है ।

•४७•२ नीललेश्या के लक्षण

इस्साअमरिसअतवो, अविज्जमाया अहीरिया य ।
 गेही पओसे व सढे, पमत्ते रसलोलुए ॥
 आरंभाओ अविरओ खुदो साहसिओ नरो ।
 एयजोगसमाउत्तो, नीललेसं तु परिणमे ॥

—उत्त० अ ३४ । गा २३, २४ । पृ० १०४६-४७

ईर्ष्यालु, कदाग्रही, अतपस्वी, अज्ञानी, मायावी, निर्लज्ज, विषयी, द्वेषी, रसलोलुप, आरम्भी, अविरत, क्षुद्र, साहसिक पुरुष नीललेश्या के परिणामवाला होता है ।

•४७•३ कापोतलेश्या के लक्षण

वके वंकसमायारे, नियडिल्ले अणुज्जुए ।
 पलिउंचग ओवहिए मिच्छदिट्ठी अणारिए ॥
 उप्फालगदुट्टुवाई य, तेणे यावि य मच्छरी ।
 एयजोगसमाउत्तो, काऊलेसं तु परिणमे ॥

—उत्त० अ ३४ । गा २५, २६ । पृ० १०४७

•पाठान्तर-पमत्ते रसलोलुए सायगवेसए य ।

वचन से वक्र, विषम आचरणवाला, कपटी, असरल, अपने दोषों को ढाँकने-वाला, परिग्रही, मिथ्या दृष्टि, अनार्य, मर्मभेदक, दुष्ट वचन बोलने वाला, चोर, मत्सर स्वभाववाला पुरुष कापोतलेश्या के परिणामवाला होता है ।

‘४७’४ तेजोलेश्या के लक्षण

नीयावित्ती अचचले, अमाई अकुऊहले ।
विणीयविणए दन्ते, जोगवं उवहाणवं ॥
पियधम्मे ददधम्मे, वज्जभीरू हिएसए ।
एयजोगसमाउत्तो, तेऊलेसं तु परिणमे ॥

—उत्त० अ ३४ । गा २७-२८ । पृ० १०४७

नम्र, चपलता रहित, निष्कपट, कुतूहल से रहित, विनीत, इन्द्रियों का दमन करनेवाला, स्वाध्याय तथा तप को करनेवाला, प्रियधर्मी, दृढधर्मी, पापभीरू, हितैषी जीव, तेजोलेश्या के परिणामवाला होता है ।

‘४७’५ पद्मलेश्या के लक्षण

पयणुक्कोहमाणे य, मायालोभे य पयणुए ।
पसंतचित्ते दंतप्पा, जोगवं उवहाणवं ॥
तहा पयणुवाई य, उवसंते जिइंदिए ।
एयजोगसमाउत्तो, पम्हलेसं तु परिणमे ॥

—उत्त० अ ३४ । गा २६-३० । पृ० १०४७

जिसमें क्रोध, मान, माया और लोभ स्वल्प हैं, जो प्रशान्तचित्त वाला है, जो मन को वश में रखता है, जो योग तथा उपधानवाला, अत्यल्पभाषी, उपशान्त और जितेन्द्रिय होता है—उसमें पद्मलेश्या के परिणाम होते हैं ।

‘४७’६ शुक्ललेश्या के लक्षण

अट्टरुदाणि वज्जित्ता, धम्मसुक्काणि साहए* ।
पसंतचित्ते दंतप्पा, समिए गुत्ते य गुत्तिसु ॥
सरारगे वीयरारगे वा, उवसंते जिइंदिए ।
एयजोगसमाउत्तो, सुक्कलेसं तु परिणमे ॥

—उत्त० अ ३४ । गा ३१-३२ । पृ० १०४७

* पाठान्तर-भायए

लेश्या शाश्वत भाव है, (देखो विविध) ।

आर्त और रौद्रध्यान को त्यागकर जो धर्म और शुक्ल ध्यान का चिन्तन करता है, जिसका चित्तशान्त है, जिसने आत्मा (मन तथा इन्द्रिय) को वश कर रखा है तथा जो समिति तथा गुप्तिवन्त है ; जो सराग अथवा वीतराग है, उपशान्त और जितेन्द्रिय है—उसमें शुक्ललेश्या के परिणाम होते हैं ।

४८ भावलेश्या के भेद

४८१ लेश्या परिणाम के भेद

लेस्सापरिणामे णं भंते ! कइविहे पन्नत्ते ? गोयमा ! छव्विहे पन्नत्ते, तं जहा—कण्हलेस्सापरिणामे, नीललेस्सापरिणामे, काऊलेस्सापरिणामे, तेऊलेस्सापरिणामे, पन्हलेस्सापरिणामे, सुक्कलेस्सापरिणामे !

—पण्ण० प १३ । सू २ । पृ० ४०६

लेश्या के छः भेद हैं, यथा

१—कृष्णलेश्या परिणाम, २—नीललेश्या परिणाम, ३—कापोतलेश्या परिणाम, ४—तेजोलेश्या परिणाम, ५—पद्मलेश्या परिणाम तथा ६—शुक्ललेश्या परिणाम ।

४९ विभिन्न जीवों में लेश्या परिणाम

(नेरइया) लेस्सापरिणामेणं कण्हलेस्सा वि, नीललेस्सा वि, काऊलेस्सा वि ।

(असुरकुमारा) कण्हलेस्सा वि जाव तेऊलेस्सा वि । × × × एवं जाव थणियकुमारा ।

(पुढाविकाइया) जहा नेरइयाणं, नवरं तेऊलेस्सा वि एवं आउवणस्सइकाइया वि ।

तेउवाउ एवं चैव; नवरं लेस्सापरिणामेणं जहा नेरइया ।

वेइंदिया जहा नेरइया ।

एवं जाव चउरिंदिया ।

(पंचिन्द्रियतिरिक्खजोणिया) नवरं लेस्सापरिणामेणं जाव सुक्क-
लेस्सा वि ।

(मणुम्सा) लेस्सापरिणामेणं कण्हलेस्सा वि जाव अलेस्सा वि ।

(वाणमंतरा) जहा असुरकुमारा ।

(एवं जोइसिया) नवरं लेस्सापरिणामेणं तेउलेस्सा ।

(वेमाणिया) नवरं लेस्सापरिणामेणं तेउलेसा वि, पम्हतेस्सा
वि, सुक्कलेस्सा वि ।

—पण्ण० प १३ । सू ३ । पृ० ४०६-१०

लेश्यापरिणाम से नारकी कृष्णलेशी, नीललेशी, कापोतलेशी है । असुरकुमार
देव कृष्णलेशी, नीललेशी, कापोतलेशी, तेजोलेशी है । इस प्रकार स्तनितकुमार
देव तक जानो ।

जैसा नारकी के लेश्यापरिणाम के विषय में कहा—वैसे ही पृथ्वीकाय के
लेश्यापरिणाम के विषय में जानो परन्तु उनमें तेजोलेशी भी है । इसी प्रकार
अपूकाय, वनस्पतिकाय के विषय में जानो ।

जैसा नारकी के लेश्या परिणाम के विषय में कहा—वैसा ही अग्निकाय-
वायुकाय के लेश्या परिणाम के विषय में समझो ।

जैसा नारकी के लेश्या परिणाम के विषय में कहा—वैसा ही द्वीन्द्रिय के
विषय में समझो । इस प्रकार त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय के विषय में समझो ।

लेश्यापरिणाम से तिर्यञ्च पचेन्द्रिय कृष्णलेशी यावत् शुक्ललेशी होते हैं ।

लेश्यापरिणाम से मनुष्य कृष्णलेशी यावत् अलेशी होते हैं अर्थात् छः लेश्या-
वाले भी होते हैं, अलेशी भी होते हैं ।

जैसा असुरकुमार देव के लेश्या परिणाम के विषय में कहा—वैसा ही वाण-
व्यंतर देवों के विषय में समझो ।

लेश्यापरिणाम से ज्योतिष्क देव तेजोलेशी हैं ।

लेश्यापरिणाम से वैमानिक देव—तेजोलेशी, पद्मलेशी, शुक्ललेशी हैं ।

'४६'१ भाव परावृत्ति से देव-नारकी में लेश्या

(क) भावपरावृत्ति ए पुण सुर नेरइयाणं पि छल्लेस्सा ।

भाव की परावृत्ति होने से देव और नारक के भी छः लेश्या होती है ।

—पण्ण० प १७ । उ ५ । सू ५४ की टीका में उद्धृत

(ख) इह य नारकाणामुत्तरत्र च देवानां द्रव्यलेश्या स्थातरेवैवं चिन्त्यते, तद्भावलेश्यानां परिवर्तमानतयाऽन्यथाऽपि स्थितेः सम्भवात् उक्तं हि ।

देवाण नारयाण य दव्वलेसा भवंति एयाओ ।

भावपरावृत्तीए सुरणेइयाण छल्लेसा ॥

—उत्त० अ ३४ गा ४३ । बृहद्बृत्ति पृ० ६५६

सुर नारकी मांहे भाव छलेस्या ।

—भीणी चर्चा ढाल १३ । गा ५६

देव और नरक में छः भाव लेश्या होती है ।



'५ लेश्या और जीव

'५१ लेश्या की अपेक्षा जीव के भेद

'५१'१ जीवों के दो भेद

(क) अहवा दुविहा सव्वजीवा पन्नत्ता, तं जहा—सलेस्सा य अलेस्सा य, जहा असिद्धा सिद्धा, सव्व थोवा अलेस्सा सलेस्सा अणंतगुणा ।

—जीवा० प्रति ६ । सर्व जीव । सू २४५ । पृ० २५२

(ख) अहवा दुविहा सव्वजीवा पन्नत्ता, तं जहा × × × [एवं सलेस्सा चेव अलेस्सा चेव × × ×] ।

—जीवा० प्रति ६ । सर्व जीव । सू २४५ । पृ० २५१

(ग) दुविहा सव्वजीवा पन्नत्ता, तं जहा × × × एवं एसा गाहा फासेयव्वा जाव ससरीरी चेव असरीरी चेव । (सलेसा चेव अलेसा चेव) ।

सिद्धसइंदिकाए, जोगे वेए कसाय लेसा य ।

णाणुवओगाहारे, भासग चरिमे य ससरीरी ॥

—ठाण० स्था २ । उ ४ । सू ४१० । पृ० ५३५

सर्वजीवों के दो भेद—सलेशी जीव, अलेशी जीव ।

५१२ जीवों के सात भेद

(क) अहवा सत्तविहा सव्वजीवा पन्नत्ता, तं जहा—कण्हलेस्सा, नीललेस्सा, काऊलेस्सा, तेऊलेस्सा, पम्हलेस्सा, मुक्कलेस्सा, अलेस्सा × × × सेत्तं सत्तविहा सव्वजीवा पन्नत्ता ।

—जीवा० प्रति ६ । सर्व जीव । सू २६६ । पृ० २५८

(ख) अहवा सत्तविहा सव्वजीवा पन्नत्ता, तं जहा—कण्हलेस्सा जाव मुक्कलेस्सा, अलेस्सा ।

—ठाण० स्था ७ । सू ७३ । पृ० ७४६

सर्व जीवों के सात भेद हैं—कृष्णलेशी, नीललेशी, कापोतलेशी, तेजोलेशी, पद्मलेशी, शुक्ललेशी, अलेशी जीव ।



५२ लेश्या की अपेक्षा जीव की वर्गणा

(१) एगा कण्हलेस्साणं वग्गणा, एगा णील्लेस्साणं वग्गणा, एवं जाव मुक्कलेस्साणं वग्गणा ।

कृष्णलेशी जीवों की एक वर्गणा है इसी प्रकार नील, कापोत तेजो, पद्म तथा शुक्ललेश्या जीवों की एक-एक वर्गणाएं हैं ।

(२) एगा कण्हलेस्साणं नेरइयाणं वग्गणा, जाव काऊलेस्साणं नेरइयाणं वग्गणा, एवं जस्स जइ लेस्साओ, भवणवइवाणमंतरपुढवि-आउणस्सइकाइयाणं च चत्तारिं लेस्साओ तेऊवाउचेइंदियतेइंदिय-

चउरिदियाणं तिण्ण लेस्साओ पंचिदियातिरिक्खजोणियाणं मणुस्साणं
छल्लेस्साओ, जोइसियाणं एगा तेउलेस्सा, वेमाणियाणं तिण्ण उवरि-
मलेस्साओ ।

कृष्णलेशी नारकियों की एक वर्गणा होती है इसी प्रकार दण्डक में जिसके
जितनी लेश्या होती है उतनी वर्गणा जानना ।

(३) एगा कण्हलेस्साणं भवसिद्धियाणं वग्गणा, एगा कण्हलेस्साणं
अभवसिद्धियाणं वग्गणा, एवं छसुवि लेस्सासु दो दो पयाणि
भाणियन्वाणि, एगा कण्हलेस्साणं भवसिद्धियाणं नेरइयाणं वग्गणा,
एगा कण्हलेस्साणं अभवसिद्धियाणं णेरयाणं वग्गणा, एवं जस्स जइ
लेस्साओ तस्स ततियाओ भाणियन्वाओ, जाव वेमाणियाणं ।

कृष्णलेशी भवसिद्धिक जीवों की एक वर्गणा होती है तथा कृष्णलेशी अभव-
सिद्धिक जीवों की वर्गणा होती है इसी प्रकार छओं लेश्याओं में दो-दो पद
कहना । कृष्णलेशी भवसिद्धिक नारक जीवों की एक वर्गणा, कृष्णलेशी अभव-
सिद्धिकों की एक वर्गणा तथा इसी प्रकार दण्डक में यावत् वैमानिक जीवों तक
जिसके जितनी लेश्या हो उतनी भवसिद्धिक-अभवसिद्धिक वर्गणा कहना ।

(४) एगा कण्हलेस्साणं समदिद्धियाणं वग्गणा, एगा कण्हलेस्साणं
मिच्छादिद्धियाणं वग्गणा, एगा कण्हलेस्साणं सम्मामिच्छदिद्धियाणं
वग्गणा, एवं छसु वि लेस्सासु जाव वेमाणियाणं जेसि जइ दिट्ठीओ ।

कृष्णलेशी सम्यक् दृष्टि जीवों की एक वर्गणा होती है, कृष्णलेशी मिथ्या
दृष्टि जीवों की एक वर्गणा तथा कृष्णलेशी सम-मिथ्या दृष्टि जीवों की एक
वर्गणा । इसी प्रकार छओं लेश्याओं में तथा दण्डक के जीवों में यावत् वैमानिक
जीवों तक जिसके जितनी लेश्या तथा दृष्टि हो उतनी सम्यक् दृष्टि, मिथ्या
दृष्टि तथा सममिथ्या दृष्टि व लेश्या की अपेक्षा जीवों की दृष्टि वर्गणा कहना ।

(५) एगा कण्हलेस्साणं कण्हपक्खियाणं वग्गणा, एगा कण्हलेस्साणं
सुक्कपक्खियाणं वग्गणा, जाव वेमाणियाणं, जस्स जइ लेस्साओ,
एए अट्ट चउवीसदण्डया ।

—ठाण० स्था १ । सू १६१ से २१३ । पृ० ४६६-४६७

कृष्णलेशी कृष्णपक्षी जीवों की एक वर्गणा है, कृष्णलेशी शुक्लपक्षी जीवों की एक वर्गणा है। इसी प्रकार छत्रों लेख्याओं में तथा दण्डक के यावत् वैमानिक जीवों तक में जिसके जितनी लेख्या तथा जो पक्षी हो उतनी कृष्णपक्षी-शुक्लपक्षी वर्गणा कहना।

वर्गणा शब्द की भावाभिव्यक्ति अंग्रेजी के Grouping शब्द में पूर्ण रूप से व्यक्त होती है। सामान्यतः समान गुण व जातिवाले समुदाय को वर्गणा कहते हैं।



‘५३ विमन्न जीवों में कितनी लेख्या

‘०१ नारकियों में

(क) नेरियाणं भंते ! कइ लेस्साओ पन्नत्ताओ ? गोयमा ! तिनन्नि (लेस्साओ पन्नत्ताओ) तं जहा—कण्हलेस्सा, नीललेस्सा, काऊलेस्सा।

—पण्ण० प १७। उ २। सू १३। पृ० ४३७-८

(ख) नेरइयाणं तओ लेस्साओ पन्नत्ताओ, तं जहा—कण्हलेस्सा, नीललेस्सा, काऊलेस्सा।

—ठाण० स्था ३। उ १। सू ५८। पृ० ५४५

(ग) (तेसि णं भंते ! (नेरइया) जीवाणं कइ लेस्सा पन्नत्ता ? गोयमा ! तिननि लेस्साओ (पन्नत्ताओ)।

—जीवा० प्रति १। सू ३२। पृ० ११३

नारकी जीवों के तीव लेख्या होती हैं यथा—कृष्ण, नील तथा कापोत-लेख्या।

‘०२ रत्नप्रभा नारकी में

(क) इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाएपुढवीए नेरइयाणं कइ लेस्साओ पन्नत्ताओ ? गोयमा ! एगा काऊलेस्सा पन्नत्ता।

—जीवा० प्रति ३। उ २। सू ८८। पृ० १४१

—भग० श १। उ ५। सू २२७। पृ० ४२

रत्नप्रभा पृथ्वी के नारकी के एक कापोतलेख्या होती है।

(ख) (रयणप्पभापुढविनेरइए णं भंते ! जे भविए पंचिदिय-तिरिक्खजोणिए सु उववज्जित्तए) तेसि णं भंते × × × एगा काऊलेस्सा पन्नत्ता ।

—भग० श २४ । उ २० । सू २४१ । पृ० ८८१

तिर्यञ्च पंचेन्द्रिय में उत्पन्न होने योग्य रत्नप्रभा नारकी में एक कापोतलेश्या होती है ।

*०३ शर्कराप्रभा नारकी में

एवं सक्करप्पभाएऽवि ।

—जीवा० प्रति ३ । उ २ । सू ८८ । पृ० १४१

रत्नप्रभा नारकी की तरह शर्कराप्रभा नारकी में भी एक कापोतलेश्या होती है । (देखो ऊपर का पाठ)

*०४ बालुकाप्रभा नारकी में

बालुयप्पभाए पुच्छा, गोयमा ! दो लेस्साओ पन्नत्ताओ, तं जहा—नीललेस्सा य काऊलेस्सा य । तत्थ जे काऊलेस्सा ते बहुतरा जे नीललेस्सा ते थोवा ।

—जीवा० प्रति ३ । उ २ । सू ८८ पृ० १४१

बालुका प्रभा पृथ्वी के नारकी के दो लेश्या होती हैं, यथा—नील और कापोत । उनमें अधिकतर कापोत लेश्यावाले हैं, नीललेश्या वाले थोड़े हैं ।

*०५ पंकप्रभा नारकी में

पंकप्पभाए पुच्छा, एगा नीललेस्सा पन्नत्ता ।

—जीवा० प्रति ३ । उ २ सू ८८ । पृ० १४१

पंकप्रभा पृथ्वी के नारकी के एक नीललेश्या होही है ।

*०६ धूम्रप्रभा नारकी में

धूमप्पभाए पुच्छा, गोयमा ! दो लेस्साओ पन्नत्ताओ, तं जहा—कण्हलेस्सा य नीललेस्सा य, ते बहुतरगा जे नीललेस्सा थोवतरगा जे कण्हलेस्सा ।

—जीवा० प्रति ३ । उ २ । सू ८८ । पृ० १४१

धूम्रप्रभा पृथ्वी के नारकी के दो लेश्या होती हैं, यथा—कृष्णलेश्या, नील-लेश्या । उनमें अधिकतर नीललेश्या वाले हैं, कृष्णलेश्या वाले थोड़े हैं ।

०७ तमप्रभा नारकी में

तमाए पुच्छा; गोयमा ! एगा कण्हेस्सा ।

—जीवा० प्रति ३ । उ २ । सू ८८ । पृ० १४१

तमप्रभा पृथ्वी के नारकी के एक कृष्णलेश्या होती है ।

०८ तमतमाप्रभा नारकी में

अहे सत्तमाए एगा परम कण्हेस्सा ।

—जीवा० प्रति ३ । उ २ । सू ८८ । पृ० १४१

तमतमाप्रभा पृथ्वी के नारकी के एक परम कृष्णलेश्या होती है ।

समुच्चय गाथा

एवं सत्तवि पुढवीओ नेयच्चाओ; णाणत्तं लेसासु ।

संगहणी गाहा—

काऊ य दोसु तइयाए मीसिया नीलिया चउत्थीए ।

पंचमियाए मीसा कण्हा तत्तो परम कण्हा ॥

—भग० श १ । उ ५ । सू २४४ । पृ० ४४

पहली और दूसरी नारकी में एक कापोतलेश्या, तीसरी में कापोत और नील, चौथी में एक नील, पंचमी में नील और कृष्ण, छठी में एक कृष्ण और सातवीं में एक परम कृष्णलेश्या होती है ।

०९ तिर्यञ्च में

तिरिक्खजोणियाणं भंते ! कइ लेस्साओ पन्नत्ताओ ? गोयमा !

व्वलेस्साओ पन्नत्ताओ, तं जहा—कण्हेस्सा जाव सुक्केस्सा ।

—पण्ण० प १७ । उ २ । सू १३ । पृ० ४३८

तिर्यञ्च में कृष्ण यावत् शुक्ल छओं लेश्या होती है ।

१०. एकेन्द्रिय में

(क) एगिन्द्रियाणं भंते ! कइ लेस्साओ पन्नत्ताओ ? गोयमा ! चत्तारि लेस्साओ पन्नत्ताओ, तं जहा—कणहलेस्सा जाव तेऊलेसा ।

—पण्ण० प १७ । उ २ । सू ८३ पृ० ४३८

—भग० श १७ । उ १२ । सू ८ । पृ० ७५२

एकेन्द्रिय में चार लेश्या होती है, यथा—कृष्णलेश्या, नीललेश्या, कापोतलेश्या, तेजोलेश्या ।

११ पृथ्वीकाय में

(क) पुढविकाइयाणं भंते ! कइ लेस्साओ ? गोयमा ! एवं चेव (जहा एगिन्द्रियाणं) ।

—पण्ण० प १७ । उ २ । सू १३ । पृ० ४३८

(ख) (पुढविकाइयाणं) तेसिणं भंते ! जीवाणं कइ लेस्साओ पन्नत्ताओ ? गोयमा ! चत्तारि लेस्साओ पन्नत्ताओ, तं जहा—कणहलेस्सा, नीललेस्सा, काऊलेस्सा, तेऊलेस्सा ।

—भग० श १६ । उ ३ । सू ६ । पृ० ७६२

(ग) असुरकुमाराणं चत्तारि लेस्सा पन्नत्ता, तं जहा—कणहलेस्सा नीललेस्सा काऊलेस्सा, तेऊलेस्सा एवं जाव थणियकुमाराणं एवं पुढविकाइयाणं ।

—ठाण० स्था ४ । उ ३ । सू ३६६-३७० । पृ० ६४०

(घ) भवणवइवाणमंतर पुढविआउवणस्सकाइयाणं च चत्तारि लेस्साओ ।

—ठाण० स्था २ । उ १ । सू ७२ । पृ० १८४

पृथ्वीकाय के जीवों में चार लेश्या होती है, यथा—कृष्णलेश्या, नीललेश्या, कापोतलेश्या, तेजोलेश्या ।

(च) (पुढविकाइए णं भंते ! जे भविए पुढविकाइएसु उववज्जित्तए) चत्तारि लेस्साओ ।

—भग० श २४ । उ १२ । सू १६७ । पृ० ८६८

पृथ्वीकाय में उत्पन्न होने योग्य पृथ्वीकायिक जीवों में चार लेश्या होती है ।

(छ) (पुढविकाइए णं भंते ! जे भविए पुढविकाइएसु उववज्जित्तए)
सो चेव अट्पणा जहन्नकालट्ठिईओ जाओ × × × लेस्साओ तित्ति ।

—भग० श २४ । उ १२ । सू १७१ । पृ० ८६६

पृथ्वीकाय में उत्पन्न होने योग्य जघन्य स्थितिधाले पृथ्वीकायिक जीवों में तीन लेश्या होती है ।

(ज) असुरकुमाराणं तओ लेसाओ संकिलिद्धाओ पन्नत्ताओ,
तं जहा—कण्हलेस्सा, नीललेस्सा, काऊलेस्सा × × × एवं पुढवि-
काइयाणं ।

—ठाण० स्था ३ । उ १ । सू ५६, ६१ । पृ० ५४५

पृथ्वीकाय में तीन संकिलिष्ट लेश्या होती है, यथा—कृष्ण, नील, कापोत-
लेश्या ।

'११'१ सूक्ष्म पृथ्वीकाय में

(सुहुमपुढविकाइया) तेसिणं भंते ! जीवाणं कइ लेस्साओ
पन्नत्ताओ ? गोयमा ! तित्ति लेस्साओ पन्नत्ताओ, तं जहा—
कण्हलेस्सा, नीललेस्सा काऊलेस्सा ।

—जीवा० प्रति १ । सू १३ । पृ० १०६

सूक्ष्म पृथ्वीकाय के जीवों में तीन लेश्या होती है, यथा—कृष्ण, नील,
कापोत लेश्या ।

'११'२ बादर पृथ्वीकाय में

चार लेश्या होती है ।

'११'३ स्निग्ध तथा खर पृथ्वीकाय में

(सण्हबायर पुढविकाइया ; खरबायर पुढविकाइया) चत्तारि
लेस्साओ ।

—जीव० प्रति १ । सू १५ । पृ० १०६

स्निग्ध तथा खर बादर पृथ्वीकाय में कृष्णादि चार लेश्या होती है ।

*११*४ अपर्याप्त बादर पृथ्वीकाय में
चार लेश्या होती है ।

*११*५ पर्याप्त बादर पृथ्वीकाय में
तीन लेश्या होती है ।

*१२ अप्काय में

(क) भवणवइवाणमंतर - पुढविआउवणस्सइकाइयाणं च चत्तारि
लेस्साओ ।

—ठाण० स्था १ । उ १ । सू २०० । पृ० ४६६

(ख) आउवणस्सइकाइयाणवि एवं चेव (जहा पुढविकाइयाणं) ।

—पण० प १७ । उ २ । सू १३ । पृ० ४३८

(ग) आउक्काइया × × × एवं जो पुढविकाइयाणं गमो सो चेव
भाणियन्वो ।

—भग० श १७ । उ ३ । सू २१ । पृ० ७६३

(घ) असुरकुमाराणं चत्तारि लेस्साओ पन्नत्ताओ, तं जहा—कण्ह-
लेस्सा नीललेस्सा, काउलेस्सा, तेऊलेस्सा × × × एवं × × × आउव-
णस्सइकाइयाणं ।

—ठाण० स्था ४ । उ ३ । सू ३६६-७० । पृ० ६४०

अप्काय के जीवों में चार लेश्या होती हैं ।

(ङ) असुरकुमाराणं तओ लेस्साओ संकिलिह्वाओ पन्नत्ताओ,
तं जहा—कण्हलेस्सा, नीललेस्सा, काउलेस्सा × × × एवं पुढविकाइ-
याणं आउवणस्सइकाइयाणं वि ।

—ठाण० स्था ३ । उ १ । सू ५६-६१ । पृ० ५४५

अप्काय में तीन संकिलिष्ट लेश्या होती है ।

१२१ सूक्ष्म अप्काय में

(सुहुमआउकाइया) जहेव सुहुमपुढविकाइयाणं ।

—जीवा० प्रति १ । सू १६ । पृ० १०६

सूक्ष्म अप्काय में तीन लेश्या होती है ।

१२२ बादर अप्काय में

(वायरआउकाइया) चत्तारि लेस्साओ ।

—जीवा० प्रति १ । सू १७ । पृ० १०६

बादर अप्काय में चार लेश्या होती है ।

१२३ अपर्याप्त बादर अप्काय में

चार लेश्या होती है ।

१२४ पर्याप्त बादर अप्काय में

तीन लेश्या होती है ।

१३ तेउकाय में

(क) तेउवाउवेइं दियतेइं दियचउरिंदियाणं जहा नेरइयाणं ।

—पण्ण० पद १७ । उ २ । सू १३ । पृ० ४३८

(ख) तेउवाउवेइं दियतेइं दियचउरिंदियाणं वि तओ लेस्सा जहा नेरइयाणं ।

—ठाण० स्था ३ । उ १ । सू ६२ । पृ० ५४५

(ग) तेउवाउवेइं दियतेइं दियचउरिंदियाणं तिन्रि लेस्साओ ।

—ठाण० स्था १ । उ १ । सू २०० । पृ० ४६६

तेउकाय में तीन लेश्या होती है ।

(घ) जइ तेउकाइएहिंतो (भविए पुढविकाइएसु) उववज्जंति
× × × तिण्णि लेस्साओ ।

—भग० श० २४ । उ १२ । सू १७६ । पृ० ८७१

पृथ्वीकाय में उत्पन्न होने योग्य तेउकायिक जीव में तीन लेश्या होती है ।

*१३*१ सूक्ष्म तेजकाय में

(सुहुमतेजकाइया) जहा सुहुमपुढविकाइयाणं ।

—जीवा० प्रति १ । सू २४ । पृ० ११०

सूक्ष्म तेजकाय में तीन लेख्या होती है ।

*१३*२ बादर तेजकाय में

(बायरतेजकाइया) तिन्नि लेस्सा ।

—जीवा० प्रति १ । सू २५ । पृ० १११

बादर तेजकाय में तीन लेख्या होती है ।

*१४ वायुकाय में ३—

देखो ऊपर तेजकाय के पाठ ('१३)

तीन लेख्या होती है ।

*१४*१ सूक्ष्म वायुकाय में

(सुहुमवाउकाइया)—जहा तेजकाइया ।

—जीवा० प्रति १ । सू २६ । पृ० १११

सूक्ष्म वायुकाय में तीन लेख्या होती है ।

*१४*२ बादर वायुकाय में

(बायर वाउकाइया) सेसं तं चेव (सुहुम वाउकाइया) ।

—जीवा० प्रति १ । सू २६ । पृ० १११

बादर वायुकाय में तीन लेख्या होती है ।

*१५ वनस्पतिकाय में

(क) आउवणस्सइकाइयाणधि एवं चेव (जहा पुढविकाइयाणं) ।

—पण्ण० प १७ । उ २ । सू १३ । पृ० ४३८

(ख) असुरकुमाराणं चत्तारि लेस्साओ पन्नत्ताओ, तं जहा—
कण्हेलेस्सा, नीलेस्सा, काऊलेस्सा, तेऊलेस्सा × × × एवं × × ×
आउवणस्सइकाइयाणं ।

—ठाण० स्था ४ । उ ३ । सू ३६६-७० । पृ० ६४०

(ग) भवणवइवाणमंतरपुढविआउवणस्सइकाइयाणं च चत्तारि लेस्साओ ।

—ठाण० स्था १ । उ १ । सू २०० । पृ० ४६६

वनस्पतिकाय के जीवों में चार लेख्या होती है ।

(घ) असुरकुमाराणं तओ लेस्साओ संकिलिद्धाओ पन्नत्ताओ, तं जहा—कण्हलेस्सा, नीललेस्सा, काऊलेस्सा × × × एवं पुढविकाइयाणं आउवणस्सइकाइयाणं वि ।

—ठाण० स्था ३ । उ १ । सू ५६, ६१ । पृ० ५४५

वनस्पतिकाय में तीन संकिलष्ट लेख्या होती है ।

*१५*१ सूक्ष्म वनस्पतिकाय में

(मुहुमवणस्सइकाइया) अवसेसं जहा पुढविकाइयाणं ।

—जीवा० प्रति १ । सू १८ । पृ० १०६

सूक्ष्म वनस्पतिकाय में तीन लेख्या होती है ।

*१५*२ बादर वनस्पतिकाय में

(वायरवणस्सइकाइया) तहेव जहा वायरपुढविकाइयाणं ।

—जीवा० प्रति १ । सू २१ । पृ० ११०

बादर वनस्पतिकाय में चार लेख्या होती है ।

*१५*३ अपर्याप्त बादर वनस्पतिकाय में

चार लेख्या होती है । पाठ नहीं मिला ।

*१५*४ पर्याप्त बादर वनस्पतिकाय में

तीन लेख्या होती है । पाठ नहीं मिला ।

*१५*५ प्रत्येक शरीर बादर वनस्पतिकाय में

चार लेख्या होती है । पाठ नहीं मिला ।

*१५*६ अपर्याप्त प्रत्येक बादर वनस्पतिकाय में

चार लेख्या होती है । पाठ नहीं मिला ।

*१५*७ पर्याप्त प्रत्येक बादर वनस्पतिकाय में

तीन लेख्या होती है । पाठ नहीं मिला ।

'१५'८ साधारण शरीर बादर वनस्पतिकाय में
तीन लेश्या होती है। पाठ नहीं मिला।

'१५'९ उत्पल आदि दस प्रत्येक बादर वनस्पतिकाय में

(क) (उत्पलेव्वं एकपत्तए) ते णं भंते ! जीवा किं कण्हलेसा ? नीललेसा ? काउलेसा ? तेउलेसा ? गोयमा ! कण्हलेसे वा जाव तेउलेसे वा ? कण्हलेस्सा वा नीललेस्सा वा काउलेस्सा वा तेउलेसा वा, अहवा कण्हलेसे य नीललेस्से य । एवं एए दुयासंजोगतियासंजोग-चउक्कसंजोगेणं असीती भंगा भवंति ।

—भग० श ११ । उ १ । सू १२ । पृ० ४८६-८७

उत्पल जीव में चार लेश्या होती हैं। उत्पल का एक जीव कृष्णलेश्या वाला यावत् तेजोलेश्या वाला होता है। अथवा अनेक जीव कृष्णलेश्या वाले, नीललेश्या वाले होते हैं, अथवा एक कृष्णलेश्या वाला तथा एक नीललेश्या वाला होता है। इस प्रकार द्विकसंयोग, त्रिकसंयोग, तथा चतुष्कसंयोग से सब मिलकर अस्सी भांगे कहना। एक पत्री उत्पल वनस्पतिकाय में प्रथम की चार लेश्या होती है। एक जीव के चार लेश्या, अनेक जीवों के भी चार लेश्या के चार भांगे = कुल ८ भांगे। द्विकसंयोग में एक तथा अनेक की चउभंगी होती है। कृष्णादि चार लेश्या के छः द्विकसंयोग होते हैं। उसको पूर्वोक्त चउभंगी के साथ गुणा करने से द्विकसंयोगी २४ विकल्प होते हैं। चार लेश्या के त्रिकसंयोगी ८ विकल्प होते हैं। उनको पूर्वोक्त चउभंगी के साथ गुणा करने से त्रिकसंयोगी के ३२ विकल्प होते हैं। तथा चतुष्कसंयोगी के १६ विकल्प होते हैं अतः सब मिलकर ८० विकल्प होते हैं।

(ख) (शालुए एगपत्तए) एवं उत्पलुद्देसगवत्तव्वया अपरिसेसा भाणियव्वा जाव अणंतसुत्तो ।

—भग० श ११ । उ ४२ । सू ४२ । पृ० ४९०

एक पत्री उत्पल की तरह एक पत्री शालुक को जानना।

(ग) (पलासे एगपत्तए) लेसासु—ते णं भंते ! जीवा किं कण्हलेसा, नीललेसा, काउलेस्सा ? गोयमा ! कण्हलेस्से वा नीललेस्से वा काउलेस्से वा छव्वीसं भंगा, सेसं तं चेव । सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति ।

—भग० श ११ । उ ३ । सू ४६ । पृ० ४९१

एकपत्री पलास वृक्ष में प्रथम तीन लेश्या होती है । एक और अनेक जीव की अपेक्षा से इसके २६ विकल्प जानना ।

(घ) (कुंभिए एगपत्तए) एवं जहा पलामुद्देसए तथा भाणियव्वे ।

—भग० श ११ । उ ४ । सू ४७ । पृ० ४६१

एकपत्री पलास की तरह एकपत्री कुंभिक में तीन लेश्या, २६ विकल्प होते हैं ।

(ङ) (नालिए एगपत्तए) एवं कुंभिएउद्देसगवत्तव्वया निरवसेसं भाणियव्वा ।

—भग० श ११ । उ ५ । सू ४६ । पृ० ४६२

एकपत्री नालिक वनस्पति में एकपत्री कुंभिक की तरह तीन लेश्या छव्वीस विकल्प होते हैं ।

(च) (पउमे एगपत्तए) एवं उप्पलुद्देसग वत्तव्वया निरवसेसा भाणियव्वा ।

—भग० श ११ । उ ६ । सू ५१ । पृ० ४६२

एकपत्री पद्म वनस्पतिकाय में उत्पल की तरह चार लेश्या तथा अस्सी भांगे होते हैं ।

(छ) (कन्निए एगपत्तए) एवं चेव निरवसेसं भाणियव्वं ।

—भग० श ११ । उ ७ । सू ५३ । पृ० ४६२

एकपत्री कर्णिका वनस्पतिकाय में उत्पल की तरह चार लेश्या, अस्सी विकल्प होते हैं ।

(ज) (नलिये एगपत्तए) एवं चेव निरवसेसं जाव अणंतखुत्तो ।

—भग० श ११ । उ ८ । सू ५५ । पृ० ४६३

एकपत्री नलिन वनस्पतिकाय के उत्पल की तरह चार लेश्या तथा अस्सी विकल्प होते हैं ।

‘१५’१० शालि, व्रीहि आदि वनस्पतिकाय में

(क) इमके मूल में

साली वीही गोधूम-जव जवजवाणं × × × जीवा मूलत्ताए—
ते णं भंते ! जीवा किं कण्हलेस्सा नीललेस्सा, काउलेस्सा, छव्वीसं भंगा ।

—भग० श २१ । व १ । उ १५ । सू १ । पृ० ८३५

शालि, व्रीही, गोधूम, यावत् जवजव आदि के मूल के जीवों में तीन लेश्या और द्वाव्वीस विकल्प होते हैं ।

(ख) इनके कंद में
तीन लेश्या, २६ विकल्प होते हैं ।

(ग) इनके स्कन्ध में
तीन लेश्या, २६ विकल्प होते हैं ।

(घ) इनकी त्वचा में
तीन लेश्या, २६ विकल्प होते हैं ।

(ङ) इनकी शाखा में
तीन लेश्या, २६ विकल्प होते हैं ।

(च) इनके प्रवाल में
तीन लेश्या, २६ विकल्प होते हैं ।

(छ) इनके पत्र में
तीन लेश्या, २६ विकल्प होते हैं ।

(ज) इनके पुष्प में

एवं पुष्फे वि उद्देसओ, नवरं देवा उववज्जंति जहा उप्पलुद्देसे
चत्तारि लेस्साओ, असीइ भंगा ।

चार लेश्या तथा अस्सी विकल्प होते हैं क्योंकि इनमें देवता उत्पन्न होते हैं ।

(झ) इनके फल में
जहा पुष्फे एवं फले वि उद्देसओ अपरिसेसो भाणियन्वो ।
फल में भी पुष्प की तरह चार लेश्या तथा अस्सी विकल्प होते हैं ।

(ट) इनके बीज में
एवं बीए वि उद्देसओ ।
बीज में भी पुष्प की तरह चार लेश्या तथा अस्सी विकल्प होते हैं ।

—भग० श २१ । व १ । उ २ से १० । सू १०, १२, १३ । पृ० ८३६

‘१५’११ कलाई आदि वनस्पतिकाय में

अह भंते ! कल-ससूर-तिल-मुग्ग-मास-निष्फावकुलत्थ-आलि-सदंग-सतीण फलिमंथगाणं × × × एवं मूलादीया दस उद्देसगा भाणियव्वा जहेव सालीणं निरवसेसं तहेव ।

—भग० श २१ । व ३ । उ १ से १० । सू १५ । पृ० ८३७

कलाई, मसूर, तिल, मूंग, अरहड़, बाल, कुलत्थी, आलिसंदक, सटिन, पालि-मंथक, वनस्पति के मूल, कन्द, स्कंध, त्वचा, शाखा, प्रवाल, पत्र में तीन लेश्या तथा २६ विकल्प तथा पुष्प-फल-बीज में चार लेश्या तथा अस्सी विकल्प होते हैं ।

‘१५’१२ अलसी आदि वनस्पतिकाय में

अह भंते ! अयसि कुसुंभ-कोद्व-कंगु-रालग-वरा-कोदूसा-सण-सरिसव-मूलगबीयाणं × × × एवं एत्थ वि मूलादीया दस उद्देसगा जहेव सालीणं निरवसेसं तहेव भाणियव्वा ।

—भग० श २१ । व ३ । उ १ से १० । सू १६ । पृ० ८३७

अलसी, कुसुम्भ, कोद्व, कांग, राल, कुवेर, कोदुसा, सण, सरसव, मूलकबीज वनस्पति के मूल, कन्द, स्कंध, त्वचा, शाखा, प्रवाल, पत्र में तीन लेश्या तथा २६ विकल्प होते हैं तथा पुष्प-फल-बीज में चार लेश्या तथा अस्सी विकल्प होते हैं ।

‘१५’१३ बांस आदि वनस्पतिकाय में

अह भंते ! वंस-वेणु-कणग-कक्कावंस-चारुवंस-दण्डा-कुडा-विमा-चण्डा-वेणुया-कल्लाणीणं × × × एवं एत्थवि मूलादीया दस उद्देसगा जहेव सालीणं, नवरं देवो सव्वत्थ वि न उववज्जह, तिन्नि लेस्साओ, सव्वत्थ वि छव्वीसं भंगा ।

—भग० श २१ । व ४ । सू १७ । पृ० ८३७

बांस, वेणु, मनक, ककविंश, चारुवंश, दण्डा, कुडा, विमा, चण्डा, वेणुका, कल्याणी, इनके मूल यावत् बीज में तीन लेश्या तथा छव्वीस विकल्प होते हैं ।

*१५*१४ इक्षु आदि वनस्पतिकाय में

अह भंते ! उक्खु-उक्खु-वाडिय-वीरण-इक्कड-भमास-सुंवि-सर-वेत्त-तिमिर-सयपोरग-नलाणं × × × एवं जहेव वंसवग्गो तहेव, एत्थ वि मूलादीया दस उद्देसगा, नवरं खंधुद्देसे देवो उववज्जति, चत्तारि लेस्साओ ।

—भग० श २१ । व ५ । सू १८ । पृ० ८३८

इक्षु, इक्षुवाटिका, वीरण, इक्कडभमास-सूँठ-शर-वेत्त-तिमिर-सयपोरग-नल—इनके स्कंध वाद मूलादि में तीन लेश्या, २६ विकल्प तथा स्कंध में चार लेश्या तथा अस्सी विकल्प होते हैं ।

*१५*१५ सेडिय आदि वृण विशेष वनस्पतिकाय में

अह भंते ! सेडिय-भंतिय कौतिय-दब्भ-दब्भकुस-पव्वग पादइल-अब्जुण-आसाढग-रोहियंस-सुय-वखीर-भुस-एरंड-कुरुकूंद-करकर-सुंठ-विभंगु-मधुरयण-थुरग-सिप्पिव-संकलितणाणं × × × एवं एत्थ वि दस उद्देसगा निरवसेसं जहेव वंसवग्गो ।

—भग० श २१ । व ६ । पृ० ८३८

सेडिय, भंतिय (भंडिय), दर्भ, कौतिय, दर्भकुस, पर्वक, पोदेइल (पोडदइल), अर्जुन (अंजन), आषाढक, रोहितक, समु, तवखीर, भुस, एरण्ड, कुरुकूंद, करकर, सूँठ, विभंग, मधुरयण (मधुवयण), थुरग, शिल्पिक, सुकलितृण—इनके मूल यावत् बीज में तीन लेश्या तथा २६ विकल्प होते हैं ।

*१५*१६ अभ्ररूह आदि वनस्पतिकाय में

अह भंते ! अब्भरूह-वायाण-हरितग-तंदुलेज्जग-तण-वत्थुल-पोरग-मज्जारयाईविल्लि-पालक्क दगपिप्पलिय-दव्वि-सोत्थिय-सायमंडुक्कि-मूलग-सरिसव-अंविलसाग-जियंतगाणं × × × एवं एत्थ वि दस उद्देसगा जहेव वंसवग्गो ।

—भग० श २१ । व ७ । पृ० ८३८

अभ्ररूह, वायण, हरितक, तांदलजो, वृण, वत्थुल, पोरक, मार्जारक, बिल्लि, (विल्लि), पालक, दगपिप्पली, दव्वि (दर्वी), स्वस्तिक, शाकमंडुकी, मूलक,

सरसव, अंबिलशाक, जियंतग—इनके मूल यावत् बीज में तीन लेश्या तथा २६ विकल्प होते हैं ।

१५.१७ तुलसी आदि वनस्पतिकाय में

अह भंते ! कुलसी-कण्ह-दराल-फणेज्जा-अज्जा-चूयणा-चोरा-जीरा
दमणा मरुया-इं दीवर-सयपुष्पाणं × × × एत्थ वि दस उद्देसगा
निरवसेसं जहा वंसाणं ।

—भग० श २१ । व ८ । पृ० ८३६

तुलसी, कृष्ण, दराल, फणेज्जा, अज्जा, चूतणा, चोरा, जीरा, दमणा, मरुया, इं दीवर, शतपुष्प—इनके मूल यावत् बीज में तीन लेश्या तथा २६ विकल्प होते हैं ।

१५.१८ ताल-तमाल आदि वनस्पतिकाय में

अह भंते ! ताल-तमाल-तक्कलि-तेतलि-साल-सरला-सारकल्लाणं
जावति केयति-कदलि-कंदलि-चम्मरुक्ख-भूयरुक्ख-हिंगुरुक्ख-लवंग-
रुक्ख-पूयफलि-खज्जूरि-नालएरीणं—मूले कन्दे खंभे तथाए साले य
एणसु पंचसु उद्देसगेषु देवो न उववज्जइ । तिन्निलेस्साओ × × ×
उवरिल्लेसु (पवाले-पत्ते-पुप्फे-फले-बीए) पंचसु उद्देसगेषु-देवो उवव-
ज्जइ । चत्तारिलेस्साओ ।

—भग० श २२ । व १ । पृ० ८४०

ताड, तमाल-तकलि, तेतलि, साल, देवदार, सारंगल यावत् केतकी, केला, कंदली, चर्मवृक्ष, गुंदवृक्ष, हिंगुवृक्ष, लवंगवृक्ष, सुपारीवृक्ष, खजूर, नारिकेल—इनके मूल, कंद-स्कंध, त्वचा (छाल) शाखा में तीन लेश्या तथा २६ विकल्प होते हैं ।
अदशेष—प्रवाल, पत्र, पुष्प, फल, बीज में चार लेश्या तथा अस्सी विकल्प होते हैं ।

१५.१९ लीमडा, आम्र आदि वनस्पतिकाय में

अह भंते ! निंबवज्जुकोसंबतालअंकोलपीलुसेलुसल्लइमोयइमालु-
यवउलपलासकरंजपुत्तंजीवगअरिद्धवहेलगहरियगभल्लाय उंबभरिय-
खीरणिधायइपियालपूइयणिवारग-सेण्हयपासियसीसवअयसिपुण्णा-

गनागरुक्खसीवण्णअसोगाणं-एएसि णं जे जीवा मूलत्ताए वक्कमंति ?
एवं मूलादीया दस उद्देसगा कायव्वा निरवसेसं जहा तालवग्गो ।

—भग० श २२ । व २ । पृ० ८८१

निम्ब, आम्र, जांबू, कोशंब, ताल, अंकोल्ल, पीलु, सेलु, सल्लकी, मोचकी, मालुक, वकुल, पलाश, करंज, पुत्रजीवक, अरिष्ट, बहेड़ा, हरड, भिलामा, उंबेभरिका, क्षीरिणी, धावडी, प्रियाल, पूतिनिम्ब, सेण्हय, पासिय, सीसम, अतसी, नागकेसर, नागवृक्ष, श्रीमणी, अशोक इनके मूल, कंद, स्कंध, त्वचा, शाखा में तीन लेश्या तथा २६ विकल्प होते हैं । अवशेष—प्रवाल, पत्र, पुष्प, फल, बीज में चार लेश्या तथा अस्सी विकल्प होते हैं ।

‘१५’२० अगस्तिक आदि वनस्पतिकाय में

अह भंते ! अत्थियत्तिदुयबोरकविट्ठअंवाडगमाउलिंगबिल्लआम-
लगफणसदाडिमआसोत्थउं बरवडणग्गोहनंदिहक्खपिप्पलिसतरिपिल-
कखुरुक्खकाउं बरियकुच्छुंभरिय -देवदालितिलगलउयछत्तोहसिरीसस-
त्तिवण्णदहिवण्णलौद्धवचंदण अज्जुणणीचकुडग-कलंवाणं-एएसि णं जे
जीवा मूलत्ताए वक्कमंति ते णं भंते ! × × × एवं एत्थ वि मूलादीया दस
उद्देसगा तालवग्गसरिसा णेयव्वा जाव वीयं ।

—भग० श २२ । व २ । पृ० ८४१

अगस्तिक, तिटुक, बोर, कोठी, अम्बाडग, बीजोरं, बित्त, आमलक, पनस, दाडिम, अश्वत्थ (पीपल), उंबर, वड, न्यग्रोध, नन्दिवृक्ष, पीपर, सतर, प्लक्षवृक्ष, काकोदुम्बरी, कस्तुम्भरि देवदालि, तिलक, लकुच, छत्रोध, शिरिष, सप्तपर्ण, दधिपर्ण, लोघक, घव, चन्दन, अर्जुन, नीप, कुटज, कदम्ब—इनके मूल, कन्द, स्कन्ध, त्वचा, शाखा में तीन लेश्या तथा २६ विकल्प होते हैं । अवशेष—प्रवाल, पत्र, पुष्प, फल, बीज में चार लेश्या तथा अस्सी विकल्प होते हैं ।

‘१५’२१ वैगन आदि वनस्पतिकाय में

अह भंते ! वाइंगणिअल्लइपौंढइ एवं जहा पणवणाए गाहाणु-
सारेणं णेयव्वं जाव गंजपाडलावासिअंकोत्ताणं एएसि णं जे जीवा
मूलत्ताए वक्कमंति एवं एत्थ वि मूलादीया दस उद्देसगा तालवग्ग-
सरिसा णेयव्वा जाव वीयं ति निरवसेसं जहा वंसवग्गो ।

—भग० श २२ । व ४ । पृ० ८४२

वेंगन, अल्लइ, (सल्लई) पौडइ, [थुंडकी, कच्छुरी, जासुमणा; रूपी आढकी; नीली, तुलसी, मातुलिगी, कस्तुंभरी, पिप्पलिका, अलसी, वल्ली, काकमाची, वुच्चु, पटोल, कंदली, विउव्वा, वत्थुल, बदर, पत्तउर, सियउर, जवसय, निगुंडी, कस्तुवरि, अत्थई, तलउडा, शण, पाण, कासमर्द, अग्घाडग, श्यामा, सिन्दुवार, करमर्द, अट्ठसग, करीर, ऐरावण, महित्थ, जाउलग, भालग, परिल्ली, गजभारिणी, कुब्बकारिया, भंडी, जीवन्ती, केतकी] गंज, पाटला, वासी, अंत्कोल—इनके मूल यावत् बीज में तीन लेश्या तथा २६ विकल्प होते हैं ।

‘१५’२२ सिरियक आदि वनस्पतिकाय में

अह भंते ! सिरियकाणवमालियकोरेंटगबंधुजीवगमणोज्जा जहा पणवणाए पढमपए गाहाणुसारेणं जाव नलणीय कुंदमहाजाईणं एएसिणं जे जीवा मूलत्ताए वक्कमंति ? एवं एत्थ वि मूलादीया दस उद्देसगा निरवसेसं जहा सालीणं ।

—भग० श २२ । व ५ । पृ० ८४२

सिरियक, नवमालिका, कोरंटक, बन्धुजीवक, मणोज्जा, (पिडय, पाण, कणेर, कुज्जय, सिन्दुवार, जाती, मोगरो, यूधिका, मल्लिका, वासन्ती, वत्थुल, कत्थुल, सेवाल, ग्रन्थी, मृगदन्तिका, चम्पक, जाति) नवणीइया, कुंद, महाजाति—इनके मूल यावत् पत्र में तीन लेश्या तथा २६ विकल्प होते हैं । पुष्प, फल, बीज में चार लेश्या तथा अस्सी विकल्प होते हैं ।

‘१५’२३ पूसफलिका आदि वनस्पतिकाय में

अह भंते ! पूसफलिकालिगीतुं बीतउसीएलावालुंकी एवं पयाणि छिंदियव्वाणि पणवणा गाहाणुसारेणं जहा तालवग्गे जाव दधि-फोल्लइकाकलिमोक्कलिअक्कवोदीणं एएसिणं जे जीवा मूलत्ताए वक्कमंति एवं एत्थ वि मूलादीया दस उद्देसगा कायव्वा जहा तालवग्गो, णवरं फलउद्देसे ओगाहणाए जहण्णेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं उक्कोसेणं धणुपुहुत्तं, ठिई सव्वत्थ जहण्णेणं अन्तोमुहुत्तं उक्कोसेणं वासपुहुत्तं सेसं तं चेव ।

—भग० श २२ । व ६ । पृ० ८४२

पूसफलिका, कालिगी, तंबडी, त्रपुषी, एलावाळुकी, (घोषातकी, पण्डोला, पंचागुलिका नीली, कण्डूइया, कट्ठुइया, कंकोडी, कारेली, सुभगा, कुयघाय,

वागुलीया, पाववल्ली, देवदाली, अफोया, अतिमुक्त, नागलता, कृष्णा, सूरवल्ली, संघट्टा, सुमणसा, जामुवण, कुंठिवल्ली, मुद्दिपा, द्राक्षना वेला, अम्बावल्ली, क्षीरविदारिका, जयन्ती, गोपाली, पाणी, मासावल्ली, गुंजावल्ली, बच्छाणी, शशबिन्दु, गौतमफुसिया, गिरिकर्णिका, मालुका, अञ्जनकी) दधिपुष्पिका, काकलि, सोकलि, अर्कबोदी—इनके मूल, कंद, स्कन्ध, त्वचा (छाल), शाखा में तीन लेइया तथा २६ विकल्प होते हैं । अवशेष—प्रवाल, पत्र, पुष्प, फल बीज में चार लेइया तथा अस्सी विकल्प होते हैं ।

अंक '१५'६ से '१५'२३ तक में वर्णित वनस्पतियाँ—प्रत्येक वनस्पतिकाय हैं ।

'१५'२४ आलुक आदि साधारण वनस्पतिकाय में

रायगिहे जाव एवं वयासी—अह भंते ! आलयमूलगसिगबेरहा-
लिइरुक्सकंडरिय - जारुच्छीरविरालिकिडिकुंदुकण्हकडउमहुपुयलइम-
हुसिगिणिरुहासप्पसुगंधाछिण्ण रुहवीयरुहाणं एसि णं जे जीवा
मूलत्ताए वक्कमंति एवं एत्थ वि मूलादीया दस उहेसगा कायव्वा
वंसवग्गसरिसा ।

—भग० श २३ । व १ । पृ० ८४२

आलुक, मूला, आदु, हलदी, रुक, कण्डरिक, जीरं, क्षीरविराली, किट्टी,
कुन्दु, कृष्ण, कडसु, मधु, पयलइ, मधुसिगी, निरुहा, सर्पसुगन्धा, छिन्नरुहा,
बीजरुहा—इनके मूल यावत् बीज में तीन लेइया तथा २६ विकल्प होते हैं ।

'१५'२५ लोही आदि वनस्पतिकाय में

अह भंते ! लोहीणीहूथीहूथिभगाअस्सकण्णीसीहकण्णीसीउंढीमु-
सुंढीणं एसि णं जे जीवा मूलत्ताए वक्कमंति एवं एत्थ वि दस उहेसगा
जहेव आलुयवग्गो ।

—भग० श २३ । व २ । पृ० ८४२

लोही, नीहू, थ्रीहू, थिभगा, अश्वकर्णी, सिंहकर्णी, सीउंढी, मुसुंढी—इनके
मूल यावत् बीज में तीन लेइया तथा २६ विकल्प होते हैं ।

'१५'२६ आय आदि वनस्पतिकाय में

अह भंते ! आयकायकुहुणकुंदुरुकडव्वेहलियासफासज्जात्तावंसा-

णियकुराणं एएसि णं जे जीवा मूलत्ताए वक्कमंति ? एवं एत्थं वि मूलादीया दस उद्देसगा निरवसेसं जहा आलुवग्गो ।

—भग० श २३ । व ३ । पृ० ८१४

आय, काय, कुहुणा, कुन्दुरुक्क, उव्वेहलिय, सफा, सेज्जा, छत्रा, वंशानिका, कुमारी—इनके मूल यावत् बीज में तीन लेश्या तथा छब्बीस विकल्प होते हैं ।

‘१५’२७ पाठा आदि वनस्पतिकाय में

अह भंते ! पाढामियवालंकिमहुररसारायवल्लिपउमामोढरिदं-
तिचंडीणं एएसि णं जे जीवा मूल० एवं एत्थं वि मूलादीया दस
उद्देसगा आलुवग्गसरिसा ।

—भग० श २३ । व ४ । पृ० ८१४

पाठा, मृगवालुंकी, मधुररसा, राजवल्ली, पद्मा; मोढरी, दंती, चण्डी—
इनके मूल यावत् बीज में तीन लेश्या तथा छब्बीस विकल्प होते हैं ।

‘१५’२८ माषपर्णी आदि वनस्पतिकाय में

अह भंते ! मासपण्णीमुग्गपण्णीजीवगसरिसवकरेणुयकाओलिखी-
रकाकोलिभंगिणहिकिमिरासिभदमुच्छणंगलइपयुयकिंणापउयलपाढे-
हरेणुयालोहीणं-एएसि णं जे जीवा मूल० एवं एत्थं वि दस उद्देसगा
निरवसेसं आलुवग्गसरिसा ।

—भग० श २३ । व ५ पृ० ८४४

मासपर्णी, मुद्गपर्णी, जीवक, सरसव, करेणुक, काकोली, क्षीरकाकोली,
भंगी, णही, कुमिराशि, भद्रमुस्ता, लांगली, पउय, किण्णा-पउलय, पाढ; हरेणुका,
लोही—इनके मूल यावत् बीज में तीन लेश्या तथा छब्बीस विकल्प होते हैं ।

एवं एत्थं पंचसु वि वग्गेषु पन्नासं उद्देसगा भाणियव्वा सव्वत्थ
देवा न उववज्जंति तिन्नि लेस्साओ । सेवं भंते- भंते ! त्ति ।

—भग० श २३ । पृ० ८४४

उपरोक्त (‘१५’२४ से ‘१५’२८ तक) साधारण वनस्पतिकाय के जीवों में
तीन लेश्या होती हैं . क्योंकि इनमें देवता उत्पन्न नहीं होते हैं ।

*१६ द्वीन्द्रिय में

(क) तेउवाउवेइं दियतेइं दियचउरिंदियाणं जहा नेरइयाणं ।

—पण्ण० प १७ । उ २ । सू १३ । पृ० ४३८

(ख) (वेइं दिया) तिन्निसेसाओ ।

—जीवा० प्रति १ । सू २८ । पृ० १११

(ग) तेउवाउवेइं दिय तेइं दियचउरिंदियाण वि तओ लेसा जहा नेरइयाणं ।

—ठाण० स्था ३ । उ १ । सू १८१ । पृ० २०५

(घ) तेउवाउवेइं दियतेइं दियचउरिंदिया णं तिन्निसेसाओ ।

—ठाण० स्था १ । उ १ । सू २०० । पृ० ४६६

द्वीन्द्रिय में तीन लेश्या होती है ।

*१७ त्रीन्द्रिय में

देखो ऊपर द्वीन्द्रिय के पाठ (*१६) तीन लेश्या होती है ।

(क) पंचेन्द्रियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा । गोयमा ! छल्लेसा—
कण्हलेसा जाव सुक्कलेसा ।

—पण्ण० प १७ । उ २ । सू १३ । पृ० ४३८

*१८ चतुरिन्द्रिय में

देखो ऊपर द्वीन्द्रिय के पाठ (*१६) तीन लेश्या होती है ।

*१९ तिर्यञ्च पंचेन्द्रिय में

(ख) पंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं छ लेसाओ पन्नत्ताओ,
तं जहा—कण्हलेसा जाव सुक्कलेसा ।

—ठाण० स्था ६ । सू ४८ । पृ० ७२३

(ग) पंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं मणुस्साणं छल्लेसाओ ।

—ठाण० स्था १ । उ १ । सू २०० । पृ० ४६६

तिर्यञ्च पंचेन्द्रिय के छः लेश्या होती है, यथा—कृष्णलेश्या यावत् शुक्ललेश्या ।
संक्लिष्टलेश्या तीन होती है—

(घ) पंचिदियतिरिक्खजोणियाणं तओ लेस्साओ संक्लिद्धाओ
पन्नत्ताओ, तं जहा—कण्हलेस्सा, नीललेस्सा, काऊलेस्सा ।

—ठाण० स्था ३ । उ १ । सू १८१ । पृ० २०५

तिर्यञ्च पंचेन्द्रिय में तीन संक्लिष्ट लेश्या होती है—यथा—कृष्ण, नील,
कापोत ।

असंक्लिष्ट लेश्या तीन होती है—

(ङ) पंचिदियतिरिक्खजोणियाणं तओ लेस्साओ असंक्लिद्धाओ
पन्नत्ताओ, तं जहा—तेऊस्सा, पण्हलेस्सा, सुक्कलेस्सा ।

—ठाण० स्था ३ । उ १ । सू १८१ । पृ० २०५

तिर्यञ्च पंचेन्द्रिय में तीन असंक्लिष्ट लेश्या होती है यथा—तेजोलेश्या;
पद्मलेश्या; शुक्ललेश्या ।

*१६*१ तिर्यञ्च पंचेन्द्रिय के विभिन्न भेदों में

(क) (खहयरपंचेदियतिरिक्खजोणियाणं) एएसि णं भंते ! जीवाणं
कइ लेस्साओ पन्नत्ताओ ? गोयमा ! छल्लेसाओ पन्नत्ताओ, तं जहा—
कण्हलेस्सा जाव सुक्कलेस्सा ।

(ख) (भुयपरिसप्पथलयरपंचेदियतिरिक्खजोणियाणं) एवं जहा
खहयराणं तहेव ।

(ग) (उरपरिसप्पथलयरपंचेदियतिरिक्खजोणियाणं) जहेव भुय-
परिसप्पाणं तहेव ।

(घ) (चउप्यथलयरपंचेदियतिरिक्खजोणियाणं) जहा पक्खीणं ।

(ङ) (जलयरपंचेदियतिरिक्खजोणियाणं) जहा भुयपरिसप्पाणं ।

—जीवा० प्रति ३ । उ १ । सू १७ । पृ० १४७-४८

जलचर, चतुष्पादस्थलचर, उरपरिसर्प स्थलचर, भुजपरिसर्प स्थलचर, क्षेत्र तिर्यञ्च पंचेन्द्रिय में छः लेख्या होती है ।

१६२ संमुच्छिम तिर्यञ्च पंचेन्द्रिय में

संमुच्छिमपंचेदियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा । गोयमा ! जहा नेरइयाणं ।

—पण्ण० प १७ । उ २ । सू १३ । पृ० ४३८

संमुच्छिम तिर्यञ्च पंचेन्द्रिय में तीन लेख्या होती है—यथा—कृष्ण-नील-कापोत ।

१६३ जलचर संमुच्छिम तिर्यञ्च पंचेन्द्रिय में

संमुच्छिमपंचेन्द्रियतिरिक्खजोणिया × × × जलयरा—लेस्साओ तिन्नि ।

—जीवा० प्रति १ । सू ३५ । पृ० ११३

जलचर संमुच्छिम तिर्यञ्च पंचेन्द्रिय में तीन लेख्या होती है ।

१६४ स्थलचर संमुच्छिम तिर्यञ्च पंचेन्द्रिय में

चतुष्पादस्थलचर संमुच्छिम में

(क) चउत्पय-थलयर-संमुच्छिमपंचेदियतिरिक्खजोणिया × × × जहा जलयराणं ।

—जीवा० प्रति १ । सू ३६ । पृ० ११४

चतुष्पाद स्थलचर संमुच्छिम तिर्यञ्च पंचेन्द्रिय में तीन लेख्या होती है ।

उरपरिसर्प स्थलचर संमुच्छिम में—

(ख) उरयपरिसप्पसंमुच्छिमा × × × जहा जलयराणं ।

—जीवा० प्रति १ । सू ३६ । पृ० ११४

उरपरिसर्प स्थलचर संमुच्छिम तिर्यञ्च पंचेन्द्रिय में तीन लेख्या होती है ।

भुजपरिसर्प स्थलचर संमुच्छिम में—

(ग) (भुजपरिसर्पसंमुच्छिद्यमथल्यरा) जहा जलयराणं ।

—जीवा० प्रति १ । सू ३६ । पृ० ११४

भुजपरिसर्प स्थलचर संमुच्छिद्यम तिर्य'च पंचेन्द्रिय में तीन लेश्या होती है ।

'१६'५ खेचर संमुच्छिद्यम तिर्य'च पंचेन्द्रिय में

(संमुच्छिद्यमपंचेन्द्रियतिरिक्खजोणिया × × × खह्यरा) जहा जलयराणं ।

—जीवा० प्रति १ । सू ३६ । पृ० ११५

खेचर (नभचर) संमुच्छिद्यम तिर्य'च पंचेन्द्रिय में तीन लेश्या होती है ।

'१६'६ गर्भज तिर्य'च पंचेन्द्रिय में

गढभवक्कंतिय-पंचेन्द्रियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा । गोयमा ! छल्लेस्सा—कण्हलेस्सा जाव सुक्कलेस्सा ।

—पण्ण० प १७ । उ २ । सू १३ । पृ० ४३८

गर्भज तिर्य'च पंचेन्द्रिय में ६ लेश्या होती है ।

'१६'७ गर्भज तिर्य'च पंचेन्द्रिय (स्त्री) में

तिरिक्खजोणियाणं पुच्छा । गोयमा ! छल्लेस्सा एयाओ चेव ।

—पण्ण० प १७ । उ २ । सू १३ । पृ० ४३८

तिर्य'च योनिक स्त्री (गर्भज तिर्य'च) में छः लेश्या होती है ।

'१६'८ जलचर गर्भज तिर्य'च पंचेन्द्रिय में

गढभवक्कंतिय-पंचेन्द्रियतिरिक्खजोणिया × × × जलयरा × × × छल्लेस्साओ ।

—जीवा० प्रति १ । सू ३८ । पृ० ११५

गर्भज जलचर तिर्य'च पंचेन्द्रिय में छः लेश्या होती है ।

'१६'९ स्थलचर गर्भज तिर्य'च पंचेन्द्रिय में

चतुष्पाद स्थलचर गर्भज तिर्य'च पंचेन्द्रिय में

(क) गढभवक्कंतियपंचेंदियतिरिक्खजोणिया × × थलयरा × ×
चउप्पया × × जहा जलयराणं ।

—जीवा० प्रति १ । सू ३८ । पृ० ११६

चतुष्पाद स्थलचर गर्भज तिर्यंच पंचेन्द्रिय में ६ लेख्या होती है ।

उरपरिसर्प स्थलचर गर्भज तिर्यंच पंचेन्द्रिय में

(ख) गढभवक्कन्तियपंचेंदियतिरिक्खजोणिया × × थलयरा × ×
परिसप्पा × × उरपरिसप्पा—जहा जलयराणं ।

—जीवा० प्रति १ । सू ३८ । पृ० ११६

उरपरिसर्प स्थलचर गर्भज तिर्यंच पंचेन्द्रिय में छः लेख्या होती है ।

भुजपरिसर्प स्थलचर गर्भज तिर्यंच पंचेन्द्रिय में—

(ग) गढभवक्कंतियपंचेंदियतिरिक्खजोणिया × × थलयरा × ×
परिसप्पा × × भुयपरिसप्पा—जहा उरपरिसप्पा ।

—जीवा० प्रति १ । सू ३८ । पृ० ११६

भुजपरिसर्प स्थलचर गर्भज तिर्यंच पंचेन्द्रिय में छः लेख्या होती है ।

'१६'१० खेचर (नभचर) गर्भज तिर्यंच पंचेन्द्रिय में

गढभवक्कंतिय-पंचेंदियतिरिक्खजोणिया × × × खहयरा—जहा
जलयराणं ।

—जीवा० प्रति १ । सू ३८ । पृ० ११६

खेचर (नभचर) गर्भज तिर्यंच पंचेन्द्रिय में छः लेख्या होती है ।

'२० मनुष्य में

(क) मणूस्सा णं पुच्छा । गोयमा ! छल्लेस्सा एयाओ चेव ।

—पण्ण० प १७ । उ २ । सू १३ । पृ० ४३८

(ख) मणुस्साणं भंते ! कइ लेस्साओ पन्नत्ताओ ? गोयमा ! छ
लेस्साओ पन्नत्ताओ ? तं जहा—कणहलेस्सा जाव सुक्कलेस्सा ।

—पण्ण प १७ । उ ६ । सू १ । पृ० ४५१

(ग) पंचिदियतिरिक्खजोणियाणं छ लेस्साओ पन्नत्ताओ, तं जहा—कण्हलेस्सा जाव सुक्कलेस्सा, एवं मणुस्सदेवाण वि ।

—ठाण० स्था ६ । सू ५०४ । पृ० २७२

(घ) पंचिदियतिरिक्खजोणियाणं मणुस्साणं छल्लेस्साओ ।

—ठाण० स्था १ । सू २०० । पृ० ४६६

मनुष्य में छः लेश्या होती है ।

संकिल्लिट लेश्या तीन होती है ।

(ङ) पंचिदियतिरिक्खजोणियाणं तओ लेस्साओ संकिल्लिट्ठाओ पन्नत्ताओ, तं जहा—कण्हलेस्सा, नील्लेस्सा, काउलेस्सा × × × एवं मणुस्साण वि ।

—ठाण० स्था ३ । उ १ । सू १८१ । पृ० २०५

मनुष्य में तीन संकिल्लिट लेश्या होती है, यथा—कृष्णलेश्या, नील्लेश्या, कापोतलेश्या ।

असंकिल्लिट लेश्या तीन होती है ।

(च) पंचिदियतिरिक्खजोणियाणं तओ लेस्साओ असंकिल्लिट्ठाओ पन्नत्ताओ, तं जहा—तेउलेस्सा, पम्हलेस्सा, सुक्कलेस्सा × × × एवं मणुस्साण वि ।

—ठाण० स्था ३ । उ १ । सू १८१ । पृ० २०५

मनुष्य में तीन असंकिल्लिट लेश्या होती है यथा—तेजोलेश्या, पक्षलेश्या, शुक्ललेश्या ।

‘२०’१ संमुच्छिद्धम मनुष्य में

संमुच्छिद्धमणुस्साणं पुच्छा । गोयमा ! जहा नेरइयाणं ।

—पण्ण० प १७ । उ २ । सू १३ । पृ० ४३८

संमुच्छिद्धम मनुष्य में प्रथम की तीन लेश्या होती है ।

‘२०’२ गर्भज मनुष्य में

(क) गन्भवक्कंतियमणुस्साणं पुच्छा । गोयमा ! छल्लेसाओ पन्नत्ताओ, तं जहा—कण्हलेस्सा जाव सुक्कलेस्सा ।

—पण्ण० प १७ । उ २ । सू १३ । पृ० ४३८

(ख) (गढभवक्कंतियमणुस्सा) ते णं भंते ! जीवा किं कण्हलेस्सा जाव अलेस्सा । गोयमा ! सव्वेवि ।

—जीवा० उ १ । सू ४१ । पृ० ११६

गर्भज मनुष्य में ६ लेश्या होती है । अलेशी भी होता है ।

*२०*३ गर्भज मनुष्यणी में

(क) मणुस्सीणं पुच्छा । गोयमा ! एवं चेव ।

—पण्ण० प १७ । उ २ । सू १३ । पृ० ४३८

(ख) मणुस्सीणं भंते ! पुच्छा । गोयमा ! छल्लेस्साओ पन्नत्ताओ, तं जहा—कण्हा जाव सुक्का ।

—पण्ण० प १७ । उ ६ । सू १ पृ० ४५१

मनुष्यणी (गर्भज) में छः लेश्या होती है ।

*२०*४ कर्मभूमिज मनुष्य तथा मनुष्यणी में

कम्मभूमयमणुस्साणं भंते ! कइ लेस्साओ पन्नत्ताओ ? गोयमा ! छ लेस्साओ पन्नत्ताओ, तं जहा—कण्हा जाव सुक्का । एवं कम्मभूमय-मणुस्सीणवि ।

—पण्ण० प १७ । उ ६ । सू १ । पृ० ४५१

कर्मभूमिज मनुष्य में छः लेश्या होती है ।

इसी प्रकार कर्मभूमिज मनुष्यणी (स्त्री) में भी छः लेश्या होती है ।

*२०*५ कर्मभूमिज मनुष्य और मनुष्यणी के विभिन्न भेदों में

(क) भरत—ऐरभरत क्षेत्र के (कर्मभूमिज) मनुष्य में

भरहेरवयमणुस्साणं भंते ! कइ लेस्साओ पन्नत्ताओ ? गोयमा ! छल्लेस्साओ पन्नत्ताओ, तं जहा—कण्हा जाव सुक्का । एवं मणु-स्सीणवि ।

—पण्ण० प १७ । उ ६ । सू १ । पृ० ४५१

भरत—ऐरभरत क्षेत्र के मनुष्य में छः लेश्या होती है । इसी प्रकार मनुष्यणी (स्त्री) में भी छः लेश्या होती है ।

(ख) महाविदेह क्षेत्र (कर्मभूमिज) के मनुष्य में

पुंर्वविदेहे अवरविदेहे कम्मभूमयमणुस्साणं कइ लेस्साओ पन्नत्ताओ, गोयमा ! छल्लेस्साओ, तं जहा—कण्हा जाव सुक्का । एवं मणुस्सीणवि ।

—पण्ण० प १७ । उ ६ । सू १ । पृ० ४५१

पूर्व और पश्चिम महाविदेह के कर्मभूमिज मनुष्य में छः लेश्या होती है । इसी प्रकार मनुष्यणी (स्त्री) में भी छः लेश्या होती है ।

*२०*६ अकर्मभूमिज मनुष्य तथा मनुष्यणी में

अकम्मभूमयमणुस्साणं पुच्छा । गोयमा ! चत्तारि लेस्साओ पन्नत्ताओ, तं जहा—कण्हा जाव तेऊलेस्सा । एवं अकम्मभूमयमणुस्सीणवि ।

—पण्ण० प १७ । उ ६ । सू १ । पृ० ४५१

अकर्मभूमिज मनुष्य में चार लेश्या होती है । इसी प्रकार मनुष्यणी (स्त्री) में भी चार लेश्या होती है ।

*२०*७ अकर्मभूमिज मनुष्य और मनुष्यणी के विभिन्न भेदों में

(क) हेमवय—हैरण्यवय अकर्मभूमिज मनुष्य में

एवं हेमवयएरण्यवयअकम्मभूमयमणुस्साणं मणुस्सीण य कइ लेस्साओ पन्नत्ताओ ? गोयमा ! चत्तारि, तं जहा—कण्हा जाव तेऊलेस्सा ।

—पण्ण० प १७ । उ ६ । सू १ । पृ० ४५१

हेमवय—हैरण्यवय अकर्मभूमिज मनुष्य तथा मनुष्यणी में चार लेश्या होती है ।

(ख) हरिवास—रम्यकवास अकर्मभूमिज मनुष्य में

हरिवासरम्मयअकम्मभूमयमणुस्सा मणुस्सीण य पुच्छा । गोयमा ! चत्तारि, तं जहा—कण्हा जाव तेऊलेस्सा ।

—पण्ण० प १७ । उ ६ । सू १ । पृ० ४५१

हरिवास—रम्यकवास अकर्मभूमिज मनुष्य—मनुष्यणी में चार लेख्या होती है ।

(ग) देवकुरु—उत्तरकुरु अकर्मभूमिज मनुष्य में

देवकुरु - उत्तरकुरु - अकर्मभूमयमणुस्सा एवं चेव । एएसिं चेव मणुस्सीणं एवं चेव ।

—पण्ण० प १७ । उ ६ । सू १ । पृ० ४५१

देवकुरु—उत्तरकुरु अकर्मभूमिज मनुष्य में चार लेख्या होती है । इसी प्रकार मनुष्यणी में भी चार लेख्या होती है ।

(घ) धातकीखण्ड और पुष्कर द्वीप के अकर्मभूमिज मनुष्य में

धायइखंडपुरिमद्धे वि एवं चेव, पच्छिमद्धे वि । एवं पुक्खरदीवे वि भाणियन्वं ।

—पण्ण० प १७ । उ ६ । सू १ । पृ० ४५१

इसी प्रकार धातकीखण्ड के पूर्वार्द्ध तथा पश्चिमार्ध के हेमवय, हैरण्यवय, हरिवास, रम्यकवास, देवकुरु, उत्तरकुरु अकर्मभूमिज मनुष्य तथा मनुष्यणी में चार लेख्या होती है ।

इसी प्रकार पुष्करद्वीप के पूर्वार्द्ध तथा पश्चिमार्ध के हेमवय, हैरण्यवय; हरिवास, रम्यकवास, देवकुरु, उत्तरकुरु अकर्मभूमिज मनुष्य तथा मनुष्यणी में चार लेख्या होती है ।

२० अन्तर्द्वीपज मनुष्य और मनुष्यणी में

एवं अंतरद्वीवगमणुस्साणं, मणुस्सीण वि ।

—पण्ण० प १७ । उ ६ । सू १ । पृ० ४५१

इसी प्रकार अंतर्द्वीपज मनुष्य तथा मनुष्यणी में चार लेख्या होती है ।

२१ औषिक देव में

(क) देवाणं पुच्छा । गोयमा ! छ एयाओ चेव ।

—पण्ण० प १७ । उ २ । सू १३ । पृ० ४५८

(ख) पंचिदियतिरिक्खजोणियाणं छल्लेस्साओ पन्नत्ताओ, तं जहा—कण्हलेस्सा जाव सुक्खलेस्सा । एवं मणुस्सदेवाणवि ।

—ठाण० स्था ६ । सू ५०४ । पृ० २७२

(ग) (देवा) छल्लेस्साओ ।

—जीवा० प्र १ । सू ४२ । पृ० ११७

देव में छः लेश्या होती है ।

*२१*१ औधिक देवी में

देवीणं पुच्छा । गोयमा ! चत्तारि—कण्हलेस्सा जाव तेऊलेस्सा ।

—पण्ण० प १७ । उ २ । सू १३ । पृ० ४३८

देवी में चार लेश्या होती है ।

*२२ भवनपति देव में

(क) भवणवासीणं भंते ! देवाणं पुच्छा । गोयमा ! एवं चेव ।

—पण्ण० प १७ । उ २ । सू १३ । पृ० ४३८

(ख) असुरकुमाराणं चत्तारि लेस्सा पन्नत्ता, तं जहा—कण्हलेस्सा-नीललेस्सा-काऊलेस्सा-तेऊलेस्सा, एवं जाव थणियकुमाराणं ।

—ठाणा० स्था ४ । उ ३ । सू ३६६-३७० । पृ० ६४०

(ग) भवणवइवाणमंतरपुढविआउवणस्सइकाइयाणं च चत्तारि लेस्साओ ।

—ठाणा० स्था १ । सू २०० । पृ० ४६६

असुरकुमार यावत् स्तनितकुमार—दसों भवनपति देवों में चार लेश्या होती है ।

(घ) तीन संकिल्लट लेश्या होती है ।

असुरकुमाराणं तओ लेस्साओ संकिल्लिद्धाओ पन्नत्ताओ, तं जहा—कण्हलेस्सा, नीललेस्सा, काऊलेस्सा । एवं जाव थणियकुमाराणं ।

—ठाणा० स्था ३ । उ १ । सू ५६, ६० । पृ० २५४

असुरकुमार यावत् स्तनितकुमार—दसों भवनपति देवों में तीन संकिल्लट लेश्या होती है ।

‘२२’१ भवनपति देवी में

एवं भवणवासिणीण वि ।

—पण० प १७ । उ २ । सू १३ । पृ० ४३८

भवनपति देवी में चार लेख्या होती है ।

‘२१’३ भवनपति देव के विभिन्न भेदों में

(क) दीवकुमारा णं भंते ! कइ लेस्साओ पन्नत्ताओ ? गोयमा !
चत्तारि लेस्साओ पन्नत्ताओ, तं जहा—कण्हलेस्सा जाव तेऊलेस्सा ।

—भग० श १६ । उ ११ । पृ० ७३७

(ख) उदहिकुमारा णं भंते × × × एवं चेव ।

—भग० श १६ । उ १२ । पृ० ७३७

(ग) एवं दिसाकुमारा वि ।

—भग० श १६ । उ १३ । पृ० ७३७

(घ) एवं थणियकुमारा वि ।

—भग० श १६ । उ १४ । पृ० ७३७

(ङ) नागकुमारा णं भंते ! × × × जहा सोलसमसए दीवकुमारु-
हेसए तहेव निरवसेसं भाणियव्वं जाव इड्डीति ।

—भग० श १७ । उ १३ । पृ० ७५३

(च) सुवण्णकुमारा णं भंते ! × × × एवं चेव ।

—भग० श १७ । उ १४ । पृ० ७५३

(छ) विज्जुकुमारा णं भंते ! × × × एवं चेव ।

—भग० श १७ । उ १५ । पृ० ७५३

(ज) वाउकुमारा णं भंते ! × × × एवं चेव ।

—भग० श १७ । उ १६ । पृ० ७५३

(झ) अग्गिकुमारा णं भंते ! × × × एवं चेव ।

—भग० श १७ । उ १७ । पृ० ७५३

द्वीपकुमार में चार लेख्या होती हैं—यथा—कृष्ण, नील, कापोत, तेजो ।
इसी प्रकार नागकुमार यावत् स्तनितकुमार देव में चार लेख्या होती है ।

(व) (चउसद्वए णं भंते ! असुरकुमारावाससयसहस्सेसु एगभेगंसि
असुरकुमारावासंसि) एवं लेसासु वि, नवरं कइ लेसाओ पन्नत्ताओ ?
गोयमा ! चत्तारि, तं जहा—कण्हा, नीला, काऊ, तेऊलेस्सा ।

—भग श १ उ ५ । सू १६० की टीका

असुरकुमारों सम्बन्धी अलग पाठ टीका ही में मिला है । असुरकुमार में
चार लेख्या होती है ।

*२३ वाणव्यंतर देव में

(क) वाणमंतरदेवाणं पुच्छा । गोयमा ! एवं चेव ।

—पण्ण० प १७ । उ २ । सू १३ । पृ० ४३८

(ख) वाणमंतराणं सध्वेसि जहा असुरकुमाराणं ।

—ठाण० स्था ४ । उ ३ । सू ३७० । पृ० ६४०

(ग) भवणवइ - वाणमंतरपुढवि - आउणस्सइकाइयाणं चत्तारि
लेस्साओ ।

—ठाण० स्था १ । सू २०० । पृ० ४६६

(घ) वाणमंतराणं × × × एवं जहा सोलसमसए दीवकुमारू-
हेसए ।

—भग० श १६ । उ १० । पृ० ८०५

वाणव्यंतर देव में चार लेख्या होती है ।

तीन संकिल्लट लेख्या होती है ।

(ङ) वाणमंतरा णं जहा असुरकुमाराणं ।

—ठाण० स्था ३ । उ १ । सू ६७ । पृ० ५४६

वाणव्यंतर देव में तीन संकिल्लट लेख्या होती है ।

*२३*१ वाणव्यंतर देवी में

एवं वाणमंतरीण वि ।

—पण्ण० प १७ । उ २ । सू १३ । पृ० ४३८

बाणशयंतर देवी में चार लेख्या होती है ।

•२४ ज्योतिषी देव में

(क) जोइसियाणं पुच्छा । गोयमा ! एगा तेऊलेस्सा ।

—पण्ण० प १७ । उ २ । सू १३ । पृ० ४३८

(ख) जोइसियाणं एगा तेऊलेस्सा ।

—ठाण० स्था १ । सू २०० । ४६६

ज्योतिषी देवों में एक तेजो लेख्या होती है ।

•२४'१ ज्योतिषी देवी में

एवं जोइसिणीण वि ।

—पण्ण० प १७ । उ २ । सू १३ । पृ० ४३८

ज्योतिषी देवी में एक तेजो लेख्या होती है ।

•२५ वैमानिक देव में

(क) वैमाणियाणं पुच्छा । गोयमा ! तिन्नि लेस्सा पन्नत्ता,
तं जहा—तेऊलेस्सा, पम्हलेस्सा, सुक्कलेस्सा ।

—पण्ण० प १७ । उ २ । सू १३ । पृ० ४३८

(ख) वैमाणियाणं तओ लेस्साओ पन्नत्ताओ, तं जहा—तेऊलेस्सा,
पम्हलेस्सा, सुक्कलेस्सा ।

—ठाण० स्था ३ । उ १ । सू ६८ । पृ० ५४६

(ग) वैमाणियाणं तिन्नि उवरिमलेस्साओ ।

—ठाण० स्था १ । सू २०० । पृ० ४६६

वैमानिक देव में तीन लेख्या होती है, यथा—तेजो, पद्म, शुक्ल लेख्या ।

•२५'१ वैमानिक देवी में

वैमाणियाणं पुच्छा । गोयमा ! एगा तेऊलेस्सा ।

—पण्ण० प १७ । उ २ । सू १३ । पृ० ४३८

वैमानिक देवी में एक तेजो लेश्या होती है ।

*२५*३ वैमानिक देव के विभिन्न भेदों में

(क) सौधर्म—ईशान देव में

(१) सोहम्मीसाणदेवाणं कइ लेस्साओ पन्नत्ताओ ? गोयमा !
एगा तेऊलेस्सा पन्नत्ता ।

—जीवा० प्रति ३ । सू २१५ । पृ० २३६

(२) दोसु कप्पेसु देवा तेऊलेस्सा पन्नत्ता, तं जहा—सोहम्मे चेव
ईसाणे चेव ।

—ठाण० स्था २ । उ ४ । सू ४४५ । पृ० ५३६

सौधर्म तथा ईशान देवलोक के देव में एक तेजो लेश्या होती है ।

(ख) सनत्कुमार-माहेन्द्र-ब्रह्म में

सणकुमारमाहिदेसु एगा पम्हलेस्सा, एवं बम्हलोगेवि पम्हा ।

—जीवा० प्रति ३ । सू २१५ । पृ० २३६

सनत्कुमार—माहेन्द्र—ब्रह्म देव में एक पद्म लेश्या होती है ।

(ग) ब्रह्मलोक के बाद के देव में (लांतक से नव भ्रूवेयक देव में) ।

सेसेसु एगा सुक्कलेस्सा ।

—जीवा० प्रति ३ । सू २१५ । पृ० २३६

लांतक से नव भ्रूवेयक देव में एक शुक्ल लेश्या होती है ।

(घ) अनुत्तरोपपातिक देव में

अणुत्तरोववाइयाणं एगा परमसुक्कलेस्सा ।

—जीवा० प्रति ३ । सू २१५ । पृ० २३६

अनुत्तरोपपातिक देव में एक परम शुक्ल लेश्या होती है ।

२६ औधिक पंचेन्द्रिय में

(पंचिदिया) छल्लेस्साओ ।

—भग० श २० । उ १ । सू ४ । पृ० ८०६

(औषिक) पंचेन्द्रिय के छः लेश्या होती है ।

समूच्चय गाथा

कण्हानीलाकाऊतेऊलेस्सा य भवणवंतरिया ।
 जोइससोहम्मीसाणे तेऊलेस्सा मुणैयन्वा ॥
 कप्पेसाणकुमारे माहिंदे चैव बंभलोए य ।
 एएसु पम्हलेस्सा तेणं परं सुक्कलेस्साओ ॥
 पुढवीआउवणस्सइ बायर पत्तेय लेस्स चत्तारि ।
 गन्भयतिरयनरेसु छल्लेस्सा तिण्णिण सेसाणं ॥

—संग्रह गाथा

—भग० श १ । उ २ । सू ६७ टीका से

भवनपति तथा वाणव्यंतर देव में चार लेश्या, ज्योतिष-सौघर्म-ईशान देव में तेजो लेश्या, सनत्कुमार-माहेन्द्र-ब्रह्मा देव में पद्म लेश्या, लांतक से अनुत्तरोपपातिक देव में शुक्ललेश्या, पृथ्वीकाय-अपकाय, बादर प्रत्येक शरीरी वनस्पतिकाय में चार लेश्या, गर्भज तिर्यञ्च-मनुष्य में छः लेश्या, शेष जीवों में तीन लेश्या होती है ।

*२७ गुणस्थान के अनुसार जीवों में

- *२७'१ (क) प्रथम गुणस्थान के जीवों में—छः लेश्या होती है ।
 (ख) द्वितीय गुणस्थान के जीवों में—छः लेश्या होती है ।
 (ग) तृतीय गुणस्थान के जीवों में—छः लेश्या होती है ।
 (घ) चतुर्थ गुणस्थान के जीवों में—छः लेश्या होती है ।
 (ङ) पंचम गुणस्थान के जीवों में—छः लेश्या होती है ।
 (च) षष्ठम गुणस्थान के जीवों में—छः लेश्या होती है ।
 (छ) सप्तम गुणस्थान के जीवों में—अन्तिम तीन लेश्या होती है ।
 (ज) अष्टम गुणस्थान के जीवों में—एक शुक्ल लेश्या होती है ।
 (झ) नवम गुणस्थान के जीवों में—एक शुक्ल लेश्या होती है ।
 (ट) दशम गुणस्थान के जीवों में—

(नियंटे णं भंते ! पुच्छा । गोयमा ! सलेस्से होज्जा नो अलेस्से होज्जा, जइ सलेस्से होज्जा, से णं भंते ! कइसु लेस्सासु होज्जा ? गोयमा ! एगाए सुक्कलेस्साए होज्जा ।) सुहुमसंपराए जहा नियंटे ।

—भग० श २५ । उ ७ । सू ५०२ । पृ० ६६२

दशवें (सूक्ष्मसंपराय) गुणस्थान जीव में एक शुक्ललेश्या होती है ।

ट—ग्यारहवें गुणस्थान के जीवों में—

नियंटे णं भंते ! पुच्छा । गोयमा ! सलेस्से होज्जा, णो अलेस्से होज्जा, जइ सलेस्से होज्जा, से णं भंते ! कइसु लेस्सासु होज्जा ? गोयमा ! एगाए सुक्कलेस्साए होज्जा ।

—भग० श २५ । उ ६ । सू ३७७-३७८ । पृ० ६४८

ग्यारहवें गुणस्थान के जीव में एक शुक्ललेश्या होती है ।

ठ—बारहवें गुणस्थान के जीवों में—

एक शुक्ललेश्या होती है ।

ड—तेरहवें गुणस्थान के जीवों में—

सिणाए पुच्छा, गोयमा ! सलेस्से वा होज्जा, अलेस्से वा होज्जा जइ सलेस्से होज्जा ? से णं भंते ! कइसु लेस्सासु होज्जा ? गोयमा ! एगाए परमसुक्कलेस्साए होज्जा ।

—भग० श २५ । उ ६ । सू ३७६-३८० । पृ० ६४८

तेरहवें गुणस्थान में एक परम शुक्ललेश्या होती है ।

ढ—चौदहवें गुणस्थान के जीवों में (देखो पाठ ऊपर) अलेशी होते हैं ।

*२८ संघतियों में

क—पुलाक में

पुलाए णं भंते ! किं सलेस्से होज्जा, अलेस्से होज्जा ? गोयमा ! सलेस्से होज्जा, णो अलेस्से होज्जा, जइ सलेस्से होज्जा, से णं भंते ! विइसु लेस्सासु होज्जा ? गोयमा ! तिसु विसुद्धलेस्सासु होज्जा, तं जहा—तेऊलेस्साए, पम्हलेस्साए, सुक्कलेस्साए ।

—भग० श २५ । उ ६ । सू ३७३-३७४ । पृ० ८४७

पुलाक में तीन लेख्या होती है—यथा, तेजोलेख्या, पद्मलेख्या, शुक्ललेख्या ।

स—बकुस में

एवं बउसस्स वि ।

—भग० श २५ । उ ६ । सू ३७४ । पृ० ६४७

बकुस में पुलाक की तरह तीन लेख्या होती है ।

ग—प्रतिसेवना कुशील में

एवं पडिसेवणाकुसीले वि ।

—भग० श २५ । उ ६ । सू ३७४ पृ० ६४७

प्रतिसेवना कुशील में भी पुलाक की तरह तीन लेख्या होती है ।

नोट—तत्त्वार्थ सूत्र के भाष्य में बकुस और प्रतिसेवना कुशील में छः लेख्या बताई है ।

बकुशप्रतिसेवनाकुशीलयोः सर्वाः षडपि ।

—तत्त्व० अ ६ । सू ४६ । भाष्य । पृ० ४३५

घ—कषाय कुशील में

कसायकुसीले पुच्छा । गोयमा ! सलेस्से होज्जा णो अलेस्से होज्जा, जइ सलेस्से होज्जा से णं भंते ! कइसु लेस्सासु होज्जा ? गोयमा ! इसु लेस्सासु होज्जा, तं जहा—कण्हेस्साए जाव सुक्क-लेस्साए ।

—भग० श २५ । उ ६ । सू ३७५-३७६ । पृ० ६४७-६४८

कषाय कुशील में छः लेख्या होती है ।

नोट—तत्त्वार्थ भाष्य में कषाय कुशील में तीन शुभलेख्या बताई है ।

—तत्त्व० अ ६ । सूत्र ४६ । भाष्य । पृ० ४३५

ङ—निग्रन्थ में

नियंठे णं भंते ! पुच्छा । गोयमा ! सलेस्से होज्जा, णो अलेस्से होज्जा । जइ सलेस्से होज्जा, से णं भंते ! कइसु लेस्सासु होज्जा ? गोयमा ! एगाए सुक्कलेस्साए होज्जा ।

—भग० श २५ । उ ६ । सू ३७७-३७८ । पृ० ६४८

निग्रन्थ में एक लेख्या होती है ।

ब—स्नातक में

सिणाए पुच्छा । गोयमा ! सलेस्से वा होजा, अलेस्से वा होजा,
जइ सलेस्से होजा से णं भंते ! कइसु लेस्सासु होजा ? गोयमा !
एगाए परमसुकलेस्साए होजा ।

—भग० श २५ । उ ६ । सू ३७६, ३८० । पृ० ६४८

स्नातक सलेशी तथा अलेशी दोनों होते हैं जो सलेशी होते हैं उनमें एक परम
शुक्ललेख्या होती है ।

छ—सामायिक चारित्र वाले संयति में

सामाइयसंजए णं भंते ! किं सलेस्से होजा, अलेस्से होजा ?
गोयमा ! सलेस्से होजा जहा कसायकुसीले ।

—भग० श २५ । उ ७ सू ५०२ । पृ० ६६२

सामायिक चारित्र वाले संयति में छः लेख्या होती है ।

ज—छेदोपस्थापनीय चारित्र वाले संयति में

एवं छेदोवट्ठावणिए वि ।

—भग० श २५ । उ ७ । सू ५०२ । पृ० ६६२

इसी प्रकार छेदोपस्थापनीय चारित्र वाले संयति में छः लेख्या होती है ।

झ—परिहारविशुद्धिक चारित्र वाले संयति में

परिहारविशुद्धिए जहा पुलाए ।

—भग० श २५ । उ ७ । सू ५०२ । पृ० ६६२

परिहारविशुद्धिक चारित्र वाले संयति में तीन लेख्या—तेजो, पद्म-शुक्ललेख्या
होती है ।

क—सूक्ष्म संपराय वाले संयति में

सुहुमसंपराए जहा निचंठे ।

—भग० श २५ । उ ७ । सू ५०२ । पृ० ६६२

सूक्ष्मसंपराय चारित्र्य वाले संयति में एक शुक्ललेख्या होती है ।

ट—यथाख्यात चारित्र्य वाले संयति में

अहक्खाए जहा सिणाए नवरं जइ सलेस्से होज्जा, एगाए सुक्क-
लेस्साए होज्जा ।

—भग० श २५ । उ ७ । सू ५०२ । पृ० ६६२

यथाख्यात चारित्र्य वाले सलेशी तथा अलेशी (स्नातक की तरह) दोनों होते हैं जो सलेशी होते हैं उनके एक शुक्ललेख्या होती है ।

*२६ विशिष्ट जीवों में

१—अश्रुत्वा केवली होने वाले जीव के अवधि ज्ञान के प्राप्त करने की अवस्था में ।

असोच्चा णं भंते × × × (विव्भंगे अन्नाणे सम्मत्तपरिग्गहिए
खिप्पामेव ओही परावत्तइ) से णं भंते ! कइसु लेस्सासु होज्जा ?
गोयमा ! तिसु विशुद्धलेस्सासु होज्जा, तं जहा—तेऊलेस्साए, पम्ह-
लेस्साए, सुक्कलेस्साए ।

—भग० श ६ । उ ३१ । सू ३३, ३४ । पृ० ४०७

अश्रुत्वा केवली होने वाले जीव के विभंग अज्ञान की प्राप्ति के बाद मिथ्यात्व के पर्याय क्षीण होते-होते, सम्यग्दर्शन के पर्याय बढ़ते-बढ़ते विभंग अज्ञान सम्यक्त्व-युक्त होता है तथा अति शीघ्र अवधिज्ञान रूप परिवर्तित होता है । उस अवधिज्ञानी जीव के तीन विशुद्ध लेख्या होती है ।

२—श्रुत्वा केवली होने वाले जीव के अवधिज्ञान के प्राप्त करने की अवस्था में ।

(सोच्चा णं भंते × × × से णं ते णं ओहीनाणेणं समुप्पन्नेणं
× × ×) से णं भंते ! कइसु लेस्सासु होज्जा ? गोयमा ! छसु
लेस्सासु होज्जा । तं जहा—कण्हलेस्साए जाव सुक्कलेस्साए ।

—भग० श ६ । उ ३१ । सू ५५, ५६ । पृ० ४११

श्रुत्वा केवली होने वाले जीव के अवधिज्ञान की प्राप्ति होने के बाद उस अवधिज्ञानी जीव के छः लेख्या होती है ।

टीकाकार ने इसका इस प्रकार स्पष्टीकरण किया है—

“यद्यपि भावलेश्यासु प्रशस्तास्वेव तिसृष्ववधिज्ञानं लभते तथाऽपि द्रव्यलेश्याः प्रतीत्य षट्स्वपि लेश्यासु लभते सम्यक्त्वश्रुतवत्” । यदाह—‘सम्मत्तसुय सन्वासु लब्भइ’ त्ति तल्लाभे चासौ षट्स्वपि भवतीत्युच्यते इति ।

—भग० श ६ । उ ३१ सू ५५, ५६ पर टीका

यद्यपि अवधिज्ञान की प्राप्ति तीन शुभलेश्या में होती है परन्तु द्रव्यलेश्या की अपेक्षा सम्यक्त्व श्रुत की तरह छद्मों लेश्या में अवधिज्ञान होता है । जैसा कहा है—सम्यक्त्वश्रुत छद्मों द्रव्य लेश्या में प्राप्त होता है ।

‘५४ विभिन्न जीव और लेश्या स्थिति

‘५४’१ नारकी की लेश्या स्थिति

दसवाससहस्साइं, काऊए ठिई जहन्निया होइ ।
तिण्णुदही पलियवमसंखभागं च उक्कोसा ॥
तिण्णुदही पलियवमसंखभागो जहन्नेणं नीलठिई ।
दस उदही पलिओवमसंखभागं च उक्कोसा ॥
दस उदही पलिओवमसंखभागं जहन्निया होइ ।
तेत्तीससागराइं उक्कोसा होइ किण्हाए लेसाए ॥
एसा नेरइथाणं, लेसाण ठिई उ वणिणया होइ ।

—उत्त० अ ३४ । गा ४१-४४ । पृ० १०४७

कापोतलेश्या की जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष की, उत्कृष्ट स्थिति पत्योपम के असंख्यातवें भाग सहित तीन सागरोपम की होती है ।

नीललेश्या की जघन्य स्थिति पत्योपम के असंख्यातवें भाग सहित तीन सागरोपम की, उत्कृष्ट स्थिति पत्योपम के असंख्यातवें भाग सहित दस सागरोपम की होती है ।

कृष्णलेश्या की स्थिति जघन्य पत्योपम के असंख्यातवें भाग सहित दस सागरोपम की, उत्कृष्ट स्थिति तैंतीस सागरोपम की होती है ।

(उपरोक्त) लेश्याओं की यह स्थिति नारकी की कही गई है ।

‘५४’२ तिर्यं च की लेश्या स्थिति

अंतोमुहुत्तमद्धं लेसाण ठिई जहिं जहिं जा उ ।
तिरियाण नराणं वा वज्जित्ता केवलं लेसं ॥

—उत्त० अ ३४ । गा ४५ । पृ० १०४७

तिर्यं च में सर्व लेश्याओं की जघन्य तथा उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मूर्त्त की है ।

‘५४’३ मनुष्य की लेश्या की स्थिति

क—कृष्ण आदि प्रथम पाँच लेश्या की स्थिति

अंतोमुहुत्तमद्धं लेसाण ठिई जहिं जहिं जा उ ।
तिरियाण नराणं वा वज्जित्ता केवलं लेसं ॥

—उत्त० अ ३४ । गा ४५ । पृ० १०४७

मनुष्यों में शुक्ललेश्या को छोड़कर अवशिष्ट सब लेश्याओं की जघन्य एवं उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मूर्त्त की है ।

ख—शुक्ललेश्या की स्थिति

मुहुत्तद्धं तु जहन्ना, उक्कोसा होइ पुव्वकोडीओ ।
नवहिं वरिसेहिं ऊणा, नायव्वा सुक्कलेसाए ॥

—उत्त० अ ३४ । गा ४६ । पृ० १०४७

शुक्ललेश्या की स्थिति—जघन्य अन्तर्मूर्त्त, उत्कृष्ट नौ वर्ष न्यून एक करोड़ पूर्व की है ।

‘५४’४ देव की लेश्या स्थिति

तेण परं वोच्छामि, लेसाण ठिई उ देवाणं ।
दस वाससहस्साइं, किण्हाए ठिई जहन्निया होइ ॥
पलियमसंखिज्जइमो, उक्कोसा होइ किण्हाए ।
जा किण्हाए ठिई खलु, उक्कोसा सा उ समयमब्भहिया ॥
जहन्नेणं नीलाए, पलियमसंखं च उक्कोसा ।
जा नीलाए ठिई खलु, उक्कोसा सा उ समयमब्भहिया ॥

जहन्नेणं काऊए पलियमसंखं च उक्कोसा ।
 तेण परं वोच्छामि, तेऊलेसा जहा सुरगणाणं ॥
 भवणवइवाणमंतर जोइसवेमाणियाणं च ।
 पलिओवमं जहन्ना, उक्कोसा सागरा उ दुण्णहिया ॥
 पलियमसंखेज्जेणं, होइ भागेण तेऊए ।
 दसवाससहस्साइं, तेऊए ठिई जहन्निया होइ ॥
 दुन्नुदही पलिओवमअसंखभागं च उक्कोसा ।
 जा तेऊए ठिई खलु, उक्कोसा सा उ समयमब्भहिया ॥
 जहन्नेणं पम्हाए, दस उ मुहुत्ताऽहियाइं उक्कोसा ।
 जा पम्हाए ठिई खलु, उक्कोसा सा उ समयमब्भहिया ॥
 जहन्नेणं सुक्काए, तेत्तीसमुहुत्तमब्भहिया ।

—उत्त० अ ३४ । गा ४७-५५ । पृ० १०४८

देवों की लेख्या की स्थिति में कृष्णलेख्या की स्थिति जघन्य दस हजार वर्ष की और उत्कृष्ट स्थिति पत्थोपम के असंख्यातवें भाग की होती है । नीललेख्या की जघन्य स्थिति तो कृष्णलेख्या की उत्कृष्ट स्थिति से एक समय अधिक है और उत्कृष्ट स्थिति पत्थोपम के असंख्यातवें भाग अधिक की है ।

कापोतलेख्या की जघन्य स्थिति, नीललेख्या की उत्कृष्ट स्थिति से एक समय अधिक और उत्कृष्ट स्थिति पत्थोपम के असंख्यातवें भाग होती हैं ।

तेजोलेख्या की स्थिति जघन्य एक पत्थोपम और उत्कृष्ट स्थिति पत्थोपम के असंख्यातवें भाग अधिक दो सागरोपम की (वैमानिक की) होती है ।

तेजोलेख्या की स्थिति जघन्य दस हजार वर्ष (भवनपति और वयन्तर देवों की अपेक्षा) और उत्कृष्ट पत्थोपम के असंख्यातवें भाग अधिक दो सागरोपम की होती है । ईशान देवलोक की अपेक्षा ।

जो उत्कृष्ट स्थिति तेजोलेख्या की है उससे एक समय अधिक पद्मलेख्या की जघन्य स्थिति होती है और उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त अधिक दस सागरोपम की है ।

जो उत्कृष्ट स्थिति पद्मलेख्या की है, उससे एक समय अधिक शुक्ललेख्या की जघन्य स्थिति होती है, और शुक्ललेख्या की उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त अधिक तैत्तीस सागरोपम की होती है ।

५५ लेश्या की गर्भ-उत्पत्ति

कण्हेलेसे णं भंते ! मणुस्से कण्हेलेसं गब्भं जणेज्जा ? हंता गोयमा ! जणेज्जा । कण्हेलेसे मणुस्से नीललेसं गब्भं जणेज्जा ? हंता गोयमा ! जणेज्जा, जाव सुक्कलेसं गब्भं जणेज्जा । नीललेसे मणुस्से कण्हेलेसं गब्भं जणेज्जा ? हंता गोयमा ! जणेज्जा, एवं नीललेसे मणुस्से जाव सुक्कलेसं गब्भं जणेज्जा, एवं काऊलेसेणं छप्पि आलावगा भाणियव्वा । तेऊलेसाण वि पम्हलेसाण वि सुक्कलेसाण वि, एवं छत्तीसं आलावगा भाणियव्वा । कण्हेलेसा इत्थिया कण्हेलेसं गब्भं जणेज्जा ? हंता गोयमा ! जणेज्जा, एवं एए वि छत्तीसं आलावगा भाणियव्वा । कण्हेलेसे णं भंते ! मणुस्से कण्हेलेसाए इत्थियाए कण्हेलेसं गब्भं जणेज्जा ? हंता गोयमा ! जणेज्जा, एवं एए छत्तीसं आलावगा । कम्मभूमग-कण्हेलेसे णं भंते ! मणुस्से कण्हेलेसाए इत्थियाए कण्हेलेसं गब्भं जणेज्जा ? हंता गोयमा ! जणेज्जा, एवं एए छत्तीसं आलावगा । अकम्मभूमय-कण्हेलेसे मणुस्से अकम्मभूमयकण्हेलेसाए इत्थियाए अकम्मभूमयकण्हेलेसं गब्भं जणेज्जा ? हंता गोयमा ! जणेज्जा, नवरं चउसु लेसासु सोलस आलावगा, एवं अंतरदीघमाण वि ।

—भग० श १९ । उ २ । पणवणा की भोलावण पृ० ७८१

—पण० प १७ । उ ६ । सु ६७ । पृ० ४५२

१—कृष्णलेशी मनुष्य कृष्णलेशी यावत् शुक्ललेशी गर्भ को उत्पन्न करता है ।

२—नीललेशी मनुष्य कृष्णलेशी यावत् शुक्ललेशी गर्भ को उत्पन्न करता है ।

३—कापोतलेशी मनुष्य कृष्णलेशी यावत् शुक्ललेशी गर्भ को उत्पन्न करता है ।

४—तेजोलेशी मनुष्य कृष्णलेशी यावत् शुक्ललेशी गर्भ को उत्पन्न करता है ।

५—पद्मलेशी मनुष्य कृष्णलेशी यावत् शुक्ललेशी गर्भ को उत्पन्न करता है ।

६—शुक्ललेशी मनुष्य कृष्णलेशी यावत् शुक्ललेशी गर्भ को उत्पन्न करता है ।

७ से १२—इसी प्रकार कृष्णलेशी स्त्री यावत् शुक्ललेशी स्त्री कृष्णलेशी यावत् शुक्ललेशी गर्भ को उत्पन्न करती है ।

१३ से १८—कृष्णलेशी मनुष्य यावत् शुक्ललेशी मनुष्य कृष्णलेशी स्त्री में यावत् शुक्ललेशी स्त्री में कृष्णलेशी यावत् शुक्ललेशी गर्भ को उत्पन्न करता है ।

१९ से २४—कर्मभूमिज कृष्णलेशी मनुष्य यावत् शुक्ललेशी मनुष्य कृष्णलेशी स्त्री यावत् शुक्ललेशी स्त्री में कृष्णलेशी यावत् शुक्ललेशी गर्भ उत्पन्न करता है ।

२५ से २८—अकर्मभूमिज कृष्णलेशी मनुष्य यावत् तेजोलेशी मनुष्य अकर्मभूमिज कृष्णलेशी स्त्री यावत् तेजोलेशी स्त्री कृष्णलेशी यावत् तेजोलेशी गर्भ उत्पन्न करता है ।

२९ से ३२—इसी प्रकार अन्तद्वीपज मनुष्यों का जानना ।

५६ जीव और लेइया समपद

१—नारकी और लेइया समपद

(क) नेरइया णं भंते ! सव्वे समलेस्सा ? गोयमा ! नो इणट्ठे समट्ठे । से केणट्ठे णं जावनो सव्वे समलेस्सा ? गोयमा ! नेरइया दुविहा पण्णत्ता । तं जहा—पुब्बोववन्नगा य, पच्छोववन्नगा य, तत्थ णं जे ते पुब्बोववन्नगा ते णं विसुद्धलेस्सतरागा, तत्थ णं जे ते पुच्छोववन्नगा ते णं अविमुद्धलेस्सतरागा, से तेणट्ठे णं ।

—भग० श १ । उ २ । सू ८६-६७ । पृ० १७, १८

(ख) एवं जहेव वन्नेणं भणिया तहेव लेस्सासु विशुसुलेसतरागा अविमुद्धलेसतरागा य भाणियन्वा ।

—पण्ण० प १७ । उ १ । सू ३ । पृ० ४३५

नारकी दो तरह के होते हैं यथा—१ पूर्वोपपन्नक, २ पश्चादुपपन्नक । उनमें जो पूर्वोपपन्नक हैं वे विशुद्धलेइया वाले होते हैं, तथा जो पश्चादुपपन्नक हैं वे अविशुद्धलेइया वाले होते हैं । अतः नारकी समलेइया वाले नहीं होते हैं ।

२—पृथ्वीकाय यावत् वनस्पतिकाय, तीन विकलेन्द्रिय, तिर्यञ्च पंचेन्द्रिय तथा मनुष्य और लेइया समपद

(क) पुढविकाइयाणं आहारकम्मवन्न लेस्सा जहा नेरइयाणं × × × जहा—पुढविकाइया तहा जाव चउरिदिया । पंचिदियतिरिक्ख-जोणिया जहा नेरइया । × × × मणुस्सा जहा नेरइया ।

—भग० श १ । उ २ । सू ७६, ८२, ८३, ८६ । पृ० १६, २०

(ख) पुढविकाइया आहारकम्मवन्नलेस्साहिं जहा नेरइया × × × एवं जाव चउरिंदिया । पंचेदियतिरिक्खजोणिया जहा नेरइया । मणुस्सा सव्वे णो समाहारा । × × × सेसं जहा नेरइयाणं ।

—पण्ण० प १७ । उ १ । सू ८-६ । पृ० ४३६

पृथ्वीकाय यावत् बनस्पतिकाय, तीन विकलेन्द्रिय, तिर्यञ्च पंचेन्द्रिय, मनुष्य-नारकी की तरह समलेश्या वाले नहीं होते हैं ।

३—देव और लेश्या समपद

१—असुरकुमार यावत् स्तनितकुमार देव में

(क) (असुरकुमारा) एवं वन्नलेस्साए पुच्छा ! तत्थ णं जे ते पूव्वोववन्नगा तेणं अविमुद्धवन्नतरागा, तत्थ णं जे ते पच्छोववन्नगा ते णं विसुवन्नतरागा, से तेणहे णं गोयमा ! एवं वुच्चइ-असुरकुमाराणं सव्वे णो समवन्ना । एवं लेस्साएवि × × × एवं जाव थणियकुमारा ।

—पण्ण० प १७ । उ १ । सू ७ । पृ० ४३५

(ख) (असुरकुमारा) जहा नेरइया तहा भाणियव्वा, नवरं-कम्म-वण्णलेस्साओ परिवण्णेयव्वाओ पूव्वोववण्णा महाकम्मतरा, अविमुद्धवण्णतरा, अविमुद्धलेसतरा, पच्छोववण्णा पसत्था, सेसं तहेव । एवं जाव—थणियकुमाराणं ।

—भग० श १ । उ २ । सू ७४, ७५ । पृ० १८, १९

असुरकुमार यावत् स्तनितकुमार दसों भवनवासी देव—समलेश्या वाले नहीं हैं क्योंकि उनमें जो पूर्णोपपन्नक हैं वे अविशुद्धलेश्यावाले होते हैं, तथा जो पश्चादु-पपन्नक हैं वे विशुद्धलेश्या वाले होते हैं । अतः असुरकुमार यावत् स्तनितकुमार—दसों भवनवासी देव समलेश्या वाले नहीं होते हैं ।

२—वाणमंतर, ज्योतिषी और वैमानिक देव में

(क) वाणमंतरजोइसवेमाणिया जहा असुरकुमारा ।

—भग० श १ । उ २ । सू १०० । पृ० २२

(ख) वाणमंतराणं जहा असुरकुमाराणं । एवं जोइसियवेमाणि-याणवि ।

—पण्ण० प १७ । उ १ । सू १० । पृ० ४३७

वानव्यंतर—ज्योतिष-वैमानिक देव भवनवासी देवों की तरह समलेश्यावाले नहीं होते हैं ।



५७ लेश्या और जीव का उत्पत्ति-मरण

'५७'१ लेश्या-परिणति तथा जीव का उत्पत्ति-मरण

लेसाहिं सव्वाहिं, पढमे समयम्मि परिणयाहिं तु ।
 न हु कस्सइ उववाओ, परे भवे अत्थि जीवस्स ॥
 लेस्साहिं सव्वाहिं, चरिमे समयम्मि परिणयाहिं तु ।
 न हु कस्सइ उववाओ, परे भवे होइ जीवस्स ॥
 अंतमुहुत्तम्मि गए अंतमुहुत्तम्मि सेसए चेव ।
 लेसाहिं परिणयाहिं, जीवा गच्छन्ति परलोयं ॥

—उत्त० अ ३४ । गा ५८-६० । पृ० १०४८

सभी लेश्याओं की प्रथम समय की परिणति में किसी भी जीव की परभव में उत्पत्ति नहीं होती । सभी लेश्याओं की अन्तिम समय की परिणति में किसी भी जीव की परभव में उत्पत्ति नहीं होती । लेश्या की परिणति के बाद अन्त-मूर्त बितने पर और अन्तमूर्त शेष रहने पर जीव परलोक में जाता है ।

'५७'२ मरण काल में लेश्या-ग्रहण और उत्पत्ति के समय की लेश्या

जीवे णं भंते ! जे भविए नेरइएसु उववज्जित्तए से णं भंते ! किं लेसेसु उववज्जइ ? गोयमा ! जल्लेसाइं दव्वाइं परिआइत्ता कालं करेइ, तल्लेसेसु उववज्जइ, तं जहा—कणहलेसेसु वा नीललेसेसु वा काऊलेसेसु वा एवं जस्स जा लेस्सा सा तस्स भाणियव्वा ।

जाव-जीवे णं भंते ! जे भविए जोइसिएसु उववज्जित्तए पुच्छा ? गोयमा ! जल्लेसाइं दव्वाइं परिआइत्ता कालं करेइ तल्लेसेसु उववज्जइ, तं जहा—तेऊलेसेसु ।

जीवे णं भंते ! जे भविए वेमाणिएसु उववज्जित्तए से णं भंते ! किं लेसेसु उववज्जइ ? गोयमा ! जल्लेसाइं दव्वाइं परिआइत्ता कालं

करेइ तल्लेसेसु उववज्जइ, तं जहा—तेऊलेसेसु वा, पम्हलेसेसु वा,
सुकलेसेसु वा ।

—भग० श ३ । उ ४ । सू १७-१६ पृ० ४५६

जो जीव नारकियों में उत्पन्न होने योग्य है वह जीव जिस लेश्या के द्रव्यों को ग्रहण करके काल करता है उसी लेश्या में जाकर उत्पन्न होता है, यथा—कृष्णलेश्या में अथवा नीललेश्या में अथवा कापोतलेश्या में । यावत् दण्डक के ज्योतिषी जीवों के पहले तक ऐसा ही कहना । अर्थात् जिसके जो लेश्या हो उसके वह लेश्या कहनी ।

जो जीव ज्योतिषी देवों में उत्पन्न होने योग्य है वह जीव जिस लेश्या के द्रव्यों को ग्रहण करके काल करता है उसी लेश्या में जाकर उत्पन्न होता है ; अर्थात् तेजोलेश्या में । जो जीव वैमानिक देवों में उत्पन्न होने योग्य है वह जीव जिस लेश्या के द्रव्यों को ग्रहण करके काल करता है उसी लेश्या में जाकर उत्पन्न होता है ; यथा—तेजोलेश्या में अथवा पद्मलेश्या में अथवा सुकललेश्या में, अर्थात् जिसके जो लेश्या हो उसके वह लेश्या कहनी ।

दण्डक के अन्तिम सूत्र को दिखाने के निमित्त पूर्वोक्त सूत्र (जाव—जीवे णं भंते इत्यादि) कहा गया है । टीकाकार का कथन है कि यदि ऐसा ही था तो फिर केवल वैमानिक का सूत्र ही कहना चाहिये था फिर ज्योतिषी तथा वैमानिक के सूत्र अलग-अलग क्यों कहे ? वैमानिक और ज्योतिषियों की लेश्या उत्तम होती है यह दिखाने के निमित्त ही दोनों के सूत्र अलग-अलग कहे गए हैं । अथवा ऐसा करने का कारण सूत्रों की विचित्र गति हो सकती है ।

‘५७’३ मरण की लेश्या से अतिक्रान्त करने पर

अणगारे णं भंते ! भावियप्पा चरमं देवावासं वीइक्कंते परमं देवावासं असंपत्ते एत्थ णं अंतरा कालं करेज्जा, तस्स णं भंते ! कहिं गइ कहिं उववाए पन्नत्ते ? गोयमा ! जे से तत्थ परियस्सओ (परियस्सतो) तल्लेसा देवावासा, तहिं तस्स गइ, तहिं तस्स उववाए पन्नत्ते । से य तत्थ गए विराहेज्जा, कम्मलेस्सामेव पड्वडइ, से य तत्थ गए णो विराहेज्जा, तामेव लेस्सं उवसंपज्जिताणं विहरइ । अणगारे णं भंते ! भावियप्पा चरमं असुरकुमारा वासं वीइक्कंते

परमं असुरकुमारा० एवं चैव, एवं जाव थणियकुमारावासं, जोइ-
सियावासं एवं वेमाणिया वासं जाव विहरइ ।

—भग० श १४ । उ १ सू २, ३। पृ० ६६५

भावितात्मा अणगार (साधु) जिसने चरम देवावास का उल्लंघन किया हो तथा अभी तक परम अर्थात् अगले देवावास को प्राप्त नहीं हुआ हो वह साधु यदि इस बीच में मृत्यु को प्राप्त हो तो उसकी कहाँ गति होगी तथा वह कहाँ उत्पन्न होगा ?

टीकाकार प्रश्न को समझते हुए कहते हैं—उत्तरोत्तर प्रशस्त अध्यवसाय स्थान को प्राप्त होनेवाला अणगार जो चरम—सौधर्मादि देवलोक के इस तरफ वर्तमान देवावास की स्थित आदि बँधने योग्य अध्यवसाय स्थान को पार कर गया हो तथा परम-ऊपर स्थिति सनत्कुमारादि देवलोक की स्थिति आदि बँधने योग्य अध्यवसाय को प्राप्त नहीं हुआ हो उस अवसर में यदि मरण को प्राप्त हो तो उसकी कहाँ गति होगी तथा वह कहाँ उत्पन्न होगा ?

चरम देवावास तथा परम देवावात के पास जहाँ उस लेश्या वाले देवावास है वहाँ उसकी गति होगी तथा वहाँ उसका उत्पाद होगा ।

टीकाकार इस उत्तर को समझते हुए कहते हैं—सौधर्मादि देवलोक तथा सनत्कुमारादि देवलोक के पास ईशानादि देवलोक में जिस लेश्या में साधु मरण को प्राप्त होता है उस लेश्यावाले देवलोक में उसकी गति तथा उसका उत्पाद होता है ।

वह साधु वहाँ जाकर यदि अपनी पूर्व की लेश्या की विराधना करता है तो वह कर्मलेश्या से पतित होता है (टीकाकार यहाँ कर्मलेश्या से भावलेश्या का अर्थ ग्रहण करते हैं) तथा वहाँ जाकर यदि वह लेश्या की विराधना नहीं करता है तो वह उसी लेश्या का आश्रय करके विहरता है ।



•५८ किसी एक योनि से स्व/पर योनि में उत्पन्न होने
योग्य जीवों में कितनी लेश्या•

•५८*१ रत्नप्रभापृथ्वी के नारकी में उत्पन्न होने योग्य जीवों में

•५८*१*१ पर्याप्त असंज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च योनि से रत्नप्रभापृथ्वी के नारकी में उत्पन्न होने योग्य जीवों में

गमक—१ पर्याप्त असंजी पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च योनि से रत्नप्रभापृथ्वी के नारकी में उत्पन्न होने योग्य जो जीव हैं (पञ्जत्ता (त्त) असन्निपंचिदियतिरिक्खजोणिए णं भंते ! जे भविए रयणप्पभाए पुढवीए नेरइएसु उववज्जत्तए × × × तेसि णं भंते ! जीवाणं कइ लेस्साओ पन्नत्ताओ ? गोयमा ! तिन्नि लेस्साओ पन्नत्ताओ । तं जहा कण्हलेस्सा, नील-लेस्सा, काऊलेस्सा) उनमें कृष्ण, नील तथा कापोत तीन लेश्या होती हैं ।

—भग० श २४ उ १ । सू ७, १२ । पृ० ८१५

●इस विवेचन में निम्नलिखित नौ गमकों की अपेक्षा से वर्णन किया गया है ।

- १—उत्पन्न होने योग्य जीव की औधिक स्थिति तथा उत्पन्न होने योग्य जीव-स्थान की औधिक स्थिति ।
- २—उत्पन्न होने योग्य जीव की औधिक स्थिति तथा उत्पन्न होने योग्य जीव-स्थान की जघन्यकाल स्थिति ।
- ३—उत्पन्न होने योग्य जीव की औधिक स्थिति तथा उत्पन्न होने योग्य जीव-स्थान की उत्कृष्टकालस्थिति ।
- ४—उत्पन्न होने योग्य जीव की जघन्यकालस्थिति तथा उत्पन्न होने योग्य जीव-स्थान की औधिक स्थिति ।
- ५—उत्पन्न होने योग्य जीव की जघन्यकालस्थिति तथा उत्पन्न होने योग्य जीवस्थान की जघन्यकालस्थिति ।
- ६—उत्पन्न होने योग्य जीव की जघन्यस्थिति तथा उत्पन्न होने योग्य जीव-स्थान की उत्कृष्टकालस्थिति ।
- ७—उत्पन्न होने योग्य जीव की उत्कृष्टकालस्थिति तथा उत्पन्न होने योग्य जीवस्थान की औधिक स्थिति ।
- ८—उत्पन्न होने योग्य जीव की उत्कृष्टकालस्थिति तथा उत्पन्न होने योग्य जीवस्थान की जघन्यकालस्थिति ।
- ९—उत्पन्न होने योग्य जीव की उत्कृष्टकालस्थिति तथा उत्पन्न होने योग्य जीवस्थान की उत्कृष्टकालस्थिति ।

गमक—२ पर्याप्त असंज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंच योनि से जघन्यस्थितिवाले रत्न-प्रभापृथ्वी के नारकी में उत्पन्न होने योग्य जो जीव है (पञ्जत्ता असन्नि-पंचिदियतिरिक्खजोणिए णं भंते ! जे भविए जहन्नकालट्टिईएसु रयणप्पभापुढविनेरइसु उववज्जित्तए × × × ते णं भंते ! × × × एवं सच्चेव वत्तव्वया निरवसेसा भाणियव्वा) उनमें कृष्ण, नील तथा कापोत तीन लेश्या होती है ।

—भग० श २४ । उ १ । सू २८, २९ । पृ० ८१६

गमक—३ पर्याप्त असंज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंच योनि से उत्कृष्टस्थितिवाले रत्न-प्रभापृथ्वी के नारकी में उत्पन्न होने योग्य जो जीव हैं (पञ्जत्ताअसन्नि-पंचिदियतिरिक्खजोणिए णं भंते ! जे भविए उक्कोसकालट्टिईएसु रयणप्पभापुढविनेरइएसु उववज्जित्तए × × × ते णं भंते ! जीवा० अवसेसं तं चेव, जाव—अनुबंधो) उनमें कृष्ण, नील तथा कापोत तीन लेश्या होती है ।

—भग० श २४ । उ १ । सू ३१, ३२ । पृ० ८१६

गमक—४ जघन्यस्थितिवाले पर्याप्त असंज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंच योनि से रत्न-प्रभापृथ्वी के नारकी में उत्पन्न होने योग्य जो जीव हैं (जहन्नकालट्टिईय-पञ्जत्ताअसन्निपंचिदियतिरिक्खजोणिए णं भंते ! जे भविए रयणप्प-भापुढविनेरइएसु उववज्जित्तए × × × ते णं भंते ! सेसं तं चेव) उनमें कृष्ण, नील तथा कापोत तीन लेश्या होती है ।

—भग० श २४ । उ १ । सू ३४, ३५ । पृ० ८१७

गमक—५ जघन्यस्थितिवाले पर्याप्त असंज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंच योनि से जघन्यस्थितिवाले रत्नप्रभापृथ्वी के नारकी में उत्पन्न होने योग्य जो जीव हैं (जहन्नकालट्टिईयपञ्जत्त-असन्नि-पंचिदियतिरिक्खजोणिए णं भंते ! जे भविए जहन्नकालट्टिईएसु रयणप्पभापुढविनेरइएसु उववज्जित्तए × × × ते णं भंते ! जीवा० सेसं तं चेव) उनमें कृष्ण, नील तथा कापोत तीन लेश्या होती है ।

—भग० श २४ । उ १ । सू ३७, ३८ । पृ० ८१७

गमक—६ जघन्यस्थितिवाले पर्याप्त असंज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंच योनि से उत्कृष्टस्थितिवाले रत्नप्रभापृथ्वी के नारकी में उत्पन्न होने योग्य जो जीव है (जहन्नकालद्विईयपञ्जत्ता० जाव—तिरिक्खजोणिए णं भंते ! जे भविए उक्कोसकालद्विईएसु रयणप्पभापुढविनेरइएसु उववज्जित्तए × × × ते णं भंते ! जीवा० अवसेसं तं चेव) उनमें कृष्ण, नील तथा कापोत तीन लेश्या होती है ।

—भग० श २४ । उ १ । सू ४०, ४१ । पृ० ८१७

गमक—७ उत्कृष्टस्थितिवाले पर्याप्त असंज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंच योनि से रत्नप्रभापृथ्वी के नारकी में उत्पन्न होने योग्य जो जीव है (उक्कोसकालद्विईय-पञ्जत्तअसन्निपंचिदियतिरिक्खजोणिए णं भंते ! जे भविए रयणप्प-भापुढविनेरइएसु उववज्जित्तए × × × ते णं भंते ! जीवा × × × अवसेसं जहेव ओहियगमएणं तहेव अणुगंतव्वं) उनमें कृष्ण, नील तथा कापोत तीन लेश्या होती है ।

—भग० श २४ । उ १ । सू ४३, ४४ । पृ० ८१७-१८

गमक—८ उत्कृष्टस्थितिवाले पर्याप्त असंज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंच योनि से जघन्यस्थितिवाले रत्नप्रभापृथ्वी के नारकी में उत्पन्न होने योग्य जो जीव है (उक्कोसकालद्विईयपञ्जत्त० तिरिक्खजोणिए णं भंते ! जे भविए जहन्नकालद्विईएसु रयण० जाव—उववज्जित्तए × × × ते णं भंते ! जीवा० × × × सेसं तं चेव, जहा सत्तमगमए) उनमें कृष्ण, नील तथा कापोत तीन लेश्या होती है ।

—भग० श २४ । उ १ । सू ४६, ४७ । पृ० ८१८

गमक—९ उत्कृष्टस्थितिवाले पर्याप्त असंज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंच योनि से उत्कृष्टस्थितिवाले रत्नप्रभापृथ्वी के नारकी में उत्पन्न होने योग्य जो जीव है (उक्कोसकालद्विईयपञ्जत्त—जाव—तिरिक्खजोणिए णं भंते ! जे भविए उक्कोसकालद्विईएसु रयण० जाव—उववज्जित्तए × × × ते णं भंते ! जीवा० × × × सेसं जहा सत्तमगमए) उनमें कृष्ण, नील तथा कापोत तीन लेश्या होती है ।

—भग० श २४ । उ १ । सू ४६, ५० । पृ० ८१८

'५८'१'२ पर्याप्त संख्यात वर्ष की आयुवाले संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च योनि से रत्नप्रभापृथ्वी के नारकी में उत्पन्न होने योग्य जीवों में

गमक—१ पर्याप्त संख्यात वर्ष की आयुवाले संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च योनि से रत्नप्रभापृथ्वी के नारकी में उत्पन्न होने योग्य जो जीव हैं (पञ्जत्तसंखेज्जवासाउयसन्नपंचिदियतिरिक्खज्जोणिए णं भंते ! जे भविए रयणप्पभपुढविनेरइएसु उववज्जित्तए × × × तेसि णं भंते ! जीवाणं कइ लेस्साओ पन्नत्ताओ ? गोयमा ! छल्लेस्साओ पन्नत्ताओ । तं जहा—कण्हलेस्सा, जाव—सुकलेस्सा) उनमें कृष्ण यावत् शुक्ल छः लेश्या होती है ।

—भग० श २४ । उ १ । सू ५५, ५६ । पृ० ६१६

गमक—२ पर्याप्त संख्यात वर्ष की आयुवाले संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च योनि से जघन्यकालस्थितिवाले रत्नप्रभापृथ्वी के नारकी में उत्पन्न होने योग्य जो जीव हैं पञ्जत्तसंखेज्ज० जाव—जे भविए जहन्नकाल० × × × ते णं भंते ! जीवा एवं सो चेव पढमो गमओ निरवसेसो भाणियव्वो) उनमें कृष्ण यावत् शुक्ल छ लेश्या होती है ।

—भग० श २४ । उ १ । सू ६१, ६२ । पृ० ८१६

गमक—३ पर्याप्त संख्यात वर्ष की आयुवाले संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च योनि से उत्कृष्टस्थितिवाले रत्नप्रभापृथ्वी के नारकी में उत्पन्न होने योग्य जो जीव हैं (सो चेव उक्कोसकालट्टिईएसु उववन्नो × × × अवसेसो परिमाणादीओ भवाएसपज्जवसाणो सो चेव पढमगमओ णेयव्वो) उनमें कृष्ण यावत् शुक्ल छ लेश्या होती है ।

—भग० श २४ । उ १ । सू ६३ । पृ० ८१६

गमक—४ जघन्यस्थितिवाले पर्याप्त संख्यात वर्ष की आयुवाले संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च योनि से रत्नप्रभापृथ्वी के नारकी में उत्पन्न होने योग्य जो जीव हैं (जहन्नकालट्टिईय-पञ्जत्तसंखेज्जवासाउयसन्नपंचिदियतिरिक्खज्जोणिए णं भंते ! जे भविए रयणप्पभपुढवि० जाव—उववज्जित्तए × × ×

ते णं भंते ! × × × लेस्साओ तिननिआदिल्लाओ) उनमें प्रथम की तीन लेश्या होती हैं ।

—भग० श २४ । उ १ । सू ६४, ६५ । पृ० ८१६-२०

गमक—५ जघन्यस्थितिवाले पर्याप्त संख्यात वर्ष की आयुवाले संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंच योनि से जघन्यस्थितिवाले रत्नप्रभापृथ्वी के नारकी में उत्पन्न होने योग्य जो जीव हैं (सो चेव जहन्नकालट्टिईएसु उववन्नो × × × ते णं भंते ! एवं सो चेव चउत्थो गमओ निरवसेसो भाणियव्वो) उनमें प्रथम की तीन लेश्या होती है ।

—भग० श २४ । उ १ सू ६६ । पृ० ८२०

गमक—६ जघन्यस्थितिवाले पर्याप्त संख्यात वर्ष की आयुवाले संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंच योनि से उत्कृष्ट स्थितिवाले रत्नप्रभापृथ्वी के नारकी में उत्पन्न होने योग्य जो जीव हैं (सो चेव उक्कोसकालट्टिईएसु उववन्नो × × × ते णं भंते ! एवं सो चेव चउत्थो गमओ निरवसेसो भाणियव्वो) उनमें प्रथम की तीन लेश्या होती है ।

—भग० श २४ । उ १ । सू ६७ । पृ० ८२०

गमक—७ उत्कृष्टस्थितिवाले पर्याप्त संख्यात वर्ष की आयुवाले संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंच योनि से रत्नप्रभापृथ्वी के नारकी में उत्पन्न होने योग्य जो जीव हैं (उक्कोसकालट्टिईयपज्जत्तसंखेज्जवासाउय० जाव—तिरिक्ख-जोणिए णं भंते ! जे भविए रयणपभापुढविनेरइएसु उववज्जित्तए × × × ते णं भंते ! जीवा० अवसेसो परिमाणादीओ भवाएस-पज्जवसाणो एएसि चेव पढमगमओ णेयव्वो) उनमें कृष्ण यावत् शुक्ल छः लेश्या होती है ।

—भग० श २४ । उ १ । सू ६८, ६९ । पृ० ८२०

गमक—८ उत्कृष्टस्थितिवाले पर्याप्त संख्यात वर्ष की आयुवाले संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंच योनि से जघन्यस्थितिवाले रत्नप्रभापृथ्वी के नारकी में उत्पन्न होने योग्य जो जीव हैं (सो चेव जहन्नकालट्टिईएसु उववन्नो × × × ते णं भंते ! जीवा० सो चेव सत्तमो गमओ निरवसेसो भाणियव्वो) उनमें कृष्ण यावत् शुक्ल छः लेश्या होती है ।

—भग० श २४ । उ १ । सू ७०, ७१ । पृ० ८२०

गमक—६ उत्कृष्टस्थितिवाले पर्याप्त संख्यात वर्ष की आयुवाले संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंच योनि से उत्कृष्टस्थितिवाले रत्नप्रभापृथ्वी के नारकी में उत्पन्न होने योग्य जो जीव हैं (उक्कोसकालद्विईयपञ्जत्त० जाव—तिरिक्खजोणिए णं भंते ! जे भविए उक्कोसकालद्विईय० जाव—उववज्जित्तए × × × ते णं भंते ! जीवा० सो चेव सत्तमगमओ निरवसेसो भाणियव्वो) उनमें कृष्ण यावत् शुक्ल द्यः लेख्या होती हैं ।

—भग० श २४ । उ १ । सू ७२, ७३ । पृ० ८२०-२१

'५८'१'३ पर्याप्त संख्यात वर्ष की आयुवाले संज्ञी मनुष्य से रत्नप्रभापृथ्वी के नारकी में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

गमक—१-६ पर्याप्त संख्यात वर्ष की आयुवाले संज्ञी मनुष्य से रत्नप्रभापृथ्वी के नारकी में उत्पन्न होने योग्य जो जीव हैं (पञ्जत्तसंखेज्जवासा-उयसन्निमणुस्से णं भंते ! जे भविए रयणप्पभाए नेरइएसु उववज्जित्तए × × × ते णं भंते ! एवं सेसं जहा सन्नपंचिंदयतिरिक्खजोणियाणं—जाव—'भवाएसो' त्ति । ग० १ । सो चेव जहन्नकालद्विईएसु उववज्जो—एस (सा) चेव वत्तव्वया । ग० २ । सो चेव उक्कोसकालद्विईएसु उववज्जो—एस चेव वत्तव्वया । ग० ३ । सो चेव अप्पणा जहन्नकालद्विईओ जाओ—एस चेव वत्तव्वया । ग० ४ । सो चेव जहन्नकालद्विईएसु उववज्जो—एस चेव वत्तव्वया चउत्थगमगसरिसा णेयव्वो । ग० ५ । सो चेव उक्कोसकालद्विईएसु उववज्जो—एस चेव गमगो । ग० ६ । सो चेव अप्पणा उक्कोसकालद्विईओ जाओ, सो चेव पढमगमओ णेयव्वो । ग० ७ । सो चेव जहन्नकालद्विईएसु उववज्जो, सच्चेव सत्तमगमगवत्तव्वया । ग० ८ । सो चेव उक्कोसकालद्विईएसु उववज्जो, सच्चेव सत्तमगमगवत्तव्वया । ग० ९) उनमें नव ही गमकों में द्यः लेख्या होती है ।

—भग० श २४ । उ १ । सू ६१-१०० । पृ० ८२३-२४

'५८'२ शर्कराप्रभापृथ्वी के नारकी में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

'५८'२'१ पर्याप्त संख्यात वर्ष की आयुवाले संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंच योनि से शर्कराप्रभापृथ्वी के नारकी में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

गमक—१-६ पर्याप्त संख्यात वर्ष की आयुवाले संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च योनि से शर्कराप्रभापृथ्वी के नारकी में उत्पन्न होने योग्य जो जीव हैं (पञ्जत्त-संखेज्जवासाउयसन्नपंचिदियतिरिक्ख जोणिए णं भंते ! जे भविए सक्करप्पभाए पुढवीए नेरइएसु उववज्जित्तए × × × ते णं भंते ! जीवा × × × एवं जहेव रयणप्पभाए उववज्जंतगस्स लद्धी सच्चैव निरव-सेसा भाणियव्वा × × × एवं रयणप्पभपुढविगमगरिसा णव वि गमगा भाणियव्वा × × ×) उनमें प्रथम के तीन गमकों में छः लेश्या, मध्यम के तीन गमकों में आदि की तीन लेश्या तथा शेष के तीन गमकों में छः लेश्या होती है ।

—भग० श २४ । उ १ । सू ७४-७५ । पृ० ८२१

'५८'२'२ पर्याप्त संख्यात वर्ष की आयुवाले संज्ञी मनुष्य से शर्कराप्रभापृथ्वी के नारकी में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

गमक—१-६ पर्याप्त संख्यात वर्ष की आयुवाले संज्ञी मनुष्य से शर्करा-प्रभापृथ्वी के नारकी में उत्पन्न होने योग्य जो जीव हैं (पञ्जत्तसंखेज्ज-वासाउयसन्नमणुस्से णं भंते ! जे भविए सक्करप्पभाए पुढवीए नेरइएसु जाव—उववज्जित्तए × × × ते णं भंते ! सो चैव रयणप्पभ-पुढविगमओ णेयव्वो × × × एवं एसा ओहिएसु तिसु वि गमएसु मणूसस्स लद्धी × × × । सो चैव अप्पणाजहन्नकालट्ठिईओ जाओ तस्स वि तिसु वि गमएसु एस चैव लद्धी × × × । सो चैव अप्पणा उक्कोसकालट्ठिईओ जाओ तस्स वि तिसु वि गमएसु × × × सेसं जहा पढमगमए) उनमें नव ही गमकों में छः लेश्या होती है ।

—भग० श २४ । उ १ । सू १०१-१०४ । पृ० ८२४

'५८'३ बालुकाप्रभापृथ्वी के नारकी में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

'५८'३'१ पर्याप्त संख्यात वर्ष की आयुवाले संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च योनि से बालुकाप्रभापृथ्वी के नारकी में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

गमक—१-६ पर्याप्त संख्यात वर्ष की आयुवाले संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च योनि से बालुकाप्रभापृथ्वी के नारकी में उत्पन्न होने योग्य जो जीव हैं (पञ्जत्त-

संखेज्जवासाउयसन्निपंचिदियतिरिक्ख जोणिए णं भंते ! जे भविए सक्करप्पभाए पुढवीए नेरइएसु उववज्जित्तए × × × ते णं भंते ! जीवा० × × × एवं जहेव रयणप्पभाए उववज्जंतग (मग) स्स लद्धी सच्चेव निरवसेसा भाणियव्वा—जाव 'भवाएसो' त्ति । × × × एवं रयणप्पभपुढविगमसरिसा णव वि गमगा भाणियव्वा × × × एवं जाव—'छट्टपुढवि' त्ति०) उनमें प्रथम के तीन गमकों छः लेश्या, मध्यम के तीन गमकों में आदि की तीन लेश्या तथा शेष के तीन गमकों में छः लेश्या होती हैं । ('५८'१'२) ।

—भग० न २४ । उ १ । सू ७४, ७५ । पृ० ८२१

'५८'३'२ पर्याप्त संख्यात वर्ष की आयुवाले संज्ञी मनुष्य से बालुकाप्रभापृथ्वी के नारकी में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

गमक—१-६ पर्याप्त संख्यात वर्ष की आयुवाले संज्ञी मनुष्य से बालुकाप्रभा पृथ्वी के नारकी में उत्पन्न होने योग्य जो जीव हैं (पञ्जत्तसंखेज्जवासाउय-सन्निमणुस्से णं भंते ! जे भविए सक्करप्पभाए पुढवीए नेरइएसु जाव०—उववज्जित्तए × × × ते णं भंते !० सो चेव रयणप्पभपुढविगमओ णेयव्वो × × × सेसं तं चेव, जाव—'भवाएसो' त्ति । × × × एवं एसा ओहिएसु तिसु गमएसु मणूसस्स लद्धी । × × × ।—ग० १-३ । सो चेव अप्पणा जहन्नकालट्टिईओ जाओ, तस्स वि तिसुवि गमएसु एस चेव लद्धी × × × सेसं जहा ओहियाणं । × × × ।—ग० ४-६ । सो चेव अप्पणा उक्कोसकालट्टिईओ जाओ । तस्स वि तिसु वि गमएसु × × × सेसं जहा पढमगमए । × × × ग० ७-६ । एवं जाव—छट्टपुढवी) उनमें नव ही गमकों में छः लेश्या होती है ।

—भग० न २४ । उ १ । सू १०१-१०४ पृ० ८२४

'५८'४ पंकप्रभापृथ्वी के नारकी में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

'५८'४'१ पर्याप्त संख्यात वर्ष की आयुवाले संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंच योनि से पंक-प्रभापृथ्वी के नारकी में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

गमक—१-६ पर्याप्त संख्यात वर्ष की आयुवाले संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंच योनि से पंकप्रभापृथ्वी के नारकी में उत्पन्न होने योग्य जो जीव हैं (देखो पाठ

'५८'३'१) उनमें प्रथम के तीन गमकों में छः लेख्या, मध्यम के तीन गमकों में आदि की तीन लेख्या तथा शेष के तीन गमकों में छः लेख्या होती हैं ।

—भग० श २४ । उ १ । सू ७४-७५ । पृ० ८२१

'५८'४'२ पर्याप्त संख्यात वर्ष की आयुवाले संज्ञी मनुष्य से पंकप्रभापृथ्वी के नारकी में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

गमक १-६ पर्याप्त संख्यात वर्ष की आयुवाले संज्ञी मनुष्य से पंकप्रभापृथ्वी के नारकी में उत्पन्न होने योग्य जो जीव हैं (देखो पाठ '५८'३'२) उनमें नौ गमकों ही में छः लेख्या होती है ।

—भग० श २४ । उ १ । सू १०१-१०४ । पृ० ८२४

'५८'५ धूमप्रभापृथ्वी के नारकी में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

'५८'५'१ पर्याप्त संख्यात वर्ष की आयुवाले संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च योनि से धूमप्रभापृथ्वी के नारकी में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

गमक—१-६ पर्याप्त संख्यात वर्ष की आयुवाले संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च योनि से धूमप्रभापृथ्वी के नारकी में उत्पन्न होने योग्य जो जीव हैं (देखो पाठ '५८'३'१) उनमें प्रथम के तीन गमकों में छः लेख्या, मध्यम के तीन गमकों में आदि की तीन लेख्या तथा शेष के तीन गमकों में छः लेख्या होती है ।

—भग० श २४ । उ १ । सू ७४, ७५ पृ० ८२१

'५८'५'२ पर्याप्त संख्यात वर्ष की आयुवाले संज्ञी मनुष्य से धूमप्रभापृथ्वी के नारकी में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

गमक—१-६ पर्याप्त संख्यात वर्ष की आयुवाले संज्ञी मनुष्य से धूमप्रभापृथ्वी के नारकी में उत्पन्न होने योग्य जो जीव हैं (देखो पाठ '५८'३'२) उनमें नव गमकों ही में छः लेख्या होती है ।

—भग० श २४ । उ १ । सू १०१-१०४ । पृ० ८२४

'५८'६ तमप्रभापृथ्वी के नारकी में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

'५८'६'१ पर्याप्त संख्यात वर्ष की आयुवाले संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च योनि से तमप्रभापृथ्वी के नारकी में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

गमक—१-६ पर्याप्त संख्यात वर्ष की आयुवाले संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च योनि से तमप्रभापृथ्वी के नारकी में उत्पन्न होने योग्य जो जीव हैं (देखो

'५८'३'१) उनमें प्रथम के तीन गमकों में छ लेश्या, मध्यम के तीन गमकों में आदि की तीन लेश्या तथा शेष के तीन गमकों में छ लेश्या होती हैं ।

—भग० श २४ । उ १ । सू ७४, ७५ पृ० ८२१

'५८'६'२ पर्याप्त संख्यात वर्ष की आयुवाले संज्ञी मनुष्य से तमप्रभापृथ्वी नारकी में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

गमक—१-६ पर्याप्त संख्यात वर्ष की आयुवाले संज्ञी मनुष्य से तमप्रभापृथ्वी के नारकी में उत्पन्न होने योग्य जो जीव हैं (देखो पाठ '५८'३'२) उनमें नौ गमकों में ही छ लेश्या होती हैं ।

—भग० श २४ । उ १ । सू १०१-१०४ । पृ० ८४

'५८'७ तमतमाप्रभापृथ्वी के नारकी में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

'५८'७'१ पर्याप्त संख्यात वर्ष की आयुवाले संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च योनि से तमतमाप्रभापृथ्वी के नारकी में उत्पन्न होने योग्य जो जीव हैं (पञ्चतसंखेज्ज-वासाउय० जाव—तिरिक्खजोणिए णं भंते ! जे भविए अहेसत्तमाए पुढवीए नेरहएसु उववज्जित्तए × × × ते णं भंते ! जीवा० एवं जहेव रयणप्पभाए णव गमगा लद्धी वि सच्चेव × × × सेसं तं चेव, जाव—'अणुबंधो'त्ति । × × × ।—प्र ७६, ७७ । ग० १ । सो चेव जहन्नकालट्टिईएसु उववन्नो० सच्चेव वत्तव्वया जाव—'भवादेसो'त्ति × × × प्र ७८ । ग० २ । सो चेव उक्कोसकालट्टिईएसु उववन्नो० सच्चेव लद्धी जाव—'अणुबंधो'त्ति × × × ।—प्र ७६ । ग० ३ । सो चेव अप्पणा जहन्नकालट्टिईओ जाओ० सच्चेव रयणप्पभपुढविजहन्न-कालट्टिईयवत्तव्वया भाणियव्वा, जाव 'भवादेसो'त्ति × × ×—प्र ८० । ग० ४ । सो चेव जहन्नकालट्टिईएसु उववन्नो० एवं सो चेव चउत्थो गमओ निरवसेसो भाणियव्वो, जाव—'कालदेसो'त्ति—प्र ८१ । ग० ५ । सो चेव उक्कोसकालट्टिईएसु उववन्नो० सच्चेव लद्धी जाव—'अणुबंधो'त्ति × × ×—प्र ८२ । ग० ६ । सो चेव अप्पणा उक्कोस-कालट्टिईओ जहन्नेणं × × × ते णं भंते !० अवसेसा सच्चेव सत्तम-पुढविपढमगमगवत्तव्वया भाणियव्वा, जाव—'भवाएसो'त्ति × × × सेसं तं चेव—प्र ८४ । ग० ७ । सो चेव जहन्नकालट्टिईएसु उववन्नो०

सञ्चेव लद्धी × × × सत्तमगमगसरिसो—प्र ८५ । ग० ८ । सो चेव उक्कोसकालट्टिएसु उववन्नो० एस चेव लद्धी जाव—‘अणुबंधो’त्ति—प्र ८६ । ग० ९) उनमें प्रथम के तीन गमकों में छः लेश्या, मध्यम के तीन गमकों में आदि की तीन लेश्या तथा शेष के तीन गमकों में छः लेश्या होती है ('५८'१'२) ।

—भग० श २४ । उ १ । सू ७६-८६ । पृ० ८२१-२२

'५८'७'२ पर्याप्त संख्यात वर्ष की आयुवाले संज्ञी मनुष्य से तमतमाप्रभापृथ्वी के नारकी में उत्पन्न होने योग्य जीव में—

गमक—१-६ पर्याप्त संख्यात वर्ष की आयुवाले संज्ञी मनुष्य से तमतमा-प्रभापृथ्वी के नारकी में उत्पन्न होने योग्य जो जीव हैं (पञ्जत्तसंखेज्जवासा-उयसन्निमणुस्से णं भंते ! जे भविए अहेसत्तमाए पुढवि (वीए) नेरइएसु उववज्जित्तए × × × ते णं भंते ! जीवा० × × × अवसेसो सो चेव सक्करप्पभापुढविगमओ णेयव्वो × × × सेसं तं चेव जाव—अणु-बंधो'त्ति × × × । ग० १ । सो चेव जहन्नकालट्टिईएसु उववन्नो—एस चेव वत्तव्वया × × × । ग० २ । सो चेव उक्कोसकालट्टिईएसु उववन्नो—एस चेव वत्तव्वया × × × । ग० २ । सो चेव उक्कोस-कालट्टिएसु उववन्नो—एस चेव वत्तव्वया × × × । ग० ३ । सो चेव अप्पणा जहन्नकालट्टिईओ जाओ, तस्स वि तिसु वि गमएसु एस चेव वत्तव्वया × × × । ष० ४-६ । सो चेव अप्पणा उक्कोसकाल-ट्टिईए जाओ, तस्स वि तिसु वि गमएसु एस चेव वत्तव्वया × × × । ग० ७-९) उनमें नौ गमकों ही में छः लेश्या होती है ('५८'२'२) ।

—भग० श २४ । उ १ । सू १०५, ११० । पृ० ८२४-२५

'५८'८ असुरकुमार देवों में उत्पन्न होने योग्य अन्य गति के जीवों में—

'५८'८'१ पर्याप्त असंज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च योनि से असुरकुमार देवों में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

गमक—१-६ पर्याप्त असंज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च योनि से असुरकुमार देवों में उत्पन्न होने योग्य जो जीव हैं (पञ्जत्तअसन्नपंचिन्द्रियतिरिक्खजोणिए णं भंते !

जे भविए असुरकुमारेसु उववज्जित्तए × × × ते णं भंते ! जीवा० ? एवं रयणप्पभागमगसरिसा णव वि गमा भाणियव्वा × × × अवसेसं तं चेव) उनमें तब गमकों ही में आदि की तीन लेख्या होती हैं ('५८'१'१ ग० १-६) ।

—भग० श २४ । उ २ । सू २, ३ । पृ० ८२५

'५८'८'२ असंख्यात वर्ष की आयुवाले संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्य'च योनि से असुरकुमार देवों में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

गमक—१-६ असंख्यात वर्ष की आयुवाले संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्य'च योनि से असुरकुमार देवों में उत्पन्न होने योग्य जो जीव हैं (असंखेज्जवासाउयसन्निपंचिदिर्यातिरिक्खजोणिए णं भंते ! जे भविए असुरकुमारेसु उववज्जित्तए × × × ते णं भंते ! जीवा—पुच्छा । × × × चत्तारि लेस्सा आदिल्लाओ × × × । ग० १ । सो चेव जहन्नकालट्टिईएसु उववन्नो—एस चेव वत्तव्वया × × × । ग० २ । सो चेव उक्कोसकालट्टिईएसु उववन्नो × × ×—एस चेव वत्तव्वया × × × सेसं तं चेव । ग० ३ । सो चेव अप्पणा जहन्नकालट्टिईओ जाओ × × × ते णं भंते ! अवसेसं तं चेव जाव—'भवादेसो'ति × × × ग० ४ । सो चेव जहन्नकालट्टिईएसु उववन्नो—एस चेव वत्तव्वया × × × । ग० ५ । सो चेव उक्कोसकालट्टिईएसु उववन्नो × × × सेसं तं चेव × × × । ग० ६ । सो चेव अप्पणा उक्कोसकालट्टिईओ जाओ, सो चेव पढम गमगो भाणियव्वो × × × । ग० ७ । सो चेव जहन्नकालट्टिईएसु उववन्नो, एस चेव वत्तव्वया × × × । ग० ८ । सो चेव उक्कोसकालट्टिईएसु उववन्नो, एस चेव वत्तव्वया × × × । ग० ९) उनमें नौ गमकों ही में आदि की चार लेख्या होती है ।

—भग० श २४ । उ २ । सू ५-१५ । पृ० ८२५-२७

'५८'८'६ पर्याप्त संख्यात वर्ष की आयुवाले संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्य'च योनि से असुरकुमार देवों में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

गमक—१-६ पर्याप्त संख्यात वर्ष की आयुवाले संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्य'च योनि से असुरकुमार देवों में उत्पन्न होने योग्य जो जीव हैं (पज्जतसंखेज्जवासाउय

सन्निपन्चिदियतिरिक्खजोणिए णं भंते ! जे भविए असुरकुमारेसु उववज्जित्तए × × × ते णं भंते ! जीवा० × × × एवं एएसिं रयण-
प्पभपुढविगमगसरिसा नव गमगा णेयन्वा । नवरं जाहे अप्पणा
जहन्नकालट्टिईओ भवइ, ताहे तिसु वि गमएसु इमं णाणत्तं—चत्तारि
लेस्साओ) उनमें प्रथम के तीन गमकों में छ लेश्या, मध्यम के तीन गमकों में
प्रथम की चार लेश्या तथा शेष के तीन गमकों में छ लेश्या होती हैं
('५८'१'२) ।

—भग० २४ । उ २ । सू १६, १७ । पृ० ८२७

'५८'८'४ असंख्यात वर्ष की आयुवाले संजी मनुष्य से असुरकुमार देवों में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

गमक—१-६ असंख्यात वर्ष की आयुवाले संजी मनुष्य से असुरकुमार देवों में उत्पन्न होने योग्य जो जीव हैं (असंखेज्जवासाउयसन्निमणुस्से णं भंते ! जे भविए असुरकुमारेसु उववज्जित्तए × × × एवं असंखेज्जवासाउ-
यतिरिक्खजोणियसरिसा आदिल्ला तिन्नि गमगा णेयन्वा × × ×
—प्र २० । ग० १-३ । सो चेव अप्पणा जहन्नकालट्टिईओ जाओ,
तस्स वि जहन्नकालट्टिईयतिरिक्खजोणियसरिसा तिन्नि गमगा
भाणियन्वा × × × सेसं तं चेव—प्र० २१ । ग० ४-६ । सो चेव
अप्पणा उक्कोसकालट्टिईओ जाओ, तस्स वि ते चेव पच्छिल्लगा
तिन्नि गमगा भाणियन्वा—प्र० २२ । ग० ७-९) उनमें नौ गमकों ही में
आदि की चार लेश्या होती हैं ('५८'८'२) ।

—भग० श २४ । उ २ । सू २०, २२ । पृ० ८२७

'५८'८'५ पर्याप्त संख्यात वर्ष की आयुवाले संजी मनुष्य से असुरकुमार देवों में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

गमक—१-६ पर्याप्त संख्यात वर्ष की आयुवाले संजी मनुष्य से असुरकुमार देवों में उत्पन्न होने योग्य जो जीव हैं (पज्जतसंखेज्जवासाउयसन्निमणुस्से णं भंते ! जे भविए असुरकुमारेसु उववज्जित्तए × × × ते णं भंते ! जीवा० ? एवं जहेव एएसिं रयणप्पभाए उववज्जमाणणं णव गमगा

तहेव इह वि णव गमगा भाणियव्वा × × × सेसं तं चेव) उनमें नौ गमकों में ही छ लेख्या होती हैं (देखो '५८'१३) ।

'५८'६ नागकुमार यावत् स्तनितकुमार देवों में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

'५८'६'१ पर्याप्त असंज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च योनि से नागकुमार देवों में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

गनक—१-६ पर्याप्त असंज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च योनि से नागकुमार देवों में उत्पन्न होने योग्य जो जीव हैं (नागकुमारा णं भंते × × × जइ तिरिक्ख० ? एवं जहा असुरकुमाराणं वत्तव्वया तथा एएसिं वि जाव— 'असन्न'त्ति) उनमें नौ गमकों में ही प्रथम की तीन लेख्या होती हैं ।

—भग० श २४ । उ ३ । सू १-२ । पृ० ८२८

'५८'६'२ असंख्यात वर्ष की आयुवाले संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च योनि से नागकुमार देवों में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

गमक—१-६ असंख्यात वर्ष की आयुवाले संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च योनि से नागकुमार देवों में उत्पन्न होने योग्य जो जीव हैं (असंखेज्जवासाउयसन्नि-पंचिदियतिरिक्खजोणिए णं भंते ! जे भविए नागकुमारेसु उवव-ज्जित्तए × × × ते णं भंते ! जीवा० अवसेसो सो चेव असुरकुमारेसु उववज्जमाणस्स गमगो भाणियव्वो जाव—'भवाएसो'त्ति × × × —प्र० ५ । ग० १ । सो चेव जहन्नकालट्टिईएसु उववन्नो, एस चेव वत्तव्वया × × × प्र० ६ । ग० २ । सो चेव उक्कोसकालट्टिईएसु उववन्नो, तस्स वि एस चेव वत्तव्वया × × × सेसं तं चेव जाव—'भवाएसो'त्ति —प्र० ७ । ग० ३ । सो चेव अप्पणा जहन्नकालट्टिईओ जाओ, तस्स वि तिसु वि गमएसु जहेव असुरकुमारेसु उववज्जमाणस्स जहन्न-कालट्टिईयस्स तहेव निरवसेसं—प्र० ८ । ग० ४-६ । सो चेव अप्पणा उक्कोसकालट्टिईओ जाओ, तस्स वि तहेव तिन्नि गमगा जहा असुर-कुमारेसु उववज्जमाणस्स × × × सेसं तं चेव—प्र० ६ । ग० ७-६) उनमें नव गमकों में ही प्रथम की चार लेख्या होती हैं (देखो '५८'८'२)

—भग० श २४ । उ ३ । सू ४-६ । पृ० ८२८

'५८'६'३ पर्याप्त संख्यात वर्ष की आयुवाले संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च योनि से नागकुमार देवों में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

गमक—१-६ पर्याप्त संख्यात वर्ष की आयुवाले संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च योनि से नागकुमार देवों में उत्पन्न होने योग्य जो जीव हैं (पञ्जत्तसंखेज्जवासाउय० जाव—जे भविए नागकुमारेसु उववज्जित्तए × × × एवं जहेव असुरकुमारेसु उववज्जमाणस्स वत्तव्वया तहेव इह वि णवसु वि गमएसु × × × सेसं तं चेव) उनमें प्रथम के तीन गमकों में छ लेश्या, मध्यम के तीन गमकों में प्रथम की चारलेश्या तथा शेष के तीनगमकों में छ लेश्या होती हैं ।

—भग० श २४ । उ ३ । सू ११ । पृ० ८२८

'५८'६'४ असंख्यात वर्ष की आयुवाले संज्ञी मनुष्य से नागकुमार देवों में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

गमक—१-६ असंख्यात वर्ष की आयुवाले संज्ञी मनुष्य से नागकुमार देवों में उत्पन्न होने योग्य जो जीव हैं (असंखेज्जवासाउयसन्नमणुस्से णं भंते ! जे भविए नागकुमारेसु उववज्जित्तए × × × एवं जहेव असंखेज्जवासाउयाणं तिरिक्खजोणियाणं नागकुमारेसु आदिल्ला तिन्नि गमगा तहेव इमस्स वि × × × सेसं तं चेव—सू १३ । ग० १-३ । सो चेव अप्पणा जन्नकालट्ठिईओ जाओ, तस्स तिसु वि गमएसु जहा तस्स चेव असुरकुमारेसु उववज्जमाणस्स तहेव निरवसेसं—सू १४ । ग० ४-६ । सो चेव अप्पणा उक्कोसकालट्ठिओ जाओ, तस्स तिसु वि गमएसु जहा तस्स चेव उक्कोस्सकालट्ठियस्स असुरकुमारेसु उववज्जमाणस्स—× × × सेसं तं चेव—सू १५ । ग० ७-६) उनमें नौ गमकों ही में प्रथम की चार लेश्या होती हैं । (देखो '५८'६'२—ग० १-३ । '५८'८'४—ग० ४-६) ।

—भग० श २४ । उ ३ । सू १३-१५ । पृ० ८२८-२९

'५८'६'५ पर्याप्त संख्यात वर्ष की आयुवाले संज्ञी मनुष्य से नागकुमार देवों में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

गमक—१-६ पर्याप्त संख्यात वर्ष की आयुवाले संज्ञी मनुष्य से नागकुमार देवों में उत्पन्न होने योग्य जो जीव हैं (पञ्चसंख्येज्जासाउयसन्निगणुस्से णं भंते ! जे भविए नागकुमारेसु उववज्जित्तए × × × एवं जहेव असुर-कुमारेसु उववज्जमाणस्स सच्चेव लद्धी निरवसेसा नवसु गमएसु × × × उनमें नौ गमकों में ही छः लेख्या होती है (देखो '५८'८'५—'५८'१'३) ।

—भग० श २४ । उ ३ । सू १७ । पृ० ६२६

'५८'६'६ सुवर्णकुमार यावत् स्तनितकुमार देवों में उत्पन्न योग्य नागकुमार देवों की तरह जो पाँच प्रकार के जीव हैं (अवसेसा सुवन्नकुमारादी जाव—थणियकुमारा एए अट्ट वि उद्देशगा जहेव नागकुमारा तहेव निरवसेसा भाणियव्वा) उन पाँचों प्रकार के जीवों के सम्बन्ध में नौ गमकों के लिये जैसा नागकुमार उद्देशक में कहा वैसा कहना । इन आठों देवों के सम्बन्ध में प्रत्येक के लिए एक-एक उद्देशक कहना ।

—भग० श २४ । उ ४-११ । पृ० ८२६

'५८'१० पृथ्वीकायिक जीवों में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

'५८'१०'१ स्व योनि से पृथ्वीकायिक जीवों में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

गमक—१-६ पृथ्वीकायिक जीवों से पृथ्वीकायिक जीवों में उत्पन्न होने योग्य जो जीव हैं (पुढविक्काइए णं भंते ! जे भविए पुढविक्काइएसु उववज्जित्तए × × × ते णं भंते ! जीवा० × × × चत्तारि लेस्साओ × × × प्र ३-४ । ग० १ । सो चेव जहन्नकालट्टिईएसु उववन्नो × × × —एवं चेव वत्तव्वया निरवसेसा—प्र ६ । ग० २ । सो चेव उक्कोस-कालट्टिईएसु उववन्नो, × × × सेसं तं चेव, जाव—'अनुबंधो'त्ति × × ×—प्र ७ । ग० ५ । सो चेव अप्पणा जहन्नकालट्टिईओ जाओ, सो चेव पढमिल्लओ गमओ भाणियव्वो । णवरं लेस्साओ तिन्नि × × ×—प्र ८ । ग० ४ । सो चेव जहन्नकालट्टिएसु उववन्नो सच्चेव चउत्थगमगवत्तव्वया भाणियव्ववा—प्र ६ । ग० ५ । सो चेव उक्कोस-कालट्टिईएसु उववन्नो, एस चेव वत्तव्वया—× × ×—प्र १० । ग० ६ । सो चेव अप्पणा उक्कोसकालट्टिईओ जाओ, एवं तइयगमगरिसो

निरवसेसो भाणियव्वो × × × —प्र ११ । ग० ७ । सो चेव जहन्न-
कालट्टिईएसु उव्वन्नो × × × एवं जहा सत्तमगमगो जाव—
'भवाएसो' × × × —प्र १२ । ग० ८ । सो चेव उक्कोसकालट्टिईएसु
उव्वन्नो × × × एस चेव सत्तमगमगवत्तव्वया जाव—'भवा-
एसो'त्ति × × × —प्र० १३ । ग० ९) उनमें प्रथम के तीन गमकों में चार
लेश्या, मध्यम के तीन गमकों में तीन लेश्या तथा शेष के तीन गमकों में चार
लेश्या होती हैं ।

—भग० श २४ । उ १२ । सू ३-१३ । पृ० ८२६-३१

'५८'१०'२ अप्कायिक योनि से पृथ्वीकायिक जीवों में उत्पन्न होने योग्य
जीवों में—

गमक—१-६ अप्कायिक योनि से पृथ्वीकायिक जीवों में उत्पन्न होने योग्य
जो जीव हैं (आउक्काइए णं भंते ! जे भविए पुढविक्काइएसु उव्व-
ज्जित्तए × × × एवं पुढविक्काइयगमगसरिसा नव गमगा भाणि-
यव्वया × × ×) उनमें प्रथम के तीन गमकों में चार लेश्या, मध्यम के तीन
गमकों में तीन लेश्या तथा शेष के तीन गमकों में चार लेश्या होती हैं ।
(देखो '५८'१०'१)

—भग० श २४ । उ १२ । सू १५ पृ० ८३१

'५८'१०'३ अग्निकायिक योनि से पृथ्वीकायिक जीवों में उत्पन्न होने योग्य
जीवों में—

गमक—१-६ अग्निकायिक योनि से पृथ्वीकायिक जीवों में उत्पन्न होने
योग्य जो जीव हैं (जइ तेउक्काइएहिंतो उव्ववज्जंतो तेउक्काइयाण वि
एस चेव वत्तव्वया । नवरं नवसु वि गमएसु तिन्नि लेस्साओ × × ×)
उनमें नौ गमकों में ही तीन लेश्या होती है ।

—भग० श २४ । उ १२ । सू १६ । पृ० ८३१

'५८'१०'४ वायुकायिक योनि से पृथ्वीकायिक जीवों में उत्पन्न होने योग्य
जीवों में—

गमक—१-६ वायुकायिक योनि से पृथ्वीकायिक जीवों में उत्पन्न होने
योग्य जो जीव हैं (जइ वाउक्काइएहिंतो ? वाउक्काइयाण वि एवं चेव

णव गमगा जहेव तेउक्काइयाणं × × ×) उनमें नौ गमकों में ही तीन लेख्या होती है ('५८'१०'३) ।

—भग० श २४ । उ १२ । सू १७ । पृ० ८३१

'५८'१०'५ वनस्पतिकायिक योनि से पृथ्वीकायिक जीवों से उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

गमक—१-६ वनस्पतिकायिक योनि से पृथ्वीकायिक जीवों में उत्पन्न होने योग्य जो जीव हैं (जइ वणस्सइकाइएहिंतो उववज्जंति० ? वणस्सइकाइयाणं आउकाइयगमगरिसा णव गमगा भाणियव्वा) उनमें प्रथम के तीन गमकों में चार लेख्या, मध्यम के तीन गमकों में तीन लेख्या तथा शेष के तीन गमकों में चार लेख्या होती है (देखो '५८'१०'२—'५८'१०'१) ।

—भग० श २४ । उ १२ । सू १८ । पृ० ८३१

'५८'१०'६ द्वीन्द्रिय से पृथ्वीकायिक जीवों में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

गमक—१-६ द्वीन्द्रिय से पृथ्वीकायिक जीवों में उत्पन्न होने योग्य जो जीव हैं (वेइं दिएणं भंते ! जे भविए पुढविक्काइएसु उववज्जित्तए × × × ते णं भंते ! जीवा० × × × तिन्नि लेस्साओ × × ×—प्र २०-२१ । ग० १ । सो चेव जहन्नकालट्ठिईएसु उववन्नो एस चेव वत्तव्वया सव्वा—प्र० २२ । ग० २ । सो चेव उक्कोसकालट्ठिईएसु उववन्नो एस चेव वेइं दियस्स लद्धी—प्र० २३ । ग० ३ । सो चेव अप्पणा जहन्नकालट्ठिईओ जाओ, तस्स वि एस चेव वत्तव्वया तिसु वि गमएसु × × ×—प्र० २४ । ग० ४-६ । सो चेव अप्पणा उक्कोसकालट्ठिईओ जाओ, एयस्स वि ओहियगमगरिसा तिन्नि गमगा भाणियव्वा × × ×—प्र० २५ । ग० ७-६) उनमें नौ गमकों में ही तीन लेख्या होती हैं ।

—भग० श २४ । उ १२ । सू २०-२५ । पृ० ८३२

'५८'१०'७ त्रीन्द्रिय से पृथ्वीकायिक जीवों में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

गमक—१-६ त्रीन्द्रिय से पृथ्वीकायिक जीवों में उत्पन्न होने योग्य जो जीव हैं (जइ तेइं दिएहिंतो उववज्जंति० एवं चेव नव गमगा भाणियव्वा × × ×) उनमें नौ गमकों में ही तीन लेख्या होती हैं (देखो '५८'१०'६) ।

—भग० श २४ । उ १२ । सू २६ । पृ० ८३३

'५८'१०'८ चतुरिन्द्रिय से पृथ्वीकायिक जीवों में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

गमक—१-६ चतुरिन्द्रिय से पृथ्वीकायिक जीवों में उत्पन्न होने योग्य जो जीव हैं (जइ चउरिदिएहिंतो उववज्जंति० एवं चेव चउरिदियाण वि नव गमगा भाणियव्वा × × ×) उनमें नौ गमकों में ही तीन लेश्या होती हैं (देखो '५८'१०'६) ।

—भग० श २४ । उ १२ । सू २७ । पृ० ८३३

'५८'१०'९ असंज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च योनि से पृथ्वीकायिक जीवों में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

गमक—१-६ असंज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च योनि से पृथ्वीकायिक जीवों में उत्पन्न होने योग्य जो जीव हैं (असन्निपंचिदियतिरिक्खजोणिणए णं भंते ! जे भविए पुढविक्काइएसु उववज्जित्तए × × × ते णं भंते ! जीवा० एवं जहेव वेइ दियस्स ओहियगमए लद्धी तहेव × × × सेसं तं चेव) उनमें नौ गमकों में ही तीन लेश्या होती हैं ।

—भग० श २४ । उ १२ । सू ३० । पृ० ८३३

'५८'१०'१० संख्यात वर्ष की आयुवाले संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च योनि से पृथ्वीकायिक जीवों में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

गमक—१-६ संख्यात वर्ष की आयुवाले संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च योनि से पृथ्वीकायिक जीवों में उत्पन्न होने योग्य जो जीव हैं (जइ संखेज्जवासाउय (सन्निपंचिदियतिरिक्खजोणिणए०) × × × ते णं भंते ! जीवा० × × × एवं जहा रयणप्पभाए उववज्जमाणस्स सन्निस्स तहेव इह वि × × × लद्धी से आदिल्लएसु तिसु वि गमएसु एस चेव । मञ्जिल्लएसु तिसु वि गमएसु एस चे । नवरं × × × तिन्नि लेस्साओ । × × × पच्छिल्लएसु तिसु वि गमएसु जहेव पढमगमए × × × उनमें प्रथम के तीन गमकों में छः लेश्या, मध्यम के तीन गमकों में तीन लेश्या तथा शेष के तीन गमकों में छ लेश्या होती हैं (देखो '५८'१'२) ।

—भग० श २४ । उ १२ । सू ३३, ३४ । पृ० ८३४

*५८*१०*११ असंज्ञी मनुष्य से पृथ्वीकायिक जीवों में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

गमक—१-६ असंज्ञी मनुष्य से पृथ्वीकायिक जीवों में उत्पन्न होने योग्य जो जीव हैं (असन्निमणुस्से णं भंते ! जे भविए पुढविकाइएसु० से णं भंते ! × × × एवं जहा असन्निपंचिदियतिरिक्खजोणियस्स जहन्न-कालद्धिईयस्स तिन्नि गमगा तथा एयस्स वि ओहिया तिन्नि गमगा भाणियन्वा तहेव निरवसेसं, सेसा छ न भणन्ति) उनमें औधिक तीन ही गमक होते हैं तथा इन तीनों गमकों में ही तीन लक्ष्या होती हैं । शेष छः गमक नहीं होते हैं ।

—भग० श २४ । उ १२ । सू ३६ । पृ० ८३४

*५८*१०*१२ (पर्याप्त संख्यात वर्ष की आयुवाले) संज्ञी मनुष्य से पृथ्वीकायिक जीवों में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

गमक—१-६ (पर्याप्त संख्यात वर्ष की आयुवाले) संज्ञी मनुष्य से पृथ्वी-कायिक जीवों में उत्पन्न होने योग्य जो जीव हैं (सन्निमणुस्से णं भंते ! जे भविए पुढविकाइएसु उववज्जित्तए × × × ते णं भंते ! जीवा० एवं जहेव रयणप्पभाए उववज्जमाणस्स तहेव तिसु वि गमएसु लद्धी × × × मज्जिलएसु तिसु गमएसु लद्धी जहेव सन्निपंचिदियस्स, सेसं तं चेव निरवसेसं, पच्छिलला तिन्नि गमगा जहा एयस्स चेव ओहिया गमगा) उनमें प्रथम के तीन गमकों में छ लक्ष्या, मध्यम के तीन गमकों में तीन लक्ष्या तथा शेष के तीन गमकों में छ लक्ष्या होती हैं ।

—भग० श २४ । उ १२ । सू ३६, ४० । पृ० ८३४-३५

*५८*१०*१३ असुरकुमार देवों से पृथ्वीकायिक जीवों में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

गमक—१-६ असुरकुमार देवों से पृथ्वीकायिक जीवों में उत्पन्न होने योग्य जो जीव हैं (असुरकुमारे णं भंते ! जे भविए पुढविकाइएसु उवव-ज्जित्तए—प्र ४३ । तेसि णं भंते ! जीवाणं × × × लेस्साओ चत्तारि × × × एवं णव वि गमा णेयन्वा—प्र ४७) उनमें नौ गमकों में ही चार लक्ष्या होती हैं ।

—भग० श २४ । उ १२ । सू ४३, ४७ । पृ० ८३५

'५८'१०'१४ नागकुमार यावत् स्तनितकुमार देवों से पृथ्वीकायिक जीवों में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

गमक—१-६ नागकुमार यावत् स्तनितकुमार देवों से पृथ्वीकायिक जीवों में उत्पन्न होने योग्य जो जीव हैं (नागकुमारे णं भंते ! जे भविए पुढविक्काइएसु० एस चैव वत्तव्वया जाव—'भवाएसो'त्ति ! × × × एवं णव वि गमगा असुरकुमारगमगसरिसा × × × एवं जाव—थणियकुमारारणं) उनमें नौ गमकों में ही चार लेश्या होती हैं ।

—भग० श २४ । उ १२ । सू ४८ । पृ० ८३६

'५८'१०'१५ वानव्यंतर देवों से पृथ्वीकायिक जीवों में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

गमक—१-६ वानव्यंतर देवों से पृथ्वीकायिक जीवों में उत्पन्न होने योग्य जो जीव हैं (वाणमंतरदेवे णं भंते ! जे भविए पुढविक्काइएसु० एएसि वि असुरकुमारगमगसरिसा णव गमगा भाणियव्वा × × × सेसं तहेव) उनमें नौ गमकों में ही चार लेश्या होती हैं ।

—भग० श २४ । उ १२ । सू ५० । पृ० ८३६

'५८'१०'१६ ज्योतिषी देवों से पृथ्वीकायिक जीवों में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

गमक—१-६ ज्योतिषी देवों से पृथ्वीकायिक जीवों में उत्पन्न होने योग्य जो जीव हैं (जोइसियदेवे णं भंते ! जे भविए पुढविक्काइएसु० ? लद्धी जहा असुरकुमारारणं । नवरं एगा तेऊलेस्सा पन्नत्ता । × × × एवं सेसा अट्ट गमगा भाणियव्वा) उनमें नौ गमकों में ही एक तेजोलेश्या होती है ।

—भग० श २४ । उ १२ । सू ५२ । पृ० ८३६

'५८'१०'१७ सौधर्मकल्पोपपन्न वैमानिक देवों से पृथ्वीकायिक जीवों में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

गमक—१-६ सौधर्मकल्पोपपन्न वैमानिक देवों से पृथ्वीकायिक जीवों में उत्पन्न होने योग्य जो जीव हैं (सोहम्मदेवे णं भंते ! जे भविए पुढवि-

क्काइएसु उव्वज्जित्तए × × × एवं जहा जोइसियस्स गमगो ।
× × × एवं सेसा वि अट्ट गमगा भाणियन्वा) उनमें नौ गमकों में ही
एक तेजोलेश्या होती है ।

—भग० श २४ । उ १२ । सू ५५ । पृ० ८३६

'५८'१०'१८ ईशान कल्पोपपन्न वैमानिक देवों से पृथ्वीकायिक जीवों में उत्पन्न
होने योग्य जीवों में—

गमक—१-६ ईशान कल्पोपपन्न वैमानिक देवों से पृथ्वीकायिक जीवों में
उत्पन्न होने योग्य जो जीव हैं (ईसाणदेवे णं भंते ! जे भविए० × × × ?
एवं ईसाणदेवेण वि णव गमगा भाणियन्वा × × × सेसं तं चेव)
उनमें नौ गमकों में ही एक तेजोलेश्या होती है ।

—भग० श २४ । उ १२ । सू ५५ पृ० ८३६

'५८'११ अष्कायिक जीवों में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

'५८'११'१ से '१८ स्व-पर योनि से अष्कायिक जीवों में उत्पन्न होने योग्य
जीवों में—

गमक—१-६ स्व-पर योनि से अष्कायिक जीवों में उत्पन्न होने योग्य जो
जीव हैं (आउक्काइया णं भंते ! कओहिंतो उव्वज्जंति ? एवं जहेव
पुढविक्काइयउद्देसए, जाव—× × × पुढविक्काइए णं भंते ! जे भविए
आउक्काइएसु उव्वज्जित्तए × × × एवं पुढविक्काइयउद्देसगसरिसो
भाणियन्वो × × × सेसं तहेव) उनके सम्बन्ध में लेश्या की अपेक्षा से
पृथ्वीकायिक उद्देशक ('५८'१०'१-१८) में जैसा कहा वैसा ही कहना ।

—भग० श २४ । उ १३ । सू १ । पृ० ८३७

'५८'१२ अग्निकायिक जीवों में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

'५८'१२'१-१२ स्व-पर योनि से अग्निकायिक जीवों में उत्पन्न होने योग्य
जीवों में—

गमक—१-६ स्व-पर योनि से अग्निकायिक जीवों में उत्पन्न होने योग्य
जो जीव हैं (तेउक्काइया णं भंते ! कओहिंतो उव्वज्जंति ? एवं जहेव

पुढविकाइयउद्देसगसरिसो उद्देसो भाणियव्वो । नवरं × × × देवे-
हितो ण उववज्जंति, सेसं तं चेव) उनके सम्बन्ध में लेइया की अपेक्षा से
पृथ्वीकायिक जीवों के उद्देशक ('५८'१०'१-१२) में जैसा कहा वैसा ही
कहना ।

—भग० श २४ । उ १४ । सू १ । पृ० ८३७

'५८'१३ वायुकायिक जीवों में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

'५८'१३'१-१२ स्व-पर योनि से वायुकायिक जीवों में उत्पन्न होने योग्य
जीवों में—

गमक—१-६ स्व-पर योनि से वायुकायिक जीवों में उत्पन्न होने योग्य जो
जीव हैं (वाउक्काइया णं भंते ! कओहितो उववज्जंति ? एवं जहेव
तेउक्काइयउद्देसओ तहेव) उनके सम्बन्ध में लेइया की अपेक्षा से अग्निकायिक
उद्देशक ('५८'१२) में जैसा कहा वैसा ही कहना ।

—भग० श २४ । उ १५ । सू १ । पृ० ८३७

'५८'१४ वनस्पतिकायिक जीवों में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

'५८'१४'१-१८ स्व-पर योनि से वनस्पतिकायिक जीवों में उत्पन्न होने योग्य
जीवों में—

गमक—१-६ स्व-पर योनि से वनस्पतिकायिक जीवों में उत्पन्न होने योग्य
जो जीव हैं (वणस्सइकाइया णं भंते ! × × × एवं पुढविकाइयसरिसो
उद्देसो) उनके सम्बन्ध में लेइया की अपेक्षा से पृथ्वीकायिक उद्देशक ('५८'१०
'१-१८) में जैसा कहा वैसा ही कहना ।

—भग० श २४ । उ १६ । सू १ । पृ० ८३७

'५८'१५ द्वीन्द्रिय जीवों में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

'५८'१५'१-१२ स्व-पर योनि से द्वीन्द्रिय जीवों में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

गमक—१-६ स्व-पर योनि से द्वीन्द्रिय जीवों में होने योग्य जो जीव हैं
(वेइं दियाणं भंते ! कओहितो उववज्जंति ? जाव—पुढविकाइए णं
भंते ! जे भविए वेइं दिएसु उववज्जिन्तए × × × सच्चेव पुढवि-

काइयस्स लद्धी × × × देवेसु न चैव उववज्जंति) उनके सम्बन्ध में लेश्या की अपेक्षा से पृथ्वीकायिक उद्देशक ('५८'१०'१-१२) में जैसा कहा वैसा ही कहना ।

—भग० श २४ । उ १७ । सू १ । पृ० ८३७

'५८'१६ त्रीन्द्रिय जीवों में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

'५८'१६'१'१२ स्व-पर योनि से त्रीन्द्रिय जीवों में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

गमक—१-६ स्व-पर योनि से त्रीन्द्रिय जीवों में उत्पन्न होने योग्य जो जीव हैं (तेइं'दियाणं भंते ! कओहिंत्तो उववज्जंति ? एवं तेइं'दियाणं जहेव बेइं'दियाणं उद्देशो) उनके सम्बन्ध में लेश्या की अपेक्षा से त्रीन्द्रिय उद्देशक ('५८'१५'१'१२) में जैसा कहा वैसा ही कहना ।

—भग० श २४ । उ १८ । सू १ । पृ० ८३७

'५८'१७ चतुरिन्द्रिय जीवों में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

'५८'१७'१'१२ स्व-पर योनि से चतुरिन्द्रिय जीवों में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

गमक—१-६ स्व-पर योनि से चतुरिन्द्रिय जीवों में उत्पन्न होने योग्य जो जीव हैं (चउरिंदियाणं भंते ! कओहिंत्तो उववज्जंति ? जहा—तेइं'दियाणं उद्देशओ तहेव चउरिंदियाणं वि) उनके सम्बन्ध में लेश्या की अपेक्षा से त्रीन्द्रिय उद्देशक ('५८'१६'१'१२) में जैसा कहा वैसा ही कहना ।

—भग० श २४ । उ १९ । सू १ । पृ० ८३८

'५८'१८ पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च योनि में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

'५८'१८'१ रत्नप्रभापृथ्वी के नारकी से पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च योनि में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

गमक—१-६ रत्नप्रभापृथ्वी के नारकी से पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च योनि में उत्पन्न होने योग्य जो जीव हैं (रयणप्पभापुढविनेरइए णं भंते ! जे भविए पंचिदियतिरिक्खजोणिएसु उववज्जिन्तए × × × तेसि णं भंते ! जीवाणं × × × एगा काऊलेस्सा पन्नत्ता प्र ३, ५ । ग० १ । सो चैव

जहन्नकालट्टिईएसु उववन्नो × × ×—प्र ६। ग० २। एवं सेसा वि सत्त गमगा भाणियव्वा जहेव नेरइयउडेसए सन्नपंचिदिएहिं समं— प्र ६। ग० ३-६) उनमें नौ गमकों में ही एक कापोत लेख्या होती है।

—भग० श २४। उ २०। सू ३-६। पृ० ८३८

'५८'१८'२ शर्कराप्रभापृथ्वी के नारकी से पंचेन्द्रिय तिर्यंच योनि में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

गमक—१-६ शर्कराप्रभापृथ्वी के नारकी से पंचेन्द्रिय तिर्यंच योनि में उत्पन्न होने योग्य जो जीव हैं (सक्करप्पभापुढविनेरइए णं भंते ! जे भविए० ? एवं जहा रयणप्पभाए णव गमगा तहेव सक्करप्पभाए वि × × × एवं जाव—छट्टपुढवी। नवरं ओगाहणा-लेस्सा-ठिइ-अणुबंधा संवेहो य जाणियव्वा) उनमें नौ गमकों में ही एक कापोत लेख्या होती है।

—भग० श २४। उ २०। सू ७। पृ० ८३६

'५८'१८'३ बालुकाप्रभापृथ्वी के नारकी से पंचेन्द्रिय तिर्यंच योनि में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

गमक—१-६ बालुकाप्रभापृथ्वी के नारकी से पंचेन्द्रिय तिर्यंच योनि में उत्पन्न होने योग्य जो जीव हैं (देखो पाठ ऊपर '५८'१८'२) उनमें नौ गमकों में ही नील तथा कापोत दो लेख्या होती हैं ('५३'४)।

—भग० श २४। उ २०। सू ७। पृ० ८३६

'५८'१८'४ पंकप्रभापृथ्वी के नारकी से पंचेन्द्रिय तिर्यंच योनि में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

गमक—१-६ पंकप्रभापृथ्वी के नारकी से पंचेन्द्रिय तिर्यंच योनि में उत्पन्न होने योग्य जो जीव हैं (देखो पाठ ऊपर '५८'१८'२) उनमें नौ गमकों में ही एक नील लेख्या होती है। ('५३'५)

—भग० श २४। उ २०। सू ७। पृ० ८३६

'५८'१८'५ धूमप्रभापृथ्वी के नारकी से पंचेन्द्रिय तिर्यंच योनि में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

गमक—१-६ धूमप्रभापृथ्वी के नारकी से पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च योनि में उत्पन्न होने योग्य जो जीव हैं (देखी पाठ ऊपर '५८'१८'२) उनमें नौ गमकों में ही कृष्ण तथा नील दो लेश्या होती हैं । ('५३'६)

—भग० श २४ । उ २० । सू ७ । पृ० ८३६

'५८'१८'६ तमप्रभापृथ्वी के नारकी से पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च योनि में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

गमक—१-६ तमप्रभापृथ्वी के नारकी से पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च योनि में उत्पन्न होने योग्य जो जीव हैं ('५८'१८'२) उनमें नौ गमकों में ही एक कृष्ण लेश्या होती है । ('५३'७)

—भग० श २४ । उ २० । सू ७ । पृ० ८३६

'५८'१८'७ तमतमाप्रभापृथ्वी के नारकी से पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च योनि में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

गमक—१-६ तमतमाप्रभा पृथ्वी के नारकी से पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च योनि में उत्पन्न होने योग्य जो जीव हैं (अहेसत्तमपुढवीनेरइए णं भंते ! जे भविए० ? एवं चेव णव गमगा । नवरं ओगाहणा, लेस्सा, ठिइ, अणुबंधा जाणियन्वा × × × लद्धी णवसु वि गमएसु-जहा पढम-गमए) उनमें नौ गमकों में ही एक परम कृष्ण लेश्या होती है । ('५३'८)

—भग० श २४ । उ २० । सू ८ । पृ० ८३६

'५८'१८'८ पृथ्वीकायिक योनि से पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च योनि में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

गमक—१-६ पृथ्वीकायिक योनि से पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च योनि में उत्पन्न होने योग्य जो जीव हैं (पुढविकाइ एणं भंते ! जे भविए पंचिदियतिरिक्ख-जोणिएसु उववज्जित्तए × × × ते णं भंते ! जीवा० ? एवं परिमाणादीया अणुबंधपज्जवसाणा जज्जेव अप्पणो सट्ठाणे वत्तव्वया सत्त्वेव पंचिदियतिरिक्खजोणिएसु वि उववज्जमाणस्स भाणियन्वा × × × सेसं तं चेव) उनमें प्रथम के तीन गमकों में चार लेश्या, मध्यम के तीन गमकों में तीन लेश्या तथा शेष के तीन गमकों में चार लेश्या होती है । ('५८'१०'१)

—भग० श २४ । उ २० । सू १०-१२ । पृ० ८३६-४०

'५७'१८'६ अष्कायिक योनि से पंचेन्द्रिय तिर्य'च योनि में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

गमक—१-६ अष्कायिक योनि से पंचेन्द्रिय तिर्य'च योनि में उत्पन्न होने योग्य जो जीव हैं (पुढविकाइए णं भंते ! जे भविए पंचिदियतिरिक्ख-जोणिएसु उववज्जित्तए × × × ते णं भंते ! जीवा० ? एवं परिमाणादीया अणुबंधपज्जवसाणा जच्चेव अप्पणो सट्ठाणे वत्तव्वया सच्चेव पंचिदियतिरिक्खजोणिएसु वि उववज्जमाणस्स भाणियव्वा । × × × जइ आउक्काइएहिंतो उववज्जंति० ? एवं आउक्काइयाणं वि । एवं जाव—चउरिंदिया उववाएयव्वा । नवरं सव्वत्थ अप्पणो लद्धी भाणियव्वा । × × × जहेव पुढविकाइएसु उववज्जमाणानं लद्धी तहेव सव्वत्थ × × ×) उनमें प्रथम के तीन गमकों में चार लेश्या, मध्यम के तीन गमकों में तीन लेश्या तथा शेष के तीन गमकों में चार लेश्या होती हैं । (देखो '५८'१०'२)

—भग० श २४ । उ २० । सू १०-१२ । पृ० ८३६-४०

'५८'१८'१० अग्निकायिक योनि से पंचेन्द्रिय तिर्य'च योनि में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

गमक—१-६ अग्निकायिक योनि से पंचेन्द्रिय तिर्य'च योनि में उत्पन्न होने योग्य जो जीव हैं (देखो पाठ ऊपर '५८'१८'६) उनमें नौ गमकों में ही तीन तीन लेश्या होती हैं । (देखो '५८'१०'३)

—भग० श २४ । उ २० । सू १०-१२ । पृ० ८३६-४०

'५८'१८'११ वायुकायिक योनि से पंचेन्द्रिय तिर्य'च योनि में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

गमक—१-६ वायुकायिक योनि से पंचेन्द्रिय तिर्य'च योनि में उत्पन्न होने योग्य जो जीव हैं (देखो पाठ ऊपर '५८'१८'६) उनमें नव गमकों में ही तीन लेश्या होती हैं । (देखो '५८'१०'४)

—भग० श २४ । उ २० । सू १०-१२ । पृ० ८३६-४०

'५८'१८'१२ वनस्पतिकायिक योनि से पंचेन्द्रिय तिर्य'च योनि में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

गमक—१-६ वनस्पतिकायिक योनि से पंचेन्द्रिय तिर्यंच योनि में उत्पन्न होने योग्य जो जीव हैं (देखो पाठ ऊपर '५८'१८'६) उनमें प्रथम के तीन गमकों में चार लेश्या, मध्यम के तीन गमकों में तीन लेश्या तथा शेष के तीन गमकों में चार लेश्या होती है । (देखो '५८'१०'५)

—भग० श २४ । उ २० । सू १०-१२ । पृ० ८३६-४०

'५८'१८'१३ द्वीन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तिर्यंच योनि में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

गमक—१-६ द्वीन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तिर्यंच योनि में उत्पन्न होने योग्य जो जीव हैं (देखो पाठ ऊपर '५८'१८'६) उनमें नौ गमकों में ही तीन लेश्या होती है । (देखो '५८'१०'६)

—भग० श २४ । उ २० । सू १०-१२ । पृ० ८३६-४०

'५८'१८'१४ त्रीन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तिर्यंच योनि में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

गमक—१-६ त्रीन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तिर्यंच योनि में उत्पन्न होने योग्य जो जीव हैं (देखो पाठ ऊपर '५८'१८'६) उनमें नौ गमकों में ही तीन लेश्या होती है । (देखो '५८'१०'७)

—भग० श २४ । उ २० । सू १०-१२ पृ० ८३६-४०

'५८'१८'१५ चतुरिन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तिर्यंच योनि उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

गमक—१-६ चतुरिन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तिर्यंच योनि में उत्पन्न होने योग्य जो जीव हैं (देखो पाठ ऊपर '५८'१८'६) उनमें नौ गमकों में ही तीन लेश्या होती है । (देखो '५८'१०'८)

—भग० श २४ । उ २० । सू १०-१२ । पृ० ८३६-४०

'५८'१८'१६ असंज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंच योनि से पंचेन्द्रिय तिर्यंच योनि में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

गमक—१-६ असंज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंच योनि से पंचेन्द्रिय तिर्यंच योनि में उत्पन्न होने योग्य जो जीव हैं (असंज्ञीपंचिन्द्रियतिरिक्खजोणिए णं भंते ! जे भविए पंचिन्द्रियतिरिक्खजोणिएसु उववज्जित्तए × × × ते णं

भंते !० अवसेसं जहेव पुढविक्काइएसु उववज्जमाणस्स असन्निस्स तहेव निरवसेसं, जाव—‘भवाएसो’त्ति × × × ग० १। × × × विइयगमए एस चेव लद्धी—प्र० १५। ग० २। सो चेव उक्कोसकाल-ट्टिइएसु उववन्नो × × × ते णं भंते ! जीवा० ? एव जहा रयणप्पभाए उववज्जमाणस्स असन्निस्स तहेव निरवसेसं जाव—‘कालादेसो’त्ति × × × सेसं तं चेव—प्र० १६। ग० ३। सो चेव अप्पणा जहन्न-कालट्टिइओ जाओ × × × ते णं भंते !—अवसेसं जहा एयस्स पुढविक्काइएसु उववज्जमाणस्स मज्झिमेसु तिसु गमएसु तथा इह वि मज्झिमेसु तिसु गमएसु जाव—‘अणुबंधो’त्ति—प्रश्न १७। ग० ४। सो चेव जहन्नकालट्टिइएसु उववन्नो एस चेव वत्तव्वया × × ×—प्र १८। ग० ५। सो चेव उक्कोसकालट्टिइएसु उववन्नो × × × एस चेव वत्तव्वया—प्र १९। ग० ६। सो चेव अप्पणा उक्कोसकालट्टिइओ जाओ सच्चेव पढमगमगवत्तव्वया × × ×— २०। ग० ७। सो चेव जहन्नकालट्टिइएसु उववन्नो, एस चेव वत्तव्वया जहा सत्तमगमए × × ×—प्र २१। ग० ८। सो चेव उक्कोसकालट्टिइएसु उववन्नो, × × × एवं जहा रयणप्पभाए उववज्जमाणस्स असन्निस्स नवमगमए तहेव निरवसेसं जाव—‘कालादेसो’ त्ति × × × सेसं तं चेव—प्र २२। ग० ९। उनमें नौ गमकों में ही तीन लेश्या होती है। (देखो ग० १, २, ४, ५, ६, ७, ८, के लिए ‘५८’१०’९ तथा ग० ३ व ९ के लिए ‘५८’११’)।

—भग० श २४। उ २०। सू १४-२२। पृ० ८४०-४१

‘५८’१८’१७ संख्यात वर्ष की आयुवाले संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यं च योनि से पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च योनि में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

गनक—१-६ संख्यात वर्ष की आयुवाले संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च योनि से पंचेन्द्रिय तिर्यं च योनि में उत्पन्न होने योग्य जो जीव हैं (संखेज्जवासाउय-सन्निपंचिन्द्रियतिरिक्खजोणिण ए णं भंते ! जे भविए पंचिन्द्रियतिरि-क्खजोणिणएसु उववज्जित्तए × × × ते णं भंते ! × × × ? अवसेसं

जहा एयस्स चेव सन्निस्स रयणप्पभाए उववज्जमाणस्स पढमगमए
 × × × सेसं तं चेव जाव—'भवाएसो'त्ति × × ×—प्र २५-२६ ।
 ग० १ । सो चेव जहन्नकालट्टिईएसु उववन्नो, एस चेव वत्तव्वया × × ×
 —प्र २७ । ग० २ । सो चेव उक्कोसकालट्टिईएसु उववन्नो × × × एस
 चेव वत्तव्वया × × ×—प्र २८ । ग० ३ । सो चेव जहन्नकालट्टिईओ
 जाओ × × × । लद्धी से जहा एयस्स चेव सन्निपंचिदियस्स पुढवि-
 क्काइएसु उववज्जमाणस्स मज्झिल्लएसु तिसु गमएसु सच्चैव इह वि
 मज्झिमेसु तिसु गमएसु कायव्वा × × ×—प्र २९ । ग० ४-६ । सो
 चेव अप्पणा उक्कोसकालट्टिईओ जाओ जहा पढमगमए × × ×—प्र
 ३० । ग० ७ । सो चेव जहन्नकालट्टिईएसु उववन्नो, एस चेव वत्तव्वया
 × × ×—प्र ३१ । ग० ८ । सो चेव उक्कोसकालट्टिईएसु उववन्नो
 × × × अवसेसं तं चेव × × ×—प्र ३२ । ग० ९) उनमें प्रथम के तीन
 गमकों में छः लेश्या, मध्यम के तीन गमकों में तीन लेश्या तथा शेष के तीन
 गमकों में छः लेश्या होती है । (ग० १, २, ३, ७, ८, ९ के लिए देखो
 '५८'१'२, ग० ४, ५, ६ के लिए देखो '५८'१०'१०)

—भग० श २४ । उ २० । सू २५-३२ । पृ० ८४१-४२

'५८'१८'१८ असंज्ञी मनुष्य योनि से पंचेन्द्रिय तिर्य'च-योनि में उत्पन्न होने योग्य
 जीवों में—

गमक—१-९ असंज्ञी मनुष्य योनि से पंचेन्द्रिय तिर्य'च-योनि में उत्पन्न होने
 योग्य जी जीव हैं (असन्निमणुस्से णं भंते ! जे भविए पंचिदियति-
 रिक्खजोणिएसु उववज्जित्तए × × × लद्धी से तिसु वि गमएसु
 जहेव पुढविक्काइएसु उववज्जमाणस्स × × ×) उनमें प्रथम के तीन
 गमक ही होते हैं तथा इन तीनों गमकों में ही प्रथम तीन लेश्या होती है ।
 (देखो '५८'१०'११)

—भग० श २४ । उ २० । सू ३४ । पृ० ८४२

'५८'१८'१९ संख्यात वर्ष की आयुवाले संज्ञी मनुष्य योनि से पंचेन्द्रिय तिर्य'च
 योनि में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

गमक—१-६ संख्यात वर्ष की आयुवाले संज्ञी मनुष्य योनि से पंचेन्द्रिय तिर्यंच योनि में उत्पन्न होने योग्य जो जीव हैं (सन्निमणुस्से णं भंते ! जे भविए पंचिन्द्रियतिरिक्खजोणिएसु उववज्जित्तए × × × ते णं भंते ! लद्धी से जहा एयस्सेव सन्निमणुस्सस्स पुढविक्काइएसु उववज्जमाणस्स पढमगमए जाव—‘भवाएसो’त्ति × × ×—प्र ३८ । ग० १ । सो चेव जहन्नकालट्टिइएसु उववन्नो, एस चेव वत्तव्वया × × ×—प्र ३६ । ग० २ । सो चेव उक्कोसकालट्टिइएसु उववन्नो × × × सच्चेव वत्तव्वया × × ×—प्र ४० । ग० ३ । सो चेव अप्पणा जहन्नकालट्टिइओ जाओ, जहा सन्नपंचिन्द्रियतिरिक्खजोणियस्स पंचिन्द्रियतिरिक्खजोणिएसु उववज्जमाणस्स मज्झिमेसु तिसु गमएसु वत्तव्वया भाणिया एस चेव एयस्स वि मज्झिमेसु तिसु गमएसु निरवसेसा भाणियव्वा × × ×—प्र ४१ । ग० ४-६ । सो चेव अप्पणा उक्कोसकालट्टिइओ जाओ सच्चेव पढमगमंगवत्तव्वया × × ×—प्र ४२ । ग० ७ । सो चेव जहन्नकालट्टिइएसु उववन्नो, एस चेव वत्तव्वया × × ×—४३ । ग० ८ । सो चेव उक्कोसकालट्टिइएसु उववन्नो × × × एस चेव लद्धी जहेव सत्तमगमए × × ×—प्र ४४ । ग० ९) उनमें प्रथम के तीन गमकों में छः लेश्या (देखो ‘५८’१०’१२), मध्यम के तीन गमकों में तीन लेश्या (देखो ‘५८’१८’१७) तथा शेष के तीन गमकों में छः लेश्या होती है ।

—भग० श २४ । उ २० । सू ३७-४४ । पृ० ८४२-४३

‘५८’१८’२० असुरकुमार देवों से पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च योनि में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

गमक—१-६ असुरकुमार देवों से पंचेन्द्रिय तिर्यंच योनि में उत्पन्न होने योग्य जो जीव हैं (असुरकुमारो णं भंते ! जे भविए पंचिन्द्रियतिरिक्खजोणिएसु उववज्जित्तए × × × । असुरकुमारोणं लद्धी णवसु वि गमएसु जहा पुढविक्काइएसु उववज्जमाणस्स, एवं जाव—ईसाणदेवस्स तहेव लद्धी × × ×) उनमें नौ गमकों में ही प्रथम चार लेश्या होती है । (देखो ‘५८’१०’१३)

—भग० श २४ । उ २० । सू ४७ । पृ० ८४३

'५८'१८'२१ नागकुमार यावत् स्तनितकुमार देवों से पंचेन्द्रिय तिर्यंच योनि में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

गमक—१-६ नागकुमार यावत् स्तनितकुमार देवों से पंचेन्द्रिय तिर्यंच योनि में उत्पन्न होने योग्य जो जीव हैं (नागकुमारे णं भंते ! जे भविए० ? एस चेव वत्तव्वया × × × एवं जाव—थणियकुमारे) उनमें नौ गमकों में ही प्रथम चार लेश्या होती हैं । (देखो '५८'१८'२० 7 '५८'१०'१३)

—भग० श २४ । उ २० । सू ४८ । पृ० ८४३

'५८'१८'२२ वानव्यंतर देवों से पंचेन्द्रिय तिर्यंच योनि में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

गमक—१-६ वानव्यंतर देवों से पंचेन्द्रिय तिर्यंच योनि में उत्पन्न होने योग्य जो जीव हैं (वाणमंतरे णं भंते ! जे भविए पंचिदियतिरिक्ख० ? एवं चेव × × ×) उनमें नौ गमकों में ही प्रथम चार लेश्या होती हैं । (देखो '५८'१८'२१)

—भग० श २४ । उ २० । सू ५० । पृ० ८४३

'५८'१८'२३ ज्योतिषी देवों से पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च योनि में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

गमक—१-६ ज्योतिषी देवों से पंचेन्द्रिय तिर्यंच योनि में उत्पन्न होने योग्य जो जीव हैं (जोइसिए णं भंते ! जे भविए पंचिदियतिरिक्ख० ? एस चेव वत्तव्वया जहा पुढविक्काइयउहेसए × × ×) उनमें नौ गमकों में ही एक तेजोलेश्या होती है । (देखो '५८'१०'१६)

—भग० श २४ । उ २० । सू ५२ । पृ० ८४३

'५८'१८'२४ सौधर्मकल्पोपपन्न वैमानिक देवों से पंचेन्द्रिय तिर्यंच योनि में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

गमक—१-६ सौधर्मकल्पोपपन्न वैमानिक देवों से पंचेन्द्रिय तिर्यंच योनि में उत्पन्न होने योग्य जो जीव हैं (सोहम्मदेवे णं भंते ! जे भविए पंचिदिय-तिरिक्खजोणिएसु उववज्जित्तए × × × सेसं जहेव पुढविक्काइय-

उहेसए नवसु वि गमएसु × × ×) उनमें नौ गमकों में ही एक तेजोलेख्या होती है । (देखो '५८'१०'१७)

—भग० श २४ । उ २० । सू ५४ । पृ० ८४४

'५८'१८'२५ ईशान कल्पोपपन्न वैमानिक देवों से पंचेन्द्रिय तिर्यंच योनि में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

गमक—१-६ ईशान कल्पोपपन्न वैमानिक देवों से पंचेन्द्रिय तिर्यंच योनि में उत्पन्न होने योग्य जो जीव हैं (× × × एवं ईसानदेवे वि) उनमें नौ गमकों में ही एक तेजोलेख्या होती है । (देखो '५८'१८'२४)

भग० श २४ । उ २० । सू ५४ । पृ० ८४४

'५८'१८'२६ सनत्कुमार कल्पोपपन्न वैमानिक देवों से पंचेन्द्रिय तिर्यंच योनि में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

गमक—१-६ सनत्कुमार कल्पोपपन्न वैमानिक देवों से पंचेन्द्रिय तिर्यंच योनि में उत्पन्न होने योग्य जो जीव हैं (एवं ईसानदेवे वि । एएणं कमेणं अवसेसा वि जाव—सहस्सारदेवेसु उववाएयठ्वा । नवरं × × × लेस्सा—सणकुमार—मार्हिंद—बंभलोएसु एगा पम्हलेस्सा) उनमें नौ गमकों में ही एक पञ्चलेख्या होती है ।

—भग० श २४ । उ २० । सू ५४ । पृ० ८४४

'५८'१८'२७ माहेन्द्र कल्पोपपन्न वैमानिक देवों से पंचेन्द्रिय तिर्यंच योनि में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

गमक—१-६ माहेन्द्र कल्पोपपन्न वैमानिक देवों से पंचेन्द्रिय तिर्यंच योनि में उत्पन्न होने योग्य जो जीव हैं (देखो पाठ '५८'१८'२६) उनमें नौ गमकों में ही एक पञ्चलेख्या होती है ।

—भग० श २४ । उ २० । सू ५४ । पृ० ८४४

'५८'१८'२८ ब्रह्मलोक कल्पोपपन्न वैमानिक देवों से पंचेन्द्रिय तिर्यंच योनि में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

गमक—१-६ ब्रह्मलोक कल्पोपपन्न वैमानिक देवों से पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च योनि में उत्पन्न होने योग्य जो जीव हैं (देखो पाठ '५८'१८'२६) उनमें नव गमकों में ही एक पक्षलेश्या होती है ।

—भग० श २४ । उ २० । सू ५४ । पृ० ८४४

'५८'१८'२६ लांतक कल्पोपपन्न वैमानिक देवों से पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च योनि में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

गमक—१-६ लांतक कल्पोपपन्न वैमानिक देवों से पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च योनि में उत्पन्न होने योग्य जीव हैं (एवं ईसाणदेवे वि एवं एएणं कमेणं अवसेसा वि जाव—सहस्सारदेवेसु उववाएयव्वा । तवरं × × × लेस्सा सणंकुमार —मार्हिंद—बंभलोएसु एगा पम्हलेस्सा, सेसाणं एगा सुक्कलेस्सा × × ×) उनमें नौ गमकों में ही एक शुक्ललेश्या होती है ।

—भग० श २४ । उ २० । सू ५४ । पृ० ८४४

'५८'१८'३० महाशुक्र कल्पोपपन्न वैमानिक देवों से पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च योनि में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

गमक—१-६ महाशुक्र कल्पोपपन्न वैमानिक देवों से पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च योनि में उत्पन्न होने योग्य जो जीव हैं (देखो पाठ '५८'१८'२६) उनमें नौ गमकों में ही एक शुक्ललेश्या होती है ।

—भग० श २४ । उ २० । सू ५४ । पृ० ८४४

'५८'१८'३१ सहस्रार कल्पोपपन्न वैमानिक देवों से पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च योनि में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

गमक—१-६ सहस्रार कल्पोपपन्न वैमानिक देवों से पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च योनि में उत्पन्न होने योग्य जो जीव हैं (देखो पाठ '५८'१८'२६) उनमें नौ गमकों में ही एक शुक्ललेश्या होती है ।

—भग० श २४ । उ २० । सू ५४ । पृ० ८४४

'५८'१६ मनुष्य योनि में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

'५८'१६'१ रत्नप्रभापृथ्वी के नारकी से मनुष्य योनि में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

गमक—१-६ रत्नप्रभापृथ्वी के नारकी से मनुष्य योनि में उत्पन्न होने योग्य जो जीव हैं (रयणप्पभपुढविनेरइए णं भंते ! जे भविए मणुस्सेसु उववज्जित्तए × × × अवसेसा वत्तव्वया जहा पंचिदियतिरिक्ख-जोणिएसु उववज्जंतस्स तहेव । × × × सेसं तं चेव) उनमें नौ गमकों में ही एक कापोतलेश्या होती है । (देखो '५८'१८'१)

—भग० श २४ । उ २१ । सू २ । पृ० ८४४

'५८'१९'२ शर्कराप्रभापृथ्वी के नारकी से मनुष्य योनि में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

गमक—१-६ शर्कराप्रभापृथ्वी के नारकी से मनुष्य योनि में उत्पन्न होने योग्य जो जीव हैं (रयणप्पभपुढविनेरइए णं भंते ! जे भविए मणुस्सेसु उववज्जित्तए × × × अवसेसा वत्तव्वया जहा पंचिदियतिरिक्ख-जोणिएसु उववज्जंतस्स तहेव । × × × सेसं तं चेव ! जहा रयणप्प-भाए वत्तव्वया तथा सक्करप्पभाए वि वत्तव्वया, × × ×) उनमें नौ गमकों में ही एक कापोतलेश्या होती है । (देखो '५८'१९'१ ७ '५८'१८'१)

—भग० श २४ । उ २१ । सू २ । पृ० ८४४

'५८'१९'३ बालुकाप्रभापृथ्वी के नारकी से मनुष्य योनि में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

गमक—१-६ बालुकाप्रभापृथ्वी के नारकी से मनुष्य योनि में उत्पन्न होने योग्य जो जीव हैं (रयणप्पभपुढविनेरइए णं भंते ! जे भविए मणुस्सेसु उववज्जित्तए × × × अवसेसा वत्तव्वया जहा पंचिदियतिरिक्ख-जोणिएसु उववज्जंतस्स तहेव । × × × सेसं तं चेव । जहा रयणप्प-भाए वत्तव्वया तथा सक्करप्पभाए वि वत्तव्वया । × × × ओगाहणा—लेस्सा—णाण—ट्टिइ—अणुबंध—संवेहं णणत्तं च जाणेज्जा जहेव तिरिक्ख जोणियउहेसए । एवं जाव—तमापुढविनेरइए) उनमें नौ गमकों में ही नील तथा कापोत दो लेश्या होती हैं । (देखो '५३'४)

—भग० श २४ । उ २१ । सू २ । पृ० ८४४

'५८'१९'४ पंकप्रभापृथ्वी के नारकी से मनुष्य योनि में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

गमक—१-६ पंकप्रभापृथ्वी के नारकी से मनुष्य योनि में उत्पन्न होने योग्य जो जीव हैं (देखो पाठ '५८'१६'३) उनमें नौ गमकों में ही एक नीललेश्या होती है । (देखो '५३'५)

—भग० श २४ । उ २१ । सू २ । पृ० ८४४

'५८'१६'५ धूमप्रभापृथ्वी के नारकी से मनुष्य योनि में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

गमक—१-६ धूमप्रभापृथ्वी के नारकी से मनुष्य योनि में उत्पन्न होने योग्य जो जीव हैं (देखो पाठ '५८'१६'३) उनमें नौ गमकों में ही कृष्ण और नील दो लेश्या होती हैं । (देखो '५३'६)

—भग० श २४ । उ २१ । सू २ । पृ० ८४४

'५८'१६'६ तमप्रभापृथ्वी के नारकी से मनुष्य योनि में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

गमक—१-६ तमप्रभापृथ्वी के नारकी से मनुष्य योनि में उत्पन्न होने योग्य जो जीव हैं (देखो पाठ '५८'१६'३) उनमें नौ गमकों में ही एक कृष्ण-लेश्या होती है । (देखो '५३'७)

—भग० श २४ । उ २१ । सू २ । पृ० ८४४

'५८'१६'७ पृथ्वीकायिक जीवों से मनुष्य योनि में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

गमक—१-६ पृथ्वीकायिक जीवों से मनुष्य योनि में उत्पन्न होने योग्य जो जीव हैं (पुढविकाइए णं भंते ! जे भविए मणुस्सेसु उववज्जित्तए × × × ते णं भंते ! जीवा० ? एवं जहेव पंचिदियतिरिक्खजोणिएसु उववज्जमाणस्स पुढविकाइयस्स वत्तव्वया सा चेव इह वि उववज्जमाणस्स भाणियव्वा णवसु गमएसु × × × सेसं तं चेव निरवसेसं) उनमें प्रथम के तीन गमकों में चार लेश्या, मध्यम के तीन गमकों में तीन लेश्या तथा शेष के तीन गमकों में चार लेश्या होती हैं । (देखो '५८'१८'८ 7 '५८'१०'१)

—भग० श २४ । उ २१ । सू ४-५ । पृ० ८४४

'५८'१६'८ अप्कायिक जीवों से मनुष्य योनि में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

गमक—१-६ अष्कायिक जीवों से मनुष्य योनि में उत्पन्न होने योग्य जो जीव हैं (पुढविक्काइए णं भंते ! जे भविए मणुस्सेसु उववज्जित्तए × × × ते णं भंते ! जीवा० ? एवं जहेव पंचिंदियतिरिक्खजोणिएसु उववज्जमाणस्स पुढविक्काइयस्स वत्तव्वया सा चेव इह वि उववज्जमाणस्स भाणियव्वा णवसु वि गमएसु । × × × एवं आउक्कायाण वि । एवं वणस्सइकायाण वि । एवं जाव—चउरिंदियाण वि × × ×) उनमें प्रथम के तीन गमकों में चार लेश्या, मध्यम के तीन गमकों में तीन लेश्या तथा शेष के तीन गमकों में चार लेश्या होती हैं । (देखो '५८'१८'६७-५८'१०'२)

—भग० श २४ । उ २० । सू ४-६ । पृ० ४८५

'५८'१६'६ वनस्पतिकायिक जीवों से मनुष्य योनि में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

गमक—१-६ वनस्पतिकायिक जीवों से मनुष्य योनि में उत्पन्न होने योग्य जो जीव हैं (देखो पाठ '५८'१६'८) उनमें प्रथम के तीन गमकों में चार लेश्या, मध्यम के तीन गमकों में तीन लेश्या तथा शेष के तीन गमकों में चार लेश्या होती है । (देखो '५८'१८'१२७'५८'१०'५)

—भग० श २४ । उ २१ । सू ४-६ । पृ० ८४५

'५८'१६'१० द्वीन्द्रिय जीवों से मनुष्य योनि में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

गमक—१-६ द्वीन्द्रिय जीवों से मनुष्य योनि में उत्पन्न होने योग्य जो जीव हैं (देखो पाठ '५८'१६'८) उनमें नौ गमकों में ही तीन लेश्या होती है । (देखो '५८'१८'१३'५८'१०'६)

—भग० श २४ । उ २१ । सू ४-६ । पृ० ८४५

'५८'१६'११ त्रीन्द्रिय जीवों से मनुष्य योनि में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

गमक—१-६ त्रीन्द्रिय जीवों से मनुष्य योनि में उत्पन्न होने योग्य जो जीव हैं (देखो पाठ '५८'१६'८) उनमें नौ गमकों में ही तीन लेश्या होती है । (देखो '५८'१८'१४७'५८'१०'७)

—भग० श २४ । उ २१ । सू ४-६ । पृ० ८४५

'५८'१८'१२ चतुरिन्द्रिय जीवों से मनुष्य योनि में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

गमक—१-६ चतुरिन्द्रिय जीवों से मनुष्य योनि में उत्पन्न होने योग्य जो जीव हैं (देखो पाठ '५८'१६'८) उनमें नौ गमकों में ही तीन लेश्या होती हैं (देखो पाठ '५८'१८'१५७'५८'१०'८)

—भग० श २४ । उ २१ । सू ४-६ । पृ० ८४५

'५८'१६'१३ असंज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च योनि के जीवों से मनुष्य योनि में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

गमक—१-६ असंज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च योनि के जीवों से मनुष्य योनि में उत्पन्न होने योग्य जो जीव हैं (× × × असन्नपंचिदियतिरिक्खजोणिय-सन्नपंचिदियतिरिक्खजोणिय—असन्नमणुस्स-सन्नमणुस्सा य एए सव्वे वि जहा पंचिदियतिरिक्खजोणियउद्देसए तहेव भाणियव्वा × × ×) उनमें नौ गमकों में ही तीन लेश्या होती हैं । (देखो पाठ '५८'१८'१६)

—भग० श २४ । उ २१ । सू ६ । पृ० ८४५

'५८'१६'१४ संख्यात वर्ष की आयुवाले संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च योनि के जीवों से मनुष्य योनि में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

गमक—१-६ संख्यात वर्ष की आयुवाले संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च योनि के जीवों से मनुष्य योनि में उत्पन्न होने योग्य जो जीव हैं (देखो पाठ '५८'१६'१३) उनमें प्रथम के तीन गमकों में छ लेश्या, मध्यम के तीन गमकों में तीन लेश्या तथा शेष के तीन गमकों में छ लेश्या होती हैं । (देखो पाठ '५८'१८ १७)

—भग० श २४ । उ २१ । सू ६ । पृ० ८४५

'५८'१६'१५ असंज्ञी मनुष्य योनि के जीवों से मनुष्य योनि में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

गमक—१-६ असंज्ञी मनुष्य योनि के जीवों से मनुष्य योनि में उत्पन्न होने योग्य जो जीव हैं (देखो पाठ '५८'१६'१३) उनमें पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च योनि उद्देशक की तरह प्रथम के तीन ही गमक होते हैं तथा उन तीनों ही गमकों में तीन लेश्या होती हैं । (देखो पाठ '५८'१८'१८७'५८'१०'११)

—भग० श २४ । उ २१ । सू ६ पृ० ८४५

'५८'१६'१६ संख्यात वर्ष की आयुवाले संज्ञी मनुष्य योनि के जीवों से मनुष्य योनि में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

गमक—१-६ संख्यात वर्ष की आयुवाले संज्ञी मनुष्य योनि के जीवों से मनुष्य योनि में उत्पन्न होने योग्य जो जीव हैं (देखो पाठ '५८'१६'१३) उनमें प्रथम के तीन गमकों में छ लेश्या, मध्यम के तीन गमकों में तीन लेश्या तथा शेष के तीन गमकों में छ लेश्या होती हैं । (देखो पाठ '५८'१८'१६)

—भग० श २४ । उ २१ । सू ६ । पृ० ८४५

'५८'१६'१७ असुरकुमार देवों से मनुष्य योनि में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

गमक—१-६ असुरकुमार देवों से मनुष्य योनि में उत्पन्न होने योग्य जो जीव हैं (असुरकुमारे णं भंते ! जे भविए मणुस्सेसु उववज्जित्तए × × × । एवं जच्चेव पंचिदियतिरिक्खजोणियउहेसए वत्तव्वया सच्चेव एत्थ वि भाणियव्वा । × × × सेसं तं चेव । एवं जाव— 'ईसाणदेवो'त्ति) उनमें नौ गमकों में ही प्रथम चार लेश्या होती है । (देखो पाठ '५८'१८'२०)

—भग० श २४ । उ २१ । सू ६ । पृ० ८४५

'५८'१६'१८ नागकुमार यावत् स्तनितकुमार देवों से मनुष्य योनि में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

गमक—१-६ नागकुमार यावत् स्तनितकुमार देवों से मनुष्य योनि में उत्पन्न होने योग्य जो जीव हैं (देखो पाठ '५८'१६'१७) उनमें नौ गमकों में ही चार लेश्या होती हैं । (देखो पाठ '५८'१८'२१)

—भग० श २४ । उ २१ । सू ६ । पृ० ८४५

'५८'१६'१९ वानव्यंतर देवों से मनुष्य योनि में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

गमक—१-६ वानव्यंतर देवों से मनुष्य योनि में उत्पन्न होने योग्य जो जीव हैं (देखो पाठ '५८'१६'१७) उनमें नौ गमकों में ही चार लेश्या होती है । (देखो पाठ '५८'१८'२१)

—भग० श २४ । उ २१ । सू ६ । पृ० ८४५

'५८'१६'२० ज्योतिषी देवों से मनुष्य योनि में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

गमक—१-६ ज्योतिषी देवों से मनुष्य योनि में उत्पन्न होने योग्य जो जीव हैं (देखो पाठ '५८'१६'१७) उनमें नौ गमकों में ही एक तेजोलेश्या होती है । (देखो पाठ '५८'१८'२३)

—भग० श २४ । उ २१ । सू ६ । पृ० ८४५

'५८'१६'२१ सौधर्मकल्पोपपन्न वैमानिक देवों से मनुष्य योनि में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

गमक—१-६ सौधर्मकल्पोपपन्न वैमानिक देवों से मनुष्य योनि में उत्पन्न होने योग्य जो जीव हैं (देखो पाठ '५८'१६'१७) उनमें नौ गमकों में ही एक तेजोलेश्या होती है । (देखो पाठ '५८'१८'२४'५८'१०'१७)

—भग० श २४ । उ २१ । सू ६ । पृ० ८४५

'५८'१६'२२ ईशानकल्पोपपन्न वैमानिक देवों से मनुष्य योनि में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

गमक—१-६ ईशानकल्पोपपन्न वैमानिक देवों से मनुष्य योनि में उत्पन्न होने योग्य जो जीव हैं (देखो पाठ '५८'१६'१७) उनमें नौ गमकों में ही एक तेजोलेश्या होती है । (देखो पाठ '५८'२८'२५'५८'१८'२४)

—भग० श २४ । उ २१ । सू ६ । पृ० ८४५

'५८'१६'२३ सनत्कुमार कल्पोपपन्न वैमानिक देवों से मनुष्य योनि में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

गमक—१-६ सनत्कुमार कल्पोपपन्न वैमानिक देवों से मनुष्य योनि में उत्पन्न होने योग्य जो जीव हैं (× × × सणकुमारादीया जाव— 'सहस्सारो'त्ति जहेव पंचिदियतिरिक्खजोणियउद्देसए । × × × सेसं तं चेव × × ×) उनमें नौ गमकों में ही एक पष्पलेश्या होती है । (देखो पाठ '५८'१८'२६)

'५८'१६'२४ माहेन्द्रकल्पोपपन्न वैमानिक देवों से मनुष्य योनि में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

गमक—१-६ माहेन्द्रकल्पोपपन्न वैमानिक देवों से मनुष्य योनि में उत्पन्न होने योग्य जो जीव हैं (देखो पाठ '५८'१६'२३) उनमें नौ गमकों में ही एक पद्मलेश्या होती है । (देखो '५८'१८'२७) ।

—भग० श २४ । उ २१ । सू ६ । पृ० ८४५

'५८'१६'२५ ब्रह्मलोक कल्पोपपन्न वैमानिक देवों से मनुष्य योनि में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

गमक—१-६ ब्रह्मलोक कल्पोपपन्न वैमानिक देवों से मनुष्य योनि में उत्पन्न होने योग्य जो जीव हैं (देखो पाठ '५८'१६'२३) उनमें नौ गमकों में ही एक पद्मलेश्या होती है । (देखो पाठ '५८'१८'२८)

—भग० श २४ । उ २१ । सू ६ । पृ० ८४५

'५८'१६'२६ लान्तक कल्पोपपन्न वैमानिक देवों से मनुष्य योनि में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

गमक—१-६ लान्तक कल्पोपपन्न वैमानिक देवों से मनुष्य योनि में उत्पन्न होने योग्य जो जीव हैं (देखो पाठ '५८'१६'२३) उनमें नौ गमकों में ही एक शुक्ललेश्या होती है । (देखो पाठ '५८'१८'२६)

—भग० श २४ । उ २१ । सू ६ । पृ० ८४५

'५८'१६'२७ महाशुक कल्पोपपन्न वैमानिक देवों से मनुष्य योनि में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

गमक—१-६ महाशुक कल्पोपपन्न वैमानिक देवों से मनुष्य योनि में उत्पन्न होने योग्य जो जीव हैं (देखो पाठ '५८'१६'२३) उनमें नौ गमकों में ही एक शुक्ल लेश्या होती है । (देखो पाठ '५८'१८'३०) ।

—भग० श २४ । उ २१ । सू ६ । पृ० ८४५

'५८'१६'२८ सहस्रार कल्पोपपन्न वैमानिक देवों से मनुष्य योनि में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

गमक—१-६ सहस्रार कल्पोपपन्न वैमानिक देवों से मनुष्य योनि में उत्पन्न होने योग्य जो जीव हैं (देखो पाठ '५८'१६'२३) उनमें नौ गमकों में ही एक शुक्ललेश्या होती है । (देखो पाठ '५८'१६'३१)

—भग० श २४ । उ २१ । सू ६ । पृ० ८४५

'५८'१६'२९ आनत यावत् अच्युत (आनत, प्राणत, आरण तथा अच्युत) देवों से मनुष्य योनि में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

गमक—१-६ आनत यावत् अच्युत देवों से मनुष्य योनि में उत्पन्न होने योग्य जो जीव हैं (आणयदेवे णं भंते ! जे भविए मणुस्सेसु उववज्जित्तए × × × ते णं भंते ! × × × एवं जहेव सहस्सारदेवाणं वत्तञ्चया × × ×

सेसं तं चेव × × × एवं णव वि गमगा० × × × एवं जाव—अच्चुय-
देवो × × ×) उनमें नौ गमकों में ही एक शुक्ललेख्या होती है । (देखो पाठ
'५८'१६'२८७ '५८'१८'३१)

—भग० श २४ । उ २१ । सू १०-११ । पृ० ८४५

'५८'१६'३० ग्रंथेयक कल्पातीत (नौ ग्रंथेयक) देवों से मनुष्य योनि में उत्पन्न
होने योग्य जीवों में

गमक—१-६ ग्रंथेयक कल्पातीत देवों से मनुष्य योनि में उत्पन्न होने योग्य
जो जीव हैं (गोवेज्जगदेवे णं भंते ! जे भविए मणुस्सेसु उववज्जित्तए
× × × अवसेसं जहा आणयदेवस्स वत्तव्वया × × × सेसं तं चेव ।
× × × एवं सेसेसु वि अट्टगमएसु × × ×) उनमें नौ गमकों में ही एक
शुक्ललेख्या होती है । (देखो पाठ '५८'१६'२९)

—भग० श २४ । उ २१ । सू १४ । पृ० ८४६

'५८'१६'३१ विजय, वैजयन्त, जयन्त तथा अपराजित अनुत्तरोपपातिक कल्पातीत
देवों से मनुष्य योनि में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

गमक—१-६ विजय, वैजयन्त, जयन्त तथा अपराजित अनुत्तरोपपातिक
कल्पातीत देवों से मनुष्य योनि में उत्पन्न होने योग्य जो जीव हैं (विजय-
वेजयंत-जयंत-अपराजियदेवे णं भंते ! जे भविए मणुस्सेसु उवव-
ज्जित्तए × × × एवं जहेव गोवेज्जगदेवाणं । × × × एवं सेसा वि
अट्ट गमगा भाणियव्वा × × × सेसं तं चेव) उनमें नौ गमकों में ही एक
शुक्ललेख्या होती है । (देखो पाठ '५८'१६'३०)

—भग० श २४ । उ २१ । सू १६ । पृ० ८४६

'५८'१६'३२ सर्वार्थसिद्ध अनुत्तरोपपातिक कल्पातीत देवों से मनुष्य योनि में
उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

गमक—१-६ सर्वार्थसिद्ध अनुत्तरोपपातिक कल्पातीत देवों से मनुष्य योनि
में उत्पन्न होने योग्य जो जीव हैं (सव्वट्टसिद्धगदेवे णं भंते ! जे भविए
मणुस्सेसु उववज्जित्तए० ? सा चेव विजयादिदेववत्तव्वया भाणियव्वा
× × × सेसं तं चेव × × × —प्र० १७ । ग० १ । सो चेव जहन्नकाल-

द्विईएसु उववन्नो, एस चेव वत्तव्वया × × ×—प्र० १८ । ग० २ । सो चेव उक्कोसकालद्विईएसु उववन्नो, एस चेव वत्तव्वया × × ×—प्र० १६ । ग० ३ । एए चेव तिन्नि गमगा, सेसा न भण्णंति × × ×) उनमें तीन गमक होते हैं तथा उन तीनों गमकों में ही एक शुक्ललेश्या होती है । (देखो पाठ '५८'१६'३१)

—भग० श २४ । उ २१ । सू १७-१६ पृ० ८४६-४७

'५८'२० वानव्यंतर देवों में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

'५८'२०'१ पर्याप्त असंज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च योनि के जीवों से वानव्यन्तर देवों में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

गमक—१-६ पर्याप्त असंज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च योनि के जीवों से वानव्यन्तर देवों में उत्पन्न होने योग्य जो जीव हैं (वाणमंतरा णं भंते ! × × × एवं जहेव णागकुमारउद्देसए असंज्ञी तहेव निरवसेसं × × ×) उनमें नौ गमकों में ही तीन लेश्या होती है । (देखो पाठ ५८'६'१)

—भग० श २४ । उ २२ । सू १ । पृ० ८४७

'५८'२०'२ असंख्यात वर्ष की आयुवाले संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च योनि के जीवों से वानव्यन्तर देवों में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

गमक—१-६ असंख्यात वर्ष की आयुवाले संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च योनि के जीवों से वानव्यन्तर देवों में उत्पन्न होने योग्य जो जीव हैं (असंखेज्जवासाउय) सन्निपंचिन्द्रिय० जे भविए वाणमंतरेसु उववज्जित्तए × × × सेसं तं चेव जहा नागकुमारउद्देसए × × ×—प्र २ । ग० १ । सो चेव जहन्नकालद्विईएसु उववन्नो, जहेव णागकुमाराणं बिइयगमे वत्तव्वया—प्र २ । ग० २ । सो चेव उक्कोसकालद्विईएसु उववन्नो × × × एस चेव वत्तव्वया × × × प्र ४ । ग० ३ । मञ्जिमगमगा तिन्नि वि जहेव नागकुमारेसु पच्चिमेसु तिसु गमएसु तं चेव जहा नागकुमारुद्देसए × × ×—प्र ४ । ग० ४-६) उनमें नौ गमकों में ही चार लेश्या होती है । (देखो पाठ '५८'६'२)

—भग० श २४ । उ २२ सू २-४ । पृ० ८४७

'५८'२०'३ (पर्याप्त) संख्यात वर्ष की आयुवाले संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च योनि के जीवों से वाणव्यंतर देवों में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

गमक—१-६ (पर्याप्त) संख्यात वर्ष की आयुवाले संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च योनि के जीवों से वानव्यंतर देवों में उत्पन्न होने योग्य जो जीव हैं (संखेज्ज-वासाउय० तहेव, देखो पाठ '५८'२०'२) उनमें प्रथम के तीन गमकों में छः लेख्या, मध्यम के तीन गमकों में चार लेख्या तथा शेष के तीन गमकों में छः लेख्या होती है । (देखो पाठ '५८'६'३)

—भग० श २४ । उ २२ । सू २-४ । पृ० ८४७

'५८'२०'४ असंख्यात वर्ष की आयुवाले संज्ञी मनुष्य योनि से वानव्यंतर देवों में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

गमक—१-६ असंख्यात वर्ष की आयुवाले संज्ञी मनुष्य योनि से वानव्यंतर देवों में उत्पन्न होने योग्य जो जीव हैं (जइ मणुस्स० असंखेज्जवासाउयाणं जहेव नागकुमाराणं उहेसे तहेव वत्तव्वया । × × × सेसं तहेव । × × ×) उनमें नौ गमकों में ही चार लेख्या होती है । (देखो '५८'६'४)

—भग० श २४ । उ २२ । सू ५ । पृ० ८४७

'५८'२०'५ (पर्याप्त) संख्यात वर्ष की आयुवाले संज्ञी मनुष्य योनि से वानव्यंतर देवों में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

गमक—१-६ (पर्याप्त) संख्यात वर्ष की आयुवाले संज्ञी मनुष्य योनि से वानव्यंतर देवों में उत्पन्न होने योग्य जो जीव हैं (× × × संखेज्जवासा-उयसन्नमणुस्से जहेव नागकुमारुहेसए × × ×) उनमें नौ गमकों में ही छः लेख्या होती है । (देखो पाठ '५८'६'५)

—भग० श २४ । उ २२ । सू ५ । पृ० ८४७

'५८'२१ ज्योतिषी देवों में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

'५८'२१'१ असंख्यात वर्ष की आयुवाले संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च योनि से ज्योतिषी देवों में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

गमक—१ से ४ व ७ से ६ असंख्यात वर्ष की आयुवाले संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च योनि से ज्योतिषी देवों में उत्पन्न होने योग्य जो जीव हैं । (असंखे-

ज्जवासाउयसन्निपंचिदियतिरिक्खजोणए णं भंते ! जे भविए जोइ-
सिएसु उववज्जिए × × × अवसेसं जहा असुरकुमारुहेसए × × ×
एवं अणुबंधो वि । सेसं तहेव, × × ×—प्र ३ । ग० १ । सो चेव जहन्न-
कालट्टिईएसु उववन्नो × × × एस चेव वत्तव्वया × × ×—प्र ४ ।
ग० २ । सो चेव उक्कोसकालट्टिईएसु उववन्नो, एस चेव वत्तव्वया
× × ×—प्र० ५ । ग० ३ । सो चेव अप्पणा जहन्नकालट्टिईओ जाओ
× × × तेणं भंते जीवा० ? एस चेव वत्तव्वया × × × एव अणु-
बंधोवि । सेसं तहेव । × × × जहन्नकालट्टिइयस्स एस चेव एक्को
गमो—प्र ६-७ । ग० ४ । सो चेव अप्पणा उक्कोसकालट्टिईओ जाओ,
सा चेव ओहिया वत्तव्वया × × × एवं अणुबंधोवि सेसं त चेव ।
एवं पच्छिमा तिन्नि गमगा णेयव्वा । × × × एए सत्त गमगा—प्र
८ । ग० ७-६) उनमें सात गमक होते हैं तथा इन सातों गमकों में प्रथम की
चार लेख्या होती हैं । (देखो पाठ '५८'८'२) गमक ५ व ६ नहीं होते हैं ।

—भग० श २४ । उ २३ । सू ३-८ । पृ० ८४७-४८

'५८'२१'२ संख्यात वर्ष की आयुवाले संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च योनि से ज्योतिषी
देवों में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

गमक—१-६ संख्यात वर्ष की आयुवाले संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च योनि से
ज्योतिषी देवों में उत्पन्न होने योग्य जो जीव हैं (जइ संखेज्जवासाउयसन्नि-
पंचिदिय० ? संखेज्जवासाउयाणं जहेव असुरकुमारेसु उववज्जमाणणं
तहेव नव वि गमा भाणियव्वा । × × × सेसं तहेव निरवसेसं
भाणियव्वं) उनमें प्रथम के तीन गमकों में छ लेख्या, मध्यम के तीन गमकों में
चार लेख्या तथा शेष के तीन गमकों में छ लेख्या होती हैं । (देखो पाठ
'५८'८'३)

—भग० श २४ । उ २३ । सू ६ । पृ० ८४८

'५८'२१'३ असंख्यात वर्ष की आयुवाले संज्ञी मनुष्य योनि से ज्योतिषी देवों में
उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

गमक—१-४, ७-६ असंख्यात वर्ष की आयुवाले संज्ञी मनुष्य योनि से
ज्योतिषी देवों में उत्पन्न होने योग्य जो जीव हैं (असंखेज्जवासाउयसन्निमणुस्से

णं भंते ! जे भविए जोइसिएसु उववज्जित्तए × × × एवं जहा असंखे-
ज्जवासाउयसन्निपंचिदियस्स जोइसिएसु चेव उववज्जमाणस्स सत्त
गमगा तहेव मणुस्साणवि × × × सेसं तहेव निरवसेसं जाव—
'संवेहो'त्ति) उनमें सात गमक होते हैं । इन सातों गमकों में प्रथम की चार
लेश्या होती हैं । (देखो '५८'८'४) गमक ५ व ६ नहीं होते हैं ।

—भग० श २४ । उ २३ । सू ११ । पृ० ८४८

'५८'२१'४ संख्यात वर्ष की आयुवाले संज्ञी मनुष्य योनि से ज्योतिषी देवों में
उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

गमक—१-६ संख्यात वर्ष की आयुवाले संज्ञी मनुष्य योनि से ज्योतिषी देवों
में उत्पन्न होने योग्य जो जीव हैं (जइ संखेज्जवासाउयसन्निमणुस्सेहितो० ?
संखेज्जवासाउयाणं जहेव असुरकुमारेसु उववज्जमाणणं तहेव नव
गमगा भाणियव्वा । × × × सेसं तं चेव निरवसेसं × × ×) उनमें
नौ गमकों में ही छः लेश्या होती हैं । (देखो पाठ '५८'८'५)

—भग० श २४ । उ २३ । सू १२ । पृ० ८४८

'५८'२२ सौधर्म देवों में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

'५८'२२'१ असंख्यात वर्ष की आयुवाले संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च योनि से सौधर्म
देवों में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

गमक—१-६ असंख्यात वर्ष की आयुवाले संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च योनि के
जीवों से सौधर्म देवों में उत्पन्न होने योग्य जो जीव हैं (असंखेज्जवासाउय-
सन्निपंचिदियतिरिक्खजोणिए णं भंते ! जे भविए सोहम्मगदेवेसु
उववज्जित्तए × × × ते णं भंते ! × × × अवसेसं जहा जोइसिएसु
उववज्जमाणस्स । × × × एवं अणुबंधो वि, सेसं तहेव । × × ×
—प्र० ३-४ । ग० १ । सो चेव जहन्नकालट्टिईएसु उववन्नो, एस चेव
वत्तव्वया × × ×—प्र० ४ । ग० २ । सो चेव उक्कोसकालट्टिईएसु
उववन्नो × × × एस चेव वत्तव्वया × × × सेसं तहेव । × × ×
—प्र० ५ । ग० ३ । सो चेव अप्पणा जहन्नकालट्टिइओ जाओ × × ×
एस चेव वत्तव्वया × × × सेसं तहेव । × × ×—प्र० ६ । ग० ४ । सो

चेव अप्पणा उक्कोसकालट्टिइओ जाओ, आदिल्लगमगसरिसा तिन्नि गमगा णेयन्वा × × × —प्र० ७ । ग० ७-६) उनमें सात गमक होते हैं तथा इन सातों गमकों में प्रथम की चार लेश्याएँ होती हैं । (देखो पाठ '५८'२१'१)

—भग० श २४ । उ २४ । सू ३-७ । पृ० ८४६

'५८'२२'२ संख्यात वर्ष की आयुवाले संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंच योनि से सौधर्म देवों में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

गमक—१-६ संख्यात वर्ष की आयुवाले संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंच योनि के जीवों से सौधर्म देवों में उत्पन्न होने योग्य जो जीव हैं (जइ संखेज्जवासा-उयसन्निपंचिदिय० ? संखेज्जवासाउयस्स जहेव असुरकुमारेसु उवव-ज्जमाणस्स तहेव णव वि गमगा × × × सेसं तं चेव) उनमें प्रथम के तीन गमकों में छः लेश्याएँ, मध्यम के तीन गमकों में चार लेश्याएँ तथा शेष के तीन गमकों में छः लेश्याएँ होती हैं । (देखो पाठ '५८'८'३)

—भग० श २४ । उ २४ । सू ८ । पृ० ८४६

'५८'२२'३ असंख्यात वर्ष की आयुवाले संज्ञी मनुष्य योनि से सौधर्मकल्प देवों में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

गमक—१-४, ७-६ असंख्यात वर्ष की आयुवाले संज्ञी मनुष्य योनि से सौधर्मकल्प देवों में उत्पन्न होने योग्य जो जीव हैं (असंखेज्जवासाउयसन्नि-मणुस्से णं भंते ! जे भविए सोहम्मकप्पे देवत्ताए उववज्जित्तए० ? एवं जहेव असंखेज्जवासाउयस्स सन्निपंचिदियतिरिक्खजोणियस्स सोहम्मके कप्पे उववज्जमाणस्स तहेव सत्त गमगा × × × । सेसं तहेव निरव-सेसं ।) उनमें सात गमक होते हैं तथा इन सातों गमकों में प्रथम की चार लेश्याएँ होती हैं । (देखो पाठ '५८'२२'१)

—भग० श २४ । उ २४ । सू १० । पृ० ८४६

'५८'२२'४ संख्यात वर्ष की आयुवाले संज्ञी मनुष्य योनि से सौधर्म देवों में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

गमक—१-६ संख्यात वर्ष की आयुवाले संज्ञी मनुष्य योनि से सौधर्म देवों में उत्पन्न होने योग्य जीव हैं (जइ संखेज्जवासाउयसन्निमणुस्सेहितो० ?

एवं संखेज्जवासाउयसन्निमणुस्साणं जहेव असुरकुमारेसु उववज्ज-
माणणं तहेव णव गमगा भाणियव्वा । × × × सेसं तं चेव) उनमें
नौ गमकों में ही छः लेश्याएँ होती हैं । (देखो पाठ '५८८'५)

—भग० श २४ । उ २४ । सू ११ पृ० ८४६

'५८'२३ ईशान देवों में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

'५८'२३'१ असंख्यात वर्ष की आयुवाले संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्य'च योनि से ईशान
देवों में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

गमक—१-४, ७-६ असंख्यात वर्ष की आयुवाले संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्य'च
योनि से ईशान देवों में उत्पन्न होने योग्य जो जीव हैं (ईसाणदेवाणं एस
चेव सोहम्मगदेवसरिसा वत्तव्वया । × × × सेसं तहेव) उनमें सात
गमक होते हैं तथा इन सातों गमकों में प्रथम की चार लेश्याएँ होती हैं ।
(देखो पाठ '५८'२२'१)

—भग० श २४ । उ २४ । सू १२ । पृ० ८४६-५०

'५८'२३'२ संख्यात वर्ष की आयुवाले संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्य'च योनि से ईशान
देवों में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

गमक—१-६ संख्यात वर्ष की आयुवाले संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्य'च योनि से
ईशान देवों में उत्पन्न होने योग्य जो जीव हैं (संखेज्जवासाउयाणं
तिरिक्खजोणियाणं मणुस्साण य जहेव सोहम्मेषु उववज्जमाणणं
तहेव निरवसेसं णव वि गमगा ।) उनमें प्रथम के तीन गमकों में छः लेश्याएँ,
मध्यम के तीन गमकों में चार लेश्याएँ तथा शेष के तीन गमकों में छः लेश्याएँ
होती हैं । (देखो पाठ '५८'२२'२)

—भग० श २४ । उ २४ । सू १४ । पृ० ८५०

५८ २३'३ असंख्यात वर्ष की आयुवाले संज्ञी मनुष्य योनि से ईशान देवों में
उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

गमक—१-४, ७-६ असंख्यात वर्ष की आयुवाले संज्ञी मनुष्य योनि से
ईशान देवों में उत्पन्न होने योग्य जो जीव हैं (असंखेज्जवासाउयसन्निमणुस्स
वि तहेव × × × जहा पंचिदियतिरिक्खजोणियस्स असंखेज्जवासा-

उयस्स × × × सेसं तहेव) उनमें सात गमक होते हैं तथा इन सातों गमकों में प्रथम चार लेश्याएँ होती हैं (देखो पाठ '५८'२३'३)

—भग० श २४ । उ २४ । सू १३ । पृ० ८५०

'५८'२३'४ संख्यात वर्ष की आयुवाले संज्ञी मनुष्य योनि से ईशान देवों में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

गमक—१-६ संख्यात वर्ष की आयुवाले संज्ञी मनुष्य योनि से ईशान देवों में उत्पन्न होने योग्य जो जीव हैं (देखो पाठ '५८'२३'२) उनमें नौ गमकों में ही छः लेश्याएँ होती हैं । (देखो पाठ '५८'२२४'७'५८'८'५)

—भग० श २४ । उ २४ । सू १४ । पृ० ८५०

'५८'२४ सनत्कुमार देवों में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

'५८'२४'१ पर्याप्त संख्यात वर्ष की आयुवाले संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च योनि से सनत्कुमार देवों में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

गमक—१-६ पर्याप्त संख्यात वर्ष की आयुवाले संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च योनि से सनत्कुमार देवों में होने योग्य जो जीव हैं (पञ्चसंखेज्जवासाउय-सन्निपंचिदियतिरिक्खजोणिए णं भंते ! जे भविए सणंकुमारदेवेसु उववज्जित्तए० ? अवसेसा परिमाणादीया भवाएसपज्जवसाणा सच्चेव वत्तव्वया भाणियव्वा जहा सोहम्मे उववज्जमाणस्स । × × × जाहे य अप्पणा जहन्नकालट्ठिईओ भवइ ताहे तिसु वि गमएसु पंच लेस्साओ आदिल्लाओ कायव्वाओ, सेसं तं चेव) उनमें प्रथम के तीन गमकों में छः लेश्याएँ, मध्यम के तीन गमकों में पाँच लेश्याएँ तथा शेष के तीन गमकों में छः लेश्याएँ होती हैं । (देखो पाठ '५८'२२'२)

—भग० २४ । उ २४ । सू १६ । पृ० ८५०

'५८'२४'२ पर्याप्त संख्यात वर्ष की आयुवाले संज्ञी मनुष्य योनि से सनत्कुमार देवों में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

गमक—१-६ पर्याप्त संख्यात वर्ष की आयुवाले संज्ञी मनुष्य योनि से सनत्कुमार देवों में उत्पन्न होने योग्य जो जीव हैं (जइ मणुस्सेहिंतो उवव-ज्जंति० ? मणुस्साणं जहेव सक्करप्पभाए उववज्जमाणं तहेव णव

त्रि गमा भाणियञ्वा) उनमें नौ गमकों में ही छः लेश्याएँ होती हैं ।
(देखो पाठ '५८'२'२)

—भग० श २४ । उ २४ । सू १७ । पृ० ८५०

'५८'२५ माहेन्द्र देवों में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

'५८'२५'१ पर्याप्त संख्यात वर्ष की आयुवाले संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंच योनि से माहेन्द्र देवों में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

गमक—१-६ पर्याप्त संख्यात वर्ष की आयुवाले संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंच योनि से माहेन्द्र देवों में उत्पन्न होने योग्य जो जीव हैं (माहिंदगदेवाणं भंते ! × × × जहा सणकुमारगदेवाणं वत्तन्वया तथा माहिंदगदेवाणं भाणियञ्वा) उनमें प्रथम के तीन गमकों में छः लेश्याएँ, मध्यम के तीन गमकों में पाँच लेश्याएँ तथा शेष के तीन गमकों में छः लेश्याएँ होती हैं ।
(देखो पाठ '५८'२४'१)

—भग० श २४ । उ २४ । सू १८ । पृ० ८५०

'५८'२५'२ पर्याप्त संख्यात वर्ष की आयुवाले संज्ञी मनुष्य योनि से माहेन्द्र देवों में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

गमक—१-६ पर्याप्त संख्यात वर्ष की आयुवाले संज्ञी मनुष्य योनि से माहेन्द्र देवों में उत्पन्न होने योग्य जो जीव हैं (देखो पाठ '५८'२५'१) उनमें नौ गमकों में ही छः लेश्याएँ होती हैं । (देखो पाठ '५८'२४'२)

—भग० श २४ । उ २४ । सू १८ । पृ० ८५०

'५८'२६ ब्रह्मलोक देवों में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

'५८'२६'१ पर्याप्त संख्यात वर्ष की आयुवाले संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंच से ब्रह्मलोक देवों में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

गमक—१-६ पर्याप्त संख्यात वर्ष की आयुवाले संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंच योनि से ब्रह्मलोक देवों में उत्पन्न होने योग्य जो जीव हैं (एवं बभलोगदेवाणं वि वत्तन्वया) उनमें प्रथम के तीन गमकों में छः लेश्याएँ, मध्यम के तीन गमकों में पाँच लेश्याएँ तथा शेष के तीन गमकों में छः लेश्याएँ होती हैं ।
(देखो पाठ '५८'२४'१)

—भग० श २४ । उ २४ । सू १८ । पृ० ८५०

'५८'२६'२ पर्याप्त संख्यात वर्ष की आयुवाले संज्ञी मनुष्य योनि से ब्रह्मलोक देवों में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

गमक—१-६ पर्याप्त संख्यात वर्ष की आयुवाले संज्ञी मनुष्य योनि से ब्रह्मलोक देवों में उत्पन्न होने योग्य जो जीव हैं (देखो पाठ '५८'२६'१) उनमें नौ गमकों में ही छः लेख्याएं होती हैं । (देखो पाठ '५८'२४'२)

'५८'२७ लांतक देवों में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

'५८'२७'१ पर्याप्त संख्यात वर्ष की आयुवाले संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च योनि से लांतक देवों में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

गमक—१-६ पर्याप्त संख्यात वर्ष की आयुवाले संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च योनि से लांतक देवों में उत्पन्न होने योग्य जो जीव हैं (× × × जहा सणकुमारगदेवाणं वत्तव्वया तथा माहिंदगदेवाणं भाणियव्वा । × × × एवं जाव सहस्सारो । × × × लंतगादीणं जहन्नकालट्टिइयस्स तिरिक्खजोणियस्स तिसु वि गमएसु छप्पि (छव्वि ?) लेम्साओ कायव्वाओ) उनमें नौ गमकों में ही छः लेख्याएं होती हैं ।

—भग० श २४ । उ २४ । सू १८ । पृ० ८५०

'५८'२७'२ पर्याप्त संख्यात वर्ष की आयुवाले संज्ञी मनुष्य योनि से लांतक देवों में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

गमक—१-६ पर्याप्त संख्यात वर्ष की आयुवाले संज्ञी मनुष्य योनि से लांतक देवों में उत्पन्न होने योग्य जो जीव हैं (देखो पाठ '५८'२७'१) उनमें नौ गमकों में ही छः लेख्याएं होती हैं । (देखो पाठ '५८'२४'२)

—भग० श २४ । उ २४ । सू १८ । पृ० ८५०

'५८'२८ महाशुक्र देवों में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

'५८'२८'१ पर्याप्त संख्यात वर्ष की आयुवाले संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च योनि से महाशुक्र देवों में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

गमक—१-६ पर्याप्त संख्यात वर्ष की आयुवाले संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च योनि से महाशुक्र देवों में उत्पन्न होने योग्य जो जीव हैं (देखो पाठ '५८'२७'१) उनमें नौ गमकों में ही छः लेख्याएं होती हैं । (देखो पाठ '५८'२४'१)

—भग० श २४ । उ २४ । सू १८ । पृ० ८५०

:५८'२८'२ पर्याप्त संख्यात वर्ष की आयुवाले संज्ञी मनुष्य योनि से महाशुक्र देवों में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

गमक—१-६ पर्याप्त संख्यात वर्ष की आयुवाले संज्ञी मनुष्य योनि से महाशुक्र देवों में उत्पन्न होने योग्य जो जीव हैं (देखो पाठ '५८'२७'१) उनमें नौ गमकों में ही छः लेख्याएँ होती हैं । (देखो पाठ '५८'२४'२)

—भग० श २४ । उ २४ । सू १८ । पृ० ८५०

'५८'२६ सहस्रारदेवों में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

'५८'२६'१ पर्याप्त संख्यात वर्ष की आयुवाले पंचेन्द्रिय तिर्य'च योनि से सहस्रार देवों में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

गमक—१-६ पर्याप्त संख्यात वर्ष की आयुवाले संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्य'च योनि से सहस्रार देवों में उत्पन्न होने योग्य जो जीव हैं (देखो पाठ '५८'२७'१) उनमें नौ गमकों में ही छः लेख्याएँ होती हैं । (देखो पाठ '५८'२४'१)

—भग० श २४ । उ २४ । सू १८ । पृ० ८५०

'५८'२६'२ पर्याप्त संख्यात वर्ष की आयुवाले संज्ञी मनुष्य योनि से सहस्रार देवों में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

गमक—१-६ पर्याप्त संख्यात वर्ष की आयुवाले संज्ञी मनुष्य योनि से सहस्रार देवों में उत्पन्न होने योग्य जो जीव हैं (देखो पाठ '५८'२७'१) उनमें नौ गमकों में ही छः लेख्याएँ होती हैं । (देखो पाठ '५८'२४'२)

—भग० श २४ । उ २४ । सू १८ । पृ० ८५०

'५८'३० आनत देवों में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

'५८'३०'१ पर्याप्त संख्यात वर्ष की आयुवाले संज्ञी मनुष्य योनि से आनत देवों में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

गमक—१-६ पर्याप्त संख्यात वर्ष की आयुवाले संज्ञी मनुष्य योनि से आनत देवों में उत्पन्न होने योग्य जो जीव हैं (पञ्जत्तसंखेज्जवासाउयसत्तिमणुस्से णं भंते ! जे भविए आणयदेवेषु उववज्जत्तए० ? मणुस्साण य वत्तव्वया जहेव सहस्सारेसु उववज्जमाणाणं । × × × सेसं तहेव जाव—अणुबंधो । × × × एवं सेसा वि अट्ट गमगा भाणियव्वा

× × × एवं जाव—अच्चुयदेवा × × ×) उनमें नौ गमकों में ही छः
लेख्याएँ होती हैं । (देखो पाठ '५८'२६'२)

—भग० श २४ । उ २४ । सू २० । पृ० ८५०

'५८'३१ प्राणत देवों में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

'५८'३१'१ पर्याप्त संख्यात वर्ष की आयुवाले संज्ञी मनुष्य योनि से प्राणत देवों
में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

गमक—१-६ पर्याप्त संख्यात वर्ष की आयुवाले संज्ञी मनुष्य योनि से प्राणत
देवों में उत्पन्न होने योग्य जो जीव हैं (देखो पाठ '५८'३०'१) उनमें नौ गमकों
में ही छः लेख्याएँ होती हैं ।

—भग० श २४ । उ २४ । सू २० । पृ० ८५०

'५८'३२ आरण देवों में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

'५८'३२'१ पर्याप्त संख्यात वर्ष की आयुवाले संज्ञी मनुष्य योनि से आरण देवों
में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

गमक—१-६ पर्याप्त संख्यात वर्ष की आयुवाले संज्ञी मनुष्य योनि से आरण
देवों में उत्पन्न होने योग्य जो जीव हैं (देखो पाठ '५८'३०'१) उनमें नौ
गमकों में ही छः लेख्याएँ होती हैं ।

—भग० श २४ । उ २४ । सू २० । पृ० ८५०

'५८'३३ अच्युत देवों में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

'५८'३३'१ पर्याप्त संख्यात वर्ष की आयुवाले संज्ञी मनुष्य योनि से अच्युत देवों
में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

गमक—१-६ पर्याप्त संख्यात वर्ष की आयुवाले संज्ञी मनुष्य योनि से अच्युत
देवों में उत्पन्न होने योग्य जो जीव हैं (देखो पाठ '५८'३०'१) उनमें नौ गमकों
में ही छः लेख्याएँ होती हैं ।

—भग० श २४ । उ २४ । सू २० । पृ० ८५०

'५८'३४ भ्रूवेयक देवों में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

'५८'३४'१ पर्याप्त संख्यात वर्ष की आयुवाले संज्ञी मनुष्य योनि से भ्रूवेयक देवों
में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

गमक—१-६ पर्याप्त संख्यात वर्ष की आयुवाले संज्ञी मनुष्य योनि से प्रवेक देवों में उत्पन्न होने योग्य जो जीव है (गोवेज्जगदेवा णं भंते !
× × × एस चेव वत्तव्वया × × ×) उनमें नौ गमकों में ही छः लेश्याएँ होती हैं ।

—भग० श २४ । उ २४ । सू २१ । पृ० ८५१

'५८'३५ विजय, वैजयंत, जयंत तथा अपराजित देवों में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

'५८'३५'१ पर्याप्त संख्यात वर्ष की आयुवाले संज्ञी मनुष्य योनि से विजय, वैजयंत, जयंत तथा अपराजित देवों में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

गमक—१-६ पर्याप्त संख्यात वर्ष की आयुवाले संज्ञी मनुष्य योनि से विजय, वैजयंत, जयंत तथा अपराजित देवों में उत्पन्न होने योग्य जो जीव है (विजय-वैजयंत-जयंत-अपराजियदेवा णं भंते ! × × × एस चेव वत्तव्वया निरवसेसा, जाव—'अणुबंधो'त्ति । × × × एवं सेसा वि अह गमगा भाणियव्वा × × × मणूसे लद्धी णवसु वि गमएसु जहा गोवेज्जगोसु उववज्जमाणस्स × × ×) उनमें नौ गमकों में ही छः लेश्याएँ होती हैं । ('५८'३४'१)

—भग० श २४ । उ २४ । सू २२ । पृ० ८५१

'५८'३६ सर्वार्थसिद्ध देवों में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

'५८'३६'१ पर्याप्त संख्यात वर्ष की आयुवाले संज्ञी मनुष्य योनि से सर्वार्थसिद्ध देवों में उत्पन्न होने योग्य जीवों में—

गमक—१, ४, ७ पर्याप्त संख्यात वर्ष की आयुवाले संज्ञी मनुष्य योनि से सर्वार्थसिद्ध देवों में उत्पन्न होने योग्य जो जीव है (सव्वट्टसिद्धगदेवा) (से णं भंते ! × × × अवसेसा जहा विजयाईसु उववज्जंताणं × × × — प्र २३-२४ । ग० १ । सो चेव अप्पणा जहन्नकालट्टिईओ जाओ एस वत्तव्वया × × × सेसं तहेव × × × —२५ । ग० ४ । सो चेव अप्पणा उक्कोसकालट्टिईओ जाओ, एस चेव वत्तव्वया × × × सेसं तहेव, जाव—'भवाएसो'त्ति । × × × —प्र २६ । ग० ७ । एए तिन्नि गमगा सव्वट्टसिद्धगदेवाणं × × ×) उनमें तीनों गमकों में ही छः लेश्याएँ होती

हैं। (देखो पाठ '५८'३५'१) इसमें पहला, चौथा तथा सातवाँ तीन ही गमक होते हैं।

—भग० श २४ । उ २४ । सू २३-२६ । पृ० ८५१

'५८ के सभी पाठ भगवती शतक २४ से लिए गए हैं। इस शतक में स्व/पर योनि से स्व/पर योनि में उत्पन्न होने योग्य जीवों का नौ गमकों तथा उपपात के अतिरिक्त निम्नलिखित बीस विषयों की अपेक्षा से विवेचन हुआ है—

(१) स्थिति, (२) संख्या, (३) संहनन, (४) शरीरावगाहना, (५) संस्थान, (६) लेश्या, (७) दृष्टि, (८) ज्ञान, (९) योग, (१०) उपयोग, (११) संज्ञा, (१२) कषाय, (१३) इन्द्रिय, (१४) समुद्घात, (१५) वेदन, (१६) वेद, (१७) कालस्थिति, (१८) अध्यवसाय, (१९) कालादेश तथा (२०) भवादेश। हमने लेश्या की अपेक्षा से पाठ ग्रहण किया है। गमकों का विवरण पृ० १०० पर देखें।



'५९ जीव-समूहों में कितनी लेश्या

'५९'१ विभिन्न जीव-समूहों में कितनी लेश्या

सिय भंते ! जाव—चत्तारि पंच पुढविकाइया एगयओ साहारण-सरीरं बंधंति × × × ? नो इण्हे सम्हे । × × × पत्तेयं सरीरं बंधंति । × × × तेसिणं भंते ! जीवाणं कइ लेस्साओ पन्नत्ताओ ? गोयमा ! चत्तारि लेस्साओ पन्नत्ताओ, तं जहा—कण्हलेस्सा, नील-लेस्सा, काऊलेस्सा, तेऊलेस्सा ।

सिय भंते ! जाव—चत्तारि पंच आउकाइया एगयओ साहारण-सरीरं बंधंति × × × एवं जो पुढविकाइयाणं गमो सो चेव भाणि-यव्वो ।

सिय भंते ! जाव—चत्तारि पंच तेउकाइया० एवं चेव । नवरं उववाओ ठिई उव्वट्टणा य जहा पन्नवणाए, सेसं तं चेव । वाउकाइ-याणं एवं चेव ।

टीका—लेश्यायामपि यतस्तेजसोऽप्रशस्तलेश्या एव पृथिवीकाथि-कास्त्वाद्यचतुर्लेश्याः, यच्चेदमिह न सूचितं तद्विचित्रत्वात्सूत्रग-तेरिति ।

सिय भंते ! जाव—चत्तारि पंच वणस्सइक्काइया० पुच्छा । गयमा !
णो इण्ठे सम्भे । अणंता वणस्सइक्काइया एगयओ साहारणसरीरं
बंधंति । सेसं जहा तेउकाइयाणं जाव—उच्चट्टंति × × × सेसं तं
चेव ।

—भग० श १६ । उ ३ । सू १, २, १७, १८, १९ । पृ० ७८१-८२

सिय भंते ! जाव—चत्तारि पंच वेदिया एगयओ साहारणसरीरं
बंधंति × × × णो इण्ठे सम्भे । × × × पत्तेयसरीरं बंधंति ।
× × × तेसिणं भंते ! जीवाणं कइ लेस्साओ पन्नत्ताओ ? गोयमा !
तओ लेस्साओ पन्नत्ताओ, तं जहा—कण्हलेस्सा, नीललेस्सा, काऊ-
लेस्सा । × × × एवं तेइंदिया(ण) वि, एवं चउरदिंया(ण) वि ।
× × × सिय भंते ! जाव चत्तारि पंच पंचिदिया एगयओ
साहारण० ? एवं जहा वेदियाणं, नवरं छल्लेसा ।

—भग० श २० । उ १ । सू १ से ४ । पृ० ७६०

दो, तीन, चार, पाँच अथवा बहु पृथ्वीकायिक जीव साधारण शरीर नहीं
बांधते हैं, प्रत्येक शरीर बांधते हैं । इन पृथ्वीकायिक जीव समूह के प्रथम की
चार लेश्याएँ होती हैं ।

इसी प्रकार अपूकायिक जीव समूह साधारण शरीर नहीं बांधते हैं, प्रत्येक
शरीर बांधते हैं और इनके चार लेश्याएँ होती हैं ।

अधिकायिक तथा वायुकायिक जीव समूह भी साधारण शरीर नहीं बांधते
हैं, प्रत्येक शरीर बांधते हैं और इनके प्रथम की तीन लेश्याएँ होती हैं ।

दो यावत् पाँच यावत् संख्यात यावत् असंख्यात वनस्पतिकायिक जीव समूह
साधारण शरीर नहीं बांधते हैं, प्रत्येक शरीर बांधते हैं । इन वनस्पतिकायिक
जीव समूहों के प्रथम की चार लेश्याएँ होती हैं । लेकिन अनन्त वनस्पतिकायिक
जीव समूह साधारण शरीर बांधते हैं । इन वनस्पतिकायिक जीव समूहों के
प्रथम की तीन लेश्याएँ होती हैं ।

द्वीन्द्रिय यावत् चतुरिन्द्रिय जीव समूह साधारण शरीर नहीं बांधते हैं, प्रत्येक
शरीर बांधते हैं । इन जीव समूहों के प्रथम की तीन लेश्याएँ होती हैं ।

पंचेन्द्रिय जीव समूह भी साधारण शरीर नहीं बांधते हैं, प्रत्येक शरीर बांधते हैं। इन पंचेन्द्रिय जीव समूह के छः लेश्याएँ होती हैं।

५९२ दंडकों में कितनी लेश्या

काऊ १ काऊ २ तह काऊ नील ३, नीला ४ य नील किण्हा ५ य।

किण्हा ६ किण्हा ७ य तहा सत्तसु पुढवीसु लेसाओ ॥१०८३॥

पुढवी-आडवणस्सइवायर-पत्तेसु लेस चत्तारि।

गब्भे तिरियनरेसु छल्लेसा तिन्नि सेसाणं ॥१११०॥

किण्हा नीला काऊ तेऊलेसा य भवणवंतरिया।

जोइस-सोहंमीसाण तेऊलेसा मुणेयब्बा ॥११५६॥

कपे सणकुमारेमाहिंदे चेव बंभलोए य।

एएस पम्हलेसा तेणं परं सुक्कलेसाओ ॥११६०॥

—प्रवसा० गा १०८३, १११०, ११५६-६०

१ कापोत, २ कापोत, ३ कापोत-नील, ४ नील, ५ नील-कृष्ण, ६ कृष्ण तथा ७ कृष्ण—इस प्रकार सात पृथिवियों में लेश्या हैं।

अर्थात् रत्नप्रभा पृथ्वी में एक कापोतलेश्या होती है। शर्कराप्रभा में भी कापोतलेश्या ही है। परन्तु रत्नप्रभा से क्लिष्टतर कापोतलेश्या होती है। बालुकाप्रभा में कापोत और नीललेश्या होती है। पंकप्रभा में नीललेश्या होती है। धूमप्रभा में नीललेश्या और कृष्णलेश्या होती है। तमप्रभा में कृष्णलेश्या है और तमतमा पृथ्वी में अतिसंक्लिष्टतम कृष्णलेश्या ही है।

बादर पृथ्वीकाय, बादर अप्काय, बादर प्रत्येक वनस्पतिकाय में प्रथम चार लेश्या होती है। गर्भज मनुष्य-तिर्यंच में छः लेश्या होती हैं—और अवशेष—अशिकाय, वायुकाय, सूक्ष्म पृथ्वी, सूक्ष्म अप्काय, साधारण वनस्पतिकाय तथा पर्याप्त बादर पृथ्वीकाय, अप्काय, प्रत्येक वनस्पतिकाय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, संमुच्छिद्य मनुष्य, संमुच्छिद्य तिर्यञ्च पंचेन्द्रिय में कृष्ण-नील-कापोत-लेश्या होती हैं।

भवनपति और वाणव्यंतर में कृष्ण, नील, कापोत और तेजोलेश्या होती है। ज्योतिषी-सौधर्म और ईशान देवों में (प्रथम क्लिषी में) एक तेजोलेश्या होती

है। सनत्कुमार, माहेन्द्र, ब्रह्मलोक (नौ लोकांतिक, द्वितीय किल्बिषी) में एक पद्मलेश्या होती है। उसके बाद लांतक से सर्वार्थसिद्ध (तीसरा किल्बिषी) सब देवों में शुक्ललेश्या होती है।

कल्पातीतास्ततो ज्ञेया देवा वैमानिकाः परे।

अहमिन्द्राभिधानास्ते प्रवीचार वि वर्जिताः ॥१७८॥

वि वर्द्धित शुभध्यानाः शुक्ललेश्यावलम्बनाः ॥१७९॥

—ज्ञाना० प्रक ३०। श्लो १७८-१७९

कल्पदेवों के ऊपर कल्पातीत देव (नव ग्रैवेयक व पांच अनुत्तर विमान) है। वे देव अहमिन्द्र नाम से वर्णन किये जाते हैं। अर्थात् उनका आचार्यों ने अहमिन्द्र नाम कहा है। वे अहमिन्द्र काम-रहित है उनके स्त्री का मैथुन-वर्जित हैं अतः वहां देवांगनायें नहीं होती हैं। वे शुक्ललेश्या के धारण करने वाले हैं।

कल्पेषु च विमानेषु परतः परतोऽधिकाः।

शुभलेश्यायुर्विज्ञान प्रभावैः स्वर्गिणः स्वयम् ॥

—ज्ञाना० प्रक ३६। श्लो १८१

कल्पों में और कल्पातीत विमानों के देवों में शुभलेश्या, आयु-विज्ञान प्रभावादिक करके देव स्वयं ही अगले-अगले विमानों में अधिक-अधिक बढ़ते हुए हैं।



६ से ८ सलेशी जीव

६, ९ सलेशी जीव और समपद

६, १, १ सलेशी जीव-दण्डक और समपद—

सलेस्सा णं भंते ! नेरइया सव्वे समाहारा, समसरीरा, समुस्सा-सनिस्सासा सव्वे वि पुच्छा ? गोयमा ! एवं जहा ओहिओ गमओ तहा सलेस्सागमओ वि निरवसेसो भाणियव्वो जाव वेमाणिया ।

—पण्ण० प १७। उ १। सू ११। पृ० ४३७

सर्व सलेशी नारकी समाहारी, समशरीरी, समोच्छ्वासनिश्वासी, समकर्मी, समवर्णी, समलेशी, समवेदनावाले, समक्रियावाले, समायुष्यवाले तथा समोपपन्नक नहीं हैं ।

देखो औधिक गमक—पण्ण० प १७ । उ १ । सू १ से ६ । पृ० ४३४-३५

सर्व सलेशी असुरकुमार यावत् स्तनितकुमार समाहारी यावत् समोपपन्नक नहीं हैं ।

देखो—पण्ण० प १७ । उ १ । सू ७ । पृ० ४३५-३६

सर्व सलेशी पृथ्वीकाय समाहारी, समकर्मी, समवर्णी तथा समलेशी समायुष्यवाले तथा समोपपन्नक नहीं हैं लेकिन समवेदनावाले तथा समक्रियावाले हैं । इसी प्रकार यावत् चतुरिन्द्रिय तक जानना ।

देखो—पण्ण० प १७ । उ १ । सू ८ । पृ० ४३६

सर्व सलेशी तिर्यञ्च पञ्चेन्द्रिय सलेशी नारकी की तरह समाहारी यावत् समोपपन्नक नहीं हैं ।

देखो—पण्ण० प १७ । उ १ । सू ८ । पृ० ४३६

सर्व सलेशी मनुष्य समाहारी यावत् समोपपन्नक नहीं हैं ।

देखो—पण्ण० प १७ । उ १ । सू ९ । पृ० ४३६-३७

सर्व सलेशी वानव्यंतर देव असुरकुमार की तरह समाहारी यावत् समोपपन्नक नहीं हैं ।

देखो—पण्ण० प १७ । उ १ । सू १० । पृ० ४३७

सर्व ज्योतिष-वैमानिक देव भी असुरकुमार की तरह समाहारी यावत् समोपपन्नक नहीं हैं ।

देखो—पण्ण० प १७ । उ १ । सू १० । पृ० ४३७

'६१'२ कृष्णलेशी जीव-दण्डक और समपद

कण्हलेस्सा णं भंते ! नेरइया सञ्चे समाहारा पुच्छा ? गोयमा ! जहा ओहिया, नवरं नेरइया वेयणाए माइभिच्छदिट्ठीउववन्नगा य अमाइसम्मदिट्ठीउववन्नगा य भाणियठ्वा, सेसं तहेव जहा ओहि-

याणं । असुरकुमारा जाव वाणमंतरा एते जहा ओहिया, नवरं मणुस्साणं किरियाहिं विसेसो—जाव तत्थ णं जे ते सम्मदिट्ठी ते तिविहा पन्नत्ता, तं जहा—संजया-असंजया-संजयासंजया य, जहा ओहियाणं, जोइसियवेमाणिया आइल्लियासु तिसु लेस्सासु ण पुच्छिज्जंति ।

—पण्ण० प १७ । उ १ । सू ११ । पृ० ४३७

कृष्णलेशी सर्व नारकी औधिक नारकी की तरह समाहारी यावत् समोप-पन्नक नहीं हैं लेकिन वेदना में मायी मिथ्यादृष्टिउपपन्नक और अमायी सम्यग्-दृष्टिउपपन्नक कहना । बाकी सर्व जैसा औधिक नारकी का कहा वैसा जानना । असुरकुमार से लेकर वानव्यंतर देव तक औधिक असुरकुमार की तरह कहना परन्तु मनुष्य की क्रिया में विशेषता है यावत् उनमें जो सम्यग्दृष्टि है वे तीन प्रकार के हैं—यथा—संयत, असंयत, संयतासंयत इत्यादि जैसा औधिक मनुष्य के विषय में कहा—वैसा ही जानना ।

ज्योतिषी तथा वैमानिक देवों के सम्बन्ध में आदि की तीन लेश्या को लेकर पृच्छा नहीं करती ।

‘६१’३ नीललेशी जीव-दण्डक और समपद—

एवं जहा कण्हलेस्सा विचारिया तहा नीललेस्सा वि विचारेयव्वा ।

—पण्ण० प १७ । उ १ । सू ११ । पृ० ४३७

जैसा कृष्णलेशी जीव-दण्डक का विवेचन किया—वैसा नीललेशी जीव-दण्डक का भी विवेचन करना ।

‘६१’४ कापोतलेशी जीव-दण्डक और समपद

काऊलेस्सा नेरइएहिंतो आरब्भ जाव वाणमंतरा, नवरं काऊ-लेस्सा नेरइया वेयणाए जहा ओहिया ।

—पण्ण० प १७ । उ १ । सू ११ । पृ० ४३७

कापोत लेश्या का नारकी से लेकर वानव्यंतर देव तक (कृष्णलेशी नारकी की तरह विचार करना लेकिन कापोतलेशी नारकी की वेदना—औधिक नारकी की तरह जानना ।

‘६१’५ तेजोलेशी जीव-दण्डक और समपद

तेऊलेस्साणं भंते ! असुरकुमाराणं ताओ चेव पुच्छाओ ?
गोयमा ! जहेव ओहिया तहेव, नवरं वेयणाए जहा जोइसिया ।

पुढविआउवणस्सइपंचेदियतिरिक्खमणुस्सा जहा ओहिया तहेव
भाणियव्वा, नवरं मणुस्सा किरियाहिं जे संजया ते पमत्ता य
अपमत्ता य भाणियव्वा, सरागा वीयरागा नत्थि । वाणसंतरा तेऊ-
लेस्साए जहा असुरकुमारा, एवं जोइसियवेमाणिया वि, सेसं तं
चेव ।

—पण्ण० प १७ । उ १ । सू ११ । पृ० ४३७

तेजोलेशी सर्व असुरकुमार औधिक असुरकुमार की तरह समाहारी यावत्
समोपपन्नक नहीं हैं परन्तु वेदना—ज्योतिषी की तरह समझना ।

तेजोलेशी सर्व पृथ्वीकाय अपूकाय वनस्पतिकाय तिर्यंच पंचेन्द्रिय मनुष्य
औधिक की तरह समझना परन्तु मनुष्य की क्रिया में विशेषता है—उनमें जो
संयत हैं वे प्रमत्त तथा अप्रमत्त के भेद से दो प्रकार के हैं परन्तु सराग तथा
वीतराग—ऐसे भेद नहीं करना ।

तेजोलेशी वानव्यंतर देव असुरकुमार की तरह समाहारी यावत् समोपपन्नक
नहीं है ।

इसी प्रकार ज्योतिषी तथा वैमानिक देवों के सम्बन्ध में समझना ।

‘६१’६ पद्मलेशी जीव-दंडक और समपद

एवं पम्हलेस्सा वि भाणियव्वा, नवरं जेसिं अत्थि । × × × नवरं
पम्हलेस्स - मुक्कलेस्साओ पंचेदियतिरिक्खजोणियमणुस्सवेमाणियाणं
चेव ।

—पण्ण० प १७ । उ १ । सू ११ । पृ० ४३७

जैसा तेजोलेशी जीव दंडक के विषय में कहा, उसी प्रकार पद्मलेशी जीव
दंडक के विषय में समझना । परन्तु जिसके पद्मलेश्या होती है उसी के कहना ।

गर्भज तिर्यंच पंचेन्द्रिय, गर्भज मनुष्य तथा वैमानिक देवों में पद्मलेश्या
होती है ।

'६१'७ शुक्ललेशी जीव-दंडक और समपद

सुककलेस्सा वि तहेव जेसि अत्थि, सव्वं तहेव जहा ओहियाणं गमओ, नवरं पम्हलेस्ससुककलेस्साओ पंचेदियतिरिक्खजोणिय-मणुस्सवेमाणियाणं चेव, न सेसाणं ति ।

—पण्ण० प १७ । उ १ । सू ११ प० ४३७

जैसा औषिक दंडक के विषय में कहा—वैसा ही शुक्ललेशी दंडक के विषय में समझता परन्तु जिसके शुक्ल लेश्या होती है उसी के कहना ।

सम्मुच्चयगाथा

सलेस्सा णं भंते ! नेरइया सव्वे समाहारगा ? ओहियाणं, सलेस्साणं, सुककलेस्साणं, एएसि णं तिण्हं एक्को गमो, कण्हलेस्साणं नीललेस्साणं वि एक्को गमो, नवरं वेयणाए मायिमिच्छादिट्ठी-उववन्नगा य, अमायिसम्मदिट्ठीउववन्नगा य भाणियव्वा । मणुस्सा किरियासु सरागवीयरागपमत्तापमत्ता ण भाणियव्वा । काऊलेसाए वि एसेव गमो । नवरं नेरइए जहा ओहिए दंडए तहा भाणियव्वा, तेऊलेस्सा, पम्हलेसा जस्स अत्थि जहा ओहिओ दंडओ तहा भाणियव्वा । नवरं मणुस्सा सरागा य वीयरागा य न भाणियव्वा ।

गाहा—दुक्खाउए उदिन्ने, आहारे कम्मवन्न-लेस्सा य ।

समवेयण-समकिरिया, समाउए चेव बोधव्वा ॥

—भग० श १ । उ २ । सू ६७ । पृ० ३६३

'६२' लेइया तथा प्रथम-अप्रथम

सलेस्से णं भंते !—(पढमे-अपढमे) पुच्छा ? गोयमा ! जहा आहारए, एवं पुहुत्तेण वि, कण्हलेस्सा जाव सुककलेस्सा एवं चेव, नवरं जस्स जा लेस्सा अत्थि । अलेस्से णं जीवमणुस्ससिद्धे जहा नोसन्नी-नोअसन्नी । [नोसन्नी-नोअसन्नी जीवे मणुस्से सिद्धे पढमे, नोअपढमे । एवं पुहुत्तेण वि ।]

—भग० श १८ । उ १ । सू ११ । पृ० ७६२

सलेशी जीव (एकवचन-बहुवचन) प्रथम नहीं है, अप्रथम है । इसी तरह कृष्णलेशी यावत् शुक्ललेशी तक जानना । जिस जीव के जितनी लेख्याएँ हो उसी प्रकार कहना । अलेशी जीव (जीव-मनुष्य-सिद्ध) प्रथम है, अप्रथम नहीं है ।

‘६३ सलेशी जीव चरम-अचरम

सलेस्सो जाव सुक्कलेस्सो जहा आहारओ, नवरं जस्स जा अत्थि [सन्वत्थ एगत्तेणं सिय चरिमे, सिय अचरिमे, पुहुत्तेणं चरिमा वि अचरिमा वि] अलेस्सो जहा नोसन्नी-नोअसन्नी [नोसन्नी-नोअसन्नी जीवपए सिद्धपए य अचरिमे मणुस्सपए चरिमे एगत्तपुहुत्तेणं ।]

—भग० श १८ । उ १ । सू २६ । पृ० ७६३

सलेशी, कृष्णलेशी यावत् शुक्ललेशी जीव सर्वत्र एकवचन की अपेक्षा कदाचित् चरम भी होता है, कदाचित् अचरम भी होता है । बहुवचन की अपेक्षा सलेशी यावत् शुक्ललेशी चरम भी होते हैं, अचरम भी । अलेशी जीवपद से तथा सिद्धपद से अचरम है तथा मनुष्यपद से चरम है एकवचन से भी, बहुवचन से भी ।

‘६४ सलेशी जीव की सलेशीत्व की अपेक्षा स्थिति

‘६४’१ सलेशी जीव की स्थिति—

सलेसे णं भंते ! सलेसेत्ति पुच्छा । गोयमा ! सलेसे दुविहे पन्नत्ते, तं जहा—अणाइए वा अपज्जवसिए, अणाइए वा सपज्जवसिए ।

—पण्ण० प १८ । द्वा ८ । सू ६ । पृ० ४५६

सलेशी जीव सलेशीत्व की अपेक्षा दो प्रकार के होते हैं । (१) अनादि अपर्यवसित तथा (२) अनादि सपर्यवसित ।

‘६४’२ कृष्णलेशी जीव की स्थिति—

कण्हलेस्से णं भंते ! कण्हलेसेत्ति कालओ केवच्चिरं होइ ? गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमाइ अंतोमुहुत्त-मम्भहियाइ ।

—पण्ण० प १८ । द्वा ८ । सू ६ । पृ० ४५६

—जीवा० प्रति ६ । सू २६६ । पृ० २५८

कृष्णलेशी जीव की कृष्णलेशीत्व की अपेक्षा जघन्य स्थिति अंतर्मुहूर्त की तथा उत्कृष्ट स्थिति साधिक अंतर्मुहूर्त तैतीस सागरोपम की होती है ।

'६४'३ नीललेशी जीव की स्थिति—

(क) नीललेस्से णं भंते ! नीललेसेत्ति पुच्छा ? गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं दससागरोवमाइं पलिओवमासंखिज्जइभागमब्भहियाइं ।

—पण्ण० प १८ । द्वा ८ । सू ६ । पृ० ४५६

(ख) नीललेस्से णं भंते ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं दससागरोवमाइं पलिओवमस्स असंखेज्जइभागमब्भहियाइं ।

—जीवा० प्रति ६ । सू २६६ । पृ० २५८

नीललेशी जीव की नीललेशीत्व की अपेक्षा जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त की तथा उत्कृष्ट स्थिति पत्योपम के असंख्यातवें भाग अधिक दस सागरोपम की होती है ।

'६४'४ कापोतलेशी जीव की स्थिति—

(क) काउलेस्से णं पुच्छा ? गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं तिन्नि सागरोवमाइं पलिओवमासंखिज्जइभागमब्भहियाइं ।

—पण्ण० प १८ । द्वा ८ । सू ६ । पृ० ४५६

(ख) काउलेस्से णं भंते ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं तिन्नि सागरोवमाइं पलिओवमस्स असंखेज्जइभागमब्भहियाइं ।

—जीवा० प्रति ६ । सू २६६ । पृ० २५८

कापोतलेशी जीव की कापोतलेशीत्व की अपेक्षा जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त की तथा उत्कृष्ट स्थिति पत्योपम के असंख्यातवें भाग अधिक तीन सागरोपम की होती है ।

'६४'५ तेजोलेशी जीव की स्थिति—

(क) तेउलेस्से णं पुच्छा ? गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं दो सागरोवमाइं पलिओवमासंखिज्जइभागमब्भहियाइं ।

—पण्ण० प १८ । द्वा ८ । सू ६ । पृ० ४५६

(ख) तेजलेस्से णं भंते ? गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं दोष्णिण सागरोवमाइं पलिओवमस्स असंखेज्जभागमब्भहियाइं ।

—जीवा० प्रति ६ । सू २६६ । पृ० २५८

तेजोलेशी जीव की तेजोलेशीत्व की अपेक्षा जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त की तथा उत्कृष्ट स्थिति पत्योपम के असंख्यातवें भाग अधिक दो सागरोपम की होती है ।

'६४'६ पद्मलेशी जीव की स्थिति—

(क) पम्हलेसे णं पुच्छा ? गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं दस सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं ।

—पण्ण० प १८ । द्वा ८ । सू ६ । पृ० ४५६

(ख) पम्हलेस्से णं भंते ? गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं दस सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं ।

—जीवा० प्रति ६ । सू २६६ । पृ० २५८

पद्मलेशी जीव की पद्मलेशीत्व की अपेक्षा जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त की तथा उत्कृष्ट स्थिति साधिक अन्तर्मुहूर्त दस सागरोपम की होती है ।

'६४'७ शुक्ललेशी जीव की स्थिति—

(क) सुक्कलेसे णं पुच्छा ? गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं ।

—पण्ण० प १८ । द्वा ८ । सू ६ । पृ० ४५६

(ख) सुक्कलेस्से णं भंते ? गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं अन्तोमुहुत्तमब्भहियाइं ।

—जीवा० प्रति ६ । सू २६६ । पृ० २५८

शुक्ललेशी जीव की शुक्ललेशीत्व की अपेक्षा जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त की तथा उत्कृष्ट स्थिति साधिक अन्तर्मुहूर्त तेतीस सागरोपम की होती है ।

'६४'८ अलेशी जीव की स्थिति—

(क) अलेस्से णं—पुच्छा ? गोयमा ! साइए अपज्जवसिए ।

—पण्ण० प १८ । द्वा ८ । सू ६ । पृ० ४५६

(ख) अलेम्से णं भंते ? साइए अपञ्जवसिए ।

—जीवा० प्रति ६ । सू २६६ । पृ० २५८

अलेशी जीव सादि अपर्यससित होते हैं ।

•६५ सलेशी जीव का लेइया की अपेक्षा अंतरकाल

•६५'१ कृष्णलेशी जीव का—

कणह्लेसस्स णं भंते ? अंतरं कालओ केवच्चिरं होइ ? गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तम-ब्भहियाइं ।

—जीवा० प्रति ६ । सू २६६ । पृ० २५८

कृष्णलेशी जीव का कृष्णलेशीत्व की अपेक्षा जघन्य अंतरकाल अन्तर्मुहूर्त का तथा उत्कृष्ट अंतरकाल साधिक अन्तर्मुहूर्त तैतीस सागरोपम का होता है ।

•६५'२ नीललेशी जीव का—

एवं नीललेसस्स वि ।

—जीवा० प्रति ६ । सू २६६ । पृ० २५८

नीललेशी जीव का नीललेशीत्व की अपेक्षा जघन्य अंतरकाल अन्तर्मुहूर्त का तथा उत्कृष्ट अंतरकाल साधिक अन्तर्मुहूर्त तैतीस सागरोपम का होता है ।

•६५'३ कापोतलेशी जीव का—

(एवं) काउलेसस्स वि ।

—जीवा० प्रति ६ । सू २६६ । पृ० २५८

कापोतलेशी जीव का कापोतलेशीत्व की अपेक्षा जघन्य अंतरकाल अन्तर्मुहूर्त का तथा उत्कृष्ट अंतरकाल साधिक अन्तर्मुहूर्त तैतीस सागरोपम का होता है ।

•६५'४ तेजोलेशी जीव का—

तेउलेसस्स णं भंते ! अंतरं कालओ केवच्चिरं होइ ? गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं वणस्सइकालो ।

—जीवा० प्रति ६ । सू २६६ । पृ० २५८

तेजोलेशी जीव का तेजोलेशीत्व की अपेक्षा जघन्य अन्तरकाल अन्तमुहूर्त का तथा उत्कृष्ट अन्तरकाल वनस्पति काल का अर्थात् अमंतकाल का होता है ।

'६५'५ पद्मलेशी जीव का—

एवं पम्हलेसस्स वि सुक्कलेसस्स वि दोण्ह वि एवमंतरं ।

—जीवा० प्रति ६ । सू २६६ । पृ० २५८

पद्मलेशी जीव का पद्मलेशीत्व की अपेक्षा जघन्य अन्तरकाल अन्तमुहूर्त का तथा उत्कृष्ट अन्तरकाल वनस्पति काल का होता है ।

'६५'६ शुक्ललेशी जीव का—

देखो पाठ—'६५'६

शुक्ललेशी जीव का शुक्ललेशीत्व की अपेक्षा जघन्य अन्तरकाल अन्तमुहूर्त का तथा उत्कृष्ट अन्तरकाल वनस्पतिकाल का होता है ।

'६५'७ अलेशी जीव का—

अलेसस्स णं भंते ! अंतरं कालओ केवच्चिरं होइ ? गोयमा ! साइयस्स अपज्जवसियस्स णत्थि अंतरं ।

—जीवा० प्रति ६ । सू २६६ । पृ० २५८

सावि-अपर्ययसित स्थिति होने के कारण अलेशी जीव का अन्तरकाल नहीं होता है ।

'६६ सलेशी जीव काल की अपेक्षा सप्रदेशी-अप्रदेशी

(कालादेसेणं किं सपएसा, अपएसा ?) सलेस्सा जहा ओहिया, कण्हलेस्सा, नीललेस्सा, काऊलेस्सा जहा आहारओ, नवरं जस्स अत्थि एयाओ, तेऊलेस्साए जीवाइओ तियभंगो, नवरं पुढविकाइएसु, आउवनस्सईसु छ्ढभंगा, पम्हलेस्स-सुक्कलेस्साए जीवाइओ तियभंगो । अलेसेहि जीव-सिद्धे हि तियभंगो, मणुस्सेसु छ्ढभंगा ।

—भग० श ६ । उ ४ । सू ५ । पृ० ४६६-६७

यहाँ काल की अपेक्षा से जीव सप्रदेशी है या अप्रदेशी—ऐसी पृच्छा है । काल की अपेक्षा से सप्रदेशी व अप्रदेशी का अर्थ टीकाकार ने एक समय की

स्थिति वाले को अप्रदेशी तथा द्वयादि समय की स्थिति वाले को सप्रदेशी कहा है । इस सम्बन्ध में उन्होंने एक गाथा भी उद्धृत की है ।

जो जरस पढससमए वट्टइ भावस्ससो उ अपएसो ।
अण्णम्मि वट्टमाणो कालाएसेण सपएसो ॥

सलेशी जीव (एकवचन) काल की अपेक्षा से नियमतः सप्रदेशी होता है । सलेशी नारकी काल की अपेक्षा से कदाचित् सप्रदेशी होता है, कदाचित् अप्रदेशी होता है । इसी प्रकार यावत् सलेशी वैमानिक देव तक समझना ।

सलेशी जीव (एकवचन) काल की अपेक्षा से सप्रदेशी होता है क्योंकि सलेशी जीव अनादि काल से सलेशी जीव है । सलेशी नारकी उत्पन्न होने के प्रथम समय की अपेक्षा से अप्रदेशी कहलाता है तथा तत्पश्चात्-काल की अपेक्षा से सप्रदेशी कहलाता है ।

सलेशी जीव (बहुवचन) काल की अपेक्षा से नियमतः सप्रदेशी होते हैं क्योंकि सर्व सलेशी जीव अनादि काल से सलेशी जीव हैं । दण्डक के जीवों का बहुवचन से विवेचन करने से काल की अपेक्षा से सप्रदेशी-अप्रदेशी के निम्नलिखित छः भंग होते हैं—

(१) सर्व सप्रदेशी, अथवा (२) सर्व अप्रदेशी, अथवा (३) एक सप्रदेशी, एक अप्रदेशी, अथवा (४) एक सप्रदेशी, अनेक अप्रदेशी, अथवा (५) अनेक सप्रदेशी, एक अप्रदेशी, अथवा (६) अनेक सप्रदेशी, अनेक अप्रदेशी ।

सलेशी नारकियों यावत् स्तनितकुमारों में तीन भंग होते हैं, यथा—प्रथम, अथवा पंचम, अथवा षष्ठम । सलेशी पृथ्वीकायिकों यावत् वनस्पतिकायिकों में छठा विकल्प होता है । सलेशी द्वीन्द्रियों यावत् वैमानिक देवों में प्रथम, अथवा पंचम, अथवा षष्ठ विकल्प होता है ।

कृष्णलेशी, नीललेशी, कापोतलेशी जीव (एकवचन) कदाचित् सप्रदेशी होता है, कदाचित् अप्रदेशी होता है । कृष्णलेशी-नीललेशी-कापोतलेशी नारकी यावत् वानव्यंतर देव कदाचित् सप्रदेशी, कदाचित् अप्रदेशी होता है । कृष्णलेशी-नीललेशी-कापोतलेशी जीव (बहुवचन) अनेक सप्रदेशी, अनेक अप्रदेशी होते हैं । कृष्णलेशी-नीललेशी-कापोतलेशी नारकियों यावत् वानव्यंतर देवों (एकेन्द्रिय बाद) में प्रथम, अथवा पाँचवाँ, अथवा छठा विकल्प होता है । कृष्णलेशी-नीललेशी-कापोतलेशी एकेन्द्रिय (बहुवचन) अनेक सप्रदेशी, अनेक अप्रदेशी होते हैं ।

तेजोलेशी जीव (एकवचन) कदाचित् सप्रदेशी, कदाचित् अप्रदेशी होता है । तेजोलेशी असुरकुमार यावत् वैमानिक देव (अग्निकायिक, वायुकायिक, तीन विकलेन्द्रिय बाद) कदाचित् सप्रदेशी, कदाचित् अप्रदेशी होता है । तेजोलेशी जीवों (बहुवचन) में पहला, अथवा पाँचवाँ अथवा छठा विकल्प होता है । तेजोलेशी असुरकुमारों यावत् वैमानिक देवों, (पृथ्वीकायिकों, अप्कायिकों, वनस्पतिकायिकों को छोड़कर) में पहला अथवा पाँचवाँ अथवा छठा विकल्प होता है । तेजोलेशी पृथ्वीकायिकों, अप्कायिकों, वनस्पतिकायिकों में छठों विकल्प होते हैं ।

पद्मलेशी-शुक्ललेशी जीव (एकवचन) कदाचित् सप्रदेशी, कदाचित् अप्रदेशी होता है । पद्मलेशी-शुक्ललेशी तिर्यञ्च पंचेन्द्रिय, मनुष्य, वैमानिक देव, कदाचित् सप्रदेशी होते हैं, कदाचित् अप्रदेशी होते हैं । पद्मलेशी-शुक्ललेशी जीवों (बहुवचन) में पहला अथवा पाँचवाँ अथवा छठा विकल्प होता है । पद्मलेशी-शुक्ललेशी तिर्यञ्च पंचेन्द्रिय, मनुष्य, वैमानिक देवों में पहला अथवा पाँचवाँ अथवा छठा विकल्प होता है ।

अलेशी जीव (एकवचन) कदाचित् सप्रदेशी, कदाचित् अप्रदेशी होता है । अलेशी सिद्ध, मनुष्य कदाचित् सप्रदेशी, कदाचित् अप्रदेशी होता है । अलेशी जीव (बहुवचन) में पहला अथवा पाँचवाँ अथवा छठा विकल्प होता है । अलेशी सिद्धों में पहला अथवा पाँचवाँ अथवा छठा विकल्प होता है । अलेशी मनुष्यों में छठों विकल्प होते हैं ।

६७ सलेशी जीव के लेख्या की अपेक्षा उत्पत्ति-मरण के नियम

६७.१ लेख्या की अपेक्षा जीव-दण्डक में उत्पत्ति-मरण के नियम—

से नूणं भंते ! कण्हलेसे नेरइए कण्हलेसेसु नेरइएसु उववज्जइ, कण्हलेसे उववट्टइ, जल्लेसे उववज्जइ तल्लेसे उववट्टइ ? हंता गोयमा ! कण्हलेसे नेरइए कण्हलेसेसु नेरइएसु उववज्जइ, कण्हलेसे उववट्टइ, जल्लेसे उववज्जइ तल्लेसे उववट्टइ, एवं नील्लेसे वि, एवं काउलेसे वि, एवं असुरकुमाराण वि जाव थणियकुमारा, नवरं लेसा अब्भहिया । से नूणं भंते ! कण्हलेसे पुढविकाइए कण्हलेसेसु पुढविकाइएसु उववज्जइ, कण्हलेसे उववट्टइ, जल्लेसे उववज्जइ तल्लेसे

उववट्टइ ? हंता गोयमा ! कण्हलेसे पुढविकाइए कण्हलेसेसु पुढवि-
काइएसु उववज्जइ, सिय कण्हलेसे उववट्टइ, सिय नीललेसे उववट्टइ,
सिय काउलेसे उववट्टइ, सिय जल्लेसे उववज्जइ सिय तल्लेसे उववट्टइ ।
एवं नीलकाउलेसासु वि । से नूणं भंते ! तेउलेसेसु पुढविकाइएसु
उववज्जइ पुच्छा ? हंता गोयमा ! तेउलेसे पुढविकाइए तेउलेसेसु
पुढविकाइएसु उववज्जइ, सिय कण्हलेसे उववट्टइ, सिय नीललेसे
उववट्टइ, सिय काउलेसे उववट्टइ, तेउलेसे उववज्जइ, नो चेव णं तेउलेसे
उववट्टइ । एवं आउकाइया वणस्सइकाइया वि । तेउवाउ एवंचेव,
नवरं एएसिं तेउलेसा नत्थि । वितियचउरिंदिया एवं चेव तिसु
लेसासु । पंचेदियतिरिक्खजोणिया मणुस्सा य जहा पुढविकाइया
आइल्लिया तिसु लेसासु भणिया तहा हसु वि लेसासु भाणियव्वा,
नवरं हप्पि लेसाओ चारेयव्वाओ । बाणमंतरा जहा असुरकुमारा ।
से नूणं भंते ! तेउलेसे जोइसिए तेउलेसेसु जोइसिएसु उववज्जइ ?
जहेव असुरकुमारा । एवं वेमाणिया वि, नवरं दोण्हं पि चयंतीति
अभिलावो ।

—पण्ण० प १७ । उ ३ । सू २७ । पृ० ४४३

यह निश्चित है कि कृष्णलेशी नारकी कृष्णलेशी नारकी में उत्पन्न होता है,
कृष्णलेशी रूप में ही मरण को प्राप्त होता है । जिस लेश्या में वह उत्पन्न होता
है, उसी लेश्या में मरण को प्राप्त होता है ।

इसी प्रकार नीललेशी नारकी भी नीललेशी नारकी में उत्पन्न होता है तथा
नीललेशी रूप में ही मरण को प्राप्त होता है । जिस लेश्या में वह उत्पन्न होता
है, उसी लेश्या में मरण को प्राप्त होता है ।

इसी प्रकार कापोतलेशी नारकी भी कापोतलेशी नारकी में उत्पन्न होता है
तथा कापोतलेशी रूप में ही मरण को प्राप्त होता है । जिस लेश्या में वह
उत्पन्न होता है, उसी लेश्या में मरण को प्राप्त होता है ।

इसी प्रकार असुरकुमार यावत् स्तनितकुमार देवों के सम्बन्ध में कहना; लेकिन
लेश्या—कृष्ण, नील, कापोत तथा तेजो लेश्या कहनी चाहिए ।

यह निश्चित है कि कृष्णलेशी पृथ्वीकायिक जीव कृष्णलेशी पृथ्वीकायिक में
उत्पन्न होता है तथा कदाचित् कृष्णलेशी होकर, कदाचित् नीललेशी होकर,

और कदाचित् कापोतलेशी होकर मरण को प्राप्त होता है । कदाचित् जिस लेश्या में उत्पन्न होता है, कदाचित् उसी लेश्या में मरण को प्राप्त होता है ।

इसी प्रकार नीललेशी तथा कापोतलेशी पृथ्वीकायिक जीव के सम्बन्ध में वर्णन करना चाहिए ।

तेजोलेशी पृथ्वीकायिक जीव तेजोलेशी पृथ्वीकायिक में उत्पन्न होता है तथा कदाचित् कृष्णलेशी होकर, कदाचित् नीललेशी होकर, और कदाचित् कापोतलेशी होकर मरण को प्राप्त होता है । तेजोलेश्या में वह उत्पन्न होता है लेकिन तेजो लेश्या में मरण को प्राप्त नहीं होता है ।

इसी प्रकार पृथ्वीकायिक जीव की तरह अप्कायिक जीव तथा वनस्पति-कायिक जीव के सम्बन्ध में चारों लेश्याओं का वर्णन करना चाहिए ।

इसी प्रकार पृथ्वीकायिक जीव की तरह अग्निकायिक जीव एवं वायुकायिक जीव के सम्बन्ध में तीन लेश्याओं का ही वर्णन करना चाहिए, क्योंकि इनमें तेजो लेश्या नहीं होती है ।

इसी प्रकार पृथ्वीकायिक जीव की तरह द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय जीव के सम्बन्ध में तीन लेश्याओं का ही वर्णन करना चाहिए ।

तिर्यञ्च पंचेन्द्रिय तथा मनुष्य के सम्बन्ध में वंसा ही कहना जैसा पृथ्वी-कायिक जीव के सम्बन्ध में आदि की तीन लेश्या को लेकर कहा, परन्तु छः लेश्याओं का वर्णन करना चाहिए ।

वानव्यंतर देव के सम्बन्ध में असुरकुमार की तरह कहना चाहिए ।

यह निश्चित है कि तेजोलेशी ज्योतिषी देव तेजोलेशी ज्योतिषी देव में उत्पन्न होता है तथा तेजोलेशी रूप में च्यवन (मरण) को प्राप्त होता है ।

इसी प्रकार तेजोलेशी वैमानिक देव तेजोलेशी वैमानिक देव में उत्पन्न होता है तथा तेजोलेशी रूप में च्यवन को प्राप्त होता है ।

इसी प्रकार पद्मलेशी वैमानिक देव पद्मलेशी वैमानिक देव में उत्पन्न होता है तथा पद्मलेशी रूप में च्यवन को प्राप्त होता है ।

इसी प्रकार शुक्ललेशी वैमानिक देव शुक्ललेशी वैमानिक देव में उत्पन्न होता है तथा शुक्ललेशी रूप में च्यवन को प्राप्त होता है । वैमानिक देव जिस लेश्या में उत्पन्न होता है उसी लेश्या में च्यवन को प्राप्त होता है ।

से नूणं भंते ! कणहलेसे नीललेसे काउलेसे नेरइए कणहलेसेसु नील-
लेसेसु काउलेसेसु नेरइएसु उववज्जइ, कणहलेसे नीललेसे काउलेसे
उववट्टइ, जल्लेसे उववज्जइ तल्लेसे उववट्टइ ? हंता गोयमा ! कणह-
नीलकाउलेसे उववज्जइ, जल्लेसे उववज्जइ तल्लेसे उववट्टइ । से नूणं
भंते ! कणहलेसे जाव तेउलेसे असुरकुमारे कणहलेसेसु जाव तेउलेसेसु
असुरकुमारेसु उववज्जइ ? एवं जहेव नेरइए तहा असुरकुमारा वि
जाव थणियकुमारा वि । से नूणं भंते ! कणहलेसे जाव तेउलेसे
पुढविकाइए कणहलेसेसु जाव तेउलेसेसु पुढविकाइएसु उववज्जइ ? एवं
पुच्छा जहा असुरकुमाराणं । हंता । गोयमा ! कणहलेसे जाव तेउलेसे
पुढविकाइए कणहलेसेसु जाव तेउलेसेसु पुढविकाइएसु उववज्जइ, सिय
कणहलेसे उववट्टइ, सिय नीललेसे०, सिय काउलेसे उववट्टइ, सिय
जल्लेसे उववज्जइ तल्लेसे उववट्टइ, तेउलेसे उववज्जइ, नो चैव णं
तेउलेसे उववट्टइ । एवं आउकाइया वणस्सइकाइया वि भाणियव्वा ।
से नूणं भंते ! कणहलेसे नीललेसे काउलेसे तेउकाइए कणहलेसेसु नील-
लेसेसु काउलेसेसु तेउकाइएसु उववज्जइ, कणहलेसे नीललेसे काउलेसे
उववट्टइ, जल्लेसे उववज्जइ तल्लेसे उववट्टइ ? हंता गोयमा ! कणहलेसे
नीललेसे काउलेसे तेउकाइए कणहलेसेसु नीललेसेसु काउलेसेसु तेउ-
काइएसु उववज्जइ, सिय कणहलेसे उववट्टइ, सिय नीललेसे उववट्टइ,
सिय काउलेसे उववट्टइ, सिय जल्लेसे उववज्जइ तल्लेसे उववट्टइ । एवं
वाउकाइयवेइ दियतेइ दियचउरिदिया वि भाणियव्वा । से नूणं भंते !
कणहलेसे जाव सुक्कलेसे पंचेदियतिरिक्खजोणिए कणहलेसेसु जाव सुक्क-
लेसेसु पंचेदियतिरिक्खजोणिएसु उववज्जइ पुच्छा । हंता गोयमा !
कणहलेसे जाव सुक्कलेसे पंचेदियतिरिक्खजोणिए कणहलेसेसु जाव सुक्क-
लेसेसु पंचेदियतिरिक्खजोणिएसु उववज्जइ, सिय कणहलेसे उववट्टइ
जाव सिय सुक्कलेसे उववट्टइ, सिय जल्लेसे उववज्जइ तल्लेसे उववट्टइ ।
एवं मणूसे वि । वाणमंतरा जहा असुरकुमारा । जोइसियवेमाणिया
वि एवं चैव, नवरं जस्स जल्लेसा । दोण्ह वि 'चयणं' ति भाणियव्वं ।

—पण्ण० प १७ । उ ३ । सू २८ । पृ० ४४३-४४

कृष्णलेशी, नीललेशी तथा कापोतलेशी नारकी क्रमशः कृष्णलेशी, नीललेशी तथा कापोतलेशी नारकी में उत्पन्न होता है तथा कृष्णलेश्या, नीललेश्या तथा कापोतलेश्या में मरण को प्राप्त होता है। जिस लेश्या में वह उत्पन्न होता है उसी लेश्या में मरण को प्राप्त होता है।

कृष्णलेशी, नीललेशी, कापोतलेशी तथा तेजोलेशी असुरकुमार क्रमशः कृष्णलेशी, नीललेशी, कापोतलेशी तथा तेजोलेशी असुरकुमार में उत्पन्न होता है, तथा जिस लेश्या में उत्पन्न होता है उसी लेश्या में मरण को प्राप्त होता है। इसी प्रकार यावत् स्तनितकुमार तक कहना चाहिए।

कृष्णलेशी यावत् तेजोलेशी पृथ्वीकायिक क्रमशः कृष्णलेशी यावत् तेजोलेशी पृथ्वीकायिक में उत्पन्न होता है, तथा कदाचित् कृष्णलेश्या में, कदाचित् नीललेश्या में तथा कदाचित् कापोतलेश्या में मरण को प्राप्त होता है। कदाचित् जिस लेश्या में वह उत्पन्न होता है उसी लेश्या में मरण को प्राप्त होता है। वह तेजोलेश्या में उत्पन्न होता है परन्तु तेजोलेश्या में मरण को प्राप्त नहीं होता है।

इसी प्रकार अप्कायिक तथा वनस्पतिकायिक जीवों के सम्बन्ध में कहना चाहिए।

कृष्णलेशी, नीललेशी तथा कापोतलेशी अग्निकायिक क्रमशः कृष्णलेशी, नीललेशी तथा कापोतलेशी अग्निकायिक में उत्पन्न होता है। वह कदाचित् कृष्णलेश्या में, कदाचित् नीललेश्या में तथा कदाचित् कापोतलेश्या में मरण को प्राप्त होता है। कदाचित् जिस लेश्या में वह उत्पन्न होता है, उसी लेश्या में मरण को प्राप्त होता है।

इसी प्रकार वायुकायिक, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय तथा चतुरिन्द्रिय के सम्बन्ध में कहना चाहिए।

कृष्णलेशी यावत् शुक्ललेशी तिर्यञ्च पंचेन्द्रिय कृष्णलेशी यावत् शुक्ललेशी तिर्यञ्च पंचेन्द्रिय में उत्पन्न होता है। वह कदाचित् कृष्णलेश्या यावत् शुक्ललेश्या में मरण को प्राप्त होता है; कदाचित् जिस लेश्या में उत्पन्न होता है उसी लेश्या में मरण को प्राप्त होता है।

इसी प्रकार मनुष्य के सम्बन्ध में कहना चाहिए।

वानद्यन्तर देव के विषय में भी वैसा ही कहना चाहिए, जैसा असुरकुमार के सम्बन्ध में कहा है।

इसी प्रकार ज्योतिषी तथा वैमानिक देवों के सम्बन्ध में कहना । लेकिन जिसके जो लेश्या हों, वही कहनी । ज्योतिषी तथा वैमानिक देवों के मरण के स्थान पर च्यवन शब्द का प्रयोग करना चाहिए ।

तदेवमेकैकलेश्याविषयाणि चतुर्विंशतिदण्डकक्रमेण नैरयिकादीनां सूत्राण्युक्तानि । तत्र कश्चिदाशंकेत—प्रविरलैकैकनारकादिविषयमेतत् सूत्रकदम्बकं, यदा तु बहवो भिन्नलेश्याकास्तस्यां गतावुत्पद्यन्ते तदाऽन्यथाऽपि वस्तुगतिर्भवेत्, एकैकगतधर्मापेक्षया समुदायधर्मस्य क्वचित्दन्यथाऽपि दर्शनात् । ततस्तदाशंकाऽपनोदाय येषां यावत्यो लेश्याः सम्भवन्ति तेषां युगपत्तावलेश्याविषयमेकैकं सूत्रमनन्तरोदितार्थमेव प्रतिपादयति—‘से नूणं भंते ! कण्हलेसे नीललेसे काऊलेसे नेरइए कण्हलेसेसु नीललेसेसु काऊलेसेसु नेरइएसु उववज्जइ’ इत्यादि, समस्तं सुगमं ।

—पण्ण० प १७ । उ ३ । सू २८ टीका

इस प्रकार एक-एक लेश्या के सम्बन्ध में चौबीस दण्डक के क्रम से नारकी आदि के सम्बन्ध में सूत्र कहने चाहिए । उसमें यदि कोई यह आशंका करे कि विरल एक-एक नारकी के सम्बन्ध में यह सूत्र-समूह है तथा यदि भिन्न-भिन्न लेश्यावाले बहुत नारकी आदि उस गति में एक साथ उत्पन्न हों तो वस्तुस्थिति अन्यथा भी हो सकती है ; क्योंकि एक-एक व्यक्ति के धर्म की अपेक्षा समुदाय का धर्म क्वचित् अन्यथा भी जाना जाता है । अतः इस आशंका को दूर करने के लिए जिसमें जितनी लेश्याएँ सम्भव हों उतनी लेश्याओं को एक साथ लेकर एक-एक सूत्र उपयुक्त पाठ में कहा है ।

‘६७*२ एक लेश्या से परिणमन करके दूसरी लेश्या में उत्पत्ति—

‘६७*२*१ नारकी में उत्पत्ति—

से नूणं भंते ! कण्हलेस्से नीललेस्से जाव सुकलेस्से भवित्ता कण्हलेस्सेसु नेरइएसु उववज्जंति ? हंता गोयमा ! कण्हलेस्से जाव उववज्जंति, से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ—कण्हलेस्से जाव उववज्जंति ? गोयमा ! लेस्सट्ठाणेसु संकिलिस्समाणेसु-संकिलिस्समाणेसु कण्हलेस्सं परिणमइ कण्हलेस्सं परिणमित्ता कण्हलेस्सेसु नेरइएसु उववज्जंति, से तेणट्ठेणं जाव—उववज्जंति ।

से नूणं भंते ! कण्हलेस्से जाव सुक्कलेस्से भवित्ता नीललेस्सेसु नेरइएसु उववज्जंति ? हंता गोयमा ! जाव उववज्जंति, से केणट्ठेणं जाव उववज्जंति ? गोयमा ! लेस्सट्ठाणेसु संक्किलस्समाणेसु वा विज्जु-
भमाणेसु वा नीललेस्सं परिणमइ नीललेस्सं परिणमित्ता नीलस्सेसु नेरइएसु उववज्जंति । से तेणट्ठेणं गोयमा ! जाव—उववज्जंति ।

से नूणं भंते ! कण्हलेस्से नीललेस्से जाव—भवित्ता काऊलेस्सेसु नेरइएसु उववज्जंति ? एवं जहा नीललेस्साए तहा काऊलेस्साए वि भाणियव्वा जाव—से तेणट्ठेणं जाव उववज्जंति ।

—भग० श १३ । उ १ । सू १८-२१ । पृ० ६७६

कृष्णलेशी, नीललेशी यावत् शुक्ललेशी जीव लेश्या-स्थान से संक्विलष्ट होते-होते कृष्णलेश्या में परिणमन करता हुआ कृष्णलेश्या में परिणमन करके कृष्णलेशी नारकी में उत्पन्न होता है ।

कृष्णलेशी, नीललेशी यावत् शुक्ललेशी जीव लेश्या स्थान से संक्विलष्ट अथवा विशुद्ध होते-होते नीललेश्या में परिणमन करता हुआ नीललेश्या में परिणमन करके नीललेशी नारकी में उत्पन्न होता है ।

कृष्णलेशी, नीललेशी यावत् शुक्ललेशी जीव लेश्या-स्थान से संक्विलष्ट अथवा विशुद्ध होते-होते कापोतलेश्या में परिणमन करता हुआ कापोतलेश्या में परिणमन करके कापोतलेशी नारकी में उत्पन्न होता है ।

‘६७’२’२ देवों में उत्पत्ति—

से नूणं भंते ! कण्हलेस्से नीललेस्से जाव सुक्कलेस्से भवित्ता कण्ह-
लेस्सेसु देवेसु उववज्जंति ? हंता गोयमा ! एवं जहेव नेरइएसु पढमे उद्देसाए तहेव भाणियव्वं, नीललेस्साए वि जहेव नेरइयाणं जहा नीललेस्साए एवं जाव पम्हलेस्सेसु, सुक्कलेस्सेसु एवं चेव, नवरं लेस्स-
ट्ठाणेसु विसुज्जमाणेसु विसुज्जमाणेसु सुक्कलेस्सं परिणमइ सुक्कलेस्सं परिणमित्ता सुक्कलेस्सेसु देवेसु उववज्जंति, से तेणट्ठेणं जाव—
उववज्जंति ।

—भग० श १३ । उ २ । सू १५ । पृ० ६८१

कृष्णलेशी, नीललेशी, यावत् शुक्ललेशी जीव लेइया-स्थान से संक्लिष्ट होते-होते कृष्णलेश्या में परिणमन करता हुआ कृष्णलेश्या में परिणमन करके कृष्णलेशी देवों में उत्पन्न होता है ।

कृष्णलेशी, नीललेशी यावत् शुक्ललेशी जीव लेइया-स्थान से संक्लिष्ट अथवा विद्युद्ध होते-होते नीललेश्या में परिणमन करता हुआ नीललेश्या में परिणमन करके नीललेशी देवों में उत्पन्न होता है ।

कृष्णलेशी, नीललेशी यावत् शुक्ललेशी जीव लेइया-स्थान से संक्लिष्ट अथवा विद्युद्ध होते-होते कापोतलेश्या में परिणमन करता हुआ कापोतलेश्या में परिणमन करके कापोतलेशी देवों में उत्पन्न होता है ।

इसी प्रकार तेजोलेश्या, पद्मलेश्या तथा शुक्ललेश्या के सम्बन्ध में जानना । लेकिन इतनी विशेषता है कि लेइया स्थान से विद्युद्ध होते-होते शुक्ललेश्या में परिणमन करता हुआ शुक्ललेश्या में परिणमन करके शुक्ललेशी देवों में उत्पन्न होता है ।

६८ समय व संख्या की अपेक्षा सलेशी जीव की उत्पत्ति, मरण और अवस्थिति—

'६८'१ नरक पृथिवियों में—

गमक १—इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए तीसाए निरया-वाससयसहस्सेसु संखेज्जवित्थडेसु नरएसु एगसमएणं × × × केवइया काउलेस्सा उववज्जंति × × × जहन्नेणं एक्को वा दो वा तिन्नि वा उक्कोसेणं संखेज्जा काउलेस्सा उववज्जंति ।

गमक २—इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए तीसाए निरया-वाससयसहस्सेसु संखेज्जवित्थडेसु नरएसु एगसमएणं × × × केवइया काउलेस्सा उववट्ठंति × × × जहन्नेणं एक्को वा दो वा तिन्नि वा उक्कोसेणं संखेज्जा नेरइया उववट्ठंति, एवं जाव सन्ती । असन्ती न उववट्ठंति ।

गमक ३—इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए तीसाए निरया-वाससयसहस्सेसु संखेज्ज वित्थडेसु नरएसु × × × केवइया काउलेस्सा

× × × पन्नत्ता ? × × × गोयमा ! × × × संखेज्जा काऊलेम्सा
पन्नत्ता ।

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए तीसाए निरयावाससयसह-
स्सेसु असंखेज्जवित्थडेसु नरएसु × × × एवं जहेव संखेज्जवित्थडेसु वि
तिन्नि गमगा तथा असंखेज्जवित्थडेसु तिन्नि गमगा । नवरं असंखेज्जा
भाणियव्वा × × × नाणत्तं लेस्सासु लेस्साओ जहा पढमसए ।

सक्करप्पभाए णं भंते ! पुढवीए केवइया निरयावास० पुच्छा ?
गोयमा ! पणुवीसं निरयावाससयसहस्सा पन्नत्ता, ते णं भंते ! किं
संखेज्जवित्थडा असंखेज्जवित्थडा ? एवं जहा रयणप्पभाए तथा
सक्करप्पभाएवि, नवरं असन्नी तिसु वि गमएसु न भन्नइ, सेसं
तं चेव ।

वालुयप्पभाए णं पुच्छा ? गोयमा ! पन्नरस निरयावाससय-
सहस्सा पन्नत्ता, सेसं जहा सक्करप्पभाए, नाणत्तं लेस्सासु लेरसाओ
जहा पढमसए ।

पंकप्पभाए णं पुच्छा ? गोयमा ! दस निरयावाससयसहस्सा
पन्नत्ता, एवं जहा सक्करप्पभाए नवरं ओहिनाणी ओहिदंसणी य न
उववट्ठंति, सेसं तं चेव ।

धूमप्पभाए णं पुच्छा ? गोयमा ! तिन्नि निरयावाससयसहस्सा
एवं जहा पंकप्पभाए ।

तमाए णं भंते ! पुढवीए केवइया निरयावास० पुच्छा ? गोयमा !
एगे पंचूणे निरयावाससयसहस्से पन्नत्ते, सेसं जहा पंकप्पभाए ।

अहेसत्तमाए णं भंते ! पुढवीए पंचसु अणुत्तरेसु महइमहालएसु
जाव महानिरएसु संखेज्जवित्थडे नरए एगसमएणं केवइया उवव-
ज्जंति ? एवं जहा पंकप्पभाए नवरं तिसु नाणेसु न उववज्जंति न
उववट्ठंति, पन्नत्तएसु तहेव अत्थि, एवं असंखेज्जवित्थडेसु वि नवरं
असंखेज्जा भाणियव्वा ।

—भग० श १३ । उ १ । सू ३ से १४ । पृ० ६७६ से ६७८

रत्नप्रभा पृथ्वी के तीस लाख नरकावासों में जो संख्यात विस्तार वाले हैं उनमें एक समय में जघन्य से एक, दो, अथवा तीन तथा उत्कृष्ट से संख्यात कापोतलेशी नारकी उत्पन्न (गमक १) होते हैं, जघन्य से एक, दो अथवा तीन तथा उत्कृष्ट से संख्यात कापोतलेशी नारकी मरण (ग० २) को प्राप्त होते हैं ; तथा संख्यात कापोतलेशी नारकी एक समय में अवस्थित (ग० ३) रहते हैं ।

रत्नप्रभा पृथ्वी के तीस लाख नरकावासों में जो असंख्यात विस्तार वाले हैं उनमें एक समय में जघन्य से एक, दो अथवा तीन तथा उत्कृष्ट से असंख्यात कापोतलेशी नारकी उत्पन्न (ग० १) होते हैं ; जघन्य से एक, दो अथवा तीन तथा उत्कृष्ट से असंख्यात कापोतलेशी नारकी मरण (ग० २) को प्राप्त होते हैं ; तथा असंख्यात कापोतलेशी नारकी एक समय में अवस्थित (ग० ३) रहते हैं ।

शर्कराप्रभा पृथ्वी के पचीस लाख नरकावासों के सम्बन्ध में रत्नप्रभा पृथ्वी की तरह तीन संख्यात व तीन असंख्यात के गमक कहने चाहिए ।

बालुकाप्रभा पृथ्वी के पन्द्रह लाख नरकावासों के सम्बन्ध में, जैसा शर्कराप्रभा पृथ्वी के आवासों के सम्बन्ध में कहा, वैसा ही कहना चाहिए । लेकिन लेश्या—कापोत और नील कहनी चाहिए ।

पंकप्रभा पृथ्वी के दस लाख नरकावासों के सम्बन्ध में, जैसा शर्कराप्रभा पृथ्वी के आवासों के सम्बन्ध में कहा, वैसा ही कहना । लेकिन लेश्या—नील कहनी चाहिए ।

धूमप्रभा पृथ्वी के तीन लाख नरकावासों के सम्बन्ध में, जैसा पंकप्रभा पृथ्वी के आवासों के सम्बन्ध में कहा, वैसा ही कहना चाहिए । लेकिन लेश्या—नील और कृष्ण कहनी चाहिए ।

तमप्रभा पृथ्वी के पंच न्यून एक लाख नरकावासों के सम्बन्ध में, जैसा पंकप्रभा पृथ्वी के आवासों के सम्बन्ध में कहा, वैसा ही कहना चाहिए । लेकिन लेश्या—कृष्ण कहनी चाहिए ।

तमताप्रभा पृथ्वी के पाँच नरकावासों में जो अप्रतिष्ठान नाम का संख्यात विस्तार वाला नरकावास है उसमें एक समय में जघन्य से एक, दो अथवा तीन तथा उत्कृष्ट से संख्यात परम कृष्णलेशी उत्पन्न (ग० १) होते हैं ; जघन्य से एक, दो अथवा तीन तथा उत्कृष्ट से संख्यात परम कृष्णलेशी मरण (ग० २) को प्राप्त होते हैं ; तथा संख्यात परम कृष्णलेशी नारकी एक समय में अवस्थित (ग० ३) रहते हैं ।

तमतमाप्रभा पृथ्वी के जो चार असंख्यात विस्तार वाले नरकावास हैं उनमें एक समय में जघन्य से एक, दो अथवा तीन तथा उत्कृष्ट से असंख्यात परम कृष्ण-लेशी नारकी उत्पन्न (ग० १) होते हैं , जघन्य से एक, दो अथवा तीन तथा उत्कृष्ट से असंख्यात परम कृष्णलेशी नारकी मरण (ग० २) को प्राप्त होते हैं ; तथा एक समय में असंख्यात परम कृष्णलेशी नारकी अदस्थित (ग० ३) रहते हैं ।

सातवीं नरक का अप्रतिष्ठान नरकावास एक लाख योजन विस्तार वाला है तथा बाकी चार नरकावास असंख्यात योजन विस्तार वाले हैं । देखो—जीवा० प्रति ३ । उ २ । सू ८२ । पृ० १३८, तथा ठाण० स्था ४ । उ ३ । सू ३२६ । पृ० २४६ ।

'६८'२ देवावासों में—

चोसङ्गीए णं भंते ! असुरकुमारावाससयसहस्सेसु संखेज्जवित्थडेसु असुरकुमारावासेसु एगसमएणं × × × केवइया तेउलेस्सा उववज्जंति × × × एवं जहा रयणप्पभाए तहेव पुच्छा, तहेव वागरणं । × × × उव्वट्ठं तगा वि तहेव × × × तिसु वि गमएसु संखेज्जेसु चत्तारि लेस्साओ भाणियव्वाओ, एवं असंखेज्जवित्थडेसु वि, नवरं तिसु वि गमएसु असंखेज्जा भाणियव्वा । सू ४ ।

केवइया णं भंते ! नागकुमारावाससयसहस्सा पण्णत्ता ? एवं जाव थणियकुमारावास० नवरं-जत्थ जत्तिया भवणा । सू ५ ।

संखेज्जेसु णं भंते ! वाणमंतरावाससयसहस्सेसु एगसमएणं केवइया वाणमंतरा उववज्जंति ? एवं जहा असुरकुमाराणं संखेज्जवित्थडेसु तिन्नि गमगा तहेव भाणियव्वा, वाणमंतराणं वि तिन्नि गमगा । सू ७ ।

केवइया णं भंते ! जोइसियविमाणावाससयसहस्सा पन्नत्ता ? गोयमा ! असंखेज्जा जोइसियविमाणावाससयसहस्सा पन्नत्ता, ते णं भंते ! किं संखेज्जवित्थडा० ? एवं जहा वाणमंतराणं तहा जोइ-सियाणं वि तिन्नि गमगा भाणियव्वा, नवरं एगा तेउलेस्सा । सू ८ ।

सोहम्मे णं भंते ! कप्पे वत्तीसाए विमाणावाससयसहस्सेसु संखेज्ज-
वित्थडेसु विमाणेसु एगसमएणं × × × केवइया तेऊलेस्सा उववज्जंति ?
× × × एवं जहा जोइसियाणं तिन्नि गमगा तहेव तिन्नि गमगा
भाणियव्वा, नवरं तिसु वि संखेज्जा भाणियव्वा । × × × असंखेज्ज-
वित्थडेसु एवं चेव तिन्नि गमगा, नवरं तिसु वि गमएसु असंखेज्जा
भाणियव्वा । × × × एवं जहा सोहम्मे वत्तव्वया भणिया तहा
ईसाणे वि छ गमगा भाणियव्वा । सणंकुमारे (वि) एवं चेव
× × × एवं जाव सहस्सारे, नाणत्तं विमाणेसु लेस्सासु य, सेसं तं
चेव । सू १० ।

(आणय-पाणएसु) एवं संखेज्जवित्थडेसु तिन्नि गमगा जहा
सहस्सारे, असंखेज्जवित्थडेसु उववज्जंतेसु य चयंतेसु य एवं चेव
संखेज्जा भाणियव्वा । पन्नत्तेसु असंखेज्जा, × × × आरणच्चुएसु
एवं चेव जहा आणयपाणएसु, नाणत्तं विमाणेसु । एवं गेवेज्जगा वि
। सू ११ ।

पंचसु णं भंते ! अणुत्तरविमाणेसु संखेज्जवित्थडे विमाणे एगस-
मएणं × × × केवइया सुक्कलेस्सा उववज्जंति-पुच्छा तहेव, गोयमा !
पंचसु णं अणुत्तरविमाणेसु संखेज्जवित्थडे अणुत्तरविमाणे एगसमएणं
जहन्नेणं एक्को वा दो वा तिन्नि वा, उक्कोसेणं संखेज्जा अणुत्तरोववाइया
देवा उववज्जंति, एवं जहा गेवेज्जविमाणेसु संखेज्जवित्थडेसु । × × ×
असंखेज्जवित्थडेसु वि एए न भन्नंति, नवरं अचरिमा अत्थि, सेसं जहा
गेवेज्जएसु असंखेज्जवित्थडेसु × × × । सू १३ ।

—भग० श १३ । उ २ । सू ४-१३ । पृ० ६८०-८१

असुरकुमार के चौंसठ लाख आवासों में जो संख्यात विस्तार वाले हैं, उनमें
एक समय में जघन्य से एक, दो अथवा तीन तथा उत्कृष्ट से संख्यात तेजोलेशी
असुरकुमार उत्पन्न (ग०) होते हैं, जघन्य से एक, दो अथवा तीन तथा उत्कृष्ट
से संख्यात तेजोलेशी असुरकुमार मरण (ग० २) को प्राप्त होते हैं; तथा संख्यात
तेजोलेशी असुरकुमार एक समय में अवस्थित (ग० ३) रहते हैं ।

ऐसे ही तीन-तीन गमक कृष्ण, नील तथा कापोतलेश्या के सम्बन्ध में कहने चाहिए ।

असुरकुमार के चौंसठ लाख आवासों में जो असंख्यात विस्तार वाले हैं, उनमें एक समय में जघन्य से एक, दो अथवा तीन तथा उत्कृष्ट से असंख्यात तेजोलेशी असुरकुमार उत्पन्न (ग० १) होते हैं ; जघन्य से एक, दो अथवा तीन तथा उत्कृष्ट से असंख्यात तेजोलेशी असुरकुमार मरण (ग० २) को प्राप्त होते हैं ; तथा असंख्यात तेजोलेशी एक समय में अवस्थित (ग० ३) रहते हैं ।

ऐसे ही तीन-तीन गमक कृष्ण, नील तथा कापोतलेश्या के सम्बन्ध में कहने चाहिए ।

नागकुमार से स्तनितकुमार तक के देवावासों के सम्बन्ध में असुरकुमार के देवावासों की तरह तीन संख्यात के तथा तीन असंख्यात के गमक, इस प्रकार चारों लेश्याओं पर छः-छः गमक कहने चाहिए । परन्तु जिसके जितने भवन होते हैं उतने समझने चाहिए ।

वानव्यंतर के जो संख्यात लाख आवास हैं वे सभी संख्यात विस्तार वाले हैं । उनमें एक समय में जघन्य से एक, दो अथवा तीन तथा उत्कृष्ट से संख्यात तेजोलेशी वानव्यंतर उत्पन्न (ग० १) होते हैं ; जघन्य से एक, दो अथवा तीन तथा उत्कृष्ट से संख्यात तेजोलेशी वानव्यंतर मरण (ग० २) को प्राप्त होते हैं ; तथा संख्यात तेजोलेशी वानव्यंतर एक समय में अवस्थित (ग० ३) रहते हैं ।

ऐसे ही तीन-तीन गमक कृष्ण, नील तथा कापोतलेश्या के सम्बन्ध में कहने चाहिए ।

ज्योतिषी देवों के जो असंख्यात विमान हैं वे सभी संख्यात विस्तार वाले हैं । उनके सम्बन्ध में तेजोलेश्या को लेकर उत्पत्ति, च्यवन (मरण) तथा अवस्थिति के तीन गमक वानव्यंतर देवों की तरह कहने चाहिए ।

सौधर्मकल्प देवलोक के बत्तीस लाख विमानों में जो संख्यात विस्तार वाले हैं उनमें उत्पत्ति, च्यवन तथा अवस्थिति के तीन गमक एक तेजोलेश्या को लेकर ज्योतिषी विमानों की तरह कहने चाहिए ।

सौधर्मकल्प देवलोक के बत्तीस लाख विमानों में जो असंख्यात विस्तार वाले हैं, उनमें उत्पत्ति, च्यवन तथा अवस्थिति के तीन गमक एक तेजोलेश्या को लेकर कहने चाहिए । इन तीनों गमकों में उत्कृष्ट में असंख्यात कहना चाहिए ।

ईशानकल्प देवलोक के विमानों के सम्बन्ध में सौधर्मकल्प की तरह तीन संख्यात तथा तीन असंख्यात के, इस प्रकार छः गमक कहने चाहिए ।

इसी प्रकार सनत्कुमार से सहस्रार देवलोक तक के विमानों के सम्बन्ध में तीन संख्यात तथा तीन असंख्यात के, इस प्रकार छः गमक कहने । लेकिन लेश्या में नानात्व कहना अर्थात् सनत्कुमार से ब्रह्मलोक तक पञ्च तथा लांतक से सहस्रार तक शुक्ललेश्या कहनी चाहिए ।

आनत तथा प्राणत के जो संख्यात विस्तार वाले विमान हैं उनमें सहस्रार देवलोक की तरह शुक्ललेश्या को लेकर उत्पत्ति, च्यवन तथा अवस्थिति के तीन गमक कहने चाहिए । जो असंख्यात विस्तार वाले विमान हैं, उनमें एक समय में जघन्य से एक, दो अथवा तीन तथा उत्कृष्ट से संख्यात उत्पन्न (ग० १) होते हैं , एक समय में जघन्य से एक, दो अथवा तीन तथा उत्कृष्ट से संख्यात च्यवन (ग० २) को प्राप्त होते हैं ; तथा एक समय में असंख्यात अवस्थित (ग० ३) रहते हैं ।

आरण तथा अच्युत विमानावासों में, जैसे आनत तथा प्राणत के विषय में कहा, वैसे ही छः छः गमक कहने चाहिए ।

इसी प्रकार भ्रंवेयक विमानावासों के सम्बन्ध में शुक्ललेश्या पर छः गमक आनत-प्राणत की तरह कहने चाहिए ।

पंच अनुत्तर विमानों में जो चार (विजय, वंजयंत, जयंत, अपराजित) असंख्यात विस्तार वाले हैं उनमें एक समय में जघन्य से एक, दो अथवा तीन तथा उत्कृष्ट से संख्यात शुक्ललेशी अनुत्तर विमानावासी देव उत्पन्न (ग० १) होते हैं, जघन्य से एक, दो अथवा तीन तथा उत्कृष्ट से संख्यात शुक्ललेशी अनुत्तर विमानावासी देव च्यवन (ग० २) को प्राप्त होते हैं ; तथा असंख्यात शुक्ललेशी अनुत्तर विमानावासी देव अवस्थित (ग० ३) रहते हैं ।

सर्वार्थसिद्ध अनुत्तर विमान जो संख्यात विस्तार वाला है उसमें एक समय में जघन्य से एक, दो अथवा तीन तथा उत्कृष्ट से संख्यात शुक्ललेशी अनुत्तर विमानावासी देव उत्पन्न (ग० १) होते हैं ; जघन्य से एक, दो अथवा तीन तथा उत्कृष्ट से संख्यात शुक्ललेशी अनुत्तर विमानावासी देव च्यवन (ग० २) को प्राप्त होते हैं ; तथा संख्यात शुक्ललेशी अनुत्तर विमानावासी देव अवस्थित (ग० ३) रहते हैं ।

अनुत्तर विमान का सर्वार्थसिद्ध विमान एक लाख योजन विस्तार वाला है तथा बाकी चार अनुत्तर विमान असंख्यात योजन विस्तार वाले हैं । देखो—

जीवा० प्रति ३ । उ २ । सू २१३ । पृ० २३७ तथा ठाण० स्था ४ । उ ३ । सू ३२६ । पृ० २४६ ।

६९ सलेशी जीव और ज्ञान

६६-१ सलेशी जीव में कितने ज्ञान-अज्ञान—

(क) सलेस्सा णं भंते ! जीवा किं नाणी ? अण्णणी ? जहा सकाइया (सकाइया णं भंते ! जीवा किं नाणी ? अन्नाणी ? गोयमा ! पंच नाणाइं, तिन्नि अन्नाणाइं भयणाए—प्र० ३८) । कण्हलेस्सा णं भंते० ! जहा सइं दिया एवं जाव पम्हलेस्सा (सइं दिया णं भंते ! जीवा किं नाणी ? अन्नाणी ? गोयमा ! चत्तारि नाणाइं तिन्नि अन्नाणाइं भयणाए—प्र० ३५) । सुक्कलेस्सा जहा सलेस्सा । अलेस्सा जहा सिद्धा (सिद्धा णं भंते ! पुच्छा, गोयमा ! नाणी, नो अन्नाणी ; नियमा एगनाणी-केवलनाणी—प्र० ३०) ।

—भग० श ८ । उ २ । सू ६५-६७ । पृ० ५४५

सलेशी जीव में पाँच ज्ञान तथा तीन अज्ञान की भजना होती है । कृष्ण-लेशी यावत् पद्मलेशी जीव में चार ज्ञान तथा तीन अज्ञान की भजना होती है । शुक्ललेशी जीव में पाँच ज्ञान तथा तीन अज्ञान की भजना होती है । अलेशी जीव में नियम से एक केवलज्ञान होता है ।

(ख) कण्हलेसे णं भंते ! जीवे कइसु नाणेसु होज्जा ? गोयमा ! दोसु वा तिसु वा चउसु वा नाणेसु होज्जा, दोसु होमाणे आभिणिबोहियसुयनाणे होज्जा, तिसु होमाणे आभिणिबोहियसुयनाण-ओहिनाणेसु होज्जा, अहवा तिसु होमाणे आभिणिबोहियसुयनाण-मणपज्जवनाणेसु होज्जा, चउसु होमाणे आभिणिबोहियसुयओहिमण-पज्जवनाणेसु होज्जा, एवं जाव पम्हलेसे । सुक्कलेसे णं भंते ! जीवे कइसु होज्जा ? गोयमा ! दोसु वा तिसु वा चउसु वा होज्जा, दोसु होमाणे आभिणिबोहियनाण एवं जहेव कण्हलेसाणं तहेव भाणियव्वं जाव चउहिं । एगंमिनाणे होमाणे एगंमि केवलनाणे होज्जा ।

—पण्ण० प १७ । उ ३ । सू ३० । पृ० ४४५

कृष्णलेशी जीव के दो, तीन अथवा चार ज्ञान होते हैं । दो ज्ञान होने से मतिज्ञान और श्रुतज्ञान होता है । तीन ज्ञान होने से मति, श्रुत तथा अवधिज्ञान होता है अथवा मति, श्रुत तथा मनःपर्यव ज्ञान होता है । चार होने से मति, श्रुत, अवधि तथा मनःपर्यव ज्ञान होता है । इसी प्रकार यावत् पद्मलेशी जीव तक कहना चाहिए । शुक्ललेशी जीव के एक, दो, तीन अथवा चार ज्ञान होते हैं । यदि दो, तीन अथवा चार ज्ञान हों तो कृष्णलेशी जीव की तरह होता है । एक ज्ञान हो तो केवल ज्ञान होता है ।

ननु मनःपर्यवज्ञानमतिविशुद्धस्योपजायते, कृष्णलेश्या च संक्लिष्टाध्यवसायरूपा ततः कथं कृष्णलेम्याकस्य मनःपर्यवज्ञानसम्भवः ? उच्यते, इह लेश्यानां प्रत्येकासंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणान्यध्यवसायस्थानानि, तत्र कानिचित् मंदानुभावान्यध्यवसायस्थानानि प्रमत्तसंयतस्यापि लभ्यन्ते, अतएव कृष्णनीलकापोतलेश्या अन्यत्र प्रमत्तसंयतान्ता गीयन्ते, मनःपर्यवज्ञानं च प्रथमतोऽप्रमत्तसंयतस्योत्पद्यते ततः प्रमत्तसंयतस्यापि लभ्यते इति सम्भवति कृष्णलेश्याकस्यापि मनःपर्यवज्ञानं ।

—पण्ण० प १७ । उ ३ । सू ३० । टीका

मनःपर्यवज्ञान अति विशुद्धि को प्राप्त जीव को होता है तथा कृष्णलेश्या संक्लिष्ट अध्यवसाय रूप है, तब कृष्णलेश्या में मनपर्यवज्ञान कैसे सम्भव हो सकता है ? प्रत्येक लेश्या के असंख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण अध्यवसाय स्थान होते हैं, उनमें कितने ही मंद रसवाले अध्यवसाय स्थान प्रमत्त संयत को भी होते हैं । अतः कृष्ण, नील, कापोत लेश्याएं प्रमत्तसंयत गुणस्थान तक होती हैं—ऐसा अन्य ग्रन्थकारों ने कहा है । मनःपर्यवज्ञान प्रथम अप्रमत्तसंयत को होता है तथा तत्पश्चात् प्रमत्तसंयत को भी होता है । अतः कृष्णलेश्यावाले को भी मनःपर्यवज्ञान सम्भव है ।

•६६•२ लेख्या-विशुद्धि से विविध ज्ञान-समुत्पत्ति—

•६६•२•१ लेख्या-विशुद्धि से जाति-मरण (मतिज्ञान)—

(क) तए णं तव मेहा ! लेस्साहिं विमुञ्जमाणीहिं अञ्जवसाणेणं सोहणेणं सुभेणं परिणामेणं तयावरणिज्जाणं कम्माणं खओवसमेण ईहापोहमग्गणगवेसणं करेमाणस्स सन्निपुण्वे जाइसरणे समुत्पज्जित्था ।

(ख) तए णं तस्स मेहस्स अणगारस्स समणस्स भगवओ महा-
वीरस्स अंतिए एयमट्ठं सोच्चा निसम्म सुभेहिं परिणामेहिं पसत्थेहिं
अज्झवसाणेहिं लेस्साहिं विसुज्झमाणीहिं तयावरणिज्जाणं कम्माणं
खओवसमेणं ईहापोहमग्गणगवेसणं करेमाणस्स सन्निपुव्वे जाइसरणे
समुप्पन्ने ।

—णाया० श्रु १ । अ १ । सू ३२, ३३ । पृ० ६७०-७२

(ग) तए णं तस्स सुदंसणस्स सेट्ठिस्स समणस्स भगवओ महा-
वीरस्स अंतियं एयमट्ठं सोच्चा निसम्म सुभेणं अज्झवसाणेणं सुभेणं
परिणामेणं लेस्साहिं विसुज्झमाणीहिं तयावरणिज्जाणं कम्माणं
खओवसमेणं ईहापोहमग्गणगवेसणं करेमाणस्स सन्निपुव्वे जाइसरणे
समुप्पन्ने ।

—भग० श ११ । उ ११ । सू ३५ । पृ० ६४५

लेश्या का उत्तरोत्तर विशुद्ध होना जाति-स्मरण-ज्ञान की प्राप्ति में एक
आवश्यक अंग है ।

*६६'२'२ लेश्या-विशुद्धि से अवधिज्ञान—

(क) आणंदस्स समणोवासगस्स अन्नया कयाइ सुभेणं अज्झव-
साणेणं सुभेणं परिणामेणं लेस्साहिं विसुज्झमाणीहिं तयावरणिज्जाणं
कम्माणं खओवसमेणं ओहिनाणे समुप्पन्ने ।

—उवा० अ १ । सू १२ । पृ० ११३४

लेश्या का उत्तरोत्तर विशुद्ध होना अवधिज्ञान की प्राप्ति में भी एक आवश्यक
अंग है ।

(ख) (सोच्चा णं केवलिस्स) तस्स णं अट्ठमंअट्ठमेणं अनिक्खित्तेणं
तवोकम्मेणं अप्पाणं भावेमाणस्स पगइभइयाए, तहेव जाव (× × ×
लेस्साहिं विसुज्झमाणीहिं-विसुज्झमाणीहिं × × ×) गवेसणं करेमा-
णस्स ओहिनाणे समुप्पज्जइ ।

—भग० श ६ । उ ३१ । सू ३४ । पृ० ५८०

श्रुत्वाकेवली के अबधिज्ञान की प्राप्ति के समय लेख्या की भी उत्तरोत्तर विशुद्धि होती है ।

‘६६’२’३ लेख्या-विशुद्धि से विभंग अज्ञान—

तस्स णं (असोच्चा णं केवलीस्स) भंते ! छट्ठं छट्ठेणं × × ×
अन्नया कयावि सुभेणं अज्झवसाणेणं, सुभेणं परिणामेणं, लेस्साहिं
विसुज्झमाणीहिं-विसुज्झमाणीहिं तयावरणिज्जाणं कम्माणं खओव-
समेणं ईहापोहमग्गणगवेसणं करेमाणस्स विवभंगे नामं अन्नाणे
समुप्पज्जइ ।

—मग० वा ६ । उ ३१ । सु ११ । पृ० ५७८

लेख्या का उत्तरोत्तर विशुद्ध होना विभंग अज्ञान की प्राप्ति में शुभ अध्यवसाय और शुभ परिणाम के साथ एक आवश्यक अंग है ।

‘६६’३ सलेशी का सलेशी को जानना व देखना—

‘६६’३’१ विशुद्ध-अविशुद्धलेशी देव का विशुद्ध-अविशुद्धलेशी देव-देवी को जानना व देखना—

अविशुद्धलेसे णं भंते ! देवे असम्मोहएणं अप्पाणेणं अविशुद्धलेसं
देवं, देविं, अन्नयरं जाणइ, पासइ ? णो तिणट्ठे समट्ठे (१) ।

एवं अविशुद्धलेसे देवे असम्मोहएणं अप्पाणेणं विशुद्धलेसं देवं (२) ।

अविशुद्धलेसे देवे सम्मोहएणं अप्पाणेणं अविशुद्धलेसं देवं (३) ?

अविशुद्धलेसे देवे सम्मोहएणं अप्पाणेणं विशुद्धलेसं देवं (४) ।

अविशुद्धलेसे देवे सम्मोहयाऽसम्मोहएणं अप्पाणेणं अविशुद्धलेसं
देवं (५) ।

अविशुद्धलेसे देवे सम्मोहयाऽसम्मोहएणं अप्पाणेणं विशुद्धलेसं
देवं (६) ।

विशुद्धलेसे देवे असम्मोहएणं अप्पाणेणं अविशुद्धलेसं देवं (७) ।

विशुद्धलेसे देवे असम्मोहएणं अप्पाणेणं विशुद्धलेसं देवं (८) ।

विशुद्धलेसे णं भंते देवे सम्मोहएणं अप्पाणेणं अविशुद्धलेसं देवं
जाणइ, पासइ ? हंता, जाणइ, पासइ (९) ।

एवं विसुद्धलेसे देवे सम्मोहणं अप्पाणेणं विसुद्धलेसं देवं जाणइ पासइ ? हंता, जाणइ, पासइ (१०) ।

विसुद्धलेसे देवे सम्मोहयाऽसम्मोहणं अप्पाणेणं अविसुद्धं देवं ? (११) ।

विसुद्धलेसे देवे सम्मोहयाऽसम्मोहणं अप्पाणेणं विसुद्धलेसं देवं ? (१२) ।

एवं हेट्टिल्लएहिं अट्टहिं न जाणइ, न पासइ, उवरिल्लएहिं चउहिं जाणइ, पासइ ।

—भग० श ६ । उ ६ । सू ७-१० । पृ० ५०६-७

अविशुद्धलेशी देव अनुपयुक्त आत्मा द्वारा अविशुद्धलेशी देव व देवी को या दोनों में से किसी एक को नहीं जानता है, नहीं देखता है (१) । इसी प्रकार अविशुद्धलेश्यावाला देव अनुपयुक्त आत्मा द्वारा विशुद्धलेशी देव, देवी व अन्यतर को नहीं जानता है, नहीं देखता है (२) । अविशुद्धलेश्यावाला देव उपयुक्त आत्मा द्वारा अविशुद्धलेशी देव, देवी वा अन्यतर को (३) । अविशुद्धलेश्यावाला देव उपयुक्त आत्मा द्वारा विशुद्धलेशी देव, देवी वा अन्यतर को (४) । अविशुद्धलेश्यावाला देव उपयुक्तानुपयुक्त आत्मा द्वारा अविशुद्धलेशी देव, देवी वा अन्यतर को (५) । अविशुद्धलेश्यावाला देव उपयुक्तानुपयुक्त आत्मा द्वारा विशुद्धलेशी देव, देवी वा अन्यतर को (६) । विशुद्धलेशी देव अनुपयुक्त आत्मा द्वारा अविशुद्धलेशी देव, देवी वा अन्यतर को (७) तथा विशुद्धलेशी देव अनुपयुक्त आत्मा द्वारा विशुद्धलेशी देव, देवी वा अन्यतर को नहीं जानता है, नहीं देखता है (८) ।

विशुद्धलेशी देव उपयुक्त आत्मा द्वारा अविशुद्धलेशी देव, देवी वा अन्यतर को जानता है, देखता है (९) ।

विशुद्धलेशी देव उपयुक्त आत्मा द्वारा विशुद्धलेशी देव, देवी वा अन्यतर को जानता है, देखता है (१०) ।

विशुद्धलेशी देव उपयुक्तानुपयुक्त आत्मा द्वारा अविशुद्धलेशी देव, देवी व अन्यतर को जानता है, देखता है (११) ।

विशुद्धलेशी देव उपयुक्तानुपयुक्त आत्मा द्वारा विशुद्धलेशी देव, देवी व अन्यतर को जानता है, देखता है (१२) ।

प्रथम के आठ विकल्पों में न जानता है, न देखता है ; शेष के चार विकल्पों में जानता है, देखता है ।

नोट—अविशुद्धलेशी का टीकाकार ने 'अविशुद्धलेशी विभंगज्ञानी देव' अर्थ किया है । अन्यतर का अर्थ 'दोनों में से एक' होता है । 'असम्मोहएणं अप्पाणेणं' का अर्थ टीकाकार ने अनुपयुक्त आत्मा किया है ।

टीका—एभिः पुनश्चतुर्भिविकल्पैः सम्यग्दृष्टित्वादुपयुक्तत्वानुपयुक्तत्वाच्च जानाति, उपयोगानुपयोगपक्षे उपयोगांशस्य सम्यग्ज्ञानहेतुत्वादिति ।

शेष के चार विकल्पों में विशुद्धलेशी देव सम्यग्दृष्टि होने के कारण उपयुक्ता-नुपयुक्त आत्मा होने पर भी जानता व देखता है ; क्योंकि सम्यग्ज्ञान होने के कारण उपयोगानुपयोग में उपयोग का अंश अधिक होता है ।

'६६'३'२ विशुद्ध-अविशुद्धलेशी अणगार का विशुद्ध-अविशुद्ध लेश्यावाले देव-देवी को जानना व देखना—

अविसुद्धलेस्से णं भंते ! अणगारे असमोहएणं अप्पाणेणं अविसुद्ध-लेस्सं देवं देविं अणगारं जाणइ, पासइ ? गोयमा ! नो इणट्ठे समट्ठे । (१)

अविसुद्धलेस्से णं भंते ! अणगारे असमोहएणं अप्पाणेणं विसुद्ध-लेस्सं देवं देविं अणगारं जाणइ, पासइ ? गोयमा ! नो इणट्ठे समट्ठे । (२)

अविसुद्धलेस्से (णं भंते !) अणगारे समोहएणं अप्पाणेणं अविसुद्ध-लेस्सं देवं देविं अणगारं जाणइ, पासइ ? गोयमा ! नो इणट्ठे समट्ठे । (३)

अविसुद्धलेस्से (णं भंते !) अणगारे समोहएणं अप्पाणेणं विसुद्ध-लेस्सं देवं देविं अणगारं जाणइ, पासइ ? (गोयमा !) नो इणट्ठे समट्ठे । (४)

अविसुद्धलेस्से णं भंते ! अणगारे समोहयासमोहएणं अप्पाणेणं अविसुद्धलेस्सं देवं देविं अणगारं जाणइ, पासइ ? (गोयमा !) नो इणट्ठे समट्ठे । (५)

अविशुद्धलेस्से (णं भंते !) अणगारे समोहयासमोहणं अप्पाणेणं
विशुद्धलेस्सं देवं देविं अणगारं जाणइ, पासइ ? (गोयमा !) नो
इणइ समइ । (६)

विशुद्धलेस्से णं भंते ! अणगारे असमोहणं अप्पाणेणं अविशुद्ध-
लेस्सं देवं देविं अणगारं जाणइ पासइ ? हंता जाणइ पासइ जहा
अविशुद्धलेस्सेणं (छ) आलावगा एवं विशुद्धलेस्सेणं वि छ आलावगा
भाणियव्वा जाव विशुद्धलेस्से णं भंते ! अणगारे समोहयासमोहणं
अप्पाणेणं विशुद्धलेस्सं देव देविं अणगारं जाणइ पासइ ? हंता जाणइ
पासइ । (१२)

—जीवा० प्रति ३ । उ २ । सू १०३ । पृ० १५१

अविशुद्धेशी अणगार असमवहत आत्मा से अविशुद्धेशी देव, देवी तथा
अणगार को जानता व देखता नहीं है (१) । अविशुद्धेशी अणगार असमवहत
आत्मा से विशुद्धेशी देव, देवी तथा अणगार को जानता व देखता नहीं है
(२) । अविशुद्धेशी अणगार समवहत आत्मा से अविशुद्धेशी देव, देवी तथा
अणगार को जानता व देखता नहीं है (३) । अविशुद्धेशी अणगार समवहत
आत्मा से विशुद्धेशी देव, देवी तथा अणगार को जानता व देखता नहीं है (४) ।
अविशुद्धेशी अणगार समवहतासमवहत आत्मा से अविशुद्धेशी देव, देवी तथा
अणगार को जानता व देखता नहीं है (५) । अविशुद्धेशी अणगार समवहता-
समवहत आत्मा से विशुद्धेशी देव, देवी तथा अणगार को जानता व देखता
नहीं है । (६) ।

इसी प्रकार विशुद्धेशी अणगार के छः आलापक कहने चाहिए लेकिन जानता
है तथा देखता है—ऐसा कहना चाहिए ।

नोट—टीकाकार श्री मलयगिरि ने असमवहत का अर्थ 'वेदनादिसमुद्घात-
रहित' तथा समवहत का अर्थ 'वेदनादिसमुद्घाते गतः' किया है । समवहता-
समवहत का अर्थ किया है—'वेदनादिसमुद्घातक्रियाविष्टो न सु परिपूर्ण'
समवहतो नाप्यसमवहतः सर्वथा ।' मलयगिरि ने किसी मूल टीकाकार की उक्ति
दी है—'शोभनमशोभनं वा वस्तु यथावद्विशुद्धलेश्यो जानाति, समुद्घातोऽपि
तस्याप्रतिबन्धक एव ।' लेकिन भगवती के टीकाकार श्री अभयदेव सूरि ने
'असमोहणं अप्पाणेणं' का अर्थ 'अनुपयुक्तेनात्मना' किया है ।

'६६'३'३ भावितात्मा अणगार का सकर्मलेश्या का जानना व देखना—

अणगारे णं भंते ! भावियप्पा अप्पणो कम्मलेस्सं न जाणइ, न पासइ, तं पुण जीवं सरूविं सकम्मलेस्सं जाणइ, पासइ ? हंता गोयमा ! अणगारे णं भावियप्पा अप्पणो कम्मलेस्सं न जाणइ, न पासइ, न पुणं जीवं सरूविं सकम्मलेस्सं जाणइ, पासइ ।

—भग० श १४ । उ ६ । सू १ । पृ० ७०६

भावितात्मा अणगार अपनी कर्मलेश्या को न जानता है, न देखता है । परन्तु सरूपी सकर्मलेश्या को जानता है, देखता है ।

टीकाकार कहते हैं—“भावितात्मा अणगार छद्मस्थ होने के कारण ज्ञाना-वर्णीयादि कर्म के योग्य अथवा कर्म सम्बन्धी कृष्णादि लेश्याओं को नहीं जानता है ; क्योंकि कर्मद्रव्य तथा लेश्याद्रव्य अति सूक्ष्म होने के कारण छद्मस्थ के ज्ञान द्वारा अगोचर हैं—परन्तु वह अणगार कर्म तथा लेश्या वाले तथा शरीर युक्त आत्मा को जानता है ; क्योंकि शरीर चक्षु इन्द्रिय के द्वारा ग्रहण होता है तथा आत्मा का शरीर के साथ कथंचित् अभेद है । इसलिये उसको जानता है ।”

'६६'४ सलेशी जीव और ज्ञान तुलना—

'६६'४'१ सलेशी नारकी की ज्ञान तुलना—

कण्हलेस्से णं भंते ! नेरइए कण्हलेसं नेरइयं पणिहाए ओहिणा सव्वओ समंता समभिलोएमाणे-समभिलोएमाणे केवइयं खेत्तं जाणइ, केवइयं खेत्तं पासइ ? गोयमा ! णो बहुयं खेत्तं जाणई, णो बहुयं खेत्तं पासइ, णो दूरं खेत्तं जाणई, णो दूरं खेत्तं पासइ, इत्तरियमेव खेत्तं जाणइ, इत्तरियमेव खेत्तं पासइ । से केण्हणे णं भंते ! एवं वुच्चइ—‘कण्हलेसे णं नेरइए तं चेव जाव इत्तरियमेव खेत्तं पासइ’ ? गोयमा ! से जहानामए केइ पुरिसे बहुसमरमणिज्जंसि भूमिभागंसि ठिच्चा सव्वओ समंता समभिलोएज्जा, तए णं से पुरिसे धरणित्त-लगयं पुरिसं पणिहाए सव्वओ समंता समभिलोएमाणे-समभिलो-एमाणे णो बहुयं खेत्तं जाव पासइ, जाव इत्तरियमेव खेत्तं पासइ, से तेण्हणे गोयमा ! एवं वुच्चइ-कण्हलेसे णं नेरइए जाव इत्तरियमेव खेत्तं पासइ । नीललेसे णं भंते ! नेरइए कण्हलेसं नेरइयं पणिहाय

ओहिणा सव्वओ समंता समभिलोएमाणे-समभिलोएमाणे केवइयं खेत्तं जाणइ, केवइयं खेत्तं पासइ ? गोयमा ! बहुतरागं खेत्तं जाणइ, बहुतरागं खेत्तं पासइ, दूरतरं खेत्तं जाणइ, दूरतरं खेत्तं पासइ, वित्तिमिरतरागं खेत्तं जाणइ, वित्तिमिरतरागं खेत्तं पासइ, विसुद्धतरागं खेत्तं जाणइ, विसुद्धतरागं खेत्तं पासइ । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ—नीललेसे णं नेरइए कण्हलेसं नेरइयं पणिहाय जाव विसुद्धतरागं खेत्तं जाणइ विसुद्धतरागं खेत्तं पासइ ? गोयमा ! से जहानामए केइ पुरिसे बहुसमरमणिज्जाओ भूमि-भागाओ पव्वयं दुरूहिता सव्वओ समंता समभिलोएज्जा, तए णं से पुरिसे धरणितलगयं पुरिसं पणिहाय सव्वओ समंता समभिलोएमाणे-समभिलोएमाणे बहुतरागं खेत्तं जाणइ जाव विसुद्धतरागं खेत्तं पासइ, से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ—नीललेसे नेरइए कण्हलेसं जाव विसुद्धतरागं खेत्तं पासइ । काउलेस्से णं भंते ! नेरइए नीललेस्सं नेरइयं पणिहाय ओहिणा सव्वओ समंता समभिलोएमाणे समभिलोएमाणे केवइयं खेत्तं जाणइ पासइ ? गोयमा ! बहुतरागं खेत्तं जाणइ पासइ, जाव विसुद्धतरागं खेत्तं पासइ । से केणट्ठेणं भंते । एवं वुच्चइ—काउलेस्से णं नेरइए जाव विसुद्धतरागं खेत्तं पासइ ? गोयमा ! से जहानामए केइ पुरिसे बहुसमरमणिज्जाओ भूमिभागाओ पव्वयं दुरूहइ दुरूहिता दो वि पाए उच्चाविया, (वइत्ता) सव्वओ समंता समभिलोएज्जा, तए णं से पुरिसे पव्वयगयं धरणितलगयं च पुरिसं पणिहाय सव्वओ समंता समभिलोएमाणे समभिलोएमाणे बहुतरागं जाणइ, बहुतरागं खेत्तं पासइ जाव वित्तिमिरतरागं खेत्तं पासइ, से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ—काउलेस्से णं नेरइए नीललेस्सं नेरइयं पणिहाय तं चेव जाव वित्तिमिरतरागं खेत्तं पासइ ।

—पण्ण० प १७ । उ ३ । सू २६ । पृ० ४४४-५

कृष्णलेशी नारकी कृष्णलेशी नारकी की अपेक्षा अवधिज्ञान द्वारा चारों दिशाओं में तथा चारों विदिशाओं में बहुत (विस्तृत) क्षेत्र को नहीं जानता है,

बहुत क्षेत्र को नहीं देखता है, दूर क्षेत्र को नहीं जानता है, दूर क्षेत्र को नहीं देखता है, कुछ कम-अधिक क्षेत्र को जानता है, कुछ कम-अधिक क्षेत्र को देखता है। जैसे—यदि कोई पुरुष बराबर समान तथा रमणीक भूमि भाग पर खड़ा होकर चारों तरफ देखता हो तो वह पुरुष पृथ्वीतल में रहनेवाले पुरुष की अपेक्षा चारों तरफ देखता हुआ बहुत क्षेत्र तथा दूरतर क्षेत्र को जानता नहीं है, देखता नहीं है। कुछ अल्पाधिक क्षेत्र को जानता है, देखता है। इसी तरह कृष्णलेशी नारकी अन्य कृष्णलेशी नारकी की अपेक्षा कुछ अल्पाधिक क्षेत्र को जानता है, देखता है।

नीललेशी नारकी कृष्णलेशी नारकी की अपेक्षा अवधिज्ञान द्वारा चारों दिशाओं में तथा चारों विदिशाओं में देखता हुआ अधिकतर क्षेत्र को जानता है, देखता है। दूरतर क्षेत्र को जानता है, देखता है; विशुद्धतर क्षेत्र को जानता है, देखता है, जैसे—यदि कोई पुरुष बराबर बहुसम रमणीक भूमि-भाग से पर्वत पर चढ़कर चारों दिशाओं व चारों विदिशाओं में देखता हो तो वह पुरुष पृथ्वी-तल के ऊपर रहे पुरुष की अपेक्षा चारों तरफ अधिकतर क्षेत्र को जानता है, देखता है; दूरतर क्षेत्र को जानता है व देखता है; विशुद्धतर क्षेत्र को जानता है व देखता है।

कापोतलेशी नारकी नीललेशी नारकी की अपेक्षा अवधिज्ञान द्वारा चारों दिशाओं व चारों विदिशाओं में देखता हुआ अधिकतर क्षेत्र को जानता है व देखता है; दूरतर क्षेत्र को जानता है व देखता है; विशुद्धतर क्षेत्र को जानता है व देखता है। जैसे—कोई पुरुष बराबर सम रमणीक भूमि से पर्वत पर चढ़कर तथा दोनों पैर ऊँचे उठाकर चारों दिशाओं में तथा चारों विदिशाओं में देखता हो तो वह पुरुष पर्वत पर चढ़े हुए तथा पृथ्वीतल पर खड़े हुए पुरुषों की अपेक्षा चारों दिशाओं में तथा चारों विदिशाओं में अधिकतर क्षेत्र को जानता है व देखता है। दूरतर क्षेत्र को जानता है, देखता है; विशुद्धतर क्षेत्र को जानता है व देखता है।

७० सलेशी जीव और अनन्तर भव में मोक्ष प्राप्ति—

७०.१ कापोतलेशी जीव की अनन्तर भव में मोक्ष प्राप्ति—

से नूणं भंते ! काऊलेस्से पुढविकाइए काऊलेस्सेहितो पुढविकाइएहितो अणंतरं उव्वट्टित्ता माणुसं विग्गहं लभइ, माणुसं विग्गहं लभइत्ता केवलं बोहि बुज्झइ केवलं बोहि बुज्झइत्ता तओ पच्छा

सिद्धि जाव अंतं करेइ ? हंता मागंदियपुत्ता ! काउलेस्से पुढवि-
काइए जाव सव्वदुक्खाणं अंतं करेइ ।

से नूणं भंते ! काउलेस्से आउकाइए काउलेस्सेहितो आउकाइ-
एहितो अणंतरं उव्वट्टित्ता माणुसं विग्गहं लभइ माणुसं विग्गहं
लभइत्ता केवलं बोहिं बुद्धिइ, जाव सव्वदुक्खाणं अंतं करेइ ? हंता
मागंदियपुत्ता ! जाव सव्वदुक्खाणं अंतं करेइ ।

से नूणं भंते ! काउलेस्से वणस्सइकाइए एवं चेव जाव अंतं करेइ ।

—भग० श १८ । उ ३ । सू १ से ३ । पृ० ७६६

कापोतलेशी पृथ्वीकायिक जीव कापोतलेशी पृथ्वीकायिक योनि से मरण को प्राप्त होकर तदनन्तर मनुष्य के शरीर को प्राप्त करता है, मनुष्य शरीर को प्राप्त करके, केवलज्ञान को प्राप्त करता है तथा केवलबोधि को प्राप्त करने के बाद सिद्ध होता है, यावत् सर्व दुःखों का अंत करता है ।

कापोतलेशी अप्कायिक जीव कापोतलेशी अप्कायिक योनि से मरण को प्राप्त होकर तदनन्तर मनुष्य के शरीर को प्राप्त करता है, मनुष्य शरीर को प्राप्त करके, केवलज्ञान को प्राप्त करता है तथा केवलज्ञान को प्राप्त करने के बाद सिद्ध होता है, यावत् सर्व दुःखों का अन्त करता है ।

कापोतलेशी वनस्पतिकायिक जीव कापोतलेशी वनस्पतिकायिक योनि से मरण को प्राप्त होकर तदनन्तर मनुष्य के शरीर को प्राप्त करता है, मनुष्य शरीर को प्राप्त करके केवलज्ञान को प्राप्त करता है तथा केवलज्ञान को प्राप्त करने के बाद सिद्ध होता है, यावत् सर्व दुःखों का अन्त करता है ।

आर्यों के पृच्छने पर भगवान महावीर ने भी (अहंपि णं अज्जो ! एव-
माइक्खामि) मार्कदीपुत्र के उपर्युक्त कथन का समर्थन किया है ।

‘७०’२ कृष्णलेशी जीव की अनंतर भव में मोक्ष प्राप्ति—

एवं खलु अज्जो ! कण्हलेस्से पुढविकाइए कण्हलेस्सेहितो पुढवि-
काइएहितो जाव अंतं करेइ ; एवं खलु अज्जो ! नीललेस्से पुढविकाइए
जाव अंतं करेइ, एवं काउलेस्से वि, जहा पुढविकाइए वि, एवं आउ-
काइए वि, एवं वणस्सइकाइए वि सच्चे णं एसमड्ढे ।

—भग० श १८ । उ ३ । सू ३ । पृ० ७६६-६७

कृष्णलेशी पृथ्वीकायिक जीव कृष्णलेशी पृथ्वीकायिक योनि से, कृष्णलेशी अप्कायिक जीव कृष्णलेशी अप्कायिक योनि से तथा कृष्णलेशी वनस्पतिकायिक जीव कृष्णलेशी वनस्पतिकायिक योनि से मरण को प्राप्त होकर तदनन्तर मनुष्य के शरीर को प्राप्त करता है, मनुष्य के शरीर को प्राप्त करके केवलज्ञान को प्राप्त करता है तथा केवलज्ञान को प्राप्त करने के बाद सिद्ध होता है, यावत् सर्व दुःखों का अन्त करता है ।

'७३'३ नीललेशी जीव की अनन्तर भव में मोक्ष प्राप्ति—

नीललेशी पृथ्वीकायिक जीव नीललेशी पृथ्वीकायिक योनि से, नीललेशी अप्कायिक जीव नीललेशी अप्कायिक योनि से तथा नीललेशी वनस्पतिकायिक जीव नीललेशी वनस्पतिकायिक योनि से मरण को प्राप्त होकर तदनन्तर मनुष्य के शरीर को प्राप्त करता है मनुष्य के शरीर को प्राप्त करके केवलज्ञान को प्राप्त करता है तथा केवलज्ञान को प्राप्त करने के बाद सिद्ध होता है, यावत् सर्व दुःखों का अन्त करता है । (देखो पाठ '७०'२)

'७५ लेइया का विशुद्धिकरण और तदावरणिय कर्म के क्षयोपशम आदि से ज्ञानोत्पत्ति

[चाहे सम्प्रदृष्टि हो, चाहे मिथ्यादृष्टि हो, अवधि ज्ञान आदि की उत्पत्ति के समय विशुद्धलेश्या, प्रशस्त अध्यवसाय, शुभ परिणाम व तदावरणीय कर्म का क्षयोपशम आदि का उल्लेख मिलता है ।]

१—छद्मस्थ अवस्था में भगवान् ने पाँचवाँ चतुर्मास भद्रिलपुर नगर में किया । चतुर्मास समाप्त कर भगवान् कदली ग्राम, जंबुखण्डग्राम, तंबाक ग्राम, कूपिका ग्राम, वैशाली नगरी, ग्रामक ग्राम होते हुए माघ मास में शालिशीर्ष नामक ग्राम में पधारे । वहाँ उद्यान में भगवान् प्रतिमा में स्थित थे । उस समय भगवान् को शुभ अध्यवसाय, अवधि ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम आदि के कारण लोकप्रमाण अवधिज्ञान उत्पन्न हुआ । कहा है ।

छद्मेण शालिसीसे विसुद्धिमाणस्स लो गोधी ।

—आव० नि गा ४८६

मलय टीका— × × × तदानीं च षष्ठेन—दिनद्वयोपवासेन तिष्ठ-
तस्तीव्रवेदनामधिसहमानस्य शुभैरध्यवसायैर्विशुद्धयमानस्यलोक-
प्रमाणोऽवधिरभूत् ।

अर्थात् भगवान् महावीर को शालिशीर्ष ग्राम में दो दिन की तपस्या में, शीतादि की तीव्र वेदना को समता से सहन करने से, लोकप्रमाण अवधिज्ञान उत्पन्न हुआ । कहा जाता है कि लोकप्रमाण अवधिज्ञान अनुत्तरविमानवासी देवों को होता है ।^१ (उस समय उनके विशुद्धलेश्या भी थी)

२—मेघकुमार के जीव को—पूर्वभव (मेरुप्रम हस्ति) के भव में मिध्यात्व अवस्था में जातिस्मरणज्ञान उत्पन्न हुआ—

तएणं तव मेहा ! लेस्साहिं विसुज्झमाणीहिं अज्झवसाणेणं सोहणेणं सुभेणं परिणामेणं तथावरणिज्जाणं कम्माणं खओवसमेणं ईहापूह-मग्गण-गवेसणं करेमाणस्स सन्निपुव्वे जाईसरणे समुप्पज्जित्था ।

—गाया० श्रु १ अ १ । सू १७०

अर्थात् मेघकुमार को अपने पूर्वभव में विशुद्धलेश्या, शुभ अध्यवसाय, शुभ-परिणाम एवं तदावरणीय (मतिज्ञानावरणीय) कर्मों के क्षयोपशम से ईहा, अपोह, मार्गणा, गवेषणा करते हुए जातिस्मरण (संज्ञीज्ञान) ज्ञान उत्पन्न हुआ ।

३—मेघ अणगार की अवस्था में (सम्यग्दृष्टि की अवस्था में)

तएणं तस्स मेहस्स अणगारस्स समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए एयमद्धं सोच्चा निसम्म सुभेहिं परिणामेहिं पसत्थेहिं अज्झव-साणेहिं लेस्साहिं विसुज्झमाणीहिं तथावरणिज्जाणं कम्माणं खओ-वसमेणं ईहापूहमग्गणगवेसणं करेमाणस्स सन्निपुव्वे जाईसरणे समुप्पण्णे ।

—गाया० श्रु १ अ १ । सू १९०

अर्थात् भगवान् महावीर के अंतेवासी शिष्य मेघ (अणगार) को विशुद्ध-लेश्या, शुभ परिणाम तथा प्रशस्त अध्यवसाय से एवं तदावरणीय कर्मों के क्षयोपशम से ईहा, अपोह, मार्गणा, गवेषणा करते हुए जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हुआ ।

१—विशेषात् कर्मक्षपणं धर्मध्यानदीप्यत ।

बभूव चावधिज्ञानं श्रीवीरस्वामिनोऽधिकम् ॥

अनुत्तरस्थितस्यैव सर्वलोकावलोकनम् ॥

—त्रिशलाका० पर्व १० । सर्ग ३ । श्लो० ६२१, ६२२

४—केवली आदि के पास से धर्मप्रतिपादक वचन सुनकर सम्यग्दर्शनादि प्राप्त जीव को सम्यक्त्व अवस्था में अवधिज्ञान उत्पन्न हुआ—

तस्स (सोच्चा) णं अट्ठमंअट्ठमेणं अणिविक्खत्तेणं तवोक्कमेणं अप्पाणं भावेमाणस्स पगइभइयाए तहेव जाव (पगइउवसंतयाए, पगइपयणुकोह-माण-मायालोभयाए, मिउमइवसंपयाए, अल्लीणयाए, विणीययाए, अण्णया कयावि सुभेणं अज्झवसाणेणं, सुभेणं परिणामेणं, लेस्साहिं विसुज्झमाणीहिं-विसुज्झमाणीहिं तथावरणिज्जाणं कम्माणं खओवसमेणं ईहा-अपोह-मग्गणगवेसणं करेमाणस्स ओहिणाणे समुप्पज्जइ ।

—भग० श ६ उ ३१ । सू ५५

अर्थात् केवली यावत् केवलिपाक्षिक के पास से धर्मप्रतिपादक वचन सुनकर सम्यग्दर्शनादि प्राप्त जीव को निरन्तर तैले-तैले की तपस्या द्वारा आत्मा को भावित करते हुए प्रकृति की भद्रता आदि गुणों से—किसी दिन शुभ अध्यवसाय शुभ परिणाम, विशुद्धलेइया से एवं तदावरणीय कर्म (अवधिज्ञानावरणीयकर्म) के क्षयोपशम से ईहा, अपोह, मार्गणा, गवेषणा करते हुए अवधिज्ञान उत्पन्न हुआ ।

५—साधु-साध्वी-श्रावक-श्राविकादि से केवलीप्ररूपित धर्म को बिना सुनकर ही (अश्रुत्वा) कतिपय जीवों को ज्ञानावरणीयादि कर्मों के क्षयोपशम से विभंग अज्ञान उत्पन्न होता है । उस मिथ्यात्व अवस्था में उनके विशुद्ध लेइया, शुभ अध्यवसाय; शुभपरिणाम आदि होते हैं ।

तस्स णं (असोच्चा णं केवलिस्स) भंते ! छट्ठंछट्ठेणं × × × अन्नया कयावि सुभेणं अज्झवसाणेणं, सुभेणं परिणामेणं, लेस्साहिं विसुज्झमाणीहिं-विसुज्झामाणीहिं तथावरणिज्जाणं कम्माणं खओवसमेणं ईहा-पोह-मग्गणगवेसणं करेमाणस्स विव्भंगे नामं अन्नाणे समुप्पज्जइ ।

—भग० श ६ । उ ३१ । सू ३३

अर्थात् किसी के पास से भी धर्म को न सुनकर अश्रुत्वा को निरन्तर-छट्ट-छट्ट का तप करते हुए × × × किसी दिन शुभ अध्यवसाय, शुभ परिणाम; विशुद्ध

लेश्या एवं तदावरणीय (विभंग ज्ञानावरणीय कर्म) कर्मों के क्षयोपशम से ईहा-अपोह-सार्गणा और गवेषणा करते हुए विभंग अज्ञान उत्पन्न होता है ।

६—इस अवसर्पिणी काल के उन्नीसवें तीर्थङ्कर श्री मल्लीनाथ भगवान जिस दिन दीक्षित हुए, उसी दिन उन्हें शुभलेश्या, शुभपरिणाम तथा शुभ अध्यक्षताय की अवस्था में केवलज्ञान, केवलदर्शन उत्पन्न हुआ ।

तए णं मल्ली अरहा जं चेव दिवस पव्वइए तस्सेव दिवसस्स पच्चवरण्हकालसमयंसि असोगवरपायवस्स अहे पुढविंसिलापट्टयंसि सुहासणवरगयस्स सुहेणं परिणामेणं (पसत्थेहिं अज्झवसाणेहिं) पसत्थाहिं लेसाहिं (विसुज्झमाणीहिं) तथावरणकम्मरयविकिरणकरं अपुव्वकरणं अणुपविट्ठस्स अणंते जाव केवलवरनाणदंसणे समुप्पन्ने ।

—णायाम् श्रु १ अ ८ । सू २२५

अर्थात् मल्लीनाथ अरिहंत ने जिस दिन दीक्षा ग्रहण की उसी दिन शुभ-परिणाम, प्रशस्त अध्यक्षता, विशुद्धलेश्या से, तदावरणीय कर्मों के क्षय होने से केवलज्ञान तथा केवलदर्शन उत्पन्न हुआ ।

७—जितशत्रु आदि छः प्रमुख राजा मल्लीकंवरी की पूर्वनिर्मित मूर्ति को देखते हैं, (उस मूर्ति को साक्षात् मल्लीकंवरी समझते हैं ।) देखकर उस पर रागभाव लाते हैं । मल्लीकंवरी उस निर्मित मूर्ति का ऊपरी भाग का ढक्कन खोलती है । फलस्वरूप दुर्गन्ध आने लगती है (क्योंकि उस निर्मित मूर्ति में ढक्कन खोलकर भोजन का ग्रास प्रतिदिन डाला जाता था । कई दिन का ग्रास होने से उसमें दुर्गन्ध आने लगी ।) जितशत्रु प्रमुख उन छठों राजाओं को दुर्गन्ध सहन नहीं हुआ । फलस्वरूप नाक कपड़े से ढाँक लिया । तब मल्लीकुमारी ने उन छठों राजाओं को प्रतिबोध देते हुए कहा कि इस मूर्ति की तरह मेरा शरीर भी अशुचि का भंडार है, आप इस ऊपरी चमड़े को देखकर क्यों ललचाते हैं । आप अपने पूर्व भव को याद कीजिये कि अपने सबों ने पूर्वजन्म में एक साथ अनगार वृत्ति में रहे, विचित्र प्रकार की तपस्याएं की । मल्लीकुमारी से यह वृत्तान्त सुनकर उन छठों राजाओं को जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हुआ—

तए णं तेसिं जियसत्तु पामोक्खाणं छण्हं रा (या) ईणं मल्लीए विदेहसयवरकन्नए अंतिए एवमट्ठं सोच्चा निसम्मा सुभेणं परिणामेण

पसन्थेणं अङ्गवसाणेणं लेसाहिं विसुङ्गमाणीहिं तथावरणिज्जं कम्माणं
खओवसमेणं ईहापूह जाव सण्णिपुव्वे जाईसरणे समुप्पन्ने ।

—णाया० श्रु १ अ ८ । सू १८१

जितशत्रु प्रमुख राजाओं को (मल्लीकुमारी से विविधप्रकार का उपदेश
सुनकर) शुभपरिणाम, प्रशस्त अध्यवसाय, विशुद्धमान लेश्या से, तदावरणीय कर्म
के क्षयोपशम होने से ईहा-ऊपोह-मार्गणा व गवेषणा करते हुए जातिस्मरणज्ञान
उत्पन्न हुआ ।

८—वाणिज्यग्राम वासी सुदर्शन नामक सेठ को सम्यक्त्व अवस्था में जाति-
स्मरणज्ञान उत्पन्न हुआ—

तए णं तस्स सुदंसणस्स सेट्ठिस्स समणस्स भगवओ महावीरस्स
अंतियं एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म सुभेणं अङ्गवसाणेणं सुभेणं परि-
णामेणं लेस्साहिं विसुङ्गमाणीहिं तथावरणिज्जाणं कम्माणं खओव-
समेणं ईहापूह-मग्गण-गवेसणं करेमाणस्स सण्णीपुव्वे जाईसरणे
समुप्पन्ने ।

—भग० श ११ । उ ११ । सू १७१

अर्थात् श्रवण भगवान महावीर स्वामी से धर्म सुनकर और हृदय में धारण
कर सुदर्शन सेठ को शुभ अध्यवसाय, शुभपरिणाम और विशुद्धलेश्या से तदावरणीय
कर्म का क्षयोपशम हुआ और ईहा, अपोह, मार्गणा और गवेषणा करते हुए
संज्ञीपूर्व^१—जातिस्मरण (ऐसा ज्ञान जिससे निरंतर—संलग्न अपने संज्ञी रूप से
किये हुए पूर्व भव देखे जा सकें) ज्ञान उत्पन्न हुआ ।

९—आणंद श्रावक को पौषधशाला में विशेष रूप से धर्म की आराधना
करते हुए सम्यक्त्व अवस्था में अबधिज्ञान उत्पन्न हुआ ।

आणंदस्स समणोवासगस्स अन्नया कयाइ सुभेणं अङ्गवसाणेणं
सुभेणं परिणामेणं लेस्साहिं विसुङ्गमाणीहिं तथावरणिज्जाणं खओव-
समेणं ओहिनाणे समुप्पन्ने ।

—उवा० अ १ । सू ६६

१. समवाओ सूत्र में जातिस्मरण ज्ञान को संज्ञीज्ञान कहा है ।

(धर्मजागरणा करते हुए) आणंद श्रावक को किसी समय में शुभ अध्यवसाय शुभपरिणाम और विद्युद्धलेइया से तदावरणीय कर्म (अवधिज्ञानावरणीय कर्म) के क्षयोपशम होने से अवधिज्ञान उत्पन्न हुआ ।

१०—भरतचक्रवृत्ति को आरिसा भवन में अनित्य भावना को भावित करते हुए केवलज्ञान, केवलदर्शन उत्पन्न हुआ—(सम्यक्त्व तथा चारित्र्य अवस्था में) ।

तए णं तस्स भरहस्स रण्णो सुभेणं परिणामेणं पसत्थेहिं अञ्जव साणेहिं लेसाहिं विसुञ्जमाणीहिं २ ईहापोहमग्गणगवेसणं करेमाणस्स तथावरणिञ्जाणं कम्माणं खएणं कम्मरयविकिरणकरं अपुच्चकरणं पविट्ठस्स अणंते अणुत्तरे निब्बाधाए निरावरणे कसिणे पडिपुण्णे केवलवरणाणदंसणे समुत्पण्णे ।

—जंबु० व ३ । सू ७०

भरत चक्रवर्ती को आरिसाभवन में शुभपरिणाम, प्रशस्त अध्यवसाय, विद्युद्ध लेइया से ईहा-अपोह मार्गणा-गवेषणा करते हुए तदावरणीय कर्मों (केवल ज्ञाना-वरणीय कर्म आदि) के क्षय होने के अणुत्तर केवलज्ञान-केवलदर्शन उत्पन्न हुआ ।

११—शिवराजर्वि को मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में तपस्या करते हुए शुभलेइयादि से विभंग अज्ञान उत्पन्न हुआ ।

तए णं तस्स सिवस्स रायरिसिस्स छट्ठं छट्ठेणं अणिक्खत्तेणं दिसाचक्कवालेणं जाव—आयावेमाणस्स पगइभइयाए जाव विणीय-याए अण्णया कयाइ तथावरणिञ्जाणं कम्माणं खओवसमेणं ईहा-पूह-मग्गण-गवेसणं करेमाणस्स विब्भंगे णामं नाणे समुत्पण्णे ।

—भग० श० ११ । उ ६ । सू ७१

अर्थात् निरंतर बेले-बेले की तपस्यापूर्वक दिक्चक्रवाल तप करते यावत् आतापना लेने और प्रकृति की भद्रता यावत् विनीतता से शिवराजर्वि को किसी दिन तदावरणीय (विभंगज्ञानावरणीय) कर्मों के क्षयोपशम से ईहा, अपोह मार्गणा और गवेषणा करते हुए विभंग अज्ञान हुआ ।

१२—अणगार गजसुकुमाल श्रीकृष्ण के संसारपक्षीय छोटे भाई थे । उन्होंने कुमारावस्था में दीक्षा ग्रहण की थी । भगवान् अरिष्टनेमि की आज्ञा से महाकाल

नामक श्मशान में काया को कुछ नमाकर चार अंगुल के अन्तर से दोनों पैरों को सिकोड़कर एक पुद्गल पर दृष्टि रखते हुए एक रात्रि की महा प्रतिमा (भिक्षु की बारहवीं प्रतिमा) स्वीकार कर ध्यान में खड़े रहे । सोमिल ब्राह्मण द्वारा शिर पर अंगारों को रखे जाने से गजसुकुमाल अनगार के शरीर में महा वेदना उत्पन्न हुई । वह वेदना अत्यन्त दुःखमयी, जाज्वल्यमान और असह्य थी । फिर वे गजसुकुमाल अनगार उस सोमिल ब्राह्मण पर लेश मात्र भी द्वेष नहीं करते हुए समभावपूर्वक महा घोर वेदना को सहन करने लगे ।

तए णं तस्स गयसुकुमालस्स अणगारस्स तं उज्जलं जाव दुरहियासं वेयणं अहियासेमाणस्स सुभेणं परिणामेणं पसत्थञ्जवसाणेणं तदावरणिज्जाणं कम्माणं खएणं कम्मरयविकिरणकरं अपुव्वकरणं अणुप्पविट्ठस्स अणंते अणुत्तरे निव्वाघाए निरावरणे कसिणे पडिपुण्णे केवलवरणाणदंसणे समुप्पण्णे ।

—अंत० वर्ग ३ । अ ८ । सू ६२

अर्थात् घोर वेदना को समभावपूर्वक सहन करते हुए गजसुकुमाल अनगार ने शुभपरिणाम और शुभ अव्यवसायों से तथा तदावरणीय कर्मों के नाश से कर्म विनाशक अपूर्वकरण में प्रवेश किया ; जिससे उनको अनंत अनुत्तर, निर्व्याघात निरावरण, कूट्सन, प्रतिपूर्ण केवलज्ञान और केवलदर्शन उत्पन्न हुआ । मुनि गजसुकुमाल ने उसी रात्रि में सर्व कर्मों का अनंत कर सिद्ध, बुद्ध यावत् मुक्त हुए ।

१३—श्रमणोपाशक नंदमणियार का जीव मिथ्यात्व भाव को प्राप्त होकर अपनी नंदापुष्करणी में मेढ़क रूप से उत्पन्न हुआ । वहाँ मेढ़क ने बारम्बार बहुत से व्यक्तियों से सुना कि नंदमणियार धन्य है जिसने इस नंदापुष्करणी को निर्मित किया । ईहा-अपोह-मार्गणा-गवेषणा करते हुए उस नंदमणियार के जीव को जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हुआ । जैसा कि कहा है—

तए णं तस्स ददुदुरस्स तं अभिक्खणं-अभिक्खणं बहुजणस्स अंतिए एयमट्ठं सोच्चा निसम्म इमेयारूवे अज्झत्थिए चितए मण्णोगए संकप्पे समुप्पज्जित्था—कहिं मन्ने मए इमेयारूवे सहे निसंतपुव्वे त्ति कट्ठु सुभेणं परिणामेणं पसत्थेणं अज्झवसाणेणं लेस्साहिं विसुज्झमाणीहिं तथावरणिज्जाणं कम्माणं खओवसमेणं ईहापूह-मग्गण-

गवेषणं करेमाणस्स सण्णिपुव्वे जाईसरणे समुत्पणे, पुव्वजाइं सम्मं समागच्छइ ।

—गाथा० श्रु १ अ १३ । सू ३५

अर्थात् नन्दा पुष्करणी में स्थित उस मेढक ने बहुत व्यक्तियों से सुना कि इस नन्दा पुष्करणी को नन्दमणियार ने बनाया था । ईहा-अपोह-मार्गणा-गवेषणा करते हुए, तदावरणीय कर्म के क्षयोपशम होने से, प्रशस्त, अध्यवसाय, विशुद्धमान लेश्या, शुभपरिणाम से उस मेढक को जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हुआ जिससे उसने अपने द्वारा कृत पूर्व भव—नन्दमणियार के भव को देखा ।

१४—अंबड़ परिक्राजक वीर्यलब्धि (विशेष शक्ति का प्राप्ति) वैक्रियलब्धि (अनेक रूप बनाने की शक्ति) और अवधिज्ञानलब्धि (रूपी पदार्थों को आत्मा से जानने की शक्ति) के प्राप्त होने पर मनुष्यों को विस्मित करने के लिए कपिलपुर नगर में सौ घरों में आहार करता था, सौ घरों में निवास करता था । ये लब्धियाँ अंबड़परिक्राजक को स्वाभाविक भद्रता यादत् विनीतता से युक्त निरंतर ब्रेल-ब्रेल की तपस्या करते हुए भुजाएँ ऊँची रखकर और मुख सूर्य की ओर आतापना भूमि में आतापना लेने वाले शुभ परिणामादि से प्राप्त हुई । कहा है—

अम्महस्स णं परिठ्वायगस्स पगइभइयाए जाव विणीययाए छट्ठं-
छट्ठेणं अनिक्खित्तेणं तवोकम्मेणं उट्ठं बाहाओ पगिज्झिय पगिज्झिय
सूराभिमुहस्स आयावणमूमीए आयावेमाणस्स, सुभेणं परिणामेणं
पसत्थेहिं अञ्जवसाणेहिं लेस्साहिं विसुञ्जमाणीहिं, अणया कयाइ
तदावरणिज्जाणं कम्माणं खओवसमेणं ईहापूहमग्गणगवेषणं करे-
माणस्स वीरियलद्धी वेउव्वियलद्धी ओहिणाणलद्धी समुत्पण्णा ।

—ओव० सू ११६

अंबड़ परिक्राजक को शुभ परिणाम, प्रशस्त अध्यवसाय और विशुद्धमान लेश्या के द्वारा किसी समय तदावरणीय कर्मों के क्षयोपशम होने पर ईहा, अपोह, मार्गणा तथा गवेषणा करते हुए वीर्यलब्धि, वैक्रियलब्धि के साथ अवधि-ज्ञान लब्धि प्राप्त हुई ।

१५—तेतलिपुत्र को शुभ परिणाम आदि से जातिस्मरणज्ञान उत्पन्न हुआ—

तए णं तस्स तेयलिपुत्तस्स अणगारस्स सुभेणं परिणामेणं जाईसरणे
समुत्पन्ने ।

—गाथा० श्रु १ अ १४ । सू ८१

तए णं तस्स तेयलिपुत्तस्स अणगारस्स सुभेणं परिणामेणं पसत्थेणं अङ्गवसाणेणं लेम्साहिं विसुङ्गमाणीहिं तयावरणिज्जाणं कम्माणं खसोवसमेणं कम्मरयविकिरणकरं अपुण्वकरणं पविट्टस्स केवलवरणाण-दंसणे समुत्पण्णे ।

—णायो० अ १४ । सू ८३

अर्थात् तैतलिपुत्र को गृहस्थावस्था में शुभ परिणाम से जातिस्मरणज्ञान उत्पन्न हुआ । इसके बाद उन्होंने संयम ग्रहण किया, गृहस्थ से अणगार बने, विचित्र प्रकार की तपस्या की । स्वयं ही दीक्षित हुए तथा स्वयं ही चतुर्दश पूर्वों की विद्या प्राप्त की ।

तैतलिपुर नगर के प्रमदवन उद्यान में तैतलिपुत्र अणगार को शुभ परिणाम, प्रशस्त अध्यवसाय, लेश्या की विशुद्धि से, तदावरणीय कर्म के क्षयोपशम होने से कर्म रूपी रज को नष्ट कर अपूर्वकरण में प्रविष्ट हुए तथा केवलज्ञान-केवलदर्शन उत्पन्न हुआ ।

१६—संज्ञी तिर्यञ्च पंचेन्द्रिय को शुभ परिणाम आदि से जातिस्मरणज्ञान उत्पन्न होता है—उववाई सूत्र में कहा है—

से जे इमे सण्णि-पंचिदिय-तिरिक्खजोणिया पज्जत्तया भवंति, तं जहा—जलयरा, थलयरा, खहयरा ।

तेसि णं अत्थेगइयाणं सुभेणं परिणामेणं पसत्थेहिं अङ्गवसाणेहिं लेम्साहिं विसुङ्गमाणीहिं तयावरणिज्जाणं कम्माणं खओवसमेणं ईहापूह-मग्गण-गवेसणं करेमाणाणं सण्णीपुण्वजाईसरणे समुत्पज्जई ।

—ओव० सू १५६

अर्थात् कतिपय संज्ञी तिर्यञ्च पंचेन्द्रिय को शुभ परिणाम, प्रशस्त अध्यवसाय और विशुद्ध लेश्या से, तदावरणीय कर्मों के क्षयोपशम होने से, ईहा-अपोह-मार्गणा-गवेषणा करते हुए पूर्व भवों की स्मृति रूप जातिस्मरण रूप ज्ञान उत्पन्न होता है । आगमों में कहा—उस जाति स्मरण ज्ञान के उत्पन्न होने पर वे तिर्यञ्च पंचेन्द्रिय (जलचर-स्थलचर-नभचर) स्वयं ही पाँच अपुत्रतों को स्वीकार करते हैं । बहुत से शोलव्रत, गुणव्रत विरमण, प्रत्याख्यान और पौषषोपास से आत्मा को भावित करते हुए, बहुत वर्षों की आयुष्य प्राप्त करते हैं । आयुष्य के नजदीक आने

पर वे भक्त का प्रत्याख्यान करते हैं—अनशन ग्रहण करते हैं, दोषों की आलोचना करते हैं. समाधि को प्राप्त करते हैं। भगवान् ने कहा है कि इस प्रकार के संज्ञी तिर्यञ्च पंचेन्द्रिय शुक्ललेश्या में मरण को प्राप्त कर उत्कृष्टतः सहस्रार कल्प (आठवें देवलोक में) उत्पन्न हो सकते हैं। किसी-किसी को शुभ परिणाम, शुभ लेश्या और प्रशस्त अध्यवसाय से अवधिज्ञान भी उत्पन्न हो जाता है।

१७—पार्श्वनाथ संतानवर्ती आचार्य मुनिचन्द्र को शुभध्यान आदि के द्वारा अवधिज्ञान उत्पन्न हुआ। त्रिषष्टिशलाकापुरुशचरित्र में कहा है—

अत्रान्तरे निशा जङ्घे मुनिचन्द्राख्यसूरय ।

× × ×

शुभध्यादचलिता वेदनां तां सहिष्णवः ।

सद्यो जातावधिज्ञाना मृत्वाचार्या दिवं ययुः ॥

—त्रिशलाका० पर्व १० । सर्ग ३ । श्लो ४६२, ४६५

अर्थात् मुनिचन्द्राचार्य ने वेदना को समता से सहन किया—शुभध्यानादि के द्वारा अवधिज्ञान उत्पन्न किया। आवश्यक सूत्र की चूर्णी व मलयगिरि टीका में कहा है कि उन्हें केवल ज्ञान प्राप्त हुआ।^१

१८—हस्तिनापुर के पद्मोत्तर राजा ने मुनिसुव्रतस्वामी के शिष्य सुव्रतसुरि से दीक्षित हुए। फिर शुद्ध अध्यवसाय से केवलज्ञान प्राप्त कर सिद्ध हुए। कहा है—

पद्मोत्तरमुनिरपि पालित निष्कलकश्रामण्यः शुद्धाध्यवसायेन
कर्मजालं क्षपयित्वा समुत्पन्नं केवलज्ञानः संप्राप्तः सिद्धिमिति ।

—उत्स० अ १८ । लक्ष्मीवल्लभ । टीका

अर्थात् पद्मोत्तर मुनि ने निष्कलक श्रामण्य का पालन किया। फलस्वरूप शुभ अध्यवसाय से कर्मजाल को खपाकर उन्हें केवलज्ञान उत्पन्न हुआ। यह निश्चित है कि केवल ज्ञान-केवलदर्शन की उत्पत्ति के समय शुभ अध्यवसाय के साथ शुभ परिणाम तथा शुभलेश्या भी होती है।

१. मुणिविचारादि, सो चिंतइ एसो चोरति, ते य गलिए गहिया, ते निहस्सासां कता, न य भाणाओ कपिया, तेसि केवलणार्णं उत्पन्नं ।

—आव० नि गा ४७६—जिनदास चूर्णी

१९—भगवान् महावीर के प्रमुख श्रावक महाशतक को सम्यक्त्व अवस्था में धर्म-जागरणा करते हुए शुभ अध्यवसाय आदि से अवधिज्ञान उत्पन्न हुआ। महाशतक राजगृह नगर का वासी था।

तए णं तस्स महासतगस्स समणोवासगस्स सुभेणं अञ्जवसाणेणं सुभेणं परिणामेणं जाव खओवसमेणं ओहिणाणे समुप्पन्ने ।

—उवा० अ ८ । सू ३७

महाशतक श्रावक को शुभ अध्यवसाय (शुभ परिणाम से, विशुद्धमान लेख्या से, अवधिज्ञानावरणीयकर्म के क्षयोपशम से) यावत् तदावरणीय कर्म के क्षयोपशम से अवधिज्ञान उत्पन्न हुआ।

२०—सुप्रीवनगर में बलभद्र नामक राजा था। उसके भृगा नाम की पटरानी थी। उनके 'बलश्री' नाम का पुत्र था, जो 'भृगापुत्र' के नाम से विख्यात था। एक दिन भृगापुत्र ने एक ध्रमण को—जो तप, नियम और संयम को धारण करने वाले, शीलवान् और गुणों के भण्डार थे—जाते हुए देखा। भृगापुत्र उन मुनि को ध्यान से देखने लगा। उसे विचार हुआ कि मैंने इस प्रकार का रूप पहले देखा है। फलस्वरूप भृगापुत्र को प्रशस्त अध्यवसाय आदि से जातिस्मरणज्ञान उत्पन्न हुआ।

साहुस्स दरिसणे तस्स, अञ्जवसाणम्मि-सोहणे ।
मोहं गयस्स संतस्स, जाईसरणं समुप्पणं ॥
देवल्लोग चुओ संतो, माणुसं भवमागओ ।
सण्णिणाण-समुप्पण्णे, जाई - सरइ - पुराणयं ॥
जाइसरणे समुप्पण्णे, मियापुत्ते महड्ढिए ।
सरइ पोरणिणयं जाई, सामणं च पुराकयं ॥

—उत्त० अ १६ । गा ७ से ६

अर्थात् साधु के दर्शन के कारण एवं मोहनीय कर्म के क्षयोपशम होने से तथा शुभ अध्यवसाय से (आत्मा का सूक्ष्म परिणाम अध्यवसाय कहलाता है।) भृगापुत्र को जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हुआ। संज्ञी ज्ञान (जातिस्मरणज्ञान)—यह ज्ञान संज्ञी जीवों को ही होता है—अतः इसे संज्ञीज्ञान कहते हैं ; उत्पन्न होने से, पूर्व जन्म का स्मरण हुआ।

यद्यपि उपर्युक्त पाठ में केवल शुभ अध्यवसाय शब्द का व्यवहार है परन्तु शुभ लेश्या, शुभ परिणाम आदि का व्यवहार नहीं है। अस्तु मृगापुत्र को जब जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हुआ तब शुभ अध्यवसाय के साथ शुभ परिणाम और विशुद्धलेश्या भी थी तथा तदावरणीय (नोइन्द्रिय मतिज्ञानावरणीय कर्म) कर्म का क्षयोपशम भी अवश्य था।

७२ सलेशी जीव और आरम्भ-परारम्भ-उभयारम्भ- अनारम्भ—

जीवा णं भंते ! किं आयारंभा ? परारंभा ? तदुभयारंभा ? अनारंभा ? गोयमा ! अत्येगइया जीवा आयारंभा वि परारंभा वि तदुभयारंभा वि ; नो अणारंभा ; अत्येगइया जीवा नो आयारंभा, नो परारंभा, नो तदुभयारंभा, अणारंभा । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ—अत्येगइया जीवा आयारंभा वि, एवं पड्डिउच्चारयेन्वं ? गोयमा, जीवा दुविहा पणत्ता, तं जहा संसारसमावन्नगा य असंसारसमावन्नगा य, तत्थ णं जे ते असंसारसमावन्नगा ते णं सिद्धा, सिद्धा णं नो आयारंभा जाव अणारंभा ; तत्थ णं जे ते संसारसमावन्नगा ते दुविहा पणत्ता, तं जहा—संजया य असंजया य, तत्थ णं जे ते संजया ते दुविहा पणत्ता, तं तहा—पमत्तसंजया य अप्पमत्तसंजया य, तत्थ णं जे ते अप्पमत्तसंजया ते णं नो आयारंभा, नो परारंभा जाव अणारंभा, तत्थ णं जे ते पमत्तसंजया ते सुहं जोगं पडुच्च नो आयारंभा नो परारंभा जाव अणारंभा, असुभं जोगं पडुच्च आयारंभा वि जाव नो अणारंभा, तत्थ णं जे ते असंजया ते अविरतिं पडुच्च आयारंभा वि जाव नो अणारंभा, से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ—अत्येगइया जीवा जाव अणारंभा ।

सलेस्सा जहा ओहिया । कण्हलेस्स, नीललेस्स, काऊलेस्स जहा ओहिया जीवा, नवरं पमत्त-अप्पमत्ता न भाणियच्चा, तेऊ-लेस्स, पम्हलेस्स, सुक्कलेस्स जहा ओहिया जीवा, नवरं-सिद्धा न भाणियच्चा ।

—भग० श १ । उ १ । सू ४७, ४८, ५३ । पृ० ३८८-८९

कोई एक जीव आत्मारम्भी, परारम्भी, उभयारम्भी होता है, अनारम्भी नहीं होता है । कोई एक जीव आत्मारम्भी, परारम्भी, उभयारम्भी नहीं होता है, अनारम्भी होता है । जीव दो प्रकार के होते हैं—यथा (१) संसारसमापन्नक तथा (२) असंसारसमापन्नक । उनमें से जो असंसारसमापन्नक जीव है वे सिद्ध हैं तथा सिद्ध आत्मारम्भी, परारम्भी, उभयारम्भी नहीं होते हैं, अनारम्भी होते हैं । जो संसारसमापन्नक जीव हैं, वे दो प्रकार के होते हैं, यथा—(१) संयत, (२) असंयत । जो संयत होते हैं वे दो प्रकार के होते हैं, यथा—(१) प्रमत्त संयत, (२) अप्रमत्त संयत । इनमें से जो अप्रमत्त संयत हैं वे आत्मारम्भी, परारम्भी, उभयारम्भी नहीं होते हैं, अनारम्भी होते हैं । इनमें जो प्रमत्त संयत हैं वे शुभयोग की अपेक्षा आत्मारम्भी, परारम्भी, उभयारम्भी नहीं होते हैं, अनारम्भी होते हैं तथा वे अशुभयोग की अपेक्षा आत्मारम्भी, परारम्भी, उभयारम्भी, होते हैं, अनारम्भी नहीं होते हैं । जो असंयत हैं वे अविरति की अपेक्षा आत्मारम्भी, परारम्भी, उभयारम्भी होते हैं । इसलिए यह कहा गया है कि कोई एक जीव आत्मारम्भी, परारम्भी, उभयारम्भी होता है, अनारम्भी नहीं होता है तथा कोई एक जीव आत्मारम्भी, परारम्भी, उभयारम्भी नहीं होता है, अनारम्भी होता है ।

औधिक जीवों की तरह सलेशी जीव भी कोई एक आत्मारम्भी, परारम्भी तथा उभयारम्भी है, अनारम्भी नहीं है ; कोई एक जीव आत्मारम्भी, परारम्भी, उभयारम्भी नहीं है, अनारम्भी है, सलेशी जीव सभी संसारसमापन्नक हैं अतः सिद्ध नहीं हैं ।

कृष्णलेशी, नीललेशी तथा कापोतलेशी जीव मनुष्य को छोड़कर औधिक जीव दण्डक की तरह आत्मारम्भी, परारम्भी तथा उभयारम्भी नहीं हैं । यह अविरति की अपेक्षा से कथन है । कृष्णलेशी, नीललेशी तथा कापोतलेशी मनुष्य कोई एक आत्मारम्भी, परारम्भी तथा उभयारम्भी है, अनारम्भी नहीं है ; कोई एक आत्मारम्भी, परारम्भी तथा उभयारम्भी नहीं है, अनारम्भी है लेकिन इनमें प्रमत्तसंयत भेद नहीं करने चाहिए क्योंकि इन लेश्याओं में अप्रमत्तसंयतता सम्भव नहीं है ।

यहाँ टीकाकार का कथन है कि इन लेश्याओं में प्रमत्तसंयतता भी सम्भव नहीं है ।

टीका—कृष्णादिषु हि अप्रशस्तभावलेश्यासु संयतत्वं नास्ति
× × × तद् द्रव्यलेश्यां प्रतीत्येति मन्तव्यं, ततस्तासु प्रमत्ताद्यभावः ।

टीकाकार का भाव है कि कृष्ण-नील-कापोतलेशी मनुष्यों में संयत-असंयत भेद भी नहीं करने चाहिए क्योंकि इन लेख्याओं में प्रमत्तसंयतता भी संभव नहीं है ।

लेकिन आगमों में कई स्थलों में संयत में कृष्ण-नील-कापोत लेख्या होती है—ऐसा कथन पाया जाता है । (देखो पाठ—'५३'२८ तथा '६६'१)

तेजोलेशी, पद्मलेशी तथा शुक्ललेशी जीव औधिक जीवों की तरह कोई एक आत्मारम्भी, परारम्भी, उभयारम्भी नहीं है, अनारम्भी है, कोई एक आत्मारम्भी, परारम्भी तथा उभयारम्भी है, अनारम्भी नहीं है । इनमें संयत असंयत भेद कहने चाहिए तथा संयत में प्रमत्त-अप्रमत्त भेद कहने चाहिये । अप्रमत्तसंयत अनारम्भी होते हैं । प्रमत्तसंयत शुभयोग की अपेक्षा से अनारम्भी होते हैं तथा अशुभयोग की अपेक्षा से आत्मारम्भी, परारम्भी तथा उभयारम्भी हैं, अनारम्भी नहीं हैं । तथा इन लेख्याओं में जो असंयती हैं वे अविरति की अपेक्षा से आत्मारम्भी, परारम्भी तथा उभयारम्भी हैं, अनारम्भी नहीं हैं ।

•७३ सलेशी जीव और कषाय—

'७२'१ सलेशी नारकी में कषायोपयोग के विकल्प—

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए जाव (पुढवीए तीसाए निरयावास-सयसहस्सेसु एगमेगंसि निरयावासंसि नेरइयाणं) काऊलेस्साए वट्ट-माणा ? (नेरइया किं कोहोवउत्ता माणोवउत्ता मायोवउत्ता, लोभोवउत्ता) गोयमा ! सत्तावीसं भंगा । × × × एवं सत्तवि पुढ-वीओ नेयव्वाओ, नाणत्तं लेस्सासु ।

संग्रहणी गाहा—काऊ य दोसु, तइयाए मीसिया, नीलिया चउत्थीए ।

पंचमीयाए मीसा, कण्हा तत्तो परमकण्हा ॥

—भग० श १ । उ ५ । सू १८१, १८६ । पृ० ४०१

रत्नप्रभापृथ्वी के तीस लाख नरकावासों के एक-एक नरकावास में बसे हुए कापोतलेशी नारकी क्रोधोपयोगवाले, मानोपयोगवाले, मायोपयोगवाले तथा लोभोपयोगवाले होते हैं । उनमें एकवचन तथा बहुवचन की अपेक्षा से क्रोधोपयोग आदि के निम्नलिखित २७ विकल्प होते हैं ।

(१) सर्वक्रोधोपयोगवाले, (२) बहु क्रोधोपयोगवाले, एक मानोपयोगवाला, (३) बहु क्रोधोपयोगवाले, बहु मानोपयोगवाले, (४) बहु क्रोधोपयोगवाले, एक

मायोपयोगवाले, (५) बहु क्रोधोपयोगवाले, बहु मायोपयोगवाले, (६) बहु क्रोधो-
पयोगवाले, एक लोभोपयोगवाला, (७) बहु क्रोधोपयोगवाले, बहु लोभोपयोगवाले,
(८) बहु क्रोधोपयोगवाले, एक मानोपयोगवाला, एक मायोपयोगवाला, (९) बहु
क्रोधोपयोगवाले, एक मानोपयोगवाला, बहु मायोपयोगवाले, (१०) बहु क्रोधो-
पयोगवाले, बहु मानोपयोगवाले, एक मायोपयोगवाला, (११) बहु क्रोधोपयोगवाले,
बहु मानोपयोगवाले, बहु मायोपयोगवाले, (१२) बहु क्रोधोपयोगवाले, एक मनोप-
योगवाले, एक लोभोपयोगवाला, (१३) बहु क्रोधोपयोगवाले, एक मानोपयोग-
वाला, बहु लोभोपयोगवाले, (१४) बहु क्रोधोपयोगवाले, बहु मानोपयोगवाले,
एक लोभोपयोगवाला, (१५) बहु क्रोधोपयोगवाले, बहु मानोपयोगवाले बहु
लोभोपयोगवाले, (१६) बहु क्रोधोपयोगवाले, एक मायोपयोगवाला, एक लोभो-
पयोगवाला, (१७) बहु क्रोधोपयोगवाले, एक मायोपयोगवाला, बहु लोभोपयोग-
वाला, (१८) बहु क्रोधोपयोगवाले, बहु मायोपयोगवाले, एक लोभोपयोगवाला,
(१९) बहु क्रोधोपयोगवाले, बहु मायोपयोगवाले, बहु लोभोपयोगवाले, (२०) बहु
क्रोधोपयोगवाले, एक मानोपयोगवाला, एक मानोपयोगवाला, एक लोभोपयोग-
वाला, (२१) बहु क्रोधोपयोगवाले, एक मानोपयोगवाला, एक मायोपयोगवाला,
बहु लोभोपयोगवाले, (२२) बहु क्रोधोपयोगवाले, एक मानोपयोगवाला, बहु
मायोपयोगवाले, एक लोभोपयोगवाला, (२३) बहु क्रोधोपयोगवाले, एक मानो-
पयोगवाला, बहु मायोपयोगवाले, बहु लोभोपयोगवाले, (२४) बहु क्रोधोपयोग-
वाले, बहु मानोपयोगवाले, एक मायोपयोगवाला, एक लोभोपयोगवाला, (२५)
बहु क्रोधोपयोगवाले, बहु मानोपयोगवाले, एक मायोपयोगवाला, बहु लोभोपयोग-
वाले, (२६) बहु क्रोधोपयोगवाले, बहु मानोपयोगवाले बहु मायोपयोगवाले, एक
लोभोपयोगवाला, तथा (२७) बहु क्रोधोपयोगवाले, बहु मानोपयोगवाले, बहु
मायोपयोगवाले, बहु लोभोपयोगवाले ।

इसी प्रकार सातों नरकपृथ्वी के नरकावासों के एक-एक नरकावास में बसे
हुए कापोतलेशी, नीललेशी तथा कृष्णलेशी नारकियों में क्रोधोपयोग आदि के
२७ विकल्प कहने चाहिए । लेकिन जिसमें जो लेख्या होती है वह कहनी चाहिए
तथा नरकावासों की भिन्नता जाननी चाहिए ।

‘७२’२ सलेशी पृथ्वीकायिक में कषायोपयोग के विकल्प—

असंखेज्जेसु ण भंते ! पुढविक्काइयावाससयसहस्सेसु एगमेगंसि
पुढविक्काइयावासंसि जहन्नियाए ठिइए (सन्वेसु वि ठाण्णसु) वट्टमाणा
पुढविक्काइया किं कोहोवउत्ता ? माणोवउत्ता ? मायोवउत्ता ?
लोभोवउत्ता ? गोयमा ! कोहोवउत्ता वि ? माणोवउत्ता वि ?

मायोवउत्ता वि ? लोभोवउत्ता वि ? एवं पुढविकाइयाणं सन्वेसु वि
ठाणेसु अभंगयं, नवरं तेउलेस्साए असीइ भंगा । एवं आउक्काइया वि,
तेउक्काइयवाउक्काइयाणं सन्वेसु वि ठाणेसु अभंगयं । वणस्सइकाइया
जहा पुढविकाइया । —भग० श १ । उ ५ । सू १६२ । पृ० ४०१

पृथ्वीकायिक के असंख्यात लाख आवासों में एक-एक आवास में बसे हुए
कृष्णलेशी, नीललेशी व कापोतलेशी पृथ्वीकायिक में कषायोपयोग के विकल्प
नहीं कहने चाहिए । तेजोलेशी पृथ्वीकायिक में चार कषायोपयोग के एकवचन
तथा बहुवचन की अपेक्षा से क्रोधोपयोग आदि के अस्सी विकल्प नीचे लिखे अनुसार
होते हैं ।

४ विकल्प एकवचन के, यथा—क्रोधोपयोगवाला ।

४ विकल्प बहुवचन के, यथा—क्रोधोपयोगवाले ।

२४ विकल्प द्विक संयोग से, यथा—एक क्रोधोपयोगवाला, एक मानोप-
योगवाला ।

३२ विकल्प त्रिक संयोग से, यथा—एक क्रोधोपयोगवाला, एक मानोपयोग-
वाला तथा एक मायोपयोगवाला ।

१६ विकल्प चतुष्क संयोग से, यथा—एक क्रोधोपयोगवाला, एक मानोप-
योगवाला, एक मायोपयोगवाला तथा एक लोभोपयोगवाला ।

‘७२’३ सलेशी अप्कायिक में कषायोपयोग के विकल्प—

अप्कायिक के असंख्यात लाख आवासों में एक-एक आवास में बसे हुए कृष्ण-
लेशी, नीललेशी व कापोतलेशी अप्कायिक में कषायोपयोग के विकल्प नहीं कहने
चाहिए । तेजोलेशी अप्कायिक में अस्सी विकल्प कहने चाहिए । (देखो पाठ
‘७२’२) ।

‘७२’४ सलेशी अभिकायिक में कषायोपयोग के विकल्प—

अभिकायिक के असंख्यात लाख आवासों में एक-एक आवास में बसे हुए
कृष्णलेशी, नीललेशी व कापोतलेशी अभिकायिक में कषायोपयोग के विकल्प नहीं
कहने चाहिए । (देखो पाठ ‘७२’२)

‘७२’५ सलेशी वायुकायिक में कषायोपयोग के विकल्प—

वायुकायिक के असंख्यात लाख आवासों में एक-एक आवास में बसे हुए
कृष्णलेशी, नीललेशी व कापोतलेशी वायुकायिक में कषायोपयोग के विकल्प नहीं
कहने चाहिए । (देखो पाठ ‘७२’२) ।

'७३'६ सलेशी वनस्पतिकायिक में कषायोपयोग के विकल्प—

वनस्पतिकायिक के असंख्यात लाख आवासों में एक-एक आवास में बसे हुए कृष्णलेशी, नीललेशी व कापोतलेशी वनस्पतिकायिक में कषायोपयोग के विकल्प नहीं कहने चाहिए । तेजोलेशी वनस्पतिकायिक में अस्सी विकल्प कहने चाहिए । (देखो पाठ '७३'२) ।

'७३'७ सलेशी द्वीन्द्रिय में कषायोपयोग के विकल्प—

वेइं दियतेइं दियचउरिंदियाणं जेहिं ठाणेहिं नेरइयाणं असीइभंगा तेहिं ठाणेहिं असीइं चेव, नवरं अब्भहिया सम्मत्ते आभिणिवो-हियनाणे, सुयनाणे य, एएहिं असीइभंगा, जेहिं ठाणेहिं नेरइयाणं सत्तावीसं भंगा तेसु ठाणेसु सव्वेसु अभंगयं ।

—भग० श १ । उ ५ । सू १६३ । पृ० ४०१

द्वीन्द्रिय के असंख्यात लाख आवासों में एक-एक आवास में बसे हुए कृष्णलेशी, नीललेशी व कापोतलेशी द्वीन्द्रिय में कषायोपयोग के विकल्प नहीं कहने चाहिए ।

'७३'८ सलेशी त्रीन्द्रिय में कषायोपयोग के विकल्प—

त्रीन्द्रिय के असंख्यात लाख आवासों में एक-एक आवास में बसे हुए कृष्ण-लेशी, नीललेशी व कापोतलेशी त्रीन्द्रिय में कषायोपयोग के विकल्प नहीं कहने चाहिए (देखो पाठ '७३'७) ।

'७३'९ सलेशी चतुरिन्द्रिय में कषायोपयोग के विकल्प—

चतुरिन्द्रिय के असंख्यात लाख आवासों में एक-एक आवास में बसे हुए कृष्ण-लेशी, नीललेशी व कापोतलेशी चतुरिन्द्रिय में कषायोपयोग के विकल्प नहीं कहने चाहिए (देखो पाठ '७३'७) ।

'७३'१० सलेशी तिर्यञ्च पंचेन्द्रिय में कषायोपयोग के विकल्प—

पंचिंदियतिरिक्खजोणिया जहा नेरइया तथा भाणियव्वा, नवरं जेहिं सत्तावीसं भंगा तेहिं अभंगयं कायव्वं जत्थ असीइं तत्थ असीइं चेव ।

—भग० श १ । उ ५ । सू १६४ । पृ० ४०१-२

तिर्यञ्च पंचेन्द्रिय के असंख्यात लाख आवासों में एक-एक आवास में बसे हुए कृष्णलेशी, नीललेशी, कापोतलेशी, तेजोलेशी, पद्मलेशी व शुक्ललेशी तिर्यञ्च पंचेन्द्रिय में कषायोपयोग के विकल्प नहीं कहने चाहिये ।

‘७३’११ सलेशी मनुष्य में कषायोपयोग के विकल्प—

मणुस्सा वि जेहिं ठाणेहिं नेरइयाणं असीइभंगा तेहिं ठाणेहिं मणुस्साण वि असीइभंगा भाणियव्वा, जेसु ठाणेसु सत्तावीसा तेसु अभंगयं, नवरं मणुस्साणं अब्भहियं जहन्निया ठिई (ठिइए) आहारए य असीइभंगा ।

—भग० श १ । उ ५ । सू १६५ । पृ० ४०२

मनुष्य के असंख्यात लाख आवासों में एक-एक आवास में बसे हुए कृष्णलेशी, नीललेशी, कापोतलेशी, तेजोलेशी, पद्मलेशी व शुक्ललेशी मनुष्य में कषायोपयोग के विकल्प नहीं कहने चाहिये ।

‘७३’१२ सलेशी भवनपति देव में कषायोपयोग के विकल्प—

चउसट्टीए णं भंते ! असुरकुमारावाससयसहस्सेसु एगमेगंसि असुरकुमारावासंसि असुरकुमाराणं केवइया ठिइट्टाणा पन्नत्ता ? गोयमा ! असंखेज्जा ठिइट्टाणा पन्नत्ता, जहणिया ठिई जहा नेरइया तहा, नवरं—पडिलोमा भंगा भाणियव्वा । सव्वे वि ताव होज्जा लोभोवउत्ता ; अहवा लोभोवउत्ता य, मायोवउत्ते य ; अहवा लोभोवउत्ता य, मायोवउत्ता य । एणं गमेणं (कमेणं) नेयव्वं जाव थणियकुमाराणं नवरं नाणत्तं जाणियव्वं ।

—भग० श १ । उ ५ । सू १६० । पृ० ४०१

चउसट्टीए णं भंते ! असुरकुमारावाससयसहस्सेसु एगमेगंसि असुरकुमारावासंसि असुरकुमाराणं × × × एवं लेस्सासु वि । नवरं कइ लेस्साओ पन्नत्ताओ ? गोयमा ! चत्तारि, तंजहा किण्हा, नीला, काऊ, तेऊलेस्सा । चउसट्टीए णं जाव कण्हलेस्साए चट्टमाणा किं कोहोवउत्ता ? गोयमा ! सव्वे वि ताव होज्जा लोहोवउत्ता (इत्यादि) एवं नीला, काऊ, तेऊ वि ।

—भग० श १ । उ ५ । सू १६० की टीका

असुरकुमार के चौंसठ लाख आवासों में एक-एक असुरकुमारावास में बसे हुए कृष्णलेशी, नीललेशी, कापोतलेशी व तेजोलेशी असुरकुमार में लोभोपयोग, मायोपयोग, मानोपयोग व क्रोधोपयोग के सत्ताईस विकल्प कहने चाहिए । नारकियों में क्रोध को बिना छोड़े विकल्प होते हैं परन्तु देवों में लोभ को बिना छोड़े विकल्प बनते हैं । अतः प्रतिलोभ भंग होते हैं, ऐसा कहा गया है । समस्त असुरकुमार लोभोपयुक्त होते हैं । अथवा बहुत से लोभोपयुक्त और एक मायोपयुक्त होता है । अथवा बहुत से लोभोपयुक्त और बहुत से मायोपयुक्त होते हैं, इत्यादि रूप में जानना चाहिये । इसी प्रकार नागकुमार से स्तनितकुमार तक कहना परन्तु आवासों की भिन्नता जाननी चाहिये ।

‘७३’१३ सलेशी वानव्यंतर देव में कषायोपयोग के विकल्प—

वाणमंतरजोइसवेमाणिया जहा भवणवासी, नवरं नाणत्तं जाणियव्वं जं जस्स, जाव अनुत्तरा ।

—भग० श १ । ८५ । सू १६६ । पृ० ४०२

वानव्यंतर के असंख्यात लाख आवासों में एक-एक आवास में बसे हुए कृष्ण-लेशी, नीललेशी, कापोतलेशी व तेजोलेशी वानव्यंतर में भवनवासी देवों की तरह लोभोपयोग, मायोपयोग, मानोपयोग व क्रोधोपयोग के सत्ताईस विकल्प कहने चाहिये । (देखो पाठ ‘७३’१२)

‘७३’१४ सलेशी ज्योतिषी देव में कषायोपयोग के विकल्प—

ज्योतिषी देव के असंख्यात लाख विमानावासों में एक-एक विमानावास में बसे हुए तेजोलेशी ज्योतिषी देव में भवनवासी देवों की तरह लोभोपयोग, मायोपयोग, मानोपयोग व क्रोधोपयोग के सत्ताईस विकल्प कहने चाहिये । (देखो पाठ ‘७३’१२)

‘७३’१५ सलेशी वैमानिक देव में कषायोपयोग के विकल्प—

वैमानिक देवों के भिन्न-भिन्न भेदों में भिन्न-भिन्न संख्यात विमानावासों के अनुसार एक-एक विमानावास में बसे हुए तेजोलेशी, पद्मलेशी व शुक्ललेशी वैमानिक देवों में भवनवासी देवों की तरह लोभोपयोग, मायोपयोग, मानोपयोग व क्रोधोपयोग के सत्ताईस विकल्प कहने चाहिये । (देखो पाठ ‘७३’१२)

‘७४ सलेशी जीव और त्रिविध बंध—

कइविहे णं भंते ! बंधे पन्नत्ते ? गोयमा ! तिविहे बंधे पन्नत्ते, तं जहा जीवप्पओगबंधे, अणंतरबंधे, परंपरबंधे । × × × दंसण-

मोहणिञ्जस्स णं भंते ! कम्मस्स कइविहे बंधे पन्नत्ते ? एवं चेव,
निरंतरं जाव वेमाणियाणं, × × × एवं एणं कमेणं × × × कण्ह-
लेस्साए ? जाव सुक्कलेस्साए × × × एएसि सव्वेसि पयाणं ति विहे
बंधे पन्नत्ते । सव्वे एए चउव्वीसं दंढगा भाणियव्वा, नवरं जाणियव्वं
जस्स जइ अत्थि ।

—भग० श २० । उ ७ । सू १, ८ । पृ० ८०३

कृष्णलेश्या यावत् शुक्ललेश्या का बंध तीन प्रकार का होता है जैसे—जीव-
प्रयोगबंध, अनन्तरबंध व परंपरबंध । नारकी की कापीतलेश्या का बंध भी तीन
प्रकार का होता है । यथा—जीवप्रयोगबंध, अनन्तरबंध व परंपरबंध । इसी
प्रकार यावत् वैमानिक दण्डक तक तीन प्रकार का बंध कहना चाहिये तथा
जिसके जितनी लेश्या हो उतने पद कहने चाहिये ।

जीवप्रयोगबंध—जीव के प्रयोग से अर्थात् मनःप्रभृति के व्यापार से जो बंध
हो वह जीवप्रयोगबंध है । अनन्तरबंध—जीव तथा पुद्गलों के पारस्परिक बंध
का जो प्रथम समय है वह अनन्तरबंध है ; तथा बंध होने के बाद जो दूसरे, तीसरे
आदि समय का प्रवर्तन है वह परम्परबंध है ।

७५ सलेशी जीव और कर्म बंधन—

*७५*१ सलेशी औधिक जीव-दण्डक और कर्म-बंधन—

*७५*१*१ सलेशी औधिक जीव-दण्डक और पाप कर्म-बंधन—

सलेस्से णं भंते ! जीवे पावं कम्मं किं बंधी बंधइ बंधिस्सइ (१), बंधी
बंधइ ण बंधिस्सइ (२), [बंधी ण बंधइ बंधिस्सइ (३), बंधी ण बंधइ ण
बंधिस्सइ (४)] पुच्छा ? गोयमा ! अत्थेगइए बंधी बंधइ बंधिस्सइ
(१), अत्थेगइए० एवं चउभंगो । कण्हलेस्से णं भंते ! जीवे पावं कम्मं
किं बंधी० पुच्छा ? गोयमा ! अत्थेगइए बंधी बंधइ बंधिस्सइ ;
अत्थेगइए बंधी बंधइ ण बंधिस्सइ ; एवं जाव-पम्हलेस्से सव्वत्थ पढम-
विइयाभंगा । सुक्कलेस्से जहा सलेस्से तहेव चउभंगो । अलेस्से णं भंते !
जीवे पावं कम्मं किं बंधी० पुच्छा ? गोयमा ! बंधी ण बंधइ ण
बंधिस्सइ ।

—भग० श २६ । उ १ । सू २ से ४ । पृ० ८६८

जीव के पापकर्म का बंधन चार विकल्पों से होता है, यथा—(१) कोई एक जीव बांधा है, बांधता है, बांधेगा, (२) कोई एक बांधा है, बांधता है, न बांधेगा, (३) कोई एक बांधा है, नहीं बांधता है, बांधेगा, (४) कोई एक बांधा है, न बांधता है, न बांधेगा ।

कोई एक सलेशी जीव पापकर्म बांधा है, बांधता है, बांधेगा ; कोई एक बांधा है, बांधता है, न बांधेगा ; कोई एक बांधा है, नहीं बांधता है, बांधेगा ; कोई एक बांधा है, न बांधता है, न बांधेगा ।

कोई एक कृष्णलेशी जीव प्रथम भंग से, कोई एक द्वितीय भंग से पाप कर्म का बंधन करता है । इसी प्रकार नीललेशी यावत् पद्मलेशी जीव के सम्बन्ध में जानना चाहिए । कोई एक शुक्ललेशी जीव प्रथम विकल्प से, कोई एक द्वितीय विकल्प से, कोई एक तृतीय विकल्प से, कोई एक चतुर्थ विकल्प से पापकर्म का बंधन करता है । अलेशी जीव चतुर्थ विकल्प से पापकर्म का बंधन करता है ।

नेरइए णं भंते ! पावं कम्मं किं बंधी बंधइ बंधिस्सइ ? गोयमा ! अत्थेगइए बंधी० पढमविइया । सलेस्से णं भंते ! नेरइए पावं कम्मं० ? एवं चेव । एवं कण्हलेस्से वि, नीललेस्से वि, काउलेस्से वि । × × × एवं अमुरकुमारस्स वि वत्तव्वया भाणियव्वा, नवरं तेउलेस्सा । × × × सव्वथ पढमविइया भंगा, एवं जाव थणियकुमारस्स, एवं पुढविकाइयस्स वि, आउकाइयस्स वि, जाव पंचिदियतिरिक्ख-जोणियस्स वि सव्वथ वि पढमविइया भंगा, नवरं जस्स जा लेस्सा । × × × मणूसस्स जच्चेव जीवपदे वत्तव्वया सच्चेव निरवसेसा भाणियव्वा । वाणमंतरस्स जहा अमुरकुमारस्स । जोइसियस्स वेमाणियस्स एवं चेव, नवरं लेस्साओ जाणियव्वाओ ।

—मग० श २६ । उ १ । सू १४, १५ । सू ८६६

कोई एक सलेशी नारकी प्रथम भंग से, कोई एक द्वितीय भंग से पाप कर्म का बंधन करता है । इसी प्रकार कृष्णलेशी, नीललेशी व कापोतलेशी नारकी के सम्बन्ध में जानना चाहिये । इसी प्रकार सलेशी, कृष्णलेशी, नीललेशी, कापोतलेशी व तेजोलेशी असुरकुमार भी कोई प्रथम, कोई द्वितीय विकल्प से पाप कर्म का बंधन करता है । ऐसा ही यावत् स्तनितकुमार तक कहना । इसी प्रकार सलेशी पृथ्वीकायिक व अप्कायिक यावत् पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च योनिक कोई प्रथम,

कोई द्वितीय विकल्प से पाप कर्म का बंधन करता है परन्तु जिसके जितनी लेश्या हो उतने पद कहने चाहिये । मनुष्य में जीव पद की तरह वक्तव्यता कहनी चाहिये । वानव्यंतर देव असुरकुमार देव की तरह कोई प्रथम, कोई द्वितीय भंग से पाप कर्म का बंधन करता है । इसी तरह ज्योतिषी तथा वैमानिक देव कोई प्रथम, कोई द्वितीय भंग से पाप कर्म का बंधन करता है परन्तु जिसके जितनी लेश्या हो उतने पद कहने चाहिये ।

'७५'१'२ सलेशी औधिक जीव दण्डक और ज्ञानावरणीय कर्म-बंधन—

जीवे णं भंते ! नाणावरणिज्जं कम्मं किं बंधी बंधइ बंधिस्सइ एवं जहेव पावकम्मस्स वक्तव्यता तहेव नाणावरणिज्जस्स वि भाणियव्वा, नवरं जीवपदे, मणुस्सपदे थ सकसाई, जाव लोभकसाइं मि य पढम-विइया भंगा अवसेसं तं चेव जाव वेमाणिया ।

—भग० श २६ । उ १ । सू १६ । पृ० ८६६

लेश्या की अपेक्षा ज्ञानावरणीय कर्म के बंधन की वक्तव्यता, पापकर्म-बंधन की वक्तव्यता की तरह औधिक जीव तथा नारकी यावत् वैमानिक देव के सम्बन्ध में कहनी चाहिये । प्रत्येक में सलेशी पद तथा जिसके जितनी लेश्या हो उतने पद कहने चाहिये । औधिक जीवपद तथा मनुष्यपद में अलेशी पद भी कहना चाहिये ।

'७५'१'३ सलेशी औधिक जीव-दण्डक और दर्शनावरणीय कर्म-बंधन—

एवं दरिसणावरणिज्जेण वि दंडगो भाणियव्वो निरवसेसो ।

—भग० श २६ । उ १ । सू १६ । पृ० ८६६

ज्ञानावरणीय कर्म के बंधन की वक्तव्यता की तरह दर्शनावरणीय कर्म-बंधन की वक्तव्यता भी निरवशेष कहनी चाहिये ।

'७५'१'४ सलेशी औधिक जीव-दण्डक और वेदनीय कर्म बन्धन—

जीवे णं भंते ! वेयणिज्जं कम्मं किं बंधी० पुच्छा ? गोयमा ! अत्थेगइए बंधी बंधइ बंधिस्सइ (१), अत्थेगइए बंधी बंधइ न बंधिस्सइ (२), अत्थेगइए बंधी न बंधइ न बंधिस्सइ (४) सलेस्से वि एवं चेव तइयविहूणा भंगा । कण्हेस्से जाव पण्हेस्से पढमविइया भंगा, सुकलेस्से तइ यविहूणा भंगा, अलेस्से चरिमो भंगो ।

नेरइए णं भंते ! वेयणिज्जं कम्मं किं बंधी बंधइ बंधिस्सइ० ? एवं नेरइया, जाव वेमाणिया त्ति । जस्स जं अत्थि सव्वत्थ वि पढमविइया, भंगा नवरं मणुस्से जहा जीवे ।

—भग० श २६ । उ १ । सू १७-१८ । पृ० ८६६-६००

कोई एक सलेशी जीव प्रथम विकल्प से, कोई एक द्वितीय विकल्प से, कोई एक चतुर्थ विकल्प से वेदनीय कर्म का बंधन करता है । तृतीय विकल्प से कोई भी सलेशी जीव वेदनीय कर्म का बंधन नहीं करता है । कृष्णलेशी यावत् पद्मलेशी जीव कोई प्रथम विकल्प से, कोई द्वितीय विकल्प से वेदनीय कर्म का बंधन करता है । शुक्ललेशी जीव कोई प्रथम विकल्प से, कोई द्वितीय विकल्प से, कोई चतुर्थ विकल्प से वेदनीय कर्म का बंधन करता है । अलेशी जीव चतुर्थ विकल्प से वेदनीय कर्म का बंधन करता है ।

सलेशी नारकी यावत् वैमानिक देव तक मनुष्य को छोड़कर कोई प्रथम विकल्प से, कोई द्वितीय विकल्प से वेदनीय कर्म का बंधन करता है । जिसके जितनी लेश्या हो उतने पद कहने चाहिये । मनुष्य में जीवपद की तरह वक्तव्यता कहनी चाहिये ।

‘७५’ १’ ५ सलेशी औषिक जीव-दंडक और मोहनीय कर्म-बन्धन—

जीवेण भंते ! मोहणिज्जं कम्मं किं बंधी बंधइ० जहेवं पाव कम्मं तहेव मोहणिज्जं वि निरवसेसं जाव वेमाणिए ।

—भग० श २६ । उ १ । सू १६ । पृ० ६००

मोहनीय कर्म के बंधन की वक्तव्यता निरवशेष उसी प्रकार कहती चाहिये, जिस प्रकार पाप-कर्म की बंधन वक्तव्यता कही है ।

‘७५’ १’ ६ सलेशी औषिक जीव-दंडक और आयु कर्म-बन्धन—

जीवे णं भंते ! आउयं कम्मं किं बंधी बंधइ० पुच्छा ? गोयमा ! अत्थेगइए बंधी० चउभंगो, सलेस्से जाव सुकलेस्से चत्तारि भंगा ; अलेस्से चरिमो भंगो । × × × नेरइए णं भंते ! आउयं कम्मं किं बंधी० पुच्छा ? गोयमा ! अत्थेगइए चत्तारि भंगा, एवं सव्वत्थ वि नेरइयाणं चत्तारि भंगा, नवरं कण्हलेस्से कण्हपक्खिए य पढमततिया भंगा × × × । असुरकुमारो एवं चैव, नवरं कण्हलेस्से वि चत्तारि

भंगा भाणियव्वा, सेसं जहा नेरहयाणं एवं जाव थणियकुमाराणं ।
 पुढविक्काइयाणं सव्वत्थ वि चत्तारि भंगा, नवरं कण्हपक्खिए पढम-
 तइया भंगा । तेउल्लेस्से पुच्छा ? गोयमा ! बंधी न बंधइ बंधिस्सइ ;
 सेसेसु सव्वत्थ चत्तारि भंगा । एवं आउक्काइयवणस्सइकाइयाणं वि
 निरवसेसं । तेउक्काइयवाउक्काइयाणं सव्वत्थ वि पढमतइया भंगा ।
 वेइं दियतेइं दियचउरिंदियाणं वि सव्वत्थ वि पढमतइया भंगा ।
 × × × पच्चिदियतिरिक्खजोणियाणं × × × सेसेसु चत्तारि भंगा ।
 मणुस्साण जहा जीवाणं । × × × सेसं तं चेव, वाणमंतरजोइसिय-
 वेमाणिया जहा असुरकुमारा ।

—भग० श २६ । उ १ । सू २०, २४, २५ । पृ० ६००-६०१

सलेशी जीव कृष्णलेशी जीव यावत् शुक्ललेशी जीव कोई प्रथम विकल्प से, कोई द्वितीय विकल्प से, कोई तृतीय विकल्प से, कोई चतुर्थ विकल्प से आयुर्कर्म का बंधन करता है । अलेशी जीव चतुर्थ विकल्प से आयु कर्म का बन्धन करता है । सलेशी नारकी, कापोतलेशी नारकी व नीललेशी नारकी कोई प्रथम विकल्प से, कोई द्वितीय विकल्प से, कोई तृतीय विकल्प से, कोई चतुर्थ विकल्प से आयुर्कर्म का बन्धन करता है । लेकिन कृष्णलेशी नारकी कोई प्रथम विकल्प से, कोई तृतीय विकल्प से आयुर्कर्म का बन्धन करता है । सलेशी, कृष्णलेशी यावत् तेजोलेशी असुरकुमार यावत् स्तनितकुमार कोई प्रथम विकल्प से, कोई द्वितीय विकल्प से, कोई तृतीय विकल्प से, कोई चतुर्थ विकल्प से आयुर्कर्म का बन्धन करता है । सलेशी, कृष्णलेशी, नीललेशी व कापोतलेशी पृथ्वीकायिक जीव कोई प्रथम विकल्प से, कोई द्वितीय विकल्प से, कोई तृतीय विकल्प से, कोई चतुर्थ विकल्प से आयु कर्म का बन्धन करता है । तेजोलेशी पृथ्वीकायिक जीव तृतीय विकल्प से आयुर्कर्म का बन्धन करता है । सलेशी अप्कायिक यावत् वनस्पतिकाय की वक्तव्यता पृथ्वीकायिक की वक्तव्यता की तरह जाननी चाहिये । सर्व पदों में अग्निकायिक तथा वायुकायिक जीव कोई प्रथम व कोई तृतीय विकल्प से आयुर्कर्म का बंधन करता है । द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय व चतुरिन्द्रिय जीव सर्व लेख्या पदों में इसी प्रकार कोई प्रथम व कोई तृतीय विकल्प से आयुर्कर्म का बन्धन करता है । पंचेन्द्रिय तिर्यञ्चयोनिक जीव सर्व लेख्यापदों में चार विकल्पों से आयुर्कर्म का बन्धन करता है । मनुष्य के सम्बन्ध में लेख्यापदों में औषिक जीव की तरह वक्तव्यता कहनी चाहिये । वानव्यंतर, ज्योतिषी तथा वैमानिक देव के सम्बन्ध में भी असुरकुमार की तरह वक्तव्यता कहनी चाहिए ।

‘७५’१’७ सलेशी औधिक जीव-दंडक और नामकर्म का बन्धन—

नामं गोयं अतरायं च एयाणि जहा नाणावरणिज्जं ।

—भग० श २६ । उ १ । सू २५ । पृ० ६०१

ज्ञानावरणीय कर्म के बन्धन की वक्तव्यता की तरह नामकर्म-बन्धन की वक्तव्यता कहनी चाहिये । (देखो पाठ ‘७५’१’१)

‘७५’१’८ सलेशी औधिक जीव-दंडक और गोत्रकर्म का बन्धन—

ज्ञानावरणीय कर्म के बन्धन की वक्तव्यता की तरह गोत्रकर्म-बन्धन की वक्तव्यता कहनी चाहिये । (देखो पाठ ‘७५’१’२)

‘७५’१’९ सलेशी औधिक जीव-दंडक और अंतरायकर्म का बन्धन—

ज्ञानावरणीय कर्म के बन्धन की वक्तव्यता की तरह अंतरायकर्म-बन्धन की वक्तव्यता कहनी चाहिये । (देखो पाठ ‘७५’१’२) ।

‘७५’२ सलेशी अनंतरोपपन्न जीव और कर्म का बन्धन—

सलेस्से णं भंते ! अणंतरोववन्नए नेरइए पावं कम्मं किं बंधी० पुच्छा ? गोयमा ! पढमविइया भंगा । एवं खलु सव्वत्थ पढमविइया भंगा, नवरं सम्मामिच्छत्तं मणजोगो वइजोगो य न पुच्छिज्जइ । एवं जाव—थणियकुमाराणं । वेइं दिय-तेइं दिय-चउरिंदियाणं वइजोगो न भन्नइ । पंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं वि सम्मामिच्छत्तं, ओहिनाणं, विभंगनाणं, मणजोगो, वइजोगो—एयाणि पंच पयाणि णं भन्नंति । मणुस्साणं अलेस्स-सम्मामिच्छत्त-मणपज्जवनाण-केवल्लनाण-विभंग-नाण - नोसन्नोवउत्त-अवेयग-अकसायी-मणजोग-वयजोग-अजोगि—एयाणि एकारस पदाणि ण भन्नंति । वाणंमतर-जोइसिय-वेमाणियाणं जहा नेरइयाणं तहेव ते तिन्नि न भन्नंति । सव्वेसि जाणि सेसाणि ठाणाणि सव्वत्थ पढमविइया भंगा । एगिंदियाणं सव्वत्थ पढम-विइया भंगा ।

जहा पावे एवं नाणावरणिज्जेण वि दंडओ, एवं आउयवज्जेसु जाव अंतराइए दंडओ । अणंतरोववन्नए णं भंते ! नेरइए आउयं कम्मं

किं बंधी० पुच्छा ? गोयमा ! बंधी न बंधइ बंधिस्सइ । सलेस्से णं भंते ! अणंतरोववन्नए नेरइए आउयं कम्मं किं बंधी० ? एवं चेव तइओ भंगो, एवं जाव अणागारोवउत्ते । सव्वत्थ वि तइओ भंगो । एवं मणुस्सवज्जं जाव वेमाणियाणं । मणुस्साणं सव्वत्थ तइय-चउत्था भंगा, नवरं कण्हपक्खिएसु तइओ भंगो, सज्जेसिं नाणत्ताइं ताइं चेव ।

—भग० श २६ । उ २ । सू २-४ । पृ० ६०१

सलेशी अनन्तरोपपन्न नारकी यावत् सलेशी अनंतरोपपन्न वैमानिक देव पाप-कर्म का बंधन कोई प्रथम भंग से तथा कोई द्वितीय भंग से करता है । जिसके जितनी लेख्या हो उतने पद कहने चाहिये । अनन्तरोपपन्न अलेशी की पृच्छा नहीं करनी चाहिये, क्योंकि अनन्तरोपपन्नक अलेशी नहीं होता है ।

आयु को छोड़कर बाकी सातों कर्मों के सम्बन्ध में पापकर्म-बंधन की तरह ही सब अनन्तरोपपन्न सलेशी दण्डकों का दिवेचन करना चाहिये ।

अनन्तरोपपन्न सलेशी नारकी तीसरे भंग से आयुकर्म का बंधन करता है । मनुष्य को छोड़कर दण्डक में वैमानिक देव तक ऐसा ही कहना चाहिये । मनुष्य कोई तीसरे तथा कोई चौथे भंग से आयुकर्म का बंधन करता है ।

जिसमें जितनी लेख्या हो उतने पद कहने चाहिये ।

'७५'३ सलेशी परंपरोपपन्न जीव और कर्म-बंधन—

परंपरोववन्नए णं भंते ! नेरइए पावं कम्मं किं बंधी० पुच्छा ? गोयमा ! अत्थेगइए पढम-विइया । एवं जहेव पढमो उद्देसओ तहेव परंपरोववन्नएहि वि उद्देसओ भाणियव्वो, नेरइयाइओ तहेव नवदंडग-संगहिओ । अट्टण्ह वि कम्मप्पगडीणं जा जस्स कम्मस्स वत्तव्वया सा तस्स अहीणमइरित्ता नेयव्वा जाव वेमाणिया अणागारोवउत्ता ।

—भग० श २६ । उ ३ । सू १ । पृ० ६०१

परंपरोपपन्न सलेशी जीव-दण्डक के सम्बन्ध में वैसे ही कहना चाहिये, जैसे बिना परंपरोपपन्न विशेषण वाले सलेशी जीव-दण्डक के सम्बन्ध में पापकर्म तथा अष्टकर्म के बंधन के विषय में कहा है ।

'७५'४ सलेशी अनंतरावगाढ जीव और कर्म-बंधन—

अणंतरोगाढए णं भंते ! नेरइए पावं कम्मं किं बंधी० पुच्छा ? गोयमा ! अत्थेगइए० एवं जहेव अणंतरोववन्नएहिं नवदंडगसंगहिओ उहेसो भणिओ तहेव अणंतरोगाढएहि वि अहीणमइरित्तो भाणियव्वो नेरइयादीए जाव वेमाणिए ।

—भग० श २६ । उ ४ । सू १ । पृ० ६०१

सलेशी अनंतरावगाढ जीव-दण्डक के सम्बन्ध में वैसे ही कहना चाहिये, जैसे अनंतरोपपन्न विशेषण वाले सलेशी जीव, दण्डक के सम्बन्ध में पापकर्म तथा अष्टकर्म के बंधन के विषय में कहा है । टीकाकार के अनुसार अनन्तरोपपन्न तथा अनन्तरावगाढ में एक समय का अन्तर होता है ।

'७५'५ सलेशी परंपरावगाढ जीव और कर्म-बंधन—

परंपरोगाढए णं भंते ! नेरइए पावं कम्मं किं बंधी० ? जहेव परंपरोववन्नएहिं उहेसो सो चेव निरवसेसो भाणियव्वो ।

—भग० श २६ । उ ५ । सू १ पृ० ६०१-६०२

सलेशी परंपरावगाढ जीव-दण्डक के सम्बन्ध में वैसे ही कहना चाहिए, जैसे परंपरोपपन्न विशेषण वाले सलेशी जीव-दण्डक के सम्बन्ध में पापकर्म तथा अष्टकर्म बन्धन के विषय में कहा है ।

'७५'६ सलेशी अनंतराहारक जीव और कर्म-बंधन—

अणंतराहारए णं भंते ! नेरइए पावं कम्मं किं बंधी० पुच्छा ? गोयमा ! एवं जहेव अणंतरोववन्नएहिं उहेसो तहेव निरवसेसं ।

—भग० श २६ । उ ६ । सू १ । पृ० ६०२

सलेशी अनंतराहारक जीव-दण्डक के सम्बन्ध में वैसे ही कहना चाहिए, जैसे अनंतरोपपन्न विशेषण वाले सलेशी जीव-दण्डक के सम्बन्ध में पापकर्म तथा अष्टकर्म बंधन के विषय में कहा है ।

'७५'७ सलेशी परंपराहारक जीव और कर्म-बंधन—

परंपराहारए णं भंते ! नेरइए पावं कम्मं० किं बंधी० पुच्छा ? गोयमा ! एवं जहेव परंपरोववन्नएहिं उहेसो तहेव निरवसेसो भाणियव्वो ।

—भग० श २६ । उ ७ । सू १ । पृ० ६०२

सलेशी परंपराहारक जीव-दंड के सम्बन्ध में वैसे ही कहना चाहिए, जैसे परंपरोपपन्न विशेषण वाले सलेशी जीव-दंडक के सम्बन्ध में पापकर्म तथा अष्टकर्म बंधन के विषय में कहा है ।

‘७५’८ सलेशी अनंतरपर्याप्त जीव और कर्म-बन्धन—

अणंतरपञ्जत्तए णं भंते ! नेरइए पावं कम्मं किं बंधी० पुच्छा ? गोयमा ! जहेव अणंतरोववन्नएहिं उद्देसो तहेव निरवसेसं ।

—भग० श २६ । उ ८ । सू १ । पृ० ६०२

सलेशी अनंतरपर्याप्त जीव-दंडक के सम्बन्ध में वैसे ही कहना चाहिये, जैसे अनंतरोपपन्न विशेषण वाले सलेशी जीव-दंडक के सम्बन्ध में पापकर्म तथा अष्ट-कर्म बंधन के विषय में कहा है ।

‘७५’९ सलेशी परंपरपर्याप्त जीव और कर्म-बन्धन—

परंपरपञ्जत्तए णं भंते ! नेरइए पावं कम्मं किं बंधी० पुच्छा ? गोयमा ! एवं जहेव परंपरोववन्नएहिं उद्देसो तहेव निरवसेसो भाणियव्वो ।

—भग० श २६ । उ ९ । सू १ । पृ० ६०२

सलेशी परंपरपर्याप्त जीव-दण्डक के सम्बन्ध में वैसे ही कहना चाहिए, जैसे परंपरोपपन्न विशेषण वाले सलेशी जीव-दण्डक के सम्बन्ध में पापकर्म तथा अष्टकर्म बंधन के विषय में कहा है ।

‘७५’१० सलेशी चरम जीव और कर्मबन्धन—

चरिमे णं भंते ! नेरइए पावं कम्मं किं बंधी० पुच्छा ? गोयमा ! एवं जहेव परंपरोववन्नएहिं उद्देसो तहेव चरिमेहिं निरवसेसो ।

—भग० श २६ । उ १० । सू १ । पृ० ६०२

सलेशी चरम जीव-दण्डक के सम्बन्ध में वैसे ही कहना चाहिए, जैसे परंपरोपपन्न विशेषण वाले सलेशी जीव-दण्डक के सम्बन्ध में पापकर्म तथा अष्ट-कर्म बंधन के विषय में कहा है ।

टीकाकार के अनुसार चरम मनुष्य के आयुकर्म के बंधन की अपेक्षा से केवल चतुर्थ भंग ही घट सकता है । क्योंकि जो चरम मनुष्य है उसने पूर्व में आयु बांधा है, लेकिन वर्तमान में बांधता नहीं है तथा भविष्यत् काल में भी नहीं बांधेगा ।

'७५'११ सलेशी अचरम जीव और कर्मबन्धन—

अचरिमे णं भंते ! नेरइए पावं कम्मं किं बंधी० पुच्छा ? गोयमा ! अत्थेगइए० एवं जहेव पढमुद्देसए, तहेव पढम-विइया भंगा भाणियव्वा सव्वत्थ जाव पंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं ।

सलेस्से णं भंते ! अचरिमे मणुस्से पावं कम्मं किं बंधी० ? एवं चेव तिन्नि भंगा चरिमविहूणा भाणियव्वा एवं जहेव पढमुद्देसे । नवरं जेसु तत्थ वीससु चत्तारि भंगा तेसु इह आदिल्ला तिन्नि भंगा भाणियव्वा चरिमभंगवज्जा । अलेस्से केवल्लनाणी य अजोगी य ए ए तिन्नि वि न पुच्छिज्जंति, सेसं तहेव । वाणमंतर-जोइसियवेमाणिए जहा नेरइए । अचरिमे णं भंते ! नेरइए नाणावरणिज्जं कम्मं किं बंधी० पुच्छा ? गोयमा ! एवं जहेव पावं० । नवरं मणुस्सेसु सकसाईसु लोभकसाईसु य पढम-विइया भंगा, सेसा अट्टारस चरिमविहूणा, सेसं तहेव जाव वेमाणियाणं । दरिसणावरणिज्जं वि एवं चेव निरवसेसं । बेयणिज्जे सव्वत्थ वि पढम-विइया भंगा जाव वेमाणियाणं, नवरं मणुस्सेसु अलेस्से, केवली अजोगी य तत्थि । अचरिमे णं भंते ! नेरइए मोहणिज्जं कम्मं किं बंधी० पुच्छा ? गोयमा ! जहेव पावं तहेव निरवसेसं जाव वेमाणिए ।

अचरिमे णं भंते । नेरइए आउयं कम्मं किं बंधी० पुच्छा ? गोयमा ! पढम-विइया (तइया) भंगा । एवं सव्वपदेसु वि । नेरइया वि पढम-तइया भंगा, नवरं सम्मामिच्छत्ते तइओ भंगो, एवं जाव थणियकुमाराणं । पुढविकाइय-आउकाइय-वणस्सइकाइयाणं तेऊलेस्साए तइओ भंगो, सेसेसु पदेसु सव्वत्थ पढम-तइया भंगा, तेऊकाइय-वाउकाइयाणं सव्वत्थ पढम-तइया भंगा ? वेइं दिय-तेइं दिय-चउरिंदियाणं एवं चेव, नवरं सम्मत्ते ओहिनाणे आभिणिबोहियनाणे सुयनाणे एएसु चउसु वि ठाणेसु तइओ भंगो पंचिन्दियतिरिक्खजोणियाणं सम्मामिच्छत्ते तइओ भंगो । सेसेसु पदेसु सव्वत्थ पढम-तइया भंगा । मणुस्साणं सम्मामिच्छत्ते अवेदए अकसाइम्मि य तइओ

भंगो । अलेस्स-केवलनाण-अजोगी य न पुच्छिज्जंति । सेसपदेसु सन्वत्थ पढम-तइया भंगा ; वाणमंतर-जोइसिय-वेमाणिया जहा नेरइवा । नामं गोयं अंतराइयं च जहेव नाणावरणिज्जं तहेव निरवसेसं ।

—भग० श २६ । उ ११ । सू १-६ । पृ० ६०२-६०३

सलेशी अचरम नारकी से दण्डक में सलेशी अचरम तिर्यंच पंचेन्द्रिय जीवों तक के जीव पापकर्म का बन्धन प्रथम और द्वितीय भंग से करते हैं ।

सलेशी अचरम मनुष्य प्रथम तीन भंगों से पापकर्म का बन्धन करता है । अलेशी मनुष्य के सम्बन्ध में अचरमता का प्रश्न नहीं करना चाहिए । क्योंकि अचरम अलेशी नहीं होता है । सलेशी अचरम वानव्यंतर, ज्योतिषी तथा वैमानिक देव सलेशी अचरम नारकी की तरह प्रथम और दूसरे भंग से पापकर्म का बन्धन करते हैं ।

सलेशी अचरम नारकी ज्ञानावरणीय कर्म का बन्धन प्रथम और द्वितीय भंग से करता है, मनुष्य को छोड़कर यावत् वैमानिक देवों तक इसी प्रकार जानना चाहिए । सलेशी अचरम मनुष्य ज्ञानावरणीय कर्म का बन्धन प्रथम तीन भंग से करता है । ज्ञानावरणीय कर्म की तरह दर्शनावरणीय कर्म का वर्णन करना चाहिए । वेदनीय कर्म के बन्धन में सब दण्डकों में प्रथम और द्वितीय भंग से बन्धन होता है लेकिन मनुष्य में अलेशी का प्रश्न नहीं करना चाहिए ।

सलेशी अचरम नारकी मोहनीय कर्म का बन्धन प्रथम और द्वितीय भंग से करता है बाकी सलेशी अचरम दण्डक में जैसा पापकर्म के बन्धन के सम्बन्ध में कहा, वैसा ही निरवशेष कहना चाहिए ।

सलेशी अचरम नारकी आयुर्कर्म का बन्धन प्रथम और तृतीय भंग से करता है । इसी प्रकार यावत् सलेशी अचरम स्तनितकुमार तक दण्डक के जीव प्रथम और तृतीय भंग से आयुर्कर्म का बन्धन करते हैं । अचरम तेजोलेशी पृथ्वीकायिक, अप्पकायिक व वनस्पतिकायिक जीव केवल तृतीय भंग से आयुर्कर्म का बन्धन करता है । कृष्णलेशी, नीललेशी व कापोतलेशी अचरम पृथ्वीकायिक, अप्पकायिक व वनस्पतिकायिक जीव प्रथम और तृतीय भंग से आयुर्कर्म का बन्धन करता है । सलेशी अचरम अग्निकायिक व वायुकायिक जीव प्रथम और तृतीय भंग से आयुर्कर्म का बन्धन करता है । इसी प्रकार सलेशी अचरम द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय व चतुरिन्द्रिय प्रथम और तृतीय भंग से आयुर्कर्म का बन्धन करता है । सलेशी अचरम तिर्यञ्च पंचेन्द्रिय प्रथम और तृतीय भंग से ; सलेशी अचरम मनुष्य भी

प्रथम और तृतीय भंग से, सलेशी अक्षरम वानव्यंतर, ज्योतिषी तथा वैमानिक देव नारकी की तरह प्रथम और तृतीय भंग से आयुर्कर्म का बन्धन करता है ।

नाम, गोत्र, अन्तराय सम्बन्धी पद ज्ञानावरणीय कर्म की वक्तव्यता की तरह जानना चाहिए ।

अक्षरम विशेषण से अलेशी की पृच्छा नहीं करनी चाहिए ।

‘७६ सलेशी जीव और कर्म का करना—

जीवे (जीवा) णं भंते ! पावं कम्मं किं करिंसु करेति करेस्सति (१), करिंसु करेति न करेस्सति (२), करिंसु न करेति करेस्सति (३), करिंसु न करेति न करेस्सति (४), ? गोयमा ! अत्थेगइए करिंसु करेति करेस्सति (१), अत्थेगइए करिंसु करेति न करेस्सति (२), अत्थेगइए करिंसु न करेति करेस्सति (३), अत्थेगइए करिंसु न करेति न करेस्सति (४), सलेस्से णं भंते ! जीवे पावं कम्मं ? एवं एणं अभि-
लावेणं बंधिसए वत्तवया सच्चेव निरवसेसा भाणियन्वा, तद्देव
नवदंडगसंगहिया एक्कारस उद्देस्सगा भाणियन्वा ।

—भग० श २७ । उ १ । सु १-२ । पृ० ६०३

पापकर्म का करना चार विकल्प से होता है—(१) किया है, करता है, करेगा, (२) किया है; करता है, न करेगा, (३) किया है, नहीं करता है, करेगा, (४), किया है, नहीं करता है और न करेगा ।

सलेशी जीव ने पापकर्म तथा अष्टकर्म किया है इत्यादि उसी प्रकार कहने चाहिये जैसे बंधन शतक में (देखो ‘७५) नवदण्डक सहित एकादश उद्देशक कहे गए हैं ।

‘७७ सलेशी जीव और कर्म का समर्जन-समाचरण—

जीवा णं भंते ! पावं कम्मं कहिं समज्जिणिंसु, कहिं समायरिंसु ? गोयमा ! सव्वे वि ताव तिरिक्खजोणिंसु होज्जा (१), अहवा तिरिक्खजोणिंसु य नेरइंसु य होज्जा (२), अहवा तिरिक्खजोणिंसु य मणुस्सेंसु य होज्जा (३), अहवा तिरिक्खजोणिंसु य देवेसु य होज्जा

(४), अहवा तिरिक्खजोणिएसु य नेरइएसु य मणुस्सेसु य होज्जा (५), अहवा तिरिक्खजोणिएसु य नेरइएसु य देवेसु य होज्जा (६), अहवा तिरिक्खजोणिएसु य मणुस्सेसु य देवेसु य होज्जा (७), अहवा तिरिक्खजोणिएसु य नेरइएसु य मणुस्सेसु य देवेसु य होज्जा (८) ।

सलेस्सा णं भंते ! जीवा पावं कम्मं कहिं समज्जिणिसु, कहिं समायरिसु ? एवं चेव । एवं कण्हलेस्सा जाव अलेस्सा । × × × नेरइयाणं भंते ! पावं कम्मं कहिं समज्जिणिसु, कहिं समायरिसु ? गोयमा ! सव्वे वि ताव तिरिक्खजोणिएसु होज्जा त्ति—एवं चेव अट्ठ भंगा भाणियव्वा । एवं सव्वत्थ अट्ठ भंगा, एवं जाव अणागारोवउत्ता वि । एवं जाव वेमाणियाणं । एवं नाणावरणिज्जेण वि दंडओ, एवं जाव अंतराइएणं । एवं एए जीवादीया वेमाणियपज्जवसाणा नव दंडगा भवंति ।

—भग० श २८ । उ १ । पृ० १०३

जीवों ने किस गति में पापकर्म का समर्जन किया—उपार्जन किया तथा किस गति में पापकर्म का समाचरण किया—पापकर्म की हेतुभूत पापक्रिया का आचरण किया । (१) वे सर्व जीव तिर्यञ्चयोनि में थे, (२) अथवा तिर्यञ्चयोनि में तथा नारकियों में थे, (३) अथवा तिर्यञ्च भोनि में तथा मनुष्यों में थे, (४) अथवा तिर्यञ्चयोनि में तथा देवों में थे, (५) अथवा तिर्यञ्चयोनि में, नारकियों तथा मनुष्यों में थे, (६) अथवा तिर्यञ्चयोनि में, नारकियों तथा देवों में थे, (७) अथवा तिर्यञ्चयोनि में, मनुष्यों तथा देवों में थे, (८) अथवा तिर्यञ्चयोनि में, नारकियों, मनुष्यों तथा देवों में थे । इन आठ अवस्थाओं में जीवों ने पापकर्म का समर्जन तथा समाचरण किया था ।

सलेशी जीवों ने पापकर्म का समर्जन तथा समाचरण उपर्युक्त आठ विकल्पों में किया था । इसी प्रकार कृष्णलेशी यावत् शुक्ललेशी व अलेशी जीवों ने पापकर्म का समर्जन तथा समाचरण आठ विकल्पों में किया था । सलेशी नारकी जीवों ने भी पापकर्म का समर्जन तथा समाचरण आठ विकल्पों में किया था । इसी प्रकार यावत् वैमानिक देवों तक जानना चाहिए । सलेशी यावत् अलेशी जीवों ने ज्ञानावरणीय यावत् अंतराय—अष्ट कर्मों का समर्जन तथा समाचरण आठ विकल्पों में किया था । इसी प्रकार नारकी यावत् वैमानिक जीवों ने पापकर्म

तथा अष्टकर्मों का समर्जन तथा समाचरण आठ विकल्पों में किया था । पापकर्म तथा अष्टकर्म के अलग-अलग नौ दण्डक कहने चाहिए ।

अनंतरोचवन्नगा णं भंते ! नेरइया पावं कम्मं कहिं समज्जिणिसु, कहिं समायरिसु ? गोयमा ! सव्वे वि ताव तिरिक्खजोणिएसु होज्जा, एवं एत्थ वि अट्ठ भंगा । एवं अनंतरोचवन्नगाणं नेरइया(ई)णं जस्स जं अत्थि लेस्सादीयं अणागारोवओगपज्जवसाणं तं सव्वं एयाए भयणाए भाणियव्वं जाव वेमाणियाणं, नवरं अणंतरेसु जे परिहरियव्वा ते जहा बंधिसए तथा इहं वि । एव नाणावरणिज्जेण वि दंडओ, एवं जाव अंतराइएणं निरवसेसं । एसो वि नवदंडगसंगहिओ उद्देशओ भाणियव्वो ।

एवं एएणं कमेणं जहेव बंधिसए उद्देशगाणं परिवाढी तहेव इहं वि अट्ठसु भंगेसु नेयव्वा । नवरं जाणियव्वं जं जस्स अत्थि तं तस्स भाणियव्वं जाव अत्तरिसुद्देशो । सव्वे वि एए एकारस उद्देशगा ।

—भग० श २८ । उ २ से ११ । पृ० ६८६-८७

सलेशी अनंतरोपपन्न नारकी जीवों ने पापकर्म का समर्जन तथा समाचरण आठ विकल्पों में किया था । यावत् सलेशी अनंतरोपपन्न वैमानिक देवों ने पापकर्म का समर्जन तथा समाचरण आठ विकल्पों में किया था । जिसमें जितनी लेश्या होती है उतने ही पद कहने चाहिए । पापकर्म, ज्ञानावरणीय यावत् अंतराय कर्म के नौ दण्डक निरवशेष कहने चाहिए । इस प्रकार नव दण्डक सहित उद्देशक कहने चाहिए ।

इस प्रकार क्रम से सलेशी परंपरोपपन्न यावत् सलेशी अचरम जीवों के नव उद्देशक (मोट ११ उद्देशक) कहने चाहिए । जिस जीव में जितनी लेश्या हो, उतने पद कहने चाहिए ।

विवेचन—देवों में एकवचन तथा बहुवचन की अपेक्षा से लोभोपयोग आदि के निम्नलिखित प्रतिलोभ भंग २७ होते हैं—(देखो पाठ '७३'१२)

असंयोगी १ भंग—

सभी लोभी अर्थात् सर्वलोभोपयोगवाले ।

द्विक संयोगी ६ भंग—

(१) बहु लोभोपयोगवाले, एक मायोपयोगवाला, (२) बहु लोभोपयोगवाले, बहु मायोपयोगवाले, (३) बहु लोभोपयोगवाले, एक मानोपयोगवाला, (४) बहु लोभोपयोगवाले, बहु मानोपयोगवाले, (५) बहु लोभोपयोगवाले, एक क्रोधोपयोगवाला, (६) बहु लोभोपयोगवाले, बहु क्रोधोपयोगवाले ।

त्रिक संयोगी १२ भंग—

(१) बहुत लोभोपयोगवाले, एक मायोपयोगवाला, एक मानोपयोगवाला, (२) बहुत लोभोपयोगवाले, एक मायोपयोगवाला, बहुत मानोपयोगवाले, (३) बहुत लोभोपयोगवाले, बहुत मायोपयोगवाले, एक मानोपयोगवाला, (४) बहुत लोभोपयोगवाले, बहुत मायोपयोगवाले, बहुत मानोपयोगवाले, (५) बहुत लोभोपयोगवाले, एक मायोपयोगवाला, एक क्रोधोपयोगवाला, (६) बहुत लोभोपयोगवाले, एक मायोपयोगवाला, बहुत क्रोधोपयोगवाले, (७) बहुत लोभोपयोगवाले, बहुत मायोपयोगवाले, एक क्रोधोपयोगवाला, (८) बहुत लोभोपयोगवाले, बहुत मायोपयोगवाले, बहुत क्रोधोपयोगवाले, (९) बहुत लोभोपयोगवाले, एक मानोपयोगवाला, एक क्रोधोपयोगवाला, (१०) बहुत लोभोपयोगवाले, एक मानोपयोगवाला, बहुत क्रोधोपयोगवाले, (११) बहुत लोभोपयोगवाले, बहुत मानोपयोगवाले, एक क्रोधोपयोगवाला, (१२) बहुत क्रोधोपयोगवाले, बहुत मानोपयोगवाले, बहुत क्रोधोपयोगवाले ।

चतुः संयोगी ८ भंग—

(१) बहुत लोभोपयोगवाले, एक मायोपयोगवाला, एक मानोपयोगवाला, एक क्रोधोपयोगवाला, (२) बहुत लोभोपयोगवाले, एक मायोपयोगवाला, एक मानोपयोगवाला, बहुत क्रोधोपयोगवाले, (३) बहुत लोभोपयोगवाले, एक मायोपयोगवाला, बहुत मानोपयोगवाले, एक क्रोधोपयोगवाला, (४) बहुत लोभोपयोगवाले, एक मायोपयोगवाला, बहुत मानोपयोगवाले, बहुत क्रोधोपयोगवाले, (५) बहुत लोभोपयोगवाले, बहुत मायोपयोगवाले, एक मानोपयोगवाला, एक लोभोपयोगवाला, (६) बहुत लोभोपयोगवाले, बहुत मायोपयोगवाले, एक मानोपयोगवाला, बहुत क्रोधोपयोगवाले, (७) बहुत लोभोपयोगवाले, बहुत मायोपयोगवाले, बहुत मानोपयोगवाले, एक क्रोधोपयोगवाला, (८) बहुत लोभोपयोगवाले, बहुत मायोपयोगवाले, बहुत मानोपयोगवाले, बहुत क्रोधोपयोगवाले ।

इन सत्ताईस ही भंगों में 'लोभ' शब्द को बहुवचनान्त ही रखना चाहिए । असुरकुमारादि में कृष्ण, नील, कापोत और तेजो—ये चार लेश्याएँ होती हैं ।

जहाँ नारकियों में २७ भंग—क्रोध, मान, माया, लोभ—इस क्रम से कहे गये हैं वहाँ देवों में उल्ट कहना चाहिए, अर्थात् लोभ, माया, मान, क्रोध इस रीति से कहना चाहिए ।

जिन-जिन स्थानों वाले नारकी जीव शाश्वत मिलते हैं उनमें २७ भंग होते हैं ।

तेजोलेशी पृथ्वीकायिक में, तेजोलेशी अप्कायिक में तथा तेजोलेशी वनस्पति-कायिक में चार कषायोपयोग के एकवचन तथा बहुवचन की अपेक्षा से क्रोधोपयोग आदि के निम्नलिखित अस्सी विकल्प—भंग होते हैं (देखो '७३.२)

असंयोगी ८ भंग

(१) एक क्रोधोपयोगवाला, (२) एक मानोपयोगवाला, (३) एक मायोपयोगवाला, (४) एक लोभोपयोगवाला, (५) बहुत क्रोधोपयोगवाले, (६) बहुत मानोपयोगवाले, (७) बहुत मायोपयोगवाले, (८) बहुत लोभोपयोगवाले ।

द्विक संयोगी २४ भंग

(१) एक क्रोधोपयोगवाला, और एक मानोपयोगवाला, (२) एक क्रोधोपयोगवाला, और बहुत मानोपयोगवाले, (३) बहुत क्रोधोपयोगवाले, और एक मानोपयोगवाला, (४) बहुत क्रोधोपयोगवाले, और बहुत मानोपयोगवाले, (५) एक क्रोधोपयोगवाला, और एक मायोपयोगवाला, (६) एक क्रोधोपयोगवाला, और बहुत मानोपयोगवाले, (७) बहुत क्रोधोपयोगवाले, और एक मानोपयोगवाला, (८) बहुत क्रोधोपयोगवाले, और बहुत मानोपयोगवाले, (९) एक क्रोधोपयोगवाला, और एक लोभोपयोगवाला, (१०) एक क्रोधोपयोगवाला, और बहुत लोभोपयोगवाले, (११) बहुत क्रोधोपयोगवाले, और एक लोभोपयोगवाला, (१२) बहुत क्रोधोपयोगवाले, और बहुत लोभोपयोगवाले, (१३) एक मानोपयोगवाला, और एक मायोपयोगवाला, (१४) एक मानोपयोगवाला, और बहुत मायोपयोगवाले, (१५) बहुत मानोपयोगवाले, और एक मायोपयोगवाला, (१६) बहुत मानोपयोगवाले, और बहुत मायोपयोगवाले, (१७) एक मानोपयोगवाला, और एक लोभोपयोगवाला, (१८) एक मानोपयोगवाला, और बहुत लोभोपयोगवाले, (१९) बहुत मानोपयोगवाला, और एक लोभोपयोगवाला, (२०) बहुत मानोपयोगवाले, और बहुत लोभोपयोगवाले, (२१) एक मायोपयोगवाला, और एक लोभोपयोगवाला, (२२) एक मायोपयोगवाला, और बहुत लोभोपयोगवाले, (२३) बहुत मायोपयोगवाले, और एक लोभोपयोगवाला, (२४) बहुत मायोपयोगवाले, और बहुत लोभोपयोगवाले ।

चतुः सयोगी १६ भंग

(१) एक क्रोधोपयोगवाला, एक मानोपयोगवाला, एक मायोपयोगवाला और एक लोभोपयोगवाला, (२) एक क्रोधोपयोगवाला, एक मानोपयोगवाला, एक मायोपयोगवाला और बहुत लोभोपयोगवाले, (३) एक क्रोधोपयोगवाला, एक मानोपयोगवाला, बहुत मायोपयोगवाले, और एक लोभोपयोगवाला, (४) एक क्रोधोपयोगवाला, एक मानोपयोगवाला, बहुत मायोपयोगवाले और बहुत लोभोपयोगवाले, (५) एक क्रोधोपयोगवाला, बहुत मानोपयोगवाले, बहुत मायोपयोगवाले और एक लोभोपयोगवाला, (६) एक क्रोधोपयोगवाला, एक मानोपयोगवाला, बहुत मायोपयोगवाले और बहुत लोभोपयोगवाले, (७) एक क्रोधोपयोगवाला, बहुत मानोपयोगवाले, बहुत मायोपयोगवाले और एक लोभोपयोगवाला, (८) एक क्रोधोपयोगवाला, बहुत मानोपयोगवाले, बहुत मायोपयोगवाले और बहुत लोभोपयोगवाले, (९) बहुत क्रोधोपयोगवाले, एक मानोपयोगवाला, एक मायोपयोगवाला, और एक लोभोपयोगवाला, (१०) बहुत क्रोधोपयोगवाले, एक मानोपयोगवाला, एक मायोपयोगवाला, और बहुत लोभोपयोगवाले, (११) बहुत क्रोधोपयोगवाले, एक मानोपयोगवाला, बहुत मायोपयोगवाले, और एक लोभोपयोगवाला, (१२) बहुत क्रोधोपयोगवाले, एक मानोपयोगवाला, बहुत मायोपयोगवाले और बहुत लोभोपयोगवाले, (१३) बहुत क्रोधोपयोगवाले, बहुत मानोपयोगवाले, एक मायोपयोगवाला, और एक लोभोपयोगवाला, (१४) बहुत क्रोधोपयोगवाले, बहुत मानोपयोगवाले, एक मायोपयोगवाले, और बहुत लोभोपयोगवाले, (१५) बहुत क्रोधोपयोगवाले, बहुत मानोपयोगवाले, बहुत मायोपयोगवाले, और एक लोभोपयोगवाले, (१६) बहुत क्रोधोपयोगवाले, बहुत मानोपयोगवाले, बहुत मायोपयोगवाले, और बहुत लोभोपयोगवाले ।

अस्तु नारकी और देवों में जिन-जिन स्थानों में सत्ता की अपेक्षा विरह न हो वहाँ २७ भंग और जहाँ विरह हो वहाँ अस्ती भंग होते हैं । औदारिक के दस दंडकों में (पाँच स्थावर, ३ विकलेन्द्रिय, तिर्यञ्च पंचेन्द्रिय व मनुष्य) जो बोल निरन्तर मिलते हैं वहाँ अर्भग और जहाँ निरन्तर नहीं मिलते हैं उनमें अस्ती भंग होते हैं ।

अस्तु नारकी जीवों में अधिकांशतः क्रोध का ही उदय होता है अतः नारकियों में अधिकांशतः तत्ताईस भंग कहे गये हैं । किन्तु मनुष्य में क्रोधादि सभी कषायों में उपयुक्त बहुत जीव पाये जाते हैं अतः उनके कषायोदय में खास विशेषता नहीं है अतः मनुष्य के सम्बन्ध में अर्भगक (भंगों का अभाव) बतलाया गया है ।

‘७८ सलेशी जीव और कर्म का प्रारम्भ व अन्त—

जीवा णं भंते ! पावं० किं समायं पट्टविसु समायं निट्टविसु (१), समायं पट्टविसु विसमायं निट्टविसु (२), विसमायं पट्टविसु समायं निट्टविसु (३), विसमायं पट्टविसु विसमायं निट्टविसु (४), ? गोयमा ! अत्थेगइया समायं पट्टविसु समायं निट्टविसु, जाव अत्थेगइया विसमायं पट्टविसु विसमायं निट्टविसु । से केणट्ठेणं णं भंते ! एवं बुच्चइ—अत्थेगइया समायं पट्टविसु समायं निट्टविसु, तं चेव ? गोयमा ! जीवा चउव्विहा पन्नत्ता, तं जहा—अत्थेगइया समाउया समोववन्नगा (१) अत्थेगइया समाउया विसमोववन्नगा (२) अत्थेगइया विसमाउया समोववन्नगा (३), अत्थेगइया विसमाउया विसमोववन्नगा (४), तत्थणं जे ते समाउया समोववन्नगा ते णं पावं कम्मं समायं पट्टविसु समायं निट्टविसु । तत्थणं जे ते समाउया विसमोववन्नगा ते णं पावं कम्मं समायं पट्टविसु विसमायं निट्टविसु । तत्थ णं जे ते विसमाउया समोववन्नगा ते णं पावं कम्मं विसमायं पट्टविसु समायं निट्टविसु । तत्थ णं जे ते विसमाउया विसमोववन्नगा ते णं पावं कम्मं विसमायं पट्टविसु विसमायं निट्टविसु । से तेणट्ठेणं गोयमा ! तं चेव ।

सलेस्सा णं भंते ! जीवा पावं कम्मं० ? एवं चेव, एवं सव्वट्ठाणेषु वि जाव अणागारोवउत्ता । एए सव्वे वि पया एयाए वत्तव्वयाए भाणियव्वा ।

नेरइया णं भंते ! पावं कम्मं किं समायं पट्टविसु समायं निट्टविसु पुच्छा ? गोयमा ! अत्थेगइया समायं पट्टविसु, एवं जहेव जीवाणं तहेव भाणियव्वं जाव अणागारोवउत्ता । एवं जाव वेभाणियाणं जस्स जं अत्थि तं एएणं चेव कमेणं भाणियव्वं । जहा पावेण (कस्मेण) दंडओ, एएणं कमेणं अट्टसु वि कम्मप्पगडीसु अट्ट दंडगा भाणियव्वा जीवादीया वेभाणियपज्जवसाणा । एसो नवदंडगसंगहिओ पढमो उहेसो भाणियव्वो ।

—भग० श २६ । उ १ । सु १ से ४ । पृ० ६०४

तीव्र पापकर्म के भोगने का प्रारम्भ तथा अन्त एक काल या भिन्न काल में करते हैं। इस अपेक्षा से चार विकल्प बनते हैं—(१) भोगने का प्रारम्भ समकाल में करते हैं तथा भोगने का अन्त भी समकाल में करते हैं, (२) भोगने का प्रारम्भ समकाल में करते हैं तथा भोगने का अन्त विषमकाल में करते हैं, (३) भोगने का प्रारम्भ विषमकाल में तथा भोगने का अन्त समकाल में करते हैं, (४) भोगने का प्रारम्भ विषमकाल में तथा अन्त भी विषमकाल में करते हैं।

जीव चार प्रकार के होते हैं। यथा—(१) कितने ही जीव सम आयु वाले तथा समोपपन्नक, (२) कितने ही जीव सम आयु वाले तथा विषमोपपन्नक, (३) कितने ही जीव विषम आयु वाले तथा समोपपन्नक तथा (४) कितने ही जीव विषम आयु वाले तथा विषमोपपन्नक होते हैं।

(१) जो जीव सम आयु वाले तथा समोपपन्नक हैं वे पापकर्म का वेदन समकाल में प्रारम्भ करते हैं तथा समकाल में अन्त करते हैं, (२) जो जीव सम आयु वाले तथा विषमोपपन्नक हैं वे पापकर्म का वेदन समकाल में प्रारम्भ करते हैं तथा विषमकाल में अन्त करते हैं, (३) जो जीव विषम आयु वाले तथा समोपपन्नक हैं वे पापकर्म के वेदन का प्रारम्भ विषमकाल में करते हैं तथा समकाल में पापकर्म का अन्त करते हैं, तथा (४) जो जीव विषम आयु वाले हैं तथा विषमोपपन्नक हैं वे पापकर्म के वेदन का प्रारम्भ विषमकाल में करते हैं तथा विषमकाल में ही पापकर्म का अन्त करते हैं।

सलेशी जीव सम्बन्धी वस्तुव्य सर्व औधिक जीवों की तरह कहना चाहिये। इसी प्रकार सलेशी नारकी यावत् वैमानिक देवों तक कहना चाहिये। अलग-अलग लेश्या से, जिसके जितनी लेश्या हो, उतने पद कहने चाहिये। पापकर्म के दण्डक की तरह आठ कर्मप्रकृतियों के आठ दण्डक औधिक जीव यावत् वैमानिक देव तक कहने चाहिये।

अनंतरोववन्नगा णं भंते ! नेरइया पावं कम्मं किं समायं पट्टविसु समायं निट्टविसु पुच्छा ? गोयमा ! अत्थेगइया समायं पट्टविसु समायं निट्टविसु, अत्थेगइया समायं पट्टविसु विसमायं निट्टविसु । से केणट्ठे णं भंते ? एवं वुच्चइ—अत्थेगइया समायं पट्टविसु, तं चेव ? गोयमा ! अनंतरोववन्नगा नेरइया दुविहा पन्नत्ता, तं जहा-अत्थेगइया समाडया समोववन्नगा, अत्थेगइया समाडया विसमोववन्नगां, तत्थ णं जे ते समाडया समोववन्नगा ते णं पावं कम्मं समायं पट्टविसु

समायं निद्विंसु । तत्थ णं जे ते समाउया विसमोवघन्नगा ते णं पावं कम्मं समायं पद्विंसु विसमायं निद्विंसु । से तेणद्वेणं तं चेव । सलेस्सा णं भंते ! अनंतरोवघन्नगा नेरइया पावं० ? एवं चेव, एवं जाव अनागारोवउत्ता । एवं असुरकुमारणं । एवं जाव वेमाणियाणं, नवरं जं जस्स अत्थि तं तस्स भाणियव्वं । एवं नाणावरणिज्जेण वि दंडओ, एवं निरवसेसं जाव अंतराइएणं ।

एवं एएणं गमएणं जञ्चेव बंधिसए उद्देशगपरिवाही सच्चेव इंह वि भाणियव्वा जाव अचरिमो त्ति । अनंतरउद्देशगाणं चउण्ह वि एक्का वत्तव्वया, सेसाणं सत्तण्हं एक्का ।

—भग० श २६ । उ २ ते ३ । पृ० ६०४-५

सलेशी अनंतरोपपन्नक नारकी दो प्रकार के होते हैं ; यथा कितने ही समायु समोपपन्नक तथा कितने ही समायु विषमोपपन्नक होते हैं । उनमें जो समायु समोपपन्नक हैं वे पापकर्म का प्रारम्भ समकाल में करते हैं तथा अन्त भी समकाल में करते हैं । तथा उनमें जो समायु विषयोपपन्नक हैं वे पापकर्म का प्रारम्भ समकाल में करते हैं तथा अन्त विषमकाल में करते हैं । इसी प्रकार असुरकुमार यावत् वैमानिक देवों तक कहना चाहिये, जिसके जितनी लेख्या हो उतने पद कहने चाहिये । इसी प्रकार आठ कर्मप्रकृति के आठ दण्डक कहने चाहिये ।

इस प्रकार के पाठों द्वारा जैसी बन्धन शतक में उद्देशकों की परिपाटी कही, वैसी ही उद्देशकों की परिपाटी यहाँ भी यावत् अचरम उद्देशक तक कहनी चाहिये । अनन्तर सम्बन्धी चार उद्देशकों की एक जैसी वक्तव्यता कहनी चाहिये । बाकी के सात उद्देशकों की एक जैसी वक्तव्यता कहनी चाहिये ।



७९ सलेशी जीव और कर्मप्रकृति का सत्ता-बन्धन-

वेदन—

७९'१ सलेशी एकेन्द्रिय और कर्मप्रकृति का सत्ता-बंधन-वेदन—

कइविहा णं भंते ! कण्हलेस्सा एगिदिया पन्नत्ता ? गोयमा ! पंचविहा कण्हलेस्सा एगिदिया पन्नत्ता, तं जहा—पुढविक्काइया जाव वणस्सइकाइया ।

कणहलेस्सा णं भंते ! पुढविकाइया कइविहा पन्नत्ता, गोयमा ! तुविहा पन्नत्ता, तं जहा—सुहुमपुढविकाइया य बायरपुढविकाइया य ।

कणहलेस्सा णं भंते ! सुहुमपुढविकाइया कइविहा पन्नत्ता ? गोयमा ! एवं एणं अभिलावेणं चउक्कभेदो जहेव ओहिउद्देसए, जाव वणस्सइकाइय त्ति ।

कणहलेस्सअपज्जत्तसुहुमपुढविकाइया णं भंते ! कइ कम्मप्पगडीओ पन्नत्ताओ ? एवं चेव एणं अभिलावेणं जहेव ओहिउद्देसए तहेव पन्नत्ताओ तहेव वंधंति, तहेव वेदंति ।

कइविहा णं भंते ! अणंतरोववन्नगा कणहलेस्सा एगिदिया पन्नत्ता ? गोयमा ! पंचविहा अणंतरोववन्नगा कणहलेस्सा एगिदिया, एवं एणं अभिलावेणं तहेव हुयओ भेदो जाव वणस्सइकाइय त्ति ।

अणंतरोववन्नगा कणहलेस्ससुहुमपुढविकाइयाणं भंते ! कइ कम्मप्पगडीओ पन्नत्ताओ ? एवं एणं अभिलावेणं जहा ओहिओ अणंतरोववन्नगाणं उद्देसओ तहेव जाव वेदंति ।

कइविहा णं भंते ! परंपरोववन्नगा कणहलेस्सा एगिदिया पन्नत्ता ? गोयमा ! पंचविहा परंपरोववन्नगा कणहलेस्सा एगिदिया पन्नत्ता, तं जहा—पुढविकाइया, एवं एणं अभिलावेणं तहेव चउक्कओ भेदो जाव वणस्सइकाइय त्ति ।

परंपरोववन्नगकणहलेस्सअपज्जत्तसुहुमपुढविकाइयाणं भंते ! कइ कम्मप्पगडीओ पन्नत्ताओ ? एवं एणं अभिलावेणं जहेव ओहिओ परंपरोववन्नगउद्देसओ तहेव जाव वेदंति । एवं एणं अभिलावेणं जहेव ओहिएगिदियसए एक्कारस उद्देसगा भणिया तहेव कणहलेस्ससए वि भाणियन्वा जाव अचरिमचरिमकणहलेस्सा एगिदिया ।

जहा कणहलेस्सेहि भणियं एवं नीललेस्सेहि वि सयं भाणियन्वं ।

एवं काऊलेस्सेहि वि सयं भाणियव्वं, नवरं 'काऊलेस्से'त्ति अभिलावो भाणियव्वो ।

—भग० श ३३ । श २ ते ४ । पृ० ६१४-१५

कृष्णलेशी एकेन्द्रिय पाँच प्रकार के होते हैं, यथा—पृथ्वीकायिक यावत् वनस्पतिकायिक । कृष्णलेशी पृथ्वीकायिक दो प्रकार के होते हैं, यथा—सूक्ष्म तथा बादर पृथ्वीकायिक । कृष्णलेशी सूक्ष्म पृथ्वीकायिक दो प्रकार के होते हैं, यथा—पर्याप्त तथा अपर्याप्त पृथ्वीकायिक । इसी प्रकार कृष्णलेशी बादर पृथ्वीकायिक के पर्याप्त तथा अपर्याप्त दो भेद होते हैं । इसी प्रकार कृष्णलेशी वनस्पतिकायिक तक चार-चार भेद जानने चाहिये ।

कृष्णलेशी अपर्याप्त सूक्ष्म पृथ्वीकायिक जीव के आठ कर्मप्रकृतियाँ होती है । वह सात अथवा आठ कर्मप्रकृतियाँ बाँधता है । चौदह कर्मप्रकृतियाँ वेदता है । इसी प्रकार यावत् पर्याप्त बादर वनस्पतिकायिक तक कहना चाहिये । प्रत्येक के अपर्याप्त सूक्ष्म, पर्याप्त सूक्ष्म, अपर्याप्त बादर, पर्याप्त बादर, इस प्रकार चार-चार भेद कहने चाहिये ।

अनन्तरोपपन्न कृष्णलेशी एकेन्द्रिय पाँच प्रकार के होते हैं, यथा—पृथ्वीकायिक यावत् वनस्पतिकायिक । तथा प्रत्येक के सूक्ष्म और बादर दो-दो भेद होते हैं । अनन्तरोपपन्न कृष्णलेशी एकेन्द्रिय जीव के आठ कर्म प्रकृतियाँ होती हैं । वे आठ कर्मप्रकृतियाँ बाँधते हैं और चौदह कर्म प्रकृतियाँ वेदते हैं ।

परम्परौपपन्न कृष्णलेशी एकेन्द्रिय पाँच प्रकार के होते हैं—पृथ्वीकायिक यावत् वनस्पतिकायिक । प्रत्येक के चार-चार भेद कहने चाहिये । परम्परौपपन्न कृष्णलेशी एकेन्द्रिय के सर्व भेदों में आठ प्रकृतियाँ होती हैं । वे सात अथवा आठ कर्म प्रकृतियाँ बाँधते हैं तथा चौदह कर्म प्रकृतियाँ वेदते हैं ।

अनन्तरोपपन्न की तरह अनन्तरावगाढ, अनन्तराहारक, अनन्तरपर्याप्त कृष्णलेशी एकेन्द्रिय के सम्बन्ध में भी जानना चाहिये । परम्परौपपन्न की तरह परम्परावगाढ, परम्पराहारक, परम्परपर्याप्त, चरम तथा अचरम कृष्णलेशी एकेन्द्रिय के सम्बन्ध में कहना चाहिये ।

जैसा कृष्णलेशी का शतक कहा वैसा ही नीललेशी एकेन्द्रिय तथा कापोतलेशी एकेन्द्रिय जीव का शतक कहना चाहिये ।

'७६'२ सलेशी भवसिद्धिक एकेन्द्रिय और कर्म प्रकृति का सत्ता-बंधन-वेदन—

कइविहा णं भंते ! कण्हलेस्सा भवसिद्धिया एगिंदिया पन्नत्ता ? गोयमा ! पंचविहा कण्हलेस्सा भवसिद्धिया एगिंदिया पन्नत्ता, तं जहा—पुढविकाइया जाव वणस्सइकाइया । कण्हलेस्सभवसिद्धिय-पुढविकाइया णं भंते ! कइविहा पन्नत्ता ? गोयमा ! दुविहा पन्नत्ता, तं जहा—सुहुमपुढविकाइया य बादरपुढविकाइया य । कण्हलेस्स-भवसिद्धियसुहुमपुढविकाइया णं भंते ! कइविहा पन्नत्ता ? गोयमा ! दुविहा पन्नत्ता, तं जहा—पज्जत्तगा य अपज्जत्तगा य । एवं बायरा वि । एवं एएणं अभिलावेणं तहेव चउक्कओ भेदो भाणियच्चो ।

कण्हलेस्सभवसिद्धियअपज्जत्तसुहुमपुढविकाइया णं भंते ! कइ कम्म-प्पगडीओ पन्नत्ताओ ? एवं एएणं अभिलावेणं जहेव ओहिउहेसए तहेव जाव वेदेंति ।

कइविहा णं भंते ! अनंतरोववन्नगा कण्हलेस्सा भवसिद्धिया एगिंदिया पन्नत्ता ? गोयमा ! पंचविहा अनंतरोववन्नगा० जाव वणस्सइकाइया । अनंतरोववन्नगा कण्हलेस्सभवसिद्धियपुढविकाइया णं भंते ! कइविहा पन्नत्ता ? गोयमा ! दुविहा पन्नत्ता, तं जहा—सुहुमपुढविकाइया—एवं दुयओ भेदो ।

अनंतरोववन्नगकण्हलेस्सभवसिद्धियसुहुमपुढविकाइया णं भंते ! कइ कम्मप्पगडीओ पन्नत्ताओ ? एवं एएणं अभिलावेणं जहेव ओहिओ अनंतरोववन्नगउहेसओ तहेव जाव वेदेंति । एवं एएणं अभिलावेणं एक्कारस वि उहेसगा तहेव भाणियच्चा जहा ओहियसए जाव 'अचरिमो' त्ति ।

जहा कण्हलेस्सभवसिद्धिएहिं सयं भणियं एवं नीललेस्सभवसिद्धि-एहि वि सयं भाणियच्चं ।

एवं काउलेस्सभवसिद्धिएहि वि सयं ।

—भग० श ३३ । उ ६ से ८ । पृ० ६१५-१६

कृष्णलेशी भवसिद्धिक एकेन्द्रिय के सम्बन्ध में भी ग्यारह उद्देशक वैसे ही कहने चाहिये जैसे कृष्णलेशी एकेन्द्रिय के ग्यारह उद्देशक कहे, लेकिन 'कृष्णलेशी' के स्थान में 'कृष्णलेशी भवसिद्धिक' कहना चाहिये ।

'नीललेशी' के स्थान में 'नीललेशी भवसिद्धिक' कहना चाहिये । 'कापोलेशी' के स्थान में 'कापोतलेशी भवसिद्धिक' कहना चाहिये ।

'७९'३ सलेशी अभवसिद्धिक एकेन्द्रिय और कर्मप्रकृति का सत्ता-बंधन-वेदन—

कइविहा णं भंते ! अभवसिद्धिया एगिंदिया पन्नत्ता ? गोयभा !
पंचविहा अभवसिद्धिया एगिंदिया पन्नत्ता, तं जहा—पुढविकाइया,
जाव वणस्सइकाइया । एवं जहेव भवसिद्धियसयं भणियं, [एवं अभव-
सिद्धियसयं] नवरं नव उद्देशगा चरमअचरमउद्देशगवज्जा, सेसं
तहेव । एवं कणहलेस्सअभवसिद्धियएगिंदियसयं वि । नीललेस्सअभव-
सिद्धियएगिदिएहि वि सयं । काऊलेस्सअभवसिद्धियसयं, एवं चत्तारि
वि अभवसिद्धियसयाणि, नव नव उद्देशगा भवंति, एवं एयाणि बारस
एगिंदियसयाणि भवंति ।

—भग० श ३३ । श ६ से १२ । पृ० ६१६

कृष्णलेशी अभवसिद्धिक एकेन्द्रिय का शतक उसी प्रकार कहना चाहिये, जिस प्रकार कृष्णलेशी भवसिद्धिक एकेन्द्रिय का कहा । लेकिन चरम-अचरम उद्देशकों को बाद देकर नव उद्देशक कहने चाहिये ।

इसी प्रकार नीललेशी अभवसिद्धिक एकेन्द्रिय के नव उद्देशक कहने चाहिये तथा कापोतलेशी अभवसिद्धिक एकेन्द्रिय के भी नव उद्देशक कहने चाहिये ।

'७९'४ सलेशी जीव और उत्तर कर्म प्रकृति का सत्ता-बन्धन-वेदन—

लेश्यामार्गणायां कृष्णनीलकपोतानां बन्धयोग्यं ११८ आहारक-
द्विकाभावत् । × × × तेजोलेश्यायां बन्धयोग्यं ११९ मिथ्यादृष्टे-
श्चरमसूक्ष्मत्रयादिनवानामभावात् । × × × पद्मलेश्यानां बन्ध-
योग्यं १०८, वामस्यान्तद्वाद्शानामभावात् । × × × शुक्ललेश्यानां
बन्धयोग्यम् १०४ । सदरचउक्कं मिथ्यादृष्ट्येकेन्द्रियाद्यत्न्यद्वादश
च नहि ।

—गोक० गा ११६ । टीका

लेश्या मार्गणा में (सलेशी) कृष्ण, नील और कापोत लेश्या में बन्धयोग्य एक सौ अठारह प्रकृति है, आहारकद्रिक नहीं है (१२०-२ = ११८) है ।

तेजोलेश्या में बन्धयोग्य एक सौ ग्यारह है क्योंकि मिथ्यादृष्टि में व्युच्छिन्न होने वाली सोलह प्रकृतियों में से अन्त की सूक्ष्मत्रिक आदि नौ का अभाव है । (१२०-६-१११) पद्म लेश्या में बन्धयोग्य १०८ है क्योंकि मिथ्यादृष्टि में व्युच्छिन्न होने वाली प्रकृतियों में से अन्तिम बारह का अभाव है । शुक्ललेश्या में बन्धयोग्य १०४ है । क्योंकि शतार चतुष्क और मिथ्यादृष्टि में व्युच्छिन्न होने वाली प्रकृतियों में से अन्त की एकेन्द्रियादि बारह नहीं होती है ।

व्याख्या—तेजो लेश्या में १२० प्रकृतियों में से ६ प्रकृति का (सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, नरकगति, नरकगत्यानुपूर्वी, तरकायु इन नौ का बंध नहीं होता) न्यून होने से १११ प्रकृतियों का बंध होता है ।

पद्म लेश्या में १२० प्रकृतियों में बारह प्रकृति का (६ तेजो लेश्या की तरह तथा एकेन्द्रिय, स्थावर, आतप—इस प्रकार बारह प्रकृति का बंधन नहीं होता है) न्यून होने से १०८ प्रकृतियों का बंध होता है ।

शुक्ल लेश्या में १२० प्रकृतियों में सोलह प्रकृति (क्योंकि शतार चतुष्क-तिर्यञ्चगति, तिर्यञ्चानुपूर्वी, तिर्यञ्चायु, उद्योत) और मिथ्यादृष्टि में व्युच्छिन्न होने वाली प्रकृतियों में से एकेन्द्रियादि बारह नहीं होती है । अतः १०४ प्रकृति का बंध है ।

पंच णव दोण्णि छव्वीसमवि य चउरो कमेण सत्तट्ठी ।

दोण्णि य पंच य भणिया एदाओ बंधपयट्ठीओ ॥

—गोक० गा ३५

अर्थात् पांच ज्ञानावरण, नौ दर्शनावरण, दो वेदनीय, छव्वीस मोहनीय (क्योंकि मिश्र और सम्यक्त्व प्रकृति उदय और सत्ता में कही गयी है) चार आयु, सडसठनाम (क्योंकि दस बंधन, दस संघात और सोलह वर्णादि का अंतर्भाव कर लेते हैं) दो गोत्र, पांच अन्तराय—इस प्रकार एक सौ बीस प्रकृतियां बंध योग्य हैं । (५ + ६ + २ + २६ + ४ + ६७ + २ + ५ = १२०)

कृष्णादि तीन लेश्याओं में आहारक शरीर व आहारक शरीरांगोपांग का बंधन न होने (१२०-२-११८) ११८ प्रकृति का बंध होता है ।

लेश्या मार्गणायां कृष्णनीलयोस्तीर्थकृदाहारकद्वयं च नेत्युदय-
योग्यप्रकृतयः एकोन्नविंशतिशतं । गुणस्थानानि मिथ्यादृष्ट्यादीनि
चत्वारि । कुतः ? 'अयदोत्ति छल्लेसाओ' इत्युक्तत्वात् ।

—गोक० गा ३२५ टीका

लेश्या मार्गणा में कृष्ण लेश्या और नील लेश्या में तीर्थङ्कर और आहारकद्विक का उदय न होने से उदय योग्य प्रकृतियाँ ११६ है ।

व्याख्या—अभेदविवक्षया उदयप्रकृतिषु द्वाविंशत्युत्तरशते उदय-
विधिः ।

—गोक० गा २६३ टीका

विवक्षा से उदय प्रकृतियाँ १२२ है । १२० प्रकृति बंधयोग्य में है तथा
सम्पक्त्व मोहनीय और मिश्र मोहनीय का उदय होता है । कुल १२० + २ = १२२
प्रकृति उदय योग्य है ।

कपोतलेश्यायामुदययोग्यं कृष्णनीलवदेकान्नविंशतिशतं ।

—गो० ग ३२५ टीका

कापोत लेश्या में उदय योग्य कृष्ण-नील की तरह ११६ है ।

तेजति ए सगुणोचं णादाविगिगिगल थावरचउक्कं ।

णिरयदुतदाउतिरियाणुगं णराणू ण मिच्छदुगे ॥

—गोक० गा ३२७

टीका—तेजः पद्मशुक्ललेश्यासु स्वगुणौघ । तत्रातपएकेन्द्रियं
विकलत्रयं स्थावरं सूक्ष्ममपर्याप्तं साधारणं नरकद्विकं, तदायुस्तिर्य-
गानुपूर्व्यं च नेति नवोत्तर शतमुदययोग्यं भवति । तत्रापि तेजः पद्म-
योस्तीर्थकरत्वं नेत्यष्टोत्तरशतं १०८ । गुणास्थानानि सप्ताद्यनि ।

तेजो, पद्म और शुक्ल लेश्या में अपने गुणस्थानवत् जानना । उनमें आतप,
एकेन्द्रिय, विकलपत्रय, स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, नरकगति, नरकानुपूर्वी,
नरकायु और तिर्यञ्चानुपूर्वी का उदय न होने से उदय योग्य १०६ है (१२२-१३
१०६) उनमें भी तेजो लेश्या और पद्मलेश्या में तीर्थङ्कर का उदय न होने से १०८
उदय है । गुणस्थान आदि के सात होते हैं ।

शुक्ललेश्यायां—उदययोग्यं नवोत्तरशतं १०६ ।

—गोक० ३२७ टीका

शुक्ल लेश्या में उदय योग्य एक सौ नौ (१०६) है ।

पंच णव दोण्णि अट्ठावीसं चउरो कमेण सत्तट्ठी ।

दोण्णि य पंच य भणिदा एदाओ उदयपयड्डीओ ॥

—गोक० गा ३६

उदय प्रकृतियां ज्ञानावरण आदि की क्रमशः पांच, नौ, दो, अट्ठाईस, चार, सड़सठ, दो, पांच मिलकर एक सौ बाईस प्रकृतियाँ कही हैं ।

नोट—उदय में भेद विवक्षा से एक सौ अड़तालीस है और अभेद विवक्षा से १२२ हैं ।

किण्हदुगसुहत्तिलेस्सियवामेवि ण तित्थयर सत्तं ।

—गोक० ३५४ उत्तरार्ध

टीका—लेश्यामार्गणायां कृष्णनीलयोः सत्त्वमष्टचत्वारिंशच्चतं गुणस्थानि मिथ्यादृष्ट्यादीनि चत्वारि । तत्र किण्हदुगवामेण तित्थयरसत्तमितिमिथ्यादृष्टौ सत्त्वं सप्तचत्वारिंशच्चतं । अशुभलेश्यात्रये तीर्थबंधप्रारंभाभावात् । बद्धनारकायुषोऽपि द्वितीयतृतीयपृष्ठयोः कापोतलेश्यैव गमनात् ।

कपोतलेश्यायां मिथ्यादृष्टौ सत्त्वमष्टचत्वारिंशत् शतं । सासादने पंचचत्वारिंशत् शतं । मिश्रे सप्तचत्वारिंशत् शतं । असंयते सर्वे ।

लेश्या मार्गणा में कृष्ण और नील में सत्ता १४८ प्रकृति की है । गुणस्थान मिथ्यादृष्टि आदि चार है । कृष्ण, नील में मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में तीर्थङ्कर की सत्ता का अभाव कहा है, क्योंकि तीन अशुभ लेश्याओं में तीर्थङ्कर के बंध का प्रारंभ नहीं होता । तथा जिसने नरकायु का बंध किया है वह मर कर दूसरी व तीसरी नारकी में यदि जाता है तो कापोत लेश्या में ही जाता है ।

अतः कृष्ण-नील में मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में एक सौ सैतालीस प्रकृति की सत्ता रहती है । कापोत लेश्या में मिथ्यादृष्टि में सत्ता एक सौ अड़तालीस की है ।

सास्वादन में एक सौ पैतालीस, मिश्र गुणस्थान में एक सौ सैंतालीस प्रकृति की तथा असंयत गुणस्थान में एक सौ अड़तालीस कर्म प्रकृति की सत्ता रहती है ।

नोट—सास्वादन गुणस्थान में तीर्थङ्कर और आहारक द्वय के बिना एक सौ पैतालीस प्रकृति सत्ता में है ।

तेजःपद्मलेश्ययोः सच्चमष्टचत्वारिंशत् गुणस्थानानि सप्त । तत्र सुहृत्तिलेस्सियवामेवि ण तित्थयरसत्तमिति तन्मिध्यादृष्टौ तीर्थ-सच्चं नास्ति, कुतः ? नरकगमनाभिमुखसंक्लिष्टभ्योऽन्येषां सम्यक्त्व-विराधनाभावेन शुभलेश्यात्रये तद्विराधनासंभवात् । तेषु तन्मि-ध्यादृष्टौ सच्चं सप्तचत्वारिंशत् शतं । सासादने पंचचत्वारिंशत् शतं । मिश्रे सप्तचत्वारिंशच्छतं । असंयते अष्टचत्वारिंशच्छतं देश-संयते नरकायुर्विना सप्तचत्वारिंशच्छतं । प्रमत्ते नरकतिर्थगायुषी विना षट्चत्वारिंशत् शतं । अप्रमत्तेऽपि तथैव षट्चत्वारिंशत् शतं ।

शुक्ललेश्यायां सच्चमष्टचत्वारिंशत् शतं । गुणस्थानानि मिध्या-दृष्ट्यादीनि त्रयोदश । तत्रापि मिध्यादृष्टौ तीर्थासत्त्वान् । सच्चं सप्तचत्वारिंशत् शतं । सासादनादिषु गुणस्थानोक्तैव संदृष्टिः ।

—गोक० गा ३५४ टीका

तेजो और पद्म लेख्या में सत्ता १४८ कर्म प्रकृतियाँ की है । गुणस्थान प्रथम सात हैं । आगम में कहा है—कि शुभ तीन लेख्याओं में मिध्यादृष्टि गुण-स्थान में तीर्थङ्कर की सत्ता नहीं होती है अतः मिध्यादृष्टि में तीर्थङ्कर की सत्ता नहीं है क्योंकि जो तीर्थङ्कर की सत्तावाला नरक जाने के अभिमुख होता है उसके भी सम्यक्त्व की विराधना होती है । अतः तीन शुभ लेख्याओं में सम्य-क्त्व की विराधना संभव नहीं है । इस कारण मिध्यादृष्टि में सत्ता एक सौ सैंतालीस प्रकृति की है । सास्वादान में एक सौ पैतालीस, (तीर्थङ्कर आहारक द्वयबाद) मिश्र गुणस्थान में एक सौ सैंतालीस, असंयत में एक सौ अड़तालीस प्रकृति सत्ता में है । देशसंयत में नरकायु के बिना एक सौ सैंतालीस कर्म प्रकृति की सत्ता है । प्रमत्त संयत में नरकायु तथा तिर्यञ्चायु के बिना एक सौ छियालीस तथा अप्रमत्त संयत में भी इसी प्रकार एक सौ छियालीस प्रकृति की सत्ता है ।

शुक्ल लेख्या में एक सौ अड़तालीस की सत्ता है । गुणस्थान मिध्यादृष्टि आदि तेरह है । यहाँ भी मिध्यादृष्टि में तीर्थङ्कर का असत्त्व होने से एक सौ

सैंतालीस कर्म प्रकृति सत्ता में है । सास्वादन आदि में रचना गुणस्थान की तरह कहना चाहिए ।

सन्वं त्रिगेगं सन्वं चैगं छसु दोणि चउसु छदस य दुगे ।

छस्सगदालं दोसु तिसही परिहीणं पयडिसत्तं जाणे ॥

—गोक० गा ३६०

टीका—मिथ्यादृष्टौ सन्वं सर्वमष्टचत्वारिंशच्छतं । सासादने तदेव तोर्थाहारकद्विकहीनं । मिश्रे तीर्थहीनं । असंयते सर्वे । देशसंयते नरकायुर्हीनं । प्रमत्तादिषु षट्षु नरकतिर्यगायुर्हीनं । पुनरपूर्वकरणादिषु चतुषु नरकतिर्यगायुरनन्तानुबन्धीचतुष्कहीनं । क्षपकापूर्वकरणादिद्वये नरकतिर्यग्देवायुसप्तप्रकृतिहीनं । सूक्ष्मसंपराये सोर्लाङ्गिककिगिच्छकं चदुसेक्कमित षट्चत्वारिंशताहीनं । क्षीणकषाये लोभसहितयाहीनं । संयोगायोगयोः^१ घातिसप्तचत्वारिंशता नामकर्मत्रयोदशभिरायुस्त्रयेण च हीनं । चशब्दाद्योगिचरमसमये पंचत्रिंशच्छतहीनं जानीहि ।

मिथ्यादृष्टि में सन्व सब एक सौ अड़तालीस है । सासादन में तीर्थङ्कर और आहारकद्वय से बिना एक सौ पैतालीस की सत्ता है । मिश्र में तीर्थङ्कर बिना एक सौ सैंतालीस की सत्ता है । असंयत में सब एक सौ अड़तालीस का सत्ता है । देशसंयत में नरकायु के बिना एक सौ सैंतालीस की सत्ता है । प्रमत आदि छह गुणस्थानों में उपशम सम्यक्त्व की अपेक्षा नरकायु तिर्यञ्चायु के बिना एक सौ छियालीस की सत्ता है । पुनः अपूर्वकरण आदि चार गुणस्थानों में नरकायु, तिर्यञ्चायु और अनन्तानुबन्धी चतुष्क का विसंयोजन करने की अपेक्षा अनन्तानुबन्धी चतुष्क के बिना एक सौ बयालीस की सत्ता है । क्षपक अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण में नरकायु, तिर्यञ्चायु, देवायु तथा मोहनीय की सात प्रकृतियों के बिना एक सौ अड़तीस की सत्ता है । सूक्ष्म सम्पराय में अनिवृत्तिकरण में व्युच्छिन्न हुई सोलह, आठ, एक, एक, छह, एक, एक, एक, एक के बिना एक सौ दो की सत्ता है । क्षीणकषाय में लोभ सहित सैंतालीस बिना एक सौ एक की सत्ता है । संयोगी-अयोगी में घातिकर्मों की सैंतालीस, नाम कर्म की तेरह और तीन आयु के बिना पिचासी की सत्ता है । 'च' शब्द से अयोगी के अन्तिम समय में एक सौ पैतीस बिना तेरह की सत्ता है ।

१. न योगयोः सप्तचत्वारिंशद्घाति त्रयोदशनामश्यायुःहीनं ।

अनिवृत्ति करण में व्युच्छिन्न हुई ३६ प्रकृतियों का विवरण इस प्रकार है ।—

१ नरकगति, २ नरकानुपूर्वी, ३ तिर्यञ्जगति, ४ तिर्यञ्जानुपूर्वी ५ द्वीन्द्रिय, ६ त्रीन्द्रिय, ७ चतुरिन्द्रिय, ८ से १० स्थानवृद्धि आदि तीन मित्रा, ११ उद्योत, १२ आतप, १३ एकेन्द्रिय, १४ साधारण, १५ सूक्ष्म, १६ स्यावर, १७ से २४ अप्रत्याख्यान कषाय चार और प्रत्याख्यान कषाय चार, २५ नपुंसकवेद, २६ स्त्रीवेद, २७ से ३२ हास्यादिषट्क, ३३ पुरुषवेद, ३४ संज्वलनक्रोध, ३५ संज्वलनमान तथा ३६ संज्वलनमाया ।

क्षीण कषाय में १०१ प्रकृति सत्ता में कही है उसमें से पांच ज्ञानावरण, चार दर्शनावरण, पांच अंतराय, मित्रा, प्रचला को बाद देकर सयोगी केवली गुणस्थान में ८५ की सत्ता है ।

अयोगी गुणस्थान में अन्तिम समय में तेरह प्रकृति की सत्ता इस प्रकार है—

१—असाता वेदनीय अथवा साता वेदनीय में से एक, २—मनुष्यगति, ३—पंचेन्द्रियजाति, ४—सुभग, ५—त्रस, ६—बादर, ७—पर्याप्त, ८—आदेय, ९—यशोकीर्ति, १०—तीर्थङ्कर, ११—मनुष्यायु, १२—उच्चगोत्र व १३—मनुष्यानुपूर्वी ।

पंच णव दोण्ण अट्ठावीसं चउरो कमेण तेण उदी ।

दोण्ण य पंच य भण्णदा एदाओ सत्तपयडीओ ॥

—गोक० गा ३८

पांच, नौ, दो, अट्ठाईस, चार, तिरानवे, दो, पांच—ये क्रम से ज्ञानावरण आदि की सत्ता प्रकृतियां एक सौ अड़तालीस है ।

नोट—बन्ध में भेद विवक्षा से १४६ प्रकृतियां होती है । अभेद विवक्षा से १२० है । उदय में भेद विवक्षा में १४८ और अभेद विवक्षा से १२२ है ।^१



‘८० सलेशी जीव और अल्पकर्मतर-बहुकर्मतर—

सिय भंते ! कण्हलेस्से नेरइए अप्पकम्मतराए ? नीललेस्से नेरइए महाकम्मतराए ? हंता ! सिया । से केणट्ठेणं भंते ! एवं बुच्चइ—कण्हलेस्से नेरइए अप्पकम्मतराए ? नीललेस्से नेरइए महाकम्मतराए ?

१. गोक० गा ३७

गोयमा ! ठिइं पडुच्च, से तेणट्टेणं गोयमा ! जाव महाकम्मतराए । सिय भंते ! नीललेस्से नेरइए अप्पकम्मतराए, काऊलेस्से नेरइए महाकम्मतराए ? हंता ? सिया । से केणट्टेणं भंते ! एवं वुच्चइ— नीललेस्से नेरइए अप्पकम्मतराए काऊलेस्से नेरइए महाकम्मतराए ? गोयमा ! ठिइं पडुच्च, से तेणट्टेणं गोयमा ! जाव महाकम्मतराए । एवं असुरकुमारे वि, नवरं तेऊलेस्सा अब्भहिया, एवं जाव वेमाणिया, जस्स जइ लेस्साओ तस्स तत्तिया भाणियव्वाओ । जोइसियस्स न भण्णइ, जाव सिय भंते ! पम्हलेस्से वेमाणिए अप्पकम्मतराए मुक्कलेस्से वेमाणिए महाकम्मतराए ? हंता ! सिया । से केणट्टेणं ? सेसं जहा नेरइयस्स जाव महाकम्मतराए ।

—भग० श ७ । उ ३ । सू ६, ७ । पृ० ५१५

कदाचित् कृष्णलेश्यावाला नारकी अल्पकर्मवाला तथा नीललेश्यावाला नारकी महाकर्मवाला होता है । कदाचित् नीललेश्यावाला नारकी अल्पकर्मवाला तथा कापोतलेश्यावाला नारकी महाकर्मवाला होता है । ऐसा स्थिति की अपेक्षा से कहा गया है । ज्योतिषी देवों को छोड़कर बाकी दंडक के सभी जीवों में ऐसा ही जानना चाहिए ; लेकिन जिसके जितनी लेश्या हो उतनी ही लेश्या से तुलना करनी चाहिए । ज्योतिषी देवों में केवल एक तेजोलेश्या ही होती है । अतः तुलनात्मक प्रश्न नहीं बनता । यावत् वैमानिक देवों में भी कदाचित् पद्मलेशी वैमानिक अल्पकर्मतर तथा शुक्ललेशी वैमानिक महाकर्मतर हो सकता है । टीकाकार ने उसे इस प्रकार स्पष्ट किया है—

कृष्णलेश्या अत्यन्त अशुभ परिणामरूप होने के कारण तथा उसकी अपेक्षा नीललेश्या कुछ शुभ परिणामरूप होने के कारण सामान्यतः कृष्णलेशी जीव बहुकर्मवाला तथा नीललेशी जीव अल्पकर्मवाला होता है । परन्तु कदाचित् आयुष्य की स्थिति की अपेक्षा से कृष्णलेशी अल्पकर्मवाला तथा नीललेशी महाकर्मवाला हो सकता है । जिस प्रकार कृष्णलेशी नारकी जिसने अपनी आयुष्य की अधिक स्थिति क्षय कर ली हो तथा जिसके अधिक कर्मों का क्षय हुआ हो तो उसकी अपेक्षा पाँचवीं नरक-पृथ्वी का सत्रह सागरोपम आयुष्यवाला नीललेशी नारकी जो अभी-अभी उत्पन्न हुआ है तथा जिसने अपनी आयुष्य की स्थिति को अधिक क्षय नहीं किया है वह अधिक कर्मवाला होगा । अतः उपर्युक्त कृष्णलेशी जीव से वह महाकर्मवाला होगा ।

८१ सलेशी जीव और अल्पऋद्धि-महाऋद्धि—

एएसि णं भंते ! जीवाणं कण्हलेसाणं जाव सुक्कलेसाण य कयरे कयरेहिंतो अप्पड्ढिया वा महड्ढिया वा ? गोयमा ! कण्हलेसेहिंतो नीललेसा महड्ढिया, नीललेसेहिंतो काउलेसा महड्ढिया एवं काउलेसेहिंतो तेउलेसा महड्ढिया, तेउलेहिंतो पम्हलेस्सा महड्ढिया, पम्हलेसेहिंतो सुक्कलेसा महड्ढिया, सव्वप्पड्ढिया जीवा कण्हलेसा, सव्वमहड्ढिया सुक्कलेसा । एएसि णं भंते ! नेरइयाणं कण्हलेसाणं नीललेसाणं काउलेसाण य कयरे कयरेहिंतो अप्पड्ढिया वा महड्ढिया वा ? गोयमा ! कण्हलेसेहिंतो नीललेसा, महड्ढिया, नीललेसेहिंतो काउलेसा महड्ढिया, सव्वप्पड्ढिया नेरइया कण्हलेसा, सव्वप्पड्ढिया नेरइया कण्हलेसा, सव्वमहड्ढिया नेरइया काउलेसा । एएसि णं भंते ! तिरिक्खजोणियाणं, कण्हलेसाणं जाव सुक्कलेसाण य कयरे कयरेहिंतो अप्पड्ढिया वा महड्ढिया वा ? गोयमा ! जहा जीवाणं । एएसि णं भंते ! एगिदियतिरिक्खजोणियाणं कण्हलेसाणं जाव तेउलेसाण य कयरे कयरेहिंतो अप्पड्ढिया वा महड्ढिया वा ? गोयमा ! कण्हलेसेहिंतो एगिदियतिरिक्खजोणिएहिंतो नीललेसा महड्ढिया, नीललेसेहिंतो तिरिक्खजोणिएहिंतो काउलेसा महड्ढिया, काउलेसेहिंतो तेउलेसा महड्ढिया, सव्वप्पड्ढिया एगिदियतिरिक्खजोणिया कण्हलेस्सा, सव्वमहड्ढिया तेउलेसा । एवं पुढविकाइयाण वि । एवं एएणं अभिलावेणं जहेव लेस्साओ भावियाओ तहेव नेयव्वं जाव चउरिदिया । पंचेदियतिरिक्खजोणियाणं तिरिक्खजोणियाणं संमुच्छिमाणं गन्भवक्कंतियाण य सव्वेसिं भाणियव्वं जाव अप्पड्ढिया वेमाणिया देवा तेउलेसा, सव्वमहड्ढिया वेमाणिया सुक्कलेसा । केई भणंति-चउवीसं दंडएणं इड्ढी भाणियव्वा ।

—पण्ण० प १७ । उ २ । सू २३-२५ । पृ० ४४२

एएसि णं भंते ! दीवकुमाराणं कण्हलेसाणं जाव तेउलेसाण य कयरे कयरेहिंतो अप्पड्ढिया वा ? महड्ढिया वा ? गोयमा ! कण्हलेसाहिंतो नीललेस्सा महड्ढिया जाव सव्वमहड्ढिया तेउलेस्सा

× × × उदहिकुमाराणं × × × एवं चेव । एवं दिसाकुमारा वि ।
एवं थणियकुमारा वि ।

—भग० श १६ । उ ११-१४ । पृ० ७३७

एसि णं भंते ! एगिंदियाणं कण्हलेस्साणं इड्ढिं जहेव दीव-
कुमाराणं । नागकुमारा णं भंते ! सव्वे समाहारा० ? जहा सोलसमसए
दीवकुमारुदेसए तहेव निरवसेसं भाणियव्वं जाव इड्ढी ।

सुवण्णकुमारा णं भंते ! × × × एवं चेव । विञ्जुकुमारा णं
भंते ! × × × एवं चेव । वाउकुमारा णं भंते ! × × × एवं चेव ।
अग्गिकुमारा णं भंते ! × × × एवं चेव ।

—भग० श १७ । उ १२-१७ । पृ० ७६१

कृष्णलेशी जीव से नीललेशी जीव महाऋद्धिवाला होता है, नीललेशी जीव
से कापोतलेशी जीव महाऋद्धिवाला होता है । कापोतलेशी जीव से तेजोलेशी
जीव महाऋद्धिवाला, तेजोलेशी जीव से पद्मलेशी जीव महाऋद्धिवाला तथा
पद्मलेशी जीव से शुक्ललेशी जीव महाऋद्धिवाला होता है । सबसे अल्पऋद्धि
वाला कृष्णलेशी जीव तथा सबसे महाऋद्धिवाला शुक्ललेशी जीव होता है ।

कृष्णलेशी नारकी से नीललेशी नारकी महाऋद्धिवाला तथा नीललेशी
नारकी से कापोतलेशी नारकी महाऋद्धिवाला होता है । कृष्णलेशी नारकी
सबसे अल्पऋद्धिवाला तथा कापोतलेशी नारकी सबसे महाऋद्धिवाला होता है ।

कृष्णलेशी यावत् शुक्ललेशी तिर्यंचयोनिज जीवों में अल्पऋद्धि तथा महाऋद्धि
के सम्बन्ध में वैसा ही कहना चाहिए जैसा औधिक जीवों के सम्बन्ध में कहा
गया है ।

कृष्णलेशी एकेन्द्रिय तिर्यंचयोनिज जीव से नीललेशी एकेन्द्रिय तिर्यंचयोनिज
जीव महाऋद्धिवाला, नीललेशी एकेन्द्रिय तिर्यंचयोनिज जीव से कापोतलेशी
एकेन्द्रिय तिर्यंचयोनिज जीव महाऋद्धिवाला तथा कापोतलेशी एकेन्द्रिय तिर्यंच-
योनिज जीव से तेजोलेशी एकेन्द्रिय तिर्यंचयोनिज जीव महाऋद्धिवाला होता
है । कृष्णलेशी एकेन्द्रिय तिर्यंचयोनिज जीव सबसे अल्पऋद्धिवाला तथा तेजोलेशी
एकेन्द्रिय तिर्यंचयोनिज जीव सबसे महाऋद्धिवाला होता है ।

इसी प्रकार पृथ्वीकायिक जीवों के सम्बन्ध में कहना चाहिए । इसी प्रकार अप्कायिक जीवों में चतुरिन्द्रिय जीवों तक कहना चाहिए । परन्तु जिसके जितनी लेश्या हो उतनी लेश्या अल्पऋद्धि-महाऋद्धि पद कहना चाहिए ।

पंचेन्द्रिय तिर्यच, पंचेन्द्रिय तिर्यच स्त्री, संभुच्छिम तथा गर्भज सब जीवों में अल्पऋद्धि-महाऋद्धि पद कहना चाहिए । यावत् तेजोलेशी वैमानिक सत्रसे अल्पऋद्धिवाले तथा शुक्ललेशी वैमानिक सबसे महाऋद्धिवाले होते हैं । कई आचार्य कहते हैं कि ऋद्धि के आलापक चौबीस दण्डकों में ही कहने चाहिए । ज्योतिषी देवों में केवल एक तेजोलेश्या होने के कारण तुलनात्मक प्रश्न नहीं बनता है ।

कृष्णलेशी द्वीपकुमार से नीललेशी द्वीपकुमार महाऋद्धिवाला, नीललेशी द्वीपकुमार से कापोतलेशी द्वीपकुमार महाऋद्धिवाला, कापोतलेशी द्वीपकुमार से तेजोलेशी द्वीपकुमार महाऋद्धिवाला होता है । कृष्णलेशी द्वीपकुमार सबसे अल्पऋद्धिवाला तथा तेजोलेशी द्वीपकुमार सबसे महाऋद्धिवाला होता है ।

इसी प्रकार उदधिकुमार, दिशाकुमार, स्तनितकुमार, नागकुमार, सुवर्णकुमार, विद्युत्कुमार, वायुकुमार तथा अग्निकुमार के विषय में वैसा ही कहना चाहिए, जैसा द्वीपकुमार के विषय में कहा है ।

८२ सलेशी जीव और बोधि—

सम्मदंसणरत्ता, अनियमणा सुक्कलेसमोगाढा ।

इय जे मरंति जीवा, तेसिं सुलहा भवे बोही ॥

मिच्छादंसणरत्ता, सनियमणा कण्हलेसमोगाढा ।

इय जे मरंति जीवा, तेसिं पुण दुल्लहा बोही ॥

—उत्त० अ ३६ । गा २६४, २६५ । पृ० १०६०

सम्यग्दर्शन में अनुरक्त, निदान रहित, शुक्ललेश्या में अवगाढ़ होकर जो जीव मरते हैं वे परभव में सुलभबोधि होते हैं ।

मिथ्यादर्शन में रत, निदान सहित, कृष्णलेश्या में अवगाढ़ होकर जो जीव मरते हैं वे परभव में दुर्लभबोधि होते हैं ।

‘८३ सलेशी जीव और समवसरण—

‘८३’१ सलेशी जीव और मतवाद (दर्शन)—

सलेस्सा णं भंते ! जीवा किं किरियावाई० पुच्छा ? गोयमा ! किरियावाई वि, अकिरियावाई वि, अन्नाणियवाई वि, वेणइयवाई वि । एवं जाव मुकलेस्सा ।

अलेस्सा णं भंते ! जीवा० पुच्छा ? गोयमा ! किरियावाई । नो अकिरियावाई, नो अन्नाणियवाई, नो वेणइयवाई ।

सलेस्सा णं भंते ! नेरइया किं किरियावाई० ? एवं चेव । एवं जाव काउलेस्सा । × × × नवरं जं अत्थि तं भाणियव्वं सेसं न भन्नंति । जहा नेरइया एवं जाव थाणइकुमारा । पुढविकाइया णं भंते ! किं किरियावाई० पुच्छा ? गोयमा ! नो किरियावाई, अकिरियावाई वि, अन्नाणियवाई वि, नो वेणइयवाई । एवं पुढविकाइयाणं जं अत्थि तत्थि सव्वत्थि वि एयाइं दो मज्झील्लाइं समोसरणाइं जाव अणागारोवउत्ता वि । एवं जाव चउरिंदियाणं । सव्वहाणेसु एयाइं चेव मज्झिल्लगाइं दो समोसरणाइं × × × पच्चिदियतिरिक्खजोणिया जहा जीवा । नवरं जं अत्थि तं भाणियव्वं । मणुस्सा जहा जीवा तहेव निरवसेसं । वाणमंतर-जोइसिय-वेमाणिया जहा असुरकुमारा ।

—भग० श ३० । उ १ । सू ३, ४, ८, ९ । पृ० ६०५-६०६

दर्शन की अपेक्षा से जीव, समास में, चार मतवादों में विभक्त हैं, यथा— क्रियावादी, अक्रियावादी, अज्ञानवादी तथा विनयवादी । इन मतवादों के सम्बन्ध में विशेष जानकारी हेतु आया० श्रु १ । अ १ । उ १ । सू ३ की टीका देखें ।

सलेशी जीव क्रियावादी भी, अक्रियावादी भी, अज्ञानवादी भी तथा विनयवादी भी होते हैं । कृष्णलेशी यावत् शुक्ललेशी जीव चारों मतवादवाले होते हैं । अलेशी जीव केवल क्रियावादी होते हैं ।

सलेशी नारकी भी चारों मतवादवाले होते हैं । कृष्णलेशी, नीललेशी तथा कापोतलेशी नारकी भी चारों मतवादवाले होते हैं । सलेशी असुरकुमार यावत् स्तनितकुमार चारों मतवादवाले होते हैं ।

सलेशी पृथ्वीकायिक जीव अक्रियावादी तथा अज्ञानवादी होते हैं । इसी प्रकार यावत् सलेशी चतुरिन्द्रिय जीव अक्रियावादी तथा अज्ञानवादी होते हैं ।

सलेशी पंचेन्द्रिय तिर्यचयोनिवाले जीव चारों मतवादवाले होते हैं । सलेशी मनुष्य भी चारों मतवादवाले हैं । अलेशी मनुष्य केवल क्रियावादी होते हैं । सलेशी वानव्यंतर, ज्योतिषी तथा वैमानिक देव भी चारों मतवादवाले होते हैं ।

जिसके जितनी लेश्याएं हों उतने विवेचन करने चाहिए ।

'८३'२ सलेशी जीव के मतवाद (दर्शन) की अपेक्षा आयु का बंध—

किरियावाई णं भंते ! जीवा किं नेरइयाउयं पकरेंति, तिरिक्ख-जोणियाउयं पकरेंति, मणुस्साउयं पकरेंति, देवाउयं पकरेंति ? गोयमा ! नो नेरइयाउयं पकरेंति, नो तिरिक्खजोणियाउयं पकरेंति, मणुस्साउयं वि पकरेंति, देवाउयं वि पकरेंति ।

जइ देवाउयं पकरेंति किं भवणवासिदेवाउयं पकरेंति, जाव वेमाणियदेवाउयं पकरेंति ? गोयमा ! नो भवणवासिदेवाउयं पकरेंति, नो वाणमंतरदेवाउयं पकरेंति, नो जोइसियदेवाउयं पकरेंति, वेमाणियदेवाउयं पकरेंति । अकिरियावाई णं भंते ! जीवा किं नेरइयाउयं पकरेंति, तिरिक्ख० पुच्छा ? गोयमा ! नेरइयाउयं वि पकरेंति जाव देवाउयं वि पकरेंति । एवं अन्नाणियवाई वि, वेणइयवाई वि ।

सलेस्सा णं भंते ! जीवा किरियावाई किं नेरइयाउयं पकरेंति० पुच्छा ? गोयमा ! नो नेरइयाउयं० एवं जहेव जीवा तहेव सलेस्सा वि चउहि वि समोसरणेहिं भाणियन्वा । कणहलेस्सा णं भंते ! जीवा किरियावाई किं नेरइयाउयं पकरेंति०-पुच्छा ? गोयमा ! नो नेरइयाउयं पकरेंति, नो तिरिक्खजोणियाउयं पकरेंति, मणुस्साउयं पकरेंति, नो देवाउयं पकरेंति । अकिरियावाई अन्नाणियवाई वेणइयवाई य चत्तारि वि आउयाइं पकरेंति । एवं नीललेस्सा वि । काउलेस्सा वि । तेउलेस्सा णं भंते ! जीवा किरियावाई किं नेरइ-

याउयं पकरेइ (रेंति०) पुच्छा ? गोयमा ! नो नेरइयाउयं पकरेइ, नो तिरिक्खजोणियाउयं पकरेइ, मणुस्साउयं पकरेइ, देवाउयं वि पकरेइ । जइ देवाउयं पकरेइ—तहेव । तेउलेस्सा णं भंते ! जीवा अकिरियावाई किं नेरइयाउयं० पुच्छा ? गोयमा ! नो नेरइयाउयं पकरेइ, मणुस्साउयं वि पकरेइ, तिरिक्खजोणियाउयं वि पकरेइ, देवाउयं वि पकरेइ । एवं अज्ञाणियवाई वि, वेणइयवाई वि । जहा तेउलेस्सा एवं पम्हलेस्सा वि सुक्कलेस्सा वि नायउवा ।

अलेस्सा णं भंते ! जीवा किरियावाई किं नेरइयाउयं० पुच्छा ? गोयमा ! नो नेरइयाउयं पकरेइ, नो तिरिक्खजोणियाउयं पकरेइ, नो मणुस्साउयं पकरेइ, नो देवाउयं पकरेइ (रेंति) ।

—भग० श ३० । उ १ । सू १० से १७ । पृ० ६०६-६०७

सलेशी क्रियावादी जीव नरकायु तथा तिर्यंचायु नहीं बाँधते हैं । वे मनुष्यायु तथा देवायु बाँधते हैं ; देवायु में भी वे सिर्फ वैमानिक देवों की आयु बाँधते हैं । सलेशी अक्रियावादी जीव नरकायु, तिर्यंचायु, मनुष्यायु तथा देवायु चारों प्रकार की आयु बाँधते हैं । इसी प्रकार सलेशी अज्ञानवादी तथा सलेशी विनयवादी भी चारों प्रकार की आयु बाँधते हैं । कृष्णलेशी क्रियावादी जीव केवल मनुष्यायु बाँधते हैं । कृष्णलेशी अक्रियावादी, अज्ञानवादी तथा विनयवादी चारों प्रकार की आयु बाँधते हैं । नीललेशी तथा कापोतलेशी क्रियावादी जीव केवल मनुष्यायु बाँधते हैं । नीललेशी तथा कापोतलेशी अक्रियावादी, अज्ञानवादी तथा विनयवादी जीव चारों प्रकार की आयु बाँधते हैं । तेजोलेशी क्रियावादी जीव केवल मनुष्यायु तथा देवायु बाँधते हैं । देवायु में भी वे केवल वैमानिक देवायु बाँधते हैं । तेजोलेशी अक्रियावादी जीव नरकायु नहीं बाँधते, तिर्यंचायु, मनुष्यायु तथा देवायु बाँधते हैं । तेजोलेशी अज्ञानवादी तथा विनयवादी भी नरकायु नहीं बाँधते, तिर्यंचायु, मनुष्यायु तथा देवायु बाँधते हैं । तेजोलेशी चार मतवादियों के सम्बन्ध में जैसा कहा वैसे ही पद्मलेशी और शुक्ललेशी चारों मतवादियों के सम्बन्ध में कहना चाहिए । अलेशी क्रियावादी जीव चारों में से कोई आयु नहीं बाँधते हैं ! अलेशी केवल क्रियावादी होते हैं ।

सलेस्सा णं भंते ! नेरइया किरियावाई किं नेरइयाउयं० ? एवं सव्वे वि नेरइया जे किरियावाई ते मणुस्साउयं एगं पकरेइ, जे

अकिरियावाई, अन्नाणियवाई, वेणइयवाई ते सव्वट्टाणेसु वि नो नेरइयाउयं पकरेइ, तिरिक्खजोणियाउयं वि पकरेइ, मणुस्साउयं वि पकरेइ, नो देवाउयं पकरेइ × × × एवं जाव थणियकुमारा जहेव नेरइया ।

अकिरियावाई णं भंते ! पुढविकाइया० पुच्छा ? गोयमा ! नो नेरइयाउयं पकरेइ, तिरिक्खजोणियाउयं पकरेइ, मणुस्साउयं पकरेइ, नो देवाउयं पकरेइ । एवं अन्नाणियवाई वि । सलेस्सा णं भंते० ! एवं जं जं पदं अस्थि पुढविकाइयाणं तहिं तहिं मज्झिमेसु दोसु समोसरणेसु एवं चेव दुविहं आउयं पकरेइ । नवरं तेऊलेस्साए न किं वि पकरेइ । एवं आउक्काइयाण वि, एवं वणस्सइकाइयाण वि । तेउकाइया, वाउकाइया सव्वट्टाणेसु मज्झिमेसु दोसु समोसरणेसु नो नेरइयाउयं पकरेइ, तिरिक्खजोणियाउयं पकरेइ, नो मणुस्साउयं पकरेइ, नो देवाउयं पकरेइ । वेइंदिय-तेइंदियचउरिंदियाणं जहा पुढविकाइयाणं × × × किरियावाई णं भंते ! पंचिदियतिरिक्खजोणिया किं नेरइयाउयं पकरेइ० पुच्छा ? गोयमा ! जहा मणपज्जवनाणी, अकिरियावाई, अन्नाणियवाई, वेणइयवाई य चउन्विहं वि पकरेइ । जहा ओहिया तहा सलेस्सा वि । कण्हलेस्सा णं भंते ! किरियावाई पंचिदियतिरिक्खजोणिया किं नेरइयाउयं० पुच्छा ? गोयमा ! नो नेरइयाउयं पकरेइ, नो तिरिक्खजोणियाउयं पकरेइ, नो मणुस्साउयं पकरेइ, नो देवाउयं पकरेइ । अकिरियावाई, अन्नाणियवाई, वेणइयवाई चउन्विहं वि पकरेइ । जहा कण्हलेस्सा एवं नीललेस्सा वि, काऊलेस्सा वि, तेऊलेस्सा जहा सलेस्सा । नवरं अकिरियावाई, अन्नाणियवाई, वेणइयवाई य नो नेरइयाउयं पकरेइ, तिरिक्खजोणियाउयं वि पकरेइ, मणुस्साउयं वि पकरेइ, देवाउयं वि पकरेइ । एवं पम्हलेसा वि, एवं सुक्कलेस्सा वि भाणियव्वा । × × × जहा पंचिदियतिरिक्खजोणियाणं वत्तव्वया भणिया एवं मणुस्साण वि (वत्तव्वया) भाणियव्वा × × × अलेस्सा केवलनाणी अबेदगा अकसाई अजोगी य एए न एणं वि आउयं न पकरेइ । जहा ओहिया

जीवा सेसं तं चेष । वाणमंतरजोइसियवेमाणिया जहा असुर-
कुमारा ।

—भग० श ३० । उ १ । सू २५ से २६ । पृ० ६०७-६०८

सलेशी क्रियावादी नारकी सब केवल मनुष्यायु बाँधते हैं तथा अक्रियावादी, अज्ञानवादी तथा विनयवादी नारकी सभी स्थानों में नरकायु तथा देवायु नहीं बाँधते हैं, तिर्यचायु तथा मनुष्यायु बाँधते हैं । नारकी की तरह सलेशी असुर-कुमार यावत् स्तनितकुमार भवनवासी देव जो क्रियावादी हैं वे केवल एक मनुष्यायु का बंधन करते हैं तथा जो अक्रियावादी, अज्ञानवादी तथा विनयवादी हैं वे तिर्यचायु तथा मनुष्यायु का बंधन करते हैं ।

सलेशी पृथ्वीकायिक जो अक्रियावादी तथा अज्ञानवादी होते हैं वे तिर्यचायु तथा मनुष्यायु बाँधते हैं नरकायु तथा देवायु नहीं बाँधते हैं । कृष्ण-नील-कापोतलेशी पृथ्वीकायिकों के सम्बन्ध में ऐसा ही कहना चाहिए । तेजोलेशी पृथ्वी-कायिक किसी भी आयु का बंधन नहीं करते हैं । पृथ्वीकायिक जीवों की तरह अपृकायिक तथा वनस्पतिकायिक जीवों के सम्बन्ध में जानना चाहिए ।

सलेशी अग्निकायिक तथा वायुकायिक जीव अक्रियावादी तथा अज्ञानवादी ही होते हैं तथा सर्व स्थानों में केवल तिर्यचायु बाँधते हैं ।

पृथ्वीकायिक जीवों की तरह द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय तथा चतुरिन्द्रिय जीवों के सम्बन्ध में जानना चाहिए ।

क्रियावादी सलेशी तिर्यंच पंचेन्द्रिय जीव मनःपर्यव ज्ञानी की तरह केवल देवायु बाँधते हैं तथा देवायु में भी केवल वैमानिक देवों की आयु बाँधते हैं । अक्रियावादी, अज्ञानवादी तथा विनयवादी सलेशी पंचेन्द्रिय तिर्यंच चारों ही प्रकार की आयु बाँधते हैं । कृष्णलेशी क्रियावादी पंचेन्द्रिय तिर्यंच कोई भी आयु नहीं बाँधते हैं । अक्रियावादी, अज्ञानवादी तथा विनयवादी कृष्णलेशी पंचेन्द्रिय तिर्यंच चारों ही प्रकार की आयु बाँधते हैं । जैसा कृष्णलेशी पंचेन्द्रिय तिर्यंच के सम्बन्ध में कहा, वैसा ही नीललेशी तथा कापोतलेशी तिर्यंच पंचेन्द्रिय के सम्बन्ध में जानना चाहिए । क्रियावादी तेजोलेशी तिर्यंच पंचेन्द्रिय क्रियावादी सलेशी तिर्यंच पंचेन्द्रिय की तरह केवल वैमानिक देवों की आयु बाँधते हैं । अक्रिया-वादी, अज्ञानवादी तथा विनयवादी तेजोलेशी तिर्यंच पंचेन्द्रिय नरकायु नहीं बाँधते हैं, परन्तु तिर्यञ्चायु, मनुष्यायु, देवायु बाँधते हैं । पक्षलेशी तथा शुक्ललेशी पंचेन्द्रिय तिर्यंच के सम्बन्ध में जैसा तेजोलेशी तिर्यंच पंचेन्द्रिय के सम्बन्ध में कहा, वैसा ही कहना चाहिए ।

जिस प्रकार सलेशी यावत् शुक्ललेशी पंचेन्द्रिय तिर्यच के सम्बन्ध में कहा गया है वैसा ही सलेशी यावत् शुक्ललेशी मनुष्य के सम्बन्ध में भी कहना चाहिए । अलेशी मनुष्य किसी भी प्रकार की आयु नहीं बाँधते हैं ।

वाणव्यंतर-उद्योतिषी वैमानिक देवों के सम्बन्ध में वैसा ही कहना चाहिए जैसा असुरकुमार देवों के सम्बन्ध में कहा गया है । जिसमें जितनी लेश्या हो उतनी लेश्या का विवेचन करना चाहिए ।

'८३'३ सलेशी जीव और मतवाद की अपेक्षा से भवसिद्धिकता-अभवसिद्धिकता—

सलेस्सा णं भंते ! जीवा किरियावाई किं भवसिद्धिया पुच्छा ? गोयमा ! भवसिद्धिया, नो अभवसिद्धिया । सलेस्सा णं भंते ! जीवा अकिरियावाई किं भवसिद्धिया पुच्छा ? गोयमा ! भवसिद्धिया वि अभवसिद्धिया वि । एवं अन्नार्णयवाई वि, वेणइयवाई वि । जहा सलेस्सा एवं जाव सुक्कलेस्सा । अलेस्सा णं भंते ! जीवा किरियावाई किं भवसिद्धिया पुच्छा ? गोयमा ! भवसिद्धिया, नो अभवसिद्धिया । × × × एवं नेरइया वि भाणियव्वा नवरं नायव्वं जं अत्थि, एवं असुरकुमारा वि जाव थणियकुमारा, पुढाविकाइया सव्वट्टाणेषु दोसु वि समोसरणेसु भवसिद्धिया वि अभवसिद्धिया वि एवं जाव वणस्सइकाइया, वेइ दियतेइ दियचउरिदिया एवं चेव नवरं सम्मत्ते ओहिनाणे आभिणवोहीयनाणे सुयनाणे—एएसु चेव दोसु मड्ढिमेसु समोसरणेसु भवसिद्धिया नो अभवसिद्धिया, सेसं तं चेव, पंचिदियतिरिक्खजोणिया जहा नेरइया, नवरं नायव्वं जं अत्थि, मणुस्सा जहा ओहिया जीवा । वाणमंतरजोइसियवेमाणिया जहा असुरकुमारा ।

—भग० श ३० । उ १ । सू ३२ से ३४ । पृ० ६०८-६

क्रियावादी सलेशी जीव भवसिद्धिक होते हैं, अभवसिद्धिक नहीं होते हैं । अक्रियावादी, अज्ञानवादी तथा विनयवादी सलेशी जीव भवसिद्धिक भी होते हैं, अभवसिद्धिक भी होते हैं । कृष्णलेशी यावत् शुक्ललेशी जीवों के सम्बन्ध में वैसा ही कहना चाहिए जैसा सलेशी जीवों के सम्बन्ध में कहा है । क्रियावादी अलेशी जीव भवसिद्धिक होते हैं, अभवसिद्धिक नहीं होते हैं ।

सलेशी यावत् कापोतलेशी नारकी के सम्बन्ध में वैसा ही कहना चाहिए, जैसा सलेशी जीव के सम्बन्ध में कहा है। इसी प्रकार सलेशी यावत् तेजोलेशी असुरकुमार यावत् स्तनितकुमार के सम्बन्ध में भी ऐसा ही कहना चाहिए।

पृथ्वीकायिक यावत् चतुरिन्द्रिय के सर्वलेश्या स्थानों में मध्य के दो समवसरणों में भवसिद्धिक भी होते हैं, अभवसिद्धिक भी होते हैं।

सलेशी यावत् शुक्ललेशी तिर्यक् पंचेन्द्रिय के सम्बन्ध में वैसा ही कहना चाहिए जैसा नारकी के सम्बन्ध में कहा है।

क्रियावादी सलेशी यावत् शुक्ललेशी तथा अलेशी मनुष्य भवसिद्धिक होते हैं, अभवसिद्धिक नहीं होते हैं। अक्रियावादी, अज्ञानवादी तथा विनयवादी सलेशी यावत् शुक्ललेशी मनुष्य भवसिद्धिक भी होते हैं, अभवसिद्धिक भी होते हैं।

वानव्यंतर-ज्योतिषी-वैमानिक देवों के सम्बन्ध में वैसा ही कहना चाहिए जैसा असुरकुमार देवों के सम्बन्ध में कहा गया है। जिसमें जितनी लेश्या हो उतनी लेश्या का विवेचन करना चाहिए।

'८३'४ सलेशी अनंतरोवपत्र यावत् अचरम जीव तथा मतवाद की अपेक्षा से वक्तव्यता—

अणंतरोववन्नगा णं भंते ! नेरइया किं किरियावाई० पुच्छा ? गोयमा ! किरियावाई वि जाव वेणइयवाई वि । सलेस्सा णं भंते ! अणंतरोववन्नगा नेरइया किं किरियावाई० ? एवं चेव, एवं जहेव पढमुहेसे नेरइयाणं वत्तव्वया तहेव इह वि भाणियव्वा, नवरं जं जस्स अत्थि अणंतरोववगाणं नेरइयाणं तं तस्स भाणियव्वं । एवं सब्बजीवाणं जाव वेमाणियाणं, नवरं अणंतरोववन्नगाणं जं जहिं अत्थि तं तहिं भाणियव्वं ।

सलेस्सा णं भंते ! किरियावाई अणंतरोववन्नगा नेरइया किं नेरइयाउयं० पुच्छा ? गोयमा ! नो नेरइयाउयं पकरेइ (रेंति) जाव नो देवाउयं पकरेइ । एवं जाव वेमाणिया । एवं सब्बहाणेसु वि अणंतरोववन्नगा नेरइया न किंचि वि आउयं पकरेइ जाव अणागा-रोवउत्तत्ति । एवं जाव वेमाणिया णं नवरं जं जस्स अत्थि तं तस्स भाणियव्वं ।

सलेस्सा णं भंते ! किरियावाई अणंतरोववन्नगा नेरइया किं भवसिद्धिया ? अभवसिद्धिया ? गोयमा ! भवसिद्धिया, नो अभव-सिद्धिया, एवं एएणं अभिलावेणं जहेव ओहिए उहेसए नेरइयाणं वत्तव्वया भणिया तहेव इह वि भाणियव्वा जाव अणागारोवउत्तत्ति, एवं जाव वेमाणियाणं नवरं जं जस्स अत्थि तं तस्स भाणियव्वं, इमं से लक्खणं—जे किरियावाई सुक्कपक्खिया सम्मामिच्छदिद्धिया एए सव्वे भवसिद्धिया, नो अभवसिद्धिया । सेसा सव्वे भवसिद्धिया वि । अभवसिद्धिया वि ।

परंपरोववन्नगा णं भंते ! नेरइया किं किरियावाई० एवं जहेव ओहिओ उहेसओ तहेव परंपरोववन्नएसु वि नेरइयाईओ तहेव निरवसेसं भाणियव्वं, तहेव तियदंडगसंगहिओ ।

एवं एएणं कमेणं जच्चेव बंधिसए उहेसगणं परिवाडी सच्चेव इहं वि जाव अचरिमो उहेसओ, नवरं अणंतरा चत्तारि वि एककगमगा, परंपरा चत्तारि वि एकगमएणं । एवं चरिमा वि, अचरिमा वि एवं चेव, नवरं अलेस्सो केवली अजोगी न भण्णइ । सेसं तहेव ।

—भग० श ३० । उ २ से ११ । पृ० ६०६-१०

सलेशी अनंतरोपपन्नक नारकी चारों मतवाद वाले होते हैं । प्रथम उद्देशक ('८३'१) में नारकियों के सम्बन्ध में जैसी वक्तव्यता कही वैसी ही यहाँ भी कहनी चाहिए । लेकिन अनंतरोपपन्नक नारकियों में जिसमें जो सम्भव हो उसमें वह कहना चाहिए । इसी प्रकार यावत् वैमानिक देव तक सब जीवों के सम्बन्ध में जानना चाहिए । लेकिन अनंतरोपपन्नक जीवों में जिसमें जो संभव हो उसमें वह कहना चाहिए ।

क्रियावादी, अक्रियावादी, अज्ञानवादी तथा विनयवादी सलेशी अनंतरोपपन्न नारकी किसी भी प्रकार की आयु नहीं बँधते हैं । इसी प्रकार यावत् वैमानिक देवों तक कहना चाहिए । लेकिन जिसमें जो संभव हो उसमें वह कहना चाहिए ।

क्रियावादी सलेशी अनंतरोपपन्नक नारकी भवसिद्धिक होते हैं, अभवसिद्धिक नहीं होते हैं । इस प्रकार इस अभिलाप से लेकर औधिक उद्देशक (देखो '८३'३) में नारकियों के सम्बन्ध में जैसी वक्तव्यता कही वैसी वक्तव्यता यहाँ

भी कहनी चाहिए। इसी प्रकार यावत् वैमानिक देव तक जानना चाहिए लेकिन जिसके जो सम्भव हो वह कहना चाहिए। इस लक्षण से जो क्रियावादी, शुक्लपक्षी, सम्यग्मिथ्यादृष्टि होते हैं वे भवसिद्धिक होते हैं, अभवसिद्धिक नहीं। अवशेष सब जीव भवसिद्धिक भी होते हैं, अभवसिद्धिक भी होते हैं।

सलेशी परम्परोपपन्नक नारकी आदि (यावत् वैमानिक) जीवों के सम्बन्ध में जैसा औधिक उद्देशक में कहा वैसा ही तीनों दण्डकों (क्रियावादित्वादि, आयुबंध, भव्याभव्यत्वादि) के सम्बन्ध में निरवशेष कहना चाहिए।

इस प्रकार इसी क्रम से बंधक शतक (देखो '७५) में उद्देशकों की जो परिपाटी कही है उसी परिपाटी से यहाँ अचरम उद्देशक तक जानना चाहिए। विशेषता यह है कि 'अतन्तर' शब्द घटित चार उद्देशकों में तथा 'परम्पर' घटित चार उद्देशकों में एक-सा गमक कहना चाहिए। इसी प्रकार 'चरम' तथा 'अचरम' शब्द घटित उद्देशकों के सम्बन्ध में भी कहना चाहिए लेकिन अचरम में अलेशी, केवली, अयोगी के सम्बन्ध में कुछ भी न कहना चाहिए।

'८४ सलेशी जीव और समाहारादि विचार—

सलेस्सा णं भंते ! नेरइया सव्वे समाहारगा ? ओहियाणं, सलेस्साणं, सुक्कलेसाणं, एएसि णं तिण्हं एक्को गमो । कण्हलेस्साणं नीललेस्साण वि एक्को गमो नवरं वेयणाए मायिमिच्छादिट्ठी-उववन्नगा य, अमायिसम्मदिट्ठीउववन्नगा य भाणियव्वा । मणुस्सा किरियासु सरागवीयराग-पमत्तापमत्ता ण भाणियव्वा ।

काउलेस्साण वि एसेव गमो । नवरं नेरइए जहा ओहिए दंडए तहा भाणियव्वा, तेउलेस्सा, पण्हलेस्साणस्स जस्स अस्थिजहा ओहिओ दंडओ तहा भाणियव्वा । नवरं मणुस्सा सरागा य वीयराग न भाणियव्वा ।

गाहा—दुक्खाउए उदिन्ने आहारे कम्मवण्ण लेस्सा य ।

समवेयण समकिरिया समाउए चेव बोधव्वा ॥

—भग० श १ । उ २ । सू १०१

—पण्ण० प १७ । उ २ । सू ६ से ११

प्रश्न—क्या लेश्यावाले समस्त नारकी समान आहारवाले होते हैं ?

उत्तर—औधिक सामान्य, सलेश्य एवं शुक्ललेश्यावाले—इन तीनों का एक गम-पाठ कहना चाहिए । कृष्णलेश्या और नीललेश्या वालों का एक समान पाठ कहना चाहिए, किन्तु उनकी वेदना में इस प्रकार भेद हैं—मायी मिथ्यादृष्टि उपपन्नक और अमायी सम्यग्दृष्टि उपपन्नक कहने चाहिए । तथा कृष्णलेश्या और नीललेश्या (के संदर्भ) में मनुष्यों के सरागसंयत-वीतराग संयत, प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयत (भेद) नहीं कहना चाहिए । क्योंकि कृष्ण और नील लेश्यावाले वीतराग संयत नहीं होते हैं, किन्तु प्रमत्त संयत ही होते हैं । कापोतलेश्या में भी यही पाठ कहना चाहिए । भेद यह है कि कापोतलेश्यावाले नारकी की औधिक दंडक के समान कहना चाहिए । तेजोलेश्या और पद्मलेश्यावालों को औधिक के दंडक समान कहना चाहिए । विशेषता यह है कि इन मनुष्यों में सराग और वीतराग का भेद नहीं कहना चाहिए ; क्योंकि तेजोलेश्या और पद्मलेश्यावाले मनुष्य सराग ही होते हैं ।

विवेचन—नारकी आदि चौबीस दंडकों के सम्बन्ध में समाहारादि दशद्वार सम्बन्धी प्रश्नोत्तर नारकी से वैमानिक तक चौबीस दंडकों के सम्बन्ध में निम्नोक्त दशद्वार सम्बन्धी प्रश्नोत्तर अंकित किये गये हैं—

१—सम-आहार	६—सम-लेश्या
२—सम-शरीर	७—सम-वेदना
३—सम-उच्छ्वास-निःश्वास	८—सम-क्रिया
४—सम-कर्म	९—समायुष्क
५—सम-वर्ण	१०—समोपपन्नक

औधिक गमक का विवेचन

नेरइयादीणं समाहार समशरीरादि पदं ।

नेरइया णं भंते ! सव्वे समाहारा ? सव्वे समसरीरा ? सव्वे समुस्सासनीसासा ? णिस्सासा(ता) ।

गोयमा ! नो इण्हं समहं ।

से केण्हं णं भंते ! एवं वुच्चइ—नेरइया नो सव्वे समाहारा ? नो सव्वे समसरीरा ? नो सव्वे समुस्ससानीसासा ?

गोयमा ! नेरइया दुविहा पण्णत्ता, तं जहा—महासरीरा य, अप्पसरीरा य । तत्थ णं जे ते महासरीरा ते बहुतराए पोग्गले

आहारैति, बहुतराए पोग्गले परिणामैति, बहुतराए पोग्गले उस्ससंति, बहुतराए पोग्गले नीससंति ; अभिक्खणं आहारैति, अभिक्खणं परिणामैति, अभिक्खणं उस्ससंति, अभिक्खणं नीससंति ! तत्थ णं जे ते अप्पसरीरा ते णं अप्पतराए पोग्गले आहारैति, अप्पतराए पोग्गले परिणामैति, अप्पतराए पोग्गले उस्ससंति, अप्पतराए पोग्गले नीससंति ; आहच्च आहारैति, आहच्च परिणामैति, आहच्च उस्ससंति, आहच्च नीससंति । से तेणद्धे णं गोयमा ! एवं बुच्चइ—नेरइया नो सव्वे समाहारा, नो सव्वे समसरीरा, नो सव्वे समुम्सासनीसासा ।

—भग० श १ । उ २ । सू ६६, ७०

१—नारकी का दंडक

नारकी दो प्रकार के कहे गये है—

१—महाशरीरवाले (महाकाय) और अप्शरीर (छोटे शरीर) वाले । इनमें जो बड़े शरीर वाले हैं वे बहुत पुद्गलों का आहार करते हैं, बहुत (आहत) पुद्गलों का परिणमन करते हैं, बहुत पुद्गलों को उच्छ्वास रूप में ग्रहण करते हैं और बहुत पुद्गलों को निःश्वास रूप से छोड़ते हैं तथा वे बार-बार आहार लेते हैं, बार-बार उसे परिणमाते हैं बार-बार उच्छ्वास लेते हैं तथा निःश्वास छोड़ते हैं । उनमें जो छोटे शरीर वाले नारकी हैं वे थोड़े पुद्गलों का आहार करते हैं तथा थोड़े से आहत पुद्गलों का परिणमन करते हैं और थोड़े पुद्गलों का उच्छ्वास रूप में ग्रहण करते हैं तथा थोड़े पुद्गलों का निःश्वास रूप में छोड़ते हैं । वे कदाचित् आहार करते हैं, कदाचित् उसे परिणमाते हैं और कदाचित् उच्छ्वास लेते हैं और निःश्वास छोड़ते हैं । इसलिए हे गौतम ! इस हेतु से यह कहा जाता है कि सभी नारकी जीव समान आहार वाले, समान शरीर वाले और समान उच्छ्वास निःश्वास वाले नहीं होते हैं ।

'२—नेरइया णं भंते ! सव्वे समकम्मा ? गोयमा ! नो इणद्धे समद्धे ।

से केणद्धे णं भंते ! एवं बुच्चइ—नेरइया नो सव्वे समवण्णा ?

गोयमा ! नेरइया दुविहा षण्णत्ता, तं जहा—पुव्वोववन्नगा य, पच्छोववन्नगा य । तत्थ णं जे ते पुव्वोववन्नगा ते णं अप्पकम्मतरागा । तत्थ णं जे ते पच्छोववन्नगा ते णं महाकम्मतरागा । से तेणद्धे णं गोयमा ! एवं बुच्चइ—नेरइया नो सव्वे समकम्मा ।

३—नेरइया णं भंते ! सव्वे समवण्णा ! गोयमा ! नो इण्ह्हे सम्ह्हे ।

से केण्ह्हे णं भंते ! एवं बुच्चइ—नेरइया नो सव्वे समवण्णा ?

गोयमा ! नेरइया दुविहा पण्णत्ता, तं जहा—पुव्वोववन्नगा य, पच्छोववन्नगा य । तत्थ णं जे ते पुव्वोववन्नगा ते णं विसुद्धवण्ण-तरागा । तत्थ णं जे ते पच्छोववन्नगा ते णं अविमुद्धवण्णतरागा० । से तेण्ह्हे णं गोयमा ! एवं बुच्चइ—नेरइया नो सव्वे समवण्णा ।

—भग० श १ । उ २ । सू ७१ ते ७४

२—सभी नारकी समान कर्मवाले नहीं है क्योंकि नारकी जीव दो प्रकार के हैं, यथा १—पूर्वोपपन्नक और २—पश्चादुपपन्नक (पीछे उत्पन्न हुए) । इनमें जो पूर्वोपपन्नक है वे अल्पकर्मवाले हैं और उनमें जो पश्चादुपपन्नक है, वे महाकर्म-वाले हैं । इसलिए ऐसा कहा जाता है कि सभी नारकी समान कर्मवाले नहीं है ।

३—सभी नारकी समान वर्णवाले नहीं है । क्योंकि नारकी दो प्रकार के होते हैं, यथा—पूर्वोपपन्नक और पश्चादुपपन्नक । इनमें जो पूर्वोपपन्नक है वे विशुद्धवर्णवाले हैं, तथा जो पश्चादुपपन्नक है, वे अविशुद्धवर्णवाले हैं । इसलिए ऐसा कहा जाता है कि सभी नारकी जीव समानवर्णवाले नहीं है ।

४—नेरइया णं भंते ! सव्वे समलेस्सा ?

गोयमा ! नो इण्ह्हे सम्ह्हे ।

से केण्ह्हे णं भंते ! एवं बुच्चइ—नेरइया नो सव्वे समलेस्सा ?

गोयमा ! नेरइया दुविहा पण्णत्ता, तं जहा—पुव्वोववन्नगा य, पच्छोववन्नगा य । तत्थ णं जे ते पुव्वोववन्नगा ते णं विसुद्धलेस्स-तरागा । तत्थ णं जे ते पच्छोववन्नगा ते णं अविमुद्धलेस्सतरागा । से तेण्ह्हे णं गोयमा ! एवं बुच्चइ—नेरइया नो सव्वे समलेस्सा ।

५—नेरइया णं भंते ! सव्वे समवेयणा ?

गोयमा ! नो इण्ह्हे सम्ह्हे ।

से केण्ह्हे णं भंते ! एवं बुच्चइ—नेरइया नो सव्वे समवेयणा ?

गोयमा ! नेरइया दुविहा पण्णत्ता, तं जहा—सण्णिभूया य, असण्णिभूया य । तत्थ णं जे ते सण्णिभूया ते णं महावेयणा । तत्थ णं जे ते असण्णिभूया ते णं अप्पवेयणतरागा । से तेण्ह्णेणं गोयमा ! एवं बुञ्चइ—नेरइया नो सव्वे समवेयणा ।

—भग० श १ । उ २ । सू ७५ से ७८

४—सभी नारकी समान लेश्या वाले नहीं है । क्योंकि नारकी दो प्रकार के होते हैं, यथा—पूर्वोपपन्नक तथा पश्चादुपपन्नक । इनमें जो पूर्वोपपन्नक है वे विद्युद्धलेश्यावाले और इनमें जो पश्चादुपपन्नक हैं वे अविद्युद्धलेश्यावाले हैं । इसलिए ऐसा कहा जाता है कि सभी नारकी समानलेश्यावाले नहीं है ।

५—सभी नारकी समान वेदना वाले नहीं है । क्योंकि नारकी दो प्रकार के होते हैं, यथा—संज्ञीभूत और असंज्ञीभूत । इनमें जो संज्ञीभूत हैं वे महावेदनावाले हैं और इनमें जो असंज्ञीभूत हैं वे (अपेक्षाकृत) अल्पवेदनावाले हैं । इसलिए ऐसा कहा जाता है कि सभी नारकी समान वेदनावाले नहीं हैं ।

६—नेरइया णं भंते ! सव्वे समकिरिया ? गोयमा ! नो इण्ह्णे सम्ह्णे । से केण्ह्णेणं भंते ! एवं बुञ्चइ—नेरइया नो सव्वे समकिरिया ?

गोयमा ! नेरइया ति विहा पण्णत्ता, तं जहा—सम्मदिट्ठी, मिच्छदिट्ठी, सम्मामिच्छदिट्ठी । तत्थ णं जे ते सम्मदिट्ठी तेसि णं चत्तारि किरियाओ पण्णत्ताओ, तं जहा—आरंभिया, पारिग्गहिया, मायावत्तिया, अप्पच्चक्खाणकिरिया ।

तत्थ णं जे ते मिच्छदिट्ठी तेसि णं पंच किरियाओ कज्जंति, तं जहा—आरंभिया, पारिग्गहिया, मायावत्तिया, अप्पच्चक्खाणकिरिया०, मिच्छादंसणवत्तिया । एवं सम्मामिच्छदिट्ठीणं पि । से तेण्ह्णेणं गोयमा ! एवं बुञ्चइ—नेरइया नो सव्वे समकिरिया ।

—भग० श १ । उ २ । सू ७९-८०

६—सभी नारकी समान क्रियावाले नहीं हैं । क्योंकि नारकी तीन प्रकार के कहे गये हैं, यथा—(१) सम्यग्दृष्टि, (२) मिथ्यादृष्टि और (३) सम्यग्मिथ्यादृष्टिवाले । इनमें जो सम्यग्दृष्टि है, उनके चार क्रियाएं कही गई हैं, यथा—

(१) आरम्भिकी, (२) पारिग्रहिकी, (३) मायाप्रत्यया और (४) अप्रत्याख्यान क्रिया । इनमें जो मिथ्यादृष्टि है, उनके पांच क्रियाएं कही गई हैं, यथा— (१) आरम्भिकी, (२) पारिग्रहिकी, (३) मायाप्रत्यया, (४) अप्रत्याख्यान और (५) मिथ्यादर्शनप्रत्यया । इसी प्रकार सम्यग्मिथ्यादृष्टि के भी पांचों क्रियाएं समझना चाहिए । अतः सभी नारकी समान क्रियावाले नहीं हैं ।

७—नेरइया णं भंते ! सव्वे समाउया ? सव्वे समोववन्नगा ?

गोयमा ! णो इण्हं समट्ठे । से केण्हं णं भंते ! एवं बुच्चइ—नेरइया नो सव्वे समाउया ? नो सव्वे समोववन्नगा ?

गोयमा ! नेरइया चउट्ठिहा पणत्ता, तं जहा—(१) अत्थेगइया समाउया समोववन्नगा (२) अत्थेगइया समाउया विसमोववन्नगा (३) अत्थेगइया विसमाउया समोववन्नगा (४) अत्थेगइया विसमाउया विसमोववन्नगा । से तेण्हं गोयमा ! एवं बुच्चइ—नेरइया नो सव्वे समाउया, नो सव्वे समोववन्नगा ।

—भग० श १ । उ २ । सू ८१-८२

७—सभी नारकी समान आयुष्यवाले और समोपपन्नक-एक साथ उत्पन्न होने वाले नहीं हैं । क्योंकि नारकी जीव चार प्रकार के कहे गये हैं, यथा— (१) समायुष्यक, समोपपन्नक (समान आयु वाले और एक साथ उत्पन्न हुए), (२) समायुष्यक, विषमोपपन्नक (समान आयु वाले और पहले-पीछे उत्पन्न हुए) (३) विषमायुष्यक, समोपपन्नक (विषम आयु वाले, किन्तु एक साथ उत्पन्न हुए) और (४) विषमायुष्यक, विषमोपपन्नक (विषम आयु वाले और पहले-पीछे उत्पन्न हुए) अतः सभी नारकी समान आयु वाले और एक साथ उत्पन्न होने वाले नहीं हैं ।

८—असुरकुमारा णं भंते ! सव्वे समाहारा ? सव्वे समसरीरा ?

जहा नेरइया तहा भाणियव्वा, नवरं—कम्म-वण्ण-लेस्साओ परिवत्तेयव्वाओ [पुव्वोववन्ना महाकम्मतरा, अविमुद्धवण्णतरा, अविमुद्धलेसतरा । पच्छोववन्ना पसत्था । सेसं तहेव] ।

एवं—जाव थणियकुमारा ।

९—पुढविकाइयाणं आहार-कम्म-वण्ण-लेस्सा जहा णेरइयाणं ।

पुढविकाइया णं भंते ! सव्वे समवेदणा ?

हंता गोयमा ! पुढविकाइया सव्वे समवेदणा ।

से केणट्ठेणं भंते ! एवं बुच्चइ—पुढविकाइया सव्वे समवेदणा ?

गोयमा ! पुढविकाइया सव्वे असण्णी असण्णिभूतं अणिदाए वेदणं वेदंति । से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं बुच्चइ—पुढविकाइया सव्वे समवेदणा ।

पुढविकाइया णं भंते ! सव्वे समकिरिया ?

हंता गोयमा ! पुढविकाइया सव्वे समकिरिया ।

से केणट्ठेणं भंते ! एवं बुच्चइ—पुढविकाइया सव्वे समकिरिया ?

गोयमा ! पुढविकाइया सव्वे मायीमिच्छदिट्ठी । ताणं णेयति-याओ पंच किरियाओ कज्जंति, तं जहा—आरंभिया, पारिग्गहिया, मायावत्तिया, अप्पच्चक्खाणकिरिया०, मिच्छादंसणवत्तिया । से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं बुच्चइ—पुढविकाइया सव्वे समकिरिया ।

समाउया, समोववन्नगा जहा नेरइया तहा भाणियव्वा ।

*१०—जहा पुढविकाइया तहा जाव चउरिदिथा ।

पंचिदियतिरिक्खजोणिया जहा णेरइया, नाणत्तं किरियासु ।

पंचिदियतिरिक्खजोणिया णं भंते ! सव्वे समकिरिया ?

गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे ।

से केणट्ठेणं भंते ! एवं बुच्चइ—पंचिदियतिरिक्खजोणिया नो सव्वे समकिरिया ? गोयमा ! पंचिदियतिरिक्खजोणिया तिविहा पण्णत्ता, तं जहा—सम्मदिट्ठी, मिच्छदिट्ठी, सम्मामिच्छदिट्ठी ।

तत्थ णं जे ते सम्मदिट्ठी ते दुविहा पण्णत्ता, तं जहा—असंजया य, संजयासंजया य ।

तत्थ णं जे ते संजयासंजया, तेसि णं तिण्णि किरियाओ कज्जंति, तं जहा—आरंभिया, पारिग्गहिया, मायावत्तिया । असंजयाणं चत्तारि । मिच्छदिट्ठीणं पंच । सम्मामिच्छदिट्ठीणं पंच ।

—भग० श १ । उ २ । सू ८३ से ६२

८ से १०—असुरकुमार से स्तनितकुमार

असुरकुमार के सम्बन्ध में सब वर्णन नारकी के समान कहना चाहिए। विशेषता यह है कि असुरकुमार के कर्म, वर्ण और लेख्या नारकी से विपरीत कहना चाहिए अर्थात् पूर्वोपपन्नक (पूर्वोत्पन्न) असुरकुमार महाकर्मवाले, अविशुद्धवर्णवाले और अविशुद्धलेख्यावाले हैं, जबकि पश्चादुपपन्नक (बाद में उत्पन्न होने वाले), प्रशस्त हैं। उससे अल्पकर्मवाले, विशुद्धवर्णवाले और विशुद्ध-लेख्यावाले हैं। शेष सब पहले के समान कहना चाहिए।

इसी प्रकार (नागकुमारों से लेकर) यावत् स्तनितकुमारों (तक) समझना चाहिए।

११—पृथ्वीकायादि का

पृथ्वीकायिक जीवों का आहार कर्म, वर्ण और लेख्या नारकी के समान समझना चाहिए।

सब पृथ्वीकायिक जीव समान वेदनावाले हैं। क्योंकि समस्त पृथ्वीकायिक जीव असंज्ञी है और असंज्ञीभूत वेदना को अनिर्धारित रूप से (अनिद्रा से) वेदते हैं। अतः सभी पृथ्वीकायिक जीव समान वेदनावाले हैं।

सभी पृथ्वीकायिक जीव समान क्रियावाले हैं। क्योंकि सभी पृथ्वीकायिक जीव मायी और मिथ्यादृष्टि हैं। अतः नियम से उन्हें पांचों क्रियाएँ लगती है, यथा—आरम्भिकी यावत् मिथ्यादर्शनप्रत्यया। अतः सभी पृथ्वीकायिक जीव समान क्रियावाले हैं।

जैसे नारकी जीवों में समायुष्क और समोपपन्नक आदि चार भंग कहे गये हैं वैसे ही पृथ्वीकायिक जीवों में भी कहने चाहिए।

जिस प्रकार पृथ्वीकायिक जीवों के आहारादि के विषय में निरूपण किया गया है, उसी प्रकार अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय तक के जीवों के सम्बन्ध में समझ लेना चाहिए।

१२—तिर्यञ्च पंचेन्द्रिय

पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च योनिक जीवों के आहारादि के सम्बन्ध में कथन भी नारकी के समान समझना चाहिए। केवल क्रियाओं में भिन्नता है—

अस्तु सभी तिर्यञ्च पंचेन्द्रिय योनिक जीव समक्रियावाले नहीं है । पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च योनिक जीव तीन प्रकार के होते हैं, यथा—सम्यग्दृष्टि, मिथ्यादृष्टि और सस्यग्मिथ्यादृष्टि (मिश्रदृष्टि) उनमें जो सम्यग्दृष्टि है वे दो प्रकार के हैं, यथा—असंयत और संयतासंयत । उनमें जो संयतासंयत है उन्हें तीन क्रियायें लगती है—आरम्भिकी, पारिप्लाहकी और मायाप्रत्यया । उनमें जो असंयत है उन्हें अप्रत्याष्यानी सहित चार क्रियाएं लगती है । जो मिथ्यादृष्टि है तथा सम्यग्मिथ्यादृष्टि है उन्हें पांचों क्रियाएं लगती है ।

११—मणुस्सादीणं समाहार-समसरीरादि-पदं

मणुस्सा^१ णं भंते ! सव्वे समाहारा ? सव्वे समसरीरा ? सव्वे समुस्सासनीसासा ?

गोयमा ! नो इणद्धे समद्धे !

से केणद्धे णं भंते ! एवं बुच्चइ—मणुस्सा नो सव्वे समाहारा ? नो सव्वे समसरीरा ? नो सव्वे समुस्सासनीसासा ?

गोयमा ! मणुस्सा दुविहा पण्णत्ता, तं जहा—महासरीरा य, अप्पसरीरा य । तत्थ णं जे ते महासरीरा ते बहुतराए पोग्गले आहारेंति, बहुतराए पोग्गले परिणामेंति, बहुतराए पोग्गले उस्ससंति, बहुतराए पोग्गले नीससंति ; आहच्च आहारेंति, आहच्च परिणामेंति, आहच्च उस्ससंति, आहच्च नीससंति ।

तत्थ णं जे ते अप्पसरीरा ते णं अप्पतराए पोग्गले आहारेंति, अप्पतराए पोग्गले परिणामेंति, अप्पतराए पोग्गले उस्ससंति, अप्पतराए पोग्गले नीससंति ; अभिक्खणं आहारेंति, अभिक्खणं परिणामेंति, अभिक्खणं उस्ससंति, अभिक्खणं नीससंति । से तेणद्धे णं गोयमा ! एवं बुच्चइ—मणुस्सा नो सव्वे समाहारा, नो सव्वे समसरीरा, नो सव्वे समुस्सासनीसासा ।

१. सं० पा०—मणुस्सा जहा णेरइया नाणत्तं जे महासरीरा ते बहुतराए पोग्गले आहारेंति आहच्च आहारेंति । जे अप्पसरीरा ते अप्पतराए पोग्गले आहारेंति अभिक्खणं आहारेंति सेसं जहा नेरइयाणं जाव वेयणा ।

मणुस्सा णं भंते ! सव्वे समकम्मा ?

गोयमा ! नो इण्ह्णे समह्णे ।

से केण्ह्णे णं भंते ! एवं बुच्चइ—मणुस्सा नो सव्वे समकम्मा ?

गोयमा ! मणुस्सा दुविहा पणत्ता, तं जहा—पुव्वोववन्नगा य, पच्छोववन्नगा य । तत्थ णं जे ते पुव्वोववन्नगा ते णं अप्पकम्मतरागा । तत्थ णं जे ते पुच्छोववन्नगा ते णं महाकम्मतरागा । से तेण्ह्णे णं गोयमा ! एवं बुच्चइ—मणुस्सा नो सव्वे समकम्मा ।

मणुस्सा णं भंते ! सव्वे समवण्णा ?

गोयमा ! नो इण्ह्णे समह्णे ।

से केण्ह्णे णं भंते ! एवं बुच्चइ—मणुस्सा नो सव्वे समवण्णा ?

गोयमा ! मणुस्सा दुविहा पणत्ता, तं जहा—पुव्वोववन्नगा य, पच्छोववन्नगा य । तत्थ णं जे ते पुव्वोववन्नगा ते णं विसुद्धवण्णतरागा । तत्थ णं जे ते पच्छोववन्नगा ते णं अविमुद्धवण्णतरागा । से तेण्ह्णे णं गोयमा ! एवं बुच्चइ—मणुस्सा नो सव्वे समवण्णा ।

मणुस्सा णं भंते ! सव्वे समलेस्सा ?

गोयमा ! नो इण्ह्णे समह्णे ।

से केण्ह्णे णं भंते ! एवं बुच्चइ—मणुस्सा नो सव्वे समलेस्सा ?

गोयमा ! मणुस्सा दुविहा पणत्ता, तं जहा—पुव्वोववन्नगा य, पच्छोववन्नगा य । तत्थ णं जे ते पुव्वोववन्नगा ते णं विसुद्धलेस्सतरागा । तत्थ णं जे ते पच्छोववन्नगा ते णं अविमुद्धलेस्सतरागा । से तेण्ह्णे णं गोयमा ! एवं बुच्चइ—मणुस्सा नो सव्वे समलेस्सा ।

मणुस्सा णं भंते ! सव्वे समवेयणा ?

गोयमा ! नो इण्ह्णे समह्णे ।

से केण्ह्णे णं भंते ! एवं बुच्चइ—मणुस्सा नो सव्वे समवेयणा ?

गोयमा ! मणुस्सा दुविहा पणत्ता, तं जहा—सण्णिभूया य, असण्णिभूया य । तत्थ णं जे ते सण्णिभूया ते णं महावेयणा । तत्थ णं

जे ते असण्णिभूया ते णं अप्पवेयणतरागा । से तेण्ह्णेणं गोयमा ! एवं
वुच्चइ—मणुस्सा नो सव्वे समवेयणा० ।

—भग० श १ । उ २ । सू ६३

मणुस्सा णं भंते ! सव्वे समकिरिया ?

गोयमा ! नो इण्ह्णे सम्ह्णे ।

से केण्ह्णेणं भंते ! एवं वुच्चइ—मणुस्सा नो सव्वे समकिरिया ?

गोयमा ! मणुस्सा तिविहा पण्णत्ता, तं जहा—सम्मदिट्ठी,
मिच्छदिट्ठी, सम्मामिच्छदिट्ठी ।

तत्थ णं जे ते सम्मदिट्ठी ते तिविहा पण्णत्ता, तं जहा—संजया,
अस्संजया, संजयासंजया ।

तत्थ णं जे ते संजया ते दुविहा पण्णत्ता, तं जहा—सरागसंजया
य, वीतरागसंजया य ।

तत्थ णं जे ते वीतरागसंजया, ते णं अकिरिया ।

तत्थ णं जे ते सरागसंजया ते दुविहा पण्णत्ता, तं जहा—पमत्त-
संजया य, अप्पमत्तसंजया य ।

तत्थ णं जे ते अप्पमत्तसंजया, तेसि णं एगा मायावत्तिया किरिया
कज्जइ ।

तत्थ णं जे ते पमत्तसंजया, तेसि णं दो किरियाओ कज्जंति,
तं जहा—आरंभिया य, मायावत्तिया य ।

तत्थ णं जे ते संजयासंजया, तेसि णं आइल्लाओ तिण्णि
किरियाओ कज्जंति, तं जहा—आरंभिया, पारिग्गहिया, माया-
वत्तिया ।

असंजयाणं चत्तारि किरियाओ कज्जंति—आरंभिया, पारि-
ग्गहिया, मायावत्तिया, अप्पच्चक्खाणकिरिया ।

मिच्छदिट्ठीणं पंच—आरंभिया, पारिग्गहिया, मायावत्तिया,
अप्पक्खाणकिरिया, मिच्छादंसणवत्तिया ।

सम्मामिच्छदिट्ठीणं पंच ।

मणुस्सा णं भंते ! सव्वे समाउया ? सव्वे समोववन्नगा ?
गोयमा ! नो इण्ह्हे सम्ह्हे ।

से केण्ह्हे णं भंते ! एवं वुच्चइ—मणुस्सा नो सव्वे समाउया ? नो
सव्वे समोववन्नगा ?

गोयमा ! मणुस्सा चउव्विहा पण्णत्ता, तं जहा—(१) अत्थेगइया
समाउया समोववन्नगा । (२) अत्थेगइया समाउया विसमोववन्नगा ।
(३) अत्थेगइया विसमाउया समोववन्नगा । (४) अत्थेगइया विस-
माउया विसमोववन्नगा । से तेण्ह्हे णं गोयमा ! एवं वुच्चइ—मणुस्सा
नो सव्वे समाउया, नो सव्वे समोववन्नगा ।

'१२ वाणमंतर' जोतिस-वेमाणिया जहा असुरकुमारा, नवरं—
वेयणाए णाणत्तंमायिमिच्छद्विद्विउववन्नगा य अल्पवेदणतरा, अमायि-
सम्मद्विद्विउववन्नगा य महावेदणतरा भाणियव्वा जोतिसवेमाणिया ।

—भग० श १ । उ २ । सू ६४ से १००

—पण्ण० १७ । उ २ । सू ६ से ११

१३ मनुष्यों का आहारादि से सम्बन्धित निरूपण नारकी के समान कहना
चाहिए । उनमें अन्तर इतना ही है कि जो महाशरीरवाले हैं, वे बहुत पुद्गलों
का आहार करते हैं और कभी-कभी आहार करते हैं, इसके विपरीत जो अल्प-
शरीरवाले हैं वे अल्पतर पुद्गलों का आहार करते हैं और बार-बार आहार करते
हैं । शेष वेदनापर्यन्त सब वर्णन नारकी के समान समझना चाहिए ।

सब मनुष्य समान क्रियावाले नहीं हैं क्योंकि मनुष्य तीन प्रकार के कहे गये
हैं, यथा—सम्यग्दृष्टि, मिथ्यादृष्टि व सम्यग्मिथ्यादृष्टि । उनमें जो सम्यग्दृष्टि
है वे तीन प्रकार के कहे गये हैं, यथा—संयत, संयतासंयत और असंयत । उनमें
जो संयत है वे दो प्रकार के कहे गये हैं, यथा—सराग संयत और वीतरागसंयत ।

१. प्रज्ञापनायां (१७ । १) अस्थ रचना सुस्पष्टास्ति यथा—वाणमंतरा णं जहा
असुरकुमारा णं ।

एवं जोइसिय-वेमाणियाण वि । नवरं ते वेदणाए दुविहा पण्णत्ता, तं जहा—
माइमिच्छद्विद्विउववन्नगा य, अमाइसम्मद्विद्विउववन्नगा य । तत्थ णं जे ते
माइमिच्छद्विद्विउववन्नगा ते णं अल्पवेदणतरागा । तत्थ णं जे ते अमाइसम्म-
द्विद्विउववन्नगा ते णं महावेदणतरागा ।

उनमें जो वीतरासंयत हैं वे क्रियारहित है, तथा इनमें जो सरायसंयत हैं वे भी दो प्रकार के हैं, यथा—प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयत । उनमें जो अप्रमत्तसंयत हैं उन्हें एक मायाप्रत्यया क्रिया लगती है । उनमें जो प्रमत्तसंयत हैं उन्हें दो क्रियाएं लगती हैं, यथा—आरम्भिकी और मायाप्रत्यया । उनमें जो संयतासंयत है उन्हें आदि की तीन क्रियाएं लगती है (आरम्भिकी, पारिश्रहिकी मायाप्रत्यया) । असंयतों को चार क्रियाएं लगती है, यथा—आरम्भिकी, पारिश्रहिकी, मायाप्रत्यया और अप्रत्याख्यान क्रिया । मिथ्यादृष्टियों को पाँचों क्रियाएं लगती है तथा सम्यग्मिथ्यादृष्टियों को भी पाँचों क्रियाएं लगती है आरम्भिकी, पारिश्रहिकी, मायाप्रत्यया, अप्रत्याख्यानी और मिथ्याप्रत्यया क्रिया ।

१४—वानश्र्यंतर, ज्योतिषी और वैमानिक के आहारादि के सम्बन्ध में सब वर्णन असुरकुमारों के समान समझना चाहिए । विशेषता यह है कि इनकी वेदना में भिन्नता है । ज्योतिषी और वैमानिकों में जो मायी मिथ्यादृष्टि के रूप में उत्पन्न हुए हैं वे अल्पवेदनावाले हैं और जो अमायी सम्यदृष्टि के रूप में उत्पन्न हुए हैं वे महावेदनावाले होते हैं । ऐसा कहना चाहिए ।

नोट—कृष्णादि छः लेख्या के छः दण्डक और सलेशी का एक दण्डक—इस प्रकार सात दण्डकों पर विचार किया गया है ।

८४ सलेशी जीव और आहारकत्व-अनाहारकत्व—

सलेस्से णं भंते ! जीवे किं आहारए अणाहारए ? गोयमा ! सिय आहारए, सिय अणाहारए, एवं जाव वेमाणिए ।

सलेस्सा णं भंते ! जीवा किं आहारगा अणाहारगा ? गोयमा ! जीवेगिंदियवज्जो तियभंगो, एवं कण्हलेस्सा वि नीललेस्सा वि काउलेस्सा वि जीवेगिंदियवज्जो तियभंगो । तेउलेस्साए पुढविआउवणस्सइकाइयाणं छड्भंगा, सेसाणं जीवाइओ तियभंगो जेसि अत्थि तेउलेस्सा, पम्हलेस्साए सुकलेस्साए य जीवाइओ तियभंगो ।

अलेस्सा जीवा मणुस्सा सिद्धा य एगत्तेण वि पुहुत्तेण वि नो आहारगा अणाहारगा ।

—पण्ण० प २८ । उ २ । सू ११ । पृ० ५०६-५१०

सलेशी कृष्णलेशी यावत् शुक्ललेशी जीव (एकवचन) कदाचित् आहारक, कदाचित् अनाहारक होते हैं । इसी प्रकार दंडक के सभी जीवों के विषय में जानना चाहिए । जिसके जितनी लेख्या हो उतने पद कहने चाहिए ।

सलेशी जीव (बहुवचन)—औषिक तथा एकेन्द्रिय जीव में एक भंग होता है, यथा—आहारक भी होते हैं, अनाहारक भी होते हैं । क्योंकि ये दोनों प्रकार के जीव सदा अनेकों होते हैं । इनके सिवाय अन्यो में तीन भंग होते हैं । यथा—(१) सर्व आहारक, (२) अनेक आहारक तथा अनेक अनाहारक होते हैं, (३) अनेक आहारक, अनेक अनाहारक होते हैं । कृष्णलेशी, नीललेशी तथा कापोतलेशी जीव (बहुवचन) को भी सलेशी जीव (बहुवचन) की तरह जानना चाहिए । तेजोलेशी पृथ्वीकायिक, अप्कायिक तथा वनस्पतिकायिक जीव (बहुवचन) में छः भंग होते हैं । यथा—(१) सर्व आहारक, (२) सर्व अनाहारक, (३) एक आहारक तथा एक अनाहारक, (४) एक आहारक तथा अनेक अनाहारक, (५) अनेक आहारक तथा एक अनाहारक, (६) अनेक आहारक तथा अनेक अनाहारक । अवशेष तेजोलेशी जीव (बहुवचन) के तीन भंग जानना चाहिए । पद्मलेशी, शुक्ललेशी जीवों—औषिक जीव, तिर्यच पंचेन्द्रिय, मनुष्य, धैमानिक देवों में तीन भंग जानना चाहिए ।

अलेशी जीव, अलेशी मनुष्य, अलेशी सिद्ध (एकवचन तथा बहुवचन) की अपेक्षा आहारक नहीं हैं, अनाहारक होते हैं ।

८५ सलेशी जीव के भेद—

८५'१ दो भेद—

सलेसे णं भंते ! सलेसेत्ति पुच्छा ? गोयमा ! सलेसे दुविहे पभन्ते ।
तं जहा—अणाइए वा अपज्जवसिए, अणाइए वा सपज्जवसिए ।

—पण्ण० प १८ । द्वा ८ । सू ६ । पृ० ४५६

सलेशी जीव सलेशीत्व की अपेक्षा से दो प्रकार के होते हैं—(१) अनादि अपर्यवसित, तथा (२) अनादि सपर्यवसित ।

८५'२ छः भेद—

कृष्णादि लेख्या की अपेक्षा से सलेशी जीव के छः भेद भी होते हैं । यथा—कृष्णलेशी, नीललेशी, कापोतलेशी, तेजोलेशी, पद्मलेशी तथा शुक्ललेशी ।

८६ सलेशी क्षुद्रयुग्म जीव—

[युग्म शब्द से टीकाकार अभयदेव सूत्रि ने 'राशि' अर्थ लिया है—'युग्म-शब्देन राशयो विवक्षिताः' । राशि की समता-विषमता की अपेक्षा युग्म चार प्रकार का होता है, यथा—कृतयुग्म, श्योज, द्वापरयुग्म तथा कल्योज । जिस राशि में चार का भाग देने से शेष चार बचे उस राशि को कृतयुग्म कहते हैं ; जिस राशि में चार का भाग देने से तीन बचे उसको श्योज कहते हैं ; जिस राशि में चार का भाग देने से दो बचे उसको द्वापरयुग्म कहते हैं तथा जिस राशि में चार का भाग देने से एक बचे उसको कल्योज कहते हैं ।

अन्य अपेक्षा से भगवती सूत्र में तीन प्रकार के युग्मों का विवेचन है, यथा—क्षुद्रयुग्म, (श ३१, ३२), महायुग्म (श ३५ से ४०) तथा राशियुग्म (श ४१) । सामान्यतः छोटी संख्या वाली राशि को क्षुद्रयुग्म कहा जा सकता है । इसमें एक से लेकर अमंख्यात तक की संख्या निहित है । महायुग्म बृहद् संख्या वाली राशि का द्योतक है तथा इसमें पाँच से लेकर अनंत तक की संख्या निहित है तथा इसमें गणना के समय और संख्या दोनों के आधार पर राशि का निर्धारण होता है । राशियुग्म इन दोनों को सम्मिलित करती हुई संख्या होनी चाहिए तथा इसमें एक से लेकर अनंत तक की संख्या निहित है ।

क्षुद्रयुग्म में केवल नारकी जीवों का अट्टारह पदों से विवेचन है । महायुग्म में इन्द्रियों के आधार पर सर्व जीवों (एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय) का तैंतीस पदों से विवेचन है । राशियुग्म में जीव-दंडक क क्रम से जीवों का तेरह पदों से विवेचन है ।

इस प्रकरण में क्षुद्रयुग्मराशि नारकी जीवों का नौ उपपात के तथा नौ उद्वर्तन (मरण) के पदों से विवेचन किया गया है ; तथा विस्तृत विवेचन औषिक क्षुद्रकृतयुग्म नारकी के पद में है । अवशेष तीन युग्मों में इसकी मुलावण है तथा जहाँ भिन्नता है वहाँ भिन्नता बतलाई गई है । इसमें भग० श २५ । उ ८ की भी मुलावण है ।

(१) कहाँ से उपपात, (२) एक समय में कितने का उपपात, (३) किस प्रकार से उपपात, (४) उपपात की गति की शीघ्रता, (५) परभव-आयु के बंध का कारण, (६) परभव-गति का कारण, (७) आत्मऋद्धि या परऋद्धि से उपपात, (८) आत्मकर्म या परकर्म से उपपात, (९) आत्मप्रयोग या परप्रयोग से उपपात ।

इस प्रकार उद्वर्तन (मरण) के भी उपयुक्त नौ अभिलाप समझने चाहिए ।

औषिक, भवसिद्धिक, अभवसिद्धिक, समदृष्टि, मिथ्यादृष्टि, सममिथ्यादृष्टि, कृष्णपाक्षिक, शुक्लपाक्षिक नारकी जीवों का चार क्षुद्रयुग्मों से तथा चार-चार उद्देशक से विवेचन किया गया है। हमने यहाँ पर लेख्या विशेषण सहित पाठों का संकलन किया है।

‘८६’१ सलेशी क्षुद्रयुग्म नारकी का उपपात—

कणहलेस्सखुड्ढागकडजुम्मनेरइया णं भंते ! कओ उववज्जंति० ? एवं चेव जहा ओहियगमो जाव नो परप्पओगेणं उववज्जंति, नवरं उववाओ जहा वक्कंतीए। धूमप्पभापुडविनेरइया णं, सेसं तं चेव (तहेव)। धूमप्पभापुडविकणहलेस्सखुड्ढागकडजुम्मनेरइया णं भंते ! कओ उववज्जंति ? एवं चेव निरवसेसं । एवं तमाए वि, अहेसत्तमाए वि, नवरं उववाओ सव्वत्थ जहा वक्कंतीए। कणहलेस्सखुड्ढागते-ओगनेरइया णं भंते ! कओ उववज्जंति० ? एवं चेव, नवरं तिमि वा सत्त वा एक्कारस वा पन्नरस वा संखेज्जा वा असंखेज्जा वा, सेसं तं चेव । एवं जाव अहेसत्तमाए वि । कणहलेस्सखुड्ढागदावरजुम्म-नेरइया णं भंते ! कओ उववज्जंति० ? एवं चेव । नवरं दो वा छ वा दस वा चौदस वा, सेसं तं चेव, (एवं) धूमप्पभाए वि जाव अहेसत्तमाए । कणहलेस्सखुड्ढागकलिओगनेरइया णं भंते ! कओ उववज्जंति० ? एवं चेव, नवरं एक्को वा पंच वा नव वा तेरस वा संखेज्जा वा असंखेज्जा वा, सेसं तं चेव । एवं धूमप्पभाए वि, तमाए वि, अहेसत्तमाए वि ।

नीललेस्सखुड्ढागकडजुम्मनेरइया णं भंते ! कओ उववज्जंति० ? एवं जहेव कणहलेस्सखुड्ढागकडजुम्मा, नवरं उववाओ जो वालुय-प्पभाए, सेसं तं चेव । वालुयप्पभापुडविनीललेस्सखुड्ढागकडजुम्म-नेरइया एवं चेव । एवं पंकप्पभाए वि, एवं धूमप्पभाए वि । एवं चउसु वि जुम्मेसु, नवरं परिमाणं जाणियव्वं । परिमाणं जहा कणहलेस्स-उहेसए । सेसं तहेव ।

काऊलेस्सखुड्ढागकडजुम्मनेरइया णं भंते ! कओ उववज्जंति० ? एवं जहेव कणहलेस्सखुड्ढागकडजुम्मनेरइया, नवरं उववाओ जो

रयणप्पभाए, सेसं तं चेव । रयणप्पभापुहविकाऊलेस्सखुड्डागकड-
जुम्मनेरइया णं भंते ! कओ उववज्जंति० ? एवं चेव । एवं सक्कर-
प्पभाए वि, एवं वालुयप्पभाए वि । एवं चउसु वि जुम्मेसु । नवरं
परिमाणं जाणियच्चं जहा कण्हलेस्सउहेसए, सेसं तं चेव ।

—भग० श ३१ । उ २ से ४ । पृ० ६११-१२

कृष्णलेशी क्षुद्रकृतयुग्म नारकी का उपपात प्रज्ञापना सूत्र के व्युत्क्रांतिपद से जानना चाहिए । वे एक समय में चार अथवा आठ अथवा बारह अथवा सोलह अथवा संख्यात अथवा असंख्यात उत्पन्न होते हैं तथा वे किस प्रकार उत्पन्न होते हैं आदि अवशेष के सात पद से जहानामए पवए × × × जाव नो परप्प-
योगेणं उववज्जंति (भग० श २५ । उ ८) से जानना चाहिए । धूमप्रभा पृथ्वी, तमप्रभा पृथ्वी तथा तमतमाप्रभा पृथ्वी के कृष्णलेशी क्षुद्रकृतयुग्म नारकी के सम्बन्ध में कहाँ से उत्पन्न, एक समय में कितने उत्पन्न तथा किस प्रकार उत्पन्न आदि नौ पदों के सम्बन्ध में ऐसा ही कहना चाहिए, परन्तु उपपात सर्वत्र प्रज्ञापना सूत्र के व्युत्क्रांतिपद के अनुसार कहना चाहिए ।

कृष्णलेशी क्षुद्रज्योज नारकी के सम्बन्ध में नौ पदों में ऐसा ही कहना चाहिए, परन्तु एक समय में तीन अथवा सात अथवा ग्यारह अथवा पन्द्रह अथवा संख्यात अथवा असंख्यात उत्पन्न होते हैं । धूमप्रभा, तमप्रभा, तमतमाप्रभा पृथ्वी के कृष्णलेशी क्षुद्रज्योज नारकी के विषय में भी इसी प्रकार जानना चाहिए ।

कृष्णलेशी क्षुद्रद्वापरयुग्म नारकी के सम्बन्ध में नौ पदों में ऐसा ही कहना चाहिए, परन्तु एक समय में दो अथवा छः अथवा दस अथवा चौदह अथवा अथवा संख्यात असंख्यात उत्पन्न होते हैं । धूमप्रभा यावत् तमतमाप्रभा पृथ्वी के कृष्णलेशी क्षुद्रद्वापरयुग्म नारकी के विषय में ऐसा ही कहना चाहिए ।

कृष्णलेशी क्षुद्रकल्योज नारकी के सम्बन्ध में नौ पदों में ऐसा ही कहना चाहिए, परन्तु एक समय में एक अथवा पाँच अथवा नौ अथवा तेरह अथवा संख्यात अथवा असंख्यात उत्पन्न होते हैं । इसी प्रकार धूमप्रभा, तमप्रभा, तमतमाप्रभा पृथ्वी के कृष्णलेशी क्षुद्रकल्योजयुग्म नारकी के सम्बन्ध में कहना चाहिए ।

नीललेशी क्षुद्रकृतयुग्म नारकी के सम्बन्ध में जैसा कृष्णलेशी क्षुद्रकृतयुग्म नारकी के उद्देशक में कहा बैसा ही कहना चाहिए, लेकिन उपपात वालुकाप्रभा में जैसा ही बैसा कहना चाहिए । वालुकाप्रभा पृथ्वी के नीललेशी क्षुद्रकृतयुग्म

नारकी के सम्बन्ध में भी ऐसा ही कहना चाहिए । इसी प्रकार पंकप्रभा तथा धूमप्रभा पृथ्वी के नीललेशी क्षुद्रकृतयुग्म नारकी के सम्बन्ध में जानना चाहिए । परन्तु उपपात की भिन्नता जाननी चाहिए । इसी प्रकार बाकी तीनों युग्मों में जानना चाहिए । लेकिन परिमाण की भिन्नता कृष्णलेशी उद्देशक से जाननी चाहिए ।

कापोतलेशी क्षुद्रकृतयुग्म नारकी के सम्बन्ध में जैसा कृष्णलेशी क्षुद्रकृतयुग्म नारकी के उद्देशक में कहा बैसा ही कहना चाहिए लेकिन उपपात रत्नप्रभा में जैसा हो बैसा ही कहना चाहिए । रत्नप्रभा पृथ्वी के कापोतलेशी क्षुद्रकृतयुग्म नारकी के सम्बन्ध में भी ऐसा ही कहना चाहिए । इसी प्रकार शर्कराप्रभा तथा बालुकाप्रभा पृथ्वी के कापोतलेशी क्षुद्रकृतयुग्म नारकी के सम्बन्ध में भी कहना चाहिए परन्तु उपपात की भिन्नता जाननी चाहिए । इसी प्रकार बाकी तीनों युग्मों में जानना चाहिए लेकिन परिमाण की भिन्नता कृष्णलेशी उद्देशक से जाननी चाहिए ।

कण्हेस्सभवसिद्धियखुड्ढागकडजुम्मनेरइया णं भंते ! कओ उववज्जंति० ? एवं जहेव ओहिओ कण्हस्सउद्देसओ तहेव निरवसेसं चउसु वि जुम्मेसु भाणियव्वो जाव अहेसत्तमपुढविकण्हलेस्स (भवसिद्धिय) खुड्ढागकलिओगनेरइया णं भंते ! कओ उववज्जंति० ? तहेव ।

नीललेस्सभवसिद्धिया चउसु वि जुम्मेसु तहेव भाणियव्वा जहा ओहिए नीललेस्सउद्देसए ।

काऊलेस्सभवसिद्धिया चउसु वि जुम्मेसु तहेव उववाएयव्वा जहेव ओहिए काऊलेस्सउद्देसए ।

जहा भवसिद्धिएहिं चत्तारि उद्देसगा भणिया एवं अभवसिद्धिएहिं वि चत्तारि उद्देसगा भाणियव्वा जाव काऊलेस्सा उद्देसओ त्ति ।

एवं सम्मदिट्ठीहिं वि लेस्सासंजुत्तेहिं चत्तारि उद्देसगा कायव्वा, नवरं सम्मदिट्ठी पढमविइएसु वि दोसु वि उद्देसगेसु अहेसत्तमापुढवीए न उववाएयव्वो, सेसं तं चेव ।

मिच्छादिद्वीहि वि चत्वारि उद्देशगा कायव्वा जहा भव-
सिद्धियाणं ।

एवं कण्हपक्खिएहि वि लेस्सासंजुत्तेहि चत्वारि उद्देशगा कायव्वा
जहेव भवसिद्धिएहि ।

सुकूपक्खिएहि एवं चेव चत्वारि उद्देशगा भाणियव्वा । जाव
वालुयध्पभापुढविकाउलेस्ससुकूपक्खियखुब्हागकलिओगनेरइया णं
भंते ! कओ उव्वज्जंति० ? तहेव जाव नो परप्पयोगेणं उव्वज्जंति ।

—भग० श ३१ । उ ६ से २८ । पृ० ९१२

कृष्णलेशी भवसिद्धिक क्षुद्रकृतयुग्म नारकी के सम्बन्ध में जैसा औधिक कृष्ण-
लेशी उद्देशक में कहा वंसा ही निरवशेष चारों युग्मों में कहना चाहिए । कृष्ण-
लेशी भवसिद्धिक क्षुद्रकृतयुग्म धूमप्रभा नारकी यावत् कृष्णलेशी भवसिद्धिक कत्योज
तमतमाप्रभा नारकी तक नौ पदों में कृष्णलेशी औधिक उद्देशक की तरह कहना
चाहिए ।

नीललेशी भवसिद्धिक के चारों युग्म उद्देशक वैसे ही कहने चाहिए जैसे
औधिक नीललेशी युग्म उद्देशक कहे गये हैं ।

कापोतलेशी भवसिद्धिक के चारों युग्म उद्देशक वैसे ही कहने चाहिए जैसे
औधिक कापोतलेशी युग्म उद्देशक कहे गये हैं ।

जैसे भवसिद्धिक के चार उद्देशक कहे गये हैं, वैसे ही अभवसिद्धिक के चार
उद्देशक (औधिक, कृष्णलेशी, नीललेशी, कापोतलेशी) जानने चाहिए ।

इसी प्रकार समदृष्टि के लेखा संयोग से चार उद्देशक जानने चाहिए ।
लेकिन समदृष्टि के प्रथम-द्वितीय उद्देशक में तमतमाप्रभा पृथ्वी में उपपात न
कहना चाहिए ।

मिथ्यादृष्टि के भी लेखा संयोग से चार उद्देशक भवसिद्धिक की तरह
जानना चाहिए ।

इसी प्रकार कृष्णभाक्षिक के लेखा संयोग से चार उद्देशक भवसिद्धिक की
तरह कहने चाहिए ।

इसी प्रकार शुक्लपाक्षिक के भी चार उद्देशक कहने चाहिए। यावत् बालुकाप्रभा पृथ्वी के कापोतलेशी शुक्लपाक्षिक क्षुद्रकल्पोज नारकी कहौं से आकर उत्पन्न होते हैं यावत् पर प्रयोग से उत्पन्न नहीं होते हैं—तक जानना चाहिए।

‘८६’२ सलेशी क्षुद्रयुग्म नारकी का उद्दत्तन—

खुड्ढागकडजुम्मनेरइया णं भंते ! अणंतरं उव्वट्टित्ता कहिं गच्छंति, कहिं उव्वज्जंति ? किं नेरइएमु उव्वज्जंति ? तिरिक्ख-जोणिएसु उव्वज्जंति ? उव्वट्टणा जहा वक्कंतीए ।

ते णं भंते ! जीवा एगसमएणं केवइया उव्वट्टंति ? गोयमा ! चत्तारि वा अट्ठ वा बारस वा सोलस वा संखेज्जा वा असंखेज्जा वा उव्वट्टंति ।

ते णं भंते ! जीवा कहां उव्वट्टंति ? गोयमा ! से जहा नामए पवए—एवं तहेव । एवं सो चेव गमओ जाव आयप्पओगेणं उव्वट्टंति, नो परप्पओगेणं उव्वट्टंति ।

रयणप्पभापुढविखुड्ढागकड० ? एवं रयणप्पभाए वि, एवं जाव अहेसत्तमाए (वि) । एवं खुड्ढागतेओगखुड्ढागदावरजुम्मखुड्ढाग-कलिओगा, नवरं परिमाणं जाणियव्वं, सेसं तं चेव ।

कण्हलेस्सकडजुम्मनेरइया०—एवं एएणं कमेणं जहेव उववायसए अट्ठावीसं उहेसगा भणिया तहेव उव्वट्टणासए वि अट्ठावीसं उहेसगा भाणियव्वा निरवसेसा, नवरं ‘उव्वट्टंति’ त्ति अभिलावो भाणियव्वो, सेसं तं चेव ।

—भग० श ३२ । उ १ से २८ । पृ० ६१२, १३

‘८६’१ में जैसे उपपात के २८ उद्देशक कहे उसी प्रकार उद्दत्तन के २८ उद्देशक कहने चाहिए लेकिन उपपात के स्थान पर उद्दत्तन कहना चाहिए ।

‘८७ सलेशी महायुग्म जीव—

[इस प्रकरण में महायुग्म राशि जीवों का विवेचन किया गया है । महा-युग्म राशि के सोलह भेद होते हैं, यथा—(१) कृतयुग्म कृतयुग्म, (२) कृतयुग्म

श्र्योज, (३) कृतयुग्म द्वापरयुग्म, (४) कृतयुग्म कल्योज, (५) श्र्योज कृतयुग्म, (६) श्र्योज श्र्योज, (७) श्र्योज द्वापरयुग्म, (८) श्र्योज कल्योज, (९) द्वापरयुग्म कृतयुग्म, (१०) द्वापरयुग्म श्र्योज, (११) द्वापरयुग्म द्वापरयुग्म, (१२) द्वापरयुग्म कल्योज, (१३) कल्योज कृतयुग्म, (१४) कल्योज श्र्योज, (१५) कल्योज द्वापरयुग्म तथा (१६) कल्योज कल्योज । महायुग्म के सोलह भेद राशि (संख्या) तथा अपहार समय की अपेक्षा से किये गये हैं । जिस राशि में से प्रति समय चार-चार घटाते-घटाते शेष में चार बाकी रहे तथा घटाने के समयों में से भी चार-चार घटाते-घटाते चार बाकी रहे वह कृतयुग्म-कृतयुग्म कहलाता है क्योंकि घटानेवाले द्रव्य तथा समय की अपेक्षा दोनों रीति से कृतयुग्म रूप हैं । सोलह की संख्या जघन्य कृतयुग्म-कृतयुग्म राशि रूप हैं । उसमें से प्रति समय चार घटाते-घटाते शेष में चार बचते हैं तथा घटाने के समय भी चार होते हैं अथवा उन्नीस की संख्या में प्रति समय चार घटाते-घटाते शेष में तीन शेष रहते हैं तथा घटाने के समय चार लगते हैं । अतः १६ की संख्या जघन्य कृतयुग्म श्र्योज कहलाती है । इसी प्रकार अन्य भेद जान लेने चाहिये ।]

यहाँ पर महायुग्म राशि एकेन्द्रिय यावत् पंचेन्द्रिय जीवों का निम्नलिखित ३३ पदों से विवेचन किया गया है तथा विस्तृत विवेचन कृतयुग्म-कृतयुग्म एकेन्द्रिय के पद में है, अवशेष महायुग्म पदों में इसकी भुलावण है तथा जहाँ भिन्नता है वहाँ भिन्नता बतलाई गई है । स्थान-स्थान पर उत्पल उद्देशक (भग० श ११ । उ १) की भुलावण है ।

(१) कहाँ से उपपात, (२) उपपात संख्या, (३) जीवों की संख्या, (४) अवाहना, (५) बंधक-अबन्धक, (६) वेदक-अवेदक, (७) उदय-अनुदय, (८) उदीरक-अनुदीरक, (९) लक्ष्या, (१०) दृष्टि, (११) ज्ञानी-अज्ञानी, (१२) योगी, (१३) उपयोगी, (१४) शरीर के वर्ण-गंध-रस-स्पर्शी, आत्मा की अपेक्षा अवर्णी आदि, (१५) द्वासोच्छ्वासक, (१६) आहारक-अनाहारक, (१७) विरत-अविरत, (१८) सक्रिय-अक्रिय, (१९) कर्म-संख्याबंधक, (२०) संज्ञोपयोगी, (२१) कषायी, (२२) वेदक (लिंग), (२३) वेदबन्धक, (२४) संज्ञी-असंज्ञी, (२५) इन्द्रिय-अनिन्द्रिय, (२६) अनुबन्धकाल, (२७) आहार, (२८) संवेध, (२९) स्थिति, (३०) समुद्घात, (३१) समवहत, (३२) उद्भवर्तन तथा (३३) अनन्तखुत्तो ।

सोलह महायुग्मों में प्रत्येक महायुग्म के जीवों के सम्बन्ध में ११ अपेक्षाओं अपेक्षाओं से ११ उद्देशक कहे गये हैं । प्रत्येक उद्देशक में उपयुक्त ३३ पदों का विवेचन है । ११ अपेक्षाएँ इस प्रकार हैं—

(१) औधिक रूप से, (२) प्रथम समय के, (३) अप्रथम समय के, (४) चरम समय के, (५) अचरम समय के, (६) प्रथम-प्रथम समय के, (७) प्रथम-अप्रथम समय के, (८) प्रथम-चरम समय के, (९) प्रथम-अचरम समय के, (१०) चरम-चरम समय के तथा (११) चरम-अचरम समय के ।

भवसिद्धिक तथा अभवसिद्धिक जीवों का उपयुक्त सोलह महायुग्मों से तथा ग्यारह अपेक्षाओं से विवेचन किया गया है । हमने यहाँ पर लेश्या विशेषण सहित पाठों का ही संकलन किया है ।

*८७*१ सलेशी महायुग्म एकेन्द्रिय जीव—

(कडजुम्मकडजुम्मएगिंदिया) ते णं भंते ! जीवा किं कणहलेस्सा० पुच्छा ? गोयमा ! कणहलेस्सा वा, नीललेस्सा वा, काऊलेस्सा वा, तेऊलेस्सा वा । × × × एवं एएसु सोलससु महाजुम्मेसु एक्को गमओ ।

—भग० श ३५ । श १ । उ १ । सू ६, १६ । पृ० ६२६-२७

कृतयुग्मकृतयुग्म एकेन्द्रिय जीवों में कृष्णलेश्या, नीललेश्या, कापोतलेश्या, तेजोलेश्या—ये चार लेश्याएँ होती हैं । इसी प्रकार सोलह महायुग्मों में चार लेश्याएँ होती हैं ।

एवं एए (णं कमेणं) एकारस उद्देशगा ।

—भग० श ३५ । श १ । उ ११ । सू ६ । पृ० ६२६

इसी क्रम से निम्नलिखित ग्यारह उद्देशक कहने चाहिए । ग्यारह उद्देशक इस प्रकार हैं—

(१) कृतयुग्मकृतयुग्म, (२) पढमसमयकृतयुग्मकृतयुग्म, (३) अपढम-समय०, (४) चरमसमय०, (५) अचरमसमय०, (६) प्रथम-प्रथमसमय०, (७) प्रथमअप्रथमसमय०, (८) प्रथमचरमसमय०, (९) प्रथमअचरम-समय०, (१०) चरमचरमसमय० तथा (११) चरमअचरमसमय० ।

इन ग्यारह उद्देशकों में प्रत्येक उद्देशक में सोलह महायुग्म कहने चाहिए ।

पढमो तइओ पंचमओ य सरिसगमा, सेसा अट्ट सरिसगमगा ।
नवरं चउत्थे छट्ठे अट्टमे दसमे य देवा न उववज्जंति, तेउलेस्सा
नत्थि ।

—भग० श ३५ । श १ । उ ११ । सू ६ । पृ० ६२६

पहले, तीसरे, पाँचवें उद्देशक का एक सरीखा गमक होता है तथा बाकी
आठ का एक सरीखा गमक होता है । चौथे, छट्ठे, आठवें तथा दशवें गमक में
कृष्ण-नील-कापोतलेख्या होती है, तेजोलेख्या नहीं होती है । बाकी के उद्देशकों
में कृष्ण-नील-कापोत-तेजो—ये चारों लेख्याएँ होती हैं ।

तोट—यद्यपि उपरोक्त पाठ से छट्ठे उद्देशक में तेजोलेख्या नहीं ठहरती है
है लेकिन छट्ठे उद्देशक में जो भुलावण है उसके अनुसार इस उद्देशक में चारों
लेख्याएँ होनी चाहिये । प्रवीण व्यक्ति इस पर विचार करें ।

कण्हलेस्सकडजुम्मकडजुम्मएंगिदिया णं भंते ! कओ उववज्जंति० ?
गोयमा ! उववाओ तहेव, एवं जहा ओहिउद्देसए । नवरं इमं
नाणत्तं—ते णं भंते ! जीवा कण्हलेस्सा ? हंता कण्हलेस्सा ।

ते णं भंते ! 'कण्हलेस्सकडजुम्मकडजुम्मएंगिदिय' त्ति कालओ
केवच्चिरं होइ ? गोयमा ! जहन्नेणं एककं समयं, उक्कोसेणं अंतो-
मुहुत्तं । एवं ठिईए वि । सैसं तहेव जाव अणंतखुत्तो । एवं सोलस
वि जुम्मा भाणियन्वा ।

पढमसमयकण्हलेस्सकडजुम्मकडजुम्मएंगिदिया णं भंते ! कओ
उववज्जंति० ? जहा पढमसमयउद्देसओ । नवरं ते णं भंते ! जीवा
कण्हलेस्सा ? हंता कण्हलेस्सा, सैसं तं चेव ।

एवं जहा ओहियसए एक्कारस उद्देसगा भणिया तथा कण्हलेस्ससए
वि एक्कारस उद्देसगा भाणियन्वा । पढमो तइओ पंचमो य
सरिसगमा, सेसा अट्ट वि सरिसगमा । नवरं चउत्थ-छट्ठ-अट्टम-
दसमेसु उववाओ नत्थि देवस्स ।

एवं नीललेस्सेहि वि सयं कण्हलेस्ससयसरिसं, एक्कारस उद्देसगा
तहेव ।

एवं काऊलेस्सेहि वि सयं कण्हलेस्ससयसरिसं ।

—भग० श ३५ । श २ से ४ । पृ० ६२६

कृष्णलेशी कृतयुग्म-कृतयुग्म एकेन्द्रिय का उपपात औघिक उद्देशक (भग० श ३५ । श १ । उ १) की तरह जानना चाहिए । लेकिन भिन्नता यह है कि वे कृष्णलेशी हैं । वे कृष्णलेशी कृतयुग्म-कृतयुग्म एकेन्द्रिय जघन्य एक समय, उत्कृष्ट अन्तमुहूर्त तक होते हैं । इसी प्रकार स्थिति के सम्बन्ध में जानना चाहिए । बाकी सब यावत् पूर्व में अनन्त बार उत्पन्न हुए हैं—वहाँ तक जानना चाहिए । इसी प्रकार सोलह युग्म कहने चाहिए ।

प्रथम समय के कृष्णलेशी कृतयुग्म-कृतयुग्म एकेन्द्रिय का उपपात प्रथम समय के उद्देशक (भग० श ३५ । श १ । उ २) की तरह जानना चाहिए । लेकिन वे कृष्णलेशी है बाकी सब वैसे ही जानना चाहिए । जिस प्रकार औघिक शतक में ग्यारह उद्देशक कहे वैसे ही कृष्णलेशी शतक में भी ग्यारह उद्देशक कहने चाहिए । पहले, तीसरे, पाँचवें के गमक एक समान है । बाकी आठ के गमक एक समान हैं । लेकिन चौथे, छठे, आठवें, दशवें उद्देशक में देवों का उपपात नहीं होता है ।

नीललेशी एकेन्द्रिय महायुग्म शतक के कृष्णलेशी एकेन्द्रिय महायुग्म शतक के समान ग्यारह उद्देशक कहने चाहिए ।

कापोतलेशी एकेन्द्रिय महायुग्म शतक के कृष्णलेशी एकेन्द्रिय महायुग्म शतक के समान ग्यारह उद्देशक कहने चाहिए ।

कण्हलेस्सभवसिद्धियकडजुम्मकडजुम्मएगिंदिया णं भंते ! कओ (हितो) उववज्जंति० ? एवं कण्हलेस्सभवसिद्धियएगिंदिएहि वि सयं बिइयसयकण्हलेस्ससरिसं भाणियव्वं ।

एवं नीललेस्सभवसिद्धियएगिंदियएहि वि सयं ।

एवं काऊलेस्सभवसिद्धियएगिंदियएहि वि तहेव एकारसउद्देसग-संजुत्तं सयं । एवं एयाणि चत्तारि भवसिद्धियसयाणि । चउसु वि सएसु सव्वे पाणा जाव उव वन्नपुव्वा ? नो इण्हो समट्ठे ।

जहा भवसिद्धिर्हि चत्तारि सयाइं भणियाइं एवं अभवसिद्धिर्हि वि चत्तारि सयाणि लेस्सासंजुत्ताणि भाणियन्वाणि । सव्वे पाणा० तहेव नो इण्ढे सम्ढे । एवं एयाइं बारस्स एगिंदियमहाजुम्मसयाइं भवंति ।

—भग० श ३५ । श ६ से १२ । पृ० ६२६-३०

कृष्णलेशी भवसिद्धिक कृतयुगम-कृतयुगम एकेन्द्रिय के सम्बन्ध में भी दूसरे उद्देशक में वर्णित कृष्णलेशी शतक की तरह कहना चाहिए ।

इसी प्रकार नीललेशी भवसिद्धिक एकेन्द्रिय के सम्बन्ध में भी शतक कहना चाहिए । तथा कापोतलेशी भवसिद्धिक एकेन्द्रिय के सम्बन्ध में भी एकादश उद्देशक सहित—ऐसा ही शतक कहना चाहिए । इसी प्रकार भवसिद्धिक शतक भी जानना चाहिए । तथा चारों भवसिद्धिक शतकों में—सर्वप्राणी यावत् पूर्व में अनंत बार उत्पन्न हुए हैं—इस प्रश्न के उत्तर में 'यह सम्भव नहीं'—ऐसा कहना चाहिए ।

जैसे भवसिद्धिक के चार शतक कहे वैसे ही अभवसिद्धिक के भी चार शतक लेश्यासहित कहने चाहिए । इनमें भी सर्वप्राणी यावत् सर्व सच्च पूर्व में अनंत बार उत्पन्न हुए हैं—इस प्रश्न के उत्तर में 'यह सम्भव नहीं' ऐसा कहना चाहिए ।

'८७'२ सलेशी महायुगम द्वीन्द्रिय जीव—

कडजुम्मकडजुम्मवेदिया णं भंते ! (कइ लेस्साओ पन्नत्ताओ ?)
× × × तिन्नि लेस्साओ । × × × एवं सोलससु वि जुम्मेसु ।

—भग० श ३६ । श १ । उ १ । सू १-२ । पृ० ६३०

कृतयुगम-कृतयुगम द्वीन्द्रिय में कृष्ण-नील-कापोत ये तीन लेश्याएँ होती हैं । इसी प्रकार सोलह महायुगों में कहना चाहिए ।

कण्हलेस्सकडजुम्मकडजुम्मवेइं दिया णं भंते ! कओ उववज्जंति० ?
एवं चेव । कण्हलेस्सेसु वि एकारसउद्देसगसंजुत्तं सयं । नवरं लेस्सा,
संचिट्टणा, ठिई जहा एगिंदियकण्हलेस्साणं ।

एवं नीललेस्सेहि वि सयं ।

एवं काउलेस्सेहि वि ।

भवसिद्धिकडजुम्मकडजुम्मवेइं दिया णं भंते० ! एवं भवसिद्धिय-
सया वि चत्तारि तणेव पुब्बगमएणं नेयव्वा । नवरं सव्वे पाणा० ?
नो इण्हं समइं । सेसं तहेव ओहियसयाणि चत्तारि ।

जहा भवसिद्धियसयाणि चत्तारि एवं अभवसिद्धियसयाणि चत्तारि
भाणियव्वाणि । नवरं सम्मत्त-नाणाणि नत्थि, सेसं तं चेव । एवं
एयाणि बारस वेइं दियमहाजुम्मसयाणि भवंति ।

—भग० श ३६ । श २ से १२ । पृ० ६३०-३१

कृष्णलेशी कृतयुग्म-कृतयुग्म द्वीन्द्रिय जीवों के सम्बन्ध में कृतयुग्म-कृतयुग्म
औघिक द्वीन्द्रिय शतक की तरह ग्यारह उद्देशक सहित महायुग्म शतक कहना
चाहिए लेकिन लक्ष्या, कायस्थिति तथा आयु स्थिति एकेन्द्रिय कृष्णलेशी शतक
की तरह कहने चाहिए । इस प्रकार सोलह महायुग्म शतक कहने चाहिए ।

इसी प्रकार नीललेशी तथा कापोतलेशी शतक भी कहने चाहिए ।

भवसिद्धिक कृतयुग्म-कृतयुग्म द्वीन्द्रिय के सम्बन्ध में भी पूर्व गमक की तरह
अर्थात् भवसिद्धिक कृतयुग्म-कृतयुग्म एकेन्द्रिय शतक की तरह चार शतक कहने
चाहिए लेकिन सर्वप्राणी यावत् सर्व सत्त्व पूर्व में उत्पन्न हुए हैं—इस प्रश्न के
उत्तर में 'यह सम्भव नहीं' ऐसा कहना चाहिए ।

भवसिद्धिक कृतयुग्म-कृतयुग्म द्वीन्द्रिय के जैसे चार शतक कहे वैसे ही अभव-
सिद्धिक के भी चार शतक कहने चाहिए । लेकिन सम्यक्त्व और ज्ञान नहीं
होते हैं ।

'८७' ३ सलेशी महायुग्म त्रीन्द्रिय जीव—

कडजुम्मकडजुम्मतेइं दिया णं भंते ! कओ उववज्जंति० ? एवं
तेइं दिएसु वि बारस सया कायव्वा वेइं दियसयरिसा । नवरं
ओगाहणा जहन्नेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं, उक्कोसेणं तित्ति
गाडयाहं । ठिई जहन्नेणं एककं समयं, उक्कोसेसं एगूणवन्नं राइं दियाइं,
सेसं तहेव ।

—भग० श ३७ । पृ० ६३१

महायुग्म द्वीन्द्रिय शतक की तरह औघिक, कृष्णलेशी, नीललेशी तथा
कापोतलेशी त्रीन्द्रिय जीवों के भी औघिक, भवसिद्धिक तथा अभवसिद्धिक पदों से

बारह शतक कहने चाहिए । लेकिन अद्यगाहना जघन्य अंगुल के असंख्यातवें भाग की, उत्कृष्ट तीन गाउ (कोश) प्रमाण की तथा स्थिति जघन्य एक समय की, उत्कृष्ट उनचास रात्रिदिवस की कहनी चाहिए ।

‘८७’४ सलेशी महायुग्म चतुरिन्द्रिय जीव—

चउरिंदिएहि वि एवं चेव बारस सया कायव्वा । नवरं ओगाहणा जहन्नेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं, उक्कोसेणं चत्तारि गाउयाइं । ठिई जहन्नेणं एककं समयं, उक्कोसेणं छम्मासा । सेसं जहा वेइं दियाणं ।

—भग० श ३८ । पृ० ६३१

महायुग्म द्वीन्द्रिय शतक की तरह महायुग्म चतुरिन्द्रिय के भी बारह शतक कहने चाहिए । लेकिन अद्यगाहना जघन्य अंगुल के असंख्यातवें भाग की, उत्कृष्ट चारगाउ (कोश) प्रमाण की ; स्थिति जघन्य एक समय की, उत्कृष्ट छः मास कहनी चाहिए । शेष पद सर्व द्वीन्द्रिय की तरह कहने चाहिए ।

‘८७’५ सलेशी महायुग्म असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीव—

कडजुम्मकडजुम्मअसन्निपंचिदिया णं भंते ! कओ उववज्जंति० ? जहा वेइं दियाणं तहेव असन्निसु वि बारस सया कायव्वा । नवरं ओगाहणा जहन्नेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं, उक्कोसेणं जोयणसहस्सं । संचिट्टणा जहन्नेणं एककं समयं, उक्कोसेणं पुव्वोडिपुहत्तं । ठिई जहन्नेणं एककं समयं, उक्कोसेणं पुव्वकोडी, सेसं जहा वेइं दियाणं ।

—भग० श ३९ । पृ० ६३१

कृतयुग्म-कृतयुग्म द्वीन्द्रिय की तरह कृतयुग्म-कृतयुग्म असंज्ञी पंचेन्द्रिय के भी बारह शतक कहने चाहिए । लेकिन अद्यगाहना जघन्य अंगुल के असंख्यातवें भाग की, उत्कृष्ट एक हजार योजन की ; कायस्थिति जघन्य एक समय की, उत्कृष्ट प्रत्येक पूर्व क्रोड की तथा आयुस्थिति जघन्य एक समय की, उत्कृष्ट पूर्व क्रोड की होती है । बाकी पद सर्व द्वीन्द्रिय शतक की तरह कहना चाहिए ।

‘८७’६ सलेशी महायुग्म संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव—

कडजुम्मकडजुम्मसन्निपंचिदिया णं भंते ! × × × (कइ लेस्साओ पन्नत्ताओ) ? कण्हेलेस्सा जाव सुक्कलेस्सा । × × × एवं सोलससु वि जुम्मेसु भाणियन्वं ।

पढमसमयकडजुम्मकडजुम्मसन्निपंचिदिया णं भंते ! × × × (कइ लेस्साओ पन्नत्ताओ) ? कण्हलेस्सा वा जाव सुक्कलेस्सा वा । × × × एवं सोलससु वि जम्मेसु ।

एवं एत्थ वि एक्कारस उद्देसगा तहेव ।

भग० श ४० । श १ । सू २, ५, ६ । पृ० ६३१-६३२

कृतयुग्म-कृतयुग्म संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों में सोलह महायुग्मों में ही कृष्ण यावत् शुक्ल छः लेस्याएँ होती हैं । प्रथम समय कृतयुग्म-कृतयुग्म संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों में सोलह महायुग्मों में ही कृष्ण यावत् शुक्ल छः लेस्याएँ होती हैं । इसी प्रकार प्रथम समय यावत् चरम-अचरम समय उद्देशक तक छः लेस्याएँ होती हैं ऐसा कहना चाहिए ।

भवसिद्धिकडजुम्मकडजुम्मसन्निपंचिदिया णं भंते ! कओ उवव-ज्जंति० ? जहा पढम सन्निसयं तहा नेयव्वं भवसिद्धीयाभिलावेणं ।

—भग० श ४० । श ८ । पृ० ६३३

भवसिद्धिक महायुग्म संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों में सोलह ही महायुग्मों में कृष्ण यावत् शुक्ल छः लेस्याएँ होती हैं । (देखो श ४० । श १)

अभवसिद्धिकडजुम्मकडजुम्मसन्निपंचिदिया णं भंते ! × × × (कइ लेस्साओ पन्नत्ताओ) ? कण्हलेस्सा वा सुक्कलेस्सा वा । × × × एवं सोलससु वि जुम्मेसु ।

—भग० श ४० । श १५ । पृ० ६३३-६३४

अभवसिद्धिक महायुग्म संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों में सोलह ही महायुग्मों में कृष्ण यावत् शुक्ल छः लेस्याएँ होती हैं ।

कण्हलेस्सकडजुम्मकडजुम्मसन्निपंचिदिया णं भंते ! कओ उवव-ज्जंति० ? तहेव जहा पढमुद्देसओ सन्नीणं । नवरं बंध-वेद-उदइ-उदीरण-लेस्स-बंधण-सण्ण-कसाय-वेदबंधगा य एयाणि जहा वेइ-दियाणं । कण्हलेस्साणं वेदो तिविहो, अवेदगा नत्थि । संचिद्वणा जहन्नेणं एककं समयं, उक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तम-ब्भहियाइं । एवं ठिईए वि । नवरं ठिईए अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं न

भन्नन्ति । सेसं जहा एएसिं चैव पढमे उद्देसए जाव अणंतखुत्तो । एवं सोलससु वि जुम्मेसु ।

पढमसमयकण्हलेस्सकडजुम्मकडजुम्मसन्निपंचिदिया णं भंते ! कओ उचवज्जंति० ? जहा सन्निपंचिदियपढमसमयउद्देसए तद्देव निरवसेसं । नवरं ते णं भंते ! जीवा कण्हलेस्सा ? हंता कण्हलेस्सा । सेसं तं चैव । एवं सोलससु वि जुम्मेसु × × × एवं एए वि एकारस (वि) उद्देसगा कण्हलेस्ससए । पढम-तइया-पंचमा सरिसगमा, सेसा अट्ट वि सरिसगमा ।

एवं नीललेस्सेसु वि सयं । नवरं संचिट्टणा जहन्ने णं एककं समयं, उक्कोसेणं दस सागरोवमाइं पलिओवमस्स असंखेज्जइभागमब्भ-हियाइं । एवं ठिईए वि । एवं तिसु उद्देसएसु ।

एवं काउलेस्ससयं वि । नवरं संचिट्टणा जहन्नेणं एककं समयं, उक्कोसेणं तिन्नि सागरोवमाइं पलिओवमस्स असंखेज्जइभागमब्भ-हियाइं । एवं ठिईए वि । एवं तिसु वि उद्देसएसु, सेसं तं चैव ।

एवं तेउलेस्सेसु वि सयं । नवरं संचिट्टणा जहन्नेणं एककं समयं, उक्कोसेणं दो सागरोवमाइं पलिओवमस्स असंखेज्जइभागमब्भ-हियाइं । एवं ठिईए वि । नवरं नोसभोवउत्ता वा । एवं तिसु वि उद्देसएसु, सेसं तं चैव ।

जहा तेउलेसा सयं तथा पम्हलेस्सा सयं वि । नवरं संचिट्टणा जहन्नेणं एककं समयं, उक्कोसेणं दस सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तमब्भ-हियाइं । एवं ठिईए वि । नवरं अंतोमुहुत्तं न भभइ, सेसं तं चैव । एवं एएसु पंचसु सएसु जहा कण्हलेस्सा सए गमओ तथा नेगव्वो, जाव अणंतखुत्तो ।

मुककलेस्ससयं जहा ओहियसयं । नवरं संचिट्टणा ठिई य जहा कण्हलेस्ससए, सेसं तद्देव जाव अणंतखुत्तो ।

कृष्णलेशी कृतयुग्म-कृतयुग्म संज्ञी पंचेन्द्रिय कहौं से आकर उत्पन्न होते हैं इत्यादि प्रश्न ? जैसा कृतयुग्म-कृतयुग्म संज्ञी पंचेन्द्रिय उद्देशक में कहा वैसा ही यहाँ जानना चाहिए । लेकिन बंध, वेद, उदय, उदीरणा, लेइया, बंधक, संज्ञा, कषाय तथा वेदबंधक—इन सबके सम्बन्ध में जैसा कृतयुग्म-कृतयुग्म द्वीन्द्रिय के पद में कहा वैसा ही कहना चाहिए । कृष्णलेशी जीव तीनों वेद वाले होते हैं, अवेदी नहीं होते है । कायस्थिति जघन्य एक समय की, उत्कृष्ट साधिक अन्त-मुहूर्त तैतीस सागरोपम की होती है । इसी प्रकार स्थिति के सम्बन्ध में जानना चाहिए लेकिन स्थिति अन्तमुहूर्त अधिक न कहना चाहिए । बाकी सब प्रथम उद्देशक में जैसा कहा वैसा ही यावत् 'अणंतखुत्तो' तक कहना चाहिए । इसी प्रकार सोलह युग्मों में कहना चाहिए ।

प्रथम समय कृष्णलेशी कृतयुग्म-कृतयुग्म संज्ञी पंचेन्द्रिय के सम्बन्ध में जैसा प्रथम समय के संज्ञी पंचेन्द्रिय के उद्देशक में कहा वैसा ही कहना चाहिए लेकिन वे जीव कृष्णलेशी होते हैं । इसी प्रकार सोलह युग्मों में कहना चाहिए । इस प्रकार कृष्णलेश्या शतक में भी ग्यारह उद्देशक कहना चाहिए । पहला, तीसरा, पाँचवाँ—ये तीन उद्देशक एक समान गमक वाले हैं, शेष आठ उद्देशक एक समान गमक वाले हैं ।

इसी प्रकार नीललेश्या वाले संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों के सम्बन्ध में महायुग्म शतक कहना चाहिए लेकिन कायस्थिति जघन्य एक समय, उत्कृष्ट पत्योपम के असंख्यातवें भाग अधिक दस सागरोपम की होती है । इसी प्रकार स्थिति के सम्बन्ध में जानना चाहिए । पहला, तीसरा, पाँचवाँ—ये तीन उद्देशक एक समान गमक वाले हैं, शेष आठ उद्देशक एक समान गमक वाले हैं ।

इसी प्रकार कापोतलेश्या वाले संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों के सम्बन्ध में महायुग्म शतक कहना चाहिए लेकिन कायस्थिति जघन्य एक समय, उत्कृष्ट पत्योपम के असंख्यातवें भाग अधिक तीन सागरोपम की होती है । इसी प्रकार स्थिति के सम्बन्ध में जानना चाहिए । पहला, तीसरा, पाँचवाँ—ये तीन उद्देशक एक समान गमक वाले हैं शेष आठ उद्देशक एक समान गमक वाले हैं ।

इसी प्रकार तेजोलेश्या वाले जीवों के सम्बन्ध में महायुग्म शतक कहना चाहिए । कायस्थिति जघन्य एक समय की, उत्कृष्ट पत्योपम के असंख्यातवें भाग अधिक दो सागरोपम की होती है । इसी प्रकार स्थिति के सम्बन्ध में जानना चाहिए । लेकिन नोसंज्ञाउपयोग वाले भी होते हैं । पहला, तीसरा, पाँचवाँ—

ये तीन उद्देशक एक समान गमक वाले हैं शेष आठ उद्देशक एक समान गमक वाले हैं ।

जैसा तेजोलेख्या का शतक कहा, वैसा ही पद्मलेख्या का महायुगम शतक कहना चाहिए । लेकिन कायस्थिति जघन्य एक समय, उत्कृष्ट साधिक अन्तर्मुहूर्त दस सागरोपम की होती है । इसी प्रकार स्थिति के सम्बन्ध में जानना चाहिए लेकिन स्थिति अन्तर्मुहूर्त अधिक न कहना चाहिए । इसी प्रकार पाँच (कृष्ण यावत् पद्मलेख्या) शतकों में जैसा कृष्णलेख्या शतक में पाठ कहा वैसा ही पाठ यावत् 'अणंतखुत्तो' तक कहना चाहिए ।

जैसा औधिक शतक में कहा वैसा ही शुक्ललेख्या के सम्बन्ध में महायुगम शतक कहना चाहिए लेकिन कायस्थिति और स्थिति के सम्बन्ध में जैसा कृष्णलेख्या शतक में कहा वैसा यावत् 'अणंतखुत्तो' तक कहना चाहिए । शेष सब औधिक शतक की तरह कहना चाहिए ।

कण्हेस्सभवसिद्धियकडजुम्मकडजुम्मसन्निपंचिदिया णं भंते !
कओ उववज्जंति ? एवं एएणं अभिलावेणं जहा ओहिया कण्हे-
लेस्ससयं ।

एवं नीललेस्सभवसिद्धिए वि सयं ।

एवं जहा ओहियाणि सन्निपंचिदियाणं सत्त सयाणि भणियाणि,
एवं भवसिद्धिएहि वि सत्त सयाणि कायव्वाणि । नवरं सत्तसु वि
सएसु सव्वपाणा जाव नो इण्हे समहे ।

—भग० श ४० । श ६ वे १४ । पृ० ६३३

कृष्णलेशी भवसिद्धिक कृतयुगम-कृतयुगम संज्ञी पंचेन्द्रिय के सम्बन्ध में—इसी प्रकार के अभिलाषों से जिस प्रकार औधिक कृष्णलेख्या महायुगम शतक में कहा वैसा—कहना चाहिए ।

इसी प्रकार नीललेशी भवसिद्धिक महायुगम शतक भी कहना चाहिए ।

इस प्रकार जैसे संज्ञी पंचेन्द्रियों के सात औधिक शतक कहे गये हैं वैसे ही भवसिद्धिक के सात शतक कहने चाहिए लेकिन सातों शतकों में ही सर्वप्राणी यावत् सर्वसत्त्व पूर्व में अनंत बार उत्पन्न हुए हैं—इस प्रश्न के उत्तर में है 'यह सम्भव नहीं है' ऐसा कहना चाहिए ।

कण्हेस्सअभवसिद्धियकडजुम्मकडजुम्मसन्निपंचिदिया णं भंते !
कओ उववज्जंति० ? जहा एएसिं चेव ओहियसयं तहा कण्हेस्ससयं
वि । नवरं तेणं भंते ! जीवा कण्हेस्सा ? हंता कण्हेस्सा । ठिई,
संचिट्टणा य जहा कण्हेस्ससए सेसं तं चेव ।

एवं छहि वि लेस्साहिं छ सया कायव्वा जहा कण्हेस्ससयं ।
नवरं संचिट्टणा ठिई य जहेव ओहियसए तहेव भाणियव्वा । नवरं
सुकलेस्साए उक्कोसेणं इक्कतीसं सागरोवमाइं अन्तोमुहुत्तमव्भहियाइं ।
ठिई एवं चेव । नवरं अन्तोमुहुत्तं नत्थि जहन्नगं^१, तहेव सव्वत्थ
सम्भत्त-नाणाणि नत्थि । विरई विरयाविरई अणुत्तरविमाणोववत्ति—
एयाणि नत्थि । सव्वपाणा० (जाव) नो इणट्ठे समट्ठे । × × × एवं
एयाणि सत्त अभवसिद्धियमहाजुम्मसयाणि भवति ।

—भग० श ४० । श १६ से २१ । पृ० ६३४

कृष्णलेशी अभवसिद्धिक कृतयुग्म-कृतयुग्म संज्ञी पंचेन्द्रिय के सम्बन्ध में जैसा
इनके औधिक (अभवसिद्धिक) शतकों में कहा वैसा कृष्णलेश्या अभवसिद्धिक
शतक में भी कहना चाहिए लेकिन ये जीव कृष्णलेश्या वाले होते हैं । इनकी
कायस्थिति तथा स्थिति के सम्बन्ध में जैसा औधिक कृष्णलेश्या शतक में कहा
वैसा ही कहना चाहिए ।

कृष्णलेश्या शतक की तरह छः लेश्याओं के छः शतक कहने चाहिए लेकिन
कायस्थिति और स्थिति औधिक शतक की तरह कहनी चाहिए । लेकिन शुबल-
लेश्या में उत्कृष्ट कायस्थिति साधिक अन्तमुर्हृत इक्कीस सागरोपम की कहनी
चाहिए । इसी प्रकार स्थिति के सम्बन्ध में जानना चाहिए । लेकिन जघन्य
अन्तमुर्हृत अधिक न कहना चाहिए । सर्व स्थानों में सम्यक्त्व तथा ज्ञान नहीं
है । विरति, विरताविरति भी नहीं है तथा अनुत्तर विमान से आकर उत्पत्ति
भी नहीं है । सर्वप्राणी यावत् सर्वसत्त्व पूर्व में अनन्त बार उत्पन्न हुए हैं—इस
प्रश्न के उत्तर में 'यह सम्भव नहीं है' ऐसा कहना चाहिए । इस प्रकार
अभवसिद्धिक के सात महायुग्म शतक होते हैं ।

महायुग्म संज्ञी पंचेन्द्रिय के इक्कीस शतक होते हैं । तथा सर्व महायुग्म
शतक इक्कासी होते हैं ।

१. यहाँ 'जहन्नगं' शब्द का भाव समझ में नहीं आया ।

‘दद सलेशी राशियुग्म जीव—

राशियुग्म संख्या चार प्रकार की होती है यथा—(१) कृतयुग्म, (२) श्रोज, (३) द्वापरयुग्म तथा (४) कल्योज । जिस संख्या में चार का भाग देने चार बचे वह कृतयुग्म संख्या कहलाती है, यदि तीन बचे तो वह श्रोज संख्या कहलाती है, यदि दो बचे तो वह द्वापरयुग्म संख्या कहलाती है, यदि एक बचे तो वह कल्योज संख्या कहलाती है । ध्रुवयुग्म तथा राशियुग्म की आगमीय परिभाषा समान हैं लेकिन विवेचन अलग-अलग है । अतः अन्तर अवश्य होना चाहिए । ध्रुवयुग्म में केवल नारकी जीवों का विवेचन है । राशियुग्म में दण्डक के सभी जीवों का विवेचन है ।

यहाँ पर राशियुग्म जीवों का निम्नलिखित १३ बोलों से विवेचन किया गया है । दिस्तुत विवेचन राशियुग्म कृतयुग्म नारकी में किया गया है । बाकी में इसकी भुलावण है तथा यदि कहीं भिन्नता है तो उसका निर्देशन है ।

१—कहाँ से उपपात, २—एक समय में कितने का उपपात, ३—सान्तर या निरन्तर उपपात, ४—एक ही समय में भिन्न-भिन्न युग्मों की अवस्थिति, ५—किस प्रकार से उपपात, ६—उपपात की गति की शीघ्रता, ७—परभव-आयुष के बंध का कारण, ८—परभवगति का कारण, ९—आत्म या परऋद्धि से उपपात, १०—आत्मकर्म या परकर्म से उपपात, ११—आत्म-प्रयोग या पर-प्रयोग से उपपात, १२—आत्मयश या आत्म-अयश से उपपात, १३—आत्मयश या आत्म-अयश से उपजीवन, आत्मयश या आत्म-अयश से उपजीवित जीव सलेशी या अलेशी, यदि सलेशी या अलेशी है तो सक्रिय या अक्रिय, यदि सक्रिय या अक्रिय है तो उसी भव में सिद्ध होता है या नहीं ।

हमने यहाँ सिर्फ लेश्या सम्बन्धी पाठों का संकलन किया है ।

(रासीजुम्मकडजुम्मनेरइया णं भंते !) जइ आयअजसं उवजीवंति किं सलेस्सा अलेस्सा ? गोयमा ! सलेस्सा, नो अलेस्सा । जइ सलेस्सा किं सकिरिया अकिरिया ? गोयमा ! सकिरिया, नो अकिरिया । जइ सकिरिया तेणेव भवग्गहणेणं सिज्झंति, जाव अंतं करेति ? नो इण्ठे समद्धे । (प्र ११, १२, १३)

रासीजुम्मकडजुम्मअसुरकुमारा णं भंते ! कओ उववज्जंति० ? जहेव नेरइया तहेव निरवसेसं । एवं जाव पंचिदियतिरिक्खजोणिया ।

नवरं वणस्सइकाइया जाव असंखेज्जा वा अणंता वा उववज्जंति, सेसं एवं वेव । (सू १४)

(मणुस्सा) जइ आयजसं उवजीवंति किं सलेस्सा अलेस्सा ? गोयमा ! सलेसा वि अलेस्सा वि । जइ अलेस्सा किं सकिरिया, अकिरिया ? गोयमा ! नो सकिरिया, अकिरिया । जइ अकिरिया तेणेव भवग्गहणेणं सिज्भंति, जाव अंतं करेति ? हंता सिज्भति, जाव अंतं करेति । जइ सलेस्सा किं सकिरिया, अकिरिया ? गोयमा ! सकिरिया, नो अकिरिया । जइ सकिरिया तेणेव भवग्गहणेणं सिज्भन्ति, जाव अंतं करेति ? गोयमा ! अत्थेगइयातेणेव भवग्गहणेणं सिज्भंति जाव अंतं करेन्ति, अत्थेगइया नो तेणेव भवग्गहणेणं सिज्भंति, जाव अंतं करेन्ति । जइ आयजसं उवजीवंति किं सलेस्सा, अलेस्सा ? गोयमा ! सलेस्सा, नो अलेस्सा जइ सलेस्सा किं सकिरिया, अकिरिया ? गोयमा ! सकिरिया, नो अकिरिया । जइ सकिरिया तेणेव भवग्गहणेणं सिज्भंति, जाव अंतं करेन्ति ? नो इण्ठे समट्ठे । (सू १६ से २३)

वाणमंतरजोइसियवेमाणिया जहा नेरइया ।

—भग० श ४१ । उ १ । सू ११ से २३ । पृ० ६३५-३६

राशियुग्म में जो कृतयुग्म राशि रूप नारकी आत्म असंयत का आश्रय लेकर जीते हैं वे सलेशी हैं, अलेशी नहीं हैं तथा वे सलेशी नारकी क्रियावाले हैं, क्रिया रहित नहीं हैं । वे सक्रिय नारकी उसी भव में सिद्ध नहीं होते हैं यावत् सर्व दुःखों का अन्त नहीं करते हैं ।

कृतयुग्म राशि असुरकुमारों के विषय में जैसा नारकी के विषय में कहा वंसा ही निरवशेष कहना चाहिए । इसी प्रकार यावत् तिर्यक् पंचेन्द्रिय तक समभक्ता परन्तु वनस्पतिकाधिक जीव असंख्यात अथवा अनन्त उत्पन्न होते हैं ।

जो कृतयुग्म राशि रूप मनुष्य आत्मसंयम का आश्रय लेकर जीते हैं वे सलेशी भी हैं, अलेशी भी हैं । यदि वे अलेशी हैं तो वे क्रियावाले नहीं हैं, क्रिया रहित हैं । तथा वे अक्रिय मनुष्य उसी भव में सिद्ध होते हैं यावत् सर्व दुःखों का अन्त करते हैं । यदि वे सलेशी हैं तो वे क्रिया वाले हैं, क्रिया रहित नहीं हैं तथा उन

सक्रिय जीवों में कितने ही उसी भव में सिद्ध होते हैं यावत् सर्व दुःखों का अन्त करते हैं तथा कितने ही उसी भव में सिद्ध नहीं होते हैं यावत् सर्व दुःखों का अन्त नहीं करते हैं। जो कृतयुग्म राशि रूप मनुष्य आत्म असंयम का आश्रय लेकर जीते हैं वे सलेशी हैं, अलेशी नहीं हैं तथा वे सलेशी मनुष्य क्रियावाले हैं, क्रियारहित नहीं हैं तथा वे सक्रिय मनुष्य उसी भव में सिद्ध नहीं होते हैं यावत् सर्व दुःखों का अन्त नहीं करते हैं।

वातव्यन्तर-ज्योतिषी-वैमानिक देवों के सम्बन्ध में जैसा नारकी के विषय में कहा गया है, वैसा ही समझना चाहिए।

'२ रासीजुम्मतेओयनेरइया० × × × एवं चेव उद्देसओ भाणियव्वो ।
× × × सेसं तं चेव जाव वेमाणिया । (उ २)

रासीजुम्मदावरजुम्मनेरइया० × × × एवं चेव उद्देसओ × × ×
सेसं जहा पढमुद्देसए जाव वेमाणिया । (उ ३)

रासीजुम्मकालओगनेरइया० × × × एवं चेव × × × सेसं जहा
पढमुद्देसए एवं जाव वेमाणिया । (उ ४)

—भग० श ४१ । उ २ से ४ । पृ० ६३६

राशि युग्म में श्वोज राशि रूप नारकी यावत् वैमानिक देवों के सम्बन्ध में जैसा राशियुग्म कृतयुग्म प्रथम उद्देशक में कहा गया है, वैसा ही समझना चाहिए।

राशियुग्म में हापरयुग्म रूप नारकी यावत् वैमानिक देवों के सम्बन्ध में जैसा प्रथम उद्देशक में कहा गया है, वैसा ही जानना चाहिए।

राशियुग्म में कल्योज राशि रूप नारकी यावत् वैमानिक देवों के सम्बन्ध में जैसा प्रथम उद्देशक कहा गया है, वैसा ही जानना चाहिए।

'३ कण्हलेस्सरासीजुम्मकडजुम्मनेरइया णं भंते ! कओ उववज्जंति० ?
उववाओ जहा धूमप्पभाए, सेसं जहा पढमुद्देसए । असुरकुमाराणं
तद्देव, एवं जाव वाणमंतराणं । मणुस्साण वि जहेव नेरइयाणं 'आय-
अजसं उवजीवंति' । अलेस्सा, अकिरिया तेणेव भवग्गहणेणं
सिज्जंति एवं न भाणियव्वं । सेसं जहा पढमुद्देसए ।

कण्हलेस्सतेओगेहि वि एवं चेव उद्देसओ ।

कण्हलेस्सदावरजुम्मेहिं एवं चेव उद्देसओ ।

कण्हलेस्सकलिओगेहि वि एवं चेव उद्देसओ । परिमाणं संवेहो य जहा ओहिएसु उद्देसएसु ।

जहा कण्हलेस्सेहिं एवं नीललेस्सेहि वि चत्तारि उद्देसगा भाणियव्वा निरवसेसा । नवरं नेरइयाणं उववाओ जहा वालुयप्पभाए, सेसं तं चेव ।

काऊलेस्सेहि वि एवं चेव चत्तारि उद्देसगा कायव्वा । नवरं नेरइयाणं उववाओ जहा रयणप्पभाए, सेसं तं चेव ।

तेऊलेस्सरासीजुम्मकडजुम्मअसुरकुमारा णं भंते ! कओ उववज्जंति० ? एवं चेव । नवरं जेसु तेऊलेस्सा अत्थि तेसु भाणियव्वा । एवं एए वि कण्हलेस्सासरिसा चत्तारि उद्देसगा कायव्वा ।

एवं पण्हलेस्साए वि चत्तारि उद्देसगा कायव्वा । पंचिदियतिरिक्खजोणियाणं मणुस्साणं वेमाणियाण य एएसिं पण्हलेस्सा, सेसाणं नत्थि ।

जहा पण्हलेस्साए एवं मुक्कलेस्साए वि चत्तारि उद्देसगा कायव्वा । नवरं मणुस्साणं गमओ जहा ओहि(य)उद्देसएसु, सेसं तं चेव । एवं एए ङ्गसु लेस्सासु चउवीसं उद्देसगा, ओहिया चत्तारि ।

—भग० श ४१ । उ ५ से २८ । १० ६३६-३७

कृष्णलेशी राशियुग्म कृतयुग्म नारकी का उपपात जैसा धूमप्रभा नारकी का कहा गया है, वैसा ही समझना चाहिए । अवशेष प्रथम उद्देशक की तरह समझना चाहिए । असुरकुमार यावत् वानव्यंतर देव तक ऐसा ही समझना चाहिए । मनुष्यों के सम्बन्ध में नारकियों की तरह जानना चाहिए । वे यावत् आत्मअसंयम का आश्रय लेकर जीते हैं तथा उनके विषय में अलेशी, अक्रिय तथा उसी भव में सिद्ध होते हैं—ऐसा न कहना चाहिए । अवशेष जैसा प्रथम उद्देशक में कहा गया है, वैसा ही कहना चाहिए । कृष्णलेशी राशियुग्म त्र्योज, कृष्णलेशी राशियुग्म

द्वापरयुग, कृष्णलेशी राशियुग कल्योज—इन तीनों नारकी युगों के सम्बन्ध में कृष्णलेशी राशियुग कृतयुग के उद्देशक में जैसा कहा गया है, वैसा ही अलग-अलग उद्देशक कहना चाहिए। लेकिन परिमाण तथा संवेध की भिन्नता जाननी चाहिए।

नीललेशी राशियुग जीवों के भी कृतयुग, त्र्योज, द्वापरयुग कल्योज-चार उद्देशक कृष्णलेशी राशियुग उद्देशक की तरह कहने चाहिए लेकिन नारकी का उपपात बालुकाप्रभा की तरह कहना चाहिए।

कापोतलेशी राशियुग जीवों के भी कृष्णलेशी राशियुग की तरह कृतयुग, त्र्योज, द्वापरयुग, कल्योज-चार उद्देशक कहने चाहिए। लेकिन नारकी का उपपात रत्नप्रभा की तरह कहना चाहिए।

तेजोलेशी राशियुग जीवों के सम्बन्ध में कृष्मलेशी राशियुग की तरह चार उद्देशक कहने चाहिए। लेकिन जिनके तेजोलेश्या होती है उनके ही सम्बन्ध में ऐसा कहना चाहिए।

पद्मलेशी राशियुग जीवों के सम्बन्ध में कृष्णलेशी राशियुग की तरह ही चार उद्देशक कहने चाहिए। तिर्यच पंचेन्द्रिय, मनुष्य तथा वैमानिक देवों के ही पद्मलेश्या होती है, अवशेष के नहीं होती है।

जैसे पद्मलेश्या के विषय में चार उद्देशक कहे गया है, वैसे ही शुक्ललेश्या के भी चार उद्देशक कहने चाहिए। लेकिन मनुष्य के सम्बन्ध में जैसा औषिक उद्देशक में कहा गया है, वैसा ही समझना चाहिए तथा अवशेष वैसा ही जानना चाहिए।

४ कण्हेस्सभवसिद्धीयरासीजुम्मकडजुम्मनेरइया णं भंते ! कओ उववज्जंति० ? जहा कण्हेस्साए चत्तारि उद्देसगा भवंति तहा इमे वि भवसिद्धीयकण्हेस्सेहि वि चत्तारि उद्देसगा कायव्वा ।

एवं नीललेस्सभवसिद्धीएहि वि चत्तारि उद्देसगा कायव्वा । एवं काऊलेस्सेहि वि चत्तारि उद्देसगा । तेऊलेस्सेहि वि चत्तारि उद्देसगा ओहियसरिसा । पम्हलेस्सेहि वि चत्तारि उद्देसगा । सुक्कलेस्सेहि वि चत्तारि उद्देसगा ओहियसरिसा ।

—मग० श ४१ । उ ३३ से ५६ । पृ० ६३७

कृष्णलेशी भवसिद्धिक राशियुग्म कृतयुग्म नारकियों के विषय में जैसे कृष्ण-लेशी राशियुग्म के चार उद्देशक कहे गये हैं, वैसे ही चार उद्देशक कहने चाहिए। इसी प्रकार नीललेशी भवसिद्धिक राशियुग्म तथा कापोतलेशी भवसिद्धिक राशियुग्म के चार-चार उद्देशक कहने चाहिए।

तेजोलेशी भवसिद्धिक राशियुग्म जीवों के भी औघिक तेजोलेशी राशियुग्म जीवों की तरह चार उद्देशक कहने चाहिए। पद्मलेशी भवसिद्धिक राशियुग्म जीवों के भी औघिक पद्मलेशी राशियुग्म जीवों की तरह चार उद्देशक कहने चाहिए। शुक्ललेशी भवसिद्धिक राशियुग्म जीवों के भी औघिक शुक्ललेशी राशियुग्म जीवों की तरह चार उद्देशक कहने चाहिए। जिसके जितनी लेश्या हो उतने विवेचन करने चाहिए।

‘५ अभवसिद्धीयरासीजुम्मकडजुम्मनेरइया णं भंते ! कओ उवव-ज्जंति० ? जहा पढमो उद्देसगो, नवरं मणुस्ता नेरइया य सरिसा भाणियत्वा । सेसं तद्देव × × × एवं चउसु वि जुम्मेसु चत्तारि उद्देसगा ।

कणहलेस्सअभवसिद्धियरासीजुम्मकडजुम्मनेरइया णं भंते ! कओ उववज्जंति ? एवं चेव चत्तारि उद्देसगा । एवं नीललेस्सअभवसिद्धीय-रासीजुम्मकडजुम्मनेरइयाणं चत्तारि उद्देसगा । एवं काउलेस्सेहि वि चत्तारि उद्देसगा । तेउलेस्सेहि वि चत्तारि उद्देसगा । पम्ह-लेस्सेहि वि चत्तारि उद्देसगा । मुक्कलेस्सअभवसिद्धिए वि चत्तारि उद्देसगा । एवं एएसु अहावीसाए वि अभवसिद्धीयउद्देसएसु मणुस्ता नेरइयगमेणं नेयत्वा ।

—भग० श ४१ । उ ५७ से ८४ । पृ० ६३७

अभवसिद्धिक राशियुग्म जीवों के सम्बन्ध में जैसा प्रथम उद्देशक में कहा गया है, वैसे ही कहना चाहिए लेकिन मनुष्य और नारकी का एक-सारखा वर्णन करना चाहिए। चारों युग्मों के चार उद्देशक कहने चाहिए।

इसी तरह कृष्णलेशी अभवसिद्धिक राशियुग्म जीवों के सम्बन्ध में चार उद्देशक कहने चाहिए। इसी तरह नीललेशी अभवसिद्धिक राशियुग्म यावत् शुक्ललेशी अभवसिद्धिक राशियुग्म जीवों के सम्बन्ध में प्रत्येक के चार-चार उद्देशक कहने

चाहिए। लेकिन मनुष्यों के सम्बन्ध में सर्वत्र नारकी की तरह कहना चाहिए। जिसके जितनी लेश्या हो उतने विवेचन करने चाहिए।

‘६ सम्मदिट्ठीरासीजुम्मकडजुम्मनेरइया णं भंते! कओ उववज्जंति० ? एवं जहा पढमो उद्देसओ। एवं चउसु वि जुम्मेसु चत्तारि उद्देसगा भवसिद्धीयसरिसा कायव्वा। कणहलेस्ससम्मदिट्ठीरासीजुम्मकडजुम्मनेरइया णं भंते। कओ उववज्जंति० ? एए वि कणहलेस्ससरिसा चत्तारि वि उद्देसगा कायव्वा। एवं सम्मदिट्ठीसु वि भवसिद्धीयसरिसा अट्ठावीसं उद्देसगा कायव्वा।

मिच्छादिट्ठीरासीजुम्मकडजुम्मनेरइया णं भंते! कओ उववज्जंति० ? एवं एत्थ वि मिच्छादिट्ठिअभिलावेणं अभवसिद्धीयसरिसा अट्ठावीसं उद्देसगा कायव्वा।

—भग० श ४१। उ ८५ से १४०। पृ० ६३७-३८

कृष्णलेशी सम्यग्दृष्टि राशियुग्म जीवों के सम्बन्ध में कृष्णलेशी राशियुग्म जीवों की तरह चार उद्देशक कहने चाहिए। समदृष्टि राशियुग्म जीवों के भी भवसिद्धिक राशियुग्म जीवों की तरह अट्ठाईस उद्देशक कहने चाहिए।

मिश्र्यादृष्टि राशियुग्म जीवों के सम्बन्ध में अभवसिद्धिक राशियुग्म जीवों की तरह अट्ठाईस उद्देशक कहने चाहिए।

‘७ कण्हपक्खयरासीजुम्मकडजुम्मनेरइया णं भंते! कओ उववज्जंति० ? एवं एत्थ वि अभवसिद्धीयसरिसा अट्ठावीसं उद्देसगा कायव्वा।

सुकपक्खयरासीजुम्मकडजुम्मनेरइया णं भंते! कओ उववज्जंति० ? एव एत्थ वि भवसिद्धीयसरिसा अट्ठावीसं उद्देसगा भवंति। एवं एए सव्वे वि झन्नउयं उद्देसगसयं भवंति रासीजुम्मसयं। जाव सुकलेस्सा सुकपक्खयरासीजुम्मकलिओगवेमाणिया जाव—जइ सकिरिया तेणेव भवग्गहेणं सिज्झंति। जव अंतं करेति ? नो इण्ठे समट्ठे।

—भग० श ४१। उ १४१ से १६६। पृ० ६३८

कृष्णपाक्षिक राशियुग्म जीवों के सम्बन्ध में भी अभवसिद्धिक राशियुग्म जीवों की तरह अट्टाईस उद्देशक कहने चाहिए ।

यावत् शुक्लपाक्षिक राशियुग्म जीवों के सम्बन्ध में भी भवसिद्धिक राशियुग्म जीवों की तरह अट्टाईस उद्देशक कहने चाहिए ।

८९ सलेशी जीव और योग—

१ (संसारसमावन्नगा) तत्थ णं जे ते संसारसमावन्नगा ते दुविहा पन्नत्ता, तं जहा—संजया य असंजया य × × × तत्थ णं जे ते संजया ते दुविहा पणत्ता, तं जहा—पमत्तसंजया य अप्पमत्तसंजया य × × × तत्थ णं ते पमत्तसंजया ते सुहं जोगं पडुच्च नो आयारंभा, नो परारंभा, नो तदुभयारंभा, अणारंभा । असुभ जोगं पडुच्च आयारंभा वि जाव नो अणारंभा × × × ।

—भग० श १ । उ १ । सू ४८

संसार समापन्नक जीव दो प्रकार के कहे गये हैं, संयत और असंयत । इनमें जो संयत हैं वे दो प्रकार के कहे गये हैं, यथा—प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयत । जो प्रमत्तसंयत हैं, वे शुभयोग की अपेक्षा आत्मारम्भी, परारम्भी और तदुभयारम्भी नहीं हैं किन्तु अनारम्भी हैं और अशुभयोग की अपेक्षा आत्मारम्भी भी है, परारम्भी भी हैं और तदुभयारम्भी भी हैं किन्तु अनारम्भी नहीं हैं ।

नोट—उपयोग पूर्वक सावधानता पूर्वक योग की प्रवृत्ति को शुभयोग कहते हैं । उपयोग के बिना प्रतिलेखनादि करना अशुभयोग है । कहा है—

पुढवी आउक्काइए-तेऊ-वाऊ-वणस्सइ-तसाणं ।

पडिलेहणापमत्तो, छण्हं पि विराहओ होइ ॥

—भग० श १ । उ १ । सू ४८ । टीका

२ नेरइया णं भंते ! किं आयारंभा ? परारंभा ? तदुभयारंभा ? अणारंभा ? गोयमा ! आयारंभा वि, परारंभा वि, तदुभयारंभा वि, नो अणारंभा । से केणट्ठेणं ? गोयमा ! अविरतिं पडुच्च । से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ-नेरइया अणारंभा वि, परारंभा वि, तदुभयारंभा वि, नो अणारंभा ।

एवं जाव पंचिन्द्रियतिरिक्खजोणिया । मणुस्सा जहा-जीवा,
नवरं सिद्ध-विरहिया भाणियन्वा । वाणमंतरा-जोइसिया-वेमाणिया
तहा नेरइया ।

सलेस्सा जहा ओहिया । कण्हेलेसस्स, नीललेसस्स, काउलेसस्स
जहा ओहिया जीवा, नवरं पमत्ताप्पमत्ता न भाणियन्वा । तेउ-
लेसस्स, पम्हलेसस्स, सुक्कलेसस्स जहा ओहिया जीवा, नवरं सिद्धा न
भाणियन्वा ।

—भग० श १ । उ १ । सू ४६ से ५३

नारकी जीव आत्मारम्भी भी है, परारम्भी भी है, तदुभयारम्भी भी है, किन्तु
अनारम्भी नहीं है । अद्विरति भी अपेक्षा ऐसा कहा जाता है कि नारकी जीव
आत्मारम्भी भी है, परारम्भी भी है, तदुभयारम्भी भी है, किन्तु अनारम्भी
नहीं है ।

इसी प्रकार असुरकुमार के विषय में भी जान लेना चाहिए । यावत् पंचेन्द्रिय
तिर्यञ्च तक जान लेना चाहिए ।

मनुष्य पूर्वोक्त सामान्य जीवों की तरह जानना चाहिए परन्तु विशेषता यह
है कि इन जीवों में सिद्धों को नहीं कहना चाहिए ।

वाणव्यन्तर से वैमानिक देवों तक नारकी जीवों की तरह जानना चाहिए ।

सलेशी जीव सामान्य जीवों की तरह कहना चाहिए । कृष्णलेश्यावाले,
नीललेश्यावाले और कापोतलेश्यावाले औषधिक जीवों की तरह कहना चाहिए,
किन्तु इतना अन्तर है कि यहाँ पर प्रमत्त और अप्रमत्त नहीं कहना चाहिए ।
क्योंकि इन लेश्यावाले सब प्रमत्त ही होते हैं । तेजोलेश्यावाले, पद्मलेश्यावाले
और शुक्ललेश्यावाले जीव सामान्य जीवों की तरह कहना चाहिए, किन्तु इतना
अन्तर है कि सिद्ध जीव नहीं कहना चाहिए । (देखो '७२)

नोट—तेजोलेश्या, पद्मलेश्या और शुक्ललेश्याओं में संयत-असंयत ; प्रमादी
और अप्रमादी के भी भेद है ।

प्रमादी में भी तेजोलेश्या, पद्मलेश्या और शुक्ललेश्या होती हैं । उनमें शुभयोग
भी होता है और अशुभयोग भी । यदि वह उपयोगपूर्वक प्रवृत्ति करता है तो
अनारम्भी है और यदि ऐसा नहीं करता है तो अनारम्भी है ।

इसी प्रकार तेजोलेश्या, पद्मलेश्या, शुक्ललेश्या के विषय में जानना चाहिए ।

['१ कण्हेस्सा णं भंते ! जीवा किं आयारंभा ? परारंभा ? तदुय-
यारंभा ? अणारंभा ? गोयमा ! अत्थेगइया कण्हेस्सा जीवा
आयारंभा वि, परारंभा वि, तदुभयारंभा वि, नो अणारंभा ।

अत्थेगइया कण्हेस्सा जीवा नो आयारंभा, नो परारंभा, नो
तदुभयारंभा, अणारंभा ।

से केणट्ठेणं जाव अणारंभा ? गोयमा ! कण्हेस्सा जीवा दुविहा
पणत्ता, तं जहा—संजया य असंजया य । तत्थ णं जे ते संजया ते
सुहं जोगं पडुच्च नो आयारंभा जाव अणारंभा । असुभं जोगं पडुच्च
आयारंभा वि जाव नो अणारंभा ।

तत्थ णं जे ते असंजया ते अविरतिं पडुच्च आयारंभा वि जाव
नो अणारंभा । से तेणट्ठेणं जाव नो अणारंभा ।]

नीलकापोतलेश्यानां एष एव गमः ।

अर्थात् कई एक कृष्णलेशी जीव आत्मारम्भी नहीं है, परारम्भी नहीं है,
तदुभयारम्भी नहीं है किन्तु अनारम्भी है । क्योंकि कृष्णलेशी जीव दो प्रकार
के कहे गये हैं, यथा—संयत और असंयत । इनमें जो संयत है वे शुभयोग की
अपेक्षा आत्मारम्भी, परारम्भी और तदुभयारंभी भी नहीं है, किन्तु अनारम्भी
है । वे अशुभयोग की अपेक्षा आत्मारम्भी भी है, परारम्भी भी है, तदुभयारम्भी
भी है, किन्तु अनारम्भी नहीं है । जो असंयत है वे अविरति की अपेक्षा से
आत्मारम्भी है यावत् अनारम्भी नहीं है ।

इस कारण से ऐसा कहा जाता है कि कितनेक कृष्णलेशी जीव आत्मारम्भी
भी है यावत् कितनेक जीव अनारम्भी भी है ।

इसी प्रकार नीललेश्या तथा कापोतलेश्या के विषय में जानना चाहिए ।

['२ तेउलेस्सा णं भंते ! जीवा किं आयारंभा जाव अणारंभा ?
गोयमा ! अत्थेगइया आयारंभा वि जाव नो अणारंभा, अत्थे-
गइया आयारंभा वि जाव नो अणारंभा ।]

[से केणट्टेणं ? गोयमा ! दुविहा तेऊलेस्सा पणत्ता, तं जहा—संजया य असंजया य । तत्थ णं जे ते संजया ते दुविहा पणत्ता, तं जहा—पमत्त संजया य, अप्पमत्त संजया य । तत्थ णं जे ते अप्पमत्त-संजया ते णं नो आयारंभा जाव अणारंभा । तत्थ णं जे ते पमत्तसंजया ते सुहं जोगं पडुच्च नो आयारंभा जाव अणारंभा । असुभं जोगं पडुच्च आयारंभा वि जाव नो अणारंभा ।

तत्थणं जे ते असंजया ते अविरतिं पडुच्च आयारंभा वि जाव नो अणारंभा । से तेणट्टेण जाव अणारंभा ।

पद्मशुक्ललेश्यानां एष एव गमः ।

अर्थात् कई एक तेजोलेशी आत्मारम्भी भी है, यावत् अनारम्भी नहीं है । कई एक आत्मारम्भी भी है यावत् अनारम्भी नहीं है, कितनेक आत्मारम्भी नहीं है यावत् अनारम्भी है ।

तेजोलेशी जीव दो प्रकार के हैं—संयत और असंयत । उनमें संयत जीव दो प्रकार के हैं—प्रमत्त संयत और अप्रमत्त संयत । जो अप्रमत्त संयत हैं वे आत्मारम्भी नहीं है, परारम्भी नहीं है, तदुभयारम्भी नहीं है, अनारम्भी है ।

जो प्रमत्त संयत है वे शुभयोग की अपेक्षा आत्मारम्भी नहीं है यावत् तदुभयारम्भी नहीं है, अनारम्भी है । अशुभयोग की अपेक्षा आत्मारम्भी भी है यावत् तदुभयारम्भी भी है, अनारम्भी नहीं है ।

अविरति की अपेक्षा से असंयत तेजोलेशी जीव आत्मारम्भी भी है यावत् तदुभयारम्भी भी है, अनारम्भी नहीं है ।

इस कारण से ऐसा कहा जाता है कि कितनेक तेजोलेशी जीव आत्मारम्भी है यावत् कितनेक जीव अनारम्भी भी है ।

शुभयोगवाला प्रमत्त संयत अनारम्भी है और अशुभयोगवाला आत्मारम्भी आदि है । इसी प्रकार पद्मलेशी तथा शुक्ललेशी जीव के विषय में जानना चाहिए ।

व्याख्या—टीकाकार श्री अभयदेव सूत्रि तीन भाव लेश्याओं में संयम नहीं मानते हैं, किन्तु यह बात संगत नहीं होती है, क्योंकि जीव को चारित्र आते ही

सातवां गुणस्थान ही आता है। फिर जीव सातवें गुणस्थान से छट्टे गुणस्थान में आ सकते हैं। किन्तु नीचे के गुणस्थानों से नहीं। सातवें गुणस्थान (अप्रमत्तसंयत) में तो तेजो, पथ और शुक्ल ये तीन लेश्याएँ ही होती हैं और छट्टे गुणस्थान छः ही लेश्याएँ हैं। और यदि उनमें भाव कृष्णादि लेश्याएँ मानी जाय तब तो उनमें द्रव्य कृष्णादि लेश्याएँ मानी जा सकती हैं। क्योंकि उन भावलेश्याओं के बिना वे द्रव्यलेश्याएँ प्राप्त नहीं हो सकतीं। हां, यह हो सकता है कि भावलेश्या हटजाने के बाद भी द्रव्यलेश्या कुछ समय तक रह सकती है किन्तु भावलेश्या के बिना द्रव्यलेश्या नहीं आ सकती। भावलेश्या तो उन-उन द्रव्यलेश्याओं के बिना भी आ सकती है। चारित्र (छट्टे गुणस्थान) में छः लेश्याएँ आगम में बताई हैं। जबकि जीव सातवें गुणस्थान से ही छट्टे में आते हैं और सातवें में तीन ही लेश्याएँ हैं, तो फिर छट्टे में तीन तो भावलेश्या और कृष्णादि तीन द्रव्यलेश्या, ये छः माने तो तीन भावलेश्याओं का मानना भी ठीक हो जायेगा, क्योंकि वे तो सातवें में थी ही, किन्तु कृष्णादि तीन द्रव्यलेश्या कहां से आईं? क्योंकि भावलेश्या के बिना द्रव्यलेश्या आ नहीं सकती, यह ऊपर बताया जा चुका है। अतः कृष्णादि तीन भावलेश्याओं के मानने पर ही कृष्णादि तीन द्रव्यलेश्याओं का मानना युक्ति संगत हो सकेगा। कृष्णादि अशुभलेश्याओं के भी असंख्यात स्थान-दर्ज हैं। उनमें में से नीचे के ज्यादा खराब अशुभ स्थानों को छोड़कर ऊपर के कम अशुभ स्थानवाले परिणाम थोड़ी देर के लिए किसी-किसी के हो सकते हैं। हां, यह बात अवश्य है कि कृष्णादि तीन अशुभलेश्याओं में चारित्र की प्राप्ति नहीं होती, परन्तु चारित्र प्राप्त हो जाने के पश्चात् वे कृष्णादि तीन अशुभ लेश्याएँ आ सकती हैं। जैसा कि भद्रबाहुस्वामि विरचित आवश्यक नियुक्ति की उपोद्घात नियुक्ति में कहा है—

“पुव्वपडिवण्णओ पुण अण्णयरीए उ लेस्साए ।”

अर्थात् चारित्र प्राप्ति के पश्चात् साधु में कोई भी लेश्या हो सकती है। जैसे कि मनःपर्यवज्ञान अप्रमत्त संयत को ही प्राप्त होता है, किन्तु मनःपर्यवज्ञान प्राप्त हो जाने के पश्चात् वह प्रमत्त संयत में रह सकता है। भगवती श ८ । उ २ तथा पन्नवणा पद १७ । उ ३ में कृष्णादि पांच लेश्याओं में चार ज्ञान तक बतलाये हैं। अतः इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि जब कृष्णादि अशुभलेश्याओं में मनःपर्यवज्ञान है तो वह भावलेश्या ही हो सकती है, क्योंकि द्रव्यलेश्या तो पुद्गल है। अतः चारित्र प्राप्ति के बाद इन संयत जीवों में कृष्णादि लेश्या भी कभी हो सकती है।



१० सलेशी जीव का आठ पदों से विवेचन—

[यहाँ पर सलेशी जीव का निम्नलिखित आठ पदों की अपेक्षा से विवेचन हुआ है—यथा—(१) भेद, (२) उपभेद, (३) श्रेणी तथा क्षेत्र की अपेक्षा से विग्रह गति, (४) स्थान (उपपातस्थान, समुद्घातस्थान, स्वस्थान), (५) कर्म प्रकृति की सत्ता, बंधन, वेदन, (६) कहीं से उपपात, (७) समुद्घात, (८) तुल्य अथवा भिन्न स्थिति की अपेक्षा तुल्य विशेषाधिक अथवा भिन्न विशेषाधिक कर्म का बंधन । लेकिन भगवती सूत्र के ३४वें शतक में केवल एकेन्द्रिय जीव का विवेचन है, अन्य जीवों का इन आठ पदों की अपेक्षा से विवेचन नहीं मिलता है ।]

१०.१ सलेशी एकेन्द्रिय जीव का आठ पदों से विवेचन—

कइविहा णं भंते ! कणहलेस्सा एगिंदिया पन्नत्ता ? गोयमा !
पंचविहा कणहलेस्सा एगिंदिया पन्नत्ता, भेदो चउक्कओ जहा कणह-
लेस्सएगिंदियसए जाव वणस्सइकाइय त्ति ।

कणहलेस्सअपज्जत्तासुहुमपुढविकाइए णं भंते ! इमीसे रयणप्पभाए
पुढवीए पुरच्छिमिल्ले० ? एवं एएणं अभिलावेणं जहेव ओहियउहेसओ
जाव 'लोगचरिमंते' त्ति । सव्वत्थ कणहलेस्सेसु चेव उववाएयव्वो ।

कहिं णं भंते ! कणहलेस्सअपज्जत्तावायरपुढविकाइयाणं ठाणा
पन्नत्ता ? (गोयमा !) एवं एएणं अभिलावेणं जहा ओहियउहेसओ
जाव तुल्लट्ठिइय त्ति ।

एवं एएणं अभिलावेणं जहेव पढमं सेटिसयं तहेव एकारस उहेसगा
भाणियव्वा ।

एवं नीललेस्सेहि वि तइयं सयं ।

काउलेस्सेहि वि सयं । एवं चेव चउत्थं सयं ।

—भग० श ३४ । श २ से ४ । पृ० ६२४

कृष्णलेशी एकेन्द्रिय पाँच प्रकार के अर्थात् कृष्णलेशी पृथ्वीकायिक यावत्
कृष्णलेशी वनस्पतिकायिक होते हैं । इनमें प्रत्येक के पर्याप्तसूक्ष्म, अपर्याप्तसूक्ष्म,
पर्याप्तबादर, अपर्याप्तबादर चार भेद होते हैं । (देखो भग० श ३३ । श २)

कृष्णलेशी अपर्याप्तसूक्ष्म पृथ्वीकायिक की श्रेणी तथा क्षेत्र की अपेक्षा विग्रह-गति के पद आदि औघिक उद्देशक में जैसा कहा गया है, वैसा रत्नप्रभा नारकी के पूर्वलोकांत से यावत् लोक के चरमांत तक समझना चाहिए। सर्वत्र कृष्ण-लेश्या में उपपात कहना चाहिए।

कृष्णलेशी अपर्याप्तवादर पृथ्वीकायिकों के स्थान कहाँ कहे हैं ? इस अभिलाप से औघिक उद्देशक में जैसा कहा गया है, वैसा स्थान पद से यावत् तुल्यस्थिति तक समझना चाहिए।

इस अभिलाप से जैसा प्रथम श्रेणी शतक में कहा गया है, वैसा ही द्वितीय श्रेणी शतक के ग्यारह उद्देशक (औघिक यावत् अचरम उद्देशक) कहना चाहिए।

इसी प्रकार नीललेश्या वाले एकेन्द्रिय जीवों के सम्बन्ध में तीसरा श्रेणी शतक कहना चाहिए।

इसी प्रकार कापोतलेश्या वाले एकेन्द्रिय जीवों के सम्बन्ध में चौथा श्रेणी शतक कहना चाहिए।

कइविहा णं भंते ! कण्हलेस्सभवसिद्धियएगिदिया पन्नत्ता ? एवं जहेव ओहियउद्देसओ ।

कइविहा णं भंते ! अणंतरोववन्ना कण्हलेस्सा भवसिद्धिया एगिदिया पन्नत्ता ? जहेव अणंतरोववन्नउद्देसओ ओहिओ तहेव ।

कइविहा णं भंते ! परंपरोववन्ना कण्हलेस्सभवसिद्धियएगिदिया पन्नत्ता ? गोयमा ! पंचविहा परंपरोववन्ना कण्हलेस्सभवसिद्धियएगिदिया पन्नत्ता, ओहिओ भेदो चउक्कओ जाव वणस्सइकाइय त्ति ।

परंपरोववन्नकण्हलेस्सभवसिद्धियअपज्जत्तासुहुमपुढविकाइएणं भंते ! इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए० ? एवं एएणं अभिलावेणं जहेव ओहिओ उद्देसओ जाव 'लौयचरिमंते' त्ति । सव्वत्थ कण्हलेस्सेसु भवसिद्धिएसु उववाएयव्वो ।

कहिणं भंते ! परंपरोववन्नकण्हलेस्सभवसिद्धियपज्जत्तावायरपुढवि-काइयाणं ठाणा पन्नत्ता ? एवं एएणं अभिलावेणं जहेव ओहिओ

उद्देश्यो जाव 'तुल्लद्विइय' त्ति । एवं एणं अभिलावेणं कण्हलेस्सभव-
सिद्धियएगिदिएहि वि तहेव एकारसउद्देशगसंजुत्तं छट्ठं सयं ।

नीललेस्सभवसिद्धियएगिदिएसु सयं सत्तमं ।

एवं काळलेस्सभवसिद्धियएगिदिएहि वि अट्ठमं सयं ।

जहा भवसिद्धिएहि चत्तारि सयाणि एवं अभवसिद्धिएहि वि
चत्तारि सयाणि भाणियव्वाणि, नवरं चरम-अचरमवज्जा नव
उद्देशगा भाणियव्वा, सेसं तं चेव । एवं एयाइं वारस एगिदिय-
सेढीसयाइं ।

—भग० श ३४ । श ६ से १२ । पृ० ६२४-२५

कृष्णलेशी भवसिद्धिक एकेन्द्रिय के सम्बन्ध में जैसा औधिक उद्देशक में कहा
वैसा गया है समझना चाहिए ।

अनंतरोपपन्न कृष्णलेशी भवसिद्धिक एकेन्द्रिय के सम्बन्ध में जैसा अनंतरोपपन्न
औधिक उद्देशक में कहा गया है, वैसा समझना चाहिए ।

परंपरोपपन्न कृष्णलेशी भवसिद्धिक एकेन्द्रिय पाँच प्रकार के अर्थात् परंपरो-
पपन्न कृष्णलेशी भवसिद्धिक पृथ्वीकायिक यावत् परंपरोपपन्न कृष्णलेशी भवसिद्धिक
वनस्पतिकायिक होते हैं । इनमें प्रत्येक के पर्याप्त-अपर्याप्त सूक्ष्म, पर्याप्त-अपर्याप्त
बादर चार भेद होते हैं । परंपरोपपन्न कृष्णलेशी भवसिद्धिक अपर्याप्त सूक्ष्म पृथ्वी-
कायिक की श्रेणी तथा क्षेत्र की अपेक्षा विश्रह गति के पद आदि औधिक उद्देशक
में जैसा कहा गया है, वैसा रत्नप्रभा पृथ्वी के नारकी के पूर्वलोकांत से यावत्
लोक के चरमांत तक समझना चाहिए । सर्वत्र कृष्णलेशी भवसिद्धिक में उपपात
कहना चाहिए । परंपरोपपन्न कृष्णलेशी भवसिद्धिक पर्याप्त बादर पृथ्वीकायिकों
के स्थान कहाँ कहे हैं—इस अभिलाप से औधिक उद्देशक में जैसा कहा गया है,
वैसा स्थान पद से यावत् तुल्यस्थिति तक समझना चाहिए । इस अभिलाप से जैसा
प्रथम श्रेणी शतक में कहा गया है, वैसा ही छट्टे श्रेणी शतक के ग्यारह उद्देशक
कहने चाहिए ।

इसी प्रकार नीललेश्या वाले भवसिद्धिक एकेन्द्रिय जीवों के सम्बन्ध में सप्तम
श्रेणी शतक कहना चाहिए ।

इसी प्रकार कापोतलेश्यावाले भवसिद्धिक एकेन्द्रिय जीवों के सम्बन्ध में अष्टम
श्रेणी शतक कहना चाहिए ।

जैसे भवसिद्धिक के चार शतक कहे गये है, वैसे ही अभवसिद्धिक के चार शतक कहने चाहिए, लेकिन अभवसिद्धिक में चरम-अचरम को छोड़कर नौ उद्देशक ही कहने चाहिए ।

१९ सलेशी जीव और अल्पबहुत्व—

१११ औधिक सलेशी जीवों में अल्पबहुत्व—

(क) एएसि णं भंते ! जीवाणं सलेस्साणं कण्हलेस्साणं जाव सुक्कलेस्साणं अलेस्साणं य कयरे कयरेहितो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा ? गोयमा ! सव्वथोवा जीवा सुक्कलेस्सा, पम्हलेस्सा संखेज्जगुणा, तेऊलेस्सा संखेज्जगुणा, अलेस्सा अणंतगुणा, काऊलेस्सा अणंतगुणा, नीललेस्सा विसेसाहिया, कण्हलेस्सा विसेसाहिया, सलेस्सा विसेसाहिया ।

—पण्ण० प ३ । द्वार ८ । सू ३६ । पृ० ३२८

—पण्ण० पद १७ । उ २ । सू १४ । पृ० ४३८

—जीवा० प्रति ६ । सर्व जीव । सू २६६ । पृ० २५८

सबसे कम शुक्ललेश्या वाले जीव होते हैं, उनसे पद्मलेश्यावाले जीव संख्यात-गुणा हैं, उनसे तेजोल्लेश्यावाले जीव संख्यातगुणा हैं, उनसे लेश्या रहित (अलेशी) जीव अनन्तगुणा हैं, उनसे कापोत लेश्यावाले जीव अनन्तगुणा हैं, उनसे नीललेश्या वाले जीव विशेषाधिक हैं, उनसे कृष्णलेश्या वाले जीव विशेषाधिक हैं, तथा उनसे सलेशी जीव विशेषाधिक हैं ।

(ख) सव्वथोवा अलेस्सा सलेस्सा अणंतगुणा ।

—जीवा० प्रति ६ । सर्व जीवा । सू २४५ । पृ० २५२

अलेशी जीव सबसे कम तथा सलेशी जीव उनसे अनन्त गुणा हैं ।

११२ नारकी जीवों में—

एएसि णं भंते ! नेरइयाणं कण्हलेस्साणं नीललेस्साणं काऊलेसाणं य कयरे कयरेहितो अप्पा वा ४ ? गोयमा ! सव्वथोवा नेरइया कण्हलेसा, नीललेसा असंखेज्जगुणा, काऊलेसा असंखेज्जगुणा ।

—पण्ण० प १७ उ २ । सू १५ । पृ० ४३८

सबसे कम कृष्णलेशी नारकी, उनसे असंख्यातगुणा नीललेशी नारकी, उनसे असंख्यातगुणा कापोतलेशी नारकी हैं ।

*६१*३ तिर्यञ्चयोनि के जीवों में—

एएसि णं भंते ! तिरिक्खजोणियाणं कण्हलेसाणं जाव सुक्कलेसाणं य कयरे कयरेहितो अप्पा वा ४ ? गोयमा ! सव्वत्थोवा तिरिक्खजोणिया सुक्कलेसा, एवं जहा ओहिया, नवरं अलेसवज्जा ।

—पण्ण० प १७ । उ २ । सू १५ । पृ० ४३८

सबसे कम शुक्ललेशी तिर्यञ्चयोनिक जीव हैं अवशेष (अलेशी को बाद देकर) अधिक जीव की तरह जानना चाहिए ।

*६१*४ एकेन्द्रिय जीवों में—

एएसि णं भंते ! एग्गिदियाणं कण्हलेस्साणं नीललेस्साणं काऊलेस्साणं तेऊलेस्साणं य कयरे कयरेहितो अप्पा वा जाव विसेसाहिया ? गोयमा ! सव्वत्थोवा एग्गिदिया तेऊलेस्सा, काऊलेस्सा अणंतगुणा, नीललेस्सा विसेसाहिया, कण्हलेस्सा विसेसाहिया ।

—पण्ण० प १७ । उ २ । सू १५ । पृ० ४३८

—भग० श १७ । उ १२ । सू ३ । पृ० ७६१

सबसे कम एकेन्द्रिय तेजोलेशी जीव हैं, उनसे कापोतलेशी एकेन्द्रिय जीव अनन्तगुणा हैं, उनसे नीललेशी एकेन्द्रिय जीव विशेषाधिक हैं, उनसे कृष्णलेशी एकेन्द्रिय जीव विशेषाधिक हैं ।

*६१*५ पृथ्वीकायिक जीवों में—

एएसि णं भंते ! पुढविकाइयाणं कण्हलेस्साणं जाव तेऊलेस्साणं य कयरे कयरेहितो अप्पा वा ४ ? गोयमा ! जहा ओहिया एग्गिदिया, नवरं काऊलेस्सा असंखेज्जगुणा ।

—पण्ण० प १७ । उ २ । सू १५ । पृ० ४३८-६

नबसे कम तेजोलेशी पृथ्वीकायिक जीव हैं, उनसे कापोतलेशी पृथ्वीकायिक जीव असंख्यातगुणा, उनसे नीललेशी विशेषाधिक, उनसे कृष्णलेशी विशेषाधिक हैं ।

'६१'६ अप्कायिक जीवों में—

एवं आउकाइयाणि वि ।

—पण्ण० प १७ । उ २ । सू १५ । पृ० ४३६

पृथ्वीकायिक जीवों की तरह अप्कायिक जीवों में भी अल्पबहुत्व जानना चाहिए ।

'६१'७ अग्निकायिक जीवों में—

एएसि णं भंते ! तेउकाइयाणं कण्हलेस्साणं नीललेस्साणं काऊ-
लेस्साण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा ४ ? गोयमा ! सन्वत्थोवा
तेउकाइया काऊलेस्सा, नीललेस्सा विसेसाहिया, कण्हलेस्सा विसे-
साहिया ।

—पण्ण० प १७ । उ २ । सू १५ । पृ० ४३६

सबसे कम कापोतलेशी अग्निकायिक जीव, उनसे नीललेशी अग्निकायिक
विशेषाधिक, उनसे कृष्णलेशी अग्निकायिक विशेषाधिक है ।

'६१'८ वायुकायिक जीवों में—

एवं वायुकाइयाण वि ।

—पण्ण० प १७ । उ २ । सू १५ । पृ० ४३६

अग्निकायिक जीवों की तरह वायुकायिक जीवों में भी अल्पबहुत्व जानना
चाहिए । (देखो पाठ ६१'७)

'६१'९ वनस्पतिकायिक जीवों में—

एएसि णं भंते ! वणस्सइकाइयाणं कण्हलेस्साणं जाव तेऊलेस्साण
य जहा एग्गिदियओहियाणं ।

—पण्ण० प १७ । उ २ । सू १५ । पृ० ४३६

सलेशी वनस्पतिकायिक जीवों में अल्पबहुत्व औषधिक सलेशी एकेन्द्रिय जीवों
की तरह जानना चाहिए ।

'६१'१० द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय तथा चतुरिन्द्रिय जीवों में—

वेइंदियाणं तेइंदियाणं चउरिंदियाणं जहा तेउकाइयाणं ।

—पण्ण० प १७ । उ २ । सू १५ । पृ० ४३६

सलेशी द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय तथा चतुरिन्द्रिय जीवों में अपने-अपने में अल्पबहुत्व अग्निकायिक जीवों की तरह जानना चाहिए । (देखो पाठ '६१'७)

'६१'११ पंचेन्द्रिय तिर्यच्योनिक जीवों में—

एएसि षं भंते ! पंचिदियतिरिक्खजोणियाणं कण्हलेस्साणं एवं जाव सुक्कलेसाण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा ४ ? गोयमा ! जहा ओहियाणं तिरिक्खजोणियाणं, नवरं काऊलेस्सा असंखेज्जगुणा ।

—पण्ण० प १७ । उ २ । सू १६ । पृ० ४३६

सलेशी पंचेन्द्रिय तिर्यच्योनिक जीवों में अल्पबहुत्व औघिक तिर्यच्योनिक जीवों की तरह जानना चाहिए (देखो पाठ '६१'३) लेकिन कापोतलेश्या को असंख्यात गुणा कहना चाहिए ।

'६१'१२ समूच्छिम पंचेन्द्रिय तिर्यच्योनिक जीवों में—

संमुच्छिमपंचिदियतिरिक्खजोणियाणं जहा तेउकाइयाणं ।

—पण्ण० प १७ । उ २ । सू १६ । पृ० ४३६

समूच्छिम पंचेन्द्रिय तिर्यच्योनिक जीवों में अल्पबहुत्व अग्निकायिक जीवों की तरह जानना चाहिए । (देखो पाठ '६१'७)

'६१'१३ गर्भज पंचेन्द्रिय तिर्यच्योनिक जीवों में—

गब्भवक्कंतियपंचिदियतिरिक्खजोणियाणं जहा ओहियाणं तिरिक्खजोणियाणं, नवरं काऊलेस्सा संखेज्जगुणा ।

—पण्ण० प १७ । उ २ । सू १६ । पृ० ४३६

गर्भज पंचेन्द्रिय तिर्यच्योनिक जीवों में अल्पबहुत्व औघिक तिर्यच्योनिक की तरह जानना चाहिए । लेकिन कापोतलेश्या में संख्यात गुणा कहना चाहिए । (देखो पाठ '६१'३) लेकिन टीकाकार कहते हैं कि कापोतलेश्या में 'असंख्यात' गुणा कहना चाहिए ।

गर्भव्युत्क्रांतिकपंचेन्द्रियतिर्यग्योनिकसुत्रे तेजोलेश्याभ्यः कापोतलेश्या असंख्येय-गुणा वक्तव्याः तावतामेव तेषां केवलवेदसोपलब्धत्वात् ।

'६१'१४ (गर्भज) पंचेन्द्रिय तिर्यच्योनिक स्त्री जीवों में—

एवं तिरिक्खजोणिणीण वि ।

—पण्ण० प १७ । उ २ । सू १६ । पृ० ४३६

गर्भज पंचेन्द्रिय तिर्यंचयोनिक स्त्री जीवों में अल्पबहुत्व गर्भज तिर्यंच पंचेन्द्रिय योनिक की तरह जानना चाहिए ।

'९१'१५ संमूर्च्छिम तथा गर्भज पंचेन्द्रिय तिर्यंचयोनिक जीवों में—

एसि णं भंते ! संमुच्छिमपंचेदियतिरिक्खजोणियाणं गव्भव-
क्कंतियपंचेदियतिरिक्खजोणियाण य कण्हलेस्साणं जाव सुक्कलेस्साण
य कयरे कयरेहितो अप्पा वा ४ ? गोयमा ! सव्वथोवा गव्भव-
क्कंतियपंचेदियतिरिक्खजोणिया सुक्कलेस्सा, पण्हलेस्सा संखेज्जगुणा,
तेऊलेस्सा संखेज्जगुणा, काऊलेस्सा संखेज्जगुणा, नीललेस्सा विसे-
साहिया, कण्हलेस्सा विसेसाहिया, काऊलेस्सा संमुच्छिमपंचेदिय-
तिरिक्खजोणिया असंखेज्जगुणा, नीललेस्सा विसेसाहिया, कण्हलेस्सा
विसेसाहिया ।

—पण्ण० प १७ । उ २ । सू १६ । पृ० ४३६

गर्भज पंचेन्द्रिय तिर्यंचयोनिक—शुक्ललेशी सबसे कम, पद्मलेशी उनसे
संख्यातगुणा, तेजोलेशी उनसे संख्यातगुणा, कापोतलेशी उनसे संख्यातगुणा,
नीललेशी उनसे विशेषाधिक तथा कृष्णलेशी उनसे विशेषाधिक होते हैं । इनसे
संमूर्च्छिम पंचेन्द्रिय तिर्यंचयोनिक कापोतलेशी असंख्यातगुणा, नीललेशी उनसे
विशेषाधिक तथा कृष्णलेशी उनसे विशेषाधिक होते हैं ।

'९१'१६ संमूर्च्छिम पंचेन्द्रिय तिर्यंचयोनिक तथा (गर्भज) पंचेन्द्रिय तिर्यंच स्त्री
जीवों में—

एसि णं भंते ! संमुच्छिमपंचेदियतिरिक्खजोणियाणं तिरिक्ख-
जोणियाण य कण्हलेस्साणं जाव सुक्कलेसाण य कयरे कयरेहितो अप्पा
वा ४ ? गोयमा ! जहेव पंचमं तहा इमं छट्ठं भाणियव्वं ।

—पण्ण० प १७ । उ २ । सू १६ । पृ० ४३६

संमूर्च्छिम तिर्यंच पंचेन्द्रियों तथा गर्भज तिर्यंच पंचेन्द्रिय स्त्रियों में कौन-कौन
अल्प, बहु, तुल्य अथवा विशेषाधिक हैं—इस सम्बन्ध में '९१'१५ में जैसा कहा
गया है, वैसा कहना चाहिए । गर्भज तिर्यंच पंचेन्द्रिययोनिक की जगह गर्भज
तिर्यंच पंचेन्द्रिययोनिक स्त्री कहना चाहिए ।

'६१'१७ गर्भज पंचेन्द्रिय तिर्यचयोनिकों तथा तिर्यच स्त्रियों में—

एएसि णं भंते ! गन्भवक्कंतियपंचेदियतिरिक्खजोणियाणं तिरिक्खजोणिणीण य कण्हलेसाणं जाव सुक्कलेसाण थ कयरे कयरेहितो अप्पा वा ४ ? गोयमा ! सव्वत्थोवा गन्भवक्कंतियपंचेदियतिरिक्खजोणिया सुक्कलेसा, सुक्कलेसाओ तिरिक्खजोणिणीओ संखेज्जगुणाओ, पम्हलेसा गन्भवक्कंतियपंचेदियतिरिक्खजोणिया संखेज्जगुणा, पम्हलेसाओ तिरिक्खजोणिणीओ संखेज्जगुणाओ, तेऊलेसा तिरिक्खजोणिया संखेज्जगुणा, तेऊलेसाओ तिरिक्खजोणिणीओ संखेज्जगुणाओ, काऊलेसा संखेज्जगुणा, नीललेसा विसेसाहिया, कण्हलेसा विसेसाहिया, काऊलेसाओ संखेज्जगुणाओ, नीललेसाओ विसेसाहियाओ, कण्हलेसाओ विसेसाहियाओ ।

—पण्ण० प १७ । उ २ । सू१६ । पृ० ४३६

गर्भज पंचेन्द्रिय तिर्यचयोनिक शुक्ललेशी सबसे कम, तिर्यच स्त्री शुक्ललेशी उनसे संख्यातगुणा, ग० पं० तिर्यच पद्मलेशी उनसे संख्यातगुणा, तिर्यच स्त्री पद्मलेशी उनसे संख्यातगुणा, ग० पं० ति० तेजोलेशी उनसे संख्यातगुणा, तिर्यच स्त्री तेजोलेशी उनसे संख्यातगुणा, ग० पं० ति० कापोतलेशी उनसे संख्यातगुणा, ग० पं० ति० नीललेशी उनसे विशेषाधिक, ग० पं० ति० कृष्णलेशी उनसे विशेषाधिक, तिर्यच स्त्री कापोतलेशी उनसे संख्यातगुणा, तिर्यच स्त्री नीललेशी उनसे विशेषाधिक तथा तिर्यच स्त्री कृष्णलेशी उनसे विशेषाधिक होती हैं ।

'६१'१८ संमुच्छिम पंचेन्द्रिय तिर्यचयोनिकों, गर्भज पंचेन्द्रिय तिर्यचयोनिकों तथा तिर्यच स्त्रियों में—

एएसि णं भंते ! संमुच्छिमपंचेदियतिरिक्खजोणियाणं गन्भवक्कंतियपंचेदिय (तिरिक्खजोणियाणं) तिरिक्खजोणिणीण य कण्हलेसाणं जाव सुक्कलेसाण थ कयरे कयरेहितो अप्पा वा ४ ? गोयमा ! सव्वत्थोवा गन्भवक्कंतिया तिरिक्खजोणिया सुक्कलेसा, सुक्कलेसाओ तिरि० संखेज्जगुणाओ, पम्हलेसा गन्भवक्कंतिया तिरिक्खजोणिया संखेज्जगुणा, पम्हलेसाओ तिरिक्खजोणिणीओ संखेज्जगुणाओ, तेऊलेसा गन्भवक्कंतिया तिरिक्खजोणिया संखेज्जगुणा, तेऊलेसाओ

तिरिक्खजोणिणीओ संखेज्जगुणाओ, काऊलेसाओ संखेज्जगुणाओ, नीललेसा विसेसाहिया, कण्हलेसा विसेसाहिया, काऊलेसा संखेज्जगुणा, नीललेसा विसेसाहिया, कण्हलेसाओ विसेसाहियाओ, काऊलेसा संमुच्छिमपंचेदियतिरिक्खजोणिया असंखेज्जगुणा, नीललेसा विसेसाहिया, कण्हलेसा विसेसाहिया ।

—पण्ण० प १७ । उ २ । सू १६ । पृ० ४३६

[इस पाठ में भूल मालुम होती है । यद्यपि हमको सभी प्रतियों में एक-सा ही पाठ मिला है, हमारे विचार में इसमें गर्भज पंचेन्द्रिय तिर्यचयोनिक तथा तिर्यच स्त्री सम्बन्धी जितना पाठ है वह '६१'१७ की तरह होना चाहिए । गुणीजन इस पर विचार करें । हमने अर्थ '६१'१७ के अनुसार किया है ।]

गर्भज पंचेन्द्रिय तिर्यचयोनिक शुक्ललेशी सबसे कम, तिर्यच स्त्री शुक्ललेशी उनसे संख्यातगुणा, ग० पं० ति० पद्मलेशी उनसे संख्यातगुणा, तिर्यच स्त्री पद्मलेशी उनसे संख्यातगुणा, ग० पं० ति० तेजोलेशी उनसे संख्यातगुणा, तिर्यच स्त्री तेजोलेशी उनसे संख्यातगुणा, ग० पं० ति० कापोतलेशी उनसे संख्यातगुणा, ग० पं० ति० नीललेशी उनसे विशेषाधिक, ग० पं० ति० कृष्णलेशी उनसे विशेषाधिक, तिर्यञ्च स्त्री कापोतलेशी उनसे संख्यातगुणा, तिर्यञ्च स्त्री नीललेशी उनसे विशेषाधिक तथा तिर्यञ्च स्त्री कृष्णलेशी उनसे विशेषाधिक होती है । इनसे संमुच्छिम पंचेन्द्रिय तिर्यचयोनिक कापोतलेशी असंख्यातगुणा, नीललेशी उनसे विशेषाधिक तथा कृष्णलेशी उनसे विशेषाधिक होते हैं ।

'६१'१६ पंचेन्द्रिय तिर्यचयोनिकों तथा तिर्यच स्त्रियों में :—

एएसि णं भंते ! पंचेदियतिरिक्खजोणियाणं तिरिक्खजोणिणीण य कण्हलेसाणं जाव सुक्कलेसाणं कयरे कयरेहितो अप्पा वा ४ ? गोयमा । सव्वत्थोवा पंचेदियतिरिक्खजोणिया सुक्कलेसा, सुक्कलेसाओ संखेज्जगुणाओ, पम्हलेसा संखेज्जगुणा, पम्हलेसाओ संखेज्जगुणाओ, तेऊलेसा संखेज्जगुणा, तेऊलेसाओ संखेज्जगुणाओ, काऊलेसा संखेज्जगुणा, नीललेसाओ विसेसाहियाओ, कण्हलेसा विसेसाहिया, काऊलेसा असंखेज्जगुणा, नीललेसा विसेसाहिया, कण्हलेसाओ, विसेसाहियाओ ।

—पण्ण० प १७ । उ २ । सू १६ । पृ० ४४०

[इस पाठ में भूल भालूम होती है । यद्यपि हमें सभी प्रतियों में एक-सा ही पाठ मिला है, हमारे विचार में शेष की तरफ का पाठ निम्न प्रकार से होना चाहिये क्योंकि यहाँ पंचेन्द्रिय तिर्यञ्चयोनिकों में गर्भज पुत्र तथा संमूर्च्छिम दोनों सम्मिलित हैं । गुणीजन इस पर विचार करें ।

‘काऊलेस्साओ संखेज्जगुणाओ, नीललेस्साओ विसेसाहियाओ, कणहलेस्साओ विसेसाहियाओ, काऊलेस्सा असंखेज्जगुणा, नीललेस्सा विसेसाहिया, कणहलेस्सा विसेसाहिया ।’

हमने अर्थ इसी आधार पर किया है ।]

पंचेन्द्रिय तिर्यञ्चयोनिक शुक्ललेशी सबसे कम, तिर्यञ्च स्त्री शुक्ललेशी उनसे संख्यातगुणा, पं० ति० पद्मलेशी उनसे संख्यातगुणा, स्त्री तिर्यञ्च पद्मलेशी उनसे संख्यातगुणा, पं० ति० तेजोलेशी उनसे संख्यातगुणा, तिर्यञ्च स्त्री तेजोलेशी उनसे संख्यातगुणा, तिर्यञ्च स्त्री कापोतलेशी उनसे संख्यातगुणा, तिर्यञ्च स्त्री नीललेशी उनसे विशेषाधिक, तिर्यञ्च स्त्री कृष्णलेशी उनसे विशेषाधिक, पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च-योनिक कापोतलेशी उनसे असंख्यातगुणा, पं० ति० नीललेशी उनसे विशेषाधिक तथा पं० ति० कृष्णलेशी उनसे विशेषाधिक होते हैं ।

‘६१’२० तिर्यञ्चयोनिकों तथा पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च स्त्रियों में :—

एएसि णं भंते ! तिरिक्खजोणियाणं, तिरिक्खजोणियाणं य कणह-
लेसाणं जाव सुकलेसाणं य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा ४ ? गोयमा !
जहेव नवमं अप्पाबहुगं तथा इमं पि, नवरं काऊलेसा तिरिक्खजोणिया
अणंतगुणा । एवं एए दस अप्पाबहुगा तिरिक्खजोणियाणं ।

—पण्ण० प १७ । उ २ । सू १६ । पृ० ४४०

तिर्यञ्चयोनिक तथा गर्भज पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च स्त्रियों में कौन-कौन अल्प, बहु, तुल्य अथवा विशेषाधिक है—इस सम्बन्ध में ‘६१’१६ में जैसा कहा गया है वैसा कहना चाहिए । लेकिन कापोतलेशी तिर्यञ्चयोनिक जीव अनंतगुणा कहना चाहिए ।

टीकाकार ने पूर्वाचार्यों द्वारा उक्त दो संग्रह गाथाओं का उल्लेख किया है—

- (१) ओहियपणिदि संमुच्छिमा य गब्भे तिरिक्ख इत्थिओ ।
समुच्छमगब्भतिरिया, मुच्छतिरिक्खी य गब्भमि ॥
- (२) संमुच्छिमगब्भइत्थि पणिदि तिरिगिस्थीयाओ ओहित्थी ।
दस अप्पबहुगभेआ तिरियाणं होंति नायव्वा ।

(१) औषिक सामान्य तिर्य'च पंचेन्द्रिय, (२) संमूर्च्छिम तिर्य'च पंचेन्द्रिय, (३) गर्भज तिर्य'च पंचेन्द्रिय, (४) गर्भज तिर्य'च पंचेन्द्रिय स्त्री, (५) संमूर्च्छिम तथा गर्भज तिर्य'च पंचेन्द्रिय, (६) संमूर्च्छिम पंचेन्द्रिय तथा तिर्य'च स्त्री, (७) गर्भज तिर्य'च पंचेन्द्रिय तथा तिर्य'च स्त्री, (८) संमूर्च्छिम, गर्भज तिर्य'च पंचेन्द्रिय तथा तिर्य'च स्त्री, (९) पंचेन्द्रिय तिर्य'च तथा तिर्य'च स्त्री और (१०) औषिक सामान्य तिर्य'च तथा तिर्य'च स्त्री । इस प्रकार तिर्य'चों के दस अल्पबहुत्व जानने चाहिए ।

एवं मणुस्सा वि अप्पाबहुगा भाणियव्वा, नवरं पच्छिमं (दसं)
अप्पाबहुगं नत्थि ।

—पण्ण० प १७ । उ २ । सूत्र १६

यह पाठ पणवणा सूत्र की प्रति (क) तथा (ग) में नहीं है लेकिन (ख) में है । टीका में भी है ।

‘मनुष्याणामपि वक्तव्यानि, नवरं पश्चिमं दशममल्पबहुत्वं नास्ति, मनुष्याणामनन्तत्वाभावात्, तदभावे काउलेसा अणंतगुणा इति पदासम्भवात् ।’

मनुष्य का अल्पबहुत्व पंचेन्द्रिय तिर्य'चयोनिक की तरह जानना चाहिए । (देखो पाठ '६१'११ से '६१'१६ तक) । '६१'२० वाँ बोल नहीं कहना चाहिए । क्योंकि मनुष्यों में अनन्त का अभाव है । अतः 'कापोतलेशी अनन्त-गुणा' यह पाठ सम्भव नहीं है ।

'६१'२२ देवताओं में—

एएसि णं भंते ! देवाणं कण्हलेसाणं जाव सुक्कलेसाण य कयरे कयरेहितो अप्पा वा ४ ? गोयमा ! सव्वत्थोवा देवा सुक्कलेसा, पम्हलेसा असंखेज्जगुणा, काउलेसा असंखेज्जगुणा, नीललेसा विसेसाहिया, कण्हलेसा विसेसाहिया, तेउलेसा संखेज्जगुणा ।

—पण्ण० प १७ । उ २ । सू १७ । पृ० ४४०

शुक्ललेशी देवता सबसे कम, उनसे पद्मलेशी असंख्यातगुणा, उनसे कापोतलेशी असंख्यातगुणा, उनसे नीललेशी विशेषाधिक, उनसे कृष्णलेशी विशेषाधिक तथा उनसे तेजोलेशी देवता संख्यातगुणा होते हैं ।

‘६१’२३ देवियों में—

एएसि णं भंते ! देवीणं कण्हलेसाणं जाव तेऊलेसाण य कयरे कयरेहितो अप्पा वा ४ ? गोयमा ! सव्वत्थोवाओ देवीओ काऊलेसाओ, नीललेसाओ विसेसाहियाओ, कण्हलेसाओ विसेसाहियाओ, तेऊलेसाओ संखेज्जगुणाओ ।

—पण्ण० प १७ । उ २ । सू १७ । पृ० ४४०

कापोतलेशी देवियाँ सबसे कम, उनसे नीललेशी विशेषाधिक, उनसे कृष्णलेशी विशेषाधिक तथा उनसे तेजोलेशी देवियाँ संख्यातगुणी होती हैं ।

‘६१’२४ देवता और देवियों में—

एएसि णं भंते ! देवाणं देवीण य कण्हलेसाणं जाव सुकलेसाण य कयरे कयरेहितो अप्पा वा ४ ? गोयमा ! सव्वत्थोवा देवा सुकलेसा, पण्हलेसा असंखेज्जगणा, काऊलेसा असंखेज्जगुणा, नीललेसा विसेसाहिया, कण्हलेसा विसेसाहिया, काऊलेसाओ देवीओ संखेज्जगुणाओ, नीललेसाओ विसेसाहियाओ, कण्हलेसाओ विसेसाहियाओ, तेऊलेसा देवा संखेज्जगुणा, तेऊलेसाओ देवीओ संखेज्जगुणाओ ।

—पण्ण० प १७ । उ २ । सू १७ । पृ० ४४०

शुक्ललेशी देवता सबसे कम, उनसे पद्मलेशी असंख्यातगुणा, उनसे कापोतलेशी असंख्यातगुणा, उनसे नीललेशी विशेषाधिक, उनसे कृष्णलेशी विशेषाधिक, उनसे कापोतलेशी देवियाँ संख्यातगुणी, उनसे नीललेशी देवियाँ विशेषाधिक, उनसे कृष्णलेशी देवियाँ विशेषाधिक, उनसे तेजोलेशी देवता संख्यातगुणा तथा उनसे तेजोलेशी देवियाँ संख्यातगुणी होती हैं ।

‘६१’२५ भवनवासी देवताओं में—

एएसि णं भंते ! भवणवासीणं कण्हलेसाणं जाव तेऊलेसाण य कयरे कयरेहितो अप्पा वा ४ ? गोयमा ! सव्वत्थोवा भवणवासी

देवा तेऊलेसा, काऊलेसा असंखेज्जगुणा, नीललेसा विसैसाहिया, कण्हलेसा विसैसाहिया ।

—पण्ण० प १७ । उ २ । सू १८ । पृ० ४४०

तेजोलेशी भवनवासी देवता सबसे कम, उनसे कापोतलेशी भ० असंख्यात गुणा, उनसे नीललेशी भ० विशेषाधिक तथा उनसे कृष्णलेशी भ० विशेषाधिक होते हैं ।

'६१'२६ भवनवासी देवियों में—

एएसि णं भंते ! भवणवासिणीणं देवीणं कण्हलेसाणं जाव तेऊ-
लेसाण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा ४ ? गोयमा ! एवं चेव ।

—पण्ण० प १७ । उ २ । सू १८ । पृ० ४४०-४१

तेजोलेशी भवनवासी देवियाँ सबसे कम, उनसे कापोतलेशी भ० असंख्यात-
गुणी, उनसे नीललेशी भ० विशेषाधिक तथा उनसे कृष्णलेशी भ० देवियाँ
विशेषाधिक होती हैं ।

'६१'२७ भवनवासी देवता तथा देवियों में—

एएसि णं भंते ! भवणवासीणं देवाणं देवीण य कण्हलेसाणं जाव
तेऊलेसाण य कयरे कयरेहितो अप्पा वा ४ ? गोयमा ! सव्वत्थोवा
भवणवासी देवा तेऊलेसा, भवणवासिणीओ तेऊलेसाओ संखेज्ज-
गुणाओ, काऊलेसा भवणवासीदेवा असंखेज्जगुणा, नीललेसा विसैसा-
हिया, कण्हलेसा विसैसाहिया, काऊलेसाओ भवणवासिणीओ देवीओ
संखेज्जगुणाओ, नीललेसाओ विसैसाहियाओ, कण्हलेसाओ विसैसा-
हियाओ ।

—पण्ण० प १७ । उ २ । सू १८ । पृ० ४४१

तेजोलेशी भवनवासी देवता सबसे कम, उनसे तेजोलेशी भ० देवियाँ संख्यात-
गुणी, उनसे कापोतलेशी भ० देवता असंख्यातगुणा, उनसे नीललेशी भ० देवता
विशेषाधिक, उनसे कृष्णलेशी भ० देवता विशेषाधिक, उनसे कापोतलेशी भवनवासी
देवियाँ संख्यातगुणी, उनसे नीललेशी भ० देवियाँ विशेषाधिक तथा उनसे कृष्णलेशी
भ० देवियाँ विशेषाधिक होती हैं ।

‘६१’२८ भवनवासी देवों के भेदों में—

(क) एएसि णं भंते ! दीवकुमाराणं कण्हलेस्साणं जाव तेऊलेस्साणं य कयरे कयरेहिंतो जाव विसेसाहिया वा ? गोयमा ! सव्वत्थोवा दीवकुमारा तेऊलेस्सा, काऊलेस्सा असंखेज्जगुणा, नीललेस्सा विसेसाहिया, कण्हलेस्सा विसेसाहिया ।

—भग० श १६ । उ ११ । सू ३ । पृ० ७५३

(ख) उदहिकुमाराणं × × × एवं चेव ।

—भग० श १६ । उ १२ । सू १ । पृ० ७५३

(ग) एवं दिसाकुमारा वि ।

—भग० श १६ । उ १३ । सू १ । पृ० ७५३

(घ) एवं थणियकुमारा वि ।

—भग० श १६ । उ १४ । सू १ । पृ० ७५३

(ङ) नागकुमारा णं भंते ! × × × जहा सोलसमसए दीवकुमारु-हेसए तहेव निरविसेसं भाणियठवं जाव झुड्डी (त्ति) ।

—भग० श १७ । उ १३ । सू १ । पृ० ७६१

(च) सुवन्नकुमारा णं × × × एवं चेव ।

—भग० श १७ । उ १४ । सू १ । पृ० ७६१

(छ) विज्जुकुमारा णं × × × एवं चेव ।

—भग० श १७ । उ १५ । सू १ । पृ० ७६१

(ज) वाडकुमारा णं × × × एवं चेव ।

—भग० श १७ । उ १६ । सू १ । पृ० ७६१

(झ) अग्गिकुमारा णं × × × एवं चेव ।

—भग० श १७ । उ १७ । सू १ । पृ० ७६१

तेजोलेशी द्वीपकुमार सबसे कम, उनसे कापोतलेशी असंख्यातगुणा, उनसे नीललेशी विशेषाधिक तथा उनसे कृष्णलेशी विशेषाधिक होते हैं ।

इसी प्रकार नागकुमार, सुवर्णकुमार, विद्युत्कुमार, अग्निकुमार, उदधिकुमार, दिशाकुमार, वायुकुमार तथा स्तनितकुमार देवों में भी अल्पबहुत्व जानना चाहिए ।

•६१•२६ वानव्यंतर देवों में—

एवं वाणमंतराणं, तिन्नेव अप्पाबहुया जहेव भवणवासीणं तहेव भाणियव्वा ।

—पण्ण० प १७ । उ २ । सू १८ । पृ० ४४१

•६१•२६•१ वानव्यंतर देवों में—

तेजोलेशी वानव्यंतर देवता सबसे कम, उनसे कापोतलेशी असंख्यातगुणा, उनसे नीललेशी विशेषाधिक तथा उनसे कृष्णलेशी विशेषाधिक होते हैं ।

•६१•२६•२ वानव्यंतर देवियों में—

तेजोलेशी वानव्यंतर देवियाँ सबसे कम, उनसे कापोतलेशी असंख्यातगुणी, उनसे नीललेशी विशेषाधिक तथा उनसे कृष्णलेशी विशेषाधिक होती हैं ।

•६३•२६•३ वानव्यंतर देव और देवियों में—

तेजोलेशी वानव्यंतर देवता सबसे कम, उनसे तेजोलेशी वा० देवियाँ संख्यातगुणी, उनसे कापोतलेशी वानव्यंतर देवता असंख्यातगुणा, उनसे नीललेशी वा० देवता विशेषाधिक, उनसे कृष्णलेशी वा० देवता विशेषाधिक, उनसे कापोतलेशी वानव्यंतर देवियाँ संख्यातगुणी उनसे नीललेशी वा० देवियाँ विशेषाधिक, तथा उनसे कृष्णलेशी वा० देवियाँ विशेषाधिक होती हैं ।

•६१•३० ज्योतिषी देव और देवियों में—

एएसि णं भंते ! जोइसियाणं देवाणं देवीण य तेऊलेस्साणं कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा ४ ? गोयमा ! सव्वत्थोवा जोइसिया देवा तेऊलेस्सा, जोइसिणीओ देवीओ तेऊलेस्साओ संखेज्जगुणाओ ।

—पण्ण० प १७ । उ २ । सू १६ । पृ० ४४१

तेजोलेशी ज्योतिषी देवता सबसे कम तथा उनसे तेजोलेशी ज्योतिषी देवियाँ संख्यातगुणी हैं ।

•६१•३१ वैमानिक देवों में—

एएसि णं भंते ! वेमाणियाणं देवाणं तेऊलेसाणं पम्हलेसाणं सुक्क-
लेसाण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा ४ ? गोयमा ! सव्वत्थोवा
वेमाणिया देवा सुक्कलेसा, पम्हलेसा असंखेज्जगुणा, तेऊलेसा असं-
खेज्जगुणा ।
—पण्ण० प १७ । उ २ । सू २० । पृ० ४४१

शुक्कलेशी वैमानिक देवता सबसे कम, उनसे पद्दलेशी असंख्यातगुणा तथा
उनसे तेजोलेशी असंख्यातगुणा होते हैं ।

•६१•३२ वैमानिक देव और देवियों में—

एएसि णं भंते ! वेमाणियाणं देवाणं देवीण य तेऊलेस्साणं पम्ह-
लेस्साणं सुक्कलेस्साण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा ४ ? गोयमा !
सव्वत्थोवा वेमाणिया देवा सुक्कलेस्सा, पम्हलेस्सा असंखेज्जगुणा,
तेऊलेस्सा असंखेज्जगुणा, तेऊलेस्साओ वेमाणिणीओ देवीओ संखेज्ज-
गुणाओ ।

—पण्ण० प १७ । उ २ । सू २० । पृ० ४४१

शुक्कलेशी वैमानिक देवता सबसे कम, उनसे पद्दलेशी वै० देवता असंख्यात-
गुणा, उनसे तेजोलेशी वै० देवता असंख्यातगुणा तथा उनसे तेजोलेशी वैमानिक
देवियों संख्यातगुणी होती हैं ।

•६१•३३ भवनवासी, वानव्यंतर, ज्योतिषी तथा वैमानिक देवों में—

एएसि णं भंते ! भवणवासीदेवाणं वाणमंतराणं जोइसियाणं
वेमाणियाण य देवाण य कण्हलेसाणं जाव सुक्कलेसाण य कयरे
कयरेहिंतो अप्पा वा ४ ? गोयमा ! सव्वत्थोवा वेमाणिया देवा
सुक्कलेसा, पम्हलेसा असंखेज्जगुणा, तेऊलेसा असंखेज्जगुणा, तेऊलेसा
भवणवासी देवा असंखेज्जगुणा, काऊलेसा असंखेज्जगुणा, नीललेसा
विसेसाहिया, कण्हलेसा विसेसाहिया, तेऊलेसा वाणमंतर देवा
असंखेज्जगुणा, काऊलेसा असंखेज्जगुणा, नीललेसा विसेसाहिया,
कण्हलेसा विसेसाहिया, तेऊलेसा जोइसिया देवा संखेज्जगुणा ।

—पण्ण प १७ । उ २ । सू २१ । पृ० ४४१

ध्रुवल्लेशी वैमानिक देव सबसे कम, उनसे पद्मलेशी वै० देव असंख्यातगुणा, उनसे तेजोलेशी वै० देव असंख्यातगुणा, उनसे तेजोलेशी भवनवासी देव असंख्यातगुणा, उनसे कापोतलेशी भ० देव असंख्यातगुणा, उनसे नीललेशी भ० देव विशेषाधिक, उनसे कृष्णलेशी भ० देव विशेषाधिक, उनसे तेजोलेशी वानव्यंतर देव असंख्यातगुणा, उनसे कापोतलेशी वानव्यंतर देव असंख्यातगुणा, उनसे नीललेशी वा० देव विशेषाधिक, उनसे कृष्णलेशी वा० देव विशेषाधिक तथा उनसे तेजोलेशी ज्योतिषी देव संख्यातगुणा होते हैं ।

*६१*३४ भवनवासी, वानव्यंतर, ज्योतिषी तथा वैमानिक देवियों में—

एएसि णं भंते ! भवणवासिणीणं वाणमंतरीणं जोइसिणीणं वेमाणिणीणं य कण्हलेसाणं जाव तेउलेसाणं य कयरे कयरेहिंत्तो अप्पा वा ४ ? गोयमा ! सव्वत्थोवाओ देवीओ वेमाणिणीओ तेउलेसाओ, भवणवासिणीओ तेउलेसाओ असंखेज्जगुणाओ, काउलेसाओ असंखेज्जगुणाओ, नीललेसाओ विसेसाहियाओ, कण्हलेसाओ विसेसाहियाओ, तेउलेसाओ वाणमंतरीओ देवीओ असंखेज्जगुणाओ, काउलेसाओ असंखेज्जगुणाओ, नीललेसाओ विसेसाहियाओ, कण्हलेसाओ विसेसाहियाओ, तेउलेसाओ जोइसिणीओ देवीओ संखेज्जगुणाओ ।

—पण्ण प १७ । उ २ । सू । २१ पृ० ४४१

तेजोलेशी वैमानिक देवियाँ सबसे कम, उनसे तेजोलेशी देवियाँ असंख्यातगुणी, उनसे कापोतलेशी भ० देवियाँ असंख्यातगुणी, उनसे नीललेशी भ० देवियाँ विशेषाधिक, उनसे कृष्णलेशी भ० देवियाँ विशेषाधिक, उनसे तेजोलेशी वानव्यंतर देवियाँ असंख्यातगुणी, उनसे कापोतलेशी वा० देवियाँ असंख्यातगुणी, उनसे नीललेशी वा० देवियाँ विशेषाधिक, उनसे कृष्णलेशी वा० देवियाँ विशेषाधिक तथा उनसे तेजोलेशी ज्योतिषी देवियाँ संख्यातगुणी होती हैं ।

*६१*३५ चारों प्रकार के देव और देवियों में—

एएसि णं भंते ! भवणवासीणं जाव वेमाणियाणं देवाणं य देवीणं य कण्हलेसाणं जाव सुकलेसाणं य कयरे कयरेहिंत्तो अप्पा वा ४ ? गोयमा ! सव्वत्थोवा वेमाणिया देवा सुकलेसा, पम्हलेसा असंखेज्जगुणा, तेउलेसा असंखेज्जगुणा, तेउलेसाओ वेमाणियदेवीओ संखेज्ज-

गुणाओ, तेऊलेसा भवणवासी देवा असंखेज्जगुणा, तेऊलेसाओ भवणवासिणीओ देवीओ संखेज्जगुणाओ, काऊलेसा भवणवासी असंखेज्जगुणा, नीललेसा विसेसाहिया, कण्हलेसा विसेसाहिया, काऊलेसाओ भवणवासिणीओ संखेज्जगुणाओ, नीललेसाओ विसेसाहियाओ, कण्हलेसाओ विसेसाहियाओ, तेऊलेसा वाणमंतरा संखेज्जगुणा, तेऊलेसाओ वाणमंतरीओ संखेज्जगुणाओ, काऊलेसा वाणमंतरा असंखेज्जगुणा, नीललेसा विसेसाहिया, कण्हलेसा विसेसाहिया, काऊलेसाओ वाणमंतरीओ संखेज्जगुणाओ, नीललेसाओ विसेसाहियाओ, कण्हलेसाओ विसेसाहियाओ, तेऊलेसा जोइसिया संखेज्जगुणा, तेऊलेसाओ जोइसिणीओ संखेज्जगुणाओ ।

—पण्ण० प १७ । उ २ । सू २२ । पृ० ४४१-४२

शुक्ललेशी वैमानिक देव सबसे कम, उनसे पचलेशी वै० देव असंख्यातगुणा, उनसे तेजोलेशी वै० देव असंख्यातगुणा, उनसे तेजोलेशी वै० देवियाँ संख्यातगुणी, उनसे तेजोलेशी भवनवासी देव असंख्यातगुणा, उनसे तेजोलेशी भ० देवियाँ संख्यातगुणी, उनसे कापोतलेशी भ० देव असंख्यातगुणा, उनसे नीललेशी भ० देव विशेषाधिक, उनसे कृष्णलेशी भ० देव विशेषाधिक, उनसे कापोतलेशी भ० देवियाँ संख्यातगुणी, उनसे नीललेशी भ० देवियाँ विशेषाधिक, उनसे कृष्णलेशी भ० देवियाँ विशेषाधिक, उनसे तेजोलेशी वानवर्यतर देव संख्यातगुणा, उनसे तेजोलेशी वा० देवियाँ संख्यातगुणी, उनसे कापोतलेशी वा० देव असंख्यातगुणा, उनसे नीललेशी वा० देव विशेषाधिक, उनसे कृष्णलेशी वा० देव विशेषाधिक, उनसे कापोतलेशी वा० देवियाँ संख्यातगुणी, उनसे नीललेशी वा० देवियाँ विशेषाधिक उनसे कृष्णलेशी वा० देवियाँ विशेषाधिक, उनसे तेजोलेशी ज्योतिषी देव संख्यातगुणा तथा उनसे तेजोलेशी ज्यो० देवियाँ संख्यातगुणी होती हैं ।

९० लेख्या और विविध विषय—

९१ लेख्याकरण—

(कइविहे णं भंते ! लेस्साकरणे पन्नत्ते ? गोयमा !) लेस्साकरणे इव्विहे × × × एए सव्वे नेरइयादी दंडगा जाव वेमाणियाणं, जस्स जं अत्थि तं तस्स सव्वं भाणियठ्वं ।

—भग० श १६ । उ ६ । सू ४ । पृ० ७८६

२२ करणों में 'लेश्याकरण' भी एक है। लेश्याकरण छः प्रकार का है, यथा—कृष्णलेश्याकरण यावत् शुक्ललेश्याकरण। सभी जीव दण्डकों में लेश्याकरण कहना चाहिए लेकिन जिसमें जितनी लेश्या हो उतने लेश्याकरण कहने चाहिए। टीकाकार ने 'करण' की इस प्रकार व्याख्या की है—

टीका—तत्र क्रियतेऽनेनेति करणं—क्रियायाः साधकतमं कृतिर्वा करणं—क्रियामात्रं, नन्वस्मिन् व्याख्याने करणस्य निवृत्तेश्च न भेदः स्यात्' निवृत्तेरपि क्रियारूपत्वात्, नैवं, करणमारम्भक्रिया निवृत्तिस्तु कार्यस्य निष्पत्तिरिति ।

जिसके द्वारा किया जाय वह करण। क्रिया का साधन अथवा करना वह करण। इस दूसरी व्युत्पत्ति के प्रमाण से करण व निवृत्ति एक हो गई ऐसा नहीं समझना, क्योंकि करण आरम्भिक क्रिया रूप है तथा निवृत्ति कार्य की समाप्ति रूप है।

•९२ लेश्यानिवृत्ति—

कइविहा णं भंते ! लेस्सानिब्वत्ती पन्नत्ता ? गोयमा ! छविहा लेस्सानिब्वत्ती पन्नत्ता, तंजहा—कण्हलेस्सानिब्वत्ती जाव सुक्कलेस्सानिब्वत्ती । एवं जाव वेमाणियाणं, जस्स जइ लेस्साओ (तस्स तत्तिया भाणियव्वा) ।

—भग० श १६ । उ ८ । सू १६ । पृ० ७८८

छः लेश्यानिवृत्ति होती है, यथा—कृष्णलेश्यानिवृत्ति यावत् शुक्ललेश्यानिवृत्ति। इसी प्रकार दण्डक के सभी जीवों के लेश्यानिवृत्ति होती है। जिस दण्डक में जितनी लेश्या होती है उसमें उतनी लेश्यानिवृत्ति कहना चाहिए। टीकाकार ने निवृत्ति की व्याख्या इस प्रकार की है—

टीका—निर्वर्तनं—निवृत्तिर्निष्पत्तिर्जीवस्यैकेन्द्रियादितया निवृत्तिर्जीवनिवृत्तिः ।

निवृत्ति-निर्वर्तन अर्थात् निष्पन्नता। यथा—जीव का एकेन्द्रियादि रूप से निवृत्त होना जीवनिवृत्ति। लेश्यानिवृत्ति का अर्थ इस प्रकार किया जा

सकता है—द्रव्यलेश्या के द्रव्यों के ग्रहण की निष्पन्नता अथवा भावलेश्या के एक लेश्या से दूसरी लेश्या में परिणमन की निष्पन्नता लेश्यानिवृत्ति ।

१३ लेश्या और प्रतिक्रमण—

पडिकमामि छहिं लेस्साहिं—कणहलेस्साए, नीललेस्साए काऊ-
लेस्साए, तेऊलेस्साए, पम्हलेस्साए, सुकलेस्साए × × × तस्स मिच्छामि
दुक्कडं ।

—आव० अ ४ । सू ६ । पृ० ११६८-६९

आदिल्ल तिण्णि एत्थं, अपसत्था उवरिमा पसत्थाउ ।
अपसत्थासु वट्ठियं, न वट्ठियं जं पसत्थासु ॥
एसइयारो एया—सु होइ, तस्स य पडिकमामि त्ति ।
पडिकूलं वट्ठामी, जं भणियं पुणो न सेवेमि ॥

—आव० अ ४ । सू ६ । हारि० टीका में उद्धृत

में छ, लेश्याओं का प्रतिक्रमण करता हूँ—उनसे निवृत्त होता हूँ । मेरे लेश्या जनित दुष्कृत नि फल हों ।

यदि तीन अप्रशस्त लेश्या में वर्तना की हो तथा तीन प्रशस्त लेश्या में वर्तना न की हो तो इस कारण से संयम में यदि किसी प्रकार का अतिचार लगा हो तो उसका मैं प्रतिक्रमण करता हूँ । प्रतिकूल लेश्या में यदि वर्तना की हो तो मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि फिर उसका सेवन नहीं करूँगा ।

१४ लेश्या शाश्वत भाव है—

‘पुंवि भंते ! लोयंते, पच्छा अलोयंते ? पुंवि अलोयंते पच्छा लोयंते ? रोहा ! लोयंते य अलोयंते य जाव—(पुंवि पेटे, पच्छा पेटे—दो बेटे सासया भावा), अणाणुपुव्वी एसा रोहा ! × × × एवं लोयंते एक्केक्केणं संजोएयव्वे इमेहिं ठाणेहिं, तं जहा—

ओवास-वाय-घणउदहि-पुढवि-दीवा य सागरा वासा ।

नेरइयार्ई अत्थिय, समया कम्माइं लेस्साओ ॥१॥

दिह्नी-दंसण-जाणे-सण्ण-सररीरा य जोग-उवओगे ।
दव्वपएसा - पज्जव, अद्धा किं पुत्वि लोयंते ॥२॥

—भग० श १ । उ ६ । सू २१६-२२० । पृ० ४०३

लोक, अलोक, लोकान्त, अलोकान्त आदि शाश्वत भावों की तरह लेश्या भी शाश्वत भाव है । पहले भी है, पीछे भी है ; अनानुपूर्वी है, इतमें कोई क्रम नहीं है ।

रोहक अणगर के प्रश्न करने पर मुर्गी और अण्डे का उदाहरण देकर भगवान ने आगे-पीछे के प्रश्न को समझाया है ।

‘रोहा ! से णं अंडए कओ ?’ ‘भयवं ! कुक्कुडीओ !’ ‘सा णं कुक्कुडी कओ ?’ ‘भंते ! अंडयाओ ।’

—भग० श १ । उ ६ । सू २१८ । पृ० ४०३

अण्डा कहाँ से आया ? मुर्गी से ।

मुर्गी कहाँ से आयी ? अण्डे से ।

दोनों पहले भी हैं, दोनों पीछे भी हैं । दोनों शाश्वत भाव हैं । दोनों अनानुपूर्वी हैं, आगे पीछे का क्रम नहीं है ।

लेश्या भी शाश्वत भाव है ; किसी अन्य शाश्वत भाव की अपेक्षा इसका पहिले पीछे का क्रम नहीं है ।



१५ लेश्या और ध्यान—

१५.१ लेश्या और प्रशस्त ध्यान—

[ध्यान और लेश्या में गहरा अनुबंध है । ध्यान अशुद्ध होता है तो लेश्या अशुद्ध हो जाती है, आभामंडल विकृत बन जाता है । ध्यान शुद्ध होता है तो लेश्या शुद्ध हो जाती है । आभामंडल स्वस्थ और निर्मल बन जाता है ।]

ध्यान और लेश्या के विशुद्धिकरण से आत्मा शुद्ध बनती है । उपाध्याय विनयविजयजी ने शान्तसुधारस में कहा है—

विनय ! विभावय गुणपरितोषं,
निजसुकृताप्रदरेषु परेषु ।
परिहर दूर मत्सरदोषं,
विनय ! विभावय गुणपरितोषम् ॥

अर्थात् हे विनय ! तू गुणों के प्रति आनन्द का अनुभव कर । जिन्हें स्वयं के सुकृत का वर प्राप्त है, उन लोगों के प्रति होने वाले मात्सर्य भाव को मन से दूर कर । प्रमोद भावना के कारण प्रशस्त लेश्या का प्रवर्तन होता है ।

लेश्या विशुद्धि का उपाय—ध्यान

विधायक भाव शुभ है और निषेधात्मक भाव अशुभ है । यह मनो विज्ञान की भाषा है । आगमिक भाषा में अठारह पाप अशुभ भाव है । इनमें हिंसा, असत्य, चार कषायादि सब असत् प्रवृत्तियों का समावेश है ।

[प्रेक्षा ध्यान के द्वारा लेश्या में परिवर्तन करना होगा । लेश्या बदलेगी तो भाव बदलेंगे । भाव बदलेंगे तो जीव-धारा बदल जायेगी । और प्रशस्त लेश्या में अन्तकरण में अवरुद्ध बना हुआ आनन्द का स्रोत प्रवाहित हो चलेगा ।

मनुष्य का व्यवहार भी एक दर्पण है । उस पर उसके भावों का प्रतिबिम्ब पड़ता है । भाव विशुद्ध होते हैं, प्रतिबिम्ब सुन्दर आता है । भावों में मलिनता होती है तो वह दर्पण के तल पर उतर जाती है । इस दृष्टि से जाग्रत व्यक्ति अपनी भावधारा की विशुद्धि का प्रयत्न करता है । भावों की निर्मलता देने वाली चेतना का जागरण होता है लेश्या ध्यान से । प्रशस्त लेश्याओं के ध्यान से आत्मा पवित्रता को प्राप्त होती है ।

लेश्या का अर्थ है—भावधारा । वह प्रशस्त भी होती है, अप्रशस्त भी होती है ।]

लेश्या और ध्यान

१ औषधिक ध्यान—

अथ लेश्या—ध्यानयोः कः प्रतिविशेषः ! उच्यते—लिश्यते—
श्लिष्यते कर्मणा सह यथा जीवः सा लेश्या—कृष्णादिद्रव्यसाचिव्य-
जनितो जीवस्य शुभाशुभरूपः परिणामविशेषः । उक्तञ्च—

कृष्णादिद्रव्य साचिव्यात्, परिणामो य आत्मनः ।
स्फटिकस्यैव तत्रायं, लेश्याशब्दः प्रवर्तते ॥

स च चलो वा स्यादचलो वा । ध्यानं पुननिश्चल एवाशुभः
शुभो वा आत्मनः परिणामः । तथा चाह—

भाणेण होइ लेसा, भाणंतरओ व होइ अन्नयरी ।
अब्बवसाओ उ वंडो, भाणं असुभो सुभो वा वि ॥

—विह० उ १ । भाष्य गा १६४०

टीका—लेश्या द्विविधा—द्रव्यतो भावतश्च । तत्र द्रव्यलेश्यामु-
परिष्ठाद् वक्ष्यति । भावलेश्या त्वनन्तरोक्त एव शुभाशुभरूपो जीव-
परिणामः । सा चैवंविधा शुभाशुभपरिणामरूपा कृष्णदीना-
मन्यतमा “लेस” त्ति भावलेश्या ध्यानेन वा भवति ध्याना-
न्तरतो वा ।

लेश्या और ध्यान में क्या विशेषता है । जिससे जीव कर्म के साथ श्लिष्ट
होता है वह लेश्या है । वह लेश्या कृष्णादि द्रव्यों के सहकार से जीव का
शुभ और अशुभ परिणाम विशेष है । जैसा कि कहा गया है—

“कृष्णादि द्रव्यों के सहकार से जो आत्मा का परिणाम होता है और उस
जीव के वह परिणाम स्फटिक की तरह भ्रलकता रहता है उसे लेश्या कहते हैं ।”

वह लेश्या चल या अचल होती है किन्तु ध्यान शुभ या अशुभ रूप (आत्म
का परिणाम) निश्चल होता है । जैसा कि कहा है—

“ध्यान से या ध्यानान्तर से जो अध्यवसाय होता है उससे लेश्या बनती है ।
शुभ या अशुभ दृढ अध्यवसाय को ध्यान कहते हैं ।”

भाव लेश्या शुभ-अशुभ रूप जीव परिणाम है—यह ऊपर कहा जा चुका
है । वह लेश्या शुभ या अशुभ परिणाम रूप कृष्णादि लेश्याओं में से कोई भी
भाव लेश्या ध्यान या ध्यानान्तर से होती है ।

‘२ × × × । भावलेश्या त्वनन्तरोक्त एवात्मनो मानसिकः
परिणामः । स च मानसध्यानादनन्य इति कृत्वाऽभिधीयते ।

‘ध्यानेन’ आर्त्तादिना करणभूतेन ‘लेश्या’ कृष्णादिका भवति, यदा यादृशं प्रशस्तम प्रशस्तं वा ध्यानं भवति तादृगेव प्रशस्ता अप्रशस्ता वा लेश्याऽपीति भावः । ‘भाणंतरतो व’ च्छि ध्यानान्तरम्—अदृढा-ध्यवसायरूपं चित्तं यद् वा ध्यानस्य ध्यानस्य चान्तरिका ध्यानान्तरमुच्यते, तत्र वा वर्त्तमानस्य षण्णां लेश्यानामन्यतरा लेश्या भवति ।

—बिह० उ १ । भाष्य गा १६४० । टिप्पण

भाव लेश्या आत्मा का—मानसिक परिणाम है । वह आत्मपरिणाम मान-सध्यान से अभिन्न है ऐसा माना जाता है । आर्त्तादि ध्यान के निमित्त से कृष्णादि लेश्यायें होती हैं । जब जैसा प्रशस्त या अप्रशस्त ध्यान होता है तब वैसी ही प्रशस्त या अप्रशस्त लेश्या भी होती है । अदृढ अध्यवसाय रूप चित्त या दो ध्यानों के बीच में होने वाली ध्यानान्तर से भी छुओं लेश्याओं में से कोई भी लेश्या होती है ।

(क) मिध्यात्वाविरति क्रोधरौद्र-ध्यान-परायणाः ।

पतन्ति जंतवः श्वभ्रं कृष्णलेश्यावशं गताः ॥

—ज्ञान० । प्रक ३६ । श्लो १५

ज्ञानार्णव में आचार्य शुभचन्द्र ने कहा है—रौद्रध्यान में तत्पर प्राणी नरक में पड़ते हैं । यह रौद्रध्यान कृष्ण लेश्या के बलकर संयुक्त है और नरकपात के फल से चिह्नित है ।

‘६५’२ रौद्रध्यान—

(ख) अवहट्ट अट्टरुदे महाभये सुग्गदीए पच्चूसे ।

—भगवा० गा १७०४

आशा टीका—अवहट्ट अपहृत्य । महाभये दुर्गति दुःखहेतुदुरित बंधनिदानत्वात् × × × ।

(ग) × × × । तदेतच्चतुर्विधं रौद्रध्यानम् अतिकृष्णनीलका-पोतलेश्याबलाधानं प्रमादाधिष्ठानं नरकगतिफलावसानम् । एव-मुक्ताप्रशस्तध्यानपरिणत आत्मा तप्तायस्मिण्ड इवोदकं कर्मादत्ते ।

—राज० अ ६ । सू ३५

(घ) कृष्णलेश्याबलोपेतं श्वभ्रपातफलाङ्कितम् ।
रौद्रमेतद्वि जीवानां स्यात्पंचगुणभूमिकम् ॥

—ज्ञान० प्रक २६ । श्लो ३६

(ङ) (रौद्रं) उत्सन्नवधादिलिङ्गगम्यं नरकगतिगमनं कारणम
वसेयं ।

—प्रवसा० गा २७१ । टीका

हिसानंद, अनृतानंद, स्तेयानंद और परिग्रहानंद—ये चारों रौद्र ध्यान अति कृष्ण, नील और कापोतलेश्यावालों के होते हैं । वे प्रमादाधिष्ठान और नरक-गति में ले जाने वाले हैं । आत्मा इन अशुभ ध्यान से संक्लिष्ट हो कर तप्त लोहपिंड जैसे जल को खींचता है उसी तरह कर्मों को खींचता है । यह ध्यान महाभय का कारण है और सुगति का प्रतिबंधक है ।

(च) कावोय—नील-कालालेसाओ तिव्वसंक्लिष्टाओ ।
रौद्रभाणोवगयस्स कम्मपरिणामजणियाओ ॥

—ध्याश० गा २५

टीका—पूर्ववद् व्याख्येया, एतावाँस्तु विशेषः तीव्रसंक्लिष्टाः—
अतिसंक्लिष्टा एता इति ।

(छ) कृष्णलेश्याबलोपेतं श्वभ्रपातफलाङ्कितम् ।
रौद्रमेतद्वि जीवानां स्यात्पंचगुणभूमिकम् ॥

—ज्ञान० प्रक २६ । श्लो ३६

× × × । तदेतच्चतुर्विधं रौद्रध्यानम् अतिकृष्णनीलकापोत-
लेश्याबलाधानम् × × × ।

—राज० अ ६ । सू ३५

(ज) ततश्चतुर्विधं रौद्रं ध्यानं समुपजायते ।
पुंसोतिकृष्णलेश्यस्याविरतस्यैव तत्परं ॥
तथा कापोतलेश्यस्य विरताविरतस्य च ।
प्रमादानामधिष्ठानं विरतस्य न जातुचित् ॥

—श्लो० अ ६ । सू ३५

हिसानन्द, अनृतानन्द, स्तेयानन्द और पारिग्रहानन्द—ये चारों रौद्रध्यान अति कृष्ण, नील और कापोतलेश्या बालों के होते हैं। यह रौद्रध्यान कृष्ण-लेश्या के बल कर संयुक्त है। और नरकपात के फल से चिह्नित है और पंचम गुणस्थान पर्यन्त कहा गया है। इस ध्यान में प्रमाद की अधिकता है। इस ध्यान में कृष्ण, नील और कापोत की तीव्रता है।

नोट—पांचवे गुणस्थान के आगे यह ध्यान भी बताया गया है। यद्यपि श्रमणोपासक में आर्त्त-रौद्रध्यान होता है परन्तु शुक्लध्यान नहीं है।

(भ) कृष्णलेश्याद्धताः पापा रौद्रध्यानैकभाविता ।
भवन्ति क्षेत्रदोषेण सर्वे ते नारका खला ॥

—ज्ञान० प्रक ३६ । श्लो ६६

(नारकी) कृष्ण लेश्या के कारण उद्धत है, पाप रूप है और एक रौद्र ध्यान के भावने वाले हैं एवं क्षेत्र के दोष से वे सब ही नारकी वृष्ट होते हैं ।

'६५'३ आर्त्तध्यान—

तदेतच्चतुर्विधमार्तं कृष्णनीलकापोत लेश्या बलाधानम् अज्ञान-
प्रभवं पौरुषेयपरिणामसमुदयं पापप्रयोगाधिष्ठानं परिभोगप्रसंगं
नानासंकल्पा सङ्गं धर्माश्रय परित्यागिकषायाश्रयोपस्थानम् अनुप-
शमप्रवर्द्धनं प्रमादमूलमकुशलकर्मादानं कटुकविपाकासद्बुद्धेर्चं तिर्य-
ग्भवगमनपर्यवसानम् ।

—राज० अ ६ । सू ३३

उन्मार्गदेशना मार्गप्रणारो मूढचित्तता ।
आर्त्तध्यानं सशल्यत्वं मायारम्भपरिग्रहो ॥२५॥
शीलव्रते सातिचारे नीलकापोतलेश्यता ।
अप्रत्याख्यानाः कषायस्तिर्यगायुष आश्रवाः ॥२६॥

—योशा० प्रका ४ । श्लो ७८ टीका में

अनन्तदुःखसंकीर्णमस्य तिर्यगतेः फलम् ।

—ज्ञान० । प्रक २५ । श्लो ४२ । पूर्वार्ध

× × × 'अट्टेण तिरिक्खगई रुद्धभाणेण गम्मती नरयं ।

× × × 'भवकारणमार्तरौद्रे' इति तत्र भवन्त्यस्मिन् कर्मवश-
वर्तिनः प्राणिन इति भवः संसार एव, तथाऽप्यत्र व्याख्यानतो
विशेषप्रतिपत्तिः (त्ते) तिर्यग्नरकभवग्रह इति गाथार्थ × × × ।

—ध्याश० गा ५ । टीका

× × × अभिसंधानमभिसंधिरभिप्रायः । स चार्तरौद्रध्यान-
योस्तीव्रः प्रकृष्टोऽभिसंधिः पंचास्रवमलबहुलश्चासावार्तरौद्रतीव्राभि
संधानश्चेति ।

—प्रशम० श्लो २० । टीका

आर्तध्यान से कर्मरूपी मल को बहुलता से मंचय करता है ।

चारों प्रकार के आर्तध्यान कृष्ण, नील और कापोतलेश्या वालों के होते हैं ।
ये अज्ञान मूलक, तीव्रपुरुषार्थ जन्य, पाप प्रयोगाधिष्ठान, नानासंकल्पों से आकुल,
विषयतृष्णा से परिव्याप्त, धर्माश्रयपरित्यागी, कषायस्थानों से युक्त, अशांति-
वर्धक, प्रमादमूलक, अकुशलकर्म के कारण, कटुक फल वाले असाता के बंधक और
तिर्यग्गति में ले जाने वाले हैं । अर्थात् आर्तध्यान का फल अनंत दुःखों से व्याप्त
तिर्यग्गति हैं ।

आर्तध्यान का फल—सामान्यतः संसारवर्द्धक है, विशेषतः तिर्यग्गति में
गमन करानेवाला है ।

मूढचित्त होना, शल्यभाव होना, माया-आरंभ और परिग्रह का होना—ये
सब आर्तध्यान के फल हैं ।

(क) कावोयनीलकाला, लेसाओ णाइसंकिलिह्वाओ ।

अट्टुष्काणोवगस्स

कम्मपरिणामजणिंयाओ ॥

—ध्याश० गा १४

टीका—कापोत-नील-कृष्णलेश्याः, किम्भूता ? 'नातिसंकिलिह्वा'
रौद्रध्यानलेश्यापेक्षया नातीवा शुभानुभावा भवन्तीति क्रिया,
कस्येत्यत आह—आर्तध्यानोपगतस्य, जन्तोरिति गम्यते, किं
निबंधना एताः ? इत्यत आह—कर्मपरिणामजनिताः, तत्र 'कृष्णादि-

द्रव्य साचिव्यात् परिणामो य आत्मनः । स्फटिकस्येव तत्रायं,
लेश्याशब्दः प्रयुज्यते ॥१॥ एताः कर्मोदयायत्ता इति गाथार्थ ।

(ख) तदेतच्चतुर्विधमार्तं कृष्णनीलकापोतलेश्याबलाधानम्
× × × ।

—राज० अ ६ । सू ३३

(ग) × × × तदेतदार्तं नातिसंक्लिष्टकापोतनीलकृष्णलेश्या-
नुयायि द्रष्टव्यमिति ।

—सिद्ध० अ ६ । सू ३५

(घ) कृष्णनीलाद्यसल्लेश्याबलेन प्रविजृम्भते ।

इदं दुरितदावाग्धिःप्रसूतेरिन्धनोपमं ॥

—ज्ञान० प्रक २५ । श्लो ४०

(ङ) आर्तध्यानं × × × कृष्णनीलकापोतलेश्यता ।

—योश० प्रका ४ । श्लो ७८ । टीका में

आर्तध्यान में उपगत जीवों में नातिसंक्लिष्ट परिणामवाली कापोत, नील, कृष्ण लेश्याएँ होती हैं । यह रौद्रध्यान में उपगत जीवों के लेश्या परिणामों की अपेक्षा कथन है—अर्थात् रौद्रध्यान में उपगत जीव की अपेक्षा आर्तध्यान में उपगत जीव की अपेक्षा आर्तध्यान में उपगत जीव के लेश्या परिणाम कम संक्लिष्ट होते हैं ।

ज्ञानानर्च में आचार्य शुभचन्द्र ने कहा है—यह आर्तध्यान कृष्ण, नील, कापोत—इन अशुभ लेश्याओं के बल से प्रगट होता है तथा पापरूपी दावाग्धि के उत्पन्न करने को इन्धन के समान हैं ।

‘६५’४ ध्यान और लेश्या—

पुण्वभणिदेण विधिणा ङ्कायदिङ्भाणं विसुद्धलेस्साओ ।

पवयणसंभिण्णमदी मोहस्स खयं करेमाणो ॥

—भगवा० गा २०६१

विजयोदया टीका—पुण्वभणिदेण विधिणा पूर्वोक्तेन क्रमणो
ध्याने प्रवर्तते विशुद्धलेश्याः । प्रवचनार्थमनुप्रविष्टमतिः मोहनीयं
क्षयं नेतुमुद्यतः ।

'६५'५ लेख्या और धर्म ध्यान—

'६५'६ लेख्या और शुक्ल ध्यान—

अट्टारूदाणि वज्जिता, धम्मसुक्काणि भायए ।

× × ×, सुक्कलेसं तु परिणामे ॥

—उत्त० अ ३४ । गा ३२, ३२

अर्थात् आर्त्तरीद्रध्यान को छोड़कर धर्मध्यान और शुक्लध्यान को ध्यावित करना—शुक्ललेख्या का लक्षण है ।

एदम्हि धम्मन्भाणे पीय-पउम-सुक्कलेसाओ तिण्णि चेव होंति, मंद मंदतर-मंदतमकसाएसु एदस्य भाणस्स संभवुलंभादो । एत्थ गाहा—होंति कमविसुद्धाओ लेस्साओ पीय-पउम-सुक्काओ । धम्म-उक्काणोवगायस्स तिव्वमंदादिभेयाओ ।

—षट्० ५, ४, २६ । सू १३ । पृ० ७६

अर्थात् धर्मध्यान को प्राप्त हुए जीव के मंदादि भेदों को लिये हुए क्रम से विशुद्धि को प्राप्त हुई पीत, पद्म व शुक्ललेख्या होती है ।

नोट—केवली के योगनिरोध होने पर शुक्लध्यान होता है परन्तु शुक्ललेख्या नहीं होती है अर्थात् अलेशी हो जाता है ।

कृष्ण नील कापोत एतीनू, अधर्म लेख्या कही जिनराय ।

या तीनां में काल करै तो, उपजै दुर्गति मांय ॥५८॥

—भीषी चर्चा ढाल १३

अर्थात् कृष्ण, नील व कापोत—ये तीन अधर्म लेख्याएँ जिनवर के द्वारा कही गई है । इन तीनों में मरने वाला दुर्गति में उत्पन्न होता है ।

एदम्हि धम्मन्भाणे पीय-पउम-सुक्कलेस्साओ तिण्णि चेव होंति, मंद-मंदयर-मंदतमकसाएसु एदस्स भाणस्स संभवुलंभादो । एत्थ गाहा—

होंति कमविसुद्धाओ लेस्साओ पीय-पउम सुक्काओ ।

धम्मउक्काणोवगायस्स तिव्वमंद भेयाओ ॥

—षट्० ५, ४, २६ । पृ १३ । पृ० ७६

धर्मध्यान को प्राप्त हुए जीव के तीव्र-मंदादि भेदों को लिए हुए क्रम से विशुद्धि को प्राप्त हुई पीत, पद्म और शुक्ललेश्या होती है ।

ध्यान और शुभलेश्या के द्वारा मिथ्यात्वी भी भावितात्मा अणगार के पद को प्राप्त कर सकता है । कहा है—

“परे मोक्षहेतू”

—तत्त्वार्थ० अ ६ । सू ३०

भाष्य—धर्मशुक्ले मोक्षहेतू भवतः ।

अर्थात् धर्मध्यान और शुक्लध्यान मोक्ष के कारण है । स्वभाव से विनीत दाक्षिण्य से युक्त और समतावान् वैश्यायन बालतपस्वी धर्मध्यान में तत्पर मध्याह्न समय में आतापना लेता था ।^१ चूंकि धर्मध्यान में प्रशस्त लेश्या नियम से होती है । गुणस्थान के आरोहण के समय लेश्या का प्रशस्त होना जरूरी है ।

चतुर्थ शुक्लध्यान लेश्या रहित जीवों को होता है । वहाँ योग का सर्वथा अभाव है ही ।

समवाओ के टीकाकार अभयदेव सूरि ने कहा है—

कृष्णादिद्रव्यसाच्चिन्व्यात्, परिणामो य आत्मनः ।

स्फटिकस्येव तत्रायं, लेश्याशब्दः प्रयुज्यते ॥

—समवाओ० समवाय ६ । टीका

कृष्ण वा अन्य वर्ण के कर्म आदि पुद्गलों के संयोग से आत्मा का जो परिणाम होता है वहाँ लेश्या शब्द का प्रयोग होता है ।

धर्मध्याने भवेद्भावः क्षायोपशमिकादिकः ।

लेश्या क्रमविशुद्धाःस्युः पीतपद्मसिता पुनः ॥

—योगशा० प्रका १० । श्लो १६

धर्मध्यान में क्षयोपशमादिक भाव होते हैं धर्मध्यान में विशुद्ध लेश्या होती है । पीत-शष्प-शुक्ल लेश्या होती है ।

१. त्रिषष्टि० पर्व १० । सर्ग ४ । श्लोक ११२

धर्मध्यानस्य विज्ञेया स्थितिरान्तमुहूर्त्तिकी ।
 क्षायोपशमिको भावो लेश्या शुक्लैव शाश्वती ॥

—ज्ञाना० प्रक ३४ । गा १४

धर्मध्यान की स्थिति अन्तमुहूर्त्त है । इसका भावक्षायोपशमिक है । और लेश्या सदा शुक्ल ही रहती है । अर्थात् धर्मध्यान वाले के क्षायोपशमिक भाव और शुक्ललेश्या होती है ।

अट्टरुर्दाण वज्जित्ता, धम्मसुक्काणि भायए ।
 पसंतचित्ते दंतप्पा, समिए गुत्ते य गुत्तिसु ॥
 सरागे वीयरारो वा उवसंते जिइंदिए ।
 एयजोगसमाउत्तो, सुक्कलेसं तु परिणामे ॥

—उत्त० अ ३४ । गा ३१, ३२

आर्त्त और रौद्र ध्यान को छोड़कर जो पुरुष धर्म और शुक्ल ध्यानों को ध्याता है तथा प्रशांतचित्त, दमितेन्द्रिय, पाँच समितियों से समित और तीन गुणियों से गुप्त है एवं सरागी अथवा वीतरागी है, उपशांत है, जितेन्द्रिय है ; वह शुक्ललेश्या के लक्षण वाला होता है ।

होति कम्मविसुद्धाओ लेसाओ पीय पम्ह-सुक्काओ ।
 धम्मज्झाणोवगयस्स तिच्च-मंदाइभेयाओ ॥

—ध्याश० गा ६६

एदम्हि धम्मज्झाणे पीय-पउम-सुक्कलेस्साओ तिण्णि च्चव होति,
 मंद-मंदयर-मंदतमकसाएसु एदस्सज्झाणस्स संभवुवलंभादो । एत्थ
 गाहाओ ।

होति कम्मविसुद्धाओ लेस्साओ पीय-पम्हसुक्काओ ।
 धम्मज्झाणोवगयस्स तिच्च मंदादिभेयाओ ॥

—षट्० खण्ड ५, ४ । सू २६ । टीका । पु १३ । पृ० ७६

इस धर्मध्यान में पीत, पद्म और शुक्ल—ये तीन लेश्याएं होती हैं क्योंकि कषायों के मन्द, मन्दतर और मन्दतम होने पर धर्मध्यान की प्राप्ति संभव है । इस विषय में गाथा—

धर्मध्यान को प्राप्त हुए जीव के तीव्र-मन्द आदि भेदों को लिए हुए क्रम से विशुद्धि को प्राप्त हुई, पीत, पद्म और शुक्ललेख्याएँ होती हैं ।

नोट—धर्मध्यान पहले गुणस्थान से बारहवें गुणस्थान तक होता है । परन्तु शुक्लध्यान सातवें गुणस्थान से चौदहवें गुणस्थान तक होता है । लेख्या तेरहवें गुणस्थान तक है । यद्यपि चतुर्दशवें गुणस्थान में शुक्लध्यान है परन्तु शुक्ललेख्या का अभाव है । चूँकि इस गुणस्थानवाला अलेशी है । शैली अवस्था में लेख्या व योग दोनों ही नहीं होते हैं । परन्तु औदारिक, तैजस, कार्मण—तीनों शरीर हैं ।

ध्यातारस्त्रिविधा ज्ञेयास्तेषां ध्यानान्यपि त्रिधा ।

लेख्या विशुद्धियोगेन फल सिद्धिरुदाहृता ॥

—ज्ञाना० प्रक २८ । श्लो २६

अस्तु धर्मध्यान के ध्याता तीन प्रकार के भी कहे हैं और उनके ध्यान भी तीन प्रकार के कहे हैं, क्योंकि लेख्या की विशुद्धता से फल सिद्धि कही है ।

नोट—गुणस्थान की अपेक्षा जघन्य मध्यम-उत्कृष्ट भेद से ध्याता तीन प्रकार के हैं । जहाँ जैसी विशुद्धता हो वैसे ही हीनाधिक ध्यान के भाव होते हैं और वैसे ही ज्ञानाधिक फल होता है ।

द्रव्यलेख्या—निश्चयनय से पंच वर्णों होती है, व्यवहार नय से एक वर्णों भी होती हैं । द्रव्य लेख्या में निश्चयनय से पंच रस, दो गंध, अष्टस्पर्श होते हैं तथा व्यवहारनय से एक रस, एक गंध भी होता है । सर्व बंध होता है, देश बंध नहीं । द्रव्य लेख्या का सम्बन्ध—प्रायोगिक पुद्गलों से है, वैज्ञानिक पुद्गलों से नहीं है । आचार्य हरिभद्र ने योग विन्दु में योग का क्रम उपस्थित किया है वह इस प्रकार है—

अध्यात्मं भावना ध्यानं समता वृत्तिसंक्षयः ।

मोक्षेण योजनाद् योग, सब श्रेष्ठो यथोत्तरम् ॥३१॥

अर्थात् अध्यात्म, भावना, ध्यान, समता और वृत्ति-संक्षय—ये योग के भेद हैं । ये साधक को मोक्ष के साथ योजित करते हैं अतः उन्हें योग कहा जाता है । ये क्रमशः उत्तरोत्तर एक दूसरे से उत्तम हैं । इन पाँचों योग में तेजो आदि तीन प्रशस्त लेख्या होती है । अप्रशस्त लेख्याओं में सम्यग् प्रकार योग की साधना नहीं हो सकती है । यद्यपि कहीं-कहीं कर्मों के आगमन—आस्रव

को भी योग कहा जाता है। सम्यग् प्रकार का योग को कल्प वृक्ष व चिन्तामणि रत्न से उपमित किया गया है। चित्त की असहज चंचलता का प्रतिफल है—मानसिक अशान्ति। यह मानसिक अशान्ति तभी कम हो सकती है जब चित्त चित्त की चंचलता कम हो और इसका अमोघ उपाय है—ध्यान। हिंसा, क्रूरता और आतंकवाद के दबाव से मनुष्य वर्ग उच्चरक्त चाप, दिल के दौरों, अनिद्रा, नाड़ी तंत्रीय अस्त्रव्यस्तता से बुरी तरह से प्रभावित होता जा रहा है। भय और चिन्ता से उत्पन्न अधिक अम्लता एवं पाचन और ह्वसन तंत्र की गड़बड़ी से व्यक्ति बुरी तरह पीड़ित है। प्रशस्त लेश्या के द्वारा प्रेक्षाध्यान का अवलम्बन लेकर उपर्युक्त समस्याओं का समाधान पा सकते हैं। तनाव व ग्रसित हिंसा से झुलसे हुए नागरिकों के लिए प्रेक्षा, शांति का पैगाम बन सकता है।

‘६५’७ व्याख्या-उपसंहार रौद्र ध्यान—

कावोयनीलकाला, लेसाओ तीव्व संकिलिष्टाओ ।

रौद्रङ्काणोवगयस्स, कम्मपरिणामजणियाओ ॥

रौद्र ध्यान में उपगत जीवों में तीव्र संकिलिष्ट परिणाम वाली कापोत, नील, कृष्ण लेश्याएँ होती हैं।

‘६५’८ आर्तध्यान—

कावोयनीलकाला, लेसाओ णाइसंकिलिष्टाओ ।

अट्टङ्काणोवगयस्स, कम्मपरिणामजणियाओ ॥

टीका—कापोतनीलकृष्णलेश्याः । किं भूताः ? नातिसंकिलिष्टा रौद्रध्यान लेश्यापेक्षया नातीवाशुभानुभावाः, भवन्तीति क्रिया । कस्येत्यत आह—आर्तध्यानोपगतस्य, जन्तोरिति गम्यते । किं निबन्धना एताः ? इत्यत आह—कर्मपरिणामजनिताः तत्र ‘कृष्णादिद्रव्यसाचिन्व्यात्, परिणामो य आत्मनः । स्फटिकस्येव तत्रायं लेश्याशब्द प्रयुज्यते ॥ एताश्च कर्मोदयायत्ता इति गाथार्थः ।

—आव० अ ४ । टीका

आर्तध्यान में उपगत जीवों में नातिसंकिलिष्ट परिणाम वाली कापोत, नील, कृष्ण लेश्याएँ होती हैं। यह रौद्रध्यान में उपगत जीवों के लेश्या परिणामों

की अपेक्षा से कथन है अर्थात् रौद्रध्यान में उपगत जीव की अपेक्षा आर्तध्यान में उपगत जीव के लेश्या परिणाम कम संकिलष्ट होते हैं ।

टीकाकार का कथन है कि लेश्या कर्मोदय परिणाम जनित है ।

‘६५’६ धर्मध्यान—

‘६५’१० शुक्लध्यान—

धर्म और शुक्ल ध्यानों में वर्तता हुआ जीव किस-किस लेश्या में परिणमन करता है—इसके सम्बन्ध में पाठ उपलब्ध हुए हैं । ध्यान और लेश्या में अविनाभावी सम्बन्ध है कि नहीं—यह कहा नहीं जा सकता है लेकिन चौदहवें गुणस्थान में जब जीव अयोगी तथा अलेशी हो जाता है तब भी उसके शुक्ल ध्यान का चौथा भेद होता है । यहाँ लेश्या रहित होकर भी जीव के ध्यान का एक उपभेद रहता है । शुक्ल ध्यान में भी तेजो-पद्म-शुक्ल लेश्याएँ हो सकती हैं ।

निष्वाणगमणकाले केवलिणोद्धनिरुद्धजोगस्स ।
सुहुमकिरियाऽनियट्टिं तइयं तणुकायकिरियस्स ॥
तस्सेव य सेलेसीगयस्स सेलोव्व निप्पकंपस्स ।
वोच्छिन्नकिरियमप्पडिवाई भाणं परमसुक्कं ॥

—ठाण० स्था ४ । उ १ । सू २४७ । टीका में उद्धृत

निर्वाण के समय केवली के मन और वचन योगों का सम्पूर्ण निरोध हो जाता है तथा काययोग का अर्थ निरोध होता है । उस समय उसके शुक्ल ध्यान का तीसरा भेद ‘सुहुमकिरिए अनियट्टी’ होता है और सूक्ष्म कायिकी क्रिया—उच्छ्वासादि के रूप में होती है ।

उस निर्वाणगामी जीव के शैलेशीत्व प्राप्त होने पर, सम्पूर्ण योग निरोध होने पर भी शुक्लध्यान का चौथा भेद ‘समुच्छिन्नक्रियाऽप्रतिपाती’ होता है, यद्यपि शैलेशीत्व की स्थिति मात्र पाँच ह्रस्व स्वराक्षर उच्चारण करने समय जितनी होती है ।

ध्यान का लेश्या के परिणमन पर क्या प्रभाव पड़ता है यह भी विचारणीय विषय है । क्या ध्यान के द्वारा लेश्या द्रव्यों का ग्रहण नियंत्रित या बंद किया जा सकता है ? ध्यान का लेश्या-परिणमन के साथ क्या सीधा संयोग है या योग के द्वारा ? इत्यादि अनेक प्रश्न विज्ञानों के विचारने योग्य हैं ।

१६ लेश्या और मरण—

(क) बालमरणे तिविहे पन्नत्ते, तं जहा—ठिअलेस्से, संकिलिट्टलेस्से, पज्जवजायलेस्से । पण्डियमरणे तिविहे पन्नत्ते, तं जहा—ठिअलेस्से, असंकिलिट्टलेस्से, पज्जवजायलेस्से । बालपण्डियमरणे तिविहे पन्नत्ते, तं जहा—ठिअलेस्से, असंकिलिट्टलेस्से, अपज्जवजायलेस्से ।

—ठाण० श्या ३ । उ ४ । सू २२२ । पृ० २२०

टीका—स्थिता-अवस्थिता अविशुध्यन्त्यसंकिलश्यमाना च लेश्या कृष्णादिर्यस्मिन् तत्स्थितलेश्यः, संकिट्टटा-संकिलश्यमाना संक्लेश-मागच्छन्तीत्यर्थः, सा लेश्या यस्मिंस्तत्तथा, तथा पर्यवाः—पारिशेष्याद्विशुद्धिविशेषाः प्रतिसमयं जाता यस्यां सा तथा, विशुद्ध्या वद्धमानेत्यर्थः, सा लेश्या यस्मिंस्तत्तथेति, अत्र प्रथमं कृष्णादिलेश्यः सन् यदा कृष्णादिलेश्येष्वेव नारकादिपूत्पद्यते तदा प्रथमं भवति, यदा तु नीलादिलेश्यः सन् कृष्णादिलेश्येषूप्पद्यते तदा द्वितीयं, यदा पुनः कृष्णलेश्यादिः सन् नीलकापोतलेश्येषूप्पद्यते तदा तृतीयम्, उक्तं चान्त्यद्वयसंवादि भगवत्याम् यदुत—“से णूणं भंते ! कण्हलेसे, नीललेसे जाव सुक्कलेसे भवित्ता काऊलेसेसु नेरइएसु उववज्जइ ? हंता, गोयमा ! से केणट्टेणं भंते ! एवं वुच्चइ ? गोयमा ! लेसाठाणेसु संकिलिस्समाणेसु वा विमुज्झमाणेसु वा काऊलेस्सं परिणमइ परिणमत्ता काऊलेसेसु नेरइएसु उववज्जइ” त्ति, एतदनुसारेणोत्तरसूत्रयोरपि स्थितलेश्यादिविभागो नेय इति । पण्डितमरणं संकिलश्यमानता लेश्याया नास्ति, संयतत्वादेवेत्ययं बालमरणाद्विशेषः, बालपण्डितमरणे तु संकिलश्यमानता विशुद्ध्यमानता च लेश्याया नास्ति, मिश्रत्वादेवेत्ययं विशेष इति । एवं च पण्डितमरणे वस्तुतो द्विविधमेव, संकिलश्यमानलेश्यानिषेधे अवस्थितवद्धमानलेश्यत्वात् तस्य, त्रिविधत्वं तु व्यपदेशमात्रादेव, बालपण्डितमरणं त्वेकविधमेव, संकिलश्यमानपर्यवजातलेश्यानिषेधे अवस्थितलेश्यत्वात् तस्येति, त्रैविध्यं त्वस्येतरड्यावृत्तितो व्यपदेशत्रयप्रवृत्तेरिति ।

—ठाण० श्या ३ । उ ४ । सू २२२ । टीका

मरण के समय यदि लेश्या अवस्थित रहे तो वह स्थितलेश्यमरण, मरण के समय में यदि लेश्या संक्लिश्यमान हो तो वह संक्लिष्टलेश्यमरण तथा मरण के समय में यदि लेश्या के पर्यायो की प्रतिसमय विशुद्धि हो रही हो तो वह पर्यव-जातलेश्यमरण कहलाता है। मरण के समय में यदि लेश्या की अविशुद्धि नहीं हो रही हो तो वह असंक्लिष्टलेश्यमरण तथा यदि मरण के समय में लेश्या की विशुद्धि नहीं हो रही हो तो अपर्यवजातलेश्यमरण कहलाता है।

लेश्या की अपेक्षा से बालमरण के तीन भेद होते हैं—स्थितलेश्य, संक्लिष्ट-लेश्य और पर्यवजातलेश्य बालमरण।

बालमरण के समय यदि जीव कृष्णादि लेश्या में अविशुद्ध रूप में अवस्थित रहे तो उसका वह मरण स्थितलेश्य बालमरण कहलाता है, यथा—कृष्णलेशी जीव मरण के समय कृष्ण लेश्या में अवस्थित रहकर कृष्णलेशी नारकी में उत्पन्न होता है। बालमरण के समय यदि जीव लेश्या में संक्लिश्यमान—कलुषित होता रहता है तो उसका वह मरण संक्लिष्टलेश्य बालमरण कहलाता है, यथा—नीलादिलेशी जीव मरण के समय लेश्यास्थानों में संक्लिश्यमान होते-होते कृष्णलेश्या में उत्पन्न होता है। बालमरण के समय यदि जीव की लेश्या के पर्याय विशुद्धि को प्राप्त हो रहे हों तो उसका वह मरण पर्यवजातलेश्य बालमरण कहलाता है, यथा—कृष्णलेशी जीव मरण के समय लेश्या के पर्यायों में विशुद्धत्व को प्राप्त होता हुआ नील-कापोतादि लेश्या में उत्पन्न होता है।

यद्यपि मूल सूत्र में पंडितमरण के भी स्थितलेश्य, असंक्लिष्टलेश्य तथा पर्यव-जातलेश्य तीन भेद बताये गये हैं ; तथापि टीकाकार का कथन है कि पंडितमरण में लेश्या की संक्लिष्टता—अविशुद्धि सम्भव नहीं है, वहाँ असंक्लिष्टता—विशुद्धि ही होती है तथा पर्यवजातलेश्य पंडितमरण में भी लेश्या के पर्यायों की विशुद्धि ही होती है। अतः वास्तव में लेश्या की अपेक्षा से पंडितमरण के दो ही भेद करने चाहिये। असंक्लिष्टलेश्य भेद को पर्यवजातलेश्य भेद में शामिल कर लेना चाहिए।

यद्यपि मूल पाठ में बालपंडितमरण के भी स्थितलेश्य, असंक्लिष्टलेश्य तथा अपर्यवजातलेश्य तीन भेद किये गये हैं ; तथापि टीकाकार का कथन है कि बाल-पंडितमरण का एक स्थितलेश्य भेद ही करना चाहिये ; क्योंकि बालपंडितमरण के समय में न तो लेश्या की अविशुद्धि ही होती है और न विशुद्धि, कारण उसमें बालत्व और पंडितत्व का सम्मिश्रण है। अतः वहाँ असंक्लिष्टलेश्य तथा अपर्यव-जातलेश्य भेदों का निषेध किया गया है। सुधीजन इस पर गम्भीर चिन्तन करें।

१७ लेश्या परिमाणों को समझाने के लिये दृष्टान्त—

‘६७’१ जम्बू खादक दृष्टान्त—

(क) जह अंबुतरुवरेगो, सुपक्कफलभरियनमियसालग्गो ।
 दिट्ठो छहिं पुरिसेहिं, ते विंती जंबु भक्खेमो ॥
 किह पुण ? ते वेत्तेको, आरुहमाणण जीव संदेहो ।
 तो छिदिऊण मूले, पाडेमुं ताहे भक्खेमो ॥
 विति आह एदहेणं, किं छिणेणं तरूण अम्मं ति ?
 साहामहल्लच्छिदह, तइओ वेत्ती पसाहाओ ॥
 गोच्छे चउत्थओ उण, पंचमओवेति गेण्हह फलाइं ?
 छट्ठो वेत्ती पडिया, एएच्चिय खाह घेत्तुं जे ॥
 दिट्ठं तस्सोवणओ, जो वेत्ति तरू विच्छिन्नमूलाओ ।
 सो वट्टइ किण्हाए, साहमहल्ला उ नीलाए ॥
 हवइ पसाहा काऊ, गोच्छा तेऊ फला य पम्हाए ।
 पडियाए सुक्कलेसा, अहवा अणं उदाहरणं ॥

—आव० अ ४ । सू ६ । हारि० टीका

(ख) पहिया जे छप्पुरिसा परिभट्टारणमञ्जु देसम्हि ।
 फलभरियरुक्खमेगं पेक्खित्ता ते विचित्तंति ॥
 णिम्मूल खंय साहुवसाहं छित्तुं चिणित्तु पडिदाइं ।
 खाउं भलाइं इदि जं मणेण वयणं हवे कम्मं ॥

—गोजी० गा ५०६-७ । पृ० १८२

जम्बू खादक दृष्टान्त

(ग) लेश्या कर्म उच्यते—जम्बूफल भक्षणं निदर्शनं कृत्वा स्कन्ध-
 विटप शाखानुशाखा-पिण्डिका छेदनपूर्वकं फलभक्षणं स्वयं पतितफल
 भक्षणं चौद्दिश्य कृष्णलेश्यादयः प्रवर्तन्ते ।

—तत्त्ववा० ४, २२, १० । पृ० १७१

छ, बंधु किसी उपवन में घूमने गये तथा एक फल से लदे भरे-पूरे अवनत
 शाखा वाले जामुन वृक्ष को देखा । सबके मन में फलाहार करने की इच्छा

जागृत हुई। छत्रों बन्धुओं के मन में लेश्या जनित अपने-अपने परिणामों के कारण भिन्न-भिन्न विचार जागृत हुए और उन्होंने फल खाने के लिये अलग-अलग प्रस्ताव रखे, उनसे उनकी लेश्या का अनुमान किया जा सकता है।

प्रथम बन्धु का प्रस्ताव था कि कौन पेड़ पर चढ़कर तोड़ने की तकलीफ करे तथा चढ़ने में गिरने की आशंका भी है। अतः सम्पूर्ण पेड़ को ही काट कर गिरा दो और आराम से फल खाओ।

द्वितीय बन्धु का प्रस्ताव आया कि समूचे पेड़ को काटकर नष्ट करने से क्या लाभ? बड़ी-बड़ी शाखायें काट डालो। फल सहज ही हाथ लग जायेंगे तथा पेड़ भी बच जायेगा।

तीसरा बन्धु बोला कि बड़ी डालें काटकर क्या लाभ होगा? छोटी शाखाओं में ही फल बहुतायत से लगे हैं उनको तोड़ लिया जाय! आसानी से काम भी बन जायेगा और पेड़ को भी विशेष नुकसान न होगा।

चतुर्थ बन्धु ने सुझाव दिया कि शाखाओं को तोड़ना ठीक नहीं। फल के गुच्छे ही तोड़ लिये जायें। फल तो गुच्छों में ही हैं और हमें फल ही खाने हैं। गुच्छे तोड़ना ही उचित रहेगा।

पंचम बन्धु ने धीमे से कहा कि गुच्छे तोड़ने की भी आवश्यकता नहीं है। गुच्छे में तो कच्चे-पक्के सभी तरह के फल होंगे। हमें तो पक्के मीठे फल खाने हैं। पेड़ को झकझोर दो परिपक्व रसीले फल नीचे गिर पड़ेंगे। हम मजे से खा लेंगे।

छठे बन्धु ने ऋजुता भरी बोली में सबको समझाया क्यों विचारे पेड़ को काटते हो, बाढ़ते हो, तोड़ते हो, झकझोरते हो! देखो! जमीन पर आगे से ही अनेक पके पकाये फल स्वयं निपतित होकर पड़े हैं। उठाओ और खाओ। व्यर्थ में वृक्ष को कोई क्षति क्यों पहुँचाते हो।

पंथाओ परिभट्टा छप्पूरिसा अडवि मञ्जुपारंमि ।

जम्बूतरुस्स होट्टा परोप्परं ते विचित्तेति ॥१॥

निम्मूल खंधसाला गोच्छे पक्के य पडियसडियाहं ।

जह एएसि भावा, तह लेसाओ वि णायन्वा ॥

—जीवा० पृ० ४३

व्याख्या—जम्बूफलखादक छः पुरुषों के दृष्टांत से शास्त्रकारों ने इन लेश्याओं का स्वरूप उदाहरण द्वारा समझाया है वह इस प्रकार है—

छः पुरुष रास्ता भूलकर जंगल में एक जामुन वृक्ष के नीचे बैठकर इस प्रकार विचार करने लगे—एक पुरुष बोला कि इस पेड़ को जड़मूल से उखाड़ देना चाहिए। दूसरा पुरुष बोला कि जड़मूल से तो नहीं स्कंध भाग काट देना चाहिए। तीसरे ने कहा कि बड़ी-बड़ी डालियां काट लेनी चाहिए, चौथा बोला कि जामुन के गुच्छों को ही तोड़ना चाहिए। पाँचवां बोला—सब गुच्छे नहीं केवल पके-पके जामुन तोड़ लेना चाहिए। छठवां बोला—वृक्षादि को काटने की क्या जरूरत है, हमें जामुन खाने से मतलब है तो सहज रूप से नीचे पके हुए जामुन ही खा लेना चाहिए।

जैसे उक्त पुरुषों की छः तरह की विचारधारणाएं हुईं, इसी तरह लेश्याओं में भी अलग-अलग परिणामों की धारा होती है। प्रारम्भ की तीन कृष्ण, नील, कापोत लेश्याएं-अशुभ हैं और पिछली तीन—तेजो, पद्म, शुक्ल-शुभ लेश्याएं होती हैं।

'६७'२ ग्रामघातक दृष्टान्त—

चोरा गामवहत्यं, विणिग्गया एगो वेत्ति घाएह ।
जं पेच्छह सव्वं वा दुपयं च चउत्पयं वावि ॥
विइओ माणुस पुरिसे य, तइओ साउहे चउत्थे य ।
पंचमओ जुज्झंते, छट्ठो पुण तत्थिमं भणइ ॥
एककं ता हरह धणं, बीयं मारेह मा कुणह एयं ।
केवल हरह धणंती, उवसंहारो इमो तेसि ॥
सव्वे मारेह ती, वट्टइ सो किण्हलेसपरिणामो ।
एवं कमेण सेसा, जा चरमो मुक्कलेसाए ॥

—आव० अ ४ । सू ६ । हारि० टीका

छः डाकू किसी ग्राम को लूटने के लिये जा रहे थे। छओं के मन में लेश्या-जनित अपने-अपने परिणामों के अनुसार भिन्न-भिन्न विचार जागृत हुए। उन्होंने ग्राम को लूटने के लिए अलग-अलग विचार रखे—उनसे उनके लेश्या परिणामों का अनुमान किया जा सकता है।

प्रथम डाकू का प्रस्ताव रहा कि जो कोई मनुष्य या पशु अपने सामने आवे—उन सबको मार देना चाहिए ।

द्वितीय डाकू ने कहा—पशुओं को मारने से क्या लाभ ? मनुष्यों को मारना चाहिए जो अपना विरोध कर सकते हैं ।

तृतीय डाकू ने सुझाया—स्त्रियों का हनन मत करो, दुष्ट पुरुषों का ही हनन करना चाहिए ।

चतुर्थ डाकू का प्रस्ताव था कि प्रत्येक पुरुष का हनन नहीं करना चाहिए ? जो पुरुष शस्त्र सज्जित हों उन्हीं को मारना चाहिए ।

पंचम डाकू बोला—शस्त्र सहित पुरुष भी यदि अपने को देखकर भाग जाते हैं तो उन्हें नहीं मारना चाहिए । सशस्त्र पुरुष जो सामना करे उनको ही मारो ।

छठे डाकू ने समझाया कि अपना मतलब धन लूटने से है तो धन लूटें, मारें क्यों ? दूसरे का धन छीनना तथा किसी को जान से मारना—दोनों महादोष हैं । अतः अपने धन को लूट लें लेकिन मारें किसी को नहीं ।

उपरोक्त दोनों दृष्टान्त लेइया परिणामों को समझने के लिये स्थूल दृष्टान्त हैं । ये दोनों दृष्टान्त दिगम्बर-श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदायों में प्रचलित हैं । अतः प्रतीत होता है कि ये दृष्टान्त परम्परा से प्रचलित हैं ।



१८ जैनेतर ग्रन्थों में लेइया के समतुल्य वर्णन—

१८१ महाभारत में—

लेइया से मिलती भावना महाभारत के शान्ति पर्व की “वृत्रगीता” में मिलती है जहाँ जगत् के सब जीवों को वर्ण—रंग के अनुसार छः भेदों में विभक्त किया गया है ।

षड् जीववर्णाः परमं प्रमाणं कृष्णो धूम्रो नीलमथास्य मध्यम् ।

रक्तं पुनः सद्यतरं सुखं तु हारिद्रवर्णं सुसुखं च शुक्लम् ॥

—महा० शा० पर्व । अ २६० । श्लो ३३

जीव छः प्रकार के वर्णवाले होते हैं, यथा—कृष्ण, धूम्र, नील, रक्त, हारिद्र तथा शुक्ल । कृष्ण वर्ण वाले जीव को सबसे कम सुख, धूम्र वर्ण वाले जीव को उससे अधिक सुख होता है तथा नील वर्ण वाले जीव को मध्यम सुख होता है । रक्त वर्ण वाले जीव का सुख-दुःख सहने योग्य होता है । हारिद्रवर्ण (पीले वर्ण) वाले जीव सुखी होते हैं तथा शुक्लवर्ण वाले परम सुखी होते हैं । इस प्रकार जीवों के छः वर्णों का वर्णन परम प्रमाणित माना जाता है ।

× × × तत्र यदा तमस आधिक्यं सच्चरजसोन्यूनत्वसमत्वे तदा कृष्णो वर्णः अन्त्ययोर्वैपरीत्ये धूम्रः । तथा रजस आधिक्ये सच्च-तमसोन्यूनत्वसमत्वे नीलवर्णः । अन्त्यवैपरीत्ये मध्यं मध्यमो वर्णः । तच्च रक्तं लोकानां सहातरं लोकानां प्रवृत्तिकुशलानाम-मूढानां साहसिकानां सच्चस्याधिक्ये रजस्तमसोन्यूनत्वसमत्वे हारिद्रः पीतवर्णस्तच्च सुखकरं । अन्त्ययोर्वैपरीत्ये शुक्लं तच्चात्यंत-सुखकरं × × × ।

--महा० शा० पर्व । अ २८० । श्लो ३३ पर नील० टीका

जब तमोगुण की अधिकता, सत्त्वगुण की न्यूनता और रजोगुण की सम अवस्था हो तब कृष्णवर्ण होता । तमोगुण की अधिकता, रजोगुण की न्यूनता और सत्त्वगुण की सम अवस्था होने पर धूम्र वर्ण होता है । रजोगुण की अधिकता, सत्त्वगुण की न्यूनता और तमोगुण की सम अवस्था होने पर नील वर्ण होता है । इसी में जब सत्त्वगुण की सम अवस्था और तमोगुण की न्यूनता अवस्था हो तो मध्यम वर्ण होता है । उसका रंग लाल होता है । जब सत्त्वगुण की अधिकता, रजोगुण की न्यूनता और तमोगुण की सम अवस्था हो तो हरिद्रा के समान पीतवर्ण होता है । उसी में जब रजोगुण की सम अवस्था और तमोगुण की न्यूनता हो तो शुक्लवर्ण होता है ।

इसके बाद के श्लोक भी तुलनात्मक अध्ययन के लिए पठनीय हैं । जीव किस लेख्या में कितने समय तक रहता है, इसका वर्णन जैन दर्शन में पल्थोपम, सागरोपम आदि कालगणना शब्दों में बताया गया है (देखो '६४) तथा ब्राह्मण ग्रन्थों में जीव कितने 'विसर्ग' तक किस वर्ण में रहता है इसका वर्णन महा-भारतकार व्यासदेव ने किया है । उन्होंने विसर्ग को विस्तार से समझाया है, क्योंकि वैदिक परम्परा के लिए यह एक अज्ञात बात थी जब कि जैन साहित्य में पल्थोपम, सागरोपम आदि काल-गणना की पद्धति सुप्रसिद्ध है ।

संहार-विक्षेप-सहस्रकोटीस्तिष्ठन्ति जीवाः प्रचरन्ति चान्ये ।
 प्रजाविसर्गस्य च पारिमाण्यं वापीसहस्राणि बहूनि दैत्य ॥
 वाप्यः पुनर्योजनविस्तृतास्ताः क्रोशं च गंभीरतयाऽवगाढाः ।
 आयामतः पंचशताश्च सर्वाः प्रत्येकशो योजनतः प्रवृद्धाः ॥
 वाप्याजलं क्षिप्यति बालकोट्यात्वहासकृच्चाप्यथनद्वितीयम् ।
 तासां क्षये विद्धि परं विसर्गं संहारमेकं च तथा प्रजानाम् ॥

—महा० शा० पर्व । अ २८० । श्लो ३०-३२

सनत्कुमार वृत्र को कहते हैं, “हे दैत्य ! प्रजाविसर्ग का परिमाण हजारों बावड़ी (तालाब) जितना होता है । यह बावड़ी एक योजन जितनी चौड़ी, एक कोश जितनी गहरी तथा पाँच सौ योजन जितनी लम्बी है तथा उत्तरोत्तर एक दूसरी से एक-एक योजन बड़ी है । अब यदि एक केशाग्र (बाल के किनारे) से एक बावड़ी के जल को कोई दिनभर में एक ही बार उलीचे, दूसरी बार नहीं तो इस प्रकार उलीचने से उन सारी बावड़ियों का जल जितने समय में समाप्त हो सकता है, उतने ही समय में प्राणियों की सृष्टि और संहार के क्रम की समाप्ति हो सकती है ।”

समय की यह कल्पना जैनों के व्यवहार पद्योपम समय से मिलती-जुलती है ।

जैन दर्शन के अनुसार परम कृष्णलेख्या वाले सप्तम पृथ्वी के नारकी जीव की उत्कृष्ट स्थिति तैंतीस सागरोपम की होती है । महाभारत के अनुसार कृष्णवर्ण वाले जीव अनेक प्रजाविसर्ग काल तक नरकवासी होते हैं ।

कृष्णस्य वर्णस्य गतिर्निकृष्टा स सज्जते नरके पच्यमानः ।
 स्थानं तथा दुर्गतिभिस्तु तस्य प्रजाविसर्गान् सुबहून् वदन्ति ॥

—महा० शा० पर्व । अ २८० । श्लो ३७

कृष्णवर्ण की गति निकृष्ट होती है और वह अनेकों प्रजाविसर्ग (कल्प) काल तक नरक भोगता है ।

‘६८’२ अंगुत्तरनिकाय में—

‘६८’२’१ पूरणकाश्यप द्वारा प्रतिपादित—

भारत की अन्य प्राचीन श्रमण परम्पराओं में भी ‘जाति’ नाम से लेख्या से मिलती-जुलती मान्यताओं का वर्णन है । पूरणकाश्यप के अक्रियावाद

तथा मक्खलि गोशालक के संसार-विद्युद्धिवाद में भी छः जीव भेदों का वर्णन है ।

एकमन्तं निसिन्नो खो आयस्मा आनन्दो भगवन्तं एतद्वोच—
“पूरणेन, भन्ते, कस्सपेन छलभिजातियो पंञ्चत्ता—तण्हाभिजाति
पंञ्चत्ता, नीलाभिजाति पंञ्चत्ता, लोहिताभिजाति पंञ्चत्ता, हलिदा-
भिजाति पंञ्चत्ता, सुक्काभिजाति पंञ्चत्ता, परमसुक्काभिजाति
पंञ्चत्ता ।

“तत्रिदं, भन्ते, पूरणेन कस्सपेन तण्हाभिजाति पंञ्चत्ता, ओरब्भिका
सूकरिका साकुणिका मागविका लुदा मच्छघातका चोरा चोरघातका
बन्धनागारिका ये वा पनंवे पि केचि कुरुरकम्मन्ता ।” “तत्रिदं,
भन्ते, पूरणेन कस्सपेन नीलाभिजाति पंञ्चत्ता, भिक्खू कण्टकवुत्तिका ये
वा पनंवे पि केचि कम्मवादा किरियवादा ।” “तत्रिदं, भन्ते,
पूरणेन कस्सपेन लोहिताभिजाति पंञ्चत्ता, निगण्ठा एकसाटका ।”
“तत्रिदं, भन्ते, पूरणेन कस्सपेन हलिदाभिजाति पंञ्चत्ता, गिही
ओदातवसना अचेलकसावका ।” “तत्रिदं, भन्ते, पूरणेन कस्सपेन
सुक्काभिजाति पंञ्चत्ता, आजीवका आजीवकिनियो ।” “तत्रिदं,
भन्ते’ पूरणेन कस्सपेन परमसुक्काभिजाति पंञ्चत्ता, नन्दो वच्छो किसो
सङ्खिच्चो मक्खलि गोशालो । पूरणेन, भन्ते, कस्सपेन इमा
छलभिजातियो पंञ्चत्ता’ त्ति ।

—अंगुत्तरनिकाय । ६ छकनिपातो महावग्गो । ३ छलभिजातिसुत्तं ।

आनन्द भगवान् बुद्ध को पूछते हैं—“भदन्त ! पूरणकाश्यप ने कृष्ण, नील,
लोहित, हारिद्र, शुक्ल तथा परम शुक्ल वर्ण ऐसी छः अभिजातियों कही है ।
खाटकी (खटिक), पारधी इत्यादि मनुष्य का कृष्ण जाति में समावेश होता
है । भिक्षुक आदि कर्मवादी मनुष्यों का नील जाति में, एक वस्त्र रखनेवाले
निग्रन्थों का लोहित जाति में, सफेद वस्त्र धारण करने वाले अचेलक श्रावकों का
हारिद्र जाति में, आजीवक साधु तथा साध्वियों का शुक्ल जाति में तथा नन्द,
वच्छ, किस, संकिच्च और मक्खली गोशालक का परम शुक्ल जाति में समावेश
होता है ।”

‘६८’२’२ भगवान् बुद्ध द्वारा प्रतिपादित छः अभिजातियाँ—

“अहं खो पनानन्द, छलभिजातियो पंवापेमि । तं सुणाहि, साधुकं मनसि करोहि ; भासिस्सामी” ति । “एवं, भन्ते” ति खो आयस्सा आनन्दो भगवतो पच्चस्सोसि । भगवा एतदवोच—
“कतमा चानन्द, छलभिजातियो ? इधानन्द, एकच्चो कण्हाभिजातियो समानो कण्हं धम्मं अभिजायति । इध पनानन्द, एकच्चो कण्हाभिजातियो समानो सुक्कं धम्मं अभिजायति । इध पनानन्द, एकच्चो कण्हाभिजातियो समानो अकण्हं असुक्कं निब्बानं अभिजायति । इध पनानन्द, एकच्चो सुक्काभिजातियो समानो कण्हं धम्मं अभिजायति । इध पनानन्द, एकच्चो सुक्काभिजातियो समानो नुक्कं धम्मं अभिजायति । इध पनानन्द, एकच्चो सुक्काभिजातियो समानो अकण्हं असुक्कं निब्बानं अभिजायति ।

—अंगुत्तरनिकाय । ६ छकनिपातो महावग्गो । ३ छलाभिजाति सुत्तं ।

भगवान् बुद्ध भी वर्ण की अपेक्षा से छ अभिजातियाँ बतलाते हैं किन्तु कृष्ण और शुक्ल वर्ण के आधार पर । यथा, (१) कृष्ण अभिजाति कृष्ण धर्म करने वाली, (२) कृष्ण अभिजाति शुक्ल धर्म करने वाली, (३) कृष्ण अभिजाति अकृष्ण-अशुक्ल निर्वाण धर्म करने वाली, (४) शुक्ल अभिजाति कृष्ण धर्म करने वाली, (५) शुक्ल अभिजाति शुक्ल धर्म करने वाली तथा (६) शुक्ल अभिजाति अकृष्ण-अशुक्ल निर्वाण धर्म करने वाली ।

‘६८’३ पातंजल योगदर्शन में—

योगी के कर्म तथा दूसरों का चित्त कृष्ण, अशुक्ल-अकृष्ण तथा शुक्ल ऐसा त्रिविध प्रकार का होता है, ऐसा पातंजल योगदर्शन में वणित है ।

कर्माशुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषां ।

—पायो० पाद ४ । सू ७

यह त्रिविध वर्ण षड्विध लेश्या, वर्ण अथवा जाति का संक्षिप्त रूपान्तर मालूम होता है ।



१९९ लेश्या सम्बन्धी फुटकर पाठ—

१६६'१ लेश्या और भाव—

उदै तो आठ कर्म पुद्गल अछै रे,
जीव उदैनिपन रा बोल तेतीस रे ।
गति च्यार छ काय भाव लेश्या छहूँ रे,
× × × ×

—भीणीचर्चा ढाल १६ । गाथा २

आठ कर्मों का उदय पुद्गल है । उदय निष्पन्न भाव जीव है । उसके तैतीस बोल है । चार गति, छः काय, छः भावलेश्याएँ आदि हैं × × × ।

लेश्या और भाव

उदय भाव रा तेतीस बोलां में,
शुभ जोग लेश्या आहार ।
तेहिज खयोपशम-भाव मांहि आवै छै,
तिण सूँ बिहूँ ओलखाया तिण वार रे ।

—भीणीचर्चा ढाल १३ । गा ७२

औदयिक भाव के तैतीस बोलों में शुभयोग, लेश्या और आहारता—ये बतलाये गये हैं । उनका प्रतिपादन क्षयोपशमिक में भाव में भी हुआ है । इस दृष्टि से इन पद्यों में दोनों को समझाया गया है ।

कृष्ण, नील और कापोत—ये तीन अधर्म लेश्याएँ हैं और तेज, पद्म और शुक्ल—ये तीन अधर्म लेश्याएँ हैं ।^१

निष्कर्म यह है कि आत्मा ने भले और बुरे अद्यवसाय होने का मूल कारण मोह का अभाव या भाव है । कृष्णादि पुद्गल द्रव्य भले-बुरे अद्यवसायों के सहकारी कारण बनते हैं । मात्र काले, नीले आदि पुद्गलों से ही आत्मा के परिणाम बुरे-भले नहीं बनते । केवल पौद्गलिक विचारों के अनुरूप ही चैतसिक विचार नहीं बनते । मोह का भाव-अभाव तथा पौद्गलिक विचार—इन दोनों के कारण आत्मा के भले-बुरे परिणाम बनते हैं ।

१. उत्तरङ्ग यणाणि अ ३४ । गा० ५६, ५७

पुद्गल में स्वाभाविक परिणमन के अतिरिक्त जीव कृत प्रायोगिक परिणमन भी होता है। उसे अजीवोदय निष्पन्न भाव कहा जाता है। शरीर और उसके प्रयोग से परिणत पुद्गल वर्ण, गंध, रस और स्पर्श—ये अजीवोदय निष्पन्न भाव हैं। जीव में स्वाभाविक और पुद्गल कृत प्रायोगिक परिणमन होता है।

१२ द्वादशमां गुणठणा तांई, सुकललेश्या जे पाय।

उदै खयोपशम परिणामिक छै, खायक भाव न थाय ॥२०॥

तेरसमें गुणठाणे सुकल-लेश्या छै ते कुण भाव ?

उदै खायक नै परिणामिक छै, निपुण ! विचारो न्याय ॥२१॥

समचै भली भाव लेश्या ए, किसो भाव अवधार ?

उदै खायक खयोपशम परिणामी, उपशम बरजी च्यार ॥२२॥

ए उदै-भाव ते किसा कर्म नो, उदै निपन कहिवाय ?

नाम कर्म नो उदै-निपन छै, पुन्य बंधै तिण न्याय ॥२३॥

—भीणीचरचा, ढाल १

२०—वारहवें गुणस्थान में प्राप्त भाव-शुक्ल-लेश्या का समावेश औदयिक, क्षायोशमिक और पारिणामिक—इन तीन भावों में होता है। क्षायिक भाव में नहीं होता है।

२१—तेरहवें गुणस्थान में प्राप्त शुक्ल लेश्या का समावेश औदयिक, क्षायिक और पारिणामिक—इन तीन भावों में होता है।

२२—सभी प्रशस्त भाव लेश्याओं का औपशमिक भाव को छोड़कर शेष चार भावों में समावेश होता है।

२३—चूंकि शुभ लेश्याओं से पुण्य कर्म का बन्धन होता है, अतः वे लेश्याएं नाम कर्म के उदय से निष्पन्न औदयिक भाव में समाविष्ट होती हैं।

व्याख्या—लेश्या की संरचना में नाम कर्म के उदय और अन्तराय कर्म के क्षय और क्षयोपशक का योग होता है, उसके अशुभ होने में मोह कर्म निमित्त बनता है। जिस समय मोह कर्म का उपशम, क्षय, क्षयोपशम या अनुदय होता है, उस अवस्था में लेश्या शुभ बन जाती है। भाव शुक्ल लेश्या का अवतरण चार भावों में होता है, औपशमिक भाव में नहीं होता। यह प्रतिपादन अन्तराय कर्म की दृष्टि से है।

३ सुभ भाव-लेश्या नै धर्म लेश्या कही, कर्म कटै इण न्याव ।
सुभ भाव लेश्या नै कर्म-लेश्या कही, पुण्य बंधै उदै भाव ॥२७॥

खायक खयोपशम भाव थी, पुण्य नहि बंधै लिगार ।
उदै-भाव सूं कर्म कटै नहि, तिण सूं सुभलेश्या भाव च्यार ॥२८॥

सुभ-भाव-लेश्या नै धर्म लेश्या कही,
तिण सं खायक खयोपशम भाव ।
धर्म लेश्या सूं कर्म कटै छै,
निर्जरा कही इण न्याव ॥२९॥
—भीष्णीचरत्ता, ढाल १

सुभ भाव लेश्याओं से कर्मों की क्षय होता है, अतः उन्हें धर्म लेश्या कहा गया है । उनसे पुण्य का बन्ध होता है और वे औदयिक भाव में समाविष्ट होती है अतः उन्हें कर्म लेश्या कहा गया है ।

क्षायिक और क्षायोपशमिक भाव से पुण्य का अंश मात्र भी बंध नहीं होता और औदयिक भाव से अंश मात्र भी कर्म का क्षय नहीं होता । (सुभ लेश्याओं से पुण्य का बन्ध और कर्म का क्षय दोनों होते हैं ।) अतः वे चार भावों में समाविष्ट होती हैं ।

सुभ भाव लेश्या को धर्म लेश्या कहा गया है, अतः वे क्षायिक और क्षायोपशमिक भावों में समाविष्ट होती है । उनसे कर्मों का क्षय होता है अतः उनका निर्जरा पदार्थ में समावेश किया गया है ।

४ सुभ भाव लेश्या नै कर्म लेश्या कही,
तिण सूं उदै-भाव कहिवाय ।
कर्म लेश्या सूं कर्म बंधै छै,
इण कारण आस्रव मांय ॥३०॥
—भीष्णीचरत्ता, ढाल १

सुभ भाव लेश्याओं को कर्म लेश्या कहा गया है अतः वे औदयिक भाव में समाविष्ट होती है । उनसे सुभ कर्म का बंध होता है इस दृष्टि से उनका आस्रव पदार्थ में समावेश किया गया है ।

बारहवें गुणस्थान में क्षायिक भाव नहीं होता, यह उल्लेख भी अन्तराय कर्म की दृष्टि से है। क्योंकि उसमें मोह कर्म का क्षायिक भाव तो हो जाता है, पर अन्तराय कर्म का नहीं होता है।

सभी प्रशस्त भाव लेश्याओं का औपशमिक भाव को छोड़कर शेष चार भावों में अवतरण किया गया है। इससे यही फलित होता है कि लेश्या की संरचना में केवल दो कर्मों—नाम धौर अंतराय कर्म का सम्बन्ध है, मोह कर्म का उदय और अनुदय लेश्या के शुभ और अशुभ बनने में निमित्त बनता है।

५ ए खायक-भाव ते किसा कर्म नो, खायक-निपन कहिवाय ?
 अन्तराय-कर्म नो खायक-निपन छै, वीर्य-लब्धि प्रवर्तिय ॥२४॥
 ए खयोपसम-भाव ते किसा कर्म नो, खयोपशम निपन ताय ।
 अन्तराय-कर्म नो खयोपशम निपन, वीर्य चंचल सूँ कर्म खपाय ॥२५॥
 सुभभावलेश्या नै धर्मलेश्या कही, तिणसूँ खायकखयोपशमभाव ।
 सुभ भाव लेश्या नै कर्म लेश्या कही, उदै-भाव इण न्याय ॥२६॥
 —भीणीचरचा, ढाल १

लेश्याएं वीर्य-लब्धि से प्रवर्तित होती हैं, इसलिए वे अन्तराय कर्म के क्षय से निष्पन्न क्षायिक भाव में समाविष्ट होती हैं।

वीर्य की चंचलता से कर्मों का क्षय होता है, अतः वे अन्तराय कर्म के क्षयोपशम से निष्पन्न क्षयोपशमिक भाव में समाविष्ट होती हैं।

शुभ भाव लेश्याओं को धर्म लेश्या कहा गया है अतः वे लेश्याएं क्षायिक और क्षयोपशमिक भाव में समाविष्ट होती हैं। उन्हें कर्म लेश्या भी कहा गया है अतः वे औदयिक भाव में समाविष्ट होती हैं।

६ इहां समचे तेजू पदम भाव-लेश्या ते,
 कङ्को खयोपशम भाव अधिकाय ।
 भावे सुकल आहारंता नै संजोगी,
 खायक खयोपशम भाव सवाय रे ॥३४॥
 तेजू पदमसुकल धर्म-लेश्या कही छै,
 उत्तराध्येन चोतीसमै थंभी ।
 × × × ॥३५॥

धर्म-लेश्या अपारंभीपणो, ते खायक खयोपशम भाव ।

तेहथी कर्म कटैतिण सूं निर्जरा पदारथ,

लेश्यादिक नै कखो इण न्याव रे ॥३६॥

तिण सू धर्म-लेश्या सजोगी आहारता नै,

खायक खयोपशम भाव कखा छै ।

बलि निर्जरा पदारथ मांहे आप्या,

समय रीत सूं न्याय कखा छै ॥३७॥

—भीणीचरचा, ढाल १३

यहाँ समुच्चय दृष्टि से तैजस और पद्म भाव लेश्या को क्षयोपशम भाव कहा गया है । भाव शुक्ललेश्या, आहारता और सयोगित्व को क्षायिक और क्षयोपशम भाव कहा गया है ।

उत्तराध्ययन के चौतीसवें अध्यायन (३४ । ५७) में तैजस, पद्म और शुक्ल-लेश्या को धर्मलेश्या कहा गया है ।

उस धर्मलेश्या को अनारम्भी कहा गया है । धर्मलेश्या क्षायिक और क्षायोपशमिक भाव है । उनसे कर्म का क्षय होता है और वे निर्जरा पदार्थ भी है । इस युक्ति से धर्मलेश्या को क्षायिक व क्षयोपशम भाव कहा है ।

फलस्वरूप धर्मलेश्या, सयोगित्व और आहारता से क्षायिक, क्षयोपशम भाव और निर्जरा पदारथ में समवतरित किया है । आचार्य हरिभद्र ने तीन प्रकार के व्यक्ति बताये हैं—मंद, मध्यम और प्राज्ञ । तीनों को अलग-अलग तरीके समझाया जाए । कौन सा काम करने से किस प्रकार का प्रतिक्रिया होगी, यह समझ लेने पर प्राज्ञ व्यक्ति स्वतः सही मार्ग अपना लेता है ।

७ भावे प्रथम तीन लेश्या किसो भाव छै ? उदे परिणामिक दोय ।

छमें जीव नवमें जीव नै आसव, साप्रत सावद्य जोय रे ॥६॥

निरवद्य ऊजल लेखे नहि ते, करणी लेखे पिण निरवद नांथ ।

सासती नहीं ते असासती कहियै, मोह कर्म उदै प्रवर्त्तियरे ॥१०॥

समचैतेजूपदमभाव-लेश्याते, भावउदै खयोपसमपरिणामीक ।

छमें जीव नव में जीव आसव, निर्जरा सहचर सधीक रे ॥११॥

ते समचै दोनूँ भाव-लेश्या सावद नहीं छै,
ऊजल-करणी लेखे निरवद छै ।
सासती नहीं ते असासती कहियै,
नय-वचन वारुँ निरमल छै रे ॥१२॥
—भीषीचरचा, ढाल १३

प्रथम तीन भाव लेश्याएँ (कृष्ण, नील और कापोत) औदयिक और पारिणामिक—इन दो भावों में होती हैं । वे छः द्रव्यों में जीव है तथा नव पदार्थों में उनका समवतार दो पदार्थों—जीव और आश्रव में होता है । वे प्रत्यक्ष सावद्य है ।

वे विशुद्धि और करनी दोनों ही दृष्टियों से निरवद्य नहीं है । वे शाश्वत नहीं है किन्तु अशाश्वत है । वे मोहकर्म उदय से प्रवृत्त होती है ।

समुच्चय दृष्टि से तैजस और पद्म—ये दो भाव लेश्याएँ औदयिक क्षायोप-शमिक तथा पारिणामिक तीनों भाव में होती है । वे छः द्रव्यों में जीव द्रव्य है । नव पदार्थों में उनकी समवतार तीन पदार्थों—जीव, आश्रव और सहचर रूप में निर्जरा में होता है ।

वे दोनों ही भावलेश्याएँ सावद्य नहीं है । वे विशुद्धि और करनी दोनों ही दृष्टियों से निरवद्य है । वे शाश्वत नहीं है किन्तु आशाश्वत है । यह निरवद्य नय वचन है ।

.८ समचै सुकल भाव-लेश्या भाव किसो छै, उपसम वर्जिँ च्यार ।
छमें जीव नव में जीव नै आसव, निर्जरा न्याय विचार रे ॥१३॥
तिण सुकल लेश्या नै सावद्य न कहियै,
निरवद ऊजल करणी लेखे ।
सासती नहीं नै असासती कहियै,
बुद्धिवंत न्याय संपेखे रे ॥१४॥
उदै-भाव तेजू पदम सुकल लेश्या ते,
नव में जीव आसव कहावे ।
उदो-भाव निर्जरा नहि होवै,
पुन्य ग्रहण आसव उदै भावे रे ॥१५॥

तिण सूं समचे तेजू पदूम सुकल लेस्या नै,
 कहि आसव निर्जरा जीव ।
 समचै कहिवै उदै खायक,
 खमोपसम निपन लेस्या कहिव रे ॥१६॥
 भीणीचरवा, ढाल १३ । गा १३ से १६

समुच्चय दृष्टि से शुक्ल भावलेस्या उपशम को छोड़कर शेष चार भावों में है । वह छः द्रव्यों में जीव द्रव्य है । नव पदार्थों में उसका समवतार तीन पदार्थों—जीव, आश्रव और निर्जरा में होता है ।

वह विशुद्धि व करणी दोनों दृष्टियों से निरवय है । वह शाश्वत नहीं है, किन्तु अशाश्वत है ।

औदयिक भाव वाली तैजस, पद्म और शुक्ल भावलेस्याएं नव पदार्थों में दो पदार्थों—जीव और आश्रव में समवतरित होती है । क्योंकि औदयिक भाव-वाली लेश्या का समवतार निर्जरा में नहीं होता । उससे पुण्य का आश्रव होता है अतः वे आश्रव होती है ।

इस प्रकार समुच्चय दृष्टि से तैजस, पद्म और शुक्ललेस्या का समवतार जीव, आश्रव और निर्जरा पदार्थ में किया गया है । और समुच्चय दृष्टि में उन लेश्याओं को उदय, क्षय तथा क्षयोपशम निष्पन्न कहा गया है ।

असुभ-लेश्या कषाय मोह कर्म उदै थी,
 निकेवल उदै-भाव में लहियै रे ।
 —भीणीचरवा, ढाल १३ । गा १८ । उत्तरार्ध

अशुभलेश्या और कषाय मोह कर्म के उदय से होते हैं अतः उन्हें केवल औदयिक भाव में कहा गया है ।

.६ द्रव्य-लेश्या छहुं किसो भाव छै ? परिणामीक पिङ्गाण ।
 भाव-लेश्या छहुं किसो भाव छै ? सांभलियै सुविहाण ॥१५॥
 भाव-लेश्या कृष्णादिक तीनूं, उदै परिणामिक भाव ।
 किसा कर्म रो उदै-निपन छै ?, आगल सुणियै न्याव ॥१६॥

मोहकर्म रो उदै-निपन दै, असुभ-लेश्या त्रिहुं व्याप ।
पाप कर्म बंधै एह थी, सातकर्म सूं नहि बंधै पाप ॥१७॥

तेजु पदम भाव-लेश्या ए, तीन भाव सुविहाण ।
उदै क्षयोपशम परिणामिक ए, सातमां तांइ पिछाण ॥१८॥

भावे शुक्ल लेश्या इय कहियै, च्यार वाव चित्त छाण ।
उदै खायक खयोपसम जाणो, बलि परिणामिक जाण ॥१९॥

—भीषीचरचा, ढाल १ । श्लो १५ से १९

अर्थात् छत्रों द्रव्य लेश्याएं एक पारिणामिक भाव में समाविष्ट होती हैं ।
कृष्णादि—प्रथम तीन लेश्याएं औदयिक और पारिणामिक—इन दो भावों में
समाविष्ट होती हैं ।

तीनों अशुभ भाव लेश्याएं मोहकर्म के उदय से निष्पन्न होती हैं । मोहकर्म
के उदय-निष्पन्न भाव से पापकर्म का बन्ध होता है । शेष सात कर्मों के उदय
निष्पन्न भाव से पापकर्म का बन्ध नहीं होता ।

तंजस और पक्ष—ये दो भाव लेश्याएं ; औदयिक, क्षायोपशमिक और पारि-
णामिक—इन तीन भावों में समाविष्ट होती हैं । इनका अस्तित्व सातवें गुण-
स्थान तक है ।

भाव शुक्ललेश्या औदयिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक और पारिणामिक—इन
चार भावों में समाविष्ट होता है ।

नोट—आधुनिक चर्चा वार्त्ता में भाव लेश्या में औपशमिक भाव का विवेचन
भी किया जाता है । अतः भाव लेश्या में औदयिक आदि पांचों भाव होते हैं ।

१० लेश्या और सावद्य-निरवद्य

तीन माठी लेश्या नै च्यार कषाय नै रे,
तीन वेद मिथ्यात नै अव्रत रे ।
ए बारै बोला नै सावद्य जाणज्यो रे,
मोह उदा सू यांरी प्रव्रत्त रे ।
निरवद्य भाव लेश्या तीनु भली रे,
प्रवर्त नाम उदय थी जाण रे ।

आहारता संजोगी ए दोर्या भणी रे,
सावद्य निरवद्य विहुं पिछाण रे।

—भीणीचरचा, ढाल १६। गा ५, ६

(तीन अशुभ लेश्याएं) मोहनीय कर्म के उदय से प्रवर्तित होती है अतः सावद्य है।

तीन शुभ लेश्याएं नामकर्म के उदय से प्रवृत्त होने के कारण निरवद्य है।

कृष्ण, नील और कापोतलेश्या में दो भाव उदय और पारिणामिक होते हैं। तेजो, पद्मलेश्या में तीन भाव उदय, क्षयोपशम और पारिणामिक होते हैं। छः द्रव्यों में छः लेश्या जीव द्रव्य है और नव तत्त्वों में कृष्णादि तीन अशुभ लेश्या जीव और आस्रव है तथा तेजो आदि शुभलेश्या जीव, आस्रव और निर्जरा है। कृष्णादि तीन अशुभलेश्या सावद्य है तथा तेजो आदि शुभलेश्या निरवद्य है। सभी लेश्या अशाश्वत है। छः लेश्या वाले जीव अभव्य-भव्य दोनों हैं।

अस्तु कृष्ण, नील और कापोत—इन तीन लेश्याओं को अप्रशस्त माना गया है। तेजो, पद्म और शुक्ल—ये तीन लेश्याएं प्रशस्त है। अप्रशस्त लेश्याओं को कोई नहीं चाहता पर केवल चाह के आधार पर लेश्या प्रशस्त या अप्रशस्त नहीं बनती। लेश्या-ध्यान में अमुक-अमुक रंगों पर चित्त को एकाग्र किया जाता है। रंग भी बुलाने से नहीं आते। कल्पना की जा सकती है, पर वह स्थायी नहीं होती। प्रशस्त रंगों या प्रशस्त लेश्या के लिए भाव विशुद्धि आवश्यक है; विशुद्धि भाव तैजस, पद्म और शुक्ललेश्या को आकृष्ट कर लेते हैं। भाव अविशुद्ध है तो आमन्त्रण के बिना कृष्ण, नील और कापोतलेश्या उपस्थित हो जायेगी। ऐसी स्थिति में व्यक्ति स्वयं चिन्तन करे कि उससे क्या बनना है? ओर उसके लिए क्या करना है।

११ द्रव्य लेश्या-अजीव-परिणाम भाव है

अजीव परिणामी रा दश बोलों मे, कह्या वर्ण गंध रस फास।

द्रव्यलेश्या तिण मांही आवै, ए पुद्गल रूपी विभास रे ॥

—भीणीचरचा, ढाल १३

अजीव परिणाम के दश बोलों में वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श बतलाये गये हैं। द्रव्य लेश्या उनके अन्तर्गत है। क्योंकि वह पौद्गलिक होती है।

तिहां नरक मांहि तीन लेश्या कही छै,
 एतो प्रत्यक्ष द्रव्य पिछाणी ।
 जीव परिणामी रा दश बोलां में,
 लेश्या शब्द संघात बखाणो रे ॥६६॥

वहाँ नरक में तीन लेश्याएँ बतलाई गई है । वे प्रत्यक्ष रूप में द्रव्य लेश्याएँ हैं । जीव परिणाम के दश बोलों में लेश्या शब्द समुच्चय दृष्टि से निरूपित है ।

इमहिज देवता में जू-जुइ लेश्या ते पिण द्रव्य विचारो रे ।
 दस जीव-परिणामी रा वर्णन मांहे, कही लेश्या शब्द रे लारो रे ॥७०॥

इसी प्रकार देवों में अलग-अलग लेश्याएँ बतलाई गई है, वे प्रत्यक्ष रूप में द्रव्य लेश्याएँ हैं जीव परिणाम के दस बोलों में एक लेश्या परिणाम है । और वहाँ लेश्या शब्द के आधार पर प्रासंगिक रूप में उनका वर्णन किया गया है ।

ठाणांग के टीकाकार अभयदेव सूरि कहते हैं कि योग वीर्यान्तराय कर्म के क्षय-क्षयोपशम से होता है । लेश्या भी कथंचिद् वीर्यान्तराय कर्म के क्षय-क्षयोपशम से होनी चाहिए ।

भाव-लेश्या न अरूपी कही छै, द्रव्य-लेश्या नै रूपी स्वाम ।
 भगवती बारमेशतकपंचमउदेशे, एपिण जीव-अजीवपरिणामरे ॥६६॥

भगवान् ने भगवती १२ । ५ । सू १७७ में भाव लेश्या को अरूपी और द्रव्य लेश्याओं को रूपी कहा है । इससे स्पष्ट है कि भाव लेश्या जीव परिणाम है और द्रव्य लेश्या अजीव परिणाम है ।

तथा लेश्या अध्येन चौतीसमां मांहे,
 समचै वर्णन सूतर में आख्या ।
 वर्ण गंध-रस फर्श द्रव्य लेश्या में,
 लक्षण भाव लेश्या नां भाख्या रे ॥६७॥

—भीणीचरत्ना ढाल १३

उत्तराध्ययन के चौतीसवें लेश्या अध्ययन में लेश्या का समुच्चय दृष्टि से वर्णन किया गया है । वहाँ वर्ण, गंध, रस और स्पर्श द्रव्य लेश्या में बतलाये गये हैं और भाव लेश्या के लक्षण अलग रूप में बतलाये गये हैं ।

पनवणा पद तेरमाँ माँहि, दस-दस जीव अजीव परिणाम ।

जीवपरिणामीमेंलेसपरिणामी, तिणमेंद्रव्य-लेश्यारोनकाम रे ॥६८॥

—भीणीचरवा, ढाल १३

प्रज्ञापना के तेरहवें पद में जीव और अजीव के दस-दस परिणाम बतलाये गये हैं । जीव परिणाम का एक भेद लेश्या परिणाम है, उससे द्रव्य लेश्या का कोई सम्बन्ध नहीं है । जब मिथ्यात्वी को ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से विभंग ज्ञान उत्पन्न होता है उस समय शुभ परिणाम, विशुद्ध लेश्या के साथ प्रशस्त—शुभ अद्यवसाय भी होते हैं ।^१

चउगइ चउकसाया लिंगतिगं लेसकमनाणं ।

भिच्छत्तमसिद्धत्तं असंजमो तह चउत्थम्मि ॥

—प्रवसा० गा १२६३

चार गति, चार कषाय, तीन लिंग, छः लेश्या, अज्ञान, मिथ्यात्व, असिद्धत्व असंयम—ये चतुर्थ औदयिक भाव के भेद हैं ।

व्याख्या—छः लेश्यायें—‘योगपरिणामो लेश्या’ इस मतानुसार तीन योग-जनक कर्म के उदय से होती है ।

जिसके मतानुसार कषायनिस्यन्द लेश्या है—उसके अनुसार कषाय मोहनीय कर्म के उदय से है । जिसके मत में कर्मनिस्यन्द लेश्या है उसके अभिप्राय से संसारित्व, असिद्धत्व की तरह लेश्या आठ प्रकार के कर्मोदय से है ।

‘६६’२ भिक्षु और लेश्या—

गुत्तो वईए य समाहिपत्तो, लेसं समाहट्टु परिचएज्जा ।

—सूय० श्रु १ । अ १० । गा १५ । पृ० १२५

भिक्षु बन्धन-गुप्ति तथा समाधि को प्राप्त होकर लेश्या (परिणामों) को समाहित करके संयम में विहरे ।

तम्हा एयासि लेसाणं, अणुभावे वियाणिया ।

अप्पसत्थाओ वज्जित्ता, पसत्थाओऽहिट्ठिए मुणि ॥

—उत्त० अ ३४ । गा ६१ । पृ० १०४८

लेश्याओं के अनुभावों को जानकर संयमी मुनि अप्रशस्त लेश्याओं को छोड़कर प्रशस्त लेश्या में अवस्थित हो—विचरे ।

लेसासु छसु काएसु, छक्के आहारकारणे ।
जे भिक्खू जयई निच्चं, से न अच्छइ मंडले ॥

—उत्त० अ ३१ । गा ८ । पृ० १०३८

जो साधु छः लेश्या, छः काय तथा आहार करने के छः कारणों में सदा सावधानी बरतता है वह भव भ्रमण नहीं करता । साधु को छः लेश्याओं में कसी सावधानी बरतनी चाहिए—यह एक विचारणीय विषय है ।

‘६६’३ देवता और उसकी दिव्य लेश्या—

× × × दिव्वेणं वन्नेणं दिव्वेणं गंधेणं दिव्वेणं फासेणं दिव्वेणं
संघयणेणं दिव्वेणं । संठाणेणं दिव्वाए इड्डीए दिव्वाए जुईए दिव्वाए
पभाए दिव्वाए छायाए दिव्वाए अच्छीए दिव्वेणं तेएणं दिव्वाए
लेसाए दस दिसाओ उज्जोवेमाणा पभासेमाणा × × × ।

—पण्ण० प २ । सू २८ । पृ० २६६

दिव्य वर्ण आदि के साथ देवताओं की लेश्या भी दिव्य होती है तथा दसों दिशाओं में उद्दीप्तमान यावत् प्रभासमान होती है । ऐसा पाठ प्रज्ञापना पद २ में अनेक स्थलों पर हैं । टीकाकार ने दिव्य लेश्या का अर्थ देह तथा वर्ण की सुन्दरता रूप ‘लेश्या—देहवर्णसुन्दरतया’—किया है ।

ऐसा पाठ देवताओं के वर्णन में अनेक जगह हैं ।

‘६६’४ नारकी और लेश्या परिणाम—

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए नेरइथा केरिसयं पोग्गल-
परिणामं पच्चणुभवमाणा विहरंति ? गोयमा ! अणिट्ठं जाव
अमणामं, एवं जाव अहेसत्तमाए [एवं णेयव्वं] ।

—जीवा० प्रति ३ । उ ३ । सू ६५ । पृ० १४५-१४६

पोग्गलपरिणामे वेयणा य लेसा य नाम गोए य ।
अरई भए य सोगे खुहापिवासा य वाही य ॥
उरसासे अणुतावे कोहे माणे य माया लोहे य ।
चत्तारि य सण्णाओ नेरइयाणं तु परिणामे ॥

—जीवा० प्रति ३ । उ ३ । सू ६५ । टीका । पृ० १४६

नारकियों का लेश्या परिणाम अनिष्टकर, अकंतकर, अप्रीतिकर, अमनोज्ञ तथा अनभावना होता है। मूल में पुद्गल-परिणाम का पाठ है। टीकाकार ने उपर्युक्त संग्रहणीय गाथा देकर नारकी के अन्यान्य परिणामों को भी इसी प्रकार जानने को कहा है। अर्थात् पुद्गल-परिणाम की तरह लेश्या आदि परिणाम भी अनिष्टकर यावत् अनभावने होते हैं।

*६६*५ निक्षिप्त तेजोलेश्या के पुद्गल अचित्त होते हैं—

कुद्द्रस्स अणगारस्स तेयलेस्सा निसट्ठा समाणी दूरं गता, दूरं निपतइ, देसं गता, देसं निपतइ, जहिं-जहिं च णं सा निपतइ, तहिं-तहिं च णं ते अचित्ता वि पोग्गला ओभासंति, जाव पभासंति ।

—भग० श ७ । उ १० । सू ११ । पृ० ५३०

क्रोधित अणगार—साधु द्वारा निक्षिप्त तेजोलेश्या, दूर या निकट, जहाँ-जहाँ जाकर गिरती है, वहाँ-वहाँ तेजोलेश्या के अचित्त पुद्गल अवभासित यावत् प्रभासित होते हैं।

*२ तेजो लेश्या और देवों का च्यवन

तिहिं ठाणेहिं देवे चइस्सामिति जाणइ, तं जहा—विमाणाभरणाइं णिप्पभाइं पासित्ता, कप्परुक्खगं मिलायमाणं पासित्ता, अप्पणो तेयलेस्सं परिहायमाणि जाणइ ।

इच्चेएहिं तिहिं ठाणेहिं देवे चइस्सामित्ति जाणइ ।

—ठाण० स्था ३ । उ ३ । सू ३६५

तीन हेतुओं से देव यह जान लेता है कि मैं च्यूत होऊंगा—

१—विमान के आभरण को निष्प्रभ देखकर ।

२—कल्पवृक्ष को मुरझाया हुआ देखकर ।

३—अपनी तेजोलेश्या (कान्ति) को क्षीण होती हुई देखकर ।

इन तीन हेतुओं से देव यह जान लेता है कि मैं च्यूत होऊंगा ।

*६६*६ परिहारविशुद्ध चारित्री और लेश्या—

लेश्याद्वारे—तेजःप्रभृतिकासुत्तरासु तिसृषु विशुद्धासु लेश्यासु परिहारविशुद्धिकं कल्पं प्रतिपद्यते, पूर्वप्रतिपन्नः पुनः सर्वासु अपि कथंचिद् भवति, तत्रापीतरास्वविशुद्धलेश्यासु नात्यन्तसंक्लिष्टासु

वर्तते, तथाभूतासु वर्तमानोऽपि) न प्रभूतकालमवतिष्ठते, किंतु स्तोत्रं, यतः स्ववीर्यवशात् भटित्येव ताभ्यो व्यावर्तते, अथ प्रथमत एव कस्मात् प्रवर्तते ? उच्यते, कर्मवशात्, उक्तं च—

“लेसासु विमुद्रासु पडिवज्जइ तीसु न उण सेसासु ।
पुव्वपडिवन्नओ पुण होज्जा सव्वासु वि कहंचि ॥
णऽच्चंतसंकिलिद्धासु थोवं कालं स हंदि इयरासु ।
विच्चा कम्माण गई तहा वि विरियं (विवरीयं) फलं देइ ॥”

—पण्ण० प १ । सू ७६ । टीका

तेजोलेश्या प्रभृति पीछे की तीन विशुद्ध लेश्या में परिहारविशुद्धिक कल्प का स्वीकरण होता है । पूर्वप्रतिपन्न परिहारविशुद्धि को किसी ने पूर्व में प्राप्त किया हो तो उसका सब लेश्याओं में कथंचित् रहना हो सकता है ; पर वह अत्यन्त संकिलष्ट और अविशुद्ध लेश्या में नहीं रहता है । यदि वैसे लेश्या में रहे भी तो अधिक लम्बे समय तक नहीं रहता है; थोड़े काल तक रहता है, क्योंकि जिनकी सामर्थ्य से वह शीघ्र ही उससे निवृत्त हो जाता है । प्रश्न—तो पहले उस अविशुद्ध लेश्या में प्रवर्तन करता ही क्यों है ? कर्म के वशीभूत होकर करता है । कहा भी है—

“तीन विशुद्ध लेश्या में कल्प को स्वीकार करता है । लेकिन तीन अविशुद्ध लेश्या में कल्प को स्वीकार नहीं करता है । यदि कल्प को पूर्व में स्वीकार किया हुआ हो तो सर्व लेश्याओं में कथंचित् प्रवर्तन करता है लेकिन अत्यन्त संकिलष्ट और अविशुद्ध लेश्या में प्रवर्तन नहीं करता है । अविशुद्ध लेश्या में प्रवर्तन करता है तो थोड़े समय के लिए करता है ; क्योंकि कर्म की गति विचित्र होती है । फिर भी वीर्य—सामर्थ्य फल देता है ।”

*६६*७ लेसणाबंध—

टीकाकारों ने ‘लिश्यते—श्लिष्यते इति लेश्या’ इस प्रकार लेश्या की व्याख्या की है । भगवतीसूत्र में ‘अल्लियावणबंध’ के भेदों में ‘लेसणाबंध’ एक भेद बताया गया है । आत्मप्रदेशों के साथ लेश्याद्रव्यों का किस प्रकार का बंध होता है सम्भवतः इसकी भावना ‘लेसणाबंध’ से हो सके ।

से किं तं लेसणाबंधे ? लेसणाबंधे जन्नं कुड्डाणं कोट्टिमाणं खंभाणं
पासायाणं कट्टाणं चम्माणं धडाणं पडाणं कडाणं लुहाचिक्खल्लसि-

लेसलक्खमहुसित्थमाइएहिं लेसणएहिं वंघे समुप्पज्जइ जहन्नेणं अंतो-
मुहुत्तं उक्कोसेणं संखेज्जं कालं, सेत्तं लेसणावंघे ।

—भग० श ८ । उ ६ । सू १३ । पृ० ५६१-६२

टीका—श्लेषणा—श्लथद्रव्येण द्रव्ययोः सम्बन्धनं तद्रूपो यो
बन्धः स तथा ।

शिखर का, कुट्टिम का, स्तम्भ का, प्रासाद का, लकड़ी का, चमड़े का, घड़े
का, वस्त्र का, कडी का, खड़िया का, पंक का श्लेष—वज्रलेप का, लाख का,
मोम आदि द्रव्यों का या इन द्रव्यों द्वारा श्लेषणाबंध होता है । यह बंध जघन्य
में अंतर्मुहूर्त तथा उत्कृष्ट में संख्यात काल तक स्थायी रहता है ।

‘६६’ न नारकी और देवता की द्रव्य-लेख्या—

से नूणं भंते ! कण्हलेसा नीललेसं पप्प णो तारूवत्ताए जाव णो
ताफासत्ताए भुज्जो-भुज्जो परिणमइ ? हंता गोयमा ! कण्हलेसा
नीललेसं पप्प णो तारूवत्ताए, णो तावन्नत्ताए, णो तागंधत्ताए, णो
तारसत्ताए, णो ताफासत्ताए भुज्जो २ परिणमइ । से केणट्ठेणं भंते !
एव बुच्चह ? गोयमा ! आगारभावमायाए वा से सिया, पलिभाग-
भावमायाए वा से सिया । कण्हलेसा णं सा, णो खलु नीललेसा
तत्थ गया ओसक्कइ उस्सक्कइ वा, से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं बुच्चइ—
‘कण्हलेसा नीललेसं पप्प णो तारूवत्ताए जाव भुज्जो २ परिणमइ । से
नूणं भंते ! नीललेसा काउलेसं पप्प णो तारूवत्ताए जाव भुज्जो २
परिणमइ ? हंता गोयमा ! नीललेसा काउलेसं पप्प णो तारूवत्ताए
जाव भुज्जो २ परिणमइ । से केणट्ठेणं भंते ! एवं बुच्चइ—‘नीललेसा
काउलेसं पप्प णो तारूवत्ताए जाव भुज्जो २ परिणमइ ? गोयमा !
आगारभावमायाए वा सिया, पलिभागभावमायाए वा सिया ।
नीललेसा णं सा, णो खलु काउलेसा तत्थगया ओसक्कइ उस्सक्कइ वा,
से एणट्ठेणं गोयमा ! एवं बुच्चइ—‘नीललेसा काउलेसं पप्प णो तारू-
वत्ताए जाव भुज्जो २ परिणमइ । एवं काउलेसा तेउलेसं पप्प, तेउलेसा
पम्हलेसं पप्प, पम्हलेसा मुक्कलेसं पप्प । से नूणं भंते ! मुक्कलेसा
पम्हलेसं पप्प, णो तारूवत्ताए जाव परिणमइ ? हंता गोयमा !

सुकलेसा तं चेव । से केणट्टेणं भंते ! एवं बुद्धइ—सुकलेसा जाव णो परिणमइ ? गोयमा ! आगारभावमायाए वा जाव सुकलेस्साणं सा, णो खलु सा पम्हलेसा, तत्थगया ओसकइ, से तेणट्टेणं गोयमा ! एवं बुद्धइ—‘जाव णो परिणमइ’ ।

—पण्ण० प १७ । उ ५ । सू ५५ । पृ० ४५०-४५१

उपरोक्त सूत्र पर टीकाकार ने इस प्रकार विवेचन किया है—

‘से नूणं भंते !’ इत्यादि, इह तिर्यङ्मनुष्यविषयं सूत्रमनन्तरमुक्तं, इदं तु देवनैरयिक विषयमवसेयं, देवनैरयिका हि पूर्वभवगतचरमान्तमुहूर्त्तादारभ्य यावत् परभवगतमाद्यमन्तमुहूर्त्तं तावदवस्थितलेश्याकाः ततोऽमीषां कृष्णादिलेश्याद्रव्याणां परस्परसम्पर्केऽपि न परिणम्यपरिणामकभावो घटते ततः सम्यग्धिगमाय प्रश्नयति—‘से नूणं भंते !’ इत्यादि, से शब्दोऽथशब्दार्थः, स च प्रश्ने, अथ नूनं—निश्चितं भदंत ! कृष्णलेश्या—कृष्णलेश्याद्रव्याणि नीललेश्या—नीललेश्याद्रव्याणि प्राप्य, प्राप्तिरिह प्रत्या सन्नत्वमात्रं गृह्यते न तु परिणम्यपरिणामकभावेनान्योऽन्यसंश्लेषः, तद्रूपतया—तदेव-नीललेश्याद्रव्यगतं रूपं—स्वभावो यस्य कृष्णलेश्यास्वरूपस्य तत्तद्रूपं तद्भावस्तद्रूपता तथा, एतदेव व्याचष्टे—न तद्गर्णतया न तद्गन्धतया न तद्रसतया न तत्स्पर्शतया भूयो भूयः परिणमते, भगवानाह—हन्तेत्यादि, हन्त गौतम ! कृष्णलेश्येत्यादि, तदेव ननु यदि न परिणमते तर्हि कथं सप्तमनरकपृथिव्यामपि सम्यक्त्वलाभः, स हि तैजोलेश्यादिपरिणामे भवति सप्तमनरकपृथिव्यां च कृष्णलेश्येति, कथं चैतत् वाक्यं घटते ? ‘भावपरावृत्तीए पुण सुरनेरइयाणंपि हल्लेसा’ इति [भावपरावृत्तेः पुनः सुरनैरयिकाणामपि षड् लेश्याः] लेश्यान्तरद्रव्यसम्पर्कतस्तद्रूपतया परिणामासंभवेन भावपरावृत्तैरेवायोगात्, अत एव तद्विषये प्रश्ननिर्वचनसूत्रे आह—‘से केणट्टेणं भंते !’ इत्यादि, तत्र प्रश्नसूत्रं सुगमं निर्वचनसूत्रं—आकारः तच्छायामात्रं आकारस्य भावः—सत्ता आकारभावः स एव मात्रा आकारभावमात्रा तथाऽऽकार-

भावमात्रया मात्रा शब्द आकारभावातिरिक्तपरिणामान्तरप्रति-
प्रतिपत्तिव्युदासार्थः, 'से' इति सा कृष्णलेश्या नीललेश्यारूपतया
स्यात् यदिवा प्रतिभागः—प्रतिबिम्बमादर्शादाविव विशिष्टः प्रति-
बिम्ब्यवस्तुगत आकारः प्रतिभाग एव प्रतिभागमात्रा तथा अत्रापि
मात्राशब्दः प्रतिबिम्बातिरिक्त-परिणामान्तरव्युदासार्थः स्यात्
कृष्णलेश्या नीललेश्यारूपतया, परमार्थतः पुनः कृष्णलेश्यैव नो खलु
नीललेश्या सा, स्वस्वरूपापरित्यागात्, न खल्वदार्शादयो जपाकु-
सुमादिसन्निधानतस्तत्प्रतिबिम्बमात्रामादधाना नादर्शादय इति परि-
भावनीयमेतत्, केवलं सा कृष्णलेश्या तत्र—स्वस्वरूपे गता—अवस्थिता
सती उत्सर्प्यते तदाकार भावमात्रधारणतस्तत्प्रतिबिम्बमात्रधारणतो
वोत्सर्प्यतीत्यर्थः, कृष्णलेश्यातो हि नीललेश्या विशुद्धा ततस्तदाकार-
भावं तत्प्रतिबिम्बमात्रं वा दधाना सती मनाक् विशुद्धा भवतीत्यु-
त्सर्प्यतीति व्यपदिश्यते, उपसंहारवाक्यमाह—'से एणट्टे ण'मित्यादि
सुगमं । एवं नीललेश्यायाः कापोतलेश्यामधिकृत्य कापोतलेश्या-
यास्तेजोलेश्यामधिकृत्य तेजोलेश्यायाः पद्मलेश्यामधिकृत्य पद्म-
लेश्यायाः शुक्ललेश्यामधिकृत्य सूत्राणि भावनीयानि ।

सम्प्रति पद्मलेश्यामधिकृत्य शुक्ललेश्याविषयं सूत्रमाह—'से नृणं
भंते ! सुक्कलेसा पम्हलेसं पप्प' इत्यादि; एतच्च प्राग्बद् भावनीयं;
नवरं शुक्ललेश्यापेक्षया पद्मलेश्या हीनपरिणामा ततः शुक्ललेश्या
पद्मलेश्याया आकारभावं तत्प्रतिबिम्बमात्रं वा भजन्ती मनाग-
विशुद्धा भवति ततोऽवध्वक्ते इति व्यपदिश्यते; एवं तेजः कापोत-
नीलकृष्णलेश्याविषयाण्यपि सूत्राणि भावनीयानि; ततः पद्मलेश्या-
मधिकृत्य तेजः कापोतनीलकृष्णलेश्याविषयाणि तेजोलेश्यामधिकृत्य
कापोतनीलकृष्णविषयाणि कापोतलेश्यामधिकृत्य नीलकृष्णलेश्या-
विषये नीललेश्यामधिकृत्य कृष्णलेश्याविषयमिति; अमूनि च सूत्राणि
साक्षात् पुस्तके षुन दृश्यन्ते केवलमर्थतः प्रतिपत्तव्यानि; तथा मूल-
टीकाकारेण व्याख्यानात्; तदेवं यद्यपि देवनैरयिकाणामवस्थितानि
लेश्याद्रव्याणि तथापि तत्तदुपादीयमानलेश्यान्तरद्रव्यसम्पर्कतः

तान्यपि तदाकारभावमात्रां भजन्ते इति भावपरावृत्तियोगतःषडपि लेश्या घटन्ते; ततः सप्तमनरकपृथिव्यामपि सम्यक्त्वलाभ इति न कश्चिद्दोषः ।

यह सूत्र देव तथा नारकी के सम्बन्ध में जानना चाहिए क्योंकि देव तथा नारकी पूर्वभव के शेष अन्तर्मुहूर्त से आरम्भ करके परभव के प्रथम अन्तर्मुहूर्त तक अवस्थित लेश्यावाले होते हैं । इससे इनके कृष्णालेश्या द्रव्यों का परस्पर में सम्बन्ध होते हुए भी परिणमन—परिणामक भाव नहीं घटता है, इसलिए यथार्थ परिज्ञान के लिए प्रश्न किया गया है । हे भगवन् ! क्या यह निश्चित है कि कृष्णलेश्या के द्रव्य नीललेश्या के द्रव्यों को प्राप्त करके [यहाँ प्राप्ति का अर्थ समीप मात्र है—परिणमन—परिणामक भाव द्वारा परस्पर सम्बन्ध रूप अर्थ नहीं है] 'तद्गुरुपतया'—'नीललेश्या' के रूप में, 'तद्दर्शतया' नीललेश्या के दर्शन में, 'तद्गन्धतया' नीललेश्या की गन्ध में, 'तद्रसतया' नीललेश्या के रस में, 'तद्स्पर्शतया' नीललेश्या के स्पर्श में, बारम्बार परिणमन नहीं करती हैं ।

भगवान् उत्तर देते हैं—हे गौतम ! 'अवश्य कृष्णलेश्या नीललेश्या में परिणमन नहीं करती है ।' अब प्रश्न उठता है कि सातवीं नरक पृथ्वी में तब सम्यक्त्व की प्राप्ति कैसे होती है ? क्योंकि जब तेजोलेश्यादि शुभ लेश्या के परिणाम होते हैं, तब सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है तथा सातवीं नरक पृथ्वी में कृष्णलेश्या ही होती है । तथा 'भाव की परावृत्ति होने से देव तथा नारकियों के भी छः लेश्याएँ होती हैं', यह वाक्य कैसे घटेगा ? क्योंकि अन्य लेश्या द्रव्यों के सम्बन्ध से यदि तद्गुरुप परिणमन असम्भव है तो भाव की परावृत्ति नहीं हो सकती । अतः गौतम फिर से प्रश्न करते हैं—भगवन् ! आप यह किस अर्थ में कहते हैं ? भगवान् उत्तर देते हैं कि उक्त स्थिति में आकारभावमात्र—छायामात्र परिणमन होता है अथवा प्रतिभाग-प्रतिबिम्ब मात्र परिणमन होता है । वहाँ कृष्णलेश्या प्रतिबिम्ब मात्र में नीललेश्या रूप होती है । लेकिन वास्तविक रूप में तो वह कृष्णलेश्या ही है, नीललेश्या नहीं है ; क्योंकि वह स्वरूप का त्याग नहीं करती है । जिस प्रकार दर्पण में जवाकुसुम आदि का प्रतिबिम्ब पड़ता है, वह दर्पण जवाकुसुम रूप नहीं होता, केवल उसमें जवाकुसुम का प्रतिबिम्ब दिखाई देता है । इसी प्रकार लेश्या के सम्बन्ध में जानना चाहिए ।

इसी प्रकार अवशेष पाठ जानने चाहिए ।

यह सूत्र पुस्तकों में साक्षात् नहीं मिलता, लेकिन केवल अर्थ से जाना जाता है ; क्योंकि इस रीति से मूल टीकाकार ने व्याख्या की है । इस प्रकार देव

और नारकियों के लेश्या द्रव्य अवस्थित हैं। फिर भी उनकी लेश्या अन्यान्य लेश्याओं की ग्रहण करने से अथवा दूसरी-दूसरी लेश्या के द्रव्यों से सम्बन्ध होने से उस लेश्या का आकारभावमात्र धारण करती है। अतः प्रतिबिम्ब भावमात्र भाव की परावृत्ति होने से छः लेश्या घटती है; उससे सातवीं नरक पृथ्वी में सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है—इस कथन में कोई दोष नहीं आता है।

‘६६’६ चन्द्र-सूर्य-ग्रह-नक्षत्र-तारा की लेश्याएँ—

बहिया णं भंते ! मणुस्सखेत्तस्स ते चंदिमसूरियगहणक्खत्तताराख्वा
जे णं भंते ! देवा किं उड्डोववण्णगा × × × दिव्वाइं भोगभोगाइं
भुंजमाणा जावसुहलेस्सा सीयलेस्सा मंदलेस्सा मंदायवलेस्सा चित्ततर-
लेसागा कूडा इव ठाणाट्टिता अण्णोण्णसमोगाढाहिं लेसाहिं ते पदेसे
सव्वओ समंता ओभासेति उज्जोवेति तवंति पभासेति ।

—जीवा० प्रति ३। उ २। सू १७६। पृ० २१६-२२०

शुभलेश्याः, एतच्च विशेषणं चन्द्रमसः प्रति, तेन नातिशीततेजसः
किन्तु सुखोत्पादहेतुपरमलेश्याका इत्यर्थः, मन्दलेश्या, एतच्च विशेषणं
सूर्यान् प्रति, तथा च एतदेव व्याचष्टे—‘मन्दातपलेश्याः’ मन्दा
नात्युष्णस्वभावा आतपरूपा लेश्या-रश्मि संघातो येषां ते तथा, पुनः
कथम्भूताश्चन्द्रादित्याः ? इत्याह—‘चित्रान्तरलेश्याः’ चित्रमन्तरं
लेश्या च येषां ते तथा, भावार्थश्चास्य पदस्य प्रागेवोपदर्शितः,
[‘चित्रान्तरलेश्याकाः’ चित्रमन्तरं लेश्या च प्रकाशरूपा येषां ते तथा,
तत्र चित्रमन्तरं चन्द्राणां सूर्यान्तरितत्वान् सूर्याणां चन्द्रान्तरितत्वात्,
चित्रा लेश्या चन्द्रमसां शीतरश्मित्वान् सूर्याणामुष्णरश्मित्वात्’—सू
१७७ टीका] त इथम्भूताश्चन्द्रादित्याः परस्परमवगाढाभिर्लेश्याभिः,
तथाहि—चन्द्रमसां सूर्याणां च प्रत्येकं लेश्या योजनशतसहस्रप्रमाण-
विस्तारा, चंद्रसूर्याणां च सूचीपङ्क्त्या व्यवस्थितानां परस्परमन्तरं
पंचाशद् योजनसहस्राणि, ततश्चन्द्रप्रभासम्मिश्राः सूर्यप्रभाः सूर्यप्रभा-
सम्मिश्राश्च चन्द्रप्रभाः इतीत्थं परस्परमवगाढाभिर्लेश्याभिः ।
‘कूटानीव’—पर्वतोपरिव्यवस्थितशिखराणीव ‘स्थानस्थिताः सदैवै-

कत्र स्थाने स्थितास्ताम् तान् प्रदेशान् स्वस्वप्रत्यासन्नान् उद्धोतयन्ति
अवभासयन्ति प्रकाशयन्ति ।

—जीवा० प्रति ३ । उ २ । सू १७७-१७९ । टीका

मनुष्य क्षेत्र के बाहर जो चन्द्र-सूर्य-ग्रह-नक्षत्र-तारा हैं वे ज्योतिषी देव ऊर्ध्वोत्पन्न हैं यावत् दिव्य भोगोपभोगों को भोगते हुए विचरते हैं यावत् शुभलेख्या, शीतलेख्या, मन्दलेख्या, मन्दातपलेख्या तथा चित्रान्तरलेख्या वाले हैं । वे शीर्ष स्थान में स्थित रहते हैं तथा उनकी लेख्याएँ परस्पर में अवगाहित होकर मनुष्य क्षेत्र के बाहर के प्रदेश को सर्वतः चारों तरफ से अवभासित, उद्धोतित, आतप्त तथा प्रभासित करती है ।

लेख्या विशेषणों सहित ज्योतिषी देवों के सम्बन्ध में ऐसे पाठ अनेक स्थलों पर मिलते हैं । हमने उनकी लेख्याओं की भिन्नता तथा विशेषताओं को दिखाने के लिए उनमें से एक पाठ ग्रहण किया है ।

टीकाकार के अनुसार चन्द्रमा की लेख्या को शुभलेख्या कहा गया है । टीकाकार ने अन्यत्र 'सुहलेस्सा' का सुखलेख्या अर्थात् सुखदायक लेख्या अर्थ भी किया है । यह शुभलेख्या न अधिक शीतल होती है, न अधिक तप्त । सुख उत्पन्न करने वाली वह परमलेख्या होती है ।

'सीयलेस्सा' का टीकाकार ने कोई अर्थ नहीं किया है ।

सूर्य की लेख्या को मन्द विशेषण दिया जाता है । अतः सूर्य की लेख्या को मन्दलेख्या कहा गया है ।

जो लेख्या मन्द तो है, अति उष्ण स्वभाववाली आतपरूपा नहीं है उसे मन्दातप लेख्या कहा गया है । इस लेख्या में रश्मियों का संघात होता है ।

चित्रान्तर लेख्या प्रकाशरूपा होती है । चन्द्रमा की लेख्या सूर्यान्तर तथा सूर्य की लेख्या चन्द्रमान्तर होकर जो लेख्या बनती वह चित्रान्तर लेख्या कहलाती है । चित्रालेख्या चन्द्रमा की शीत रश्मि तथा सूर्य की उष्ण रश्मि के मिश्रण से बनती है । चन्द्र तथा सूर्य की लेख्याएँ प्रत्येक लाख योजन विस्तृत होती हैं तथा ऋजु (सीधी) श्रेणी में व्यवस्थित एक दूसरे में पचास हजार योजन परस्पर में अवगाहित होती हैं । वहाँ चन्द्र की प्रभा सूर्य की प्रभा से मिश्रित होती है तथा सूर्य की प्रभा चन्द्र की प्रभा से मिश्रित होती है । इसीलिए उनकी लेख्या परस्पर में अवगाहित होती है ऐसा कहा गया है । और इस प्रकार शीर्ष स्थान

में सदैव स्थित चन्द्र-सूर्य-ग्रह-नक्षत्र-तारा की लेश्याएँ परस्पर में अवगाहित होकर उस मनुष्य क्षेत्र के बाहर अपने-अपने निकटवर्ती प्रदेश को उद्घोषित, अवभासित, आतप्त तथा प्रकाशित करती है ।

*६६*१० गर्भ में मरनेवाले जीव की गति में लेश्या का योग—

*६६*१०*१ नरकगति में—

जीवे णं भंते ! गढ्भगए समाणे नेरइएसु उववज्जेज्जा ? गोयमा ! अत्थेगइए उववज्जेज्जा, अत्थेगइए नो उववज्जेज्जा । से केणट्ठेणं ? गोयमा ! से णं सन्नपिचिदिए सव्वाहिं पज्जन्तीहिं पज्जत्तए वीरिय-लद्धीए × × × संगामं संगामेइ । से णं जीवे अत्थकामए, रज्जकामए × × × कामपिवासिए ; तच्चित्ते, तम्मणे, तल्लेसे तदम्भवसिए × × × एयंसि णं अंतरंसि कालं करेज्ज नेरइएसु उववज्जइ ।

—भग० श १ । उ ७ । सू २५४-५५ । पृ० ४०६-७

सर्व पर्याप्तियों में पूर्णता को प्राप्त गर्भस्थ संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव वीर्यलब्धि आदि द्वारा चतुरंगिणी सेना की विकुर्वणा करके शत्रु की सेना के साथ संग्राम करता हुआ, धन का कामी, राज्य का कामी यावत् काम का पिपासु जीव उस तरह के चित्तवाला, मनवाला, लेश्यावाला, अध्यवसाय वाला होकर वह गर्भस्थ जीव यदि उस काल में मरण को प्राप्त हो तो नरक में उत्पन्न होता है ।

गर्भस्थ जीव गर्भ में मरकर यदि नरक में उत्पन्न हो तो मरणकाल में उस जीव के लेश्या परिणाम भी तदुपयुक्त होते हैं ।

*६६*१०*२ देवगति में—

जीवे णं भंते ! गढ्भगए समाणे देवलोगेसु उववज्जेज्जा ? गोयमा ! अत्थेगइए उववज्जेज्जा, अत्थेगइए नो उववज्जेज्जा । से केणट्ठेणं ? गोयमा ! से णं सन्नपिचिदिए सव्वाहिं पज्जन्तीहिं पज्जत्तए तहारूवस्स समणस्स वा, माहणस्स वा अंतिए × × × तिव्वधम्मणुरागरत्ते, से णं जीवे धम्मकामए × × × मोक्खकामए × × × पुण्णसग्गमोक्ख-पिवासिए तच्चित्ते तम्मणे तल्लेसे तदम्भवसिए × × × एयंसि णं अंतरंसि कालं करेज्ज देवलोगेसु उववज्जइ ।

—भग० श १ । उ ७ । सू २५६-५७ । पृ० ४०७

सर्व पर्याप्तियों में पूर्णता को प्राप्त गर्भस्थ संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव तथारूप भ्रमण-माहण के पास आर्यधर्म के एक भी वचन को सुनकर आदि, धर्म का कामी होकर यावत् मोक्ष का पिपासु होकर, उस तरह के चित्तवाला, मनवाला, लेश्यावाला, अश्वयसायवाला होकर गर्भस्थ जीव यदि उस काल में मरण को प्राप्त हो तो वह देवलोक में उत्पन्न होता है ।

गर्भस्थ जीव गर्भ में मरकर यदि देवलोक में उत्पन्न हो तो मरणकाल में उस जीव के लेश्या परिणाम भी तदुपयुक्त होते हैं ।

‘६६’११ लेश्या में विचरण करता हुआ जीव और जीवात्मा—

अन्नउत्थियाणं भंते ! एवमाइक्खंति जाव परूवेति—एवं खलु पाणाइवाए, मुसावाए, जाव मिच्छादंसणसल्ले वट्टमाणस्स अन्ने जीवे अन्ने जीवाया, पाणाइवाय वेरमणे जाव परिग्गहवेरमणे, कोहविवेगे जाव मिच्छादंसणसल्लविवेगे वट्टमाणस्स अन्ने जीवे अन्ने जीवाया ; उत्पत्तियाए जाव परिणामियाए वट्टमाणस्स अन्ने जीवे अन्ने जीवाया ; उग्गहे ईहा अवाए धारणाए वट्टमाणस्स जाव जीवाया ; उट्ठाणे जाव परक्कमे वट्टमाणस्स जाव जीवाया ; नेरइयत्ते, तिरिक्खमणुस्सदेवत्ते वट्टमाणस्स जाव जीवाया ; नाणावरणिज्जे जाव अंतराइए वट्टमाणस्स जाव जीवाया, एवं कण्हलेस्साए जाव सुक्कलेस्साए ; सम्मदिट्ठीए ३, एवं चक्खुदंसणे ४, आभिणिबोहियनाणे ५, मइअन्नाणे ३, आहारंसन्नाए ४ एवं ओरालियसरीरे ५ एवं मणजोए ३ सागारोवओगे अणागारोवओगे वट्टमाणस्स अण्णे जीवे अण्णे जीवाया ; से कहमेयं भंते ! एवं ? गोयमा ! जं णं ते अन्नउत्थिया एवमाइक्खंति, जाव मिच्छं ते एवमाहंसु, अहं पुण गोयमा ! एवमाइक्खामि जाव परूवेमि—एवं खलु पाणाइवाए जाव मिच्छादंसणसल्ले वट्टमाणस्स सच्चेव जीवे सच्चेव जीवाया जाव अणागारोवओगे वट्टमाणस्स सच्चेव जीवे सच्चेव जीवाया ।

—भम० श १७ । उ २ । सू ६ । पृ० ७५६

प्राणातिपातादि १८ पापों में, प्राणातिपातविरमणादि १८ पाप-विरमणों में, भौत्पातिकी आदि ४ बुद्धियों में, अवग्रह-ईहा-अवाय-धारणा में, उत्थान यावत् पुरुषाकार पराक्रम में, नैरथिकादि ४ गतियों में, ज्ञानावरणीय आदि आठ कर्मों

में, कृष्णादि लेश्याओं में, सम्यग्दृष्टि आदि तीन दृष्टियों में, चक्षुदर्शनादि चार दर्शनों में, आभिनवोधिकज्ञानादि ५ ज्ञानों में, अतिअज्ञान आदि ३ अज्ञानों में, आहारादि ४ संज्ञाओं में, औदारिकादि ५ शरीरों में, मनोयोग आदि ३ योगों में, साकारोपयोग, अनाकारोपयोग में वर्तता हुआ जीव तथा जीवात्मा एक ही है—भिन्न-भिन्न नहीं है।

इसके विपरीत अन्यतीर्थियों की जो प्ररूपणा है उसका भगवान् ने यहाँ निराकरण किया है।

प्राणातिपात आदि भाव-विभावों, छ्दों लेश्याओं यावत् अनाकार उपयोग में विचरण करता हुआ जीव अन्य है, जीवात्मा अन्य है—अन्य तीर्थियों का यह कथन गलत है। भगवान् महावीर कहते हैं कि वास्तविक सत्य यह है कि प्राणातिपात यावत् छ्दों लेश्याओं यावत् अनाकार उपयोग आदि भाव-विभावों में विचरण करता हुआ जीव वही है, जीवात्मा वही है। दोनों अभिन्न हैं।

सांख्यादि मतों के अनुसार भाव-विभावों में विचरण करता हुआ जीव (प्रकृति) अन्य है तथा जीवात्मा (पुरुष) अन्य है—इसका निराकरण करते हुए भगवान् कहते हैं कि दोनों अन्य-अन्य नहीं हैं।

‘६६’१२ (सलेयी) रूपी जीव का अरूपत्व में तथा (अलेयी) अरूपी जीव का रूपत्व में विकुर्वणः—

देवे णं भंते ! महिड्डिए, जाव महेसक्खे पुव्वामेव रूवी भवित्ता पभू अरूविं विउव्वित्ता णं चिद्वित्तए ? नो इण्ठे समट्ठे, से केणट्ठेणं भंते ! एवं बुच्चइ—देवेणं जाव नो पभू अरूविं विउव्वित्ता णं चिद्वित्तए ? गोयमा ! अहमेयं जाणामि, अहमेयं पासामि, अहमेयं बुड्ढामि, अहमेयं अभिसमन्नागच्छामि, मए एयं नायं, मए एयं दिट्ठं, मए एयं बुद्धं, मए एयं अभिसमन्नागयं—जणं तहागयस्स जीवस्स सरूविस्स, सकम्मस्स, सरागस्स, सवेयस्स, समोहस्स, सलेसस्स, ससरीरस्स, ताओ सरीराओ अविप्पमुक्खस्स एवं पन्नायइ, तं जहा—कालत्ते वा, जाव—सुक्किलत्ते वा, सुन्निगंधत्ते वा, दुब्धिगंधत्ते वा, तित्ते वा, जाव—महुरत्ते वा, कक्खइत्ते वा, जाव लुक्खत्ते वा से तेणट्ठेणं गोयमा ! जाव चिद्वित्तए ।

—भग० ज १७ । उ २ । सू १० । पृ० ७५६-५७

महद्विक यावत् महाक्षमतावाले देव भी रूपत्व अवस्था से अरूपी रूप (अमूर्तरूप) का निर्माण करने में समर्थ नहीं हैं ; क्योंकि रूपवाला, कर्मवाला, रागवाला, वेदवाला, मोहवाला, लेश्यावाला, शरीरवाला तथा शरीर से जो मुक्त नहीं हुआ हो ऐसे शरीरयुक्त देव जीव में कृष्णत्व यावत् शुक्लत्व, सुगन्धत्व, दुर्गन्धत्व, तिक्तत्व यावत् मधुरत्व, कर्कशत्व यावत् रुक्षत्व होता है । इसी हेतु से देव अरूपी (अमूर्तरूप) विकुर्वण करने में असमर्थ हैं ।

सच्चेव णं भंते ! से जीवे पुण्वामेव अरूवी भवित्ता पभू रूवि विउव्वित्ताणं चिद्वित्तए ? नो इणद्धे समद्धे (से केणद्धेणं) जाव चिद्वित्तए ? गोयमा ! अहं एयं जाणाभि जाव जण्णं तहागयस्स, जीवस्स अरूविस्स, अकम्मस्स, अरागस्स, अवेयस्स, अमोहस्स, अलेसस्स, असरीरस्स, ताओ सरीराओ विप्पमुक्कस्स नो एवं पन्नायइ, तं जहा—कालत्ते वा जाव—लुक्खत्ते वा, से तेणद्धेणं जाव—चिद्वित्तए वा ।

—भग० श १७ । उ २ । सू ११ । पृ० ७५७

महद्विक यावत् महाक्षमतावाले देव भी यदि अरूपत्व को प्राप्त हो गये हों तो वे मूर्तरूप का निर्माण करने में समर्थ नहीं हैं ; क्योंकि अरूपवाला, अकर्मवाला, अवेदवाला, मोहरहित, अलेश्यावाला, शरीरवाला तथा शरीर से जो मुक्त हुआ हो—ऐसे अशरीरी जीव (देव) में कृष्णत्व यावत् शुक्लत्व, सुगन्धत्व, दुर्गन्धत्व, तिक्तत्व यावत् मधुरत्व, कर्कशत्व यावत् रुक्षत्व नहीं होता है । इस हेतु से अरूपत्व को प्राप्त जीव मूर्तरूप विकुर्वण करने में असमर्थ होता है ।

*६६*१३ वैमानिक देवों के विमानों का वर्ण, शरीरों का वर्ण तथा लेश्या—

सोहम्मसीसाणेसु णं भंते ! विमाणा कइवण्णा पन्नत्ता ? गोयमा ! पंचवण्णा पन्नत्ता, तं जहा—कण्हा नीला लोहिया हालिहा सुक्किला, सणकुमारमाहिंदेसु चउवण्णा नीला जाव सुक्किला, बंभलोगलंतएसु चित्तवण्णा लोहिया जाव सुक्किला, महासुक्कसहस्सारेसु दुवण्णा—हालिहा य सुक्किला य ; आणयपाणयारणच्चुएसु सुक्किला, गेवळ्ळिविमाणा सुक्किला अणुत्तरोववाइयविमाणा परमसुक्किला वण्णेणं पन्नत्ता ।

—जीवा० । प्रति ३ । उ १ । सू २१३ । पृ० २३७

टीका—सौधर्मेशानयोर्भवन्त ! कल्पयोर्विमानानि कति वर्णानि प्रज्ञप्तानि ? भगवानाह गौतम ! पंच वर्णानि, तद्यथा—कृष्णानि नीलानि लोहितानि हारिद्राणि शुक्लानि, एवं शेषसूत्राण्यपि भावनीयानि, नवरं सनत्कुमारमाहेन्द्रयोश्चतुर्वर्णानि कृष्णवर्णाभावात्, ब्रह्मलोकलान्तकयोस्त्रिवर्णानि कृष्णनीलवर्णाभावात्, महाशुक्रसहस्रारयोर्द्विवर्णानि कृष्णनीलहारिद्रवर्णाभावात्, आनतप्राणतारणाच्युतकल्पेषु एक वर्णानि, शुक्लवर्णस्यैकस्य भावात् । प्रवैयकविमानानि अनुत्तरविमानानि च परम शुक्लानि ।

सोहम्मीसाणेषु देवा केरिसया वण्णेणं पन्नत्ता ? गोयमा ! कणगत्तयरत्ताभा वण्णेणं पण्णत्ता । सणकुमारमाहिंदेसु णं पत्तम-पम्हगोरा वण्णेणं पण्णत्ता । वंभलोमे णं भंते ! गोयमा ! अल्लम-धुगवण्णाभा वण्णेणं पण्णत्ता, एवं जाव गोवेज्जा, अणुत्तरोववाइया परमसुक्किला वण्णेणं पण्णत्ता ।

—जीवा० प्रति ३ । उ १ । सु २१५ । पृ० २३८

टीका—अधुना वर्णप्रतिपादनार्थमाह—‘सोहम्मी’त्यादि, सौधर्मेशानयोर्भवन्त ! कल्पयोर्देवानां शरीरकाणि कीटशानि वर्णेन प्रज्ञप्तानि ? भगवानाह—गौतम ! कनकत्वग्युक्तानि, कनकत्वगिव रक्ता आभा—छाया येषां तानि तथा वर्णेन प्रज्ञप्तानि, उत्तमकनकवर्णानीति भावः । एवं शेषसूत्राण्यपि भावनीयानि, नवरं सनत्कुमारमाहेन्द्रयोर्ब्रह्मलोकेऽपि च पद्मपद्मगौराणि, पद्मकेसरतुल्यावदातवर्णानीति भावः, ततः परं लान्तकादिषु यथोत्तरं शुक्लशुक्लतरशुक्लतमानि, अनुत्तरोपपातिनां परमशुक्लानि, उक्तञ्च—

कणगत्तयरत्ताभा सुरवसभा दोसु हौति कप्पेसु ।
तिसु हौति पम्हगोरा तेण परं सुक्किला देवा ॥

सोहम्मीसाणदेवाणं कइ लेस्साओ पन्नत्ताओ ? गोयमा ! एगा तेउलेस्सा पन्नत्ता । सणकुमारमाहिंदेसु एगा पम्हलेस्सा, एवं वंभलोमे

वि पम्हा, सेसेसु एका सुकलेस्सा, अणुत्तरोववाइयाणं एका परम-सुकलेस्सा ।

—जीवा० प्रति ३ । उ १ । सू २१५ । पृ० २३६

टीका—सौधर्मेशानयोर्भदन्त ! कल्पयोर्देवानां कति लेश्याः प्रज्ञप्ताः ? भगवानाह—गौतम ! एका तेजोलेश्या, इदं प्राचुर्यमङ्गी-कृत्य प्रोच्यते । यावता पुनः कथंचित्तथाविधद्रव्यसम्पर्कतोऽन्याऽपि लेश्या यथासम्भवं प्रतिपत्तव्याः, सनत्कुमारमाहेन्द्रविषयं प्रश्नसूत्रं सुगमं, भगवानाह—गौतम ! एका पद्मलेश्या प्रज्ञप्ता, एवं ब्रह्म-लोकेऽपि, लान्तके प्रश्नसूत्रं सुगमं, निर्वचनं—गौतम ! एका शुक्ल-लेश्या प्रज्ञप्ता, एवं यावदनुत्तरोपपातिका देवाः ।

वैमानिकों के विमानों के वर्णों, शरीर के वर्णों तथा लेश्या का मुलनात्मक चार्ट—

	विमान	शरीर	लेश्या
सौधर्म	पाँचों वर्ण	तप्तकनकरक्तआभा	तेजो
ईशान	”	”	”
सनत्कुमार	कृष्ण बाद चार	पद्मपक्षमगौर	पद्म
माहेन्द्र	”	”	”
ब्रह्मलोक	लाल-पीत-शुक्ल	‘अल्ल’ मधुकवर्ण	”
लान्तक	”	”	शुक्ल
महाशुक्र	पीत-शुक्ल	”	”
सहस्रार	”	‘अल्ल’ मधुकवर्ण	”
आनत यावत् अच्युत	शुक्ल	”	शुक्ल
प्रवेद्यक	”	‘अल्ल’ मधुकवर्ण	”
अनुत्तरोपपातिक	परम शुक्ल	परम शुक्ल	परम शुक्ल

टीकाकार ने सौधर्म तथा ईशान देवों के शरीर का वर्ण उत्तम कनक की रक्त आभा के समान बताया है । सनत्कुमार तथा माहेन्द्र देवों के शरीर का वर्ण पद्म-पक्षमगौर अथवा पक्षकेशर तुल्य शुभ्र वर्ण कहा है । ब्रह्मलोक देवों के शरीर का वर्ण मूल पाठ में ‘अल्लमधुगवणभा’ है लेकिन टीकाकार ने उसे सनत्कुमार तथा

माहेन्द्र के वर्ण की तरह, 'पद्मपक्ष्मगौर' ही कहा है। तथा लांतक से श्रव्येयक तक उत्तरोत्तर शुक्ल, शुक्लतर, शुक्लतम कहा है। अनुत्तरोपपातिक देवों के शरीर का वर्ण परम शुक्ल कहा है। टीकाकार ने एक प्राकृत गाथा उद्धृत की है—“दो कल्पों में कनकतस्मरक्त आभा के समान शरीर का वर्ण होता है पश्चात् के तीन कल्पों के शरीर का वर्ण पद्मपक्ष्मगौर वर्ण होता है, तत्पश्चात् देवों के शरीर का वर्ण शुक्ल होता है।”

‘६६’ १४ नारकियों के नरकावासों का वर्ण; शरीरों का वर्ण तथा उनकी लेश्या—

इसीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए नेरया केरसिवा वण्णेणं पन्नत्ता ? गोयमा ! काला कालोभासा गंभीरलोमहरिसा भीमा उत्तासणया परमकण्हा वण्णेणं पन्नत्ता, एवं जाव अहेसत्तमाए ।

—जीवा० प्रति ३ । उ १ । (नरक) । सू ८३ । पृ० १३८-३६

टीका—रत्नप्रभायां पृथिव्यां नरकाः कीदृशा वर्णेन प्रज्ञप्ताः ? भगवानाह—गौतम ! कालाः तत्र कोऽपि निष्प्रतिभतया मंद-कालोऽप्याशंकयेत् ततस्तदाशंकाव्यवच्छेदार्थं विशेषणान्तरमाह— ‘कालावभासाः’ कालः—कृष्णोऽवभासः—प्रतिभाविनिर्गमो येभ्यस्ते कालावभासाः, कृष्णप्रभापटलोपचिता इति भावः × × × वर्ण-मधिकृत्य परमकृष्णाः प्रज्ञप्ताः ।

इसीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए नेरइयाणं सररीरगा केरसिया वण्णेणं पन्नत्ता, गोयमा ! काला कालोभासा जाव परमकण्हा वण्णेणं पन्नत्ता एवं जाव अहेसत्तमाए ।

—जीवा० प्रति ३ । उ २ (नरक) । सू ८७ । पृ० १४१

टीका—रत्नप्रभापृथ्वीनैरयिकाणां भदन्त ! शरीरकानि कीदृशानि वर्णेन प्रज्ञप्तानि ? भगवानाह गौतम ! ‘काला-कालोभासा’ इत्यादि प्राग्बन्त, एवं प्रतिपृथिवि तावद्वक्तव्यं यावदधःसप्तमपृथिव्याम् ।

इसीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए नेरइयाणं कइ लेस्साओ पन्नत्ताओ ? गोयमा ! एक्का काऊलेस्सा पन्नत्ता, एवं सक्करप्पभाए

वि । बालुयप्पभाए पुच्छा, गोयमा ! दो लेस्साओ पन्नत्ताओ,
तं जहा—नीललेस्सा य काउलेस्सा य ; × × × पंकप्पभाए पुच्छा,
एका नीललेस्सा पन्नत्ता ; धूमप्पभाए पुच्छा, गोयमा ! दो लेस्साओ
पन्नत्ताओ, तं जहा—कणहलेस्सा य नीललेस्सा य ; × × × तमाए
पुच्छा, गोयमा ! एका कणहलेस्सा ; अहेसत्तमाए एका परमकणह-
लेस्सा ।

—जीवा० प्रति ३ । उ २ (नरक) । सू ८८ । पृ० १४१

नारकियों के नरकावास के वर्णों, शरीर के वर्णों तथा लेख्या का तुलनात्मक चार्ट ।

	नरकावास	शरीर	लेख्या
रत्नप्रभापृथ्वी	काला-कालावभास-परमकृष्ण	काला-कालावभास-परमकृष्ण	कापोत
शर्कराप्रभापृथ्वी	”	”	”
बालुकाप्रभापृथ्वी	”	”	कापोत, नील
पंकप्रभापृथ्वी	”	”	नील
धूमप्रभापृथ्वी	”	”	नील, कृष्ण
तमप्रभापृथ्वी	”	”	कृष्ण
तमतमाप्रभापृथ्वी	”	”	परमकृष्ण

६६'१५ लेख्या-साधक-बाधक

शिव-साधक सुविचार, उपसम क्षायक भाव फुन ।
क्षयोपसम अवधार, शिव बाधक उदय भाव छै ॥
छेली लेख्या तीन, शिव-साधक-बाधक बिहुं ।
भाव उदे सुकथीन, क्षायक क्षयोपशम भाव फुन ॥
उदय भाव किण न्याय, क्षायक क्षयोपशम भाव फुन ।
ते किण विध कहिवाय, न्याय कहूँ छूँ तेहनों ॥
त्रिहुं शुभलेख्या ताय, पुन्य बंधै छै तेहथी ।
शिव-बन्धक इण न्याय, उदय भाव इण न्याय फुन ॥
तेजू पदम सुसाव, कर्म कटै छै तेह थी ।
कही क्षयोपशम भाव, शिवसाधक इण कारणे ॥

छद्मस्थ तणी ज ताय, शुक्ललेस छै तेह थी ।
 कर्म कटै इण न्याय, साधक क्षयोपसम भाव ए ॥
 केवली तणी कहाय, शुक्ल लेस छै तेह थी ।
 कर्म कटै इण न्याय, भाव क्षायक साधक वलि ॥

—भीमो ज्ञान गा । ६५ से १०१

अन्तिम तीन लेश्याएँ—तेजो, पद्म और शुक्ल मोक्ष की साधक व बाधक दोनों हैं । औदयिक भाव लेश्याएँ मोक्ष की बाधक हैं । क्षायिक और क्षयोप-
 शमिक भाव लेश्याएँ मोक्ष की साधक हैं । तीनों शुभ लेश्याओं से पुण्य का बंध
 होता है । इस न्याय से वे औदयिक भाव और इसी न्याय से वे मोक्ष की बाधक
 है । तेजो और पद्म लेश्या से कर्म की निर्जरा होती है, इस न्याय से वे क्षयोप-
 शमिक भाव है और इसी न्याय से वे मोक्ष की साधक हैं । छद्मस्थ की शुक्ल
 लेश्या से कर्म की निर्जरा होती है, इस न्याय से वह क्षायोपशमिक भाव है और
 इसी न्याय से यह मोक्ष की साधक है । केवली की शुक्ल लेश्या से कर्म की
 निर्जरा होती है, इस न्याय से वह क्षायिक भाव है और इसी न्याय से वह मोक्ष
 की साधक है ।

‘६६’१६ लेश्या और आस्रव-निर्जरा

शुभ लेश्या नै सोय, कहियै आस्रव निर्जरा ।
 ताप न्याय अवलोय, चित्त लगाई सांभलो ॥१२०॥
 शुभ लेश्या कर तास, कर्म कटै तिण कारणे ।
 कही निर्जरा जास, करणी लेखे जाणवी ॥१२१॥
 ते शुभलेस करीज, पुन्य बंधै तिण कारणे ।
 आस्रव तास कहीज, वारुं न्याय विचारियै ॥१२२॥
 शुभलेश्या नै सार, धर्म कर्म लेश्या कही ।
 प्रत्यक्ष पाठ मभार, उत्तराध्ययन चौतीस में ॥१२३॥
 शुभ लेश्या सूं ताम, कर्म कटै तिण कारणे ।
 धर्म लेस कहि स्वाम, वारुं न्याय विचारियै ॥१२४॥
 शुभ लेश्या सूं ताय, कर्म बंधै तिण कारणे ।
 कर्म-लेस कहिवाय, न्याय नेत्र अवलोकियै ॥१२५॥

—भीमो ज्ञान गाथा १२० से १२५

शुभ लेश्या को आश्रव व निर्जरा कहा गया है । शुभ लेश्या से कर्म कटते हैं अतः उसे करणी की अपेक्षा निर्जरा कहा गया है । उसी शुभ लेश्या से पुण्य का बंध होता है, इस हेतु से उसे आश्रव कहा है । उसमें शुभ लेश्या को धर्म लेश्या कहा गया है और कर्म लेश्या भी कहा गया है । शुभ लेश्या से कर्म टूटते हैं, इस हेतु से उसे धर्म लेश्या कहा गया है । शुभ लेश्या से कर्म का बंध होता है, इस हेतु से उसे कर्म लेश्या कहा गया है ।

विवेचन—पुण्य-पाप दोनों कर्म हैं और जो उनका कर्ता है वह आश्रव है, जिससे कर्म टूटते हैं उसे करणी की अपेक्षा से निर्जरा कहा गया है ।

६६.१७ लेश्या और करण

करणकालात् पूर्वमपि × × × तिस्रूणां विशुद्धानां लेश्यानामन्य-
तमस्या लेश्यायां वर्तमानो जघन्येन तेजो लेश्याया, मध्यम-परिणामेन
पद्मलेश्यायां, उत्कृष्ट-परिणामेन शुक्ललेश्याया × × × ।

—कर्म प्रकृति टीका

अर्थात् करण (यथाप्रवृत्ति-अपूर्व-अनिवृत्ति करण) की प्राप्ति के पूर्व भी मिथ्यात्वी के तीन विशुद्ध लेश्या का प्रवर्तन हो सकता है । जघन्यतः तेजो लेश्या, मध्यम परिणाम से पद्म लेश्या तथा उत्कृष्ट परिणाम से शुक्ल लेश्या का प्रवर्तन होता है ।

नोट—तीन करणों में से एक प्रथम करण—यथा प्रवृत्ति करण अभव्य जीवों को भी प्राप्त हो सकता है । उनमें भी लेश्या छायें होती हैं ।

६६.१८ लेश्या और योग

(क) द्रव्यान्येतानि योगान्तर्गतानीति विचिन्त्यताम् ।

सयोगत्वेन

लेश्यानामन्वयव्यतिरेकतः ॥

—लोकप्र० गा २८५

अन्वय तथा व्यतिरेक से लेश्या के सयोगत्व की अपेक्षा (लेश्या) के द्रव्यों को योग के अन्तर्गत समझो ।

(ख) योगप्रवृत्तिलेश्या कषायोदयानुरञ्जिता भवति ।

—गोजी० गा ४८६ । संस्कृत छाया

कभायोदय से अनुरंजित योग की प्रवृत्ति को लेश्या कहते हैं ।

(ग) मनोवाक्कायवर्गणापुद्गलद्रव्यसंयोगात् संभूतः आत्मनः परिणामो लेश्याऽभिधीयते ।

—जैसिदी० प्र ४ । सू २८

योगवर्गणा के अन्तर्गत पुद्गलों की सहायता से होने वाले आत्म-परिणाम को लेश्या कहते हैं ।

लेश्या और योग

(घ) जिहां सलेसी तिहां सजोगी, जोग कही तिहां लेस ।

जोग लेश्या में कांयक फेर छै, जाण रखा जिण रेस ॥६॥

—भीषीचरचा ढाल १

जो जीव सलेश्य-लेश्या सहित होता है—वह सयोग-योग सहित होता है । जहाँ योग है, वहाँ लेश्या है । योग और लेश्या में क्या अन्तर है । इस रहस्य को जिनेश्वर देव जानते हैं ।

भाव लेश्या शुभ छ द्रव्य मांहि, कहियै जीव सुचीन ।

आस्रव जीव निर्जरा निरवद, नव तत्व मांहि तीन ॥१०॥

शुभ-लेश्या जो आस्रव निर्जरा, तो किसा आस्रव रे मांय ।

जोग-आस्रव में सुभलेश्या छै, निर्जरा कर्म कटै तिण न्याय ॥११॥

पुन बंधै तिण सू आस्रव, सुभलेश्या नै कहि स्वाम ।

सुभ लेश्या स्यू कर्म कटै छै, तिण सू निर्जरा पदार्थ ताम ॥१२॥

—भीषीचरचा ढाल १

अन्तिम तीन शुभ भाव लेश्याएं छह द्रव्यों में जीव द्रव्य में तथा नव पदार्थों में जीव, आस्रव (शुभ योग आश्रव) और निर्जरा—इन तीन पदार्थों में समाविष्ट होती है । क्योंकि ये तीनों लेश्याएं निरवद्य है ।

शुभ लेश्या योग आश्रव में समाविष्ट होती है । शुभ लेश्या से कर्म क्षीण होते हैं अतः उसका निर्जरा में समावेश होता है ।

शुभ लेश्या से पुण्य का बन्ध होता है, अतः भगवान ने उसे आश्रव कहा है । और उससे कर्म क्षीण होते हैं । इस दृष्टि से वह निर्जरा है ।

*६६*१६ लेश्या और तत्त्व

(क) भाव लेश्या और तत्त्व

भाव लेश्या कृष्णादिक तीनों; छः द्रव्य मांहि जीव ।

नव तत्व मांहि जीव अरु आसव, जोग-आसव कहीव ॥५॥

मिथ्यात अव्रत प्रमाद कषाय, ए चिहुं लेश्या नांय ।

जोग-आसव पिण असुम जोगमें, असुभ-लेश्या तीनों आय ॥६॥

तीनों जोगों में किसो जोग है ? सुणियै तेहनो न्याय ।

मन-वचन-काया का जोग त्रिहुं ? सलेशी कखा जिनराय ॥७॥

—भीणीचरवा ढाल १

प्रथम तीन भाव लेश्याएं छः द्रव्यों में जीव द्रव्य में तथा नव पदार्थों में जीव और आस्रव—इन दो पदार्थों में समाविष्ट होती है । आस्रव में केवल योग-आस्रव में समाविष्ट होती है ।

मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद और कषाय—इन चार आस्रवों में लेश्या का समावेश नहीं होता है । योग आस्रव के दो प्रकार हैं—शुभयोग और अशुभयोग । प्रथम तीनों लेश्याएं अशुभ हैं, अतः वे अशुभयोग में ही समाविष्ट होती है ।

मन, वचन और काय—इन तीनों योगों को सलेशी (लेश्या सहित) कहा है । अतः अशुभलेश्याओं का समावेश तीनों योगों में होता है ।

जयाचार्य ने आस्रव शब्द के स्थान पर—आस्र, आस्र, आस और आस्रव—इन चार शब्दों का प्रयोग किया है । जब जीव एक योनि से मरण, च्यवन, उद्बर्तन करके अन्य योनि में जाता है तब जाने के पथ में जितने समय लगते हैं उतने समय में संसारी जीव सलेशी होता है । मरण के समय जीव द्रव्य लेश्या के जिन पुद्गलों से ग्रहण करता है उसी लेश्या में जाकर जन्म-उत्पाद करता है और तदनु रूप ही उसकी भावलेश्या होती है अतः इस अंतराल में सम्भवतः वह द्रव्य लेश्या के नये पुद्गलों का ग्रहण नहीं करता है लेकिन मरण-च्यवन के समय द्रव्य लेश्या के जिन पुद्गलों को ग्रहण किया था, वे अवश्य ही उसके साथ रहते हैं ।

(ख) द्रव्य लेश्या और तत्त्व

द्रव्य लेश्या छहुं षट् द्रव्य मांहि, पुद्गल कहियै ताहि ।

नव तत्व मांहि अजीव पदारथ, पुन पाप बंध नांहि ॥४॥

—भीणीचरवा ढाल १

सभी द्रव्यलेइयाएं छः द्रव्यों में पुद्गल द्रव्य में तथा नव पदार्थों में अजीव पदार्थ में समाविष्ट होती है ।

आधुनिक मनोवैज्ञानिक डाक्टरों का कहना है कि एलर्जी का एक बहुत बड़ा कारण है हमारी मानसिक पसन्द और ना पसन्द । जैन मंत्र साधन विधि के अनुसार सिद्धों का जाप लाल रंग से किया जाता है । सोवियत ध्वनि विशेषज्ञ लोगों का कहना है कि एक रंग दूसरे रंग के साथ आनेवाली विकृतियों की रोकथाम करता है । कुछ रंग ध्वनि निरोधक होते हैं ।

हरा रंग उत्पाद, शांत तथा स्थिर स्वभावक सूचक है । इस रंग को प्रमुखता देनेवाला व्यक्ति प्रकृति में जीने का रसिक स्वाभिमानी तथा दृढसंकल्पी वाला होता है । यह एक ऐसा रंग है जो व्यक्ति को अनियंत्रित क्रोध, रक्तक्रांति, तथा निरंकुश व्यक्तियों को बचाता है । लेइया ध्यान में यह एक रामबाण है । मन की आशांति के समय गहरे नीले रंग का ध्यान विशेष सहायक होता है । जो लोग एकांत नीले रंग को पसन्द करते हैं उनके स्वभाव में सभी मानवीय गुणों का अनुराग होता है ।

श्वेत रंग पवित्रता का प्रतीक है । काम, क्रोधादि वृत्तियों की कल्मषता को दूर रहने की भावना उत्पन्न करता है ।

रंग ध्यान से रोग शमन

आकाश और काल का—इन दोनों का परस्पर जो सम्बन्ध है, वही सम्बन्ध तत्व (पंचभूत) और रंग के साथ है । रंग हमारे स्वभाव और चरित्र का निर्माण करता है । जैन मनोविज्ञान का महत्त्वपूर्ण विषय लेइया इस बात को प्रमाणित करता है कि द्रव्यलेइया अर्थात् जिन रंग तत्वों की हमारे शरीर में प्रधानता है, उसी रंग के प्रति मानसिक अभिरूचि पैदा होती है । वही रंगीय अभिरूचि हमारे विचार-जगत् और संस्कार-जगत् का सर्जन करती है । कभी-कभी शरीराश्रित रंगों से विपरीत भी विचार परिणति होती है ।

(ग) लेइया और तन्त्र

अनुजोगद्वारे उदैभावमें, छहुं लेइया कही ताम ।

उत्तराध्ययने सुभ लेइया नै, कर्म लेइया कही स्वाम ॥३१॥

—झीणीचरवा ढाल १

अनुयोगद्वार सूत्र २७५ में छहों लेइयाओं को औदयिक भाव में समाविष्ट किया गया है तथा उत्तराध्ययन (३४ । १) में शुभ लेइयाओं को भी कर्म लेइया कहा

गवा है । अतः उनका आस्त्रव पदार्थ में समावेश होता है । अतः उनका आस्त्रव पदार्थ में समावेश न्याय युक्त है ।

‘६६’२० लेश्या और स्पर्श

लेश्या चोफरसी के अठफरसी छै ? भाव लेश्या अरूपी विमास ।
भगवती बारमें शतक पंचमुदेशे, कह्या द्रव्य लेश्या में अठफास रे ॥

—भीष्मीचरचा ढाल १५ । श्लो ४

भाव लेश्या अरूपी है । भगवती सूत्र, बारहवें शतक के पांचवें उद्देशक १२/११७ में द्रव्य लेश्या में अष्टस्पर्श बतलाए कहे गये हैं ।

द्रव्य लेश्या छहुँ अठफरसी छै; भाव लेश्या छै जीव ।

—भीष्मीचरचा ढाल १ गा ३ पूर्वार्ध

लेश्याएं छः है—कृष्ण, नील, कापोत, तैजस, पद्म और शुक्ल । सभी द्रव्य लेश्याएं अष्टस्पर्शी—आठ स्पर्श वाली है । भाव लेश्या जीव है अतः वह स्पर्श रहित है ।

एक दूसरी परिभाषा जो प्राचीन आचार्यों ने बहुलता से प्रचलित थी—
वह है—

“कृष्णादि द्रव्य साचिख्यात्, परिणामो य आत्मनः ।

स्फटिकस्येव तत्रायं लेश्या शब्द प्रयुज्यते ॥”

जिस प्रकार स्फटिक मणि विभिन्न वर्णों के सूत्रों का साक्षिध्व प्राप्त कर उन वर्णों में प्रतिभासित होता है ।

‘६६’२१ लेश्या और जीव

द्रव्य चक्री जिन नरक मांहि छै, त्यां थी निकल जिन चक्री थाय ।

ते सुगति मनुष्य नो आऊखो बांधै, भली भाव-लेश्या रे मांय रे ॥६१॥

अशुभ लेश्या सूं तो दुर्गति जावै, ते कह्यो छै पाठ मकार ।

ए शुभ मनुष्य नो आउखो बांधै, ते शुभ भाव-लेश्या विचार रे ॥६२॥

जोतषी सुधर्म ईसाने तेजू, ते पिण द्रव्य अमंद ।

ते पिणी एकेन्द्री तिर्यञ्च में उपजै, ए अशुभ भाव लेश्या मांहि बंध रे ॥६३॥

इण न्याय नारकी देवता मांहि, भाव-लेश्या छव पावै ।
ते जीव परिणामी रा दश बोला में, लेस-परिणामी में आवै रे ॥६४॥

—भीषीचरचा ढाल १३

द्रव्य चक्रवर्ती ओर द्रव्य जिन नरक में होते हैं । वे वहाँ से निकल कर चक्रवर्ती और जिन बनते हैं । वे (नरक में ही) मनुष्य सद्गति का आयुष्य बांधते हैं । यह बंध शुभ भाव लेश्या में ही होता है ।

अशुभ लेश्या में तो जीव दुर्गति में जाता है । यह सूत्र पाठ में बतलाया गया है । जो शुभ मनुष्य का आयुष्य-बंध किया जाता है, वह शुभ भाव लेश्या में ही होता है ।

ज्योतिष, सौधर्म और ईशान देवों में तेजो लेश्या होती है, वह भी द्रव्य लेश्या है । वे देव वहाँ से च्युत होकर एकेन्द्रिय तिर्यच में उत्पन्न होते हैं । वह आयुष्य का बंध अशुभ भावलेश्या में ही होता है ।

इस न्याय से नरक और देवों में भावलेश्याएं' छहों होती है और वे भावलेश्याएं' ही जीव-परिणाम के एक भेद लेश्या परिणाम के अन्तर्गत हैं । अवधि-ज्ञान, मनःपर्यव जानादि की उत्पत्ति के समय प्रशस्त अध्यवसाय के साथ लेश्या का विशुद्धिकरण भी आवश्यक है ।

जीव और लेश्या

सुर नारकी मांहे जीव-परिणामी रा, नव बोलां रो वर्णन न्हाली ।
लेस-परिणामी में द्रव्य नो वर्णन, सूत्र-गति विचित्र निहाली रे ॥

—भीषीचरचा ढाल १३ । गा ७१

देव और नरक में जीव-परिणाम के नौ बोलों का वर्णन भाव की दृष्टि से किया गया है । केवल एक लेश्या परिणाम का वर्णन द्रव्यलेश्या की दृष्टि से किया गया है । सूत्र की गति विचित्र होती है, यही कहा जा सकता है ।

हमारे कार्य विचारों के अनुरूप और विचार चारित्र को विकृत बनाने वाले पुद्गलों के प्रभाव और अप्रभाव के अनुरूप बनते हैं । कर्म पुद्गल हमारे कार्यों और विचारों के भीतर से प्रभावित करते हैं, तब बाहरी पुद्गल उनके सहयोगी बनते हैं । ये विविध रंगवाले होते हैं । कृष्ण, नील और कापोत, इन तीन रंगों वाले पुद्गल विचारों की अशुद्धि के निमित्त बनते हैं । तेजस, पद्म और

श्वेत—ये तीन पुद्गल विचारों की शुद्धि में सहयोग देते हैं। पहले वर्ग के रंग विचारों की अशुद्धि के कारण बनते हैं। यह प्रधान बात नहीं है किन्तु चारित्र्य मोह प्रभावित विचारों के सहयोगी जो बनते हैं, वे कृष्ण, नील और कापोत रंग के पुद्गल ही होते हैं। प्रधान बात यह है। यही बात दूसरे वर्ग के रंगों के लिए है।

कृष्ण, नील और कापोत—ये तीन अप्रशस्त और तेजस्, पद्म और शुक्ल—ये तीन प्रशस्त लेख्याएँ हैं। पहली तीन लेख्याएँ बुरे अध्यवसाय वाली है अतः वे दुर्गति हेतु हैं। उत्तरवर्ती तीन लेख्याएँ भले अध्यवसाय वाली हैं अतः वे सुगति की हेतु हैं।

सुभ असुभ लेख्या नै कर्म लेख्या कही, शुभ अशुभ कर्म बंधता।
भली लेख्या नै धर्म लेख्या कही, उत्तराध्येन सिद्धंत ॥१३॥

इण न्याय निर्जरा आश्रव मांहि, सुभ-लेख्या त्रिहुं भाव।

अध्येन चोतीसमो अवलोकी, निपुण! विचारो न्याव ॥१४॥

—श्रीणीचरचा ढाल १

शुभलेख्या से शुभकर्म का बंध होता है और अशुभलेख्या से अशुभकर्म का बंध होता है। अतः शुभ और अशुभ दोनों प्रकार की लेख्या को उत्तराध्ययन (३४/१) में कर्मलेख्या कहा है तथा शुभलेख्या को धर्मलेख्या कहा है।

इस न्याय से तीनों शुभलेख्याओं का आस्रव और निर्जरा में अवतरण होता है।

कर्मप्रदेश का उपचय योग से होता है। पंच संग्रह में चंद्रवि महत्तर ने कहा है—

“इह सर्वोऽपि कर्मप्रदेशोपचयो योगात् भवति, “जोगापयडि पएस” इति वचनात्।

—पंच संग्रह भाग ३। पृ० ७४६

इससे जाना जा सकता है अकषायी के लेख्या संबंधी बंध-स्थितबंध, अनुभाग बंध नहीं है परन्तु प्रकृति बंध व प्रदेश बंध है।

रंगों के द्वारा मनुष्य के स्वभाव की पहचान होती है। हम नैतिक हैं या अनैतिक, उत्तेजित हैं या अनुत्तेजित तथा हम उदार स्वभाव के हैं या स्वार्थी

स्वभाव के, हमारी रंगीन अभिरुचि इस बात को प्रमाणित करती है। अन्वय-स्थित चित्त (भावचित्त) वाला, संघर्षप्रिय, स्वार्थी तथा घमण्डी होता है।

छुछ काले रंग की प्रधानता से चित्त के क्लेशों को एक-एक करके शुभ शांत कर दिया जाता है। प्रत्येक रंग हमारे शारीरिक स्वास्थ्य और मनोभाव— इन दोनों को प्रभावित करता है। रंगों के ध्यान से हम लेश्या को प्रशस्त बना सकते हैं।

जीवपरिणामी का दस भेद कह्या छै × × × ॥४६॥

लेस परिणामी में लेश्या कही छव × × × ॥४६॥

—भीषीचरचा ढाल १३

जीव परिणाम के दस भेद हैं। उनमें लेश्या परिणाम में छः लेश्याएँ हैं।

ते जीव-परिणामी रा दश बोलां में, लेस परिणामी में आवै रे ॥४६॥

—भीषीचरचा ढाल १३

वे (भावलेश्याएँ) जीव परिणाम के एक भेद लेश्या-परिणाम के अंतर्गत है।

दर्शन मोहनीय—सम्यग्दृष्टि से विकृत करने वाले कर्म पुद्गल।

१—सम्यक्त्व वेदनीय—औपशमिक व धायिक सम्यग्दृष्टि के प्रतिबंधक कर्म-पुद्गल।

२—मिथ्यात्व वेदनीय—सम्यग्दृष्टि (क्षायोपशमिक) के प्रतिबंधक कर्मपुद्गल।

३—मिश्र वेदनीय—तत्त्व श्रद्धा की दोलायमान दशा उत्पन्न करने वाले कर्मपुद्गल।

विश्रेणी स्थित जन्म स्थान की प्राप्ति का हेतुभूत कर्म आनुपूर्वी नाम है। जिसके उदय से जीव की चाल पर प्रभाव पड़ता है—विहायगति नाम कर्म कहलाता है। कहा है—

(असोच्चाणं भंते !) अण्णया कयावि सुभेणं अञ्जवसाणेणं,
सुभेणं परिणामेणं, लेस्साहिं विसुञ्जमाणीहिं × × × विव्भंमे नामं
अण्णाणे समुप्पज्जइ ।

—मग० श ६ । उ ३१ । सू ३३

अर्थात् बाल तपस्वी को (मिथ्यात्व का तप) किसी दिन शुभ अध्यवसाय, शुभ परिणाम और विशुद्धमान लेश्या आदि के कारण विभंग अज्ञान उत्पन्न होता है। यह अश्रुत्वा मिथ्यात्वी (अर्थात् जिसने कभी धर्म सुता नहीं था) के लिए कहा गया है।

लेश्या और जीव

व्यंतर भवनपती में च्यार लेश्या कही छै, ज्योतिषि में तेजू एक।
विमाणीकमें तेजू पद्मशुकल कहीते जीव परिणामीमें किण लेख रे ॥५३॥
इहां असुभ लेश्या तीन कही नरक में द्रव्य-लेश्या अपेक्षाय।
देवता में पिण द्रव्य अपेक्षा जूइ जूइ कही छै ताय रे ॥५४॥
बीजूं तो नारकी नै देवता में, भाव लेश्या छह पाय।
अर्थ अनोपम साख कहू छूँ, निर्मल सून ज्यो न्याय रे ॥५५॥

—भीणीचरचा ढाल १३

व्यन्तर और भवनपति देवों में चार लेश्याएं बतलाई गई है। ज्योतिषी देवों में एक तेजोलेश्या है। वैमानिक देवों में तंजस, पद्म और शुक्ल तीन लेश्याएं हैं। वे जीव परिणाम में किस न्याय से हो सकती है।

यहाँ नरक में अशुभलेश्याएं बतलाई गई है। यह सारा वर्णन द्रव्यलेश्या की अपेक्षा से है। देवों में भी द्रव्यलेश्या की अपेक्षा से ही अलग-अलग लेश्याएं बतलाई गई है।

अन्यथा नरक और देवों में भाव लेश्याएं छहों होती हैं। यह अनुपम अर्थ सूत्र साक्षी के साथ बताया जा रहा है। इसका निर्मल न्याय सुनो।

सुर नारकी मांहे भाव छ लेश्या, उत्तराध्येन वृत्ति में विस्तार।
तैयालीसमी गाथा नी टीका, अध्येन चौतीसमें सार रे ॥५६॥

—भीणीचरचा ढाल १३

देव और नारकी में छहों भाव लेश्याएं होती हैं। यह उत्तराध्ययन ३४।४३ गाथा की वृत्ति में विस्तार से बतलाया गया है। मिथ्यात्वी जब सम्यक्त्व प्राप्त करता है, तब उसे विशुद्धलेश्या और शुभ परिणाम के साथ प्रशस्त अध्यवसाय भी होते हैं।

नोट—द्रव्य मन, द्रव्य वचन, द्रव्य कषाय आदि के साथ द्रव्य लेश्या का क्या सम्बन्ध रहा है। यह भी शोध का विषय है—द्रव्य मन, द्रव्य वचन व द्रव्य कषाय के पुद्गल चतुःस्पर्शी हैं जबकि द्रव्य लेश्या के पुद्गल अष्टस्पर्शी हैं।

लेश्या और जीव

कोई कहै नरक मांहे छ भाव लेस्या, कही टीका रै मांय ।

पिणपाठमांहीकहीहुवैतोवतावो, तिणरोन्यायसुणोचिचत्तल्यायरे ॥१७॥

तेजू पद्म सुकल ए तीनूँ, धर्म लेस्या कही जिनराय ।

यां तीनां में काल करै तो, उपजै सद्गति मांय रे ॥१६॥

उत्तराध्येन चौतीसमें अध्येने, गाथा छपन सत्तावन मांय ।

ए भाव लेस्या आश्री वीर कझो छै, धर्म अधर्म द्रव्य न थाय ॥१६०॥

—क्रीणीचरचा ढाल १३

नरक में छः भाव लेश्याएं वृत्ति में बतलाई गई है।

कृष्ण, नील, कापोत—ये तीन अधर्म लेश्याएं जिनवर के द्वारा कही गई है। इन तीनों में मरने वाला दुर्गति में उत्पन्न होता है।

तेजस, पद्म और शुक्ल—ये तीन धर्म लेश्याएं जिनवर के द्वारा बतलाई गई है। इन तीनों में मरने वाला सद्गति में उत्पन्न होता है।

उत्तराध्ययन अ ३४/५६, ५७ में अधर्म व धर्म का विभाग भगवान ने भाव लेश्या की दृष्टि से किया है। द्रव्य लेश्याओं का धर्म व अधर्म—यह विभाग नहीं बनता है।

प्राचीन चिकित्सा विज्ञान के अनुसार बीमारी के मुख्य तीन कारण बताये गये हैं—वात, पित्त और कफ। वायु जन्य बीमारियों का शमन लाल रंग के ध्यान से, पित्त या पित्त क्षय से होने वाली बीमारी का शमन पीले व शुक्ल रंग के ध्यान से और कफ दोष की बीमारियां हरे व नीले रंग के ध्यान से संभव है। यदि किसी को त्रिदोष के कारण व्याधि है तो आकाश तत्त्व के ध्यान से शांत हो सकती है। वर्तमान संपूर्ण रंग चिकित्सा इसी मान्यता पर आधारित है। मानसिक स्वास्थ्य और स्थिरता की दृष्टि से शरीर में पाँचों रंगों का संतुलन अनिवार्य माना गया है। क्योंकि जैसे पाँच तत्त्वों के सम्मिश्रण से मानव शरीर की रचना होती है, ठीक वैसे ही पाँच रंगों की संतुलित भाव दशा में स्वस्थ मानव प्रकृति का निर्माण होता है।

लेश्या और जीव

लेश्या चोफरसी के अठफरसी छै ? भाव लेश्या अरूपी विमास ।

भगवती बारमें शतक पंचमुद्देशो, कहा द्रव्य लेश्या में अठ फास रे ॥८०॥

—भीषीचरचा ढाल १५

भाव लेश्या अरूपी है । द्रव्य लेश्या में आठ स्पर्श बतलाये गये हैं ।

जाति स्मृति—जाति स्मरण ज्ञान—पूर्व जन्म की स्मृति (जाति स्मृति) मति का ही एक विशेष प्रकार है । इससे पिछले नौ समनस्क जीवन की घटना-वलिया जानी जा सकती है । पूर्व जन्म में घटित घटना के समान घटना घटने पर वह पूर्व परिचित सी लगती है । ईहा, अपोह, मार्गणा और गवेषणा करने से चित्त की एकाग्रता और शुद्धि होने पर स्मृति उत्पन्न होती है । जाति स्मरण ज्ञान में लेश्या का विद्युद्धिकरण होना अत्यन्त आवश्यक है । अप्रशस्त लेश्या में जाति स्मरण ज्ञान उत्पन्न नहीं होता है । धर्म शास्त्रियों ने इस लिए कहा है कि किसी के प्रति बुरा विचार मत लाओ, नहीं तो आत्मा का पतन हो जायेगा और अकारण उसके साथ शत्रुता हो जायेगी । मनमें जो भी भाव उठते हैं, तत्काल उनका ध्यान करो—अतः अप्रशस्त लेश्या को छोड़ने का प्रयत्न कर प्रशस्त लेश्या में अपने चित्त को लगायें ।

•६६•२२ लेश्या और ज्ञान

•१ लेश्या और विभंग ज्ञान

(क) (असोच्चा णं भंते !)

× × × अणया कयावि सुभेण अञ्जवसाणेणं, सुभेणं परिणामेणं, लेस्साहिं विमुञ्जमाणीहिं × × × विन्भेगे नामं अण्णाणे समुप्पज्जइ ।

—भग० श ६ । उ ३१ । सू ३३

अश्रुत्वा वात तपस्वी के (मिथ्यात्वी का तप) किसी दिन, शुभ अध्यवसाय, शुभ परिणाम और विद्युद्धिमान लेश्या के कारण विभंग अज्ञान उत्पन्न होता है ।

पांच परमेष्ठी के रंगों की प्रभा के ध्यान से प्रत्येक रंग को ज्योतिर्मय देखना है । अपने आराध्य की आकृति, स्वयं की छाया तथा आसपास के वातावरण को हल्के रंग से पुता हुआ देखना है । यदि केन्द्रों को ध्यान में रखा जाए तो बहुत जल्दी मंत्र सिद्ध हो सकता है ।

पंच परमेष्ठी के केन्द्र स्थान

१—अरिहंत	मस्तकस्थान
२—सिद्ध	भृकुटिस्थान
३—आचार्य	हृदयस्थान
४—उपाध्याय	नाभिस्थान
५—साधु	चरण-कमल

आर्त्त-रौद्र ध्यान में बहने वाला व्यक्ति सत्ता और संपत्ति के पीछे दौड़ता है अतः वह अपनी प्रतिष्ठा और गरिमा को कभी सुरक्षित नहीं रख पाता ।

अधिक्रोधी व्यक्ति में अप्रशस्त लेश्या का सद्भाव रहता है क्रोध में डूबी हुई माता द्वारा बच्चे को स्तनपान कराने पर कभी-कभी बच्चे की मृत्यु हो जाने के उदाहरण भी सामने आये हैं । धृणा से आंतों में छाले हो जाते हैं ; दस्त लगने लगते हैं । ईर्ष्या से घाव व मुंह में छाले हो जाते हैं । क्रोध, भय, लोभ आदि के दुर्गुणों के कारण अनेक बार मृत्यु तक हो जाती है । प्रशस्त लेश्याओं के द्वारा अनेक बीमारियों का उपशमन होता है । अधिकतर बीमारियां मानसिक अशुद्धि की उपज है । रंगों के आधार पर प्रशस्त लेश्याओं के ध्यान से अनेक बीमारियों का इलाज देखा जाता है ।

'६६'२३ लेश्या और गुणस्थान

छल्लेसा जाव सम्मोत्ति ।

—पंचश्वे० भाग १ । सु ३१

टीका—'सम्मोत्ति' अविरतसम्यग्दृष्टि तावत् षडपि लेश्या भवंति ।

प्रथम गुणस्थान से चतुर्थ गुणस्थान तक छहों लेश्या होती हैं ।

सम्यक्वदेशविरतिसर्वविरतानां प्रतिपत्तिकालेषुशुभलेश्यात्रयमेव, तदुत्तरकालं तु सर्वा अपि लेश्याः परावर्त्ततेऽपीति ।

—पंचश्वे० भाग १ । सु ३१ । टीका

देशविरति—पंचम गुणस्थान, सर्वविरति छठे गुणस्थान में छहों लेश्या होती हैं ।

तेजःपद्मलेश्यानां मिथ्यादृष्ट्याद्यप्रमत्तानां लोकस्याऽऽसंख्येय-
भागः । शुक्ललेश्यानां मिथ्यादृष्ट्यादि क्षीणकषायान्तराणां
लोकस्यासंख्येयभागः ।

—सर्वार्थसिद्धि अ १ । सू =

अप्रमत्तसंयत तक तेजो और पद्म लेश्या होती है । प्रथम गुणस्थान से क्षीण
मोहनीय गुणस्थान तक शुक्ललेश्या होती है ।

स्नातक तेरहवें व चौदहवें गुणस्थान वाले होते हैं । अतः तेरहवें गुणस्थान
में शुक्ललेश्या व चौदहवां गुणस्थान अलेशी होता है । भगवती में स्नातक के
लिए परम शुक्ललेश्या का भी व्यवहार हुआ है । यह द्रव्यलेश्या है—क्योंकि
स्नातक में भावलेश्या नहीं होती है । स्नातक अवस्था में शुक्ललेश्या से होने
वाला वेदनीय कर्म का बंध रुक जाता है ।

गुणस्थान में लेश्या

अयदोत्ति छल्लेसाओ (गुणस्थानानि मिथ्यादृष्ट्यादीनि
चत्वारि) ।

—गोक० ३२६

असंयत गुणस्थान पर्यन्त अर्थात् मिथ्यादृष्टिगुणस्थान से चतुर्थगुणस्थान तक
छः लेश्या है ।

(तेजोलेश्यायां) गुणस्थानानि आद्यान्येव सप्तः ।

—गोक० ११६ । टीका

तेजोलेश्या में आदि के सात गुणस्थान होते हैं ।

(पद्मलेश्यायां) गुणस्थानानि ७ ।

—गोक० ११६ । टीका

पद्मलेश्या में प्रथम सात गुणस्थान होते हैं ।

(शुक्ललेश्यायां) गुणस्थानानि १३ ।

—गोक० ११६ । टीका

शुक्ललेश्या में गुणस्थान प्रथम १३ है ।

गुणस्थान और लेश्या

तेजः पद्मयोराद्यानि सप्तः शुक्लायांत्रयोदशसयोगातानि ।

—पंच संग्रह संस्कृत (दि०) परिच्छेद ४ । पृ० १८४

अर्थात् तेजो व पद्मलेश्या में आदि के सात गुणस्थान हैं और शुक्ललेश्या में अंत का एक छोड़कर तेरह गुणस्थान हैं ।

पटमाइचउ छलेसा ।

—पंच सं० (दि०) आधि २ । गा १८७ । पूर्वार्ध

अर्थात् प्रथम गुणस्थान से चौथे गुणस्थान तक छहों लेश्याएं होती हैं ।

'६६'२४ लेश्या और ब्रह्मचर्य

'०१ बत्तीस उपमा से उपमित ब्रह्मचर्य

जंमि य भगंमि होइ सहसा सव्वं संभग्ग-मथिय-चुण्णिय-कुसल्लिय-पल्लट्ट-पडिय-खंडिय-परिसडिय-विणासियं विणयसील-तवनियमगुणसमूहं, तं वंभं भंगवंतं—

गहगण-नक्खत्त-तारगाणं वा जहा उडुपती, × × × भाणेसु य परमसुक्कडभाणं, णाणेसु य परमकेवलं तु सिद्धं, लेसासु य परमसुकलेस्सा × × × एवमणेगा गुणा अहीणा भवंति एकंमि वंभेचेरे ।

—पण्हा० अ ६ । सू २

ब्रह्मचर्य को ३२ उपमा से उपमित किया गया है । उसमें एक उपमा है लेश्याओं में सबसे परम शुक्ललेश्या श्रेष्ठ है । उसी प्रकार सब तपों में ब्रह्मचर्य सबसे श्रेष्ठ तप है ।

“लेश्या शुक्ल सिद्धिपद संबल”

—शीब महिमा

यद्यपि केवली के ज्ञानात्मक भाव मन नहीं होता किन्तु योगरूप मावसिक प्रवृत्ति होती है । भगवती सूत्र के छबीसवें शतक में मनोयोग से वेदनीय कर्म का तेरहवें गुणस्थान में भी बंध होता है अतः केवली के ज्ञानात्मक भाव मन नहीं होता परन्तु योगरूप मानसिक प्रवृत्ति होती है । केवली के शुक्ललेश्या में शुक्लध्यान से होनेवाला वेदनीय कर्म बंधन रुक सकता है ।

'६६'२५ सिद्धान्त ग्रन्थों में लेश्या सम्बन्धित पाठ

'१ नरक और लेश्या

आगमों में नारकी जीवों में कृष्णादि तीन अशुभलेश्या का कथन है । तत्त्वार्थ भाष्य में कहा है ।

“अशुभतर लेश्या । कापोतलेश्या रत्नप्रभायाम्, ततस्तीव्रतर संक्लेशाध्यवसाना कापोता शर्कराप्रभायाम्, ततस्तीव्रतर संक्लेशाध्यवसाना कापोतनीला बालुकाप्रभायाम् । ततस्तीव्रतर संक्लेशाध्यवसाना नीला पंकप्रभायाम् । ततस्तीव्रतर संक्लेशाध्यवसाना नीलकृष्णा धूमप्रभायाम् । ततस्तीव्रतर संक्लेशाध्यवसाना कृष्णा तमः प्रभायाम् । ततस्तीव्रतर संक्लेशाध्यवसाना कृष्णैव महातमः प्रभायामिति ।

—तत्त्वार्थ भाष्य अ २ । सू ३

नारकी में तीन अशुभलेश्या होती है । रत्नप्रभा नारकी में कापोतलेश्या होती है । उससे तीव्रतर संक्लेश-अध्यवसायवाली शर्कराप्रभा में कापोतलेश्या होती है । उससे तीव्रतर संक्लेश अध्यवसायवाली कापोत-नील लेश्या बालुका-प्रभा में होती है । उससे तीव्रतर संक्लेश अध्यवसाय वाली पंकप्रभामें नीललेश्या होती है । उससे तीव्रतर संक्लेश विचार वाली नीलकृष्णलेश्या धूमप्रभा में होती है । उससे तीव्रतर संक्लेश अध्यवसाय वाली कृष्णलेश्या तमप्रभा नारकी में होती है । उससे संक्लेश अध्यवसाय वाली सतवीं नारकी में (महातमःप्रभा नारकी में) कृष्णलेश्या होती है ।

'२ जीव समूहों में लेश्या

देवों की लेश्या

किण्हा नीला काऊ तेऊलेसा य भववंतरिया ।

जोइससोहंमीसाण तेऊलेसा मुण्येयव्वा ॥११५६॥

कपे सणकुमारै माहिंदे चेव वंभलोए य ।

एसु पम्हलेसा तेणं परं सुकललेसाओ ॥११६०॥

—प्रवसा० गा ११५६-६०

भवनपति, वाणव्यंतर में कृष्ण-नील-कापोत और तेजोलेश्या होती है । ज्योतिषी, सौधर्म-ईशान देवों में तेजोलेश्या जाननी चाहिए । सनत्कुमार, माहेन्द्र

व ब्रह्मदेवलोक में पद्मलेश्या, इसके बाद सर्व देवों में (छट्टे-लांतक देव से सर्वार्थ सिद्ध तक) एक शुक्ललेश्या होती है ।

व्याख्या—भवनपति और व्यंतर देवों में कृष्ण, नील, कापोत व तेजोलेश्या-वाले हैं अर्थात् इन देवों में कृष्ण, नील, कापोत व तेजोलेश्या होती है । उनमें भी परमाधाभी देवों (भवनपति का एक भेद है) में केवल कृष्णलेश्या है तथा ज्योतिषी-सौधर्म व ईशान देवलोक के देवों में तेजोलेश्या जाननी चाहिए । सनत्कुमार, माहेन्द्र, ब्रह्मदेवलोक के देवों में पद्मलेश्या होती है । ब्रह्मदेवलोक के बाद—लांतक से अनुत्तर विमान के देवों में शुक्ललेश्या होती है । सब देवों में लेश्या उत्तरोत्तर विशुद्ध, विशुद्धतरलेश्या होती है ।

ये लेश्यायें भावलेश्या के कारण रूप संसार में स्थित कृष्ण आदि द्रव्य रूप, द्रव्य लेश्याओं के रूप में ही स्वीकार करनी चाहिए । परन्तु भाव लेश्या रूप में नहीं । क्योंकि भाव लेश्या अनवस्थित रूप है । ये लेश्यायें बाह्यवर्ण रूप नहीं है । क्योंकि देवों के बाह्यवर्ण प्रज्ञापना आदि में अलग कहा है । और यह विवरण है ।

देव और लेश्या

देवों में कृष्णादि छहों लेश्या होती है । तन्वार्थ सूत्र में कहा है—

“देवश्चतुर्निकायाः । तृतीय पीत लेश्याः ।”

—तन्वार्थ अ ४ । १-२

अर्थात् ज्योतिष्क देवों के पीत लेश्या होती है । प्रथम दो निकाय (भवन वासी-वाणव्यंतर) के कृष्ण, नील, कापोत और पीत लेश्या होती हैं (द्रव्य) ।^१ भावलेश्या छहों हो सकती है । तन्वार्थ सूत्र में कहा है—

“पीतपद्मशुक्ललेश्या द्वित्रिशेषेषु ।”

—तन्वार्थ अ ४ । २२ तथा भाष्य

अर्थात् सौधर्म-ऐशान कल्पों में पीत लेश्या होती है । सानत्कुमार, माहेन्द्र और ब्रह्मलोक में पद्मलेश्या होती है । लान्तक से स्वार्थसिद्ध पर्यंत वैमानिक देवों में शुक्ललेश्या होती है । परन्तु विशुद्ध, विशुद्धतर, विशुद्धतम उत्तरोत्तर कल्पों में फलित कर लेना चाहिए । भावलेश्या छहों ही होती हैं ।

१. पीतान्तर लेश्या —तन्वार्थ ४ । ७

२. आगम में द्रव्यलेश्या की अपेक्षा—देव नारकी का वर्णन है ऐसा लगता है ।

१—तत्त्वार्थ ४ । १ व २

देवाश्चतुर्निकायाः । तृतीयः पीतलेख्याः ।

—ज्योतिषि के पीतलेख्या

२—तत्त्वार्थ ४ । ७

पीतान्तरलेख्या । प्रथम दो देव निकाय (भवनवासी व व्यंतर) के कृष्ण, नील, कापोत और पीत लेख्या (द्रव्य) होती है । भावलेख्या छहों हो सकती है ।

३—तत्त्वार्थ ४ । २३ तथा भाष्य

पीतपद्मशुक्ललेख्या द्वित्रिशेषेषु ।

सौवर्म-ऐशान कल्पों में पीतलेख्या होती है ।

सानत्कुमार, माहेन्द्र और ब्रह्मलोक में पद्मलेख्या होती है ।

लांतक से सर्वार्थसिद्ध पर्यंत वैमानिकों में शुक्ललेख्या होती है ।

विशुद्ध, विशुद्धतर, विशुद्धतम फलित कर लेना चाहिए ।

देवों में भावलेख्या छहों ही होती है ।

४ साधु और लेख्या

साधु-निर्ग्रन्थ में छहों लेख्या हो सकती है । तत्त्वार्थ सूत्र में कहा है—

पुलाकस्योत्तरास्तिस्रो लेख्या भवन्ति ।

बकुशप्रतिसेवनाकुशीलयोः सर्वा षडऽपि ॥

कषायकुशीलस्य परिहारविशुद्धे रिक्तस्स उत्तराः सूक्ष्मं संपरायस्य निर्ग्रन्थ स्नातकयोश्च शुक्लैव केवला भवति ।

अयोगः शैलेशी प्रतिपन्नेऽलेख्यो भवति ।

—तत्त्वार्थ अ ६ । ४६ । भाष्य

पुलाक में उत्तरा तीन लेख्या (तेजो, पद्म, शुक्ललेख्या) होती हैं । बकुश और प्रतिसेवन तथा कुशील में छहों लेख्या होती है । कषायकुशील निर्ग्रन्थ में तीन लेख्या होती है—तेजोलेख्या, पद्मलेख्या व शुक्ललेख्या । सूक्ष्म संपरायचारित्र व निर्ग्रन्थ-स्नातक में एक शुक्ललेख्या होती है । स्नातकों में अयोगिगुणस्थान में लेख्या नहीं है—अलेशी है ।

१६६-२६ पर्यायवाची शब्द

१—लेश्या

२—परिभाषा

(१) गोम्मटसार जीव कांड (४८८) सं० छाया
लिपत्यात्मीकरोति एतया निजपुण्यपुण्यंच ।
जीव इति भवति लेश्या लेश्यागुणज्ञायकाख्याता ॥

जिसके द्वारा जीव अपने पाप और पुण्य से लिप्त करे उसको लेश्या कहते हैं ।

(२) गोम्मटसार जीव कांड (४८९) सं० छाया
योगप्रवृत्तिलेश्या कषायोदयानुरंजिता भवति ।

कषायोदय से अनुरंजित योग की प्रवृत्ति को लेश्या कहते हैं ।

(३) लोकप्रकाश । २८४

कृष्णादि द्रव्य साच्चिव्यात्परिणामो य आत्मनः ।
(स्फटिकस्यैव) तत्रायं लेश्या शब्द प्रवर्तते ॥

कृष्ण वा अन्य वर्ण के कर्म आदि पुद्गलों के संयोग से आत्मा का जो परिणाम होता है वहाँ लेश्या शब्द का प्रयोग होता है ।

(४) लोकप्रकाश । २८५

द्रव्याण्येतानियोगान्तर्गतानीति विचिन्त्यताम् ।
सयोगत्वेन लेश्यानामन्वयव्यतिरेकतः॥

अर्थात् 'अन्वय' तथा व्यतिरेक से लेश्या के सयोगत्व की अपेक्षा (लेश्या) के द्रव्यों को योग के अन्तर्गत समझे ।

(५) प्रज्ञापना-लेश्या पद टीका

लिश्यते आत्मा कर्मणा सह अनया (सा लेश्या) ।

जिससे आत्मा कर्म के साथ लेप होती है वह लेश्या है ।

(६) कृष्णादिद्रव्यसाच्चिव्यात् परिणामो य आत्मनः ।
स्फटिकस्यैव तत्रायं लेश्या शब्दः प्रवर्तते ॥

अर्थात् कृष्णादि द्रव्यों के निमित्त से मुख्यता से स्फटिक की तरह आत्मा के जो परिणाम होते हैं उसमें इस लेख्या शब्द की प्रवृत्ति होती है ।

(७) लेख्या योग के अंतर्गत द्रव्य रूप है

योग द्रव्य कषाय उदय का कारण है । लेख्या से स्थिति पाक विशेष होता है । कषायोदय के अन्तर्गत कृष्णादि लेख्या के परिणाम हैं । किसी आचार्य ने कहा है—असल में लेख्या कषायोदय रूप है ।

(८) प्रज्ञापना लेख्या पद १७ । २ की टीका

कृष्णादि द्रव्य से उत्पन्न या कृष्णादि द्रव्य रूप लेख्या-कृष्णलेख्या । इसी प्रकार अन्य लेख्या का समझना चाहिए ।

जिस प्रकार षट्खंडागम में छहों लेख्याओं को भाव से औदयिक भाव कहा गया है उसी प्रकार जीव काण्ड में भी भाव की अपेक्षा औदयिक भाव कहा गया है ।^१ षट्खंडागम में कहा है—

लेम्साणुवादेण किण्हलेसिय-णीललेस्सिय-काउलेस्सिएसु चनुट्ठाणी ओघं ।

—षट्० सूत्र १-७, ५६ । पु ३

कृष्णादि तीन लेख्याओं में प्रत्येक के ओघ के समान पृथक्-पृथक् चार गुण स्थानों का सद्भाव प्रकट किया है ।

जिस प्रकार परमाणु द्रव्य सर्वात्मस्वरूप से अन्य परमाणु का स्पर्श करता है उसी प्रकार जो द्रव्य सर्वात्मस्वरूप से अन्य द्रव्य का स्पर्श करता है उसका नाम सर्व स्पर्श है ।

सामान्यतः (ओघ आलाप) पर्याप्त जीवों में लेख्या द्रव्य और भाव की अपेक्ष छः लेख्या व अलेशी भी है ।^२ (छः, द्रव्य लेख्या तथा छह भाव लेख्या) है ।

अपर्याप्त सामान्य ओघ आलाप में लेख्या—द्रव्य लेख्या कापोत व शुक्ल, भाव लेख्या छहों कही है ।^३ भले ही अनागत के समय मिथ्यादृष्टि जीव राशि से

१. षट्० १, २, ६०-६३ व जीव का० गा ५५४ पूर्वार्ध

२. षट्० पु० २ । टीका । पृ० ४२०-२१

३. षट्० पु० २ । टीका पृ० ४२२-२३

अधिक हो, किन्तु अतीत के समय मिथ्यादृष्टि जीव राशि से अधिक सम्भव नहीं है । अतः मिथ्यादृष्टि जीव राशि से अधिक सम्भव नहीं है । अतः मिथ्यादृष्टि जीव राशि समाप्त नहीं होती है और अतीत के सब समय समाप्त हो जाते हैं^४ कहा है—

धम्माधम्माकासा तिण्णि वी तुल्लाणि होति थोवाणि ।

वड्ढीदु जीव-पोग्गल-कालागास अणंत गुणा ॥

—षट्० पु० ३ । पृ० २६

इक लेश्या पावै किहाँ ? वीतराग प्रमुख ।

बे लेश्या पावै किहाँ ? तीजी पंचमी नरक ॥१॥

त्रिण लेश्या पावै किहाँ ? विकलेन्द्री प्रमुख लाय ।

चउलेश्या पावै किहाँ ? सुर पृथ्वी अप आद ॥२॥

पंच लेश्या पावै किहाँ ? सत्री अलद्विया मांय ।

छ लेश्या पावै किहाँ ? सुरनर आदि कहाय ॥३॥

ए छहुं लेश्या तणां, उत्तर कहा संक्षेप ।

बलि इक-इकनां छै घणां, इहाँ न कहा प्रक्षेप ॥४॥

—भीणचरवा ढाल ६ । पृ० २५५

वीतराग में एक लेश्या (शुक्ल) मिलती है । तीसरी नारकी में कापोत-नीललेश्या व पांचवीं नारकी में नील-कृष्णलेश्या मिलती है ।

विकलेन्द्रिय में कृष्ण, नील और कापोतलेश्या मिलती है ।

भवनपति व वाणद्वयंतर देवों में कृष्ण, नील, कापोत व तेजोलेश्या मिलती है (द्रव्य की अपेक्षा) पृथ्वी-अप्-वनस्पति में प्रथम चार लेश्या है ।

संज्ञी के अलब्धिक में पञ्चलेश्या को बाद होकर पांच लेश्या मिलती हैं ।

देवों में व मनुष्यों में व तिर्यंचों में छः लेश्या होती है ।

अस्तु आधुनिक विज्ञान में भी जीव के शरीर से किस वर्ण की आभा निकलती है, इसका अनुसंधान हो रहा है तथा इसके तत्कालीन विचारों के साथ वर्णों का तुलनात्मक अध्ययन भी किया जा रहा है ।

४. षट्० पु० ३ । पृ० २७-३० टीका

लेश्याओं का नामकरण वर्णों के आधार पर हुआ है। इस पर यह कल्पना की जा सकती है कि द्रव्यलेश्या के पुद्गल स्कंधों में वर्णगुण की प्रधानता है। यद्यपि आगमों में द्रव्यलेश्या के गंध-रस-स्पर्श गुणों का भी थोड़ा बहुत वर्णन है लेकिन इन तीन गुणों से वर्ण गुण का प्राधान्य अधिक है।

पृथ्वी - आउवणस्सइत्थाथरपत्तेसु लेश चत्तारि ।
गम्भे तिरिय-नरेसु छल्लेसा तिञ्जि सेसाणं ॥

—प्रवसा० गा १११० । उत्तरार्ध

बादर पृथ्वीकाय, बादर अप्काय, बादर प्रत्येक वनस्पतिकाय में प्रथम चार लेश्या है। गर्भज तिर्यंच और गर्भज मनुष्यों में छः लेश्या होती हैं बाकी में। (बाकी के—अग्निकाय, वायुकाय, सूक्ष्म पृथ्वीकाय, अप्काय, साधारण वनस्पतिकाय, पर्याप्त बादर पृथ्वी, जल, प्रत्येक वनस्पतिकाय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय व चतुरिन्द्रिय—संमुच्छिद्यम मनुष्य, संमुच्छिद्यम तिर्यंच पंचेन्द्रिय में।) कृष्ण, नील व कापोतलेश्या होती हैं।

व्याख्या—भवनपति-वाणव्यंतर-ज्योतिषी-सौधर्म-ईशान देवलोक के देव पृथ्वीकायादि में उत्पन्न होने से कितनेक काल तक तेजोलेश्या सम्भव है। जिस लेश्या में जीव मरता है उसी लेश्या में परभव में जीव उत्पन्न होता है। परन्तु पूर्वभव के अन्तिम समय में अन्य लेश्या हो तथा आगामी भव के प्रथम समय में दूसरी लेश्या का परिणाम हो यह बात नहीं होती है। आगम में कहा है कि—जिस लेश्या के द्रव्य को लेकर जीवकाल करता है, उसी लेश्या में जीव उत्पन्न होता है। तिर्यंच-मनुष्य आगामी भव सम्बन्धी लेश्या का काल अन्तर्मुहूर्त व्यतीत होने पर तथा देव नारकी स्वयं-स्वयं की भवसम्बन्धी लेश्या का अन्तर्मुहूर्तकाल अवशेष रहता है तब परलोक में गमन करते हैं।

‘६६’२७ लेश्या और सम्यक्त्व

सम्मत्तस्सयं तीसु उवरिमासु पडिवज्जमाणओ होइ ।

पुव्व पडिवन्नओ पुण अन्नयरीए उ लेसाए ॥

—आव० अ ४

अर्थात् सम्यक्त्व की प्राप्ति के समय ऊपर (अन्तिम) की तीन लेश्या होती है। सम्यक्त्व की प्राप्ति के बाद कृष्णादि छः लेश्याओं में से कोई एक लेश्या हो सकती है।

पंच संग्रह के टीकाकार आचार्य मलयगिरि ने कहा है—

सम्यक्त्वदेशविरतिसर्वविरतीनां प्रतिपत्तिकालेषु शुभलेश्या त्रय-
मेव, तदुत्तरकालं तु सर्वा अपि लेश्याः परावर्त्तन्तेऽपीति ।

—पंच संग्रह भाग १ । सू ३१ । टीका

अर्थात् सम्यक्त्व, देशविरति, सर्वविरति की उपलब्धि के समय लेश्या तीन शुभ होती है । उत्तरवर्त्तिकाल में छहों लेश्या मिल सकती है । इससे और भी पुष्टता हो जाती है कि सातवीं नारकी में सम्यक्त्व की प्राप्ति के समय लेश्यायें हैं ।

आवश्यक सूत्र में भी कहा है—“सम्मत्तस्सय तिसु उवरिमासु पडिव-
ज्जमाणओ होइ, पुव्व पडिवन्नओ पुण अन्नयरीए उ लेसाए” ॥१॥

सम्यक्त्व को स्वीकार करने वाले को ऊपर की तीन लेश्या होती है परन्तु जिन्होंने सम्यक्त्व पहले प्राप्त कर लिया है उनको बाद में किसी भी लेश्या हो सकती है ।

अस्तु ऊपर की अर्थात् अन्तिम की तीन लेश्या नारकी को नहीं होती है क्योंकि सातवीं नारकी में कृष्णलेश्या ही कही गयी है । तथा सौधर्म देवलोक में एक तेजोलेश्या ही कही है । तेजोलेश्या के प्रशस्त परिणाम होने के कारण संगम आदि ने त्रिभुवनपति वर्धमान स्वामी को रौद्र उपसर्ग करने की बात घटित नहीं होती है । तथा कहा है कि कापोत, नील और कृष्ण—ये तीन लेश्या नरक में होती है । आदिरूप नियम भी विरोध को प्राप्त होंगे । जीव समास में कहा है कि देव-नारकी को—द्रव्यलेश्या होती है व भापरवर्त्तन की अपेक्षा देव-नारकी को छः लेश्या होती है ; ऐसा मानना चाहिए ।

प्रश्न का समाधान—शास्त्र का अभिप्राय न जानने के कारण यह बात वास्तविक रूप से घटित नहीं होती है । लेश्या शब्द की व्याख्या शुभाशुभ-परिणाम विशेष है ; उन परिणाम विशेष को उत्पन्न करने वाले कृष्णादिरूप द्रव्य हमेशा जीव के समीप रहते हैं । इन कृष्णादि द्रव्यों से जीव के जो परिणाम विशेष होते हैं । वे ही मुख्य तथा लेश्या शब्द से अभिहित किये जाते हैं । गौणरूप कारण में कार्य का उपचार होता है यह न्याय इस कृष्णादि रूप द्रव्य-लेश्या शब्द रूप में विवक्षित है ।

अतः सातवीं नारकी में भी भाव परावृत्ति की अपेक्षा छहों लेश्याएँ होती हैं । वे मिथ्यादृष्टि नारकी तेजो आदि शुभ लेश्या में सम्यक्त्व को प्राप्त करते हैं ।

नोट—आगमों में ब्रह्मचर्य महाव्रत को बत्तीस उपमा से सम्बोधित किया गया है ; उसमें एक उपमा शुक्ललेख्या की भी है । सब व्रतों में जिस प्रकार ब्रह्मचर्य-व्रत प्रधान है उसी प्रकार सब लेख्याओं में शुक्ललेख्या प्रधान है ।^१

पंच संग्रह में चन्द्रविं महत्तर ने कहा है—

× × × छल्लेसा जाव सम्मोत्ति ।

—पंच संग्रह भाग १ । सू ३१

टीका—सम्मोत्ति अविरत-सम्यग्दृष्टिस्तावत् षडपि लेख्या भवति ।

अर्थात् प्रथम गुणस्थान से चतुर्थ गुणस्थान तक छहों लेख्या होती हैं अतः मिथ्यादृष्टि में छहों लेख्या होती है । षट्संज्ञागम में अनाहारिक मिथ्यादृष्टि में भी छहों भावलेख्या का उल्लेख मिलता है ।

—षट्० पु २ । पृ० ५२

तेसिं चैव भिच्छाद्दृष्टीणं पञ्जत्तोषे भण्णमाणे अत्थि × × × दब्ब-भावेहिं छल्लेसाओ × × × तेसिं चैव अपञ्जत्तोषे भण्णमाणे अत्थि × × × दब्बेण काउ-सुक्कलेसाओ, भावेण छलेस्साओ ।

—षट्० १ । १ । पु २ । पृ० ४२४-२५

अर्थात् अनाहारिक मिथ्यादृष्टि में द्रव्य की अपेक्षा शुक्ललेख्या तथा भाव की अपेक्षा छहों लेख्याएँ होती हैं । फिर षट्संज्ञागम में टीकाकार आचार्य बीरसेन ने कहा है ।

'६६'२८ देवता और तेजोलेख्या-लब्धि—

तए णं सा बलिचंचा रायहाणी ईसाणेणं देविदेणं देवरत्ता अहे, सपक्खि सपडिदिसिं समभिलोइया समाणी तेणं दिव्वप्पभावेणं इं गालब्भूया मुम्मुरभूया छारियब्भूया तत्तकवेल्लकब्भूया तत्ता समजोइब्भूया जाया यावि होत्था, तए णं ते बलिचंचारायहाणिवत्थव्वया बहवे असुरकुमारा देवा य, देवीओ य तं बलिचंचारायहाणि इज्जालब्भूयं, जाव—समजोइब्भूयं पासति, पासित्ता भीया, उतत्था सुसिया,

१. प्रश्नव्याकरण अ ६

उन्विग्गा, संजायभया, सव्वओ समंता आधावेति, परिधावेति, अन्नमन्नस्स कायं समतुरंगेमाणा चिट्ठंति, तए णं ते बल्लिचंचाराय-हाणिवत्थव्वया बहवे असुरकुमारा देवा य, देवीओ य ईसाणं देविदं, देवरायं परिकुव्वियं जाणित्ता, ईसाणस्स देविदस्स, देवरओ तं दिव्वं देवड्ढिं; दिव्वं देवज्जुइं, दिव्वं देवाणुभागं, दिव्वं तेयलेस्सं असहमाणा सव्वे सपक्खिं सपड्ढिदिसिं ठिच्चा करयलपरिग्गाहियं दसनहं सिरसावत्तं मत्थएअंजलि कट्ठु जएणं विजएणं बद्धावित्ति, एवं वयासी—अहो णं देवाणुप्पिएहिं दिव्वा देविड्ढी, जाव अभिसमन्ना गया तं दिव्वा णं देवाणुप्पियाणं दिव्वा देविड्ढी, जाव लद्धा, पत्ता, अभिसमन्नागया, तं खामेमो देवाणुप्पिया ! खमंतु देवाणुप्पिया ! [खमंतु] मरिहंतु णं देवाणुप्पिया ! णाइ भुज्जो-भुज्जो एवं करणयाएणंत्ति कट्ठु एयमट्ठं सम्मं विणएणं भुज्जो-भुज्जो खामेति, तए णं से ईसाणे देविदे देवराया तेहिं बल्लिचंचारायहाणिवत्थव्वेहिं बहूहिं असुरकुमारेहिं देवेहिं देवीहि य एयमट्ठं सम्मं विणएणं भुज्जो-भुज्जा खामिए समाणे तं दिविड्ढिं, जाव तेयलेस्सं पडिसाहरइ ।

—भग० श ३ । उ १ । सू. १७ । पृ० ४४६

जब ईशान देवेन्द्र देवराज ने नीचे, समक्ष, सप्रतिदिशा में बलिचंचा राजधानी की तरफ देखा तब उसके दिव्य प्रभाव से वह बलिचंचा राजधानी अंगार जैसी, अग्निकण जैसी, राख जैसी, तपी हुई बालुका जैसी तथा अत्यन्त तप्त लपट जैसी हो गई । उससे बलिचंचा राजधानी में रहनेवाले अनेक असुरकुमार देव-देवी बलिचंचा को अंगार यावत् तप्त लपट जैसी हुई देखकर, भयभीत हुए, त्रस्त हुए, उद्विग्न हुए, भयप्राप्त हुए, चारों तरफ दौड़ने लगे, भागने लगे आदि । और उन देव-देवियों ने यह जान लिया कि ईशान देवेन्द्र देवराज कुपित हो गया है और वे उस ईशान देवेन्द्र देवराज की दिव्य देवऋद्धि, दिव्य देवकान्ति, दिव्य देवप्रभाव तथा दिव्यतेजोलेख्या सह नहीं सके । तब वे ईशान देवेन्द्र देवराज के सामने, ऊपर, समक्ष, सप्रतिदिशा में बैठकर करबद्ध होकर नतमस्तक होकर ईशान देवेन्द्र देवराज की जय-विजय बोलने लगे तथा क्षमा मांगने लगे । तब उस ईशानेन्द्र ने दिव्य देवऋद्धि यावत् निक्षिप्त तेजोलेख्या को वापस खींच लिया ।

नोट—जैसे साधु की तपोलब्धि से प्राप्त तेजोलेख्या अंग-बर्णादि १६ देशों को भस्मीभूत करने में समर्थ होती है (देखो '२५'४) वैसे ही देवताओं की तेजो-

लेश्या भी प्रखर, तेज वा तापवाली होती है। ऐसा उपयुक्त वर्णन से प्रतीत होता है।

‘६६’२६ तैजससमुद्घात और तेजोलेश्या-लब्धि—

तैजससमुद्घातस्तेजोलेश्याविनिर्गमनकाले तैजसनामकर्म पुद्गल-परिशातहेतुः।

—पण्ण० प ३६। गा १। टीका

असुरकुमारादीनां दशानामपि भवनपतीनां तेजोलेश्यालब्धि-भावात् आद्याः पंच समुद्घाताः × × × पंचेन्द्रियतिर्यग्योनिकानामाद्याः पंच, केषांचित्तेषां तेजोलब्धेरपि भावात्, मनुष्याणाम् सप्त, मनुष्येषु सर्वसम्भवात्, व्यन्तरज्योतिष्कर्ममानिकानामाद्याः पंच, वैक्रियतेजोलब्धिभावात्।

—पण्ण० प ३६। सू १। टीका

तेजोलेश्या लब्धि वाला जीव ही तैजससमुद्घात करने में समर्थ होता है। तिर्यंच पंचेन्द्रिय, मनुष्य तथा देवों में तेजोलेश्या-लब्धि होती है। तैजससमुद्घात करने के समय तेजोलेश्या निकलती है तथा उसके निर्गमन काल में तैजस नामकर्म का क्षय होता है।

‘६६’३० लेश्या और कषाय—

कषायपरिणामश्चावश्यं लेश्यापरिणामाविनाभावी, तथाहि—लेश्यापरिणामः सयोगिकेवलिनमपि यावद् भवति, यतो लेश्यानां स्थितिनिरूपणावसरे लेश्याध्ययने शुक्ललेश्याया जघन्या उत्कृष्टा च स्थितिः प्रतिपादिता—

मुहुत्तद् तु जहन्ना उक्कोसा होइ पुण्वकोडी उ।

नवहिं वरिसेहि ऊणा नायन्वा सुक्कलेसाए ॥ इति

सा च नववर्षेनपूर्वकोटिप्रमाणा उत्कृष्टा स्थितिः शुक्ललेश्यायाः सयोगिकेवलिन्युपपद्यते, नान्यत्र, कषायपरिणामस्तु सूक्ष्मसंपरायं यावद् भवति, ततः कषायपरिणामो लेश्यापरिणामाऽविनाभूतो

लेश्यापरिणामश्च कषायपरिणामं विनापि भवति, ततः कषाय-परिणामानन्तरं लेश्यापरिणाम उक्तः, न तु लेश्यापरिणामानन्तरं कषायपरिणामः ।

—पृष्ण० प १३ । सू २ । टीका

कषाय और लेश्या का अविनाभावी सम्बन्ध नहीं है । जहाँ कषाय है वहाँ लेश्या अवश्य है लेकिन जहाँ लेश्या है (अन्ततः जहाँ शुक्ललेश्या है) वहाँ कषाय नहीं भी हो सकता है । यथा—केवलज्ञानी के कषाय नहीं होता है तो भी उसके लेश्या के परिणाम होते हैं, यद्यपि वह शुक्ललेश्या ही होती है । इस शुक्ललेश्या की उत्कृष्ट स्थिति—नव वर्ष कम पूर्व कोटि प्रमाण से प्रतिपादित होती है क्योंकि यह स्थिति सयोगी केवली में ही सम्भव है, अन्यत्र नहीं ; और सयोगी केवली अकषायी होते हैं । अतः यह कहा जाता है कि लेश्या-परिणाम कषाय-परिणाम के बिना भी होता है ।

अब प्रश्न उठता है कि लेश्या और कषाय जब सहभावी होते हैं तब एक दूसरे पर क्या प्रभाव डालते हैं । कई आचार्य कहते हैं कि लेश्या-परिणाम कषाय-परिणाम से अनुरंजित होते हैं—

कषायोदयाऽनुरंजिता लेश्या ।

कषाय और लेश्या के पारस्परिक सम्बन्ध में अनुसंधान की आवश्यकता है ।

*१६*३१ लेश्या और योग—

लेश्या और योग में अविनाभावी सम्बन्ध है । जहाँ योग है वहाँ लेश्या है । जो जीव सलेशी है वह सयोगी है तथा जो अलेशी है वह अयोगी भी है । जो जीव सयोगी है वह सलेशी है तथा जो अयोगी है वह अलेशी भी है ।

कई आचार्य योग-परिणामों को ही लेश्या कहते हैं ।

यत् उक्तं प्रज्ञापनावृत्तिकृता ।

योगपरिणामो लेश्या, कथं पुनर्योगपरिणामो लेश्या ?, यस्मात् सयोगी केवली शुक्ललेश्यापरिणामेन विहृत्यान्तमुहूर्त्ते शोषे योग-निरोधं करोति ततोऽयोगीत्वमलेश्यत्वं च प्राप्नोति अतोऽवगम्यते 'योगपरिणामो लेश्ये'ति, स पुनर्योगः शरीरनामकर्मपरिणतिविशेषः,

यस्मादुक्तम्—“कर्म हि कार्मणस्य कारणमन्येषां च शरीराणामिति,” तस्मादौदारिकादिशरीरयुक्तस्यात्मनो वीर्यपरिणतिविशेषः काय-योगः, तथौदारिकवैक्रियाहारकशरीरव्यापाराहृतवाग्द्रव्यसमूह-साचिव्यात् जीवव्यापारो यः स वाग्योगः, तथौदारिकादिशरीर-व्यापाराहृतमनोद्रव्यसमूहसाचिव्यात् जीवव्यापारो यः स मनोयोग इति, ततो तथैव कायादिकरणयुक्त्यात्मनो वीर्यपरिणतियोग उच्यते तथैव लेश्यापीति ।

—ठाण० स्था १ । सू ५१ । टीका

प्रज्ञापना के वृत्तिकार कहते हैं—

योग-परिणाम लेश्या है । क्योंकि सयोगी केवली शुक्ललेश्या परिणाम में विहरण करते हुए अबशिष्ट अन्तर्मुहूर्त में योग का निरोध करते हैं तभी वे अयोगीत्व और अलेश्यत्व को प्राप्त होते हैं । अतः यह कहा जाता है कि योग-परिणाम ही लेश्या है । वह योग भी शरीर नामकर्म की विशेष परिणति रूप ही है क्योंकि कर्म कार्मण शरीर का कारण है और कार्मण शरीर अन्य शरीरों का । इसलिए औदारिक आदि शरीर वाले आत्मा की वीर्य परिणति विशेष ही काययोग है । इसी प्रकार औदारिक-वैक्रियाहारक शरीर व्यापार से ग्रहण किये गए वाक् द्रव्यसमूह के सन्निधान से जीव का जो व्यापार होता है वह वाक् योग है । इसी तरह औदारिकादि शरीर व्यापार से गृहीत मनोद्रव्य समूह के सन्निधान से जीव का जो व्यापार है वह मनोयोग है । अतः कायादिकरणयुक्त आत्मा की वीर्य परिणति विशेष को योग कहा जाता है और उसी को लेश्या कहते हैं ।

तेरहवें गुणस्थान के शेष अन्तर्मुहूर्त के प्रारम्भ में योग का निरोध प्रारम्भ होता है । मनोयोग तथा वचनयोग का सम्पूर्ण निरोध हो जाता है तथा काय-योग का अर्ध निरोध होता है (देखो '६५' १०) । उस समय में लेश्या का कितना निरोध या परित्याग होता है इसके सम्बन्ध में कोई तथ्य या पाठ उपलब्ध नहीं हुआ है । अवशेष अर्ध काययोग का निरोध होकर जब जीव अयोगी हो जाता है तब वह अलेशी भी हो जाता है । अलेशी होने की क्रिया योग निरोध के प्रारम्भ होने के साथ-साथ होती है या अर्ध काययोग के निरोध के प्रारम्भ के साथ-साथ होती है—यह कहा नहीं जा सकता । लेकिन यह निश्चित है कि जो सयोगी है वह लेशी है तथा जो अयोगी है वह अलेशी है ।

जो सलेशी है वह सयोगी है तथा जो अलेशी है वह अयोगी है। योग और लेश्या का पारस्परिक सम्बन्ध क्या है—आगमों के आधार पर यह मिश्रित रूप से कहा नहीं जा सकता है।

द्रव्यलेश्या के पुद्गल कैसे ग्रहण किये जाते हैं, यह भी एक विवेचनीय विषय है। द्रव्य मनोयोग तथा द्रव्य वचनयोग के पुद्गल काययोग के द्वारा ग्रहण किये जाते हैं। क्या यह कहा जा सकता है कि द्रव्य लेश्या के पुद्गल भी काययोग के द्वारा ग्रहण किये जाते हैं।

जब जीव मन-अयोगी तथा वचन-अयोगी होता है उस समय वह कियदर्श में भी अलेश्यत्व को प्राप्त होता है या नहीं—यह विचारणीय विषय है। यदि नहीं हो तो यह सिद्ध हो जाता है कि लेश्या का काययोग के साथ सम्बन्ध है और जब अर्धकाययोग का निरोध होता है तभी जीव अलेश्यत्व को प्राप्त नहीं होता है परन्तु लेश्या से होने वाला कर्मबंध रुक जाता है।

लेश्या की दो प्रक्रियायें हैं—(१) द्रव्यलेश्या के पुद्गलों का ग्रहण तथा (२) उनका प्रायोगिक परिणमन। जब योग का निरोध प्रारम्भ होता है उस समय से लेश्या द्रव्यों का ग्रहण भी बंद हो जाना चाहिये तथा योग निरोध की सम्पूर्णता के साथ-साथ पूर्वकाल में गृहीत तथा अपरित्यक्त द्रव्यलेश्या के पुद्गलों का प्रायोगिक परिणमन भी सम्पूर्णतः बन्द हो जाना चाहिये।

१६१*३२ लेश्या और कर्म—

कर्म और लेश्या शाश्वत भाव हैं। कर्म और लेश्या पहले भी हैं, पीछे भी हैं, अनानुपूर्वी हैं। इनका कोई क्रम नहीं है। न कर्म पहले है, न लेश्या पीछे है; न लेश्या पहले है, न कर्म पीछे। दोनों पहले भी हैं, पीछे भी हैं, दोनों शाश्वत भाव हैं, दोनों अनानुपूर्वी हैं। दोनों में आगे-पीछे का क्रम नहीं है (देखो १६४)। भावलेश्या जीवोदय निष्पन्न है (देखो ०५*५२*५)। द्रव्यलेश्या अजीवोदयनिष्पन्न है (०५*५१*१४)। यह जीवोदय-निष्पन्नता तथा अजीवोदय-निष्पन्नता किस-किस कर्म ले उदय से हैं—यह पाठ उपलब्ध नहीं हुआ है। तेरापंथ के चतुर्थ आचार्य जयाचार्य का कहना है कि कृष्णादि तीन अप्रशस्त लेश्या—मोहकर्मोदयनिष्पन्न हैं तथा तेजो आदि तीन प्रशस्त लेश्या-नामकर्मोदय-निष्पन्न हैं। विद्युद्ध होती हुई लेश्या कर्मों की निर्जरा में सहायक होती है (देखो १६१*२)। टीकाकारों का कहना है—

“कर्मनिस्थन्दो लेश्येति सा च द्रव्यभावभेदान् द्विधा, तत्र द्रव्य-
लेश्या कृष्णादिद्रव्याण्येव, भावलेश्या तु तज्जन्यो जीवपरिणाम
इति ।”

“लिश्यते प्राणी कर्मणा यथा सा लेश्या ।” यदाह—“श्लेष इव
वर्णबन्धस्य कर्मबंधस्थितिविधात्रयः ।”

—अभयदेवमूरि (देखो '०५ '०५३'१)

अष्टानामपि कर्मणां शास्त्रे विपाका वर्ण्यन्ते, न च कस्यापि
कर्मणो लेश्यारूपो विपाक उपदर्शितः ।

—मलयगिरि (देखो '०५३'२)

यद्यपि लेश्या कर्मनिर्णयन रूप है तो भी अष्टकर्मों के विपाकों के वर्णन में
आगमों में कहीं लेश्यारूपी विपाक का वर्णन नहीं है ।

लेश्यास्तु येषां भंते कषायनिष्पन्दो लेश्याः तन्मतेन कषायमोहनी-
योदयजत्वाद् औदयिक्यः, यन्मतेन तु योगपरिणामो लेश्याः तदभि-
प्रायेण योगत्रयजनककर्मोदयप्रभवाः, येषां त्वष्टकर्मपरिणामो लेश्या-
स्तन्मतेन संसारित्वासिद्धत्ववद् अष्टप्रकारकर्मोदयजा इति ॥

—चतुर्थ कर्म० गा ६६ । टीका

जिनके मत में लेश्या कषायनिष्पन्द रूप है उनके अनुसार लेश्या कषायमोहनीय
कर्म के उदय जन्य औदयिकी भाव है । जिनके मत में लेश्या योगपरिणाम रूप है
उनके अनुसार जो कर्म तीनों योगों के जनक हैं वह उन कर्मों के उदय से उत्पन्न
होनेवाली है । जिनके मत में लेश्या आठों कर्मों के परिणाम रूप है उनके
मतानुसार वह संसारित्व तथा असिद्धत्व की तरह अष्ट प्रकार के कर्मोदय से
उत्पन्न होनेवाली है ।

कई आचार्यों का कथन है कि लेश्या कर्मबंधन का कारण भी है, निर्जरा
का भी । कौन लेश्या कब बंधन का कारण तथा कब निर्जरा का कारण होती
है, यह विवेचनीय प्रश्न है ।

'६६'३३ लेश्या और अध्यवसाय—

लेश्या और अध्यवसाय का घनिष्ठ सम्बन्ध मालूम पड़ता है ; क्योंकि जाति-
स्मरण आदि ज्ञानों की प्राप्ति में अध्यवसायों के शुभतर होने के साथ लेश्या

परिणाम भी विशुद्धतर होते हैं। इसी प्रकार अध्यवसाय के अशुभतर होने के साथ लेश्या की अविशुद्धि घटती है।

ऐसा मालूम पड़ता है कि छत्रों लेश्याओं में प्रशस्त-अप्रशस्त दोनों प्रकार के अध्यवसाय होते हैं।

पञ्जत्ता असन्निपंचिदियतिरिक्खजोणिए णं भंते ! जे भविए रयणप्पभाए पुढवीए नेरइएसु उववज्जित्तए × × × तेसि णं भंते ! जीवाणं कइ लेस्साओ पन्नत्ताओ ? गोयमा ! तिन्नि लेस्साओ पन्नत्ताओ, तं जहा—कण्हलेस्सा, नीललेस्सा, काऊलेस्सा । × × × तेसि णं भंते ! जीवाणं केवइया अज्भवसाणा पन्नत्ता ? गोयमा ! असंखेज्जा अज्भवसाणा पन्नत्ता । ते णं भंते ! किं पसत्था अपसत्था ? गोयमा ! पसत्था वि अपसत्था वि ।

—भग० श २४ । उ १ । सू ७, १२, २४, २५ । पृ० ८१५-१६

सव्वट्ठसिद्धगदेवे णं भंते ! जे भविए मणुस्सेसु उववज्जित्तए० ? सा चेव विजयादिदेव वत्तव्वया भाणियव्वा । नवरं ठिई अजहन्न-मनुक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोधमाइ' । एवं अणुबंधो वि । सेसं तं चेव ।

—भग० श २४ । उ २१ । सू १७ । पृ० ८४६

उपरोक्त पाठों से यह स्पष्ट है कि कृष्ण, नील तथा कापोतलेश्या वाले जीवों में प्रशस्त तथा अप्रशस्त दोनों अध्यवसाय होते हैं तथा शुक्ललेश्या में भी दोनों अध्यवसाय होते हैं। अतः छत्रों लेश्याओं में दोनों अध्यवसाय होने चाहिये।

'६६'३४ किस और कितनी लेश्या में कौन से जीव—

'६६'३४'१ एक लेश्या वाले जीव—

कृष्णलेश्या वाले जीव—(१) तमप्रभा नारकी, (२) तमतमाप्रभा नारकी ।

नीललेश्या वाले जीव—(१) पंकप्रभा नारकी ।

कापोतलेश्या वाले जीव—(१) रत्नप्रभा नारकी, (२) शर्कराप्रभा नारकी ।

तेजोलेश्या वाले जीव—(१) ज्योतिषी देव, (२) सौधर्म देव, (३) ईशान देव, (४) प्रथम कित्त्विषी देव ।

पद्मलेश्या वाले जीव—(१) सनत्कुमारदेव, (२) माहेन्द्रदेव, (३) ब्रह्मलोक देव, (४) द्वितीय कित्त्विषी देव ।

शुक्ललेश्या वाले जीव—(१) लान्तकदेव, (२) महाशुक्रदेव, (३) सहस्रार देव, (४) आनत देव, (५) प्राणत देव, (६) आरण देव, (७) अच्युत देव, (८) नव श्रैवेयक देव, (९) विजय-अनुत्तरौपपातिक देव, (१०) वैजयन्त अनुत्तरौपपातिक देव, (११) जयन्त अनुत्तरौपपातिक देव, (१२) अपराजित अनुत्तरौपपातिक देव, (१३) सर्वार्थसिद्धअनुत्तरौपपातिक देव ।

‘६६’३४’२ दो लेश्या वाले जीव—

कृष्ण तथा नील लेश्या वाले जीव—(१) धूमप्रभा नारकी ।

नील तथा कापोत लेश्या वाले जीव—(१) बालकाप्रभा नारकी ।

‘६६’३४’३ तीन लेश्या वाले जीव—

कृष्ण-नील-कापोत लेश्या वाले जीव—(१) नारकी, (२) अग्निकाय, (३) वायुकाय, (४) द्वीन्द्रिय, (५) त्रीन्द्रिय, (६) चतुरिन्द्रिय, (७) असंज्ञी तिर्यंच पंचेन्द्रिय, (८) असंज्ञी मनुष्य, (९) सूक्ष्म स्थावर जीव, (१०) ब्राह्मर निगोद जीव ।

तेजो-पद्म-शुक्ललेश्या वाले जीव—(१) वैमानिक देव, (२) पुलाक निर्मन्थ, (३) बकुश निर्मन्थ, (४) प्रतिसेवनाकुशील निर्मन्थ, (५) परिहारविशुद्ध संयती, (६) अप्रमादी साधु ।

‘६६’३४’४ चार लेश्या वाले जीव—

कृष्ण-नील-कापोत-तेजोलेश्या वाले जीव—(१) पृथ्वीकाय, (२) अप्-काय, (३) वनस्पतिकाय, (४) भवनपति देव, (५) वानव्यन्तर देव, (६) युगलिया, (७) देवियाँ ।

‘६६’३४’५ पांच लेश्या वाले जीव—

कृष्ण यावत् पद्मलेश्या वाले जीव—(१) अपनी जघनस्थितिवाले पर्याप्त संख्यात वर्ष की आयुवाले संज्ञी तिर्यंच पंचेन्द्रिय जीव जो सनत्कुमार, माहेन्द्र तथा ब्रह्मलोक देवों में उत्पन्न होने योग्य है ।

६६३४६ छः लेश्या वाले जीव—

कृष्ण यावत् शुक्ललेश्या वाले जीव—(१) तिर्यञ्च पञ्चेन्द्रिय, (२) मनुष्य, (३) देव, (४) सामायिक संयत, (५) छेदोपस्थानीय संयत, (६) कपाय कुशील निग्रन्थ, (७) संयत ।

६६३४७ अलेशी जीव—(१) अयोगी मनुष्य, (२) सिद्ध ।

६६३५ भूलावण (प्रति सन्दर्भ) के पाठ—

(क) कइ णं भंते ! लेस्साओ पण्णत्ताओ ? गोयमा ! छ लेस्साओ पण्णत्ता(ओ), तंजहा, लेस्साणं विइओ उइसो भाणियव्वो, जाव—इड्डी ।

—भग० श १ । उ २ । सू ६८ । पृ० ३६३

प्रज्ञापना लेश्या पद १७ उद्देशक २ की भूलावण ।

(ख) नेरइए णं भंते ! नेरइएस उववज्जइ अनेरइए नेरइएसु उववज्जइ ? पन्नवणाए लेस्सापए तइओ उइसओ भाणियव्वो जाव नाणाइ ।

—भग० श ४ । उ ६ । पृ० ४६८

प्रज्ञापना लेश्या पद १७, उद्देशक ३ की भूलावण ।

(ग) से नूणं भंते ! कण्हलेस्सा नीललेस्सं पप्प तारूवत्ताए तावणत्ताए एवं चउत्थो उइसओ पन्नवणाए चेव लेस्सापए नेयव्वो जाव—

परिणामवण्णरसगंध सुद्ध अपसत्थ संकिलिट्ठुण्हा ।

गइपरिणामपदेसोगाहणवग्गणा ठाणमप्पबहुं ॥

—भग० श ४ । उ १० । पृ० ४६८

प्रज्ञापना लेश्या पद १७, उद्देशक ४ की भूलावण ।

(घ) इमीसे णं भंते ! रयणपभाए पुढवीए तीसाए निरयावास-सयसहस्सेसु असंखेज्जवित्थडेसु नरएसु एगसमएणं केवइया उववज्जंति जाव केवइया अणागारोवउत्ता उववज्जंति । × × × नाणत्तं लेस्सासु लेस्साओ जहा पढमसए ।

—भग० श १३ । उ १ । सू ७ पृ० ६७८

भगवती श १ । उ २ । सू ६८ की भुलावण । उसमें प्रज्ञापना लेश्या पद १७, उद्देशक २ की भुलावण ।

(च) कइ णं भंते ! लेस्साओ पन्नत्ताओ ? गोयमा ! छल्लेसाओ पन्नत्ताओ, तं जहा—एवं जहा पणवणाए चउत्थो लेसुद्देसओ भाणियव्वो निरवसेसो ।

—भग० श १६ । उ १ । पृ० ७८१

प्रज्ञापना लेश्यापद १७ के चतुर्थ उद्देशक की भुलावण ।

(छ) कइ णं भंते ! लेस्साओ प० ? एवं जहा पन्नवणाए गन्मुद्देसो सो चेव निरवसेसो भाणियव्वो ।

—भग० श १६ । उ २ । पृ० ७८१

प्रज्ञापना लेश्यापद १७ के गर्भ उद्देशक की भुलावण ।

(ज) तेणं कालेणं तेणं समएणं रायगिहे जाव एवं वयासी—कइ णं भंते ! लेस्साओ पन्नत्ताओ ? गोयमा ! छ लेस्साओ पन्नत्ताओ, तं जहा—कण्हलेस्सा जहा पढमसए बिइए उद्देसए तहेव लेस्साविभागो । अप्पाबहुगं च जाव चउन्विहाणं देवाणं चउन्विहाणं देवीणं मीसगं अप्पाबहुगंति ।

—भग० श २५ । उ १ । सू १ । पृ० ८५१

भग० श १ । उ २ । सू ६८ की भुलावण ।

(झ) से नूणं भंते ! कण्हलेस्सा नीललेस्सं पप्प तारूवत्ताए तावन्नत्ताए तागंधत्ताए तारसत्ताए ताफासत्ताए भुज्जो भुज्जो परिणमइ ? इत्तो आढत्तं जहा चउत्थओ उद्देसओ तहा भाणियव्वं जाव वेहालयमणिदिट्ठं तो त्ति ।

—पण० प १७ । उ ५ । सू ५४ । पृ० ४५०

प्रज्ञापना लेश्या पद १७ । उद्देशक ४ की भुलावण ।

(ञ) कइ णं भंते ! लेस्साओ पन्नत्ताओ ? गोयमा ! छ लेस्साओ पन्नत्ताओ, तं जहा—कण्हा, नीला, कारू, पम्हा, सुक्का एवं लेस्सापथं भाणियव्वं ।

—सम० पृ० ३७५

प्रज्ञापना लेख्या पद १७ की मुलावण ।

*६६*३६ सिद्धान्त ग्रन्थों से लेख्या सम्बन्धी पाठ—

*६६*३६*१ देवेन्द्रसूरि विरचित कर्म ग्रन्थों से—

(क) लेख्या और कर्म प्रकृतियों का बंध—

ओहे अट्टारसयं आहारदुगुण आइलेसतिगे ।
तं तित्थोणं मिच्छे साणाइसु सव्वहिं ओहो ॥
तेऊ नरयनवूणा, उजोयचउ नरयवार विणु सुक्का ।
विणुनरयवार पम्हा, अजिणाहारा इमा मिच्छे ॥

—तृतीय कर्म० गा २१, २२

(ख) लेख्या और गुणस्थान—

तिसु दुसु सुक्काइ गुणा, चउ सग तेरत्ति बंध सामित्तं ।
देविंदसूरिलिहियं, नेयं कम्मत्थयं सोउं ॥

—तृतीय कर्म० गा २४

तथाहि—

लेसा तिभि पमत्तं, तेऊपम्हा उ अप्पमत्तंता ।
सुक्का जाव सजोगी, निरुद्धलेसो अजोगि त्ति ॥

—जिनवल्लभीय षडशीति गा० ७३

छसु सव्वा तेउतिगं, इंगि छसु सुक्का अजोगि अल्लेसा ।

—चतुर्थ कर्म० गा ५० । पूर्वार्ध

(ग) विभिन्न जीवों में कितनी लेख्या—

(१) सन्निटुगि छलेस अपब्जबायरे पढम चउ ति सेसेसु ।

—चतुर्थ कर्म० गा ७ । पूर्वार्ध

(२) अहखाय सुहुम केवलदुगि सुक्का छावि सेसठाणेसु ।

—चतुर्थ कर्म० गा ३७ । पूर्वार्ध

टीका—यथाख्यातसंयमे सूक्ष्मसंपरायसंयमे च 'केवलद्विके' केवलज्ञानकेवलदर्शनरूपे शुक्ललेख्यैव न शेषलेख्याः, यथाख्यातसंयमादौ एकांतविशुद्धपरिणामभावात् तस्य च शुक्ललेख्याऽविनाभूतत्वात् । 'शेषस्थानेषु' सुरगतौ तिर्यग्गतौ मनुष्यगतौ पंचेन्द्रयत्रसकाययोगत्रयवेदत्रयकषायचतुष्टयमतिज्ञानश्रुतज्ञानावधिज्ञानमनःपर्यायज्ञानमत्यज्ञानश्रुताज्ञान - विभंगज्ञान-सामायिकछेदोपस्थापनपरिहारविशुद्धिदेशविरताविरतचक्षुर्दर्शनाचक्षुर्दर्शनावधिदर्शनभव्याभव्यक्षायिकक्षायोपशमिकोपशमिकसास्वादनमिश्रमिध्यात्वसंज्ञ्याहारकानाहारकलक्षणैकचत्वारिंशत्सु शेषमार्गणास्थानकेषु षडपि लेख्याः ।

(३) भव्य अभव्य जीवों में कितनी लेख्या—

किण्हा नीला काऊ, तेऊ पम्हा य सुक्क भव्वियरा ।

—चतुर्थ कर्म० गा १३ । पूर्वार्ध

(घ) लेख्या और सम्यक्त्व चारित्र—

सम्यक्त्वदेशविरतिसर्वविरतीनां प्रतिपत्तिकाले शुभलेखात्रयमेव भवति । उत्तरकालं तु सर्वा अपि लेख्याः परावर्तन्तेऽपि इति । श्रीमदारार्ध्यपादा अप्याहुः—

सम्मत्तमुयं सन्वासु लहइ सुद्दासु तीसु य चरित्तं ।

पुण्वपडिवन्नओ पुण, अन्नयरीए उ लेसाए ॥

—आव० ति गा ८२२

—चतुर्थ कर्म० गा २३ की टीका

'६६' ३७ अभिनिष्क्रमण के समय भगवान् महावीर की लेख्या की विशुद्धि—

छट्ठेण उ भत्तेणं अज्जवसाणेण सोहणेण जिणो ।

लेसाहिं विसुज्झंतो आरुहई उत्तमं सीयं ॥

—आव० श्रु २ । अ १५ । गा १२१ । पृ० ६२

अभिनिक्रमण के समय भगवान् ने जब श्रेष्ठ पालकी में आरोहण किया उस समय दो दिन का उपवास था, उनके अध्ववसाय शुभ थे तथा लेश्या विशुद्धमान थी ।

'६६'३८ वेदनीय कर्म का बन्धन तथा लेश्या—

जीवे णं भंते ! वेयणिज्जं कम्मं किं बंधी० पुच्छा ? गोयमा ! अत्थेगइए बंधी बंधइ बंधिस्सइ १, अत्थेगइए बंधी बंधइ न बंधिस्सइ २, अत्थेगइए बंधी न बंधइ न बंधिस्सइ ४, सलेस्से वि एवं चेव तइयविहूणा भंगा । कण्हलेस्से जाव—पण्हलेस्से पढम-विइया भंगा, सुक्कलेसे तइयविहूणा भंगा, अल्लेसे चरिमो भंगो । कण्हपक्खिए पढमविइवा । सुक्कपक्खिया तइयविहूणा । एवं सम्मदिट्ठिस्स वि ; मिच्छादिट्ठिस्स सम्मामिच्छादिट्ठिस्स य पढमविइया । णाणिस्स तइयविहूणा, आभिणिवोहिय, जाव मणपज्जवणाणी पढमविइया, केवलनाणी तइयविहूणा । एवं नो सन्नोवउत्ते, अवेदए, अकसायी । सागारोवउत्ते अणागारोवउत्ते एणमु तइयविहूणा । अज्जोगिम्मि य चरिमो, सेसेमु पढमविइया ।

—भग० अ २६ । उ १ । सू १७ । पृ० ८६६-६००

वेदनीय कर्म ही एक ऐसा कर्म है जो अकेला भी बन्ध सकता है । यह स्थिति ग्यारहवें, बारहवें, तेरहवें गुणस्थान के जीवों में होती है । इन गुणस्थानों में वेदनीय कर्म के अतिरिक्त अन्य कर्मों का बन्धन नहीं होता है । इनमें से ग्यारहवें तथा बारहवें गुणस्थान वाले चतुर्थ भंग लागू नहीं हो सकता है । चौदहवें गुणस्थान के जीव के निर्विवाद चतुर्थ भंग लागू होता है । उपरोक्त पाठ से यह ज्ञात होता है कि सलेणी—शुक्ललेशी जीवों में कोई एक जीव ऐसा होता है जिसके चतुर्थ भंग से वेदनीय कर्म का बन्धन होता है अर्थात् वह शुक्ललेशी जीव वर्तमान में न तो वेदनीय कर्म का बन्धन करता है और न भविष्यत् में करेगा । चौदहवें गुणस्थान का जीव सलेणी—शुक्ललेशी नहीं हो सकता है । अतः उपरोक्त शुक्ललेशी जीव तेरहवें गुणस्थान वाला ही होना चाहिए । लेकिन बारहवें तथा तेरहवें गुणस्थान के जीव के सातों वेदनीय कर्म का बन्धन ईर्ष्यापथिक के रूप में होता रहता है । बारहवें तथा तेरहवें गुणस्थान का जीव वेदनीय कर्म का अवन्धक नहीं होता है ।

टीकाकार का कहना है, 'सलेशी जीव पूर्वोक्त हेतु से तीसरे भंग को बाद देकर—अन्य भंगों से वेदनीय कर्म का बन्धन करता है लेकिन उसमें चतुर्थ भंग नहीं घट सकता है क्योंकि चतुर्थ भंग लेश्या रहित अयोगी को ही घट सकता है। लेश्या तेरहवें गुणस्थान तक होती है तथा वहाँ तक वेदनीय कर्म का बन्धन होता रहता है। कई आचार्य इसका इस प्रकार समाधान करते हैं कि इस सूत्र के वचन से अयोगीत्व के प्रथम समय में घण्टालाला न्याय से परम शुक्ललेश्या संभव है तथा इसी अपेक्षा से सलेशी—शुक्ललेशी जीव के चतुर्थ भंग घट सकता है। तत्त्व बहुश्रुतगम्य है।'

हमारे विचार में इसका एक यह समाधान भी हो सकता है कि लेश्या परिणानों की अपेक्षा अलग से वेदनीय कर्म का बन्धन होता है तथा योग की अपेक्षा अलग से वेदनीय कर्म का बन्धन होता है। बारहवें गुणस्थान में शुक्ललेश्या होने वाला कर्म-बंधन निरन्तर चालु है, तेरहवें गुणस्थान में कोई एक जीव ऐसा हो सकता है जिसके लेश्या की अपेक्षा से वेदनीय कर्म का बन्धन रूक जाता है लेकिन योग की अपेक्षा से चालू रहता है।

अध्ययन, गाथा, सूत्र आदि की संकेत सूची

अ	अध्ययन, अध्याय	प्र	प्रश्न
अधि	अधिकार	प्रति	प्रतिपत्ति
उ	उद्देश, उद्देशक	प्रा	प्राभृत
गा	गाथा	प्रप्रा	प्रतिप्राभृत
च	चरण	भा	भाष्य
चू	चूर्णी	भाग	भाग
चूलि	चूलिका	ला	लाइन
टी	टीका	व	वर्ग
द	दशा	वा	वार्तिक
द्वा	द्वार	वृ	वृत्ति
नि	नियुक्ति	श	शतक
प	पद	श्रु	श्रुतस्कंध
पं	पंक्ति	श्लो	श्लोक
पृ०	पृष्ठ	सम	समवाय
पे	पेरा	सू	सूत्र
प्रकी	प्रकीर्णक	स्था	स्थान

संकलन-सम्पादन-अनुसंधान में प्रयुक्त ग्रन्थों की सूची

१ से ४ अंगसूत्ताणि—आचारो-सूयगडो-ठाणं-समवाओ

वाचना प्रमुख—आचार्य (गणाधिपति गुरुदेव श्री तुलसी) सम्पादक—मुनि नथमल (वर्तमान नाम—आचार्यश्री महाप्रज्ञ) प्रकाशक जैन विश्वभारती, लाडणू ।

५ अंगसूत्ताणि—भगवड्—संकेत—भग०

वाचना प्रमुख—आचार्य तुलसी, सम्पादक—मुनि नथमल (वर्तमान नाम आचार्य श्री महाप्रज्ञ), प्रकाशक—जैन विश्वभारती, लाडणू ।

६ से ११ अंगसूत्ताणि—णायधम्मकहाओ-उवासगदसाओ-अंतगड-दसाओ-अनुत्तरोवाइयदसाओ—पणहावागराणं—विवागसूयं ।

वाचना प्रमुख—आचार्य तुलसी, सम्पादक—मुनि नथमल (वर्तमान नाम आचार्य श्री महाप्रज्ञ) प्रकाशक—जैन विश्वभारती, लाडणू ।

१२ से १४ उवसगसूत्ताणि (खंड—१) ओवाइयं-रायपसेणियं-जीवा-जीवाभिगमे ।

वाचना प्रमुख—आचार्य तुलसी, सम्पादक—आचार्य श्री महाप्रज्ञ-प्रकाशक जैन विश्वभारती, लाडणू ।

१५ से २३ उवसगसूत्ताणि (खंड—२) पणवणा-जंबुदीवपणत्ती-चंदपणत्ती-सूरपणत्ती-निरयावलियाओ-कप्पवडिसियाओ-पुप्फियाओ-पुप्फचूलियाओ-वण्हदसाओ ।

वाचना प्रमुख—आचार्य तुलसी, सम्पादक—आचार्य श्री महाप्रज्ञ, प्रकाशक जैन विश्वभारती, लाडणू ।

२४ से ३२ आवस्सयं - दसवेआलियं-उत्तरज्झयाणी - नंदी-अणुओग-द्वाराइं-कप्पो-ववहारो निसीहज्झयणं ।

वाचना प्रमुख—आचार्य तुलसी, सम्पादक—आचार्य श्री महाप्रज्ञ प्रकाशक जैन विश्वभारती, लाडणू ।

३३ कप्पसुत्त-संकेत—कप्पसु०

प्रकाशक—साराभाई मणिलाल, अहमदाबाद ।

३४ सभाष्यतन्वार्थ सूत्र—तन्व०

प्रकाशक—परम श्रुत प्रभावक मंडल, खारकुआ, बम्बई-२ ।

३५ तत्वार्थ सर्वार्थसिद्धि-संकेत—तत्वसर्व०,

प्रकाशक—भारतीय ज्ञान पीठ, वाराणसी ।

३६ तत्वार्थवार्तिक (राजवार्तिक) संकेत—तत्त्वराज०

प्रकाशक—भारतीय ज्ञान पीठ, वाराणसी ।

३७ तत्वार्थ श्लोकवार्तिकालंकार-संकेत—तत्वश्लो०

प्रकाशक—रामचन्द्र नाथारंग, बम्बई ।

३८ तत्वार्थसिद्धसेन टीका-संकेत—तत्वसिद्ध०

प्रकाशक—जीवचन्द साकेरचन्द जवेरी, बम्बई ।

३९ कर्मग्रन्थ—संकेत—कर्म०

प्रकाशक—श्री जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर ।

४० गोम्मटसार (जीवकाण्ड) संकेत—गोजी०

प्रकाशक—परमश्रुत प्रभावक मंडल, बम्बई ।

४१ गोम्मटसार (कर्मकाण्ड) संकेत—गोक०

प्रकाशक—परमश्रुत प्रभावक मंडल, बम्बई ।

४२ अमिधान राजेन्द्र कोश-संकेत—अभिधा०

प्रकाशक—श्री सौधर्मबृहत्पागण्डीय, जैन श्वेताम्बर समस्त संघ, रतलाम ।

४३ पाइअसद्महणवो-संकेत—पाइअ०

प्रकाशक—हरगोविन्दलाल श्री० सेठ, कलकत्ता ।

४४ पातञ्जल योग दर्शन-संकेत—पायोग०

प्रकाशक—जैन संस्कृति संरक्षक संघ, शोलापुर ।

४५ षट्खंडागम—संकेत—षट्० भाग १ से १६

प्रकाशक—जैन संस्कृति मंडल, शोलापुर ।

४६ महाभारत-संकेत—महा०

प्रकाशक—गीताप्रेस, गोरखपुर । नीलकण्ठी टीका, वैकटेश्वर, बम्बई ।

४७ अंगुत्तरनिकाय-संकेत—अंगु०

प्रकाशक—बिहार राज्य पालि प्रकाशन मंडल, नालंदा, पटना ।

४८ समयसार—सम्पादक—प्रा० ए० चक्रवर्ती

प्रकाशक—भारतीय ज्ञानपीठ, काशी १९५० ।

४९ ज्ञानसार—भाग १ से २ । सम्पादक—मुनि श्री भद्रगुप्त विजय

प्रकाशक—श्री विश्व कल्याण, हारीज, उत्तर गुजरात-१९६७ ।

५० प्रवचनसारोद्धार—भाग ६ संकेत—प्रवसा०

प्रकाशक—श्रीमती जयावेन देवसी पोपट मांडू, ४९/१ महालक्ष्मी सोसाइटी, अहमदाबाद ।

५१ योगशतक

प्रकाशक—गुजरात विद्यालय, अहमदाबाद ।

५२ श्रावक संबोध—गणाधिपति तुलसी

प्रकाशक—आदर्श साहित्य संघ, चूरु ।

५३ कसायपाहुंडं सुत्तं

प्रकाशक—वीर शासन संघ, कलकत्ता ।

५४ प्रशामरतिप्रकरण

प्रकाशक—श्री महावीर जैन विद्यालय, बम्बई ।

५५ अभिधान चिन्तामणि कोश-संकेत—अभि०

प्रकाशक—श्री जैन साहित्य वर्धक सभा, अहमदाबाद वि० सं० २०२५

५६ अनुयोगद्वारचूर्णि-संकेत—अनुद्वाचू

श्री ऋषभदेवजी केशरीमल श्वेताम्बर संस्था, सन १९२८ ।

- ५७ अनुयोगद्वार मलधारीय टीका
श्री केशरभाई ज्ञान मन्दिर, पाटण, सन् १९३६ ।
- ५८ अनुयोगद्वार हारीभद्रीया टीका
प्रकाशक—(सेठ देवचन्द लालभाई) जैन पुस्तकोद्धार, बम्बई, १९६६ ।
- ५९ उपासकदशांग टीका-संकेत—उपाटी० श्री हिन्दी जैन आगम
प्रकाशक—सुमति कार्यालय, कोटा सन् १९४६ ।
- ६० उत्तराध्ययन शान्त्याचार्य टीका
प्रकाशक—देवचन्द लालभाई जैन पुस्तकोद्धार, मुम्बई सन १९७३ ।
- ६१ ओघनियुक्ति टीका—संकेत—ओटी
प्रकाशक—आगमोदय समिति, बम्बई सन् १९२६ ।
- ६२ जंबूद्वीप प्रज्ञप्ति टीका-संकेत—जंटी
प्रकाशक—नगीनभाई घेलाभरई भवेरी, बम्बई सन् १९२०
- ६३ पंचाशक प्रकरण टीका
(ऋषभदेव-केशरीमल) श्वेताम्बर संस्था, रतलाम सन् १९४१ ।
- ६४ ठाणांग टीका-संकेत—ठाण०
प्रकाशक—माणिकलाल चुमीलाल, अहमदाबाद ।
- ६५ पंच संग्रह टीका-संकेत—पंसंटी
प्रकाशक—श्री खुबचन्द पानचन्द उभोई, गुजरात सन १९३७ ।
- ६६ पिण्डनियुक्ति-संकेत—पिटी०
प्रकाशक—देवचन्द लालभाई, जैन पुस्तकोद्धार सन् १९१८ ।
- ६७ प्रज्ञापना टीका-संकेत—पण्ण० टी०
प्रकाशक—आगमोदय समिति, बम्बई १९७८ ।
- ६८ प्रवचन सारोद्धार टीका-संकेत—प्रसाटी०
प्रकाशक—देवचन्द लाल भाई, जैन पुस्तकोद्धार, द्वितीय संस्करण सन् १९८१ ।

६६ प्राचीन कर्म ग्रन्थ टीका-संकेत—प्राकटी०

प्रकाशक—जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर, वि० सं० १९७२ ।

७० भगवती टीका-संकेत—भटी०

प्रकाशक—ऋषभदेव केशरीमल श्वेताम्बर संस्था, रतलाम, सन् १९४० ।

७१ विशेषावश्यक भाष्य—संकेत—विशेभा०

प्रकाशक—दिव्यदर्शन कार्यालय, अहमदाबाद, वी० सं० २४८६ ।

७२ विशेषावश्यक भाष्य-मलधारी टीका-संकेत—विशेभा० टीका०

प्रकाशक—दिव्यदर्शन कार्यालय, अहमदाबाद वी० सं० २४८६ ।

७३ व्यवहार भाष्य—संकेत—व्यभा०

प्रकाशक—वकील केशवलाल प्रेमचन्द, अहमदाबाद, सन् १९२६ ।

७४ वीरजिणिदचरिउ

प्रकाशक—भारतीय ज्ञान पीठ, वाराणसी सन १९७४ ।

७५ भिक्षु न्याय कर्णिका—आचार्य श्री तुलसी

प्रकाशक—आदर्श साहित्य संघ, चुरु ।

७६ क्रियाकोश—संपादक—मोहनलाल बांठिया, श्रीचन्द चोरडिया

प्रकाशक—जैन दर्शन समिति, कलकत्ता सन् १९६६ ।

७७ सिद्ध हेमशब्दानुशासनम्—हेमचन्द्राचार्य

प्रकाशक—सिद्धचक्र साहित्य प्रचारक समिति, बम्बई ।

७८ जैन सिद्धान्त दीपिका—आचार्य श्री तुलसी

प्रकाशक—आदर्श साहित्य संघ, चुरु ।

७९ भौणीचरचा—श्री मञ्जयाचार्य संपादिका—साध्वी प्रमुखा
श्री कनकप्रभाजी

८० नियमसार—श्रीमद् कुन्दकुन्दाचार्य

प्रकाशक—मूलचन्द किशनदास कापडिया, दिगम्बर जैन पुस्तकालय, गांधी
चौक, सुरत ।

लेश्या कोश, प्रथम खण्ड पर सम्मति पत्र-पत्रिकाओं में समीक्षा

१ “सन्मति संदेश” दिल्ली—जनवरी ६६ के अंक में

प्रस्तुत ग्रन्थ में लेश्याओं के सम्बन्ध में सांज्ञोपांग विवेचन प्रस्तुत किया है। जैन धर्म में लेश्याओं का महत्वपूर्ण स्थान है। इनमें से द्रव्य लेश्या शरीर के वर्ण को कहते हैं तथा भावलेश्या कषायों के तीव्र, तीव्रतम, तीव्रतर, मन्द, मन्दतर, मन्दतम परिणामों को कहते हैं। जैन ग्रन्थों में इनका यत्र-तत्र विशद विवेचन है किन्तु सर्वाङ्गपूर्ण विवेचन एकत्र नहीं मिलता है। अतएव विद्वान् सम्पादकों ने अपने अथक परिश्रमपूर्वक श्वेताम्बर जिनागमों से इसका महत्वपूर्ण संकलन किया है। दिगम्बर आगमों से भी संकलन करने का उनका अपना विचार है। इसमें विषय, शब्द विवेचन, द्रव्यलेश्या, सलेशी जीव, लेश्या और विविध विषय, फुटकर पाठ आदि विविध अंगों पर विस्तृत विचार किया है। इस विषय पर एकत्र समीकरण करने का यह प्रथम प्रयास श्लाघनीय है।

२ “अनेकान्त” दिल्ली—अक्टूबर १९६६ के अंक में

बांठियाजी ने जैन विषय कोश ग्रन्थमाला स्थापित की है। उसका यह प्रथम पुष्प है जिसमें आपने दशमलव प्रणाली से जैन विषयों का वर्गीकरण करके इस लेश्या कोश की रचना की है। आगमों में लेश्या के सम्बन्ध में जो कुछ भी कहा गया है, उसका विषयवार संकलित किया गया है। जहाँ तक मुझको मालूम है किसी जैन विषय पर इस तरह का यह कोश प्रथम बार ही प्रकाशित हुआ है। इस तरह के कोश निर्माण हो जाने पर जैन दर्शन के अध्ययन में विशेष सुविधा हो जायेगी। सम्पादक द्वय का यह प्रयत्न अभिनन्दनीय है।

३ “जैन संदेश” मथुरा—दिनांक १४-११-१९६६ के अंक में

श्री बांठियाजी ने जैन विषय कोश ग्रन्थमाला स्थापित की है। उसका यह पुष्प आपने दशमलव प्रणाली से जैन विषयों का वर्गीकरण करके तदनुसार ही इस लेश्या कोश की रचना की है। आगमों में लेश्या के सम्बन्ध में जो कुछ भी कहा गया है, विषयवार उसको कोश रूप में संकलित किया गया है।

प्रस्तुत विषय पर आगमिक वचनों के साथ उनका शाब्दिक अर्थ भी दे दिया गया है। जहाँ आवश्यकता समझी गई है वहाँ विवेचनात्मक अर्थ भी किया है। किसी जैन विषय पर इस तरह का यह कोश प्रथम बार ही प्रकाशित हुआ है।

इस तरह के कोश ग्रन्थों का निर्माण हो जाने पर निश्चय ही जैन दर्शन के विषयों का अध्ययन करने में अध्येताओं को बहुत सुविधा हो जायगी। कोश के प्रारम्भ में भी हीराकुमारी बोधरा का एक महत्वपूर्ण आमुख है उन्होंने जिन कुछ बातों पर प्रकाश डाला है वह ध्यान देने योग्य है।

हम सम्पादकों के इस प्रयत्न का अभिनन्दन करते हैं।

४ "सम्यग् दर्शन," सैलाना—दिनांक ५ जनवरी १९६९ के अंक में

जैन वाङ्मय में लेख्या का सविस्तर वर्णन है किन्तु बिखरा हुआ। जिज्ञासु के लिये यह सब देख लेना—पा लेना बहुत कठिन था, अब इस लेख्या कोश ने यह कठिनाई दूर कर दी। अब कोई भी जिज्ञासु इस ग्रन्थ के द्वारा लेख्या विषयक पूरी जानकारी प्राप्त कर सकेगा। सम्पादक श्री बांठिया साहब और श्री चोरडिया साहब के परिश्रम ने विद्वानों, जैन दर्शन के जिज्ञासुओं, पाठकों, विवेचकों और अनुसन्धान कर्त्ताओं के लिये यह उत्तम साधन उपस्थित करके बहुत बड़ी सुविधा कर दी है। इस ग्रन्थ में जैनागमों, ग्रन्थों, महाभारत, पंतजल योगदर्शन, अंगुत्तरनिकाय आदि अनेक शास्त्रों से लेख्या विषयक सामग्री का संचयन किया और लगभग १०० अवान्तर शीर्षकों से ग्रन्थ को समृद्ध किया है। यदि इस ग्रन्थ को जिज्ञासुओं के लिये मूल्यवान उपहार कहा जाय तो भी अतियुक्ति नहीं होगी। यह ग्रन्थ अपने विषय का एकमात्र ग्रन्थ है। सभी उच्चविद्या केन्द्रों, पुस्तकालयों और दार्शनिक संस्थाओं में रखने योग्य है।

सम्पादक बहोदय की रुचि और कार्य प्रशंसनीय है। आशा है वे ऐसे अन्यान्य कोश भी तैयार कर समाज के सामने उपस्थित करेंगे।

५ "श्वेताम्बर जैन" आगरा—दिनांक २ जनवरी ६९ के अंक में

लेख्या कोश जैन विषय ग्रन्थमाला का प्रथम पुष्प है। इसका सम्पादक करने में ४६ ग्रन्थों व सूत्रों का सहारा लिया गया है। सम्पादकद्वय का परिश्रम सराहनीय है। जैन दर्शन गहन है। सब विषयों पर कोश तैयार होना बहुत कठिन है परन्तु यदि ऐसे कुछ खास विषयों के कोश तैयार हो सके तो अज्ञेय स्कालरों को बड़ी सुविधा हो जाय।

इस प्रकार का लेख्या कोश प्रथम बार ही प्रगट हुआ है। सम्पादकों ने बहुत परिश्रम करके जनता के हितार्थ यह पुस्तक लिखी और प्रकाशित की है। इसमें लेख्या शब्द के अर्थ, पर्यायवाची शब्द, परिभाषा के उपयोगी पाठ, लेख्या पर

विवेचन गाथा, लेख्या सम्बन्धी फुटकर पाठ विद्वानों को पढ़ने और समझने योग्य है। सारांश यह कि लेख्या परिणामों का विस्तृत विवेचन जानना हो तो यह ग्रन्थ बहुत उपयोगी है।

६ “विश्व-ज्योति” होशियारपुर—दिसम्बर १९६८ के अंक में

आलोच्य पुस्तक जैन दर्शन के एक पारिभाषिक शब्द ‘लेख्या’ का क्रमबद्ध विषयानुक्रमिक पाठ-संकलन और उन पाठों की यथोचित व्याख्या प्रस्तुत करती है। इसके सम्पादकद्वय ने तत्त्वार्थ सूत्र तथा ३२ श्वेताम्बर जैन आगमों यत्र-तत्र बिखरे हुए लेख्या सम्बन्धी महत्वपूर्ण पाठों का एक पुस्तक में संकलन कर जैन दर्शन के शोधकर्ता व जिज्ञासु विद्वद्गण के लिये एक अमूल्य निधि तैयार की है।

सम्पादकद्वय का प्रयास अत्यन्त स्तुत्य है। हम आशा करते हैं कि वे इस कोश की तरह जैन-विषय कोश-ग्रन्थमाला के प्रकाशन की अपनी दीर्घकालीन योजना के अन्तर्गत जैन दर्शन के अन्य विषयों से भी सम्बन्धित कोश तैयार कर साहित्य श्री को वृद्धि करेंगे।

—दामोदर शास्त्री एम० ए०

७ “जैन मित्र” सुरत—दिनांक २६ दिसम्बर ६८ के अंक में

जैन विषय कोश ग्रन्थमाला का यह प्रथम पुष्प है। इस कोश की रचना ३२ श्वेताम्बर जैन ग्रन्थ व कुछ दिगम्बर ग्रन्थों से की गई है।

आज तक ऐसा लेख्या कोश प्रथम बार ही प्रकट हुआ है। लेख्या का अर्थ मनुष्यों के परिणाम हैं व ६ लेख्या के वृक्ष की कथा तो सारे जैन समाज में प्रचलित है लेकिन इन लेख्याओं के अनेकानेक भेद-अभेद विस्तारपूर्वक इस कोश में मूल गाथाओं सहित बताये गये हैं।

सारांश कि लेख्या परिणामों का विस्तृत विवेचन जानना हो तो यह ग्रन्थ उपयोगी है तथा विद्वानों के लिये तो यह ग्रन्थ बहुत उपयोगी है। प्रत्येक जैन संस्था के लिये स्वाध्यायार्थ प्रकाशक से अवश्य मगावें।

८ “श्रेयोमार्ग” श्री महावीरजी—जनवरी ६९ के अंक में

प्रस्तुत लेख्या कोश—लेख्याओं के सम्बन्ध में श्वेताम्बर जैन आगमों के अनुसार संकलित एक बहुत बड़ा संग्रह है। लेख्या मार्गणा के सम्बन्ध में दिगम्बर जैन आगम व श्वेताम्बर जैन आगम दोनों में आचार्यों ने बहुत विस्तार से विवेचन

किये हैं। प्रतीत होता है कि सम्पादकों ने जितना भी लेश्या के सम्बन्ध में श्वेताम्बर साहित्य में उपलब्ध हो सका सबका आलोड़न कर इसके सम्पादन में बड़ा ही परिश्रम किया है। इस लेश्या कोश को प्रकाश में लाने का उद्देश्य जिनागम के अलग-अलग विषयों पर शोध करने वाले विद्वानों के लिये एक जगह उस सामग्री का संग्रह कर उन्हें सुविधा देना है। किन्तु इस प्रकार के ग्रन्थों के सम्पादन से केवल रिसर्च करने वालों को ही नहीं अपितु—स्वाध्याय करने वालों के लिये भी बहुत लाभप्रद होगा—ऐसा मेरा विश्वास है।

प्रस्तुत लेश्या कोश को प्रकाश में लाने में सम्पादकों व प्रकाशकों का परिश्रम सब तरह से सराहनीय है।

प्रत्येक ग्रन्थमाला व शास्त्र भण्डारों में इस कोश का रहना आवश्यक है। ग्रन्थ का सम्पादन ठीक तरह से हुआ है—और प्रकाशन, कागज आदि बहुत सुन्दर है इसके लिये सम्पादक व प्रकाशक बधाई के पात्र हैं।

—महेन्द्र कुमार “महेश” शास्त्री

६ “श्रमण” वाराणसी—फरवरी ६६ के अंक में

समीक्ष्य पुस्तक ‘लेश्या कोश’ में लेखक द्वय ने बड़ी विशदता, सजगता एवं सकलता से जैन वाङ्मय में निहित लेश्या-सम्बन्धी विभिन्न सामग्रियों का संचयन प्रस्तुत किया है, जो लेखकद्वय की सूक्ष्म शोध-वृत्ति एवं ज्ञान-बोध विस्तृति का ही परिचायक है।

जैन दर्शनानुसार लेश्या शाश्वत भाव और अनानुपूर्वी है, क्योंकि लोक, अलोक, ज्ञानादि भाव के समान यह भी चिरन्तन है और इन भावों के साथ लेश्या का आगे-पीछे का कोई निर्धारित क्रम भी नहीं है। लेश्या के सहयोग से ही कर्म आत्मा में लिप्त होते हैं तथा कृष्णादि द्रव्यों का साग्निव्य पाकर यह आत्मा के परिणाम को भी उसी रूप में परिवर्तित कर देता है। इसके प्रमुखतः दो भेद (भाव एवं द्रव्य) एवं कई प्रभेद-उपभेद हैं, जिनके सम्बन्ध में विस्तार के साथ प्रस्तुत पुस्तक में वर्णन किया गया है। साथ ही साथ योग, ध्यान आदि के साथ लेश्या का तुलनात्मक विवेचन भी किया गया है, जो विषय को और अधिक स्पष्ट करने में सहायक है।

प्रस्तुत पुस्तक की सामग्रियों के संचयन-संघटन में ३२ श्वेताम्बरीय आगमों एवं तत्त्वार्थ सूत्र का सहारा लिया गया है और इनमें उपलब्ध लेश्या सम्बन्धी विभिन्न पाठों को भी मिलान करने का अच्छा प्रयास किया गया है। प्रमुख

विषयों एवं विषयान्तर्गत उपविषयों के वर्गीकरण में सार्वभौमिक दशमलव प्रणाली का उपयोग किया गया है, जिससे विषयों की सहज बोधगम्यता का प्रादुर्भाव अनायास ही हो जाता है। संक्षेप में, यह पुस्तक ज्ञान पिपासुओं और गोधित्सुओं के लिये निश्चय ही उपयोगी बन पड़ी है और इसका प्रकाशन, उल्लभनपूर्ण एवं गहन जैन वाङ्मय के क्षेत्र में, क्रमबद्ध एवं विषयानुक्रम विवेचना का स्पष्ट सूत्रपात करता है।

ऐसी व्यवस्थित एवं उपयोगी पुस्तक लेखन और प्रकाशन के लिये लेखक एवं प्रकाशक को अभित बधाइयाँ।

—अजित शुक्रदेव

१० “जैनवाणी” जयपुर—फरवरी ६६ के अंक में

जैन दर्शन अत्यन्त सूक्ष्म और गहन है। उसमें सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनों धरातलों पर जीवन के विविध पक्ष उद्घाटित हुए हैं पर उसमें क्रमबद्धता न होने से अध्येता को बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। वर्षों से यह अनुभव किया जा रहा था कि जैन दर्शन के विविध विषयों के कोश प्रकाशित किये जाँय। श्री बाँठियाजी के अध्यक्षताय व अथक प्रयास से यह युगान्तकारी कार्य अब सम्पन्न होने जा रहा है। प्रथम चरण के रूप में यह लेश्या कोश हमारे सामने आया है। इसमें शब्द विवेचन, द्रव्य, लेश्या (प्रायोगिक, विस्मसा), भावलेश्या, लेश्या और जीव, सलेशी जीव, विविध आदि मूल वर्गों में विभाजित कर, प्रत्येक वर्ग को कई उपवर्गों में बाँट कर, जैन आगमों में इतस्ततः लेश्या सम्बन्धी बिखरे हुए प्रसंगों को एक स्थान पर संयोजित करने का महत्वपूर्ण कार्य किया गया है। मूल पाठ का शब्दार्थ व यथाप्रसंगानुसार विवेचनात्मक अर्थ देकर ग्रन्थ को सर्वसाधारण के लिये उपयोगी बना दिया गया है। यह ग्रन्थ प्रत्येक पुस्तकालय, शोध केन्द्र व दर्शन के अध्येता के लिये समान रूप से उपयोगी है। इस महत्वपूर्ण प्रकाशन के लिये सम्पादक और प्रकाशक बधाई के पात्र हैं।

—डा० नरेन्द्र भानावत

११ “जैन बोधक” सोलापुर—दिनांक ६-१-६६ के अंक में (मराठी)

या ग्रन्थामध्ये उभय विद्वान लेखकांनी या लेश्या विषयी जैन ग्रन्थामध्ये कोठे-कोठे काय सांगितले आहे। आणि गतिक्रमाने त्यांच्या सूक्ष्म-भेदामध्ये कोणत्या ठिकाणी कोणती लेश्या असु शकते याचे विवेचना पूर्वक तालिका दिली आहे। हे काम फार परिश्रमाचे आणि महत्वाचे आहे। या ग्रन्थामध्ये मुख्यतः श्वेताम्बर

आगमामधील प्रमाणांचा संग्रह आहे। पुढे याच प्रमाणे दिगम्बर ग्रंथांचा लेश्या-कोश प्रसिद्ध करण्याचे त्यांचे मानस आहे। स्तुत्य आहे। कार्य हे शुष्क म्हणून वाटते परन्तु फार सरस आहे। कारण आत्म परिणामाची स्थिति समजल्या-शिवाय आत्म विधुद्ध होवू शकत नाही। त्या दृष्टिने या कार्याला फार मोठे महत्त्व आहे। विद्वान लेखकांनी अत्यन्त उपयोगी कार्यामध्ये आपले योगदान दिले आहे। खरोखर ते प्रशंसार्ह आहेत। अशा ग्रंथाची प्रति पुस्तक भांडार आणि सशोधन मन्दिरामध्ये असणे जरूर आहे। संशोधक विद्वानांना या कोषाचा फार उपयोग होईल। ग्रंथाचे बाह्यांतरंग सौन्दर्यही आकर्षक आहे।

—वर्धमान पार्वनाथ शास्त्री

१२ “श्रमणोपासक” बीकानेर—दिनांक ५ अप्रैल ६६ के अंक में

पुस्तक में लेखकद्वय ने बड़ी विशदता और सफलता से जैन साहित्य में निहित लेश्या सम्बन्धी विभिन्न उल्लेखों का संचयन किया है। जो लेखकद्वय की ज्ञान साधना और जिज्ञासावृत्ति का बोध कराता है।

जैन दर्शन के सिद्धान्तों के चिन्तन-मनन की ओर विद्वानों की रुचि बढ़ रही है। किन्तु मूल सिद्धान्त ग्रन्थों में उनका क्रमबद्ध विषयानुक्रम विवेचन उपलब्ध न होने से समझने में काफी समय और श्रम लगाना पड़ता है और उसके बाद भी पूरी जानकारी न मिलने से निरुत्साहित हो जाते हैं। इस कमी की पूर्ति में कोष काफी सहायक होगा।

कोष में लेश्या के भेद, उपभेद, आदि के विवेचन द्वारा विषय का सर्वाङ्ग विवरण देने के लिये लेखकद्वय के प्रयत्न बधाई के पात्र हैं।

ऐसे व्यवस्थित एवं उपयोगी लेखन और प्रकाशन के लिये लेखक एवं प्रकाशक का अभिनन्दन करते हैं और आशा करते हैं कि जैन रत्नाकर के अनमोल रत्नों को प्रकाश में लाने के लिये अपने चिन्तन, मनन और स्वाध्याय का सदुपयोग करके जैन वाङ्मय को समृद्ध और सम्पन्न बनायेंगे।

१३ “जैन प्रकाश” बम्बई—दिनांक २३ फरवरी ६६ के अंक में (गुजराती)

जैन दर्शन सूक्ष्म अने गहन छे तथा मूल सिद्धान्त ग्रन्थों मां तेनुं क्रमबद्ध विषयानुक्रम विवेचन न होवाने कारणे तेने समजवामां मुश्केली पड़े छे, अनेक विषयोनु विवेचन अपूर्ण-अधुर छे, तेने कारणे जैन-अजैन बन्ने प्रकार ना विद्वानों जैन दर्शन ना अध्ययन मां मुर्भाय छे, क्रमबद्ध अने विषयानुक्रम विवेचन नो अभाव जैन दर्शन ना अध्ययन मां साथी मोटी अन्तराय ऊभी करे।

आ पुस्तक ना सम्पादकोअे पण अध्ययन मां आ मुश्केली अनुभवी अने तेने परिणामे तेओ आ खामी दूर करवा प्रयत्नशील बन्या तेमांथी 'लेश्या कोश' तैयार थवा पामेल छै, आ पुस्तक नुं सम्पादन करवामां आशरे ५० पुस्तको नो आधार लेवामां आव्यो छै । 'लेश्या' सम्बन्धी जे जे पुस्तकोमां माहिती प्राप्त थई ते वधी अंकजित करीने, क्रमबद्ध गोठवी ने संकलित करवामां आवी छै जैन दर्शन ना अभ्यासीओ ने आ पुस्तक अति उपयोगी बनी रहेशे । आ मुजब अन्य विषयो ने पण संकलित करी, क्रमबद्ध गोठववा मां आवे ते आवकारदायक थई पड़शे ।

१४ "जैन शासन", हिम्मतनगर—दिनांक १ फरवरी ६६ के अंक में
(गुजराती)

जैन दर्शन ग्रन्थों मां 'लेश्या' शब्द विशिष्ट अर्थ मां वपरायो छै । अे शब्दो ना अर्थो-भेद-प्रभेद नुं वर्णन घणीज सूक्ष्मता थी अत्रे करवामां आव्युं छै । आवा विशिष्ट शब्दों ने लेई इतर 'कोष' कढाय ते अति जरूरी छै । श्री नथमल टांटिया नी अंग्रेजी प्रस्तावना अने श्री हीराकुमारी बोथरा ना आमुख थी ग्रन्थ ने समजवामां सरलता वधी छै । लेखको तथा प्रकाशको ने धन्यवाद ।

१५ "प्रकाश समीक्षा", वम्बई—मार्च ६६ के अंक में (गुजराती)

जैन दर्शन ने साचा स्वरूपे सरल रीते रजु करता, महाग्रन्थों नो अभाव आपण ने भारी खटकी रहयो छै, ने तेथी जैन धर्म ने समजयामां, जैन-अजैत सौने सरखी मुश्केली नडी रही छै, ज्यां सुधी आ महान तत्वज्ञान ने सुशिलष्ट रीते आपणे जगत समझ रजु न करी शकीअे त्यां सुधी, आवा महान धर्म नो लाभ मानव जाति लई शके तेम नथी ।

आ संजोगोमां, जैन धर्म दर्शन नुं विषयवार वर्गीकरण तेना संदर्भग्रन्थों बहार पाडवानी श्री बांठियाअे करेली योजना मात्र दूरलक्षीज नथी, दूरगामी पण छै । जे कार्य अेक संस्था ने पण पोताना विस्तृत सहाय साधनो तथा समूह थी पुर्न करवुं दुष्कर लागे, ते श्री बांठियाअे पोते वेपारी व्यवसायी होवा छतां तथा प्रतिकूल आरोग्य होवा छता, करी बताव्युं छै तथा करवानी महेच्छा सेवी छै, ते मात्र तेमना जैन धर्म दर्शन उपर अक्षुण्ण प्रेम सिवाय शक्य नथी । आवा महाकार्य मां जैन विद्वानों नो तथा संस्थाओ नो दरेक रीते आप मेले साथ मली रहेवो जोइये, अेम अमे मानीअे छीअे ।

जैन-धर्म-दर्शन ना साचा स्वरूप ने समजवामां, जैन धर्म-दर्शन सम्बन्धी प्रमाण भूत पुस्तको नी रचना मां अने जैन धर्म-दर्शन ना प्रचार मां आ ग्रन्थ-ाला निशंक अमूल्य फालो आपशे ।

अमे संपादकको ने तेमना आ विराट कार्य माटे अभिनन्दन आपतां, तेमनुं कार्य जल्दी सफलता साथे पूर्ण थाओ, अेवी इच्छा साथे वीरमीअे छीअे ।

विद्वनों की सम्मति

(१) प्रज्ञाचक्षुष पं० सुखलालजी संघवी, अहमदाबाद

लेश्या कोश के प्रारम्भिक ३४ पृष्ठों को पूरा सुन गया हूँ । अगला भाग अपेक्षा के अनुसार ही देखा है, पर उसका पूरा ख्याल आ गया है । प्रथम तो यह बात है कि एक व्यापारी फिर भी अस्वस्थ तबीयतवाला इतना गहरा श्रम करे और शास्त्रीय विषयों में पूरी समझ के साथ प्रवेश करे यह जैन समाज के लिये आश्चर्य के साथ खुशी का विषय है । आपने कोशों की कल्पना को मूर्त बनाने का जो संकल्प किया है वह और भी आश्चर्य तथा आनन्द का विषय है । इतना बड़ा भारी अबाब देही का काम निर्दिष्ट पूरा हो—यही कामना है ।

(२) आचार्य श्री महाराज विजय उदय रत्नसूरि; सावरमति

आपका श्रम यथार्थ है । लेश्या कोष ज्ञान की अमूल्य निधि है । पुस्तक को देख कर हमारी आत्मा को अनहद आनन्द हुआ ।

(३) डा० ज्योतिप्रसाद जैन, लखनऊ

इस अपूर्व कृति के सफल कृतित्व के लिये मेरी हार्दिक बधाई स्वीकार करें ।

(४) डा० जगदीशचन्द्र जैन—बम्बई

लेश्या कोश प्राप्त हुआ । सरसरी तौर पर देखने से ज्ञात हुआ कि बड़े परिश्रम से आपने इस ग्रन्थ को तैयार किया है । मेरी ओर से कृपया साधुवाद स्वीकार करें ।

(५) श्री माखनलाल शास्त्री—मुरैना

पुस्तक के कतिपय प्रकरण अभी मैंने देखे हैं । पूरी पुस्तक धीरे-धीरे देखूंगा । मुझे यह लिखते हुए अत्यन्त प्रसन्नता होती है कि इसके संकलन में जो परिश्रम एवं खोज की गई है और अनेक शास्त्रों का मनन किया गया है वह स्तुत्य कार्य है । पुस्तक अत्युपयोगी है ।

(६) डा० दरबारीलाल कोठिया एम० ए० पी० एच० डी०, बनारस,

आपने और आपके सहयोगी श्रीचन्दजी चोरड़िया ने प्रस्तुत कृति लिख कर जैन दर्शन के एक ऐसे विषय पर प्रकाश डाला है जो जैनेतरों के लिये सर्वथा अज्ञात है। इसमें लेश्या का क्रमबद्ध और विस्तृत विवेचन करके आप लोगों ने लेश्या सम्बन्धी अच्छी जानकारि दी है। इतनी महत्वपूर्ण और विविध जानकारियों से भरी कृति प्रस्तुत करने के लिये आप दोनों साधुवादाह हैं।

(७) डा० विमल प्रकाश जैन एम० ए० पी० एच० डी०, जबलपुर

लेश्या कोश अत्यधिक महत्वपूर्ण और उपयोगी बन पड़ा है। कामना है कि दिगम्बर ग्रन्थों पर आधारित लेश्या कोश भी आप शीघ्र से शीघ्र प्रकाशित कर सकें। लेश्या कोश के आधार पर अब इस क्षेत्र में शोध द्वात्रों और विद्वानों को गम्भीर शोध कर सकना सम्भव होगा। इस महत्वपूर्ण कार्य के लिये मेरी हार्दिक बधाइयाँ स्वीकार करें।

(८) श्री उदयचन्द्र जैन, प्राध्यापक काशी हिन्दु विश्वविद्यालय, बनारस

आपके द्वारा प्रेषित "लेश्या कोश" नामक महत्वपूर्ण कृति प्राप्त कर परम प्रसन्नता हुई। इस कृति में आपने आगम ग्रन्थों के आधार से लेश्या के सम्बन्ध में समग्र विवेचन को एक स्थान पर एकत्रित करके तथा उसका सुरुचिपूर्ण सम्पादन करके एक ऐसी कमी की पूर्ति की है जिसका होना अत्यावश्यक था।

आपने बाङ्गमय के मूल की जो रूपरेखा तैयार की है वह भी गम्भीर मनन और चिन्तन का परिणाम है।

इस महत्वपूर्ण कार्य के लिये आप और आपके सहयोगी श्री चोरड़ियाजी हार्दिक बनाई के पात्र हैं।

(९) डा० भागचन्द्र जैन, एम० ए० पी० एच० डी०, नागपुर

लेश्य कोश मिला। शोधकों के लिये ऐसी ग्रन्थ की नितान्त आवश्यकता थी। उसकी आपने पूर्ति कर दी इसके लिये बधाइयाँ स्वीकार करें। संग्रह बहुत सुन्दर है।

(१०) अमृतलाल जैन, जैन दर्शन-साहित्यचार्य, वाराणसी

आपकी अत्यन्त उपयोगी वैदुष्यपूर्ण कृति—'लेश्या कोश' प्राप्त हुई। यह मेरे लिये एक निधि है। ऐसी अनुपम कृति के निर्माण के लिये मैं आपको हार्दिक बधाई देना चाहता हूँ।

विषय का संकलन, सम्पादन और प्रकाशन श्लाघ्य है। विज्ञ जिज्ञासुओं और अनुसन्धाताओं के लिये तो यह कृति बड़े काम की है।

(११) पं० गोपीलाल अमर, ए० ए० साहित्यशास्त्री

काव्यतीर्थ, सागर (म० प्र०)

जैन विषय कोश का ऐतिहासिक कार्य हाथ में लेकर आपने बहुत बड़ा साहस किया है। आपको इसमें सफलता भी अच्छी मिल रही है, प्रमाण है 'लेइया कोश'। इंडोलॉजी के क्षेत्र में इस ग्रन्थमाला का व्यापक प्रचार होना चाहिये। मेरी शुभकामनाएँ स्वीकारें।

(१२) श्री जयन्ती प्रसाद जैन, के० के० जैन कालेज, खतौली (बिहार)

लेइया कोश ग्रन्थ प्राप्त कर अत्यन्त प्रमोद हुआ। वर्तमान शैली के अध्ययन के लिये ऐसे ग्रन्थरत्नों की भारी आवश्यकता है। आत्मा की उत्फुल्लता व्यक्त करने के लिये शब्द नहीं है। धन्यवाद तो एक व्यर्थ की औपचारिकता ही है।

(१३) डा० गुलाबचन्द्र चौधरी, नवनालन्दा महाविहार, नालन्दा

यह एक बहुत उपयोगी प्रकाशन हुआ है। लेइया सम्बन्धी सूक्ष्मातिसूक्ष्म विचारणाओं का संकलन करने में आपने अपनी गहरी विचार शक्ति का परिचय दिया।

वर्गीकरण की यह पद्धति अति सुन्दर है।

(१४) श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन 'सरोज'—जावरा (म० प्र०)

आद्योपान्त सिंहावलोकन करने के उपरान्त लगा कि विषयकोश की परि-कल्पना अपने में महत्त्वपूर्ण है और अतीव श्रमसाध्य है।

लोग अपने लिये स्वाध्याय करते हैं पर आपका यह कोश दूसरों के स्वाध्याय और शोध कार्य में पर्याप्त सहयोगी होगा। इस गौरव के लिये आप मेरी ओर से भी बधाई स्वीकार करें।

यों तो भूमिका और आमुख दोनों का ही ग्रन्थ में अपना-अपना महत्त्व है। पर मुझे अंग्रेजी भूमिका की अपेक्षा हिन्दी का आमुख अतीव सुरुचिपूर्ण लगा। उसके लिये दिदुषी लेखिका को मेरी ओर से बधाई दीजिएगा।

(१५) श्री भागचन्द्र जैन, एम० ए० शास्त्री—सीहोर

आपके द्वारा प्रेषित 'लेख्या कोश' प्राप्त कर बहुत प्रसन्नता हुई। आपने इसके निर्माण, सम्पादन और प्रकाशन द्वारा एक बहुत बड़ी कमी की पूर्ति तो की ही है, एक अभिनन्दनीय और स्तुत्य कार्य भी किया है।

इस प्रकाशन से जैन दर्शन के अध्येताओं की एक रहस्यमय गुत्थी सुलभी है। हमारा अभिनन्दन स्वीकार करें इस उपयोगी प्रकाशन, संपादन और निःशुल्क वितरण हेतु।

(१६) डा० हरीन्द्र भूषण जैन, एम० ए० पी० एच० डी०, उज्जैन (म० प्र०)

मैंने लेख्या कोश को बड़े मनोयोग के साथ पढ़ा। आपने एक विषय का सर्वाङ्गीण अध्ययन कर उसे आधुनिक वैज्ञानिक पद्धति से उपस्थित कर सभी गोपकर्त्ताओं एवं सामान्य पाठकों को सुलभ बना दिया है। आपकी किसी एक विषय को उपस्थापन करने की यह पद्धति अनेक अनुसंधित्सुओं को इसी प्रकार कार्य करने की प्रेरणा देगी। इसमें आपका परिश्रम और मनोयोग स्पष्टतः दिखाई देता है। हमारी बधाई इस सुन्दर प्रकाशन के लिये स्वीकार करें।

(१७) डा० नागेन्द्र प्रसाद, एम० ए० डि० लिट०—नालन्दा

पुस्तक मैं आद्योपान्त पढ़ गया। जैन दर्शन के एक अत्यधिक उपयोगी, महत्वपूर्ण और आवश्यक विषय का इतना सुन्दर सम्पादन आपने किया है कि प्रशंसा के लिये मेरे पास शब्द नहीं है। दिगम्बर शास्त्रों में निहित लेख्या सम्बन्धी सामग्री का यद्यपि इस ग्रन्थ में अभाव है तथापि इससे ग्रन्थ की मौलिकता और महत्व में कोई कमी नहीं आई है।

इस महत्वपूर्ण कार्य-सम्पादन के लिये पुनः बधाई और वन्द्यवाद।

Dr. A. S. Gopani, M A. Ph.D., Head of the Deptt. of Ardhmagadhi, Bhartiya Vidya Bhawan College, Bombay-7.

"Though you do not claim that the volume is an exhaustive and complete reference book on the subject—Lesya, it is almost so. Nothing relating to the topic directly or indirectly is left out. It is thus really Cyclopaedia on LESYA. You will be rendering a very great service to Jainism thro' the publication of other volumes contemplated by you. There is no doubt about it in my mind. One is surprised at the lot of pains you have taken in conception and execu-

tion of the book. The book is well documented. Necessary references for every statement are given so as to give facilities to the readers for verifying if they want it. I am very happy to congratulate you on your grand success in the publication of your very first book of the series."

Dr. A. N. Upadhye, M A D.Litt., Shivaji University, Kolhapur.

"I have read the major portion of this KOSA. You are to be congratulated on having brought out a valuable source book on the Lesya Doctrine. I appreciate your methodology and have all praise for the pains you have taken in collecting and systematically presenting the material. Such works really advance the cause of Jainological studies. Please accept no greetings on this useful work and convey the same to your colleagues who have collaborated with you in this project. Such Kosas for 'PUDGAL' etc. would be welcome in the interest of the process of Jainological studies."

Dr. P. L. Vaidya, M. A. D. Litt, Bhandarkar Oriental Research Institute, Poona.

"I am very grateful to you for your sending me a copy of your book 'Lesya-Kosa'. I have read a goodly portion of it and am deeply impressed by your methodical work on an important topic of Lesya in Jain Philosophy. All students of Jain Literature and Philosophy would surely be grateful to you for your having placed in their hand a work of tremendous utility."

Dr. G. V. Tagare, M.A., B.T. Ph D., Kolhapur.

"Although I was preoccupied with some work of urgent nature. I could not resist the temptation of peeping through your work. From what I can see of it, I may definitely say that it is a valuable reference book to students of Jainism. If you continue your present project, you will be doing very good service to the cause of comparative religion by compiling a series of such volumes in various topics from Jain Metaphysics, Psychology etc. Let me congratulate you for bringing out such a work on such a neglected subject and wish you success in your undertaking."

Dr. Suniti Kumar Chatterjee, National Professor of India, Calcutta.

"I am not a student of Philosophy, much less of Jain Philosophy. But I have learnt a lot from your work, which is a very through study, with a wealth of quotations from both Prakrita and Sanskrita, on the concept of Lesya. This, as it would appear, is not known in Brahmanical and buddhistic philosophy. I did not know anything about it before I got your book. This as it would appear from your study, is a very important concept in Jain Philosophy with regard to the nature of Soul, both in the static or contemplative and its dynamic or active aspect.

I am sure specialists will give a welcome accord to your book."

"Wishing you all success in your noble work of interpreting of the most important aspects of our Indian civilisation and thought namely, the Jaina."

Dr. B. Ch. Chhabra, Head of the Deptt. of Ancient Indian Culture & Archaeology, Punjab University, Chandigarh.

"I am glancing through the book with great interest and pleasure.

"It is indeed an important contribution to the existing Jain.

"Literature as well as to the growing Hindi Sahitya."

Dr. J. C. Sikdar, D. Litt. Research Scholar, L. D. Institute of Indology, Ahmedabad.

"Received your commendable work "Lenya-Kosa" with thanks.

"You have made the path easy for other research workers in the field of Jainism for further exploration."

L. C. Jain, M.Sc., Head of the Deptt. of Mathematics, Govt. College, Sehore (M.P.).

"I wish to extend to you my hearty thanks of appreciation for the creative work in an ingenious style on "LESYA" in the form of a cyclopaedia. This will surely facilitate international studies of Jain science in a prospectiva and comprehensive form."

Dr. P. N. Upadhye, M. A. Ph. D., Bombay University Bombay.

“Your book *Lesya-Kosa* indeed is a valuable book to the students of Oriental Learning especially Jainistic studies. The book deals with *Lesya*—the vital part of Jainology and it would suggest as to how Jainism thought in detail about the soul and its condition which hold water even today.”

Dr. Raghvan, Head of the Deptt. of Sanskrit, Madras University.

“I thank you for sending me your valuable work “*Lesya-Kosa*.”

“It has been executed very well and I congratulate you”

Dr. P. N. Chopra, editor (*Gazeteers*), New Delhi.

“I am glad to receive your book on *Lesya-Kosa*. It is indeed a very scholarly work and I congratulate you on its publication. I hope you will be able to maintain the same standard in your future publications.”

Digambaradas Jain, Advocate, Saharanpur

“*LESYA-KOSA* is a very successful noble attempt, Such a nice scholarly work from a busy businessman is most praiseworthy. It is very helpful to research scholars in Jainism. No doubt Mr. Banthia deserves alround encouragement.”

Dr. R. K. Tripathy, Head of the Deptt. of Philosophy, B. H. University, Benaras,

“I think you have done a very good and useful work. This *Kosa* will be very useful for research scholars. I hope you will pursue this kind of work and publish other *Kosas* on other important topics of Jainism. I wish you all success in your endeavour.”

Prot : Oscar Botto, Istituto di Indologia, dell, Universita in Torino, Italy.

“I have to thank you very much for your kindly sending me your excellent book “*Lesya-Kosa*”.

I assure that as soon as I can I will write a review of this very useful book in some *Journal of Oriental Studies*.”

Prof : Dr. C. B. Tripathi, Freie Universität Berlin, West Germany.

"I have been asked by Prof : Dr. Klaus Bruhn (Director, Seminar fuer Indische Philologie) to communicate to you our thanks for sending him a copy of Lesya Kosa. In our Seminar we are at present concentrating our research activities in the field of Jainological studies. We hope to benefit greatly from the present volume of your valuable cyclopaedia.

We look forward for the future volumes and eagerly await the next volume on Lesya from the Digambar sources. We will be highly obliged for your coming publications.

We wish you all success in your praiseworthy project,

Prof. Dr. Vittore Pisani, University of Milano, Italy.

"Lesya is a concept peculiar to Jain Religion and Philosophy. In this, as in the other Indian religions, souls are subjected to transmigration on account of Karman (Good or Bad actions committed) and can be delivered from the Sansar only when they be delivered from the consequences of Karman. This condition of the Soul is realized according to the Jain in a kind of physical substance which adheres to it and can be identified with a black or azure or grey or yellow or pink or white colour, which is precisely the Lesya. The disappearance of this indicates the end of the contact with matter, and the liberation.

In this Cyclopaedia (in Hindi) the authors have collected passages of canonical works relating to each aspect and point of the doctrine of Lesya and provide students of Jainism with a valuable collection of material "

Dr. Prof. L. Alsdorf, Seminar fur Kultur und Geschichte Indiens, Universität Hamburg.

Please forgive the delay, caused by heavy pressure of work and temporary absence from Hamburg, with which I acknowledge receipt of your Lesya-Kosa and accept my very sincere thanks for this most valuable and welcome gift. The theory of Karman, of which Lesya Doctrine is an integral part, is the very centre and heart of Jainism ;

at the same time, it is a most intricate and complex subject the study of which presents a great many difficulties and problems, not all of which have been solved so far. With erudition and acumen, you have furnished a most useful contribution and successfully advanced our knowledge. I learn with great interest from your letter of April 26th, that two more studies from your pen are to follow soon. I wish both the Kriya and Pudgal Kosa a speedy publication and full success.

Prof. Dr. K. L. Janert, Director, Institute für Indologie Der Universität Zu Köln.

Some days ago, I have received your book Lesya-Kosa, and I should like to thank you very much for having sent it to me. And apart from having to thank you for your kindness, I also owe you a valuable addition to my Library. It is always a matter of great satisfaction to me to see a scholar not recoil from the arduous task of compiling dictionaries, indexes etc.—even that great English Critic and Lexicographer, Dr. Samuel Johnson, called it drudgery some two hundred years ago. And it is of course only diligent collection and comparison of all relevant material that genuine advance in knowledge is based on. So we shall have to thank you for having made work easier for those who come after you.

It is most gratifying to observe how a man like you, with an exacting profession to follow, still has the energy not only to conceive a plan like yours, but also to carry it through. This is an instance of the distinction between profession and vocation. Let me congratulate you on your achievement and thank you very much.

Dr. Nalinaksha Dutt, Retired Head of the department of Pali & Prakrit, Calcutta University.

The author has performed an arduous formidable task by collecting not merely the references to the Jaina literature but also by quoting stanzas and passages wherever the term Lesya occurs and arranging them in the order adopted in the Jaina treatises. The book is highly commendable and will serve as a valuable and indispensable handbook for all students of Jainism, whether of the Universities or of the Jaina monastic institutions.

श्रीमान् श्रीचन्दजी सा० चोरडिया, जो जैन दर्शन के मर्मज्ञ विद्वान् हैं, कोश कार्य संचालित कर रहे हैं। चोरडियाजी मेरे पुराने साथी हैं। वे बड़े योग्य हैं। जैन दर्शन समिति की ओर से प्रकाशित लेश्या कोश, क्रिया कोश आदि ग्रन्थ वास्तव में जैन अनुसंधान के क्षेत्र में बड़ी महत्वपूर्ण रचनाएँ हैं। कोशों का बहुत सदुपयोग होगा।

—झगनलाल शास्त्री

लेश्या कोश, क्रिया कोश, योग कोश—

इन तीनों के सम्पादक हैं—स्व० मोहनलालजी बाण्डिया तथा श्रीचन्दजी चोरडिया। सम्पादक द्वय ने लेश्या, क्रिया और योग के बिखरे संदर्भों को जैन आगम साहित्य से एकत्रित कर उनके सुसंयोजित रूप को लेश्या कोश, क्रिया कोश और योग कोश के रूप में प्रकाशित किया है। सारा विषय उप बिन्दुओं में विभक्त है तथा हिन्दी भाषा के अनुवाद से अन्वित है। लेश्या कोश सन् १९६६ में, क्रिया कोश सन् १९६६ में जैन दर्शन समिति, कलकत्ता से प्रकाशित हुए।

श्री भिक्षु आगम विषय कोश से उद्धृत।

—गणाधिपति तुलसी

—आचार्य महाप्रज्ञ

लेश्या कोश व क्रिया कोश में गहन अध्ययन परिलक्षित होता है। बड़े परिश्रम के साथ लिखे गये हैं।

—मुनिश्री जयंतीलालजी

श्रीचन्दजी चोरडिया न्याय तीर्थ—एक विद्वान् व्यक्ति हैं। इन्होंने लेश्या आदि कई कोशों का निर्माण किया है।

—साध्वी सोमलता

श्रीचन्द चोरडिया ने साहित्य क्षेत्र में बहुत कार्य किया है।

दिल्ली, २ अक्टूबर, १९६६

—आचार्य महाप्रज्ञ

श्रीचन्द चोरडिया ने लेश्या कोश आदि कर्म ग्रन्थों की रचना की है।

—भंवरलाल सिंघी

श्रीचन्द चोरड़िया ने योग कोश, लेख्या कोश, क्रिया कोश, पुद्गल कोश जैसे महत्वपूर्ण कोशों की रचना की है ।

आप बहुत गम्भीर सरल स्वभाव के हैं ।

—डा० सत्यरंजन बनर्जी

श्रीचन्द चोरड़िया कोश की रचना का कार्य सम्यग् प्रकार से कर रहे हैं ।

—साध्वी श्री जतकुमारीजी, कनिष्ठा

कोश निर्माण की गति मन्द न हो । जो लोग यह काम करते हैं वे शासन की बहुत बड़ी सेवा करते हैं ।

सरदारशहर, १४ सितम्बर १९६७

—आचार्य महाप्रज्ञ

अबतक निम्नलिखित ६ कोश प्रकाशित हो चुके हैं ।

- (१) आगमशब्द कोश ।
- (२) एकार्थक कोश ।
- (३) निरुक्त कोश ।
- (४) देशी शब्द कोश ।
- (५) आगम वनस्पति कोश ।
- (६) लेख्या कोश ।
- (७) क्रिया कोश ।
- (८) योग कोश ।
- (९) श्री भिक्षु आगम विषयक कोश ।

६-८ लेख्या कोश, क्रिया कोश, योग कोश—

इन तीनों के सम्पादक हैं—स्व० मोहनलालजी बांठिया तथा श्रीचन्दजी चोरड़िया । सम्पादक द्वय ने लेख्या कोश, क्रिया कोश और योग कोश के बिखरे संदर्भों को जैन आगम साहित्य से एकत्रित कर उनके सुसंयोजित रूप को लेख्या कोश, क्रिया कोश और योग कोश के रूप में प्रकाशित किया है । सारा विषय में उपबिन्दुओं में विभक्त है तथा हिन्दी भाषा के अनुवाद से अन्वित है, लेख्या कोश सन् १९६६ में, क्रिया कोश सन् १९६६ में (तथा योग कोश सन् १९६४ में) जैन दर्शन समिति कलकत्ता में प्रकाशित हुए ।

तुलसीप्रज्ञा जुलाई, सितम्बर १९६७

—गणाधिपति तुलसी

—आचार्य महाप्रज्ञ

SOME OPINIONS ON KRIYA KOSA

PRAJNACHAKSHU PANDIT SUKHLAL D. Litt., Ahmedabad.

After Lesya Kosa I have received your Kriya Kosa, thanks. I have heard the Editorial, Forward, Preface in full and certain portions thereafter. I am surprised to find such dilligence, such concentration and such devotion to learning. particularly so because such person is rarely found in business community who dedicates-himself to learning like a BRAHMIN.

Dr. Adinath Neminath Upadhye D. Litt. Shivaji University, Kolhapur.

I am in receipt of the copy of the 'Kriya Kosa' so kindly sent by you. It is a remarkable source book which brings in one place, so systematically, the references and extracts which shed abundant light on the usage of the term Kriya in Jainism. The Kosas that are being brought out by you will prove of substantial help to the future compliation of an encyclopaedia on Jainism. I shall eagerly look forth to the publication of your DHYAN KOSA.

With felicitations on your scholarly achievements.

**Dr. P. L. Vaidya, D. Litt Bhandarkar Oriental
Research Institute, Poona-4.**

I am very grateful to you for your sending me a copy of your Cyclopaedia of Kriya. I have read a few pages already and find it as useful as your Lesya-Kosa. Please do bring out similar volumes on different topics of Jain Phiosophy, of course, this may not bring you any material wealth, but I am sure students of Jain Literature will surely bless you for having offered them a real help in their study.

Prof. Hiralal Rasikdas, Kapadiya Surat-Bombay.

This work (Kriya Kosa) will be very useful to scholars interested in Jainology. The learned editors deserve hearty congratulations for having undertaken such a laborious and tedious task.

प्राचीन आगम साहित्य में यत्र-तत्र क्रियाओं का उल्लेख बिखरा पड़ा है । कहीं पर कुछ वर्णन है तो कहीं पर कुछ । प्रबुद्ध पाठक भी उन सब उल्लेखों का एकत्र अनुसंधान एवं चिन्तन करने में कठिनाई का अनुभव करता है । साधारण जिज्ञासु पाठकों की कठिनाई का अनुभव करता है । साधारण जिज्ञासु पाठकों

की कठिनाई का कहना ही क्या ? कभी-कभी तो साधारण अध्येता इतनी उलझन में फंस जाता है कि सब कुछ छोड़कर किनारे ही जा बैठता है । श्री मोहनलालजी बांठिया ने उन सब वर्णनों का क्रिया-कोश के रूप में एकत्र संकलन कर वस्तुतः भारतीय वाङ्मय की एक उल्लेखनीय सेवा की है । मैं जानता हूँ—यह कार्य कितना अधिक श्रमसाध्य है । चिन्तन के पथ की कितनी घाटियों को पार कर मंजिल पर पहुँचना होता है । प्रतिपाद्य विषय की विभिन्न भागों में वर्गीकरण करना अधिक उलझन भरा होता है परन्तु श्री बांठियाजी अपने धुन के एक ही व्यक्ति है । उनका चिन्तन स्पष्ट है । वे वस्तु-स्थिति को काफी गहराई से पकड़ते हैं उसका उचित विश्लेषण करते हैं ।

२६ अक्टूबर १९६६

—उपाध्याय अमर मुनि

इसके सम्पादक श्री मोहनलाल बांठिया और श्रीचन्द चोरड़िया हैं और प्रकाशन किया है जैन दर्शन समिति, कलकत्ता ने, सन् १९६६ में । श्री बांठिया जैन दर्शन के सक्षम विद्वान हैं । उन्होंने जैन विषय कोश की एक लम्बी परिकल्पना बनाई थी और उसी के अन्तर्गत यह द्वितीय कोश के नाम से प्रसिद्ध हुआ । इस कोश का भी संकलन दशमलव वर्गीकरण के आधार पर किया गया है और उनके उपविषयों की एक लम्बी सूची है । क्रिया के साथ ही कर्म विषयक सूचनाओं को भी इसमें अंकित किया गया है । लेश्या कोश के समान ही इस कोश के सम्पादन में भी पूर्वोक्त तीन बातों का आधार लिया गया है । इसमें लगभग ४५ ग्रन्थों का उपयोग किया गया है । जो प्रायः श्वेताम्बर आगम है । कुछ दिगम्बर ग्रन्थों का भी उपयोग किया गया है । सम्पादक ने उक्त दोनों कोषों के अतिरिक्त पुद्गल कोश, दिगम्बर लेश्या कोश, परिभाषा कोश को भी संकलन किया था, परन्तु अभी इनका प्रकाशन नहीं हो सका है । इस प्रकार के कोश जैन दर्शन को समुचित रूप से समझने में निसंदेह उपयोगी होते हैं ।

—डॉ० नेमीचन्द जैन

योग कोश पर प्राप्त समीक्षा

योग कोश (प्रथम खण्ड) सम्पादक—श्री श्रीचन्द चोरड़िया 'न्यायतीर्थ' (द्वय), प्रकाशक—जैन दर्शन समिति, १६-सी, डीवर लेन, कलकत्ता-७०००२६, मूल्य—१००/- रुपये ।

जैन आगम विषय कोश ग्रन्थमाला का यह छठा पुष्प है जिसमें मन के चार योग, वचन के चार योग तथा काया के सात योग अर्थात् १५ योगों का विस्तार पूर्वक विवेचन है । आधुनिक दशमलव प्रणाली के आधार पर वर्गीकरण किया

गया है। ग्रन्थ में योग की व्युत्पत्ति, समास, विशेषण और प्रत्यय आदि विशेषण सहित परिभाषा भी दी गई है। ग्रन्थ में बताया गया है कि किस जीव में कितने योग होते हैं। विद्वानों द्वारा यह ग्रन्थ समादृत हुआ तथा इसकी उपयोगिता स्वीकारी गयी है। यह प्रकाशन अर्हत् प्रवचन की प्रभावना एवं जैन दर्शन के तन्वज्ञान के प्रति सर्व साधारण को आकृष्ट करने के लिए किया गया है। विद्वानों के लिए ग्रन्थ अत्यन्त उपयोगी है। लगभग ३५० पृष्ठों की पक्की जिल्दयुक्त यह ग्रन्थ समादरणीय है।

मई १९६४

—जैन जगत

कोश की एक उपयोगिता है। भगवान् महावीर के गुणों को अपने जीवन में उतारने का प्रयत्न करना चाहिए।

योग कोश में योग सम्बन्धी काफी सामग्री एकत्रित भी हुई है। प्रकाशन अच्छा है।

—साध्वी श्री मधुस्मिता

आगम व आगमोत्तर साहित्य में दिखरी ज्ञान राशि को दिषमीकरण परि-योजना के माध्यम से 'कोश' रूप में संग्रहित करने का चिन्तन एवं प्रयत्न अपने आप में विशेष उपयोगी एवं महत्त्वपूर्ण है।

अपनी धुन के धनी स्व० मोहनलालजी बांठिया एवं भाई श्री श्रीचन्द्रजी चोरड़िया का इस दिशा में जो प्रयास हुआ है तथा वर्तमान में भी हो रहा है—अतिस्तुत्य एवं मूल्यपर्क है।

जैन दर्शन-समिति ने उनके कार्य का मूल्यांकन कर ग्रन्थ-प्रकाशन की और जो उत्साह दिखाया है—यह प्रशंसनीय है साथ ही उससे यह अपेक्षा है कि त्वरित गति के साथ वह अपने इस कार्य को आगे बढ़ाएँ।

'योग कोश' (प्रथम खण्ड) जैन दर्शन समिति का सातवाँ पुष्प है। विद्वान सम्पादक श्री चोरड़ियाजी ने अपने ज्ञान, उपयोग, कौशल्य और शक्ति का सही दिशा में उपयोग कर योग—विषयक सामग्री का प्रस्तुत ग्रन्थ में अच्छा चयन किया है। साथ ही उसके सार संदर्भ को अपनी प्रस्तावना में समाहित कर एक जिज्ञासु और शोधकर्ता के लिए काफी उपयोगी एवं सोचने समझने जैसी सामग्री प्रस्तुत की है।

१ अक्टूबर १९६६

—बच्छराज संचेती

जैनागमों के महोदधि के मंथन से निकाले गये नवनीत के रूप में यह ग्रन्थ मुझ जैसे स्वाध्याय प्रेमी व्यक्ति के लिए अत्यन्त उपयोगी होगा। इस ग्रन्थ की शाश्वत मूल्यवत्ता हर आत्मलक्षी व्यक्ति के लिए प्रेरक व पथप्रदर्शक प्रकाशस्तंभ का कार्य करती है।

अनेकानेक धन्यवाद।

२२-११-६७

—सोहनराज कोठारी
पूर्व न्यायाधीश व एडवोकेट नयापुरा-बालोतरा

जैन ग्रन्थों में वर्णितयोग की सम्पूर्ण क्रियाओं का संकलन इसमें है। प्राकृत भाषा में लिखे गये अनेक ग्रन्थों का अनुवाद कर प्रकाशित करने से लोगों को ज्ञान वृद्धि होगी।

—बी० एन० मुखर्जी
कलकत्ता विश्वविद्यालय (इतिहास विभाग)

विभिन्न विषयों पर प्रकाशित ग्रन्थों के क्रम में यह आठवीं पुस्तक समिति ने छपवाई है। समिति का उद्देश्य है—प्राचीन ग्रन्थों में समाहित ज्ञान को जन-भाषा के जरिये जनमानस तक पहुँचाना है।

—गुलाबमल भंडारी

भगवान् महावीर के द्वारा प्रतिपादित सिद्धांतों का अपने जीवन में उतारने का प्रतिदिन अभ्यास करना चाहिए। योग कोश अच्छा ग्रन्थ है।

—भूपतभाई कमानी

योग कोश (द्वितीय खण्ड) बहुत सुन्दर बन पड़ा है। कोश कार्य उत्तम है।

—साध्वी श्री मधुस्मिता

नामानुसार अत्यन्त महत्त्वपूर्ण संकलन ग्रन्थ है। योग से सम्बन्धित सम्पूर्ण पाठों को इस ग्रन्थ में समग्रता से संकलन किया गया है। जैन धर्म दर्शन को समझने के लिए ये ग्रन्थ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

शोधार्थियों के लिए तो बहुत ही उपयोगी हैं—कोश ग्रन्थों का सुत्रोद्य संकलन।

जैन दर्शन के सभी महत्त्वपूर्ण विषयों पर कोश ग्रन्थों का संकलन किया जाये तो जैन दर्शन की समृद्धि का एक नया आयाम मिल सकता है।

—डा० विशाल मुनि

योग कोश में योग के भेद-उपभेदों का बड़े ही तलस्पर्शी ढंग से विवेचन किया गया है। पठनीय है, चिन्तनीय है।

—मुनिश्री सुमतिचंद्रजी

प्रस्तुत पुस्तक स्व० मोहनलालजी बांठिया द्वारा प्रारम्भित जिनागम समुद्र अवगाहन कर विभिन्न जीवन आदि विषयों की श्रृंखला का दशमलव बर्गीकरण छट्टा पुष्प-ग्रन्थ रत्न है। शोध छात्रों व वाङ्मय रसिकों के लिए बड़ा उपयोगी है। ऐसे ग्रन्थों का अध्ययन अध्येता के बहुश्रुतत्व में वृद्धि करता है। फिर भी संशोधनादि में पर्याप्त सतर्कता आवश्यक है। इसका प्रकाशन कर उच्चस्तरीय जैन साहित्य में अवश्य ही विद्वान सम्पादक ने बड़ा उपकार किया है। सहायक ग्रन्थ सूची में अधिकांश लाडणूँ में प्रकाशित ग्रन्थ है जबकि कई दिगम्बर व जैनेतर ग्रन्थों का भी उपयोग किया है पर जैन साहित्य अति विशाल है। जितना इस प्रथम खण्ड में आया है, अवशिष्ट द्वितीय खण्ड में अपेक्षित है। शोध और स्वाध्याय में रुचि वालों के लिए यह सन्दर्भ ग्रन्थ अवश्य पठनीय है।

—भंवरलाल नाहटा

आज से अड़तीस वर्ष पूर्व आचार्य श्री तुलसी ने आगम सम्पादन के कार्य करने की घोषणा की थी। सम्पादन का एक अंग कोश है। तत्त्वज्ञ श्रावक श्री मोहनलालजी बांठिया ने इस कार्य को अपने ढंग से करना शुरु किया। कोश का निर्माण दृढ़ व स्थिर अध्यवसाय से ही होता है। वे मनोयोग से लगे। उन्हें सहयोगी मिले श्रीचन्द चोरड़िया (न्यायतीर्थ)। अस्वस्थ रहते हुये भी बांठियाजी इस कार्य को करते रहे।

उनके देहान्त होने के बाद उनके अधूरे कार्य को पूरा करने में लगे हुये हैं श्री श्रीचन्द चोरड़िया। सीमित साधन सामग्री में वे जो कुछ कर पा रहे हैं, वह उनके दृढ़ संकल्प का ही परिणाम है। क्रिया कोश, लेख्या कोश, मिथ्यात्वों का आध्यात्मिक विकास, वर्धमान जीवन कोश के बाद अब योग कोश को सम्पन्न किया है। स्तुत्य है। आगमों के इन अन्वेषणीय विषयों पर कोई भी चले अनुमोदनीय है, अनुकरणीय है।

फिर भी जैन दर्शन समिति का यह प्रकाशन विशेष संग्रहणीय बन पड़ा है। श्रम का उपयोग कितना होता है—यह तो शोधकर्त्ताओं पर निर्भर करता है।

कोश की शृंखला विराम न लें, चोरड़िया में स्वाध्याय व सृजन दोनों की वृद्धि हो, इसी शुभाशंषा के साथ ।

—मुनि सुमेर (लाडनू)

कलकत्ता—माघ शुक्ल २, संवत् २०५०

१—योग कोश के इस ग्रन्थ को पूर्ण करने में स्व० मोहनलालजी बांठिया एवं श्रीचन्द्रजी चोरड़िया ने काफी अथवसाय एवं परिश्रम किया है तथा शोधार्थी विद्वानों के लिए मार्ग प्रशस्त किया है ।

—रतनलाल रामपुरिया

२६ जनवरी १९६८

२—योग कोश (द्वितीय खण्ड) एक महत्वपूर्ण कृति है ।

—के० जी० गुप्ता, लाडनू

३—योग कोश एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है ।

—प्रो० सी० एन० मुखर्जी

४—यह एक महत्वपूर्ण प्रशंसनीय कृति है ।

—परमानन्द सोलंकी, सम्पादक, तुलसी प्रज्ञा

जैनगमों के महोदधि के मंथन से निकाले गये नवनीत के रूप में यह ग्रन्थ मुझ जैसे स्वाध्याय प्रेमी व्यक्ति के लिए प्रेरक व पथदर्शक प्रकाशस्तम्भ का कार्य करता है ।

—जवरमल भंडारी

श्रीचन्द्र चोरड़िया द्वारा लिखी गई योग का विश्वकोश (योग-कोश) के पहले भाग का परिचय करवाते हुए बेहद हर्ष हो रहा है जो कि इस पण्डितोचित विश्व में जैनत्व के विभिन्न विश्वकोशों में अपने योगदान के लिए प्रख्यात है । श्री श्रीचन्द्र चोरड़िया ने अपने विद्याभिमान से इस पुस्तक को विभिन्न विभागों में विभाजित किया है । जैसा कि आमतौर पर पुस्तकालय विज्ञान में अनुसरण किया जाता है । चूंकि यह एक विश्वकोश है इसमें सभी उल्लेख जैन साहित्य में पाए जाने वाले हैं । इनके संग्रह का सबसे महत्वपूर्ण रूप यह है कि इन्होंने अपने सभी उल्लेख जैन पुस्तकों के आधार पर किया गया ना की अपने काल्पनिक विचारों से । इन्होंने इस पुस्तक को सत्यता प्रदान की है । जो कोई भी इनके

विश्वकोशों के कार्य से परिचित हैं वे जानते हैं कि इनकी विधि कितनी वैज्ञानिक व विभवयुक्त है। यह पुस्तक इस ओर भी संकेत करती है कि जैनत्व के किसी एक विषय पर किसी तरह शोध की जाए। आर० एन० विलियम की जैन योग (लंदन १९६२) नामक पुस्तक जैन योग का अध्ययन करवाती है परन्तु श्रीचन्द्र चोरड़िया की पुस्तक जैन योग का विश्वकोश है एवं अवश्य ही उत्तरोत्तर पूर्व-रोक्त से ज्यादा गहन है।

यह योग कोश अच्छी तरह मुद्रित एवं ध्यान से सुटढ़ बन्धी हुई है। इसमें आलौकिक संग्रह है। अपवाद भूत रूप से कुछ मुद्रण अशुद्धियाँ हैं जिन्हें लेखक ने स्वयं अलग से सूचित किया है। इसमें विस्तार पूर्वक भूमिका करीब ७५ पृष्ठों की बांधी गई है। मैं आशा करता हूँ, भविष्य में हमें उनसे इसी तरह का कार्य प्राप्त होता रहेगा। श्रीचन्द्र चोरड़िया जैनत्व के एक अच्छे विद्वान एवं असाधारण परिश्रमी शोधकर्ता हैं, जैनत्व के विषय पर। मैं विश्वास करता हूँ कि यह पुस्तक विश्व के विद्वानों के द्वारा उचित स्वीकृति प्राप्त करेगी।

—सत्यरंजन बनर्जी

लेश्या कोश, क्रिया कोश, योग कोश

इन तीनों के सम्पादक हैं—स्व० मोहनलालजी बाँठिया तथा श्रीचन्द्रजी चोरड़िया। सम्पादक द्वय ने लेश्या, क्रिया और योग के बिखरे सन्दर्भों को जैन आगम साहित्य से एकत्रित कर उनके सुसंयोजित रूप से लेश्या कोश, क्रिया कोश व योग कोश के रूप में प्रकाशित किया है। सारा विषय उपविन्दुओं में विभक्त है तथा हिन्दी भाषा के अनुवाद से अन्वित है। लेश्या कोश सन १९६६ में, क्रिया कोश १९६६ में व योग कोश १९६४ में जैन दर्शन समिति कलकत्ता में प्रकाशित हुए।

—मुनिश्री विमलकुमारजी

—तुलसी प्रज्ञा—भाग २३ अंक २

जुलाई-सितम्बर १९६७

योग कोश ग्रन्थ लेखक की अमूल्य कृति है। जैन दर्शन में योग की सूचिका के विषय में इस ग्रन्थ से पूर्ण जानकारी प्राप्त की जा सकेगी।

—हीरालाल सुराणा

योग कोश में पचीस बोल के आठवें—योग पन्द्रह का तलस्पर्शी विवेचन है । सम्पादक धन्यवाद के पात्र हैं ।

—गुलाबमल भण्डारी
अध्यक्ष, जैन दर्शन समिति

प्रस्तुत पुस्तक योग कोश है । इसमें कोई संदेह नहीं कि एक अनुसंधित्म के लिए कोश का उपयोग है । यह उपयोगिता ही इस कार्य की समृद्धि के लिए पर्याप्त प्रमाण है । कार्य को गतिशील बना दिया ।

—गणाधिपति तुलसी

उनके देहान्त (२३-६-१९७६) होने के बाद उनके अधुरे कार्य को पूरा करने में लगे हुए हैं—श्रीचन्द चोरड़िया । समिति साधन सामग्री में वे जो कुछ कर पा रहे हैं, वह उनके दृढ़ संकल्प का ही परिणाम है । क्रिया कोश, लेश्या कोश, मिथ्यात्वी का आध्यात्मिक विकास, वर्धमान जीवक कोश (खण्ड १, २, ३) के पश्चात् अब योग कोश को सम्पन्न किया है । स्तुत्य है ! आगमों के इन अन्वेषणीय विषयों पर कोई भी चले अनुमोदनीय है, अनुकरणीय है ।

फिर भी जैन दर्शन समिति का यह प्रकाशन विशेष संग्रहणीय बन पड़ा है । श्रम का उपयोग कितना होता है—यह तो शोधकर्त्ताओं पर निर्भर करता है ।

कोश की श्रृंखला विराम न ले, चोरड़िया में स्वाध्याय व सृजन दोनों की वृद्धि हो—इसी शुभाशंषा के साथ ।

—नोरतनमल सुराणा, कलकत्ता

वर्धमान जीवन कोश, प्रथम खण्ड पर समीक्षा

Vardhamana, better known as Bhagwan Mahavira, was the last in the series of twenty-four Tirthankars of the Jaina tradition. He is without doubt a historical celebrity who lived in the sixth century before Christ, i. e. from 599 to 527 B. C., and occupies an important place in the cultural history of India. Acclaimed as one of the greatest teachers of mankind, he possesses a universal appeal and an all-time relevance. The religious, philosophical and cultural system now known as the Jaina owes its final shaping to Bhagwan Mahavira. He was not the original founder of this system which, in

its genesis, reaches back to early pre-historic times when Lord Risabha, the First Tirthankara. Taught man the rudiments of human civilization, the manner to live a meaningful life, and the Ahimsite path to liberation through renunciation and spiritual uplift. The succeeding Tirthankaras, right up to parshvanatha (877-777B. C) the penultimate. and Vardhamana Mahavira (599-527 B. C) the last of them, preached the same creed for the good of all the living beings, in their own ways and respective times. Naturally, the Jains (followers of the Jains creed), all over the world, adore Mahavira, the Jina, as the most workshopful one.

A few years ago, the 2500th anniversary of Lord Mahavira's Nirvana was celebrated all over India, and even abroad, with befitting zeal. One salutary effect of these celebrations was that Mahavira's name received an unprecedented publicity which made people curious to know more about this great benefactor of mankind. Consequently, scores of books, big and small, dealing with the life and teachings of the Lord, written by different scholars and in different languages, were published.

The present work, The Vardhaman Jivana-kosha, or a 'dictionary of Mahavira's biographical Data', is a valuable addition to modern literature on the subject. It is not actually a biography of the hero, but is a topical dictionary of the biographical details relating to Mahavira, as available in the different literary sources. For this purpose, the learned compiler and editor of this book has selected some ninty three works, including 25 canoncial texts and 31 other works of the Shvetambara tradition, 12 of the Digambara, 8 Budhist, 5 Brahmanical puranas, and 12 modern dictionaries and reference books. The details have been classified topically in the international decimal system, giving, under each topic, the information in the original with translation in Hindi and proper reference, as gleaned from different sources. Thus it is not only a unique but also a very useful and handy reference book for source material on Mahavira's life, at least so far as the Shvetambara version of the Lord's biography is concerned. Naturally, the Shvetambara sources have been almost exhaustively utilised and in places where Digambara sources have also been quoted, the differences between the two traditions have been pointed out. The learned compiler seems to have missed

noticing the interesting bit of information given by Jinasena Suri's Harivamsha (II, 13) which supplies the names of Mahavira's grandparents as King Sarvartha and queen Shrimati. The statement that whereas the Shvetambara works give the name of Mahavira's family as Jnatri, the Digambara call it Natha, is not quite correct the Digambara author Pujiyapada, of the 5th century A. D. specifically describes Mahavira as 'The moon of the Jnata family.' There is other evidence, too, in support of the fact that the Digambara authors also believed the name of the family to have been Jnata, Jnatri or Jnatrika. It would, perhaps, not be correct to say that the form of the name Vardhamana used by Kundakunda, Vattakora, Yativrashabha, etc. is not Prakrit but is Apabhramsha.

The scheme of compiling such topical dictionaries was initiated and launched upon by the late lamented Sri Mohan Lal Banthia who, with the assistance of Pt. Srichand Choraria, published the Leshya-Kosha in 1966 and the Kriya Kosha in 1969. The Pudgala-Kosha and Dhyna-Kosh seem to have also been compiled. The Vardhamana-Jivana-Kosha is the third publication of the series, but whereas the other Koshas of the series are related to certain specific philosophical concepts, the present one concerns the life-story of a historical personage. Since Banthiaji's demise in 1976, the work of its completion and editing fell solely upon Pt. Chorariaji who acquitted himself of this task with flying colours. The patience, perservrance and hard work put into it is a credit to him for which he deserves hearty congratulations. The office bearers and members of the Jaina Philosophical Society, Calcutta, who have undertaken the work of implementing the schemes of Banthiaji in this direction also deserve thanks for enabling Pt. Choraria to complete the work and publishing it.

Jyoti Prasad Jain

Jyoti Nikunj,

Charbagan, Lucknow-1

12 March 1980

Vardhamana-Jivana Kosha compiled and edited by Mohanlas, Banthia and Srichand Choraria, Jain Darsan Samiti, 16C, Dover Lane, Calcutta-700 029, 1980 p. p. 51+584.

The publication of Vardhamana-Jivana-Kosha Cyclopaedia of Vardhamana, compiled and edited by Mohanlal Banthia and Srichand

Choraria, is a unique contribution to the scholarly world of Jainistic studies. The conception of compiling a dictionary on the life and teaching of Lord Mahavira is itself a new one, and the compilers must be thanked for such a venture.

This type of cyclopaedia has been a desirable for a long time. The book is divided into several sections as far as 99 and sub-divided into several other decimal points for the easy reference. The system followed in this classification is the international decimal system. Each decimal point is arranged in accordance with the topic connected with the life and history of Vardhamana Mahavira. In each section and under each topic the original quotations from nearly 100 books followed by Hindi translation are given. These quotations are not only valuable, but they represent the authenticity of the incidents of the life of Mahavira. To compile such quotations in one place is a monumental one and tremendous labour involved therein.

This Jain Darsana samiti has published two other Kosas Les'ya Kos'a (1966) and Kriya Kosa (1969). The Pudgala Kosa and the Dhyana-Kosa seem to have been compiled and awaiting publications for a decade now.

The Vardhamana Jivana Kosa is not only unique but also very useful for the handy reference, to the source material on Mahavira's life story. The author has ransacked both the Svetambara and Digambara materials. This is an exceptionally good book and must be used by all scholars who want to work on Jainism, particularly on Mahavira's life.

The book is well-printed and carefully executed. The printing mistakes are exceptionally few. The book is well bound as well. I hope this book will receive good demand from the libraries of the world.

University of Calcutta
20th Sept 1984

—SATYA RANJAN BANERJEE

The present work is the third volume in the series of Cyclopaedia of Jainism proposed to be published on behalf of Late Shri Mohan Lal Banthia. The first volume was the Cyclopaedia of Lesya

and the second volume was the cyclopaedia of kriya. Both these volumes promised to be the complete cyclopaedia of two highly technical subjects of Jain Philosophy. Now, this third volume, which is an exhaustive collection of material related to the life of Bhagawan Mahavira, whose birth-name was Vardhamana.

The learned compilers of this cyclopaedia work, Late Shri Mohan Lal Banthia and Shri Shrichand Choraria, have taken pains to collect all the available material concerning the life of Bhagawan Mahavira from all literary sources—the Jain canons, the commentaries on the Jain canons, the later non-canonical Prakrit and Sanskrit works, the Buddhist Pali texts, as well as other available sources.

The present work is only the first part of the volume, which will be published in three parts. The decimal system used for classification of topics signifies a scientific approach in topical classification and makes it easy to find out any sub-topic.

It is definitely a unique work on the life of Bhagawan Mahavira, elucidating simultaneously all the aspects including those of historical significance. The compilers deserve congratulations for their hard labour. The cyclopaedia publications in the series will become a valuable repository of Jain learning for ages to come.

—Muni Shri Mahendra Kumar
(Disciple of Acharya Shri Tulsi)

Vardhaman Jivan Kosa or Cyclopaedia of Vardhamana (in Hindi)
Part I, compiled by Shrichand Choraria, published by Jaina Darshan Samiti, Calcutta, 1980. Price Rs. 50.00/65 sh.

This is rather a belated publication of the life-story of Vardhamana, better known as Mahavira, the 24th Tirthankara of the Jainas, and has more to say on the man as Mahavira than as Vardhamana. Hence the title is likely to be misleading. It is belated because it could not take its place alongside the plethora of literature on Mahavira that appeared in 1975. But better late than never.

The work follows the line laid down by the late Mohanlal Banthia, viz, that of bringing together between two covers relevant

quotations from the orthodox and lesser Agamic texts on particular topics of philosophical significance and two such works, one on Tinges and the other on Activity have already appeared, and the reviewer understands that material for many more is already in an advanced stage. The present work is the third in the series and breaks away from the previous two in this that it is not on a philosophical theme. Since as per declaration, this volume is Part I, a second one is expected on Vardhamana-Mahavira, before attention is given to another philosophical topic.

Strictly speaking, no life sketch of Vardhamana Mahavira was produced during his life-time or shortly after his death by any one who had seen him and known him, and the only thing that we know from early canonical texts, like the Acaranga, is stray reference or a few place names he had visited and persons he had inspired, which could never be the source material for the preparation of a biography. The earliest biography of Mahavira, Parsva and Adinatha Rsabha, Kalpa Sutra of Bhadrabahu, is a production after a gap of 2 centuries, when Mahavira had ceased to be a man and had become a memory, a tradition, a sanctified personality, a beacon light. The kalpa Sutra uses a mechanical model in which all the 23 Tirthankaras are made to fit in, and the mechanical model itself is too scrappy because a Tirthankara, who comes with a spiritual mission, has no earthly axe to grind. The Kalpa Sutra itself has received the touch of many hands, besides that of Bhadrabahu. The only one point in favour of this early work is that as a biographical sketch of all the Tirthankaras, it has been widely revered and used, and it still enjoys an eminent position. Quotations from the Kalpa Sutra have found place in the present compilation.

But by and large the source material for the present work, a much later production, which grew apace till the genesis of the medieval period, is the handiwork of lesser persons, the Sectarian heads called Acaryas, who built up the life-story of Vardhamana-Mahavira depending on the hypothesis that Mahavira was a god-man and enshrouding him with supernatural events whenever he went to establish his super human character, a process not discarded by devotees even in the twentieth century, the more so in the case of Mahavira who stood apart from his would-be biographers, separated by

many centuries. By this time, Mahavira had become a cult, to be accepted with devotion, and not to be questioned in any way, except for committing an act of sacrilege. Since the compiler has made use of the Digambara Puranas from which the present reviewer rendered into English about 400 slokas covering the Mahavira episode, he can say with authority that the Digambara source is much posterior and much less authentic than the Svetambara ones.

The story of Vardhamana Mahavira, as it has figured in the compilation, is not already unknown to the readers of vernacular texts, but this is the first time that it has appeared in languages, Prakrit and Sanskrit, in which the Agamic texts were written and to that extent the compilation should be immensely inspiring to the readers as well as researchers. Objection has been raised by Pt. Dalsukh Malvania which has been printed in the book that the gleanings do not follow the accepted order of priority of the source material. but the reviewer very much doubts if that would have made a hell of a difference, the convenience of the compiler being the most helpful licence in this regard. Dr. Jyoti Prasad Jain draws attention about a missing link on the basis of Jinasena Suri's work regarding the names of Mahavira's grand parents, which the compiler has not noticed, but even here it may be questioned how far the geneology need be stretched beyond the parents who are the most important persons in bringing us to life. If a more exhaustive geneology could be given, very fine, if not, no harm, so long as we know the tree of which one is the fruit. Between Svetambara 'Jnata' and Digambara 'Natha', again, Mahavira's clan, the difference is not as wide as that between heaven and hell and need be overlooked.

The reviewer would, however, fail in his duty if he does not record his disappointment over the fact that not a single biographical sketch of Mahavira, including the present compilation, highlights Mahavira as an Idea, the subjective, as distinguished from the super-natural Mahavira which would have been more important. The reviewer thinks that the material for this part of the story, at least from the Svetambara sources, is much earlier, more authentic and more copious than any other, the innumerable dialogues between Mahavira and Gautama on diverse themes, mythological, scientific and socio-political, a lot of mathematics, astronomy, cosmology and

cosmogony and what not, which constitute about eighty percent of the early Agamic texts. In an age of subjective crisis, a subjective Mahavira would be more salable than an objective one attired in miaginary supernaturals.

—K. C. Lalwani
Jain Journal, July 1981

जिसमें भगवान् महावीर के ज्यवन से लेकर परिनिर्वाण तक सारे प्रसंगों का विवेचन किया गया है ।

—श्याम जैन, इन्दौर

वर्धमान जीवन कोश के दोनों खण्ड का अध्ययन कर रहा हूँ । आपके अथक परिश्रम से ये कोश तैयार हुए हैं । विद्वान् संतों मुनिराजों और आचार्यों तथा विद्वान्जनों और जैन आगमों को इसका अर्थ उजागर हुआ । इसको पढ़ने से कितने ही जिज्ञासाओं की जिज्ञासा को हल कर दिया गया इनसे युवकों को मनन करने के लिए ऐसे कोशों की महती आवश्यकता पुरी हुई है । इन कोशों की तैयार करने में आपने भाषा को सरल और मनमोहक बनाया है जिससे जिज्ञासु पाठकों तथा श्वेताम्बर-दिगम्बर आमना किसी को भी पढ़ने में आपत्ति नहीं हो सकती है ।

—चाणक्यालोप

समीक्ष्य ग्रन्थ एक अभिनव प्रयास है । लगभग १०० ग्रन्थों के आधार से यह ग्रन्थ सम्पादित है । इसमें भगवान् महावीर के जीवन का सर्वाङ्गीण विवेचन है । सम्पादक द्वय का प्रयास स्तुत्य है ।

—मुनि श्री जयंतीलालजी

आपके द्वारा प्रेषित 'वर्धमान जीवन कोश' नामक पुस्तक आज दिन मिली । पुस्तक के लिए आपको बहुत-बहुत धन्यवाद ।

पुस्तक बहुत ही उपयोगी है व इसके प्रकाशन में आप सर्व लोगों की मेहनत स्पष्ट झलकती है । कृपया मेरी बधाई स्वीकार करें ।

—मन्नालाल सुराणा, जयपुर
१० सितम्बर १९८१

वर्धमान जीवन कोश, प्रथम खण्ड मिला है । कृतज्ञ हुआ । सच, कोशकार की कठिनाइयाँ एक कोशकार ही जान सकता है ।

मैं जानता हूँ जिस तरह का यह कोश है, उसके लिए आपको कितनी साधना करनी पड़ी होगी ? कितने कार्ड्स बनाये होंगे ? किस तरह उन्हें

नित समृद्ध किया होगा और किस तरह उन्हें अन्तिम प्रविष्टियों के लिये तैयार किया होगा ? इसे मैं भलीभांति महसूस कर रहा हूँ । कोश उपयोगी है और भगवान् महावीर के सम्बन्ध में बहुविध जानकारी दे रहा है । कई जानकारियाँ तो ऐसी है जिन्हें मैं पहली बार पा रहा हूँ । इसे देखते-देखते अभिधान राजेन्द्र की कल्पना सामने आ गयी है । जब श्रीमद् राजेन्द्र सूरीश्वर और उनके परिकर ने उस काम की हाथ में लिया होगा ।

आपका काम वैज्ञानिक/युक्तियुक्त और पूर्णता की ओर झुका हुआ है । इस मृत्युञ्जय कर्तृत्व के लिए मेरी पुनः बधाई स्वीकार करें । निश्चय ही आपके श्रम के आगे नतमस्तक हो जाऊँगा ।

—डा० नेमीचन्द्र जैन

‘वर्धमान जीवन-कोश’ की प्रति प्राप्त हुई । सम्पादक द्वय का महन अध्ययन और अथक श्रम इस ग्रन्थ में प्रतिबिम्बित हुआ है । शोधार्थियों के लिये यह ग्रन्थ अत्यन्त उपयोगी है । इस संग्रहणीय कृति के लिये मेरा साधुवाद स्वीकार करें ।

—कन्हैयालाल सेठिया

११ जुलाई १९८१

श्री वर्धमान जीवन कोश, प्रथम खण्ड देखने को मिला । यह पुस्तक सर्व प्रथम पुस्तक है जिसमें भगवान् महावीर की जीवनी यथार्थ रूप से लिखने में आयी है ।

जीवन की प्रत्येक घटना जब पढ़ते हैं तो मालूम होता है कि प्रभु हमारे सामने ही है । और हम उनकी जीवनचर्या को देख रहे हैं । यह एक महान् साहित्य है जिसे हर व्यक्ति अपने यहाँ रखकर प्रभु के जीवन का सम्यग् प्रकार से चिन्तन कर सकते हैं ।

लेखक ने अपनी बुद्धि-श्रम-समय और शक्ति का पूर्ण सद्प्रयोग कर जैन समाज को एक बहुत बड़ा साहित्य प्रदान किया । इस प्रकार का साहित्य समाज में नयी रोशनी नये विचारों की मोड़ और जीवन में क्रांति लाने वाला साहित्य है । प्रत्येक व्यक्ति इसे लाभान्वित हो यही शुभ कामना है ।

—मुनि लाभचन्द्र

श्रमण संघीय

कमाणी जैन भवन, भवानीपुर

४ नवम्बर १९८१

‘वर्धमान जीवन-कोश’ का आपाततः पठन किया। ग्रन्थ पूर्णतः महत्त्वपूर्ण और उपयोगी लगा। भगवान महावीर स्वामी के जीवन-वृत्त पर यह कोश सार्वभौम/सर्वाङ्गीण प्रकाश डालता है। प्रामाणिकता की दृष्टि से यह संकलन अपने आप में अद्वितीय है। विद्वान सम्पादकों ने श्रम एवं निष्ठापूर्वक ग्रन्थ-निर्माण किया है। हमें ऐसे विद्वानों की एवं ग्रन्थों की आवश्यकता है। स्वागत है कोश का, अभिनन्दन है सम्पादकद्वय का।

शिवस्ते पन्थाः ।

—मुनि चन्द्रप्रभ सागर
२० सितम्बर १९८५

समीक्ष ग्रन्थ एक अभिनव प्रयोग है। लगभग १०० ग्रन्थों के आधार से यह ग्रन्थ संपादित है। इसमें भगवान महावीर के जीवन का सर्वाङ्गीण विवेचन है।

—मुनि श्री राकेश कुमार

पत्र पत्रिकाओं में समीक्षा

प्रस्तुत ग्रन्थ जैन दर्शन समिति की कोश परम्परा की कड़ी में एक महत्त्वपूर्ण संदर्भ ग्रन्थ है। वर्धमान जीवनकोश का यह प्रथम भाग स्वर्गीय मोहनलालजी बांठिया द्वारा संकलित एवं तैयार सामग्री का व्यवस्थित सम्पादित रूप है। बांठियाजी इस काम को अधूरा छोड़कर स्वर्गवासी हो गये किन्तु श्री चीचन्दजी चोरडिया ने अत्यन्त परिश्रम कर इसे तैयार किया है। श्वेताम्बर आगमों, नियुक्ति चूर्णों एवं टीका ग्रन्थों के साथ-साथ दिगम्बर आचार्यों द्वारा रचित ग्रन्थों में से भी भगवान महावीर से सम्बन्धित सामग्री का संकलन किया गया है। शोध छात्रों और विद्वानों के लिये यह ग्रन्थ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है और भगवान श्री महावीर के सम्बन्ध में लिखने वालों को इस कोश से बहुत सहयोग प्राप्त हो सकता है। सम्पादक एवं प्रकाशक को इस महत्त्वपूर्ण कोश ग्रन्थ के लिये बधाई।

—जैन जगत
बम्बई
अगस्त १९८१

लेख्याकोश और क्रियाकोश के उपरान्त उसी शृंखला में विद्वान सम्पादकद्वय ने प्रस्तुत ‘वर्धमान जीवनकोश’ के निर्माण में हाथ लगाया, देवयोग से श्री बांठियाजी बीच में ही दिवंगत हो गये, तथापि उनके सहयोगी श्रीचन्दजी

चोरड़िया ने बड़ी लगन एवं परिश्रम के साथ इस कोश का सम्पादन पूरा कर ही दिया और बांठियाजी की प्रेरणा से स्थापित जैन दर्शन समिति ने उसका सन्तोषजनक प्रकाशन भी कर दिया। यह ग्रन्थ भगवान महावीर के जीवन सम्बन्धी सन्दर्भों का वस्तुतः विश्वकोश है। पूर्वोक्त कोशों की भाँति इसका निर्माण भी अन्तराष्ट्रीय दशमलव वर्गीकरण पद्धति से किया गया है। लेखक के द्वारा निर्माण लगभग १०० प्राचीन ग्रन्थों के आधार से किया गया है, जिनमें से कई दिगम्बर परम्परा के भी हैं और कई हिन्दु, बौद्धादि जनेतर परम्पराओं का अधिकांश स्रोत स्वभावतः श्वेताम्बर हैं। बहुधा उभय परम्पराओं के मतभेदों का भी संकेत कर दिया गया है। दिगम्बर साहित्य का कुछ और अधिक उपयोग किया जाता तो ग्रन्थ की उपयोगिता में वृद्धि हो जाती। कोश का अंग्रेजी फोरवर्ड हमसे लिखाया है। अभी इस कोश का दूसरा खण्ड और प्रकाशित करने की योजना है। इसमें सन्देह नहीं है कि शोधार्थियों के लिए यह ग्रन्थ अतीव उपयोगी सिद्ध होगा। सम्पादक और प्रकाशक धन्यवादार्ह हैं।

—जैन सन्देश

मथुरा

जनवरी-मार्च १९८१

प्रस्तुत ग्रन्थ के नाम से ही स्पष्ट होता है कि इसमें भगवान महावीर के जीवन चरित्र से सम्बन्धित विभिन्न तथ्यों का संकलन किया गया है। भगवान महावीर का जीवन चरित्र विभिन्न लेखकों द्वारा विभिन्न भाषाओं एवं विभिन्न विधाओं में प्राप्त होता है। किन्तु कोश की विधा में उनके जीवन चरित्र को स्पष्ट करने वाला यह सर्व प्रथम प्रकाशित ग्रन्थ है। कोश का निर्माण कितना श्रम साध्य होता है, यह वही व्यक्ति जान सकता है जो इस प्रकार के कार्य से सम्पृक्त रहा हो। युग प्रधान आचार्य श्री तुलसी एवं युवाचार्य श्री महाप्रज्ञ के सानिध्य में चलने वाले आगम सम्पादन कार्य के अन्तर्गत प्रत्येक आगम की स्वतन्त्र शब्द सूचियाँ तैयार की गईं। उस समय सूत्रकृतान्त, रायप्रश्नीय, विपाक आदि आगमों की शब्द सूचियों के कार्य में संलग्न रहने से उनको दुरूहता का कुछ भान हुआ। सचमुच कोश निर्माण का कार्य एक दृष्टि से उबा देने वाला और नीरसता पैदा करने वाला कार्य है। इसे वही व्यक्ति कर सकता है जो दृढ़ अध्यवसाय और निष्ठा का धनी हो। स्व० श्री मोहनलाल बांठिया की कार्य के प्रति निष्ठा उल्लेखनीय और असंदिग्ध थी। श्री श्रीचन्द्र चोरड़िया में भी उसी प्रकार की श्रमनिष्ठा और कार्यशीलता परिलक्षित होती है। यही कारण है कि बांठिया जी के निधन के बावजूद भी कोश निर्माण का कार्य अपनी गति से चल रहा है।

भगवान महावीर के जीवन से सम्बन्धित विकीर्ण तथ्यों को प्रस्तुत ग्रन्थ में एकत्रित किया गया है। महावीर के जीवन का विशिष्ट अध्ययन एवं शोध करने वाले विद्यार्थियों और विद्वानों का इससे बड़ा उपकार हुआ है। एक ही स्थान पर समग्र यथेष्ट सामग्री उपलब्ध होने से अध्येताओं को बहुत बड़ी सुविधा मिली है। इसमें दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों प्रकार की मान्यताओं का दिग्दर्शन प्राप्त होता है। कुछ तथ्य तो ऐसे हैं जो इससे पूर्व ध्यान में नहीं आये थे। दिगम्बर मान्यता के अनुसार महावीर अविवाहित थे। श्वेताम्बर मान्यता के अनुसार वे विवाहित थे। उनकी एक पत्नी थी जिसका नाम यशोदा था किन्तु शीलाकाचार्य के चउप्पन महापुरुष चरित्र का सन्दर्भ उद्धृत करते हुए उनके अनेक पत्नियों का उल्लेख किया गया है जो एक अवहृश्रुत तथ्य है। इस सम्बन्ध में अनुसंधान की अपेक्षा है।

परिश्रम के अनुरूप सम्पादन भी परिष्कृत होता तो ग्रन्थ की गरिमा और अधिक बढ़ जाती। अनुवाद की भाषा में सरल है। तथ्यों को कालानुक्रम से प्रस्तुत किया जाता तो गवेषणा की दृष्टि से सुगमता होती। मुद्रण की भूलें भी अखरने जैसी हैं। आगामी संस्करण में इनपर ध्यान दिया जाए तो अति उत्तम होगा। फिर भी कुल मिलाकर यह कोश जैन वाङ्मय की एक बड़ी रिक्तता की पूर्ति करने वाला होगा।

—मुनिथी गुलाबचंद “निर्मोही”

कलकत्ता

जैन भारती २६-६-८३

प्रस्तुत ग्रन्थ एक संकलन ग्रन्थ है, जिसमें भगवान महावीर से सम्बन्धित— (चयन से परिनिर्वाण तक) सामग्री का चयन मूल आगम, नियुक्ति, भाष्य चूर्णी, संस्कृत टीका, दिगम्बर एवं श्वेताम्बर सैद्धान्तिक ग्रन्थों के आधार पर हुआ है। कतिपय जैनतर ग्रन्थों का भी आधार प्रस्तुत किया गया है। सम्बन्धित विषय की बिखरी सामग्री को इस माध्यम से क्रमबद्ध रूप में व्यवस्थित करने का जो प्रयास हुआ है, वह अनेक दृष्टियों से स्तुत्य और ग्रहणीय है।

स्व० बाँठियाजी की जैनागमों के वर्गीकरण की परि-कल्पना तद् जन्म क्रियान्विति संदर्भ में—‘जैन आगम विषय कोश-ग्रन्थमाला’ का यह तृतीय पुष्प—‘वर्धमान जीवन-कोश’ रूप में सामने है। इससे पूर्व इस क्रम में महत्त्वपूर्ण दो ग्रन्थ—लेश्या-कोश एवं क्रिया-कोश प्रकाशन में आ चुके हैं, जिनकी विद्वद् समाज में बहुत सुन्दर प्रतिक्रिया रही है।

प्रस्तुत ग्रन्थ (वर्धमान-कोश) में दिषय का वर्गीकरण, पाठों का संकलन और हिन्दी अनुवाद जिस श्रम और सजगता से हुआ है, निःसंदेह इस क्षेत्र के जिज्ञासु और शोधकर्ता व्यक्तियों के लिए इस ओर बढ़ना बहुत आसान हो गया है। अनुवाद की भाषा को सरल रखने का विशेष लक्ष्य रहा है। साथ ही यदि साहित्यिक स्तर, व्याकरण विधि और शुद्धा-शुद्धि की ओर कुछ विशेष लक्ष्य रहा होता तो यह सोने में सुगन्ध को चरितार्थ करने वाली बात होती।

वर्धमान-कोश का द्वितीय और तृतीय खण्ड भी शीघ्र ही प्रकाश में आए तथा साथ ही स्व० बांठियाजी का आगम-कोश-परिकल्पना कार्य, जिसका कि एक बहुत बड़ा हिस्सा अभी फाइलों में ही आबद्ध है, को प्रकाश में लाया जाए। इस सभी साहित्यिक अपेक्षाओं के प्रति समाज का चिन्तक और सक्षम वर्ग विशेष ध्यान दे। जैन दर्शन समिति और भाई श्री चोरड़ियाजी भी इस ओर विशेष सक्रिय होकर सामने आए—इसी आशा और कामना के साथ—

—बच्छराज संचेती

सम्पादक—जैन भारती

जून १९८२

प्रस्तुत कृति शास्त्रों के आधार पर रचित महावीर जीवन कोश है जिसमें भगवान महावीर के जीवनवृत्त-विषयक ६३ जैन आगम और आगमेतर एवं जेनेतर स्रोतों से प्रभूत सामग्री का संकलन किया गया है। तीन खण्डों में समाप्त जीवन कोश का यह प्रथम खण्ड मात्र है। इसमें प्रधानतया मूल श्वेताम्बर जैन आगमों से सामग्री ली गई है और आगमों की टीकाओं, नियुक्तियों, भाष्यों, चूर्णियों आदि से भी प्रचुर सामग्री का संकलन किया गया है किन्तु इसमें दिग्म्बर जैन स्रोतों का पर्याप्त और समुचित उपयोग नहीं किया गया प्रतीत होता है, जिससे यह कोश सर्वमान्य न होकर एकांगी बन कर रह गया है तथा वर्धमान जीवन कोश नाम को सार्थक नहीं करता है। दिग्म्बर जैन आगमों विषयक कतिपय प्रसंग और सन्दर्भ तो सर्वथा भ्रामक भी प्रतीत होते हैं। इस प्रकार एकांगी दृष्टिकोण प्रस्तुत करने के कारण यह गरिमा और निष्ठापूर्ण प्रयास विवादास्पद बन गया है। कम-से-कम शोधप्रवर्तन की दृष्टि से प्रणीत-संकलित ग्रन्थों में वस्तु स्थिति का ही अंकन अपेक्षित है। सब मिला कर लेखक द्वय का यह महत्प्रयास अत्यन्त सराहनीय, उपादेय एवं उपयोगी है।

जनवरी-मार्च,

अनेकांत १९८२

प्रस्तुत कोश में काफी विस्तार के साथ श्रमण भगवान् महावीर के च्यवन पूर्व, च्यवन गर्भ, जन्म, दीक्षा, केवल ज्ञान प्राप्ति, परिनिर्वाण आदि का विवेचन है ।

सम्पादक द्वय ने यह कोश मूल आगम, आगमेतर ग्रन्थ (श्वेताम्बर-दिगम्बर ग्रन्थ) तथा कुछेक जैनेतर ग्रन्थों से तैयार किया है ।

इस कोश की यह भी विशेषता है कि श्वेताम्बर और दिगम्बर की कुछ मान्यताओं को अलग-अलग तालिका बनाकर दिखाया गया है । सम्पादकों का यह श्रम अभिनन्दनीय है ।

प्रस्तावित तीन खण्डों में से यह प्रथम खण्ड है । अन्य दो का सम्पादन कार्य जारी है । आशा है शोधकर्त्ताओं के लिए यह ग्रन्थ अति उपयोगी सिद्ध होगा ।

—मुनि राजकरण

जैन भारती अंक ११ वर्ष २६

१४ जून १९८१

पुस्तक बहुत ही महत्वपूर्ण हैं लेखक ने निष्ठापूर्वक कठिन परिश्रम एवं दीर्घ अध्ययन से सामग्री संग्रहित की है । शोध छात्रों के लिए इस एक पुस्तक के अध्ययन से ही बहुत अच्छी प्रमाणिक सामग्री उपलब्ध हो सकेगी । भगवान् महावीर के जीवन से सम्बन्धित विभिन्न ग्रन्थों में वर्णित सामग्री एक ही स्थान पर उपलब्ध होने से पुस्तक का साहित्य एवं ऐतिहासिक महत्त्व और ज्यादा बढ़ गया है तथा पुस्तक की प्रामाणिकता असंदिग्ध हो गई है । अध्ययन के पश्चात् भूझे तो हृदय में अद्भुत प्रभाव की अनुभूति हुई ।

—सम्पतराम सुराणा

तेरापंथ प्रकाश १९८१

इस ग्रन्थ में श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के जीवन सम्बन्धी जिनागमों, नियुक्ति, भाष्य, टीकाओं और श्वेताम्बर आचार्यों के ग्रन्थों के अतिरिक्त दिगम्बर ग्रन्थों, बौद्ध पिटकों, ग्रन्थों, वेदों, पुराणों आदि से सामग्री एकत्रित कर ग्रन्थ में सजाई गई है । यह ग्रन्थ अपने आप में अद्वितीय अनूठा और विद्वानों के लिये बहुमूल्य निधि है । इसके पीछे सूक्ष्म के साथ कष्टसाध्य पुरुषार्थ हुआ है । भगवान् के जीवन सम्बन्धी जो और जितनी सामग्री इसमें संकलित हुई है, पहले किसी ग्रन्थ में नहीं हुई । जिस निष्ठा, अनुभव और धैर्य से यह कोश

सम्पन्न हुआ है, वह अभिनन्दनीय है। इसका दूसरा खण्ड भी प्रकाशित हो रहा है।

इस संस्था से पहले 'लेख्या कोश' 'क्रिया कोश' भी प्रकाशित हो चुके हैं। यदि 'जैन पारिभाषिक शब्द कोश' भी प्रकाशित हो, तो अतीव उपयोगी होगा।

सम्यग् दर्शन—अगस्त १९८१

प्रस्तुत पुस्तक में इस अवसर्पिणी काल के चौबीसवें तीर्थङ्कर भगवान महावीर के जीवन सम्बन्धी ज्यवन से लेकर परिनिर्वाण तक का विवेचन दिया गया है। यह कहा जा सकता है कि विद्वान सम्पादकों ने जैन आगम तथा आगमेतर साहित्य का गहन अध्ययन कर भगवान महावीर के जीवन से सम्बन्धित यथाशक्ति सभी पाठों का संकलन कर इस पुस्तक में देने का प्रयत्न किया है। इस संकलन सम्पादन-कार्य में उन्होंने ८६ ग्रन्थों का उपयोग किया है जिनमें से ६५ ग्रन्थ श्वेताम्बर परम्परा के, १० ग्रन्थ दिगम्बर परम्परा के ७ ग्रन्थ बौद्ध परम्परा के तथा ७ ग्रन्थ ब्राह्मण परम्परा के होते हैं। इन ग्रन्थों की पूरी सूची भी पुस्तक में दी गई है। भगवान महावीर के जीवन के विषय में शोधपूर्ण चरित लिखने वालों के लिए निःसंदेह यह ग्रन्थ एक अच्छे मार्गदर्शन का काम करेगा।

ग्रन्थ के प्रारम्भ में युग प्रधान आचार्य श्री तुलसी के आशीर्चन, प्रो० दलमुख मालवणिया के दो शब्द तथा डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन के अंग्रेजी फोरवर्ड के होने से इसकी महत्ता का पाठक सहज ही अनुमान लगा सकते हैं।

इस ग्रन्थ की सामग्री के संकलन-सम्पादन का महत्वपूर्ण कार्य स्व० श्री मोहनलाल बांठिया ने प्रारम्भ किया था, लेकिन कार्य पूर्ण होने से पूर्व ही उनका आकस्मिक स्वर्गवास हो गया। तब श्री श्रीचन्द चोरडिया ने अपनी सूक्ष्म एवं श्रम निष्ठा से इस पवित्र कार्य को आगे बढ़ाया और उसी का यह परिणाम है कि आज यह कृति हमारे हाथों में है। इसके लिए श्री चोरडिया बधाई के पात्र हैं।

मुवा दृष्टि—जनवरी १९८२

भारतवर्ष में अनेक परम्पराएं उदित हुयी। पुष्पित, पल्लवित हुयी और समाप्त हो गयी। किसी भी देश की संस्कृति व परम्परा को कायम रखने के लिये उस देश व उस धर्म की परम्परा का साहित्य सुरक्षित रखना अनिवार्य होता है। जिसका साहित्य सुरक्षित हैं, वह परम्परा भी सुरक्षित है और

जिसका साहित्य नष्ट हो गया, मानना चाहिए कि आज नहीं तो कल, वह परम्परा भी समाप्त हो ही जायेगी ।

प्राचीन काल से ही साहित्य को सुरक्षित रखने में ऋषि-मुनियों का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है । पहले सभी ग्रन्थ कण्ठस्थ किए जाते थे और वही परम्परा से गुरु से शिष्य को ग्रहण होते जाते थे ; क्योंकि उस समय लिखने व छापने के साधन नहीं थे । और वर्तमान में वह विद्वानों द्वारा लिखने व छापने के माध्यम से जन-जन को सुलभ होते जा रहे हैं । विद्वानों की शृङ्खला में स्व० मोहनलालजी बाँठिया तथा श्री श्रीचन्दजी चोरडिया का भी महत्त्वपूर्ण योगदान है । उन्होंने 'वर्धमान जीवन कोश' का संकलन कर चौबीसवें तीर्थंकर भगवान् महावीर का जीवन-वृत्त सर्वसाधारण के लिये पठनीय बना दिया है । आगमों की भाषा दुरुह है, सर्वसाधारण उसे समझ नहीं सकता । इसलिए भगवान् महावीर के जन्म, दीक्षा, साधना-काल से सम्बन्धित जीव प्रसंग उन्होंने अनेक सूत्रों से एकत्रित किए हैं और उनका सरल हिन्दी में अनुवाद प्रस्तुत किया है, जिससे वह सर्वसाधारण के लिये उपयोग का ग्रन्थ बन गया है ।

यदि ग्रन्थ के अन्त में शब्द सूची और दी गई होती तो ग्रन्थ अध्येताओं के लिए और उपयोगी होता ।

—सार संसार

जैन आगमों में तन्व ज्ञान और महापुरुषों के जीवन-चरित्र, क्रम और विषय के अनुरूप ग्रन्थित और संकलित न होने के कारण अध्येताओं और शोधार्थियों को बड़ी कठिनाई का अनुभव करना पड़ता है, साथ ही तत्त्व को समझने में बाधा आती है । इस कमी को दूर करने के लिए सम्पादक द्वय ने जैन विषय कोश तैयार करने का बृहत् ऐतिहासिक कार्य हाथ में लिया, जिसके अन्तर्गत 'लेश्या कोश' और 'क्रिया कोश' पहले प्रकाशित हो चुके हैं । समीक्ष्य ग्रन्थ इस योजना का तीसरा महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है । इस ग्रन्थ में वर्धमान महावीर के जीवन आधार की समस्त संदर्भ-सामग्री संकलित कर दी गई है । यह सामग्री दशमलव प्रणाली से महावीर के नाम-विवेचन, च्यवन से जन्म, गृहवास काल, साधना काल, केवली काल, परिनिर्वाण, वर्धमान सम्बन्धी फुटकर पाठ और विविध, इस क्रम से संयोजित की गई है । श्वेताम्बर, दिगम्बर शास्त्रीय ग्रन्थों, निरुक्ति, भाष्य, चूर्ण, टीका आदि व्याख्या साहित्य तथा चरित-पुराण ग्रन्थों से मूल सन्दर्भ देकर उनका आवश्यक हिन्दी अनुवाद दिया गया । वर्धमान महावीर के जीवन की आधारभूत सामग्री का यह प्रामाणिक सन्दर्भ ग्रन्थ शोधार्थियों के

लिए अत्यन्त ही उपयोगी और पथ-प्रदर्शक है। इस पुरुषार्थ पराक्रम के लिए सम्पादक और प्रकाशक के प्रति शोधजगत् ऋणी रहेगा।

जिनवाणी १९८१

प्रस्तुत ग्रन्थ के नाम से ही स्पष्ट होता है कि इसमें भगवान महावीर के जीवन चरित्र से सम्बन्धित विभिन्न तथ्यों का संकलन किया गया है। भगवान् महावीर का जीवन चरित्र विभिन्न लेखकों द्वारा विभिन्न भाषाओं एवं विभिन्न विधाओं में प्राप्त होता है। किन्तु कोश की विधा में उनके जीवन चरित्र को स्पष्ट करने वाला यह सर्व प्रथम प्रकाशित ग्रन्थ है। कोश का निर्माण कितना श्रम साध्य होता है, यह वही व्यक्ति जान सकता है जो इस प्रकार के कार्य से सम्पृक्त रहा हो। इसे वही व्यक्ति कर सकता है जो दृढ़ अध्यावसाय और निष्ठा का धनी हो। स्व० मोहनलाल बाँटिया की कार्य के प्रति निष्ठा उल्लेखनीय और असंदिग्ध थी। श्री श्रीचन्द चोरड़िया में भी उसी प्रकार की श्रमनिष्ठा और कार्यशीलता परिलक्षित होती है। यही कारण है कि बाँटियाजी के निधन के बावजूद भी कोश-निर्माण का कार्य अपनी गति से चल रहा है।

भगवान महावीर के जीवन से सम्बन्धित विकीर्ण तथ्यों को प्रस्तुत ग्रन्थ में एकत्रित किया गया है। महावीर के जीवन का विशिष्ट अध्ययन एवं शोध करने वाले विद्यार्थियों और विद्वानों का इससे बड़ा उपकार हुआ है। एक ही स्थान पर समग्र सामग्री उपलब्ध होने से अध्येताओं को बहुत बड़ी सुविधा मिली है। इसमें दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों प्रकार की मान्यताओं का दिग्दर्शन प्राप्त होता है। कुछ तथ्य तो ऐसे हैं जो इससे पूर्व ध्यान में नहीं आए थे। दिगम्बर मान्यता के अनुसार महावीर अविवाहित थे। श्वेताम्बर मान्यता के अनुसार वे विवाहित थे। उनकी एक परनी थी जिसका नाम यशोदा था किन्तु शीलाकाचार्य के चउपन महापुरुष चरियं का सन्दर्भ उद्धृत करते हुए उनके अनेक पत्नियों का उल्लेख किया गया है जो एक अबहुश्रुत तथ्य है। इस सम्बन्ध में अनुसंधान की अपेक्षा है।

परिश्रम के अनुरूप सम्पादन भी परिष्कृत होता तो ग्रन्थ की गरिमा और अधिक बढ़ जाती। अनुवाद की भाषा में प्रांजलता का अभाव है। तथ्यों को कालानुक्रम से प्रस्तुत किया जाता तो गवेषणा की दृष्टि से सुगमता होती। मुद्रण की भूलें भी अखरने जैसी हैं। आगामी संस्करण में इन पर ध्यान दिया जाए तो उत्तम होगा।

—मुनि गुलाब चन्द्र “निर्मोही”

तिरुथयर, सितम्बर, १९८३

कोश रचना स्वयं में एक सुविकसित विज्ञान है और अत्यन्त श्रमसाध्य कार्य है। जिसे हम 'लोहे के चने चाबना' कहते हैं, ठीक वैसा ही मुश्किल काम है कोश बनाना। समीक्ष्य कृति जैनविद्या के क्षेत्र का एक अपरिहार्य, अपूर्व/बहुमूल्य संदर्भ ग्रन्थ है। जैन दर्शन समिति, कलकत्ता ने इससे पूर्व 'लेख्या-कोश' तथा 'क्रिया-कोश' जैसे बहुमूल्य कोश भी क्रमशः १९६६ और १९६६ में प्रकाशित किये हैं। आलोच्य कोश समिति का तीसरा प्रकाशन है। इस श्रृंखला में 'पुद्गल-कोश' और 'ध्यान-कोश' जल्दी ही जैन विश्व भारती, लाडनू द्वारा प्रकाश्य हैं। जो योजना इस ग्रन्थ में दी गयी है और जो वस्तुतः स्व० मोहनखाल बांठिया का एक मुखद स्वप्न यदि किसी तरह सम्पन्न होता है तो कहा जाएगा कि जैनविद्या के क्षेत्र में वह एक अविस्मरणीय प्रसंग होगा। स्व० बांठिया एक नामी गणितज्ञ थे, अतः उनकी यह योजना वास्तविक, व्यवस्थित, व्यावहारिक, और ठोस है। उनके साथी श्री चोरड़िया ने इसे अपने खून-पसीने से सँचा है, किन्तु उनके तन-मन की भी सीमा है। एक व्यक्ति पूरी लगन से खप कर और सर्वस्व होम कर जिस तरह संस्था की शकल ग्रहण करता है, श्री चोरड़िया ने यह कार्य उसी रीति में सम्पन्न किया है। लेख्या-क्रिया कोशों का जो स्वागत देश-विदेश में हुआ है वह उजागर है; इसी तरह का मूल्यवान् संदर्भ ग्रन्थ यह भी है। प्रस्तुत कोश में 'वर्धमान के च्यवन से परिनिर्वाण तक' के सारे प्रसंगों का विस्तृत विवेचन किया गया है। संक्षेप में कोश की तीन विशेषताएँ हैं : १—इसमें बिना किसी पूर्वाग्रह के सभी आगम-आगमेतर, जैन-जैनेतर स्रोतों से वर्धमान के जीवन तथ्यों को दोहित/आकलित सम्पादित किया गया है; २—सरल हिन्दी अनुवाद दिये गये हैं; ३—गहरी वस्तुन्मुख दृष्टि से काम लिया गया है। दो कमियाँ भी रह गयी हैं : १—तथ्यों का संयोजन कालानुक्रम से नहीं है; २—छापे की कुछ भूलें रह गयी हैं। तथापि, कुल मिलाकर, कोश एक उत्कृष्टनीय उपलब्धि है और इसीलिए बधाई के योग्य है। आशा है द्वितीय खण्ड, जिसमें वर्धमान के पूर्वभव तथा उनसे सम्बन्धित घटनाएँ होगी, अधिक सशक्त/निर्दोष होगा।

तीर्थंकर—अगस्त १९८१

इन्दौर

महाश्रमण भगवान् महावीर पर अबतक अनेक पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं पर प्रस्तुत ग्रन्थ का अपना विशेष महत्त्व है। इसमें विभिन्न आगमों, नियुक्ति, चूर्णि, भाष्य एवं टीका ग्रन्थों तथा आचार्यों द्वारा रचित ग्रन्थों में भगवान् महावीर से सम्बन्धित सामग्री को संकलन किया गया है। श्वेताम्बर परम्परा द्वारा मान्य आगमों के साथ दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थों में से भी सामग्री का

संकलन किया गया है। इसके अतिरिक्त बौद्ध एवं वैदिक ग्रन्थों का भी आधार लिया गया है। यह सम्पादकद्वय की उदार एवं समन्वयवादी दृष्टि को उजागर करता है। प्रस्तुत ग्रन्थ विद्वानों के लिए, विशेष रूप से शोध-छात्रों के लिए विशेष उपयोगी है।

इतना अवश्य है कि उद्धरणों में कालक्रम का ध्यान नहीं रखा गया। आगमों के पश्चात् नियुक्ति, भाष्य, चूर्णि एवं संस्कृत टीकाओं के उद्धरण देने के पश्चात् आचार्यों के ग्रन्थ देने चाहिए थे और वे भी क्रमशः, जिससे काल की दृष्टि से यह स्पष्ट हो जाता है कि किस ग्रन्थ में भगवान महावीर के जीवन के सम्बन्ध में सर्वप्रथम लिखा गया है फिर भी सम्पादन सुन्दर है। सम्पादकद्वय का प्रयास स्तुत्य है।

अमर भारती, जुलाई १९८१

स्व० श्री मोहनलालजी बांठिया ने सार्वभौमिक दशमलव वर्गीकरण प्रणाली को साधकर, तदनुसार जैन सांस्कृतिक एवं सैद्धान्तिक कोशों का निर्माण प्रारम्भ किया और फलस्वरूप उनके क्रियाकोश और लेश्याकोश प्रकाश में आये। उसी शृङ्खला में प्रस्तुत 'वर्धमान जीवनकोश' है। कार्य अत्यन्त लगन एवं परिश्रम साध्य था। सौभाग्य से बांठियाजी को पं० श्रीचन्द्र चोरड़िया के रूप में एक उपयुक्त सहयोगी प्राप्त हुआ और इन दोनों विद्वानों के संयुक्त अध्यक्षता का परिणाम जो तीनों कोश हैं—प्रस्तुत कोश पूरा होने के पूर्व ही बांठियाजी दिवंगत हो गये, किन्तु चोरड़ियाजी ने साहस पूर्वक कार्य पूरा कर ही दिया।

भगवान महावीर के जीवन तथ्यों से सम्बद्ध इस महाकोश में ८६ ग्रन्थों का उपयोग किया गया है, जिनमें से १० दिगम्बर परम्परा के, ७ ब्राह्मण परम्परा के, ७ बौद्ध और शेष ६५ श्वेताम्बर परम्परा के हैं। स्वभावतः श्वेताम्बर साहित्य का प्रायः पूरा उपयोग हुआ है। यदि भगवान के जीवन से संबद्ध समस्त दिगम्बर साहित्य का भी सम्यग् उपयोग हो पाता तो कोश की उपयोगितायें और अधिक वृद्धि हो जाती। यों, विद्वान सम्पादकों ने यत्र तत्र उभय परम्पराओं के अन्तरों का भी संकेत कर दिया है। कोश अपने विषय में सर्वथा पूर्ण और निर्दोष है, यह शायद अतिशयोक्ति नहीं होगी, तथापि इस विषय में संदेह नहीं है कि अपने विषय पर यह सर्वप्रथम एवं अति सफल प्रयास है। महावीर जीवन के अध्यक्षताओं एवं शोध छात्रों के लिए यह महाकोश अति उपयोगी सिद्ध होगा।

प्रारम्भ में आचार्य तुलसी गणि का आशीर्वाचन, प्रकाशकीय, सम्पादक चोरड़ियाजी की प्रस्तावना, प्रो० दलसुख मालवणिया के दो शब्द और डा०

ज्योतिप्रसाद जैन का अंग्रेजी फोरवार्ड है। सहायक ग्रन्थ सूची। संकेताक्षर सूची, दशमलव वर्गीकरणानुसार विषयानुक्रम आदि सभी आवश्यक अंग हैं। जैन दर्शन समिति कलकत्ता के मंत्री श्री मोहनलाल बंद व उनके सहयोगी इस महत्वपूर्ण प्रकाशन के लिए साधुवाद के पात्र हैं और पं० चीचन्द चोरड़िया तो इस उपलब्धि के लिए बंधाई के पात्र हैं। ग्रन्थ संग्रहणीय है।

जैन सिद्धांत भास्कर, जुलाई १९८१

प्रस्तुत ग्रन्थ सम्पादकद्वय के ज्ञान तथा लगन का ज्वलन्त प्रतीक है। भगवान महावीर के जीवन को आगम तथा आगमेतर मौलिक ग्रन्थों के सन्दर्भों में प्रस्तुत किया गया है। आम व्यक्ति को उसे पढ़ने में भले बहुत रुचि न हो, पर शोध विद्यार्थियों के लिए यह बहुत उपयोगी तथा मूल्यवान कृति है। ग्रन्थ की सूची १६ पृष्ठों में दी गई है, जिससे विभाग और उप-विभाग में देखकर पाठक अपना इच्छित संदर्भ तुरन्त निकाल सकता है।

ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही माता-पिता आदि का परिचय देते हुए महावीर के प्रमुख साधु-साधिवियों तथा श्रावक-श्राविकाओं के नाम भी दिये गये हैं। जबकि यह सारा विषय महावीर को केवल ज्ञान प्राप्त होने के बाद का है। संदर्भ ग्रन्थों में भी पूर्वापर सम्बन्ध पर ध्यान नहीं दिया गया है। विविध विभाग के अन्तर्गत 'जैनेतर ग्रन्थों में भगवान का प्रसंग' देखकर लगता है, इस विषय पर अभी काफी खोज की अपेक्षा है। इस प्रकार के सन्दर्भ ग्रन्थ पढ़कर खत्म कर देने के लिये नहीं, अपितु सदा-सदा सहेज कर रखने के लिये होते हैं और इस दृष्टि से इनकी छपाई बंधाई आकर्षक तथा टिकाऊ होनी चाहिए। ग्रन्थ का मूल्य प्रकाशक के प्रस्तुतीकरण में उभरा नहीं है।

भगवान महावीर पर बहुत सा साहित्य प्रकाशित हुआ है, पर इस ग्रन्थ ने एक नया आयाम जोड़ा है। सर्वथा अपने प्रकार का अकेला निर्विकल्प ग्रन्थ।

—हर्षचन्द्र

कथालोक—अक्टूबर-नवम्बर १९८१

भगवान महावीर के जीवन तथ्यों से सम्बद्ध, इस महाकोश में ८६ ग्रन्थों का उपयोग किया गया है। पुस्तक बहुत ही उपयोगी है। प्रस्तुत ग्रन्थ में चौबीसवें तीर्थङ्कर भगवान महावीर के जीवन से सम्बन्धित चथवन से परिनिर्वाण तक की शास्त्रीय सामग्री संकलित की गई है इस सामग्री चयन के लिए मूल श्वेताम्बर जैन आगमों उनकी टीकाओं, नियुक्ति, भाष्य, चूर्णि, कषाय पाहुड़ और अन्य

दिगम्बर पुराणों, ग्रन्थों तथा संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश में लिखे गये महावीर चरित्रों आदि का सहारा लिया गया है ।

यह ग्रन्थ जैनागम तथा आगमेतर साहित्य पर शोध कर रहे छात्रों के लिए विशेष उपयोगी होगा ।

ग्रन्थ स्पष्ट छपाई तथा आकर्षक साज-सज्जा के साथ प्रस्तुत है । इस कोष की यह विशेषता है कि श्वेताम्बर और दिगम्बर की कुछ मान्यताओं को अलग-अलग तालिका बनाकर दिखाया गया है । सम्पादकों का यह अभिनन्दनीय प्रयास है । प्रस्तावित तीन खण्डों में से यह प्रथम खण्ड है ।

भगवान महावीर के जीवन सम्बन्धी समस्त पहलुओं के अवतरणों का संग्रह करने में विद्वान् सम्पादकों ने बड़े ही धैर्य पूर्वक श्रुत समुद्र का अवगाहन कर बहुत ही महत्वपूर्ण भगीरथ प्रयत्न किया है ।

इसमें श्वेताम्बर दिगम्बर और कुछ जैनेतर ग्रन्थों का परिशीलन किया गया है । सभी विषय सूची से यह स्पष्ट होता है कि भगवान महावीर स्वामी के शोधपूर्ण जीवन संकलन में तथ्यों को प्रकाशन में लाने के लिए यह ग्रन्थ बहुत ही मूल्यवाद सिद्ध होगा ।

सम्पादक का इसमें गहन अध्ययन और अथक श्रम इस ग्रन्थ में प्रतिबिम्बित हुआ है ।

महाश्रमण भगवान महावीर पर अब तक अनेक पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं पर प्रस्तुत ग्रन्थ का अपना विशेष महत्व है । अपने विषय पर यह ग्रन्थ प्रथम एवं अति सफल प्रयास है ।

भगवान महावीर के सम्बन्ध में लिखने वालों को इस कोष से बहुत सहयोग प्राप्त हो सकता है । सम्पादक एवं प्रकाशक को इस महत्वपूर्ण कोश ग्रन्थ के लिए बधाई ।

समीक्षा कृत जैन विद्या के क्षेत्र में एक अनिवार्य, अपूर्व बहुमूल्य संदर्भ ग्रन्थ है । जैन दर्शन समिति कलकत्ता ने इससे पूर्व लेश्याकोश और क्रिया कोश जैसे बहुमूल्य कोश भी क्रमशः १९६६ और १९६६ में प्रकाशित किये हैं । आलोच्य कोश समिति का तीसरा प्रकाशन है ।

प्रस्तुत कोश में वर्धमान के च्यवन से परिनिर्वाण तक के सारे प्रसंगों का विस्तृत विवेचन किया गया है ।

इस ग्रन्थ में वर्धमान महावीर के जीवन आधार की समस्त सामग्री संकलित कर दी गई है। यह सामग्री दशमलव प्रणाली से महावीर के नाम विवेचन, च्यवन से जन्म, गृहकाल, साधना-काल, केवली काल, परिनिर्वाण, वर्धमान सम्बन्धी फुटकर पाठ और विविध इस क्रम से संयोजित की गई है कि वर्धमान महावीर के जीवन की आधारभूत सामग्री का यह प्रामाणिक सन्दर्भ ग्रन्थ शोधार्थियों के लिए अत्यन्त ही उपयोगी और पथ-प्रदर्शक है।

इसके पूर्व लेख्या कोश तथा क्रिया कोश जैन दर्शन समिति ने प्रकाशित किये हैं जिनका साहित्य जगत में काफी आदर हुआ है। ऐसी रचनाओं के लिए जैन दर्शन समिति धन्यवाद की पात्र है। इस कोश की यह भी विशेषता है कि श्वेताम्बर और दिगम्बर की कुछ मान्यताओं को अलग-अलग तालिका बनाकर दिखाया गया है। सम्पादकों का यह श्रम अभिनन्दनीय है।

—जैन टाइम्स

११ जनवरी १९८२

भगवान महावीर के च्यवन से परिनिर्वाण तक का विस्तार पूर्वक विवेचन इस कोश में किया गया है। दिगम्बर-श्वेताम्बर एवं जैनतर सामग्री का यथा स्थान संकलन कर इतिहास प्रेमियों एवं शोध—छात्रों के लिये इसे एक सन्दर्भ ग्रन्थ बना दिया है। इस प्रथम खण्ड में मूल नौ विभाग हैं—१ च्यवन से जन्म, २ जन्म से गृहस्थ काल, ३-४ साधना काल, ५-६ तीर्थङ्कर काल, केवल ज्ञान, ७ परिनिर्वाण, ८ फुटकर पाठ, (वर्धमान सम्बन्धी), ९ विविध विषय-वर्धमान सम्बन्धी। महावीर जीवन सम्बन्धी सारी सामग्री इन नौ विभागों में संकलित है।

किसी भी महापुरुष का जीवनवृत्त मौलिकता पूर्ण लिख देना, कलम के घनी का काम है। वह अधिक श्रम साध्य नहीं होता जितना कोश रचना जिसके लिये, अनेक ग्रन्थों की खोज, ज्ञान एवं अध्ययन अपेक्षणीय है। यह कार्य स्व० बांठियाजी ही कर सके हैं। संस्कृत पाठों का हिन्दी अनुवाद देकर कोश के पाठकों और अध्ययन कर्त्ताओं के लिए इसे और सरल कर दिया है। इसके पूर्व लेख्या कोश तथा क्रिया कोश, जैन दर्शन समिति ने प्रकाशित किये हैं जिनका साहित्य जगत में काफी आदर हुआ है। स्व० बांठियाजी द्वारा अथक परिश्रम पूर्वक तैयार की गई तीनों अमर कृतियों के लिए उनका तथा उनके सहयोगी श्री चरोड़ियाजी का साहित्य जगत् सदा आभारी रहेगा। आशा है स्व० बांठियाजी की अवशिष्ट अमूल्य कृतियां पुद्गल कोश एवं ध्यान

कोश भी शीघ्र ही पाठकों के हाथों में पहुँचेगी। और आलोच्य पुस्तक में आये कतिपय मुद्रण दोष उनमें नहीं रहेंगे। ऐसी रचनाओं के लिए जैन दर्शन समिति धन्यवादार्ह है।

—वीर-वाणी, जयपुर
३ सितम्बर १९८१

जैन वाङ्मय के तलस्पर्शी अध्येता स्व० मोहनलाल बांठिया के अनवरत परिश्रम तथा निष्कलण साधना ने कलकत्ता जैसे सांस्कृतिक नगरी को जैन अध्ययन केन्द्र बना दिया। उनके निष्ठुर स्वर्गवास के उपरान्त श्री श्रीचन्द चोरडिया सफलता के साथ उनकी वाङ्मय सम्हाली। सन् १९६६ में प्रकाशित लेख्या कोश ने जैन दर्शन समिति को जन्म दिया सन् १९६९ में और तुरन्त बाद 'क्रिया कोश' और मिथ्यात्वी का आध्यात्मिक विकास जैसे उपयोगी अनेक ग्रन्थों का प्रकाशन प्रारम्भ हो गया। यह प्रकाश जैन विषय कोश योजना के अन्तर्गत हुआ।

प्रस्तुत समीक्ष्य ग्रन्थ 'वर्धमान जीवन कोश' भी इसी योजना के साथ जुड़ा हुआ है। सम्पादकद्वय ने इस ग्रन्थ की सामग्री साम्प्रदायिकता के दायरे से हटकर उपलब्ध समस्त वाङ्मय से एकत्रित की है। उन्होंने उसे दो खण्डों में विभाजित किया है। प्रस्तुत प्रकाशित प्रथम खण्ड में तीर्थङ्कर महावीर के जीवन विषयक च्यवन से परिनिर्वाण तक का विषय संयोजित हुआ है।

सामग्री की प्रस्तुति में सम्पादन कला का निर्दोष उपयोग हुआ है। विषयोप विषयों के सुन्दर वर्गीकरण तथा उनके अनुवाद अथवा सारांश ने पुस्तक की उपयोगिता को एक नई चिन्तन-धारा के साथ प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया है। प्रस्तुति के क्रम में यदि कालक्रम का ध्यान रखा गया होता तो निश्चित ही और भी वैज्ञानिकता जुड़ जाती।

कुल मिलाकर यह ग्रन्थ शोधकों तथा पाठकों को इतनी साधार सामग्री प्रस्तुत करता है कि परम्परित मान्यताओं पर जब कई नये प्रश्न उभारने लगते हैं। समकालीन स्थिति बोध की दृष्टि से भी यह ग्रन्थ संग्रहणीय है। सम्पादक और प्रकाशक एतदर्थ अभिर्नन्दनीय हैं। पाठ्य बड़ी उत्सुकता के लिए अग्रिम प्रकाशनों पर नजर बांधे हुए हैं। मूल्य आकार-प्रकार को देखकर कम ही लगता है।

सुधर्मा, अप्रैल १९८३

प्रस्तुत ग्रन्थ में चौबीसवें तीर्थङ्कर भगवान महावीर के जीवन से सम्बन्धित चरित्र से परिनिर्वाण तक की शास्त्रीय सामग्री संकलित की गई है। इस सामग्री चयन के लिए मूल श्वेताम्बर जैन आगमों उनकी टीकाओं, नियुक्ति, भाष्य, चूर्णि, कसाय पाहुड़ और अन्य दिगम्बर पुराणों, ग्रन्थों तथा संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश में लिखे गये महावीर चरित्रों आदि सहारा लिया गया है। यह ग्रन्थ जैन आगम तथा आगमेतर साहित्य पर शोध कर रहे छात्रों के लिए विशेष उपयोगी होगा।

ग्रन्थ स्पष्ट छपाई एवं आकर्षक साज-सज्जा के साथ प्रस्तुत है।

—श्रमण, जुलाई १९८१

जैसा कि नाम से स्पष्ट है, प्रस्तुत पुस्तक में भगवान महावीर के जीवन से संबंधित सामग्री एकत्र की गई है। आगमों में जो सामग्री उपलब्ध होती है, वह तो ली ही गई है, साथ ही आगमों की टीकाओं—नियुक्ति, भाष्य, चूर्णि, संस्कृत टीका का भी उपयोग किया गया है। दिगम्बर मौलिक ग्रन्थों कसाय पाहुड़ आदि के अनुशीलन का लाभ भी पाठकों को दिया गया है। श्वेताम्बर तथा दिगम्बर पुराणों और आचार्यों द्वारा लिखित संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश भाषा में लिखे गये भगवान महावीर के चर्चित ग्रन्थों की सामग्री का भी इसमें समावेश किया गया है।

यद्यपि इसमें कुछ सामग्री छूट गई है। जिसका प्रकाशन इस भाषा के अन्य ग्रन्थों में किया गया है। तथापि हम कह सकते हैं कि भगवान महावीर के जीवन से सम्बन्धित यह विश्वकोश है।

भगवान महावीर के जीवन और सिद्धातों के विषय में विपुल साहित्य की रचना हुई है किन्तु यह इतना फैला हुआ है कि शोधकर्त्ताओं की उसकी पूरी जानकारी प्राप्त करने में बड़ी कठिनाई होती है। आलोच्य कोश ने इस कठिनाई को बहुत कुछ अंशों में दूर कर दिया।

खेद है कि सम्पादक द्वय में से स्व० मोहनलाल बांठिया अब हमारे बीच नहीं हैं, लेकिन उनकी दूरदर्शिता, सुझ-बुझ तथा परिश्रमशीलता ने यह तथा अन्य कोश अद्भूत नमूने हैं। इनके पीछे सम्पादकों का गहन अध्ययन, यथा चिन्तन साफ दिखाई देता है।

ऐसे ग्रन्थों की उपयोगिता सामान्य पाठकों के लिए भले ही न हो, किन्तु इससे तनिक भी संदेह नहीं है कि भगवान महावीर के जीवन तथा उनके

सिद्धान्तों के विषय में ज्यों-ज्यों शोध की प्रवृत्ति बढ़ती जायेगी इस प्रकार के ग्रन्थों का मूल्य बढ़ता जायेगा ।

दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों अध्यायों में कुछ बातों पर मतभेद है । उनके वाङ्मय के अध्येताओं के सामने उससे कुछ हैरानी पैदा हो जाती है उदाहरण के रूप में दिगम्बर मान्यता के अनुसार महावीर ने विवाह नहीं किया । शोधकर्ता किस मान्यता को स्वीकार करे और किस मान्यता को अस्वीकार करे ।

इस कठिनाई को हल करने का एक ही मार्ग है और वह यह है कि पाठकों को दोनों मान्यताओं से अवगत करा दिया जाये ।

जो हो, इस तक अन्य कोशों की रचना द्वारा सम्पादकों ने पाठकों का बड़ा उपकार किया है । उन्होंने ज्ञान का सागर प्रस्तुत कर दिया है । अपने पात्र की गहराई के अनुसार हम उसमें से सार ग्रहण कर सकते हैं । सम्पादक तथा प्रकाशक दोनों बधाई के पात्र हैं ।

—सम्पादक, यशपाल जैन
जीवन साहित्य
जुलाई १९८३

जैन दर्शन समिति (१६-सी, डीवर लेन, कलकत्ता-२९) द्वारा श्री श्रीचन्द्र चोरड़िया के सम्पादन में वर्धमान जीवन कोश कृति का प्रकाशन हुआ है । प्रारम्भ में स्वनाम धन्य आदरणीय जैन रत्न स्व० मोहनलालजी बाँठिया इस योजना के प्रवर्तक थे । श्री चोरड़ियाजी के सहयोग में यह ग्रन्थ तैयार हुआ था । भगवान महावीर की जीवनी से सम्बन्धित सामग्री को प्रस्तुत करने वाला यह ग्रन्थ रत्न अत्यन्त उपयोग एवं संग्रहणीय है ।

अखिल भारतीय प्राच्य विद्या सम्मेलन
—अध्यक्ष डा० दामोदर शास्त्री
जैन दर्शन विभाग
अक्टूबर १९८२

प्रस्तुत कोश में काफी विस्तार के साथ श्रमण भगवान महावीर के च्यवन पूर्व, च्यवन, गर्भ, जन्म, दीक्षा, केवल ज्ञान प्राप्ति, परिनिर्वाण आदि का विवेचन है ।

संपादक द्वय ने यह कोश मूल आगम, आगमेतर ग्रन्थ (श्वेताम्बर-दिगम्बर ग्रन्थ) तथा कुछेक जैनैतर ग्रन्थों से तैयार किया है ।

इस कोश की यह विशेषता है कि श्वेताम्बर और दिगम्बर की कुछ मान्यताओं को अलग-शलग तालिका बनाकर दिखाया गया है। सम्पादकों का यह श्रम अभिनन्दनीय है।

प्रस्तावित तीन खण्डों में से यह प्रथम खण्ड है। अन्य दोनों का सम्पादन कार्यकारी है। आशा है शोधकर्त्ताओं के लिए यह ग्रन्थ अति उपयोगी सिद्ध होगा।

—मुनि श्री राजकरण
जैन भारती
१४ जून १९८१

पं० दलमुख मालवणिया के दो शब्द और डा० ज्योति प्रसाद जैन की भूमिका युक्त इस महाग्रन्थ के प्रस्तावित तीन खण्डों में यह प्रथम खण्ड है। भगवान महावीर की जीवनी सम्बन्धी समस्त पहलुओं के अवतरणों का संग्रह करने में विद्वान् सम्पादकों ने बड़े ही धैर्यपूर्वक श्रुत-समुद्र का अवगाहन कर बहुत ही महत्वपूर्ण भागीरथ प्रयत्न किया है।

इसमें श्वेताम्बर-दिगम्बर और कुछ जैनेतर ग्रन्थों का परिशीलन किया गया है। लम्बी विषय सूची से यह स्पष्ट होता है कि भगवान महावीर स्वामी के शोधपूर्ण जीवन संकलन में तथ्यों को प्रकाश में लाने के लिए यह ग्रन्थ बहुत ही मूल्यवान सिद्ध होगा।

प्रस्तावना में कल्पसूत्र में संहरण काल को अज्ञात बताया है—तत्त्वतः तो अवधिज्ञान युक्त महावीर के लिए वह अगम्य नहीं हो सकता। लिखा है पर आचारांग सूत्र में “सुहमेणं से काले पन्नत्ते” यह सूक्ष्मकाल, अवधिज्ञान के विषय में अगम्य हो सकता है, परमावधि व सर्वावधि में नहीं है।

—भँवरलाल जैन
कुशल निर्देश
फरवरी १९८१

वर्धमान जीवन कोश द्वितीय खण्ड पर समीक्षा

VARDHAMAN JIVAN-KOS Vol II, ed by Mohanlal Bantbia and Srichand Choraria, Jain Darshan Samiti, Calcutta, 1984. Pages 45+343. Price Rs. 65.00.

This is an age of systematic enquiry and research. So when a scholar undertakes the study of a particular topic, he does not rest

satisfied with a single source or version handed down to him by traditions, literary, epigraphical or oral. Whereas a simple believer would not question the authority of the scriptures or traditions he puts his faith in, the modern investigator would try to explore all the sources relating to the subject under study, and examine thoroughly all the aspects and relevant details connected with it. This unbounded spirit of enquiry and tendency to a comprehensive methodical approach have been greatly facilitated by the discovery, publication or availability and specialised studies of the diverse source material related to almost every subject or branch of learning which may arouse the interest of a scholar. There is thus now no dearth of source material of various kinds and categories on almost any topic which is sought to be investigated. This is itself, however, makes the task of the researcher much more arduous and time-consuming. And, herein lies the importance of different kinds of reference books which render his task comparatively easy and smooth. Topical dictionaries constitute a very valuable class of such reference books.

So far, as Jainological studies are concerned, encyclopaedias like the *Abhidhana Rajendra Kosa* and the *Jainendra Siddhanta Kosa*, several bibliographies, collections of colophons, catalogues of manuscripts, glossaries of technical terms, dictionaries of historical persons and places, and collections of inscriptions and of other historical records like pontifical genealogies and *Vijnapati-patras*, etc. have already been published. These reference books are undoubtedly of immense help to the research scholar of Jainological studies. The conception of topical dictionaries like the present one is, however, a bit different from that of the works mentioned above.

The late Sri Mohanlal Banthia was, perhaps the first to initiate, develop and launch upon a scheme of compiling topical dictionaries of Jaina religion, philosophy and traditions. He was lucky in having a hardworking, dedicated and competent assistant in Pt. Srichand Choraria. The scheme covered about a thousand topics, but to begin with they compiled and published in 1966 the *Lesya-Kos*, in 1969 the *Kriya-Kos*, in 1980 the *Vardhaman Jivan-Kos Part I*, and its Part II in 1984 in the form of the present publication.

The object in compiling and publishing this 'Cyclopaedia of Vardhaman', as they have called it, is to indicate with references the

known sources, quoting the different texts with their Hindi translations, on almost all the details or data relating to Bhagavan Vardhamana Mahavira (599-527 B. C.), the 24th and last Tirthankara of the Jaina tradition. The sources utilised include the canonical texts, their commentaries and the non-canonical literature of the Svetambara tradition, alongwith the more important works of the Digambara tradition, a few of Buddhist and Brahmanical works relevant to the purpose, and some later encyclopaedias, dictionaries and reference volumes.

Part I of the Kos contained details of the life of the great Hero from his conception to nirvana, whereas Part II, the present volume, deals with the 33, or so previous births of him as gleaned from the Svetambara and Digambara sources, incidentally facilitating a comparative study of the two traditional accounts, besides, the five Kalyanakas or auspicious events of his life, his aliases or epithets, his eulogies his samavasarana divya-dhvani or Discourse Divine, his Sangha or the fourfold order, his disciples including the eleven Ganadharas headed by Indrabhuti Gautama with particulars about each, and many other minor or miscellaneous details.

On many points, the information collected in this part supplements that contained in the first part. The topics have been classified and arranged in the international decimal system as adopted by the editors of this Kos and used in their earlier topical dictionaries, mentioned above.

There is no doubt as to the value and usefulness of this unique topical dictionary of the Tirthankara Mahavira for scholars and research workers. We heartily congratulate the learned Pt. Srichand Choraria for accomplishing this very painstaking and time-consuming task so satisfactorily. The Jain Darshan Samiti and its Office-bearers deserve thanks for publishing the Volume.

Jyoti Prasad Jain

Jyoti Nikunj,

Charbag, Lucknow-1

13 March 1984

वर्धमान जीवन कोश (द्वितीय खण्ड) बड़ी मेहनत से तैयार किया गया है । इस समय का यह ग्रन्थ अत्यन्त उपयोगी ग्रन्थ मंथन है । यह पढ़ने वालों से भी

मनन करने वालों के लिए सरल और बिल्कुल सही साबित हुआ है और होता रहेगा। इसमें प्रसंग क्रमशः है परन्तु ऐसा होते हुए भी अलग-अलग है।

—मानकमल लोढ़ा

दीनापुर (नागालैंड)

३ मार्च १९८७

प्रस्तुत समीक्ष्य ग्रन्थ 'वर्धमान जीवन कोश' का द्वितीय खण्ड अपने आप में अनूठा और अद्वितीय है। महावीर-जीवन सम्बन्धी सन्दर्भ ग्रन्थ में सम्पादक द्वय का भगीरथ प्रयत्न और गम्भीर अध्ययन प्रतिबिम्बित हो रहा है। आगमों में यत्र-तत्र बिखरी सामग्री को एकत्र कर इस तरीके से सजाया है कि शोध विद्यार्थियों के लिए बड़ी सुगमता कर दी है। प्रस्तुत ग्रन्थ के संकलन-संपादन में शताधिक ग्रन्थों का उपयोग सम्पादक की 'एगभा चित्तीभदिस्सामिति' एकाग्र चित्तता का अवबोधक है।

आगम-सिन्धु का अवगाहन अनमोल मोतियों के प्रस्तुतीकरण का यह प्रयास सचमुच महनीय और प्रशस्य है।

—साध्वीश्री यशोधरा

२६ अगस्त १९८७

वर्धमान जीवन कोश (द्वितीय खण्ड) में भगवान महावीर के जीवन से सम्बन्धित अनेक भावों की विचित्र एवं महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। यह कार्य अति उत्तम एवं प्रशंसनीय है।

इसके लेखक मोहनलालजी बांठिया तथा श्रीचन्दजी चोरड़िया के श्रम का ही सुफल है। यह ग्रन्थ इतना सुन्दर एवं सुरम्य बन सका है। शोधकर्त्ताओं के लिए यह ग्रन्थ काफी उपयोगी होगा—ऐसा विश्वास है। रिसर्च करने वालों को भगवान वर्धमान के सम्बन्ध में सारी सामग्री इस ग्रन्थ में उपलब्ध हो सकेगी।

—मुनि श्री जसकरण

सुजान, बौरावड़ (सुजानगढ़ वाले)

६ मई १९८७

श्रीचन्दजी चोरड़िया का 'वर्धमान-जीवन-कोश द्वितीय खण्ड' समाप्त हुआ। ग्रन्थ प्रेषण हेतु आभार ज्ञापन।

भगवान महावीर पर सम्प्रति-पर्यन्त बहुविध स्तरीय कार्य हुए हैं, किन्तु यह ग्रन्थ अपने आप में अभूतपूर्व है। शोध-स्नातकों के लिए तो यह ग्रन्थ सारस्वत

वरदान सिद्ध होगा, ऐसा मेरा आत्म-विश्वास है। 'वर्धमान जीवन कोश' का प्रथम खण्ड भी उपादेय सिद्ध हुआ था। यद्यपि सामान्यतया लोग कोश निर्माण के कार्य को महत्ता की दृष्टि से नहीं देखते, परन्तु मेरा विचार है कि मौलिक चिन्तनमूलक ग्रन्थ लेखन उतना वैदुष्यपूर्ण और श्रमसाध्य नहीं है, जितना कि कोश संग्रहीत करना। मैं ऐसे ग्रन्थों का हृदय से स्वागत किया करता हूँ।

शिवस्ते पन्थाः

—मुनि चन्द्रप्रभसागर

प्रस्तुत समीक्ष्य ग्रन्थ "वर्धमान जीवन कोश" का द्वितीय खण्ड अपने आप में अनुठा और अद्वितीय है। महावीर जीवन सम्बन्धी सन्दर्भ ग्रन्थ में सम्पादक द्वय का भगीरथ प्रयत्न और गम्भीर अध्ययन प्रतिबिम्बित हो रहा है। आगमों में यत्र-तत्र विखरी सामग्री को एकत्र कर इस तरीके से सजाया है कि शोध-विद्यार्थियों के लिए बड़ी सुगमता कर दी है। प्रस्तुत ग्रन्थ के संकलन-सम्पादन में शताधिक ग्रन्थों का उपयोग सम्पादक की "एगगाचित्तोभविस्सामित्ति" एकाग्र चित्तता का अवबोधक है।

आगम-सिन्धु का अवगाहन कर अनमोल मोतियों के प्रस्तुतीकरण का यह प्रयास सचमुच महनीय और प्रशस्य है।

—हीरालाल सुराणा

जैन आगमों और प्राचीन ग्रन्थों के आधार पर इसका संकलन किया गया है। इसमें संकलन कर्त्ता को अध्ययन, रुचि, धृति और परिश्रम को एक साथ उजागर होने का अवसर मिला है।

साधारण पाठकों के लिए इस ग्रन्थ का बहुत बड़ा उपयोग नहीं हो सकता। किन्तु जो विद्वान् भगवान् महावीर के जीवन के संदर्भ में विशेष रूप से जिज्ञासु और संघित्सु हैं उनके लिए यह ग्रन्थ माला का प्रकाश स्तम्भ का काम करने वाली है। विद्वान् लोग इस ग्रन्थ माला सलक्ष्य उपयोग कर स्व० बाँठिया और श्री चोरड़िया के श्रम को सार्थक ही नहीं करेंगे, अपने शोध कार्य में उपस्थित अनेक समस्याओं का समाधान भी पा सकेंगे—ऐसा विश्वास है।

—आचार्य तुलसी

चुरु, २६ मार्च, १९८४

इसमें भगवान् महावीर के पूर्व भव (२७ भव अथवा ३३ भव) गणधरवाद का हृदयशाही विवेचन है।

—चन्द्रशेखर सूरि

वर्धमान जीवन कोश तृतीय खण्ड पर समीक्षा

VARDHAMAN-JIVAN-KOSA, compiled and edited by Mohanlal Banthia and Srichand Choraria Jain Darshan Samiti, 16C, Dover lane, Calcutta-700 029, 1988 Pages 80+448 Price Rs. 15 00

The Volume three os Vardhaman Jivan Kosa compiled and edited by Mohanlal Banthia and Srichand Choraria is a valuable source-book on the life and teachings of Vardhamana Mahavira. Some few years ago, the two other volumes (Vol. I, 1980 and Vol II, 1984) of the same series came out. In all the volumes the plan and scope are the same, The methodology adopted in all these volumes is not only unique of its kinds, but also totally new in this type of cyclopaedic work. The material collected in all these volumes is very systematic, and will remain as a source-book for years to come to the scholarly world.

The book is well-printed and the binding is carefully executed. The printing mistakes are exceptionally few. It supersedes all the previous volumes.

For preparing a Dictionary on the life and teachings of Vardhamana, the erudite editors are to be thanked for presenting such a research work. The book is divided into several sections as far as 99 and these sections are again sub-divided into several other decimal points for easy references. Each decimal point is arranged in accordance with the subject matter connected with the life and teachings of Lord Mahavira. The table of contents of this work will tell us how to use this Cyclopaedia. All the facts of Mahavira's life are authenticated by quotations from over 100 books followed by Hindi translations. These quotations are necessary for making this volume useful. This unique feature of the book shows the critical outlook and deep scholarship of the editors. The project of this research work indicates that there could be some two or more volumes or this Vardnaman-Jivan-Kosa. The Jain Darshan Samiti is to be heartily congratulated for undertaking such a laborious and tedious project on Jainism.

This Cyalopaedia of Vardhamana will be very useful for the source-material on the life and story of Lord Mahavira. As the

editor has ransacked both the Swetambara and Digambara source-books, this volume is free from all sorts of parochial outlook. I hope, this book must be in the library of every learned scholar.

—Dr. Satyaranjan Banerjee

यह सब आपके परिश्रम का परिणाम है। हर पुस्तक का अलग-अलग विवरण दिया है। मैं आपको धन्यवाद देता हूँ।

—जबरमल भण्डारी

५ अगस्त १९६२

वर्धमान जीवन कोश खण्ड १, २, ३

यह ग्रन्थ महत्वपूर्ण ग्रन्थ है।

—गोकलप्रसाद जैन

भारतीय ज्ञानपीठ

आपका यह बहु उपयोगी प्रकाशन है।

—बालाजी गणोदकर

कोटा

पूर्वार्ध के दोनों खण्डों के टाइप भी इतने सुव्यक्त मनोरंजन नहीं है। तृतीय खण्डों को देखकर पूरा संतोष होता है। सामग्री का चयन तीनों खण्डों का उत्तम है।

गेटप भी तृतीय खण्ड पीछले दोनों खण्डों से बहुत सुन्दर है। श्रीचंदजी ने इस कार्य में भगीरथ प्रयत्न किया है।

—जिनेश मुनि

इसमें वर्धमान तीर्थङ्कर के ज्यवन से परिनिर्वाण तक का बड़े तलस्पर्शी ढंग से संकलन हुआ है। कोश बड़ा रोचक बन पड़ा है।

—चन्द्रशेखर सागर सूरि

प्रस्तुत ग्रन्थ जैनागमों व ग्रन्थों के मंथन द्वारा संकलित भगवान महावीर के जीवन सामग्री का सानुवाद संग्रह करने का भागीरथ प्रयत्न है। जैन धर्म से सम्बन्धित शोध कार्य करने वालों के लिए यह बहुत ही सहायक और वर्षों से निष्ठता पूर्वक किये गये परिश्रम का सुखद परिणाम है। सम्पादक महोदय ने

इतः पूर्व दो खण्डों में एतद् विषयक सामग्री प्रस्तुत करके के अतिरिक्त लैश्या कोश, क्रिया कोश और मिथ्यात्वी का आध्यात्मिक विकास संस्था द्वारा प्रकाशित कर जैन समाज का ही नहीं पर अनुसंधेतु छात्रों-विद्वानों का भी बड़ा उपकार किया है ।

कुशल-निर्देश
मार्च १९६२

मिथ्यात्वी का आध्यात्मिक विकास पर समीक्षा पत्र-पत्रिकाओं में समीक्षा

मिथ्यात्वी का आध्यात्मिक विकास—लेखक—श्रीचन्द्र चोरड़िया, प्रकाशक जैन दर्शन समिति, १६-सी, डीवर लेन, कलकत्ता-७०० ०२६, मूल्य : पन्द्रह रुपये मात्र ।

श्री श्रीचन्द्र चोरड़िया जैन दर्शन के जाने माने तरण विद्वान हैं और जैन समिति द्वारा प्रकाशित कई ग्रन्थ में उनका बहुमूल्य योगदान रहा है । प्रस्तुत ग्रन्थ नौ अध्यायों में विभक्त है और प्रत्येक अध्याय में अनेक उपविषय हैं, एक मिथ्यात्वी अर्थात् सम्यग दृष्टि रहित व्यक्ति का आध्यात्मिक विकास हो सकता है या नहीं इस विषय पर उन्होंने सप्रमाण क्रमवार विवेचन इस ग्रन्थ में किया है । साधारणतः यही समझा जाता है कि मिथ्यात्वी का आध्यात्मिक विकास संभव नहीं है किन्तु विद्वान लेखक श्री चोरड़ियाजी ने इस ग्रन्थ में निरूपित किया है कि मिथ्यात्वी का आध्यात्मिक विकास हो सकता है । कब, कहां, कैसे किन दशाओं एवं किस सीमा तक उसका आध्यात्मिक विकास हो सकता है, उस बारे में उन्होंने सैद्धांतिक दृष्टि से सप्रमाण विवेचन किया है । ग्रन्थ जैन पंडितों को चिन्तन के लिए प्रेरित करेगा एवं अनेक भ्रान्त धारणाओं को भी दूर कर सकेगा । विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ के लेखक एवं प्रकाशक बधाई के पात्र हैं ।

—जैन जगत
मार्च १९७८

प्रायः यह समझा जाता है कि मिथ्यात्वी व्यक्ति घर्माचरण का अधिकारी नहीं है और उसका आध्यात्मिक विकास नहीं हो सकता । भ्रांति का निरसन विद्वान लेखक ने सरल-सुबोध किन्तु विवेचनात्मक शैली में अनेक शास्त्रीय प्रमाणों को पुष्टि पूर्वक किया है, और यह दिखाया है कि एक मिथ्यात्वी भी अपना कितना, कंसा, किस दिशा में और सीमात्मक आध्यात्मिक विकास कर सकता है ।

प्रारम्भ में डा० ज्योतिप्रसाद जैन का ६ पृष्ठीय आमुख है। पुस्तक पठनीय एवं संग्रहणीय है। विद्वान् लेखक एवं प्रकाशक धन्यवादाहर्ह है।

—श्री जैन सिद्धांत भास्कर

आरा, जुलाई १९७८

मैंने पुस्तक को सरसरी नजर से आद्योपांत देखी। पुस्तक बहुत सुन्दर एवं ज्ञानवर्द्धक तथा पठनीय है। पुस्तक में जगह-जगह श्रीमद् आचार्य भिक्षु तथा श्रीमद् जयाचार्य की कृतियों के सन्दर्भ बहुत ही सुन्दर दिए हैं। अनुमानतः लेखक ने इस ग्रन्थ को लिखने के लिए अनेकानेक ग्रन्थों का अवलोकन किया है। टीका-भाष्यों के सुन्दर संदर्भों से पुस्तक अतीव आकर्षक बनी है। लेखक का ज्ञानवर्धक प्रयास प्रशंसनीय है।

—मुनि जशकरण, सुजानगढ़

जैन भारती १९८१

'मिथ्यात्वी का आध्यात्मिक विकास' यह पुस्तक अनेक विशिष्टताओं से युक्त है। एक मिथ्यात्वी भी सद् अनुष्ठानिक क्रिया से अपना आध्यात्मिक विकास कर सकता है। साम्प्रदायिक मतभेदों की बातें या तो आई ही नहीं है अथवा भिन्न-भिन्न दृष्टि कोणों का समभाव से उल्लेख कर दिया गया है।

श्री चोरड़ियाजी ने विषय की प्रतिपादन बहुत ही सुन्दर और तलस्पर्शी ढंग से किया है। विद्वज्जन इसका मूल्यांकन करे। निःसंदेह दार्शनिक जगत के लिए चोरड़ियाजी की यह एक अप्रतिम देन है। सचमुच श्री चोरड़ियाजी एक नवोदित और तर्क जैन विद्वान् है जिनकी अभिरुचि इस दिशा में श्लाघ्य है।

Glory of India

(हिन्दी अनुवाद)

मार्च १९८०

श्री चोरड़ियाजी ने इसमें जैनागम और उनकी टीकाओं में से षट्खण्डागम और उसकी टीका तथा कर्मग्रन्थों में से मिथ्यात्वी जीव भी आत्मविकास कर सकता है इस बात को अनेक अवतरण देकर सिद्ध किया है। विशेषता यह है कि आगमों में जितने भी अवतरण इस विषय में उपलब्ध थे उनका संग्रह किया है इतना ही नहीं आधुनिक काल के ग्रन्थों के भी अवतरण देकर ग्रन्थ को संशोधकों के लिए अत्यन्त उपादेय बनाया है इसमें सन्देह नहीं है। किन्तु अवतरण देने में विवेक रखना जरूरी है। जो बात प्राचीन अवतरणों से सिद्ध है उसके लिए आधुनिक अवतरण जरूरी नहीं है। एक ही बात खटकती है कि मूल प्राकृत-संस्कृत अवतरणों को कहीं-कहीं विशुद्धरूप में नहीं छापा गया। थोड़ी सी

सावधानी इसमें रखी जाती तो यह ग्रन्थ अत्यन्त विशुद्धरूप में मूत्रित किया जा सकता था। फिर भी श्री चोरड़ियाजी ने इस विषय में जो परिश्रम किया है वह धन्यवाद के पात्र है। यदि अन्त में शब्द सूची दी जाती तो सोने में सुगन्ध होती। यह ग्रन्थ इतःपूर्व प्रकाशित लेश्या कोश, क्रिया कोश की कोटिका ही है। इन ग्रन्थों में भी श्री चोरड़ियाजी का सहकार था। हमें आशा है कि वे आगे भी इस कोटि के ग्रन्थ देते रहेंगे।

—दलसुख मालवणिया
अहमदाबाद, संबोधी—१९८०

जैसा कि पुस्तक के नाम से स्पष्ट है एक मिथ्यात्वी किस प्रकार अपना आध्यात्मिक विकास कर सकता है—यह इस पुस्तक का विषय है। पुस्तक में नौ अध्याय हैं जिनमें विभिन्न दृष्टिकोणों से मिथ्यात्वी अपना आत्म विकास किस रूप में किस प्रकार कर सकता है—यह दर्शाया है। जैन सिद्धान्त के प्रमाणों के आधार पर इस विषय को स्पष्टतया पाठकों के समक्ष लेखक ने सरल सुज्ञोद्य भाषा में रखा है जिसके लिए वे बधाई के पात्र हैं। शास्त्रीय चर्चा को अभिनव रूप में प्रस्तुत करने में लेखक सफल हुए हैं। ग्रन्थ संग्रहणीय है। प्रारम्भ में डा० ज्योतिप्रसाद के आमुख में इस विषय को संक्षेप में अच्छा खोल दिया है।

वीर-वाणी, जयपुर
३ अगस्त, १९७८

श्रमण भगवान महावीर द्वारा प्रतिपादित तत्त्वों के निरूपण में आगे जाकर कुछ आचार्यों में मतभेद भी हुए। उन मतभेद के विषयों में एक विषय मिथ्यात्वी की सत्क्रिया वीतराग की आज्ञा में या आज्ञा बाहर भी रहा है। कुछ एक आचार्यों ने सम्यग् दर्शन को महत्व देने के लिए मिथ्यात्व के साथ-साथ मिथ्यात्वी की अच्छी बातों को भी गलत बताया और कुछ आचार्यों ने मिथ्यात्व को बुरा बताकर भी उनमें जो अच्छाइयाँ हैं उनको सिद्धवच्य का ही अंश बताया।

तेरापंथ धर्म मंड के प्रणेता आचार्य श्री भिक्षु के सामने भी यह विषय आया, उन्होंने मिथ्यात्व को भयंकर तम आत्मघाती विषय बताकर भी उनकी अच्छाइयों को तकारा नहीं और आगम प्रमाणों द्वारा उसे निरवच्य वीतराग की आज्ञा में, मोक्षमार्ग के साधक के रूप में स्वीकार किया।

उनके चतुर्थ पट्टधर श्री मज्जयाचार्य ने अपने ग्रन्थ भ्रम विध्वंसन का प्रथम अधिकार इसी विषय पर लिखा और आगम तथा युक्तियों से उसे सिद्ध किया। सही अर्थ में चाहे मिथ्यात्वी ही क्यों, एकेन्द्रिय निगोद में रहने वाला अभव्य आत्मा भी आत्मा है और उसमें भी यत्किञ्चित् ज्ञान, दर्शन, आदि सभी गुण

अंश रूप में विद्यमान है वहाँ भी जानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय, अंतराय इन चारों कर्मों का यत्किञ्चित् क्षयोपशम है और वह ग्राह्य है। जब क्षयोपशम ही बढ़ते-बढ़ते पूर्णता पर पहुँचता है तब क्षायिकका रूप से लेता है। अगर करोड़ रुपये अच्छे हैं तो एक नया पैसा बुरा हो नहीं सकता। इस प्रकार क्षायिक भाव ज्ञेय है तो क्षयोपशमिक भाव भी हेय हो नहीं सकता।

इसी विषय को ग्रन्थ लेखक—श्री श्रीचन्द्र चोरडिया, न्यायतीर्थ (द्वय) ने आगम, टीका, आदि प्रमाणों द्वारा तथा जैनाचार्यों द्वारा कथित प्रसंगों के माध्यम से स्पष्ट किया है। ग्रन्थ पूर्ण परिश्रम तथा अन्वेषण द्वारा लिखा गया है। इस विषय का लेखक को विशद ज्ञान है।

जिन सम्प्रदायों द्वारा मिथ्यात्वी की सत्क्रिया आज्ञा में मान्य नहीं है तथा जो मिथ्यात्वी की अच्छी करणी भी मोक्षमार्ग के विपरीत मानते हैं, उन्हें अच्छा न भी लगे किन्तु वस्तुस्थिति जो है उसे नकारा तो नहीं जा सकता।

लेखक अनुमोदन जानने का अधिकारी है।

—मुनि श्री राजकरण
जैन भारती, मार्च १९८०

मिथ्यात्वी का आध्यात्मिक विकास—जैन तत्त्व दर्शन का एक बहुचर्चित पहलू है। आध्यात्मिक विकास या धर्म किसी व्यक्ति या मत विशेष की सीमा तक ही सीमित रहे, यह कैसे अभीष्ट हो सकता है। आत्म विकास की संभावना में एकाधिकार की कोई संगति नहीं होती फिर भी कोई मत या विचार जब बाद का रूप ग्रहण कर लेता है तो अनेक प्रकार के तर्क उपस्थित हो जाते हैं। मिथ्यात्वी के आध्यात्मिक विकास को नकारने का अर्थ होता—किसी की सम्यक्त्व प्राप्ति का निषेध। तथ्य यह है कि आत्म-प्रदेशों की उज्ज्वलता के बिना सम्यक्त्व प्राप्त नहीं होता और आध्यात्मिक विकास के बिना आत्मप्रदेशों की उज्ज्वलता नहीं होती। आगमों में अश्रुत्वा केवली का प्रसंग आता है। कोई मिथ्यात्वी धर्म को सुने बिना ही निरवद्य क्रिया करते हुए सम्यक्त्व और चारित्र्य को प्राप्त कर केवली बन जाता है, उसे असोच्चा केवली कहते हैं। यदि मिथ्यात्वी का आध्यात्मिक विकास नहीं होगा तो असोच्चा केवली का प्रसंग ही मिथ्या हो जाएगा। विपाक सूत्र तथा ज्ञाता में भी अनेक ऐसे प्रसंग हैं जहाँ मिथ्यात्व अवस्था में सुपात्रदान आदि के द्वारा परित संसार करके मनुष्य का आयु बाँधा गया है। तामली तापस का प्रसंग तो इस तथ्य को और अधिक पुष्ट कर देता है।

आत्म उज्ज्वलता की तारतम्य के आधार पर गुणस्थानों का निरूपण किया गया है। गुणस्थान का अर्थ है—आत्मा की शुद्धि। मिथ्यात्वी का पहले गुणस्थान में रखा गया है। समवायांग में कहा गया है—कम्मविसोहिमगण-पडुच्च चउत्स जीवहुणा पणत्ता—कर्म विशुद्धि के तारतम्य की अपेक्षा से चौदह जीवस्थान (गुणस्थान) होते हैं। मिथ्यात्वी भी जब प्रथम गुणस्थान का अधिकारी है तब उसका आध्यात्मिक विकास तो स्वतःसिद्ध है। उसे नकारने या अस्वीकारने का कोई कारण नहीं रह जाता। इसी प्रकार नन्दी सूत्र में भी कहा गया है—सव्वजीवाणं पि य णं अक्खरस्स अणंतमोभागे निच्चुग्घाडिओ, जइ पुणसोडवि आवरिज्जा तेणं जीवो अजीवत्तं पाविज्जा—ऐसा एक भी जीव नहीं है जिसमें सूक्ष्मतम आंशिक उज्ज्वलता नहीं होती। सूक्ष्मतम आंशिक उज्ज्वलता के अभाव में जीव अपने मूल स्वभाव को छोड़कर अजीव बन जाता। जीव कभी अजीव नहीं होता इसका एकमात्र कारण है उसकी सूक्ष्मतम आंशिक उज्ज्वलता।

आगमों में अनेक स्थानों पर ऐसे प्रसंग विकीर्ण हैं जो मिथ्यात्वी के आध्यात्मिक विकास की पुष्टि करते हैं। फिर भी एक विचारधारा इसे स्वीकार नहीं करती। लेखक श्री श्रीचन्द्र चोरडिया ने आगम तथा आगमतर ग्रन्थों का मन्थन कर पक्ष-विपक्ष के उन समस्त प्रमाणों को एक साथ उपस्थित कर दिया है ताकि जैन तत्व दर्शन के अध्येताओं के लिए इस सम्बन्ध में निर्णायक अध्ययन की सुविधा हो सके। सामग्री के प्रस्तुतीकरण में लेखक का साम्प्रदायिक अनाग्रह एवं वैचारिक उदारता परिलक्षित होती है।

लेखक का अध्ययन और अध्यवसाय जितना प्रयत्न है, उतना ही उसका सम्पादन भी प्रशस्त होता तो ग्रन्थ की महत्ता और अधिक बढ़ जाती। सम्पादक सम्बन्धी परिमार्जन पर भविष्य में विशेष ध्यान दिया जाए तो जैन वाङ्मय के क्षेत्र में लेखक से भविष्य में और अधिक अपेक्षाएं की जा सकती हैं। कुल मिलाकर लेखक ने एक विमर्शनीय विषय को कोश के रूप में प्रस्तुत किया है। यह ग्रन्थ भी पूर्व प्रकाशित लेख्या कोश, क्रिया कोश आदि की कोटि का है। लेखक का परिश्रम और पुरस्वार्थ भविष्य में भी इस प्रकार के अन्य विवेचनीय विषयों पर जिज्ञासु और अनुसन्धित्सुओं के लिए कुछ करे, यही काम्य है।

—मुनि गुलाबचन्द्र 'निर्मोही'

तित्थयर

नवम्बर १९८०

लेखक श्री श्रीचन्द्र चोरड़िया ने प्रस्तुत ग्रन्थ में जैन दर्शन के इस गम्भीर विषय पर गहरा और सप्रमाण प्रकाश डाला है। ग्रन्थ ६ विभागों में विभक्त है। विषय की पुष्टि में उन्होंने आगमों व अन्य शताधिक ग्रन्थों के विपुल उद्धरण प्रस्तुत किये हैं। जैन दर्शन के गम्भीर अध्येताओं तथा शोध विद्वानों के लिये निश्चित ही ग्रन्थ परम उपयोगी है।

जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, ग्रन्थ के विवेचन का आधार मिथ्यात्वी तथा उसके आत्मिक विकास की सम्भावना की खोज है। मिथ्यात्वी यानी मिथ्या-दृष्टि, असत्य श्रद्धा। तत्त्व की मान्यता के सम्बन्ध में मतिभिन्नता स्वाभाविक है। जैन श्रद्धा से भिन्न विश्वास लेकर चलने वाला व्यक्ति भी गुणी है, प्रथम गुणस्थान में है। भिन्न श्रद्धा रखने वाले व्यक्ति का भी आत्म विकास सम्भव है, उसके सदाचरण और सद्प्रवृत्ति उसे मोक्ष पथ की ओर अग्रसर ही करती है। अज्ञान में भी मीठाई खाने वाले का मुँह मीठा ही होता है। तन्व में अश्रद्धा रखने वाले व्यक्ति का सद् आचरण आत्मा की उन्नति का ही परिचायक है। विभिन्न जैन सम्प्रदायों में इस प्रश्न को लेकर अलग-अलग मान्यताएँ हैं, लेखक ने मिथ्यात्वी के आध्यात्मिक विकास को स्वीकारा है तथा प्रमाणों से पुष्ट किया है।

इस तत्त्व निरूपण को जन-भाषा में इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि अपने से भिन्न धर्मावलम्बी के पुण्य कार्य भी अभिनन्दनीय ही है। जैन धर्म के इस विशद और व्यापक दृष्टिकोण का निश्चित ही आज के युग में भरपूर स्वागत होगा।

ग्रन्थ की मूल्यवस्तु असंदिग्ध है। प्रकाशन में भी यदि सफाई, शुद्धि तथा सौष्ठव का अधिक ध्यान रखा जाता एवं ग्रन्थ सजिल्द बनाया जाता तो 'सोने में सुहागा' हो जाता।

—हर्षचन्द्र
कथालोक, दिल्ली
मार्च १९८०

मिथ्यात्वी का आध्यात्मिक विकास—जैन तत्त्व दर्शन का एक बहुचर्चित पहलु है। आध्यात्मिक विकास या धर्म किसी व्यक्ति या मत विशेष की सीमा तक ही सीमित रहे, यह कैसे अभीष्ट हो सकता है। आत्म-विकास की संभावना में एकाधिकार की कोई संगति नहीं होती फिर भी कोई मत या

विचार जब वाद का रूप ग्रहण कर लेता है तो अनेक प्रकार के तर्क उपस्थित हो जाते हैं। मिथ्यात्वी के आध्यात्मिक विकास को नकारने का अर्थ होता किसी को सम्यक्त्व प्राप्ति का निषेध। तथ्य यह है कि आत्म-प्रदेशों की उज्ज्वलता के बिना सम्यक्त्व प्राप्त नहीं होता और आध्यात्मिक विकास के बिना आत्म प्रदेशों की उज्ज्वलता नहीं होती। आगमों में असौच्चा केवली का प्रसंग आता है। कोई मिथ्यात्वी धर्म को सुने बिना ही निरवद्य क्रिया करते हुए सम्यक्त्व और चारित्र्य की प्राप्ति कर केवली बन जाता है, उसे असौच्चा केवली कहते हैं। यदि मिथ्यात्वी का आध्यात्मिक विकास नहीं होगा तो आसौच्चा केवली का प्रसंग ही मिथ्या हो जाएगा। विपाक सूत्र तथा ज्ञाता में भी अनेक ऐसे प्रसंग हैं जहाँ मिथ्यात्व अवस्था में सुपात्रदान आदि के द्वारा परित संसार करके मनुष्य का आयु बान्धा गया है। तामली तापस का प्रसंग तो इस तथ्य को और अधिक पुष्ट कर देता है।

आत्म उज्ज्वलता की तरतम्यता के आधार पर गुण स्थानों का निरूपण किया गया। गुणस्थान का अर्थ है—आत्मा की शुद्धि। मिथ्यात्वी को पहले गुण-स्थान में रखा गया है। समवायांग में कहा गया है—कम्मविसोहिमगण-पडुच्च चउड्स जीवट् ठाणा पणत्ता—कर्म विशुद्धि के तारतम्य की अपेक्षा से चौदह जीव स्थान (गुणस्थान) होते हैं। मिथ्यात्वी भी जब प्रथम गुणस्थान का अधिकारी है तब उसका आध्यात्मिक विकास तो स्वतः सिद्ध है। उसे नकारने या अस्वीकारने का कोई कारण नहीं रह जाता। इसी प्रकार नन्दी सूत्र में भी कहा गया है—“सव्वजीवाणं पि य णं अक्खरस्स अणंतमोभागे निच्चुग्घाडिओ, जइ पुण सोडवि आवरिज्जा तेणं जीवो अजीवत्तं पाविज्जा—ऐसा एक भी जीव नहीं है जिसके सूक्ष्मतम आंशिक उज्ज्वलता नहीं होती। सूक्ष्मतम उज्ज्वलता के अभाव में जीव अपने मूल्य स्वभाव को छोड़कर अजीव बन जाता। जीव कभी अजीव नहीं होता इसका एकमात्र कारण है उसकी सूक्ष्मतम आंशिक उज्ज्वलता।

आगमों में अनेक स्थानों पर ऐसे प्रसंग विकीर्ण हैं जो मिथ्यात्वी के आध्यात्मिक विकास की पुष्टि करते हैं। फिर भी एक विचारधारा इसे स्वीकार नहीं करती। लेखक श्री श्रीचन्द चोरडिया ने आगम तथा आगमतर ग्रन्थों का मन्थन कर पक्ष-विपक्ष के उन अनेक प्रमाणों को एक साथ उपस्थित कर दिया है ताकि जैन तत्व दर्शन के अध्येताओं के लिए इस सम्बन्ध में निर्णायक अध्ययन की सुविधा हो सके। सामग्री व प्रस्तुतीकरण में लेखक का साम्प्रदायिक अनाग्रह एवं वैचारिक उदारता परिलक्षित होती है।

लेखक का अध्ययन और अध्यवसाय जितना प्रशस्त है, उतना ही उसका सम्पादन भी प्रशस्त होता तो ग्रन्थ की महत्ता और अधिक बढ़ जाती। सम्पादन सम्बन्धी परिमार्जन पर भविष्य में और अधिक अपेक्षाएँ की जा सकती हैं। कुल मिलाकर लेखक ने एक विमर्शनीय विषय को कोश के रूप में प्रस्तुत किया है। यह ग्रन्थ भी पूर्व प्रकाशित लेख्या कोश, क्रिया कोश आदि की कोटि का है। लेखक का परिश्रम और पुरुषार्थ भविष्य में भी इस प्रकार के अन्य विवेचनीय विषयों पर जिज्ञासु और अनुसन्धित्सुओं के लिए कुद्ध करे, यही काम्य है।

—मुनि गुलाबचन्द्र 'निर्मोही'
जैन भारती

जैन दर्शन के उदार दृष्टिकोण और क्रमिक आत्म विकास के सिद्धान्त के अनुसार जड़ चेतन के मिश्रित भाव से जब ग्रन्थि भेद कर सम्यक्त्व प्राप्ति भेद विज्ञान की योग्यता प्राप्त करता है तभी उसका वास्तविक विकास होता है और वह प्राणी कर सकता है। शास्त्र प्रमाणों से परिपूर्ण इस ग्रन्थ में विद्वान लेखक ने नौ अध्यायों में प्रस्तुत विषय पर अच्छा प्रकाश डाला है। डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन जैसे विद्वान ने इसका आमुख लिखा है, ग्रन्थ संग्रहणीय है।

कुशल निर्देश
सितम्बर १९७८

प्रसिद्ध विद्वान श्री श्रीचन्दजी चोरड़िया ने समीक्ष्य-कृति को ९ अध्यायों में विभाजित किया है—(१) मिथ्यात्वी का स्वरूप, (२) मिथ्यात्वी का सद्-असदनुष्ठान विशेष, (३) मिथ्यात्वी और करण, (४) मिथ्यात्वी के क्षयोपशम, निर्जरा विशेष, (५) मिथ्यात्वी के क्रिया-भाव विशेष, (६) मिथ्यात्वी का ज्ञान-दर्शन विशेष, (७) मिथ्यात्वी के व्रत विशेष, (८) मिथ्यात्वी और आराधना-विराधना, तथा (९) मिथ्यात्वी का उपसंहार। इन अध्यायों में विद्वान लेखक ने यह स्पष्ट करने का साधार प्रयत्न किया है कि मिथ्यात्वी का कब और किस प्रकार विकास हो सकता है। सैद्धान्तिक ग्रन्थों से अनुवाद प्रमाण भी अपने कथन की सिद्धि में प्रस्तुत किये हैं। लेखक और प्रकाशक इतने सुन्दर ग्रन्थ के प्रकाशन के लिए बधाई के पात्र हैं। जैन दर्शन समिति विभिन्न कोश तैयार करने के लिए प्रख्यात हो चुकी है। प्रस्तुत ग्रन्थ में ग्रन्थ सूची तथा शब्द सूची और दे दी जाती तो पुस्तक की उपयोगिता और अधिक हो जाती। ग्रन्थ का मूल्य निश्चित ही कम है। यह अनुकरणीय है।

—डॉ० भागचन्द्र भास्कर
सुधर्मा, फरवरी १९८३

लेखक ने काफी विस्तार के साथ उक्त चर्चा को पुनः चिन्तन का आयाम दिया है। मिथ्यात्वी के आध्यात्मिक विकास के सम्बन्ध में तो मेरे विचार से किसी को आपत्ति नहीं है। यदि यह विकास न हो तो वह सम्यग् दर्शन की भूमिका पर भी कैसे आ सकता है। प्रश्न मिथ्यात्वी के क्रिया काण्ड का है। वह संवर एवं अविपाक निर्जरा की कोटि में आता है या नहीं, यह विवादग्रस्त है। भावशुद्धि होने में विवाद नहीं है। फिर भी पुस्तक एक अच्छी चिन्तन-सामग्री उपस्थित करती है। अतः पठनीय है। अच्छा होता, लेखक महोदय साम्प्रदायिक पूर्वाग्रह से ऊपर उठकर यदि मुक्त चिन्तन करते। तब यह लेखन एक नया ही रूप लेता।

—सम्पादक, पं० चन्द्रभूषण मणि त्रिपाठी
अमर भारती
जनवरी १९७८

'लेख्या कोश' व 'क्रिया कोश' के बाद लेखक की यह कृति पाठकों का ध्यान एक नई दिशा की ओर खींचती है। जैन दर्शन में मिथ्यात्व शब्द बहुप्रचलित है। साधारण बोल चाल में इसे अज्ञान, मिथ्यादृष्टि-विपरीत ज्ञान भी कहा जा सकता है। विपरीत ज्ञान या मिथ्यात्व का विकास कभी आध्यात्मिकता का स्पर्श नहीं कर सकता, पर जिसमें ऐसा ज्ञान है ऐसा व्यक्ति सद्ज्ञान का संबल पाकर अपना आध्यात्मिक विकास कर सकता है। लेखक ने पुस्तक के ६ अध्यायों में क्रमशः मिथ्यात्वी का स्वरूप, मिथ्यात्वी का सद्-असद् अनुष्ठान विशेष, मिथ्यात्वी और करण, मिथ्यात्वी के क्षयोपशम—निर्जरा विशेष, मिथ्यात्वी का ज्ञान—दर्शन विशेष, मिथ्यात्वी का व्रत विशेष, मिथ्यात्वी और आराधना—विराधना तथा उपसंहार पर विस्तार से प्रकाश डाला है। लेखक के निष्कर्षों और मान्यताओं से सब सहमत हों, यह आवश्यक नहीं। कई मुद्दे विचारणीय हो सकते हैं, जैसे—आत्मविकास का ओमनमः मिथ्यात्व अवस्था में ही होता है, मिथ्यात्वी को निर्जरा होती है, पर संवर नहीं। आशा है, शास्त्रमर्मज्ञ विद्वानों को इस विषय पर गहराई से चिन्तन करने की ओर प्रवृत्त करने में यह पुस्तक सहायक बनेगी। मिथ्यात्व की भाँति सम्यक्त्व भी जैन दर्शन का बहु प्रचलित शब्द है। इस पर भी विस्तार से लिखा जाना चाहिये।

—जिनवाणी, जयपुर
जून १९७८

यह अपने विषय की अपूर्व कृति है। मनीषी लेखक ने लगभग दो सौ ग्रन्थों का गंभीर पारायण एवं आलोडन करके शास्त्रीय रूप में अपने विषय को प्रस्तुत किया है।

जैन दर्शन या जैन धर्म में आचार-व्यवहार के क्षेत्र में सम्यक्त्व की अपरम्पार महिमा गायी गयी है और मिथ्यात्व को सब दृष्टियों से द्वेष (त्याज्य) बतलाया गया है। गुणस्थानों में भी क्रमविकास के अन्तर्गत सर्वप्रथम मिथ्यात्व को गिना गया है। सम्यक्त्व सहित नरक में जाना भी स्वर्गलोक में मिथ्यात्वी रहने की अपेक्षा श्रेयस्कर कहा गया है।

विद्वान् लेखक ने इसी बहुचर्चित विषय का विवेचन इस पुस्तक में, नौ अध्यायों में सप्रमाण किया है। यह विवेचन लेखक ने मत-सहिष्णुता एवं समन्वय की भूमिका से किया है। परिभाषाओं और विशिष्ट शब्दों में आषड्भ तात्त्विक प्ररूपणाओं एवं परम्पराओं को उन्मुक्त भाव से समझने के लिए यह कृति अतीव मूल्यवान् है। लेखक का यह श्रम अभिनन्दनीय है।

—श्रमण, बनारस
जनवरी १९७८

मिथ्यात्वी और सम्यक्त्वी की क्रिया की चर्चा जैन तत्त्व-ज्ञान का एक महत्वपूर्ण विषय है। तेरापंथ के प्रवर्तक आचार्य श्री भिक्षु एवं चतुर्थाचार्य श्री जयाचार्य ने इस विषय पर गम्भीर विश्लेषण किया है, शास्त्रीय परम्परा के आधार पर यह प्रमाणित किया है कि मिथ्यात्वी की निरवच्छ क्रिया भी आत्म-विकास का साधन है, मोक्ष मार्ग के अनुकूल है।

श्री श्रीचन्द चोरड़िया के विशिष्ट ग्रन्थ 'मिथ्यात्वी का आध्यात्मिक विकास' में उपरोक्त विषय का शास्त्रीय और दार्शनिक दोनों दृष्टियों से महत्वपूर्ण प्रतिपादन हुआ है। जैन धर्म के तान्त्रिक चिन्तन में लुब्धि रखने वालों के लिये तो यह पुस्तक ज्ञानवर्द्धक और रसप्रद है ही, किन्तु साम्प्रदायिक अनाग्रह और धर्चरिक उदारता के इस युग में हर बौद्धिक और चिन्तनशील व्यक्ति के लिए इसका स्वाध्याय उपयोगी भी है।

मिथ्यात्वी सम्यक्त्वी की परिभाषा क्या है ? मिथ्यात्वी के आत्म-शुद्धि का अस्तित्व है या नहीं, मिथ्यादृष्टि क्रियावादी होते हैं या अक्रियावादी ? मिथ्यात्वी में लेख्या और ध्यान की स्थिति कैसी है ? आदि प्रश्नों का इस पुस्तक में शास्त्रीय और तार्किक दोनों दृष्टियों से विस्तृत समाधान किया गया है।

श्री श्रीचन्द चोरड़िया वर्तमान में साप्ताहिक जैन भारती के सम्पादक हैं। जैन दर्शन समिति की आगम कोष योजना के प्राण हैं। लेख्या कोष एवं क्रिया

कोष के निर्माण में उनका विशिष्ट योगदान रहा है। वे श्रुत और शील के उपासक हैं।

इस पुस्तक की रचना कर उन्होंने जैन शासन की महान् सेवा की है।

—मुनि राकेशकुमार

२२ जुलाई १९७६

आपकी पुस्तक मिथ्यात्वी का आध्यात्मिक विकास अस्यन्त खोजपूर्ण एवं मनोयोग से लिखी गई है। तदर्थ मेरा धन्यवाद स्वीकार करें। आपका प्रयत्न एवं श्रम श्लाघनीय है।

—अध्यक्ष, हरीन्द्रभूषण जैन

प्राकृत एवं जैनीज्म विभाग आल इण्डिया ओरियंटल कॉन्फेस

४ मई १९७८

This is a philosophical treatise, It describes carefully the manifestation of the soul according to Jain tradition. It deals with the problem whether the mithyatvi can have a manifestation. And the auther has proved that it is possible.

The book is divided into nine chapters including conclusion. Each chapter has several sub-sections, or rather points on which the author has discussed a lot. Each section of each chapter is replete with ample quotations proving the conclusion of the author.

This book shows the masterly scholarship of Sri Srichand Choraria over the subject. The language of the author is simple, but forceful, and the analysis is praise worthy. The author has consulted quite a member of books and has given a substained effort for the better production of the thesis. The work is more than a D. Lit.

The printing of the book is good and the binding as well. The book must be in the shelf of the library of every learned scholar.

Satya Ranjan Banerjee
University of Calcutta
20 September, 1984

The present work "spiritual Development of a perverted one" Elucidates one of the most difficult topics of Jain Philosophy. The subject itself is controversial and requires a very thorough understanding of the subtle points of Jain Ethics. The author has substantiated the view that ever a perverted one can partially make an advancement in the direction of spiritual development. The author has collected all the evidence from the available Jain sources the Svetamber as well as the Digamber canonical Texts. At some places, he also quotes the non-Jain Texts which clearly accept the theme.

The whole work is a logical treatment based on the authentic texts and authentic commentaries. The book itself has become a sort of "cyclopaedia" on the subject.

Incidentally, the author has explained many other topics concerning other aspects of Jain philosophy, such as the nature of jnana and ajnana, darsana Labdhis ; etc.

It is hoped that the work will go a long way in helping the Jain students and scholars for understanding the technical subjects which are otherwise very difficult to comprehend.

Muni Shri Mahendra Kumar
(Disciple of Acharya Shri Tulsi)
July 1986, New Delhi

यह कोश धर्म को साम्प्रदायिता से मुक्त कर उसकी धरोहर सब के लिए उद्घोषित करता है ।

—श्रीचन्द्र रामपुरिया

'मिथ्यात्वी का आध्यात्मिक विकास' ग्रन्थ का आपाततः पठन किया । सरल भाषा में गम्भीर से गम्भीर तथ्यों को प्रस्तुत करना ग्रन्थ की अपनी विशेषता है । ग्रन्थ की प्रामाणिकता भी मैं स्वीकार करता हूँ । श्री चोरडियाजी का यह लेखन स्तुत्य है । मैं चाहता हूँ कि चोरडियाजी ऐसे ग्रन्थ-रत्न साहित्य-समाज को और प्रदान करें । मेरी शुभ कामनाएँ उनके एवं आपके साथ हैं ।

—मुनि चन्द्रप्रभ, कलकत्ता
२४ अक्टूबर १९८५

मिथ्यात्वी का आध्यात्मिक विकास नामक पुस्तक का अबलोकन किया । विद्वान लेखक ने विषय का काफी तलस्पर्शी ढंग से विवेचन किया है । मिथ्यात्वी

प्राणी का सद्प्रयत्न अगर श्रेष्ठ नहीं माना जाये तो उसका विकास कैसे हो सकता है। इसका विवेचन श्री चोरडियाजी ने अत्यन्त गम्भीर एवं प्राञ्जल भाषा में किया है। साम्प्रदायिक मतभेदों से उपर रहकर भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों का उल्लेख भी सरलता के साथ किया गया है। अनेकों आगमीय उदाहरणों व मूल पाठों का उल्लेख भी गम्भीर अध्ययन को उजागर करता है। आगमीय पाठों का उद्धरण और अनेक उदाहरणों से पुस्तक काफी रोचक बनी है। पाठक निस्संदेह इससे ज्ञानार्जन करके लाभ उठाएँगे—यह मेरा विश्वास है।

—मुनि श्री हर्षलालजी

आज जब हम श्रावक समाज का सम्यग् प्रतिलेखन करने बैठते हैं सोचते हैं कि समुचा समाज ही आज केवल भौतिक अर्थ संग्रह के प्रवाह में बढ़ता जा रहा है। आध्यात्मिक चिन्तन-मनन में रुचि रखने वाले तो विश्वा संति न संति वा को ही चरितार्थ कर रहे हैं। भौतिक ज्ञान-विज्ञान जो कि अर्थ संग्रह का ही एक माध्यम है। निरन्तर विकास कर रहा है पर आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त करने के लिए कहीं कोई उत्साह नजर नहीं आ रहा है। ऐसी स्थिति में श्रीचन्द्रजी चोरडिया का मिथ्यात्वी का अध्यात्मिक विकास नामक यह ग्रन्थ उनकी गहरी ज्ञान गरिमा का द्योतक है। जैन दर्शन आत्म-विकास का दर्शन है। हर आत्मा का ह्रास और विकास चाहे वह सम्यक्त्वी हो या मिथ्यात्वी हो अपनी-अपनी क्रिया पर निर्भर है। किसी की कोई क्रिया निष्फल नहीं हो सकती, एक मिथ्यादृष्टि जीव जिसे अभी सम्यक्त्व बौद्ध प्राप्त नहीं हुआ है, इस विषय को प्रस्तुत किया है किसी प्रकार विकास करता हुआ आगे बढ़ता है। श्री चोरडियाजी ने आगम प्रयास युक्त प्रस्तुत किया है। हर आध्यात्म प्रेमी व्यक्ति के लिए यह ग्रन्थ आवश्यक पठनीय है।

—मुनि श्री रिद्धकरणजी

आपने जो मिथ्यात्वी की भली करनी निर्जरा के जोर से जिस आत्मा को मोक्ष के नजदीक करती है इस विषय की जो आपने किताब प्रकाशित करके जो मिथ्यात्वी की भलीकरण या निजरा को आज्ञा बाहर मानते हैं उनका भ्रम दूर करने की चेष्टा की है इसलिये आपको धन्यवाद देता हूँ। आपने जो सूत्रों का उदाहरण देकर जो खुलासा उस किताब में किया है बहुत ही सुन्दर किया है। आपको आध्यात्मिक सूत्रों की बहुत गहरी जानकारी है, मेरी दृष्टि में मिथ्यात्वी की निर्जरा की करनी जो भगवान की आज्ञा के बाहर होती तो फिर एकेन्द्र जीव से विकलेन्द्रिय कैसे हो सकता है लेकिन बहुत से भाइयों में यह भ्रम है कि

मिथ्यात्वी की भली करने से कुछ नहीं होता इस भ्रम को आपकी यह किताब दूर कर सकती है इसलिये मैं आपको धन्यवाद देता हूँ ।

—रामलाल पुगलिया
कलकत्ता

‘मिथ्यात्वी का आध्यात्मिक विकास’ पुस्तक एक अनुठी कृति है ।

—मुनि महेन्द्रकुमार प्रथम

न्यायतीर्थ श्रीचन्दजी चोरड़िया का ग्रन्थ ‘मिथ्यात्वी का आध्यात्मिक विकास’ देखा । लेखक ने आगम साहित्य के महान् सागर में से विषय सम्बद्ध समस्त प्रकरणों को एकत्रित कर, एक महान् कार्य कर दिया है । प्रस्तुत विषय पर ज्ञान-बीन व चिन्तन के लिए यह एक ही ग्रन्थ पक्ष-विपक्ष के समस्त प्रमाण सामने ला देता है । व्याख्या-ग्रन्थों का भी यथेष्ट उपयोग बिना किसी भेद-रेखा के लेखक ने किया है । संक्षेप में इतना ही कहा जा सकता है कि ‘मिथ्यात्वी के आध्यात्मिक विकास’ विषय पर यह अपूर्व कोटि का ग्रन्थ बन गया है ।

—मुनि नगराज
कलकत्ता
२७ फरवरी १९७८

‘मिथ्यात्वी का आध्यात्मिक विकास’ नाम का पुस्तक मिला, देखा । पुस्तक में आलेखित पदार्थों के दर्शन से जैन दर्शन व जैनागमों की अर्जनों की तरफ उदात्त भावना और आदरशीलता (प्रगट) होती है एवं जैन धर्म को अप्राप्त आत्माओं में कितने प्रमाण में आध्यात्मिक विकास हो सकता है इत्यादिक विषयों का आलेखन बहुत सुन्दरता से जैनागमों के सूत्रपाठों से दिखाया गया है । इसलिये विद्वान् श्रीचन्द चोरड़िया का प्रयास बहुत प्रशंसनीय है । और यह ग्रन्थ दर्शनीय है ।

—लि० रामसूरि (डेलावाला) का धर्मलाभ
२३ नवम्बर १९७७

‘मिथ्यात्वी का आध्यात्मिक विकास’, नामक पुस्तक शास्त्रोक्त आधार पर जो पुस्तक प्रकाशित की है, उसके लिए मेरी हार्दिक बधाई स्वीकार करें ।

—प्रेमसिंह राठौड़
मानकचौक, रतलाम
२२ अप्रैल १९७८

ग्रन्थ का विषय सैद्धान्तिक चर्चा का है। लेखक ने इसे तैयार करने में बहुत अध्ययन और श्रम किया है। इससे गम्भीर व अधिक चिन्तन की प्रेरणा मिलती है। लेखक जैन आगमों के विषय वर्गीकरण का काम वर्षों से स्व० मोहनलालजी बांठिया के साथ बड़ी लगन से कर रहे हैं। वह कार्य तो अपने ढंग का अकेला ही है। लेखक के उज्ज्वल भविष्य का शुभ कामना करता हूँ। वे निरन्तर स्वाध्याय और शोधरत रहे एवं जनागमों और सिद्धान्तों सम्बन्धी अच्छी रचना को तैयार करके जैन शासन की व साहित्य की सेवा करते रहे। यही मंगल कामना है।

—अगरचन्द नाहटा

बीकानेर

१७ जनवरी १९७८

प्रस्तुत कृति महान अध्यवसायी, जैनविद्या मनीषी श्री श्रीचन्द चोरड़िया, न्यायतीर्थ की लेखनी से प्रसूत है, और जैन दर्शन की अध्यात्म-सरणि के सामान्यतः अर्चचित विषय पर प्रकाश-किरणें विखेरती हुई चिन्तन के नये आयामों को उद्घाटित करती है।

यह सत्य है कि मिथ्यात्वी संसार में भटकता है। किन्तु यह भी निर्विवाद सत्य है कि मिथ्यात्व का नाश हो सकता है, और फलस्वरूप मुक्ति प्राप्त हो सकती है। यदि मिथ्यात्वी का आध्यात्मिक विकास सर्वतोभावेन अवरुद्ध माना जाए, तो आध्यात्मिक सोपान 'गुणस्थान' के अन्तर्गत प्रथम के तीन गुणस्थानों का परिगणन निरर्थक व असंगत हो जाए। हाँ, यह बात और है कि मुक्ति का वास्तविक प्रथम सोपान 'सम्यक्त्व' है। पर, क्या सभी मिथ्यात्वी इस 'सम्यक्त्व' सोपान पर चढ़ने में सक्षम हो सकते हैं? यदि हो सकते हैं तो कौन, और किस तरह? इसी मुख्य प्रश्न के साथ और भी अनुयोगी प्रश्न हैं, जैसे—मिथ्यात्वी में पुण्य पुरुषार्थ का सद्भाव सम्भव है कि नहीं? वह सदनुष्ठान कर सकता है कि नहीं? क्या मिथ्यात्वी निरवद्य क्रिया से कर्मनिर्जरा कर सकता है, या नहीं? इत्यादि।

प्रसन्नता का विषय है कि विद्वान लेखक ने उस सभी प्रश्नों पर, शास्त्र-सम्मत प्रमाणों को उद्धृत करते हुए, अपना मन्तव्य पुष्ट किया है।

जब तक जीव संकल्पी पापों से सर्वथा विरत नहीं होता है, तब तक वह व्यवहार रूप से भी मिथ्यादृष्टि है, और निश्चयदृष्टि से भी। यदि वह संकल्पी पापों से सर्वथा विरत होकर अंशरूप से धर्म-पुरुषार्थी हो जाता है, तो वह

व्यवहार रूप से सम्यग्दृष्टि हो जाता है। इस प्रकार मिथ्यादृष्टि जीव में भी पुण्य-पुरुषार्थ का सद्भाव है।

अभय जीव भी व्यवहार सम्यक्चारित्र धारण कर सकता है। वह भी मुक्ति के अनुकूल पुरुषार्थ करता है, पर उसका पुरुषार्थ सांसारिक भोगाकांक्षा से ही होता है। व्यवहार दृष्टि से वह धर्म में श्रद्धान, रुचि व प्रवृत्ति करता है, पर उसका पुरुषार्थ कर्मक्षयकारक नहीं होता—इसी का संकेत समयसार की कुछ गाथाओं (२७३, २७५, १५३) में किया गया है। उसके अन्तःकरण में आत्म-सम्यग्दर्शन तथा की भावना कभी जागृत नहीं होती, अतः उसका व्यवहार स्वातन्त्र्य-प्राप्ति व्यवहार-सम्यक्चारित्र दोनों निरर्थक हैं—वे आत्म-स्वातन्त्र्य की प्राप्ति में कारण न होकर शुभ गति में ही कारण होते हैं।

इसके विपरीत, भय जीव में आत्म-स्वातन्त्र्य की प्राप्ति की। इससे सम्यग् भावना जागृत होती है। तब व्यवहार सम्यग्दर्शन निश्चय सम्यक्त्व का, तथा व्यवहार सम्यक्चारित्र 'निश्चय सम्यक्चारित्र' का जनक होने के कारण, सार्थक कहलाते हैं।

भयों में भी मिथ्यादृष्टि हैं, वे चाहें तो पुण्य कार्य भी करते हैं, पर सम्मान्वतः इनकी प्रवृत्ति अधिकतर संकल्पी पापरूप हुआ करती है, और उनकी आरम्भी पापरूपी प्रवृत्ति में संकल्पी पाप की पुट रहा करती है। परन्तु वे संकल्पी पाप करते हुए भी पुण्यफल की चाह मन में रखते हैं।

इन्हीं मिथ्यादृष्टियों में कोई न कोई ऐसे विशिष्ट पुरुष होते हैं जो संकल्पी पाप नहीं करते, उनके आरम्भी पापों में संकल्पी पापों की पुष्ट भी नहीं रहती और वे सांसारिक भोगाकांक्षा न रख कर पुण्य कार्य करते हैं। ऐसे ही मिथ्या-दृष्टि जीवों में सम्यग्दर्शन के प्रकट होने की सम्भावना रहती है। इस प्रकार मिथ्यादृष्टियों में जो हिताहितविवेकयुक्त (संज्ञी पर्याप्तक पंचेन्द्रिय) होते हैं, उनमें सम्यक्त्व-सोपान पर चढ़ने की क्षमता रहती है। वे मोक्ष-मार्ग के देश आराधक हो सकते हैं, उनके शुभ परिणाम, शुभ लेख्या, सद्नुष्ठान से कई पुण्य प्रकृतियों का (तीर्थङ्कर नाम कर्मादि छोड़कर) बन्ध तथा आंशिक रूप से मोहनीय आदि कर्मों का क्षयोपशम—ये होते रहते हैं। सत्संगति से उनमें कषायदि की तीव्रता की कमी भी होती है। आत्मोञ्ज्वलता हेतु सद्नुष्ठान करने वाले उक्त मिथ्यादृष्टी जीवों में अकाम निर्जरा के साथ-साथ 'सकाम निर्जरा' की क्षमता भी होती है। बिना निर्जरा के वे सम्यक्त्वी नहीं बन

सकते। हाँ, उनमें संवर व्रत भले ही न हो, पर उनका शुद्ध पराक्रम निर्जरा का अवश्य हेतु है। जहाँ वे पाप-कर्म का आस्रव करते हैं, वहाँ सत्क्रियाओं से गाढ़ पुण्य का भी बंध करते हैं, जिसके फलस्वरूप नवम भ्रैवेयक तक वे स्वर्ग सुख के अधिकारी होते हैं। बिना निर्जरा के पुण्य-बन्ध सम्भव नहीं। देव-गति की तरह, सदानुष्ठान से वे मनुष्य गति का आयुष्य भी बांधते हैं। देश-न्यून दश पूर्व (आगम) के अध्ययन की क्षमता वाला क्षयोपशम (अज्ञान) भी उनके होते हैं। (चारित्र्य मोहनीय कर्म का क्षयोपशम तो प्राणी मात्र में होता है।) इस प्रकार, शुभ परिणाम, शुभ योग, शुभ लेख्या, शुभ अध्यवसाय, वैराग्य—इन सब का सद्भाव मिथ्यात्वी में सम्भव है, और वह अपना आध्यात्मिक विकास कर सकता है। वह भी दान-शील-तप-भावना—इन चार मार्गों की आराधना कर सकता है। हाँ, श्रुत की आंशिक आराधना करने का उसका भी अधिकार है। अजुव्रतों के माध्यम से सम्यक्त्वी हो सकता है। वह स्थूल रूप क्रोध, मान, माया, लोभ—इन पर विजय प्राप्त करता हुआ, अन्त में उत्तरोत्तर साहित्यिक उत्कर्ष भी करता है।

लेखक ने अपने इस ग्रन्थ में उपयुक्त शोध-सार समाविष्ट कर शोषार्थी विद्वज्जनों के लिए मार्ग प्रशस्त किया है। यत्र-तत्र पेचीदे प्रदनों को उठा कर उनका सोदाहरण व शास्त्र-सम्मत समाधान भी किया गया है, जो सराहनीय है। संवर के बिना भी सकाम निर्जरा होती है—इसकी पुष्टि भगवान महावीर के जीवन को उद्धृत कर दी गई है। अभिनिष्क्रमण से पूर्व गृहस्थावास में भगवान महावीर ने सावद्य आरम्भ छोड़ा था। वे चतुर्थ गुणस्थान में थे। उनके प्रत्याख्यान रूप संवर भले ही न हो, किन्तु निरवद्य क्रिया से सकाम निर्जरा थी ही।

मैं लेखक को प्रस्तुत कृति की रचना के लिए साधुवाद देता हूँ।

—दामोदर शास्त्री

प्राध्यापक एवं अध्यक्ष, जैन दर्शन विभाग
श्री ला० ब० शा० केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ
(शिक्षा मंत्रालय, भारत सरकार)
कटवारिया सराय, नई दिल्ली-१६

आपने मिथ्यात्वी का आध्यात्मिक विकास शीर्षक पुस्तक लिखी है—बधाई देता हूँ।

—डा० दरवारीलाल कोठिया

ग्रन्थ मिथ्यात्वी का आध्यात्मिक विकास की आलोचनात्मक समीक्षा सम्यग् दर्शन पत्रिका में क्रमशः प्रकाशित हो रही है। इससे बोध होता है कि ग्रन्थ चेतना उत्पन्न करने वाला है।

—मानिकचन्द्र सेठिया

मुजानगढ़

१७ अगस्त १९७८

प्रस्तुत पुस्तक सम्यग् प्रकार से लिखी गयी है।

—आचार्य तुलसी

२० नवम्बर १९७७

पुद्गल कोश पर समीक्षा

पुद्गल जैन आगम साहित्य का बहुत बड़ा विषय है। परमाणु और स्कन्ध इन दोनों पर शत-शत दृष्टियों से विचार किया गया है। उसका कोश जैन दर्शन के अध्येता के लिए बहुत उपयोगी होगा। तुलनात्मक दृष्टि से अध्ययन करने वालों के लिए अमूल्य निधि के रूप में उपयोगनीय होगा। इसमें श्वेताम्बर-दिगम्बर दोनों परम्पराओं के ग्रन्थों का सार संकलित है। उपयोगिता और अधिक बढ़ गई है।

वस्तुतः यह पुस्तक बहुत सुन्दर हुई है।

—आचार्य महाप्रज्ञ

सद्यः प्रकाशित 'पुद्गल कोश (प्रथम खण्ड)' भेजा। तदर्थ अनेक धन्यवाद। अबलोकन का विषय-सामग्री के प्रतिपादन की सूक्ष्मता को देख अत्यन्त हर्ष हुआ। साधुवाद।

सद्यः प्रकाशित 'पुद्गल कोश' (प्रथम खण्ड) श्री श्रीचन्द्र चोरड़िया 'न्याय-तीर्थ द्वय' द्वारा सम्पादित है। जिसका महत्त्व अन्य प्रकाशित कोशों की तरह वर्तमान काल में ही नहीं, पर जब तक अनुसंधितसुओं का युग रहेगा तब तक रहने वाला है। ये अमर कृतियाँ हैं, विश्व कोश हैं।

सद्यः प्रकाशित पुद्गल कोश (प्रथम खण्ड) अजीव द्रव्य में समाहित पुद्गल द्रव्य पर विभिन्न दृष्टिकोणों से विशद प्रकाश डालता है। प्रकाशित होने वाला दूसरा खण्ड उक्त प्रतिपादन को और बढ़ाने वाला होगा।

पुद्गल कोश 'प्रथम खण्ड' का मैं हृदय से स्वागत करता हूँ । और अग्रिम खण्ड के उत्तम रूप में सामने आने की प्रतीक्षा ।

—श्रीचन्द्र रामपुरिया
कुलपति-जैन विश्व भारती

जैन दर्शन गहन-गहनतम एवं गम्भीर-गभीरतम है । उसकी गहराई पारावार से भी अपरम्पार है । आगम उदधि की अतल गहराइयों में अनगिन अनर्घ्य रत्नों का भण्डारण है । उन रत्नों का चयन कोई कुशल गोताखोर ही करता है । सतह पर बैठने वाला नहीं ।

“जिन खोजा तिन पाइया, गहरे पानी पैठ ।
मैं चपुरा बूड़न डरा, रहा किनारै बैठ ॥”

जैन दर्शन समिति के संस्थापक स्व० मोहनलालजी बांठिया (वी० काँम) की अन्तःकरण की जिज्ञासा को गहन गम्भीर जैनागम महासमन्दर को अवगाहित करने की अभिप्रेरणा की । जिज्ञासु मानस अनन्य उत्साह और पुत्रुवार्थ के साथ सार्थक तलाश में उतर पड़ा अतल गहराइयों में । जैसे-जैसे श्रुतसागर का अवगाहन किया वैसे-वैसे अनर्घ्य रत्नों की उपलब्धि होती गई । चयनित रत्नों की अलग-अलग मालाओं में पिरोता गया ।

उसकी निष्पत्ति के रूप में कुछ कोशों का निर्माण हुआ—(१) लेश्या कोश (प्रथम भाग) (२) क्रिया कोश, (३) जैन शब्द कोश, (४) योग कोश (खंड १, २), (५) वर्धमान जीवन कोश (खंड १, २, ३), (६) मिथ्यात्वी का आध्यात्मिक (कोश) विकास आदि प्रकाशित हो चुके हैं ।

वे स्वयं सतत अध्यवसायी, अध्ययनशील, कुशाग्रमेधावी एवं ग्रहणशील व्यक्तित्व के धनी थे । वैसे ही उन्हें अपने जीवनकाल में योग्य सहयोगी । उत्तर साधक के रूप में न्यायतीर्थ द्वय श्री श्रीचन्द्र चोरड़िया मिले । जो निरन्तर उनके साथ दायें हाथ की तरह सहयोगिता निभाते रहे और आज भी उनकी अनुपस्थिति में अधूरे कोशों का सम्पादन करने के लिए अनवरत प्रयत्नरत है ।

‘न्यायतीर्थ द्वय’ द्वारा सद्यः सम्पादित ‘पुद्गलकोश’ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है । जो आधुनिक अनुसंधान कर्त्ताओं के लिए अत्यन्त उपयोगी होगा, ऐसा मेरा विश्वास है । सृष्टि सर्जन का मौलिक आधार बिन्दु पुद्गल है । वह सादृश्य जगत् पौद्गलिक पिंड ही तो है । हमारे चर्म चक्षुओं का विषय पुद्गल स्कंध ही है । संसारी प्राणी का पुद्गल के बिना काम नहीं चल सकता । उसे

खाने-पीने, पहनने, ओढ़ने, चलने-फिरने, भोगोपयोग करने, आनापान करने के लिए भी इसका सहयोग लेना पड़ता है। पुद्गल की बैशाखी के रूप में एक कदम भी संसारी जीव का कार्य नहीं चल सकता। आज पश्चिमी देशों में जितना भी भौतिक विकास एवं रासायनिक विकास किया है उसका साराश्रेय जैनागमों में वर्णित पुद्गल परिणामों की विविध परिणति व प्रक्रिया से अवबोध को है। अणुबम, परमाणु बम व परमाणु हथियारों की सर्जना भी आगमों में कथित पुद्गल स्कंधों की रासायनिक प्रक्रिया को समझने से ही सम्भव हो सकी है। टेलीकास्ट, इन्टरनेट आदि के पीछे पुद्गल की विविध गुणवत्ता ही है। लगता है पुद्गलकोश के सम्पादक ने दिगम्बर तथा श्वेताम्बर सम्प्रदायों के आगमों, ग्रन्थों, टीकाओं, चूर्णियों का भी अपनी सूक्ष्म मनीषा से अवगाहन कर आवृत्त रहस्यों को अनावृत्त करने का प्रयत्न किया है। इतना ही नहीं, जनेतर दर्शनों मनोविज्ञान न्याय प्रमाण आदि के आधार तथ्यों को सामने लाने का सार्थक प्रयास किया है।

गम्भीर व तलस्पर्शी अध्ययन के अभाव में कोई भी व्यक्ति समाज विज्ञान, भाषा विज्ञान, गणित, खगोल, भूगर्भ विज्ञान, पूरा जीव विज्ञान, पशु विज्ञान, चिकित्सा विज्ञान, कृषि विज्ञान, गृह विज्ञान आदि के बारे में इतनी सटीक सामग्री प्रस्तुत नहीं कर सकता। लेखक का कला, साहित्य, कीड़ा, इतिहास आदि सभी क्षेत्रों का स्पर्शन केवल अनुसंसनीय अपितु अनुकरणीय भी है।

इस प्रौढ अवस्था में जिस अनुभव प्रसन्नता, प्रवीणता, प्रपौढता के साथ पुद्गल कोश का सृजन किया है वह साधुवादाहर्ह है। भविष्य में वे अपनी सतत श्रमशीलता और ज्यादा गहराई से शोधकर्त्ताओं को अपनी रचना-वर्मिता से लाभान्वित कर स्वयं व धर्म संघ का गौरव बढ़ाते रहे यही शुभाशंसा है।

—साध्वी जतनकुमारी 'कनिष्ठा'

श्री जैन श्वेताम्बर तेरापंथी

महासभा भवन, कलकत्ता

१३ अक्टूबर, २०००

जैन शास्त्रों में उपलब्ध पुद्गल आदि मौलिक सम्बन्धी दिवरण तुलनात्मक अध्ययन के लिए बहुत आवश्यक है। पुद्गल कोशों में एकत्रित समग्र समग्री-तम जैसे लोगों के लिए अत्यन्त उपयोगी है। जैन-अजैन शोधकों के लिए यह आधार भूत संदर्भ ग्रन्थ है। ऐसे उपयोगी प्रकाशनों के लिए समिति बधाई की पात्र है।

इस समिति के अन्य प्रकाशन भी मेरे लिए बहुत उपयोगी सिद्ध होंगे ।

—नन्दलाल जैन

बजरंग नगर (रीवा)

५ फरवरी, २००१

'पुद्गल कोश' शोधकर्त्ताओं ने एक अमूल्य ग्रन्थ तैयार किया है । सम्पादक द्वय धन्यवाद के पात्र हैं । जैन दर्शन के विद्यार्थियों के लिए एक अमूल्य निधि है ।

—मुनि श्री सुखलालजी

इस कोश में पुद्गल का सांगोपांग विवेचन है । कोश अतीव आकर्षक है ।

—मुनि श्री जयचंदलालजी

लाडणू, २ अगस्त, २०००

पुद्गलकोश श्रीचन्दजी चोरड़िया की अपूर्व कृति है । चोरड़ियाजी की गति अधिक से अधिक कोश के कार्य में लगे । चोरड़ियाजी बहुत परिश्रम करते हैं । इनका ज्यादा समय इस कार्य में नियोजित है । हमें आशा है कि चोरड़ियाजी दीर्घायु हो । वे और भी कोश देते रहेंगे । मैं इनसे लगभग ४० वर्ष से परिचित हूँ । यह उनका पंडितोचित्त कार्य है ।

—डा० सत्यरंजन वनर्जी

४ फरवरी, २०००

उन्होंने अपने स्वकथ्य में—जैन दर्शन ने श्रमण परम्परा का गौरव बढ़ाया है । उन व्यक्तियों का उल्लेख किया है । वर्तमान शताब्दी में आध्यात्मिक व सामाजिक सम्भ्रता को उत्कर्षता की ओर ले जाने वाले व अनुवाद करने वालों में श्रीचन्द चोरड़िया, न्यायतीर्थ का नाम भी उल्लेख किया है ।

—सम्पादक, छत्रसिंह बच्छावत

घरती के धन्य पुरुष

संस्मरणों के वातायन में आचार्य श्री तुलसी ने कहा—तेरापंथी महासभा के पूर्व मन्त्री स्व० मोहनलालजी बांठिया आगमों के गम्भीर अध्येता थे । इस विषय में उनकी तुलना में आने वाले कुछ ही श्रावक हो सकते हैं । बांठियाजी ने जैन भारती में शृङ्खला बद्ध संकलन (नारकी का) प्रकाशित करना शुरु किया । इससे पाठकों में आगमों के अध्ययन के प्राप्त थोड़ा भी झुकाव बढ़ता है तो यह बड़ी उपलब्धि हो सकती है ।

विज्ञप्ति वर्ष ३ अंक ३०

७ नवम्बर १९६७ से साभार

मोहनलाल बांठिया स्मृति ग्रन्थ पर समीक्षा

स्मृति ग्रन्थ प्रकाशित होने में काफी विलम्ब हुआ—किन्तु ग्रन्थ हर दृष्टि से पठनीय एवं सुन्दर है। आप सभी बधाई के पात्र हैं।

—हजारीमल बांठिया, कानपुर

राह देखते-देखते आज स्व० मोहनलाल बांठिया स्मृति ग्रन्थ प्राप्त हुआ। कुछ पढ़ा गया, कुछ देखा गया। बड़ा अच्छा लगा। आप तथा केवलचन्द्रजी नाहटा को बहुत-बहुत साधुवाद।

दर्शन दिग्दर्शन केवल देखा गया। बड़े-बड़े सुन्दर-मुन्दर लेख आपके द्वारा दिए गये हैं।

—प्रतापसिंह बैद

महावीर भवन

श्रीलाल मार्केट

सिलीगुड़ी-७३४४७१

२६ मार्च १९६६

समुच्चय कोश मिमांसा

श्री चोरड़ियाजी जैन दर्शन के अच्छे विद्वानों में एक है। लेश्या कोश, क्रिया कोश, वर्धमान जीवन कोश, (तीन भागों में), योग कोश दो भागों में और वर्तमानकालिन 'पुद्गल कोश आदि पुस्तकों को प्रकाशित करके इन्होंने अपनी विद्वत्ता का परिचय पूर्व में ही दे दिया है। इन्होंने ध्यान कोश व परिभाषा कोश और संयुक्त लेश्या कोश आदि पुस्तकों का भी संकलन किया है। इनके द्वारा लिखित 'मिथ्यात्वी का आध्यात्मिक विकास' एक विशिष्ट दार्शनिक मूल ग्रन्थ है जो जैन परम्परा के अनुसार आत्मा की स्पष्टता को बोध कराता है। यह पुस्तक श्री चोरड़ियाजी के अद्वितीय योगदान को विभिन्न विषयों पर दर्शाता है।

उनकी सभी विश्वकोश सम्बन्धी योजनाएं अपूर्व है। इन विश्वकोशों को तैयार करते समय अन्तर्राष्ट्रीय दशमलव नियमों का वर्गीकरण श्रेणी विभाजन जो कि विश्व के पुस्तकालयों में प्रत्येक दशमलव बिन्दु को प्रकरण के अनुसार प्रत्येक प्रकरण में एक दशमलव बिन्दु निर्धारित है। उदाहरण स्वरूप—

०० शब्द विवेचन

००१ शब्द व्युत्पत्ति

००१-१. प्राकृत में पोग्गल शब्द की व्युत्पत्ति [बाद में विषय की व्याख्या का अनुकरण है।] प्रत्येक विषय का वर्णन (सहस्र भागों में विभाजित) सौ से

अधिक पुस्तकों से संग्रहित मौलिक उद्देश्य से सम्बन्ध रखता है। जैन ग्रन्थों के सभी उद्धरण चाहे विधिवत् हो या अविधिवत् हिन्दी में अनुवादित है। इन सभी उद्धरणों का एक ही स्थान से संग्रह करना कठिन कार्य—यह कहना व्यर्थ ही नहीं होगा। इसके लिए श्री चोरड़ियाजी बघाई के योग्य पाच हैं।

श्री चोरड़ियाजी जैन दर्शन पर लम्बे समय से शोध कर रहे हैं (या कार्यरत हैं) वे एक अच्छे दार्शनिक या विद्वान हैं। और सर्वदा जैन विश्वकोशों से समर्पित हैं। उनका अधिकांश समय अपने कोशों से सम्बन्धित विषय के संग्रह पर ही लगता है। वे अपने कार्य के प्रति विशेष रूप से समर्पित हैं। मेरे ध्यानार्थ में उनके सभी विश्वकोशों से इस पंडितोचित दुनिया ने विशेष रूप से सम्मान दिया है।

हाल ही में श्री चोरड़ियाजी को पश्चिम बंग प्रादेशिक अणुव्रत समिति द्वारा उनके विद्वता और जैन दर्शन के गहरे आध्ययन का मूल्यांकन करते हुए 'अणुव्रत साहित्य सेवी' पुरस्कार प्रदान किया गया है। उनके सभी कोशों जैन दर्शन के सिद्धान्तों पर आधारित पुस्तकों का मूल्यवान उद्गम या स्रोत है। उनके नियमों का सिद्धांत अच्छा है। क्रमानुसार है और उपयोगी है। अपनी शब्द कोश योजना के तहत श्री चोरड़ियाजी ने शोध के नये आयाम दिये हैं और जैन सम्बन्धित अध्यायों की भावी पीढ़ी के लिए उन्होंने नये आयाम स्थापित किये हैं।

अस्तु पुद्गल कोश एक थिसिस किताब है जिससे मौलिक जैन कार्यों से सम्बन्धित प्रचुर सार तथा संदर्भों का तरीके बद्ध क्रम से उल्लेख है। उनके सभी कोश जैन दर्शन के विश्वकोश को संग्रह करने में विद्वानों को मदद करेंगे।

यह पुस्तक बहुत ही प्रशंसनीय है और यह जैन दर्शन के विद्यार्थियों के लिए बहुत ही आवश्यक है। और मूल्यवान छोटी पुस्तक का कार्य सम्पादित करेगी।

मुझे विश्वास है कि यह पुद्गल कोश दुनिया के पुस्तकालयों को सुशोभित करेगी।

—डा० सत्यरंजन बनर्जी

विक्रम सम्बत् २०१२ में आगम सम्पादन का कार्य शुरू हुआ। सम्पादन के लिए जो कल्पना की गई, उसका एक अंग था आगमों का विषयीकरण। प्रारम्भ में आगमों के अनुवाद टिप्पणी आदि का कार्य शुरू किया। विषयीकरण

का भविष्य के लिए स्थगित कर रखा था। मोहनलालजी बांठिया ने विषयीकरण का कार्य अपने हाथ में लिया। पूरी योजना बनाई। कार्य शुरू किया। उनके कार्य को हमने देखा और आगम सम्पादन के प्रारंभिक कार्य के रूप में उसे स्वीकार किया। मोहनलालजी विद्वान्, अध्ययनशील और धर्मनिष्ठ श्रावक थे। उन्हें श्रीचन्द चोरड़िया का योग मिला। इस योग ने उनके कार्य को गतिशील बना दिया। योजना बहुत विशाल है, गति मंथर है। कितने दशक और लगभग कहा नहीं जा सकता फिर भी जैन दर्शन समिति में इस कार्य के लिए उत्साह है, यह प्रसन्नता की बात है।

—आचार्य तुलसी

जैन विश्वभारती, लाडनूँ

१ जनवरी, १९६४

आचार्य श्री तुलसी की सन्निधि में आगम-सम्पादक की योजना बनी। उसमें अनेक कार्यों के साथ एक कार्य था आगमों का विषयीकरण। इस कार्य का दायित्व मोहनलालजी बांठिया ने सम्भाला। वे पूरी निष्ठा के साथ इस कार्य में जुट गये। श्रीचन्द चोरड़िया का सहयोग उनके लिये मणि-कांचन जैसा हो गया। अन्य अनेक कार्यकर्त्ता इस प्रवृत्ति के सहयोगी बन गये।

पुद्गल कोश से पूर्व वर्धमान कोश, लेश्या कोश, क्रिया कोश, योग कोश आदि अनेक कोश प्रकाश में आ चुके हैं। उनकी उपयोगिता भी सर्वत्र प्रमाणित हो चुकी है। पुद्गल जैन आगम साहित्य का बहुत बड़ा विषय है। परमाणु और स्कंध इन दोनों पर शत-शत दृष्टियों से विचार किया गया है। उसका कोश जैन दर्शन के अध्येता के लिये बहुत उपयोगी होगा। तुलनात्मक दृष्टि से अध्ययन करने वालों के लिये एक अमूल्य निधि के रूप में उपयोगनीय होगा। इसमें इवेताम्बर-दिगम्बर दोनों परम्पाराओं के ग्रन्थों का सार संकलित है। उपयोगिता और अधिक बढ़ गयी है। श्रीचन्दजी चोरड़िया की संकलनात्मक और नियोजनात्मक भेषा उत्तरोत्तर बढ़ती रहे। इससे जैन दर्शन की बहुत प्रभावना होगी।

—आचार्य महाप्रज्ञ

अध्यात्म साधना केन्द्र, संवत् २०५६

महरौली, नई दिल्ली-११००३०

आचार्य श्री महाप्रज्ञ ने कहा—

स्व० मोहनलालजी बांठिया आगम के विशेषज्ञ थे। उन्होंने आगमों का गहरा अध्ययन किया। जब हमने आगम सम्पादन का कार्य शुरू किया तब उस

कार्य से दो व्यक्ति जुड़े श्रीचन्दजी रामपुरिया और मोहनलालजी बांठिया । आगमों के वर्गीकरण का कार्य बांठियाजी को सौंपा गया । इनके सहयोगी बने श्रीचन्दजी चोरड़िया । वर्धमान जीवन कोश, लेख्या कोश, योग कोश आदि सात महत्वपूर्ण कोश सामने आ गये । इस परम्परा को आगे बढ़ाया जाना जरूरी है । केवल स्मृति ग्रन्थ का प्रकाशन ही पर्याप्त नहीं है । यह चिन्तन करना है कि कोश निर्माण की गति मन्द न हो । जो लोग यह काम करते हैं वे शासन की बहुत बड़ी सेवा करते हैं ।

विज्ञप्ति, २ अक्टूबर १९६८ से साभार

विद्वानों के विचार

अपने कोशों की कल्पना को मूर्त बनाने का जो संकल्प किया है वह आश्चर्य और आनन्द का विषय है । इतना बड़ा भारी जवाब देहो का काम निर्विघ्न पूरा हो—

—प्रज्ञाचक्षु पं० सुखलालजी संघवी
अहमदाबाद

भगवान महावीर के ज्ञान और उनके द्वारा प्ररूपित चरण—विधि को प्रस्तुत करने वाले उक्त कोश जैन एवं जैनेत्तर भारतीय विद्वानों की दृष्टि में मूल्यवान सिद्ध हुए हैं । वे उनकी सीमा के बाहर के विदेशी विद्वानों की तुला पर भी मूल्यवान सिद्ध हों ऐसे हैं, पर उसके लिए प्रकाशन समिति को विशेष सक्रिय होना पड़ेगा और उन्हें कोशों को विज्ञान और आचरण दोनों क्षेत्रों के विद्वानों तक पहुँचाना होगा ।

—श्रीचन्द रामपुरिया
कलकत्ता

सम्पादक श्रीचन्द चोरड़िया इस परिश्रम साध्य कार्य के लिए धन्यवाद के पात्र है । और संकलन करने में उन्होंने अपनी बहु-श्रुतता की पूरा परिचय दिया है—इसमें संदेह नहीं है । इस कोश में अब भगवान महावीर के जीवन के सम्बन्ध से शोध पूर्ण चरित्र लिखने में सामग्री विद्वानों के समक्ष उपस्थित करदी है । अतएव कोई विद्वान् भगवान महावीर के (सम्बन्ध) चरित्र को आधुनिक पद्धति से लिखना चाहे तो उसके लिए यह ग्रन्थ मार्ग-दर्शक बन सकेगा ।

—दलसुख मालवाणिया



श्रीचन्द्र चोरड़िया, न्यायतीर्थ (द्वय)

पूर्व भानद सम्पादक : जैन भारती

जन्म : वि० सं० १९९० आश्विन शुक्ला १४

२ अक्टूबर सन् १९३३

दिगम्बरीय जैन न्यायस्य, सन् १९६४

श्वेताम्बरीय जैन, न्यायस्य, सन् १९७०

'अणुव्रत साहित्य सेवी' सम्मान, सन् १९९९

प्रकाशित आलेख :

१. भेद में अभेद का प्रतिपादक अनेकान्तवाद
२. जैन शब्दकोष - परिभाषाएँ
३. दर्शन
४. नयवाद
५. जैन दर्शन में पाँच ज्ञान
६. संमुच्छिम मनुष्य
७. पाँच देव
८. प्रमाण
९. प्रमाण मीमांसा
१०. मिथ्यात्वी का आध्यात्मिक विकास
११. निश्चय और व्यवहार की तुला पर नयवाद
१२. भगवान् महावीर का जीवन दर्शन
१३. भगवान् महावीर का तत्त्वदर्शन
१४. वर्तमान समाज तथा भगवान् महावीर का अनेकान्त सिद्धान्त
१५. लेश्या - एक विवेचन
१६. चार प्रकार के पुरुष
१७. बहुमुखी व्यक्तित्व के धनी आचार्य श्री तुलसी
१८. श्रावक रायचन्द्रजी सुराना
१९. श्रावक महादेवलालजी सरावगी
२०. मुनि श्री गंगारामजी का वैरागी गृहस्थ जीवन
२१. आगमों में मोहनीय कर्म का स्वरूप
२२. हेतू
२३. श्रमण संस्कृति को जैन धर्म की देन
२४. समाज भूषण श्री छोगमल जी चोपड़ा
२५. प्रज्ञा पुरुष जयाचार्य
२६. नारकी - एक विवेचन
२७. आचार्य (युवाचार्य श्री महाप्रज्ञ) - एक परिचय आदि

- आचार्य महाप्रज्ञ

श्रीचन्द्र चोरडिया ने साहित्य क्षेत्र में बहुत कार्य किया है।

- डा० नैमीचन्द्र जैन

श्री चोरडिया जी बहुत बड़ा कार्य कर रहे हैं।

- डा० ज्योतिषसाठ जैन

इस परिश्रम साध्य कार्य के लिए चोरडिया धन्यवाद के पात्र हैं।

- दलसुख भाई मालवणिया

दिया है।

कोशा का कार्य दुःकृत, कठिन है। श्रीचन्द्र चोरडिया ने बहुश्रुतिता का परिचय

- सत्यरंजन बनर्जी

इनकी शैली बहुत सुन्दर है।

जैसे महत्वपूर्ण कर्मों की रचना की। चोरडिया बहुत सरल स्वभाव के हैं। श्रीचन्द्र चोरडिया ने योग कोशा, तैरया कोशा, क्रिया कोशा, पुद्गल कोशा

- आचार्य महाप्रज्ञ

बहुत बड़ी सेवा करते हैं।

कोशा निर्माण की गति मन्द न हो। जो लोग यह काम करते हैं वे शासन की

- आचार्य गुलसी

प्रसन्नता की बात है।

जा सकता फिर भी जैन दर्शन समिति में इस कार्य के लिए उत्साह है, यह योजना बहुत विशाल है, गति मंथर है। कितने दर्शक और लोगों को नहीं चोरडिया का योग मिला। इस योग ने उनके कार्य को गतिशील बना दिया। मोहन लाल जी विद्वान, अध्यक्षनशील और धर्मानुष्ठ श्रावक थे। उन्हें श्रीचन्द्र